मौर्य साम्राज्य का इतिहास

सत्यकेतु विद्यालंकार
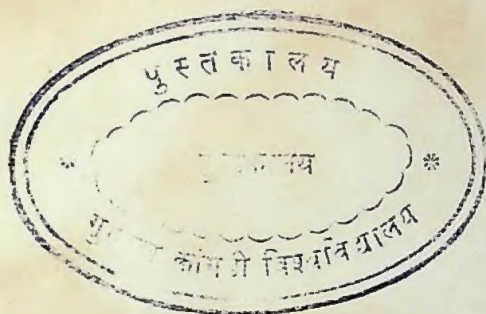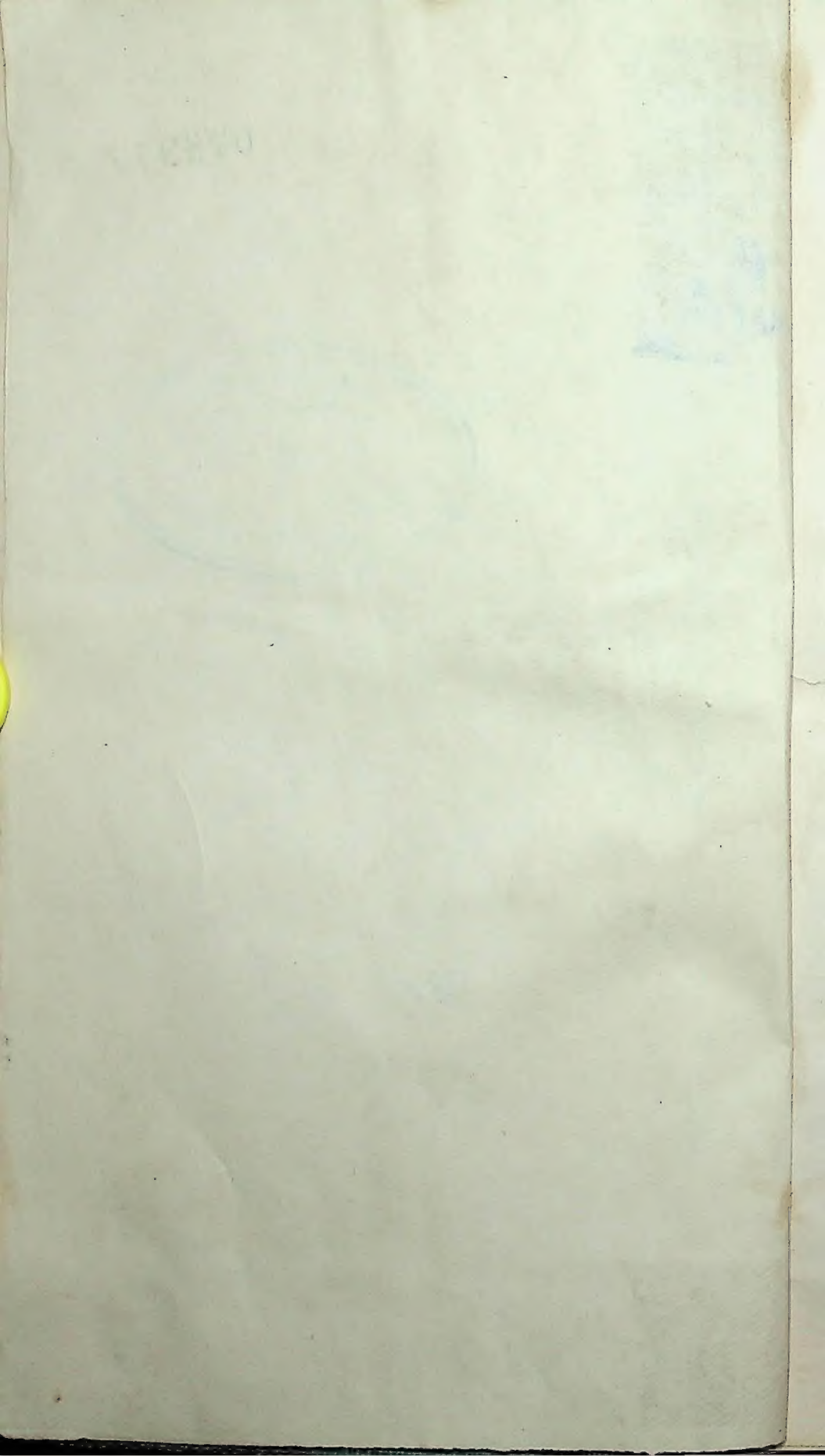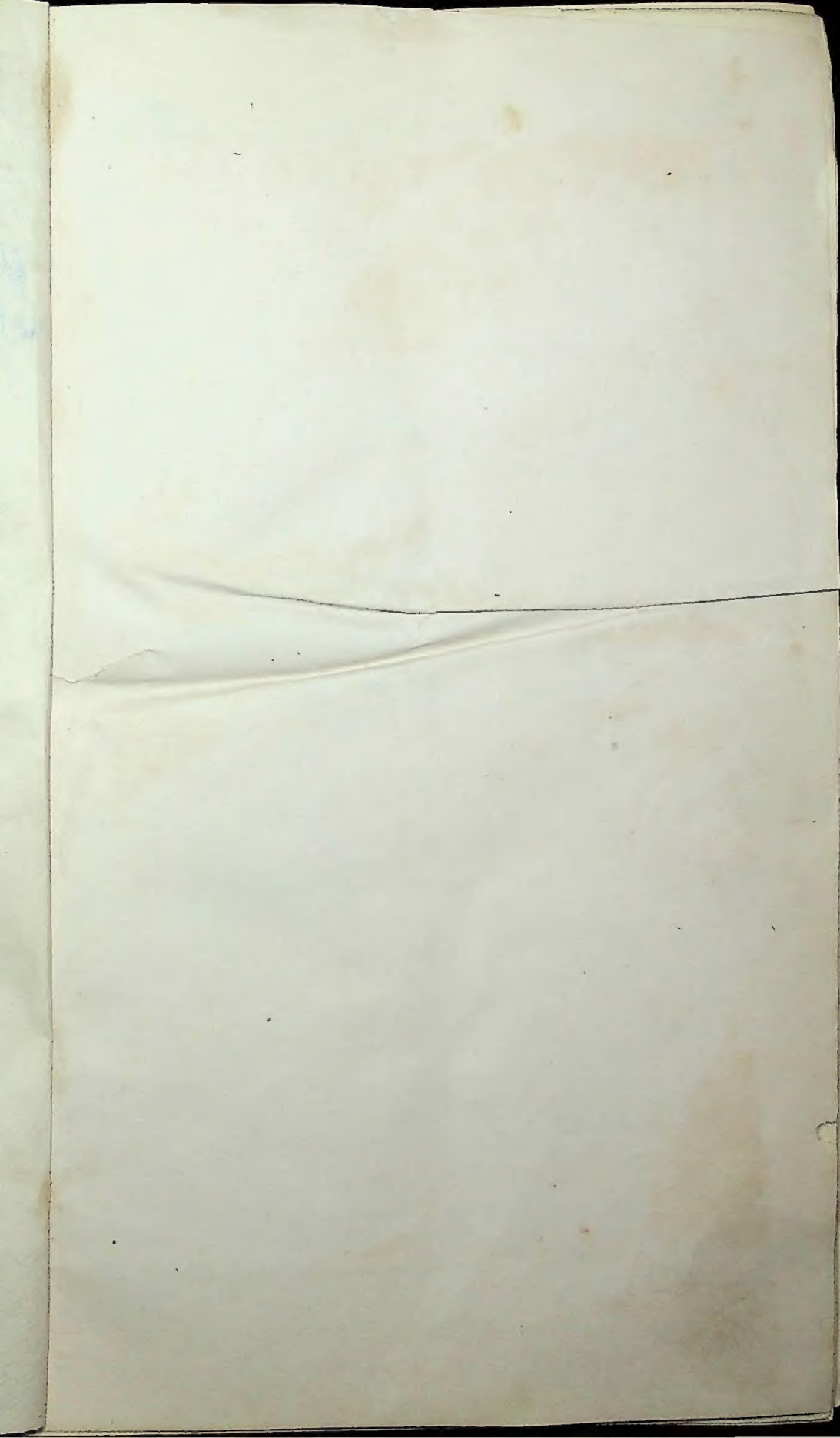
मौर्य साम्राज्य का इतिहास
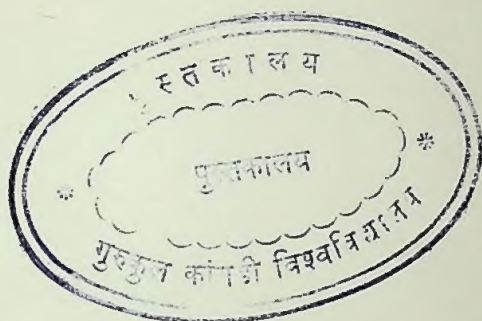
लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट्. (पेरिस)
(भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं
गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार
और मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

एवम्

ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव नई दिल्ली-१६

नवीन संस्करण १९८०] [मूल्य ३० रुपये

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपाम्

यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।

म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः

स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ।।

(विशाखदत्त)

भारत में हिमालय से समुद्रपर्यन्त सार्वभौम साम्राज्य के उन्नायक

राजनीति के महान् प्रवक्ता और प्रयोक्ता

आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य

और

भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म को विश्व भर में

व्याप्त करने का महान् उद्योग करने वाले

आचार्य उपगुप्त (तिष्य) की

पुण्य स्मृति में

प्रस्तावना

भारत के इतिहास में मौर्य साम्राज्य का महत्त्व बहुत अधिक है। ऐतिहासिक विन्सेण्ट ए० स्मिथ ने इस साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यविस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है, कि "दो हजार साल से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते रहे और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया।" हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण जो पृथिवी (भारत देश) है, वह एक चक्रवर्ती साम्राज्य का क्षेत्र है, यह विचार आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रतिपादित किया था और मौर्यों ने इसे क्रियान्वित करने में सफलता प्राप्त की थी। शस्त्रशक्ति और दण्डनीति के प्रयोग से प्रायः सम्पूर्ण भारत में एक साम्राज्य की स्थापना कर मौर्य वंश के राजाओं ने अपनी असाधारण शक्ति का उपयोग धर्म द्वारा विश्व की विजय के लिये किया। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र राजा अशोक ने देश-देशान्तर में भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म के प्रचार के लिये जो उद्योग किया, विश्व के इतिहास में वह वस्तुतः अनुपम है। मौर्य-युग को भारतीय इतिहास का सुवर्ण-युग मानना सर्वथा समुचित और युक्तिसंगत है।

मौर्य साम्राज्य के गौरवपूर्ण इतिहास को क्रमबद्ध एवं विशद रूप से लिखने का प्रयत्न मैंने सन् १९२५ में किया था, और उसके परिणामस्वरूप मेरा 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' आज से ४२ वर्ष पूर्व १९२९ में प्रकाश में आया था। हिन्दी साहित्य में इस ग्रन्थ को समुचित आदर प्राप्त हुआ, और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने १९२९ में ही इसे मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा पुरस्कृत किया। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, और मध्यभारत हिन्दी समिति, इन्दौर आदि अनेक साहित्यिक संस्थाओं ने भी इस ग्रन्थ पर अनेक पुरस्कार एवं पदक प्रदान किये। कतिपय विश्वविद्यालयों ने इस ग्रन्थ को एम० ए० की पाठ्य पुस्तकों में भी स्थान दिया।

चिरकाल से मेरी इच्छा थी, कि इस ग्रन्थ का नया संस्करण तैयार करूँ। गत वर्षों में मौर्य इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी नई सामग्री भी प्रकाश में आयी है। पर अन्य साहित्यिक कार्य में व्यस्त रहने के कारण मैं अपनी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सका। इसका अवकाश मुझे अब प्राप्त हुआ, और 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के नये संस्करण को पाठकों के सम्मुख रखते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। वस्तुतः, यह पूर्णतया नया ग्रन्थ है, क्योंकि इसे सर्वथा नये सिरे से दुबारा लिखा गया है। मैंने प्रयत्न किया है, कि मौर्यों के सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध है, उस सबका इस ग्रन्थ में समावेश हो जाए। आशा है, पाठक इससे संतोष अनुभव करेंगे।

मसूरी
२७ मार्गशीर्ष, २०२७

सत्यकेतु विद्यालंकार

प्रकाशक का निवेदन

हिन्दी में इतिहास और राजनीतिशास्त्र विषयों पर उच्चकोटि के ग्रन्थों को लिखने के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण कार्य डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने किया है, पाठक उससे भली-भाँति परिचित हैं। भारत का प्राचीन इतिहास, भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय राजशास्त्र, यूरोप का आधुनिक इतिहास, एशिया का आधुनिक इतिहास आदि पर जो ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं, हिन्दी साहित्य में उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, उत्तर प्रदेश सरकार, मध्यप्रदेश शासन, बंगाल हिन्दी मण्डल आदि ने अनेक पुरस्कारों द्वारा उनके ग्रन्थों को सम्मानित किया है। इतिहास-विषयक उनके ग्रन्थ विद्यार्थियों और सर्वसाधारण पाठकों में इतने अधिक लोकप्रिय हुए हैं, कि उनके पाँच-पाँच व इससे भी अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। डा० सत्यकेतु विद्या-लंकार की विषय के प्रतिपादन की शैली अत्यन्त आकर्षक होती है, और वे ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सुबोध तथा हृदयगम्य हो। इसीलिये सर्वसाधारण पाठक भी उनके ग्रन्थों को रुचि के साथ पढ़ते हैं।

"मौर्य साम्राज्य का इतिहास" डा० विद्यालंकार का प्रथम ग्रन्थ था, जो सन् १९२९ के प्रारम्भ में प्रकाशित हुआ था। पर उनकी इस पहली रचना का ही अत्यधिक सम्मान हुआ, और इस द्वारा उन्होंने हिन्दी लेखकों तथा इतिहास के विद्वानों में आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया। चिरकाल हुआ, जबकि इस ग्रन्थ का पहला संस्करण बिक कर समाप्त हो गया था, पर इसकी माँग निरन्तर बनी रही और बाजार में उपलब्ध न होने पर भी अनेक विश्वविद्यालयों ने अब तक भी इसे एम० ए० की पाठ्यपुस्तकों में स्थान प्रदान किया हुआ है।

'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के नये संस्करण को पाठकों के सम्मुख रखते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। यह पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण है, जिसमें मौर्य इतिहास की उस सब सामग्री का समावेश कर लिया गया है, जो इस समय उपलब्ध है। वस्तुतः, इसे नया संस्करण न कह कर नया ग्रन्थ कहना ही अधिक उचित होगा, क्योंकि इसे पूर्णतया नये सिरे से लिखा गया है।

७०३ पृष्ठों, ३ नकशों तथा दस चित्रों से युक्त इस ग्रन्थ का मूल्य हमने बहुत ही कम रखा है। भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की सहायता से जो ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं, उनकी तुलना में भी इसका मूल्य कम है। हमें विश्वास है, कि डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ का भी हिन्दी जगत् द्वारा स्वागत किया जायगा।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने अपने संग्रहों में से इस ग्रन्थ में चित्र प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है, इसके लिये हम अपना आभार प्रगट करते हैं।

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

प्रथम संस्करण की भूमिका से

अध्यापक सत्यकेतु विद्यालंकार ने यह मौर्य साम्राज्य का इतिहास बहुत ही अच्छा ग्रन्थ बड़े परिश्रम से और अध्ययन पुरस्सर, स्वयं सब मूलग्रन्थों को पढ़ कर और सूझ के साथ तथ्य का निर्णय करते हुए तैयार किया है। अब तक ऐसी रचना अंग्रेजी में ही होती रही है। किसी धर्मवाद या सम्प्रदाय के विचारों से विद्यालंकार जी के ऐतिहासिक विचारों पर मुलम्मा जरा भी नहीं।

पुराने हिन्दू पुराविदों की तरह और नये ऐतिहासिकों की तरह ग्रन्थकार ने शिलालेख, प्राचीन पुस्तकों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों से मौर्य राज्य की इतिवृत्ति संकलित की है। मैंने ठोक-बजा कर देख लिया, यह माल रखा है।

यह मानी हुई बात है कि चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त मौर्य अपने समय में दुनिया भर में सबसे बड़े और बली राजा थे। यह आज-कल के ऐतिहासिकों की स्वीकृत की हुई व्यवस्था है। हिन्दू लेखकों में विशाखदत्त नाटककार ने म्लेच्छों से भारतभूमि बचाने के उपलक्ष में चन्द्र-गुप्त की तुलना विष्णु भगवान् से की। अशोकवर्धन चन्द्रगुप्त के पोता थे, जिनकी कीर्ति धर्मधवलित, हिमालय-समान उच्च शिखरवाली और चिरस्थायिनी पृथ्वी पर सदा और सर्वदा रहेगी। अशोक के पोते महाराज सम्प्रति ने दक्षिण देशमात्र को जैन और आर्य बना डाला। अशोक ने तो ग्रीक (यूनानी) राज्यों में, मिश्र (ईजिप्ट) में, और चीन के सिवाने के सब देशों में सभी कहीं अपने एलचियों के साथ धर्म के आचार्य और पादरी उपदेशक प्रेषित कर, और अस्पताल जारी कर ईसाई धर्म और ईसा के प्रादुर्भाव का बीज बोते हुए संन्यास-आश्रम का प्रचार भारत के बाहर प्रायः पृथ्वी मात्र में फैला दिया।

ये मौर्य महाराजा वेद के कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे और न ब्राह्मणों की जाति को अपने से ऊँचा मानते थे और न वे अपनी कीर्तिगाथाएँ उनसे लिखवाते थे। अपने बल और अपनी बुद्धि के सहारे, सचाई, दया आदि अनीश्वर और ऐहिक धर्मों द्वारा मुक्ति-सिद्धि के पंथ का प्रचार नक्कारे की चोट से दिगन्त तक करने वाले, सैकड़ों अकबर एक में और कोड़ियों कान्स्टेन्टाइन के अवतार से बढ़ भारत के व्रात्य अवैदिक क्षत्रिय सार्वकालिक साम्राज्य अक्षय "धर्मविजय" स्थापित करने की कामनावाले हुए। ऐसे राजा न उनके पहले हुए थे और न अब तक हुए। जैसे यहाँ अपने को ईश्वर माननेवाले श्रीकृष्ण ऐसे लोकोत्तर मनुष्य हुए, मनुष्य को स्वतन्त्र बनाने वाले बुद्ध ऐसे लोकोत्तर आचार्य हुए, वैसे ही लोकोत्तर हौसले वाले, जबहे वाले और विजयकामना और धार्मिक पुरुषार्थवाले ये यहाँ महाराज हुए। ये सब नररत्नप्रभवा भारत की कोख में ही हो सकते थे।

ऐसे महानुभावों का चरित आजकल की भाषा में बद्ध करना एक धर्मकार्य ही, साहित्य में, समझना चाहिये। पण्डित सत्यकेतुजी इस पूर्त्त की पूर्ति कर चिर-यश के भागी हुए। उनको देश की ओर से बधाई है।

पाटलिपुत्र
शुद्ध श्रावण शुक्ला ३, १९८५

काशीप्रसाद जायसवाल

विषय सूची

पहला अध्याय—मौर्य युग के इतिहास की उपलब्ध सामग्री — १७
(१) प्राचीन भारत में इतिहास का ज्ञान।
(२) कौटलीय अर्थशास्त्र।
(३) प्राचीन संस्कृत साहित्य।
(४) बौद्ध (संस्कृत और पालि) साहित्य।
(५) जैन (संस्कृत और प्राकृत) साहित्य।
(६) प्राचीन ग्रीक और लेटिन साहित्य।
(७) चीनी और तिब्बती साहित्य।
(८) उत्कीर्ण लेख और अन्य अवशेष।

दूसरा अध्याय—तिथिक्रम का निर्णय — ६७
(१) प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम की आधारशिला।
(२) स्वीकृत तिथिक्रम पर विप्रतिपत्तियाँ।
(३) विवेचना।

तीसरा अध्याय—मागध साम्राज्य का विकास — ८१
(१) प्राचीन भारत में साम्राज्य विस्तार की प्रवृत्ति।
(२) बौद्ध काल के सोलह महाजनपद।
(३) मगध का उत्कर्ष।
(४) साम्राज्यनिर्माण में मगध की सफलता के कारण।

चौथा अध्याय—चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका शासन — १०२
(१) मोरियगण का कुमार चन्द्रगुप्त।
(२) विदेशी आक्रमण।
(३) सिकन्दर के आक्रमण का भारतीय इतिहास पर प्रभाव।
(४) चन्द्रगुप्त द्वारा राज्य की प्राप्ति और विस्तार।
(५) सैल्युकस का आक्रमण।
(६) चन्द्रगुप्त का शासन

पाँचवाँ अध्याय—चन्द्रगुप्त कालीन शासन-व्यवस्था — ?
(१) साम्राज्य की शासन व्यवस्था।
(२) विजिगीषु सम्राट्।
(३) मन्त्रिपरिषद्।

(४) केन्द्रीय शासन का संगठन।
(५) केन्द्रीय शासन के कतिपय प्रमुख विभाग।
(६) राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण और जनता का शासन।
(७) गुप्तचर विभाग।
(८) राजदूत।

छठा अध्याय—जनपदों, नगरों और ग्रामों का शासन २०१
(१) जनपद का स्वरूप।
(२) जनपदों का शासन।
(३) नगरों का शासन।
(४) ग्रामों का शासन।

सातवाँ अध्याय—न्यायव्यवस्था २३६
(१) न्याय-विभाग का संगठन।
(२) धर्मस्थीय न्यायालय।
(३) कण्टक शोधन न्यायालय।
(४) विधि (कानून) के विविध अंग।
(५) न्यायालयों की कार्य प्रक्रिया।

आठवाँ अध्याय—राजकीय आयव्यय २६७
(१) राज्य की आय के साधन।
(२) भूमिकर और भूमि से प्राप्त होने वाली आय।
(३) तट-कर (आयात और निर्यात पर कर)।
(४) बिक्री पर कर और चुंगी से आय।
(५) राजकीय आय के अन्य साधन।
(६) राजकीय व्यय।

नवाँ अध्याय—सार्वजनिक हित के कार्य २९९
(१) सिंचाई और जल-व्यवस्था।
(२) चिकित्सालय और स्वास्थ्यरक्षा।
(३) सार्वजनिक संकटों का निवारण।
(४) सार्वजनिक हित के अन्य कार्य।

दसवाँ अध्याय—विविध प्रकार के मार्ग और आने-जाने के साधन ३१८
(१) जलमार्ग।
(२) स्थलमार्ग।

ग्यारहवाँ अध्याय—आर्थिक दशा ३३२
(१) कृषि।

(२) व्यवसाय और उद्योग।
(३) व्यापार।
(४) कृषकों, शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन।
(५) दासप्रथा।
(६) मुद्रापद्धति।
(७) सूद पर उधार देना।
(८) नगर और ग्राम।

बारहवाँ अध्याय––सामाजिक दशा ३७१
(१) समाज के विभिन्न वर्ग।
(२) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति।
(३) चार आश्रम।
(४) गणिकाएँ और रूपाजीवाएँ।
(५) तमाशे तथा आमोद-प्रमोद।
(६) सुरा, पानगृह और द्यतशालाएँ।
(७) वस्त्र, प्रसाधन और भोजन।

तेरहवाँ अध्याय––धार्मिक सम्प्रदाय और विश्वास ४११
(१) नये धार्मिक सम्प्रदाय।
(२) वैदिक धर्म।
(३) विश्वास और तन्त्र-मन्त्र।

चौदहवाँ अध्याय––सैन्य संगठन और युद्धनीति ४२७
(१) सेना का संगठन।
(२) सैनिक उपकरण और अस्त्र-शस्त्र।
(३) युद्ध के विविध प्रकार और व्यूहरचना।

पन्द्रहवाँ अध्याय––चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु और राजा बिन्दुसार का शासन ४४४
(१) चन्द्रगुप्त का अन्तिम समय।
(२) घोर दुर्भिक्ष।
(३) राजा बिन्दुसार का शासन।

सोलहवाँ अध्याय––राजा अशोक का शासनकाल ४६७
(१) अशोक का सिंहासनारोहण।
(२) राज्यविस्तार।
(३) अशोक के साम्राज्य की सीमा और विस्तार।
(४) विदेशी राजाओं के साथ सम्बन्ध
(५) अशोक का शासन।

सतरहवाँ अध्याय—अशोक की धर्मविजय ५००
(१) 'धर्म' का अभिप्राय।
(२) धर्मविजय के लिये प्रयुक्त किये गए साधन।
(३) धर्म विजय का क्षेत्र।

अठारहवाँ अध्याय—राजा अशोक और बौद्ध धर्म ५२३
(१) बौद्धधर्म की दीक्षा।
(२) बौद्ध तीर्थों की यात्रा।
(३) बौद्ध अशोक।
(४) बौद्धधर्म की तीसरी संगीति (महासभा)।

उन्नीसवाँ अध्याय—बौद्धधर्म का विदेशों में प्रसार ५४९
(१) प्रचारक-मण्डलों का संगठन।
(२) लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार।
(३) दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार।
(४) खोतन में बौद्धधर्म का प्रचार।
(५) हिमवन्त देशों में प्रचार।
(६) यवन देशों में प्रचार।
(७) सुवर्ण भूमि में प्रचार।

बीसवाँ अध्याय—अशोककालीन शासन-व्यवस्था और सामाजिक जीवन ५७३
(१) शासन की रूपरेखा।
(२) राजा और उसकी परिषद्।
(३) महामात्र और अन्य राजकर्मचारी।
(४) शासनविषयक नीति।
(५) सामाजिक जीवन।

इक्कीसवाँ अध्याय—अशोक के उत्कीर्ण लेख ६०७
(१) चतुर्दश शिलालेख।
(२) लघु शिलालेख।
(३) स्तम्भ लेख।
(४) लघु स्तम्भ लेख।
(५) अन्य उत्कीर्ण लेख।

बाईसवाँ अध्याय—अशोक की नीति का मूल्याङ्कन ६२२
(१) धर्मविजय की नीति।
(२) भारतीय इतिहास पर अशोक की नीति का प्रभाव।

तेईसवाँ अध्याय--मौर्य युग के भग्नावशेष ६३४

(१) अशोक के कर्तृत्व की स्मृतियाँ।
(२) पाटलिपुत्र।
(३) साञ्ची।
(४) सारनाथ, तक्षशिला और भरहुत।
(५) मौर्य युग की मूर्ति कला।
(६) मौर्य युग के सिक्के।

चौबीसवाँ अध्याय--मौर्य साम्राज्य का ह्रास और पतन ६४८

(१) अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा।
(२) राजा सुयश कुनाल।
(३) राजा दशरथ (बन्धुपालित)।
(४) राजा सम्प्रति।
(५) यवन आक्रमणों का प्रारम्भ।
(६) कलिङ्गराज खारवेल।
(७) राजा सम्प्रति के उत्तराधिकारी।
(८) मौर्यों के पतन के कारण।

परिशिष्ट (१) मौर्यवंश-वृक्ष। ६९६
(२) आचार्य चाणक्य का जीवनवृत्त। ६९७
(३) सहायक पुस्तकों की सूचि। ७००

चित्र-सूची

(१) सारनाथ में प्राप्त अशोक-स्तम्भ का शीर्षभाग
(२) धौली में प्राप्त शिला काट कर बनाया गया हाथी
(३) साँची का स्तूप
(४) दीदार गंज की यक्षी की मूर्ति
(५) लोमश ऋषि की गुफा
(६) लोहरियानन्दन गढ़ में प्राप्त अशोक का स्तम्भ
(७) पाटलिपुत्र में उपलब्ध मृण्मूर्ति
(८) पाटलिपुत्र में उपलब्ध खण्डित मृण्मूर्ति
(९) मृण्मूर्ति का शीर्ष भाग (पाटलिपुत्र)
(१०) जैनमूर्ति का खण्डित अधोभाग (पाटलिपुत्र)

नक्शे

(१) बौद्ध युग के सोलह महाजनपद
(२) मौर्य साम्राज्य का विस्तार
(३) अशोक की धर्म विजय का क्षेत्र

सारनाथ में प्राप्त अशोक-स्तम्भ का शीर्ष भाग

मौर्य साम्राज्य का इतिहास

पहला अध्याय

मौर्य युग के इतिहास की उपलब्ध सामग्री

(१) प्राचीन भारत में इतिहास का ज्ञान

वर्तमान समय में भारत का प्राचीन इतिहास क्रमवद्ध रूप से उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य अत्यन्त विशाल एवं समृद्ध है, पर अभी इतिहास-विषयक प्राचीन ग्रन्थ अधिक संख्या में उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसी कारण मैक्स मूलर[1], फ्लीट[2] आदि अनेक विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि प्राचीन भारतीय पारलौकिक विषयों के चिन्तन में ही निमग्न रहा करते थे, इहलोक के सुखों तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्याओं की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया था और इसी कारण उन्होंने अपने इतिहास को क्रमबद्ध रूप से उल्लिखित व संकलित करने की भी कोई आवश्यकता नहीं समझी। पर यह मत युक्तिसंगत नहीं है। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन भारतीय इतिहास-शास्त्र से भली भाँति परिचित थे और अपनी घटनाओं को क्रमबद्ध रूप से संकलित करने को समुचित महत्त्व प्रदान करते थे। उनकी दृष्टि में इतिहास का महत्त्व इतना अधिक था, कि वे उसकी गणना वेदों में करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास को पाँचवाँ वेद कहा गया है,[3] और कौटलीय अर्थशास्त्र में भी इतिहास की गणना वेदों में की गई है।[4] महाभारत के अनुसार वेदों के अभिप्राय को समझने के लिये इतिहास का अनुशीलन आवश्यक है। वहाँ लिखा है, कि "इतिहास और पुराण द्वारा वेदों के अर्थ को जाना जाए, जो व्यक्ति 'अल्पश्रुत' हो वेद उससे भय खाता है।"[5] राजाओं के लिये जो दिनचर्या नीतिग्रन्थों में निर्धारित की गई है, उसमें इतिहास

---

१. Max Muller : The History of Sanskrit Literature, Page 9

२. Fleet : Epigraphy (Imperial Gazatteer of India, Vol. II) Page 3

३. "इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेद.।" छान्दोग्य ७।१।४

४. "सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी । अथर्ववेदेतिहासवेदौच वेदाः।" कौ. अर्थ. १।२

५. "इतिहास पुराणाभ्यां वेद्वार्थमुपबृंहयेत्।
विभेत्यतल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥" महा. १, १, २०४।

के 'श्रवण' के लिये भी समय रखा गया है।[१] छान्दोग्य उपनिषद् में महर्षि सनत्कुमार और नारद मुनि का एक संवाद आया है, जिसमें सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने उन विद्याओं को गिनाया है, जिनका कि उसने अध्ययन किया था। इन विद्याओं में इतिहास भी है।[२]

इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखने के साधन विद्यमान थे। कौटल्य ने अथशास्त्र में अनेक ऐतिहासिक उदाहरण देकर अपने मन्तव्यों की पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है, कि "दाण्डक्य नाम के भोज ने काम के वशीभूत होकर ब्राह्मण कन्या पर बलात्कार किया, जिसके कारण अपने बन्धु-बान्धवों और राष्ट्र के साथ उसका विनाश हो गया। यही गति वैदेह कराल की भी हुई। कोप के वशीभूत होकर जनमेजय ने ब्राह्मणों पर अत्याचार किये और तालजंघ ने भृगुओं पर। लोभ के वशीभूत होकर ऐल ने चातुर्वर्ण्य से धन का कर्षण किया और सौवीर अजबिन्दु ने भी। मान (गर्व) के कारण रावण ने परस्त्री को लौटाने से इन्कार किया, और दुर्योधन ने राज्य के अंश को प्रदान नहीं किया। मद के कारण डम्बोद्भव और हैहय अर्जुन ने जनता का अपमान किया। हर्ष के वशीभूत होकर वातापि ने अगस्त्य को और वृष्णिसंघ ने द्वैपायन को पीड़ित किया। ये और इसी प्रकार के कितने ही अन्य राजा शत्रु-षड्वर्ग के वशीभूत हो जाने के कारण अपने-अपने राष्ट्रों तथा बन्धुबान्धवों के साथ विनष्ट हो गये। इसके विपरीत शत्रु-षड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर लेने और इन्द्रियजयी होने के कारण जामदग्न्य और नाभाग अम्बरीष ने चिरकाल तक पृथिवी का उपभोग किया।[३]" कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्यत्र भी इसी प्रकार के अनेक उदाहरण देकर अपने मन्तव्यों को पुष्ट किया गया है। "पत्नी के घर में छिपे हुए भाई ने भद्रसेन की हत्या कर दी थी। माता की शय्या में घुसकर पुत्र ने कारूश को मार दिया था। लाजाओं में मीठे विष को मिलाकर पत्नी ने काशिराज को मार दिया था। विष से बुझाये हुए नूपुरों से वैरन्त्य की, मेखला की मणि से सौवीर की, आदर्श (आयने) से जालथ की और वेणी में छिपाये हुए शस्त्र से विदूरथ की हत्या पत्नी द्वारा कर दी गई थी।[४]" यदि प्राचीन भारत में राजनीतिक घटनाओं की स्मृति को स्थिर रखने के कोई साधन न होते, इतिहास से प्राचीन भारतीयों का कोई परिचय न होता, तो इस प्रकार के उदाहरण कदापि न दिये जा सकते। इतिहास के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कौटल्य ने लिखा है—"पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र को इतिहास कहते हैं।[५]" ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन काल में इतिहास

---

१. "पश्चिममितिहास श्रवणे।" कौ. अर्थ. १।५
२. छान्दोग्योपनिषद् ७।१।१—२
३. कौ. अर्थ. १।६
४. कौ. अर्थ. १।२०
५. कौ. अर्थ. १।५

एक अत्यन्त विस्तृत विषय था, और इतिहास-संज्ञा का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता था। वर्तमान समय में जिन्हें सामाजिक विज्ञान कहते हैं, उन सबका समावेश 'इतिहास' में होता था, और उनके अतिरिक्त पौराणिक अनुश्रुति को भी उसी के अन्तर्गत किया जाता था। इसी कारण कौटल्य ने अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र को भी इतिहास का अंग माना है।

महाभारत में इतिहास के अभिप्राय का बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपण किया गया है। वहाँ लिखा है, कि इतिहासरूपी प्रदीप मोहरूपी अन्धकार को दूर करनेवाला है, उसके द्वारा संसार के सब क्षेत्रों के स्वरूप को यथावत् रीति से प्रकाशित व प्रगट किया जाए।[1] इतिहास के प्रयोजन का इससे उत्तम प्रतिपादन सम्भवतः सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार दीपक प्रत्येक वस्तु को उसके सही-सही रूप में प्रगट कर देता है, दीपक के प्रकाश में काली वस्तु काली दिखने लगती है और श्वेत वस्तु लाल, उसी प्रकार इतिहास का प्रयोजन यह है कि समाज, मानव जीवन और विश्व के सब क्षेत्रों की सब प्रगति तथा घटनाओं को उनके यथावत् रूप में प्रगट कर दे, और मोहरूपी अन्धकार को दूर कर दे। मोह (Prejudice) के कारण हम समाज तथा विश्व की घटनाओं को उनके सही रूप में नहीं देख पाते। इतिहास इस मोहरूपी अन्धकार को दूर कर हमें यह क्षमता प्रदान करता है, कि हम सबको सही-सही रूप में देख सकें। जिन प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इतिहास के इस वास्तविक प्रयोजन का निरूपण किया था, वे इस शास्त्र से अनभिज्ञ हों, यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

भारतीयों ने इतिहास की उपेक्षा नहीं की, इस मत की पुष्टि के लिये अन्य भी अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। दक्षिणापथ में चालुक्यों के दो राजवंशों ने शासन किया था। प्रथम चालुक्य वंश के शासन का प्रारम्भ छठी सदी में हुआ था, और वह आठवीं सदी के मध्य तक कायम रहा था। इन चालुक्य राजाओं की राजधानी वातापी नगरी थी। वातापी के चालुक्य राज्य का अन्त राष्ट्रकूटों द्वारा किया गया, और दसवीं सदी तक उनका दक्षिणापथ पर आधिपत्य रहा। पर दसवीं सदी के अन्तिम भाग में एक बार फिर चालुक्यों के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, और उन्होंने राष्ट्रकूटों का अन्त कर दक्षिणापथ में अपने शासन को स्थापित किया। चालुक्यों के इन दो राजवंशों के काल में लगभग दो सदियों का अन्तर था। पर पिछले चालुक्य वंश (जिसकी राजधानी कल्याणी थी) के राजाओं के शिलालेखों में दो सौ वर्ष पूर्व के (वातापी के) चालुक्य राजाओं का इतिवृत्त उल्लिखित है। यदि प्राचीन भारत में ऐतिहासिक घटनाओं को लेखबद्ध करने या प्राचीन इतिवृत्त को स्थिर रखने के कोई साधन न होते, तो ग्यारहवीं सदी के चालुक्य राजा छठी व सातवीं सदी के

---

१. 'इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।
सवलोकधृतं गर्भं यथावत् संप्रकाशयेत्॥' महाभारत १,१,४५

चालुक्य राजाओं के वृत्तान्त का अपने शिलालेखों में कैसे उल्लेख कर सकते थे ? प्राचीन भारतीयों के इतिहास-ज्ञान का यह अकाट्य प्रमाण है।

कल्हण ने राजतरङ्गिणी नाम से काश्मीर के राजाओं का जो इतिहास लिखा है, उसमें उसने कहा है कि इस इतिहास को लिखने में ग्यारह पुराने इतिहास-ग्रन्थों का उपयोग किया गया है।[1] प्राचीन भारत के अनेक इतिहास-ग्रन्थ भी अब खोज द्वारा धीरे-धीरे उपलब्ध होने लग गये हैं। इनमें 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले गुप्तवंश के राजाओं का परिचय केवल शिलालेखों और सिक्कों द्वारा ही प्राप्त होता था। पर इस ग्रन्थ के रूप में अब गुप्त राजाओं का लिखित इतिहास भी उपलब्ध हो गया है।

प्राचीन भारतीयों द्वारा लिखित क्रमबद्ध इतिहास के ग्रन्थ यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं हैं, पर ऐसी बहुत-सी सामग्री हमें अवश्य प्राप्त है, जिसका उपयोग कर भारत का प्राचीन इतिहास तैयार किया जा सकता है। मौर्य वंश के इतिहास की सामग्री तो विशेष रूप से प्रचुर एवं समृद्ध है। मौर्यों से सम्बन्ध रखनेवाली ऐतिहासिक अनुश्रुति न केवल पुराणों से संगृहीत है, अपितु बौद्ध और जैन वाङमय में भी इस वंश के अनेक राजाओं का वृत्तान्त विशद रूप से दिया गया है। मौर्य राजा अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और सम्प्रति जैन धर्म का। इन दोनों राजाओं ने अपने-अपने धर्म के प्रसार व संवर्धन के लिये विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी। इसी कारण बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में मौर्य वंश की बहुत-सा ऐतिहासिक इतिवृत्त विद्यमान है। मौर्य इतिहास की सामग्री को आठ भागों में बाँटा जा सकता है—संस्कृत साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, ग्रीक विवरण, चीनी यात्रियों के विवरण, तिब्बती साहित्य और पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री। कौटलीय अर्थशास्त्र यद्यपि संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत है, पर क्योंकि मौर्य इतिहास के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है, अतः उस पर हम पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

(२) कौटलीय अर्थशास्त्र

मौर्य युग के इतिहास के लिये 'कौटलीयम् अर्थशास्त्रम्' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। चन्द्रगुप्त के समय की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दशा पर प्रकाश डालने और उस काल की शासन-पद्धति का निरूपण करने के लिये हमने प्रधानतया इसी ग्रन्थ का उपयोग किया है। आचार्य चाणक्य या कौटल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु तथा मन्त्रि-पुरोहित थे। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने ही नव नन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ कराया था। उनके अनेक नाम थे। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में उनके निम्नलिखित नाम उल्लिखित किये हैं—वात्स्यायन, मल्लिनाग,

---

१. 'दृग्गोचरं पूर्वसूरिग्रन्था राजकथाश्रयाः।
ममत्वेकादशगता मतं नीलमुनेरपि॥' राजतरङ्गिणी १।१४

कुटल, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल। सम्भवतः, इस प्रसिद्ध आचार्य का व्यक्तिगत नाम विष्णुगुप्त था। वह कुटल गोत्र में उत्पन्न हुए थे, अतः उन्हें कौटल्य कहा जाता था। चणक उनके पिता का नाम था, इस कारण वह चाणक्य कहाते थे। सम्भवतः, द्रामिल नाम उनके अभिजन को सूचित करता है। कौटलीय अर्थशास्त्र इन्हीं कौटल्य या चाणक्य की कृति है। इस आचार्य द्वारा दण्डनीति या अर्थशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ की रचना की गई थी, इस सम्बन्ध में अनेक निर्देश प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। महाकवि दण्डी ने दशकुमारचरित में लिखा है, कि आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्यों के लिये छः हजार श्लोकों में संक्षिप्त करके एक ग्रन्थ का निर्माण किया।[1] कामन्दक नीतिसार में विष्णुगुप्त और उसके द्वारा निर्मित अर्थशास्त्र का इन शब्दों में उल्लेख किया गया है-- "वज्र के समान ज्वलन्त तेज से युक्त जिसके अभिचार वज्र के आघात द्वारा श्रीसम्पन्न व सुदृढ़ नन्दरूपी पर्वत जड़ से उखड़ कर गिर गया, जिस परम शक्तिशाली ने अकेले ही अपनी मन्त्रशक्ति द्वारा मनुष्यों में चन्द्र के समान चन्द्रगुप्त को राज्य दिलवा दिया, और जिसने अर्थशास्त्ररूपी महासमुद्र से नीतिशास्त्र रूपी अमृत को प्राप्त कराया, उस विष्णुगुप्त को नमस्कार है।[2]" कौटलीय अर्थशास्त्र की अन्तः साक्षी द्वारा भी यही सूचित होता है, कि इस शास्त्र के रचयिता वही चाणक्य थे, जिन्होंने कि नन्दराज का विनाश किया था। वहाँ लिखा है कि 'जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र, शस्त्र और नन्दराज के हाथ में गयी हुई पृथिवी का उद्धार किया, उसने ही इस शास्त्र की रचना की।[3]' अन्यत्र एक स्थान पर कौटलीय अर्थशास्त्र में यह कहा गया है कि कौटल्य ने यह शास्त्र ऐसा बनाया है कि इसे सुगमतापूर्वक समझा और ग्रहण किया जा सके। इसमें व्यर्थ ग्रन्थ का विस्तार नहीं किया गया है, और इसके तत्त्व, अर्थ और पद सुनिश्चित हैं।[4] कौटलीय अर्थशास्त्र का अन्तिम श्लोक भी महत्त्व का है--'बहुधा शास्त्रों में यह देखा जाता है कि उन पर किये गये भाष्यों और मूल शास्त्र में परस्पर विरोध रहता है। अतः विष्णुगुप्त ने स्वयं ही सूत्रों की रचना की और स्वयं ही उनपर भाष्य भी लिखा।[5]' इस ग्रन्थ की रचना कौटल्य ने शासन की विधि

---

१. 'इयमिदानीं आचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता' दशकुमारचरित, उच्छ्वास ८

२. कामन्दक नीतिसार १।४-६

३. 'येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥' कौ. अर्थ. १५।१

४. 'सुखग्रहणविज्ञेयं तत्त्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्त ग्रन्थ विस्तरम्।' कौ. अर्थ. १।१

५. 'दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥' कौ. अर्थ. १५।१
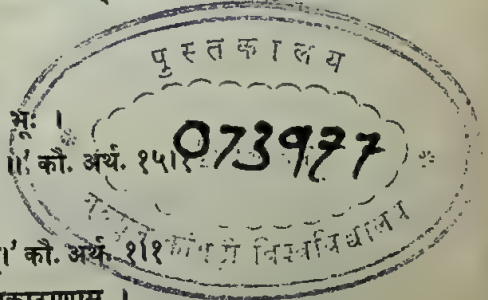
के रूप में की थी, और दण्डनीति या राजनीति के सिद्धान्तों के साथ-साथ उनके प्रयोग या क्रियात्मकता को भी इसकी रचना करते हुए दृष्टि में रखा गया था, यह भी कौटलीय अर्थशास्त्र में ही निरूपित है। वहाँ लिखा है कि "सब शास्त्रों का अनुशीलन करके और प्रयोग (क्रियात्मक अनुभव) द्वारा कौटल्य ने 'नरेन्द्र' के लिये शासन की यह विधि बनायी है।[1]" यह शासन-विधि किस नरेन्द्र या राजा के लिये बनायी गई थी, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में नहीं पाया जाता। पर क्योंकि चाणक्य ने नव नन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त को मगध का राजा बनाया था, अतः यह कल्पना असंगत नहीं है कि इस शास्त्र की रचना नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के लिये ही की गई थी, और इसका उद्देश्य मौर्य साम्राज्य के इस प्रवर्तक का पथप्रदर्शन करना था।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में न केवल चाणक्य या कौटल्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र का उल्लेख ही किया गया है, अपितु अनेक स्थलों पर उससे उद्धरण भी दिये गये हैं। दण्डी के दशकुमारचरित में अर्थशास्त्र की अनेक बातों का जहाँ निर्देश किया गया है, वहाँ साथ ही उसके अनेक वाक्य उद्धृत भी किये गये हैं।[2] मल्लिनाथ ने रघुवंश की टीका में 'अत्र कौटल्यः' लिखकर अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं, जो कि कौटलीय अर्थशास्त्र से लिये गये हैं।[3] विशाखदत्त-कृत मुद्राराक्षस नाटक में अनेक स्थानों पर जो दण्डनीति-विषयक मन्तव्य निरूपित हैं, उन पर कौटलीय अर्थशास्त्र की छाया स्पष्ट रूप से विद्यमान है। कतिपय स्थलों पर तो इन दोनों ग्रन्थों के वाक्य और शब्द तक भी एक सदृश हैं।[4] महाकवि बाण ने अपनी प्रसिद्ध रचना कादम्बरी में 'कौटिल्य शास्त्र' का उल्लेख किया है, यद्यपि वहाँ उसके लिये प्रशंसात्मक वाक्य प्रयुक्त नहीं किये गये। बाण की सम्मति में कौटिल्य शास्त्र के उपदेश 'अतिनृशंस' और 'निर्घृण' थे।[5] जैनग्रन्थ नन्दिसूत्र में भी मिथ्या शास्त्रों का परिगणन करते

---

१. **'सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च ।**
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥' कौ. अर्थ. २।१०

२. **"सत्यमाह चाणक्यः—'चित्तज्ञानानुवर्तिनोऽनर्थ्या अपि प्रियाः स्युः ।**
दक्षिणा अपि तद्भावबहिष्कृता द्वेष्या भवेयुः ।'
दशकुमार चरित (उच्छ्वास ८) में उद्धृत यह चाणक्य का मत अर्थशास्त्र में इस प्रकार श्लोक रूप में विद्यमान है—
'अनर्थ्याश्च प्रिया दृष्टा चित्तज्ञानानुवर्तिनः ।' ५।४

३. **रघुवंश १७।४९**

४. **उदाहरणार्थ कौटलीय अर्थशास्त्र के कथन कि "लोकयात्राविद् राजानमात्मद्रव्यप्रकृति सम्पन्न प्रियहित द्वारेणाश्रयेत' (कौ. अर्थ. ५।४) की छाया मुद्राराक्षस के इस वाक्य में है—'विजिगीषुरात्मगुण सम्पन्नः प्रियहितद्वारेणाश्रयणीय इति ।' (मुद्राराक्षस, अंक ४)**

५. **'किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रप्रमाणम् ।'**

हुए 'कौडिल्ल्य' को उनके अन्तर्गत किया है। इन सब निर्देशों को दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन लेखक भी इस ग्रन्थ को कौटिल्य (कौटल्य) या चाणक्य की रचना मानते थे, और उन्हें यह भी अभिमत था कि इसी चाणक्य द्वारा नन्द-वंश के शासन का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजसिंहासन प्रदान किया गया था।

पर सब विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि कौटलीय अर्थशास्त्र चौथी सदी ई० पू० की रचना न होकर तीसरी या चौथी ईस्वी पश्चात् की कृति है। अर्थशास्त्र का अनुवाद करते हुए उसकी भूमिका में प्रोफेसर जॉली ने इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनका मन्तव्य है कि न यह ग्रन्थ मौर्य काल में लिखा गया, और न इसकी रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा की गई। वस्तुतः, यह एक सम्प्रदाय की कृति है। अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर 'इति कौटल्यः' लिखकर कौटल्य या चाणक्य के मत को उद्धृत किया गया है। यदि कौटल्य स्वयं इस ग्रन्थ के रचयिता होते, तो उन्हें 'इति कौटल्यः' लिखकर उनके मत को उद्धृत करने की आवश्यकता न होती।[1]

कौटलीय अर्थशास्त्र के रचयिता और उसके काल के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। इस सब विवाद को यहाँ संक्षेप के साथ निर्दिष्ट कर सकना भी सम्भव नहीं है। पर क्योंकि हमने मौर्य युग की सभ्यता, राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक दशा आदि का निरूपण करते हुए प्रधानतया इसी ग्रन्थ को आधार माना है, अतः इस विवाद का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से निर्देश करना आवश्यक है। श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर के विचार में कौटल्य नाम के किसी व्यक्ति की मौर्य युग में सत्ता तक भी संदिग्ध है। उनका कथन है, कि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में मौर्यों का भी उल्लेख किया है, और चन्द्रगुप्त का भी। पर उन्होंने कौटल्य या चाणक्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि पतञ्जलि को कौटल्य का ज्ञान ही नहीं था, और कौटल्य का समय पतञ्जलि के बाद ही कभी होना चाहिये। क्योंकि पतञ्जलि शुङ्ग राजा पुष्यमित्र (दूसरी सदी ई० पू०) के समकालीन थे, अतः कौटल्य उनसे पूर्ववर्ती मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के समकालीन कदापि नहीं हो सकते। विन्टरनिट्ज़ ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है, कि मैगस्थनीज़ ने अपने यात्रा विवरण में चाणक्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। मैगस्थनीज सैल्युकस के राजदूत की स्थिति में कई वर्ष तक चन्द्रगुप्त की राजसभा में रहा था। यदि वस्तुतः चाणक्य चन्द्रगुप्त का गुरु तथा पुरोहित होता, तो यह कदापि सम्भव नहीं था कि मैगस्थनीज का ध्यान उसकी ओर न जाता।

यदि यह मान भी लिया जाये, कि चाणक्य चन्द्रगुप्त का मन्त्री व पुरोहित था और उसी के कर्तृत्व से मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई थी, तो भी यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है कि कौटलीय अर्थशास्त्र चाणक्य या कौटल्य की ही कृति है। इस मन्तव्य की पुष्टि के लिये विविध विद्वानों ने निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—(१) मौर्य युग के उत्कीर्ण

१. Jolly and Schmidts : Arthashastra pp 1-47

लेखों में राजा के लिये 'देवानांप्रिय' विशेषण या उपाधि का प्रयोग किया गया है। अशोक और दशरथ दोनों के लेखों में यह उपाधि पायी जाती है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं की गई। (२) मौर्य युग के सब उत्कीर्ण लेख पालि भाषा में हैं, जिससे यह सूचित होता है कि उस काल में पालि भाषा ही राज्य कार्य के लिये प्रयुक्त की जाती थी। पर कौटलीय अर्थशास्त्र संस्कृत में है। मौर्यों के बाद सातवाहन राजाओं ने भी प्राकृत भापा का प्रयोग किया। संस्कृत का प्रयोग विशेष रूप से चौथी सदी ईस्वी में होना प्रारम्भ हुआ, जब कि गुप्त वंश का शासन था। (३) समुद्रगुप्त की प्रशस्ति (प्रयाग के स्तम्भ पर उत्कीर्ण) में राजा के लिये 'धनदवरुणऐन्द्रान्तकसम' विशेषण का प्रयोग किया गया है। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजा को 'इन्द्रयम स्थान' कहा गया है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि राजा के विषय में जिस भावना को अर्थशास्त्र में व्यक्त किया गया है, वही समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में भी पायी जाती है। मौर्य युग के उत्कीर्ण लेखों में यह भावना विद्यमान नहीं है। अतः अर्थशास्त्र का निर्माण गुप्त युग में हुआ मानना चाहिये, मौर्य युग में नहीं। (४) कौटलीय अर्थशास्त्र में न कहीं चन्द्रगुप्त का उल्लेख है और न उसकी राजधानी पाटलिपुत्र का। यदि इस ग्रन्थ का निर्माण वस्तुतः चन्द्रगुप्त के शासन की विधि के रूप में किया गया होता, तो कहीं तो उसका तथा उसकी राजधानी का उल्लेख होना चाहिये था, जबकि अन्य कितने ही भौगोलिक स्थानों के नाम अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। (५) कौटलीय अर्थशास्त्र में यह मत प्रगट किया गया है, कि दुर्ग की प्राचीर प्रस्तरों द्वारा निर्मित होनी चाहिये, काष्ठ द्वारा नहीं। कौटल्य दुर्ग में काष्ठ के प्रयोग को अनुचित मानते थे। पर पाटलिपुत्र की खुदाई द्वारा यह ज्ञात हुआ है, कि मौर्य युग में पाटलिपुत्र के दुर्ग के निर्माण के लिये काष्ठ का प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया गया था। यदि अर्थशास्त्र का रचयिता चन्द्रगुप्त का गुरु व मन्त्री होता, तो वह पाटलिपुत्र के दुर्ग के लिये काष्ठ का उपयोग कभी न करने देता। (६) भारत की शासन-पद्धति, सामाजिक जीवन और आर्थिक दशा के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ मैगस्थनीज़ के भारत विवरण से उपलब्ध होती हैं, वे उससे सर्वथा भिन्न हैं जो कौटलीय अर्थशास्त्र में निरूपित हैं। उदाहरणार्थ, मैगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र सदृश नगर के शासन के लिये एक ऐसी सभा की सत्ता का उल्लेख किया है जिसके ३० सदस्य थे और जो ६ उपसमितियों द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन करती थी। इसी प्रकार सैन्य सञ्चालन के लिये भी मैगस्थनीज़ ने ३० सदस्यों की एक सभा का वर्णन किया है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में न कहीं नगर-सभा का उल्लेख है, और न कहीं सैन्य-सञ्चालन करनेवाली सभा का। यदि कौटलीय अर्थशास्त्र का निर्माण मौर्य युग में हुआ होता, तो उसमें उन सभाओं का निर्देश अवश्य होना चाहिये था, मैगस्थनीज़ ने जिन्हें स्वयं भारत में देखा था और जिनका उसने विशद रूप से वर्णन किया है। आर्थिक जीवन के विषय में भी मैगस्थनीज़ और अर्थशास्त्र के विवरणों में बहुत भिन्नता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से सूचित होता है कि उसकी रचना के समय धातुविद्या में भारतीय लोग अच्छी

उन्नति कर चुके थे, उन्हें बहुत-सी धातुओं का ज्ञान था, और धातुओं को तैयार करने तथा उनसे विविध प्रकार की वस्तुओं के निर्माण में वे पर्याप्त निपुणता प्राप्त कर चुके थे। पर मैगस्थनीज़ ने एक ऐसे युग के चित्र को प्रस्तुत किया है, जब कि धातुविद्या उन्नत दशा में नहीं थी। (७) कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन, नेपाल, वाह्लीक, कपिशा, वनायु आदि अनेक ऐसे देशों के नाम आये हैं, जिनसे भारतीय लोग चौथी सदी ई० पू० में परिचित नहीं हुए थे। विशेषतया, अर्थशास्त्र में चीन का उल्लेख इस बात का प्रमाण है, कि इस ग्रन्थ का निर्माण चौथी सदी ई०पू० के पर्याप्त समय पश्चात् हुआ। जिस देश को आजकल 'चीन' कहा जाता है, उसकी यह संज्ञा तभी प्रयोग में आनी प्रारम्भ हुई थी जबकि चिन राजवंश ने उस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। चिन वंश का यह उत्कर्ष तीसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में हुआ था। अतः जिस ग्रन्थ में चीन का उल्लेख हुआ हो, उसकी रचना तीसरी सदी ई० पू० से पूर्व के काल में कभी स्वीकृत नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में उल्लिखित अन्य भी अनेक देशों के साथ भारत का सम्बन्ध बाद के काल में ही स्थापित हुआ था। (८) कौटलीय अर्थशास्त्र में 'सुरङ्ग' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। अनेक विद्वानों का मत है, कि यह शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है। ग्रीक शब्द सिरिंग्स (Syrigx) से ही संस्कृत का सुरङ्ग शब्द बना है। ग्रीक साहित्य में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पोलिबिअस (Polybius) द्वारा १८० ई० पू० में किया गया था। इस दशा में जिस संस्कृत ग्रन्थ में सुरङ्ग शब्द प्रयुक्त हुआ हो, वह चौथी सदी ई० पू० में विरचित कैसे हो सकता है? दशकुमारचरितम्, हर्षचरितम्, मुद्राराक्षस, नाट्यशास्त्र आदि जिन अन्य प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में सुरङ्ग शब्द प्रयुक्त हुआ है, उनका निर्माण छठीं सदी ई० पू० या इसके बाद ही हुआ था, पहले नहीं। (९) कौटलीय अर्थशास्त्र में जिस राज्य और उसके शासन का निरूपण है, वह विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य न होकर एक छोटा-सा राज्य है। वह एक ऐसे युग को सूचित करता है, जब कि भारत में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी और वे परस्पर संघर्ष में व्यापृत थे। इस ग्रन्थ की रचना एक ऐसे युग में कदापि नहीं हुई, जबकि भारत का बहुत बड़ा भाग मौर्यों के शासन में आ गया था, और इस विशाल साम्राज्य में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन की स्थापना हो गई थी।

यहाँ हमने उन युक्तियों का अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लेख किया है, जो कौटलीय अर्थशास्त्र के मौर्य युग में विरचित होने के विरुद्ध दी जाती हैं। इस विषय पर बहुत-से विद्वानों ने अत्यन्त विशद रूप से विवेचन किया है, जिसके कारण इस सम्बन्ध में बहुत-से मत विकसित हो गये हैं। जॉली और स्मिट्स के अनुसार यह ग्रन्थ तीसरी सदी ई०पू० की रचना है। विन्टर्निट्ज, कीथ, स्टाइन और नाग आदि विद्वानों ने भी इसे तीसरी सदी ई० पू० या उसके भी पश्चात् निर्मित माना है। इन्हीं विद्वानों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का सार हमने ऊपर संक्षेप के साथ दिया है। पर ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं है, जो कि कौटलीय अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त मौर्य के युग की कृति स्वीकार करते हैं। इनमें फ्लीट,

जैकोबी, मेयर और ब्रेलोअर के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री काशीप्रसाद जायसवाल, नरेन्द्रनाथ लाहा, देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर, पी० वी० काने, नीलकान्त शास्त्री, रामचन्द्र दीक्षितार आदि विद्वानों ने उन युक्तियों का विशद रूप से विवेचन किया है, जो कि कौटलीय अर्थशास्त्र के मौर्य युग का होने के विरोध में दी जाती हैं। भारतीय विद्वान् प्रायः इस बात को स्वीकार करते हैं, कि यह ग्रन्थ मौर्य युग की ही रचना है और इसके द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के भारत का समुचित रूप से परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

कौटलीय अर्थशास्त्र के मौर्य युग का न होने के सम्बन्ध में जिन युक्तियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका किस प्रकार विद्वानों द्वारा निराकरण किया जाता है, इस पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना भी उपयोगी होगा—

(१) यह सही है कि राजा अशोक और दशरथ के उत्कीर्ण लेखों में उनके नामों के साथ 'देवानां प्रियः' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में जब मौर्यवंश के किसी राजा का नाम उल्लिखित ही नहीं है, तो उसके साथ प्रयुक्त होनेवाले विशेषण या उपाधि के उल्लेख का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। 'देवानां प्रियः' उपाधि का सम्बन्ध मौर्यवंश के साथ न होकर बौद्ध राजाओं के साथ था। इसी कारण महावंश में अशोक के समकालीन लंका के राजा तिस्स या तिष्य के लिये भी 'देवानां प्रियः' का प्रयोग किया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। अतः यदि उसके नाम के साथ इस उपाधि का प्रयोग न होता हो, तो यह सर्वथा संगत और सम्भव है। अशोक ने भी अपने सब उत्कीर्ण लेखों में अपने नाम के साथ 'देवानां प्रियः' का प्रयोग नहीं किया। बराबर पहाड़ियों में आजीविकों को गुहा दान करने के सम्बन्ध में उसके जो लेख हैं, उनमें केवल 'राजा प्रियदर्शी' लिखित है, 'देवानां प्रियः' नहीं।

(२) मौर्य युग के जो भी उत्कीर्ण लेख इस समय उपलब्ध हैं, निस्सन्देह, वे सब पालि भाषा में हैं। पर इसका कारण यह है, कि उन्हें सर्वसाधारण जनता के लिये उत्कीर्ण कराया गया था। राजा अशोक ने धर्म विजय की जिस नीति को अपनाया था, उसका सन्देश वह सर्वसाधारण लोगों तक पहुँचाना चाहता था। उस युग में सर्वसाधारण जनता की भाषा पालि ही थी, यह निर्विवाद है। पर विद्वान् लोग शास्त्र चर्चा और काव्य आदि के लिये संस्कृत का उपयोग किया करते थे, यह भी असंदिग्ध है। कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना नीतिशास्त्र के पण्डितों और विद्वानों के लिये की गई थी। वही उसका पठन पाठन भी करते थे। जिस राजा और उसके जिन मन्त्रियों व अमात्यों का उसके द्वारा पथप्रदर्शन किया जाना था, वे भी सुशिक्षित थे। इस दशा में यदि चाणक्य ने अपने इस ग्रन्थ की रचना विद्वत्समाज की भाषा में की हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। प्राचीन भारत के नाटक-साहित्य में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा का भी प्रयोग किया गया है। स्त्रियों और सेवकों आदि से प्राकृत को प्रयुक्त कराने की परम्परा का अनुसरण प्रायः सभी नाटकों में किया गया है। इसका कारण यही है, कि प्राचीन भारत में अभिजात वर्ग की भाषा संस्कृत

मानी जाती थी, और प्राकृत जन की प्राकृत। चाणक्य ने अपने ग्रन्थ में जो संस्कृत भाषा का प्रयोग किया, यह पुरानी परम्परा के अनुरूप ही था।

(३) कौटलीय अर्थशास्त्र के मन्तव्यों और विचारों की छाया दशकुमार चरित, मुद्राराक्षस आदि कितने ही प्राचीन ग्रन्थों पर विद्यमान है, यह इसी प्रकरण में ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। राजनीति और धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थों पर कौटलीय अर्थशास्त्र का प्रभाव तो और भी अधिक स्पष्ट है। इस दशा में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति पर भी यदि अर्थशास्त्र के विचारों की छाया दिखायी पड़े, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

(४) इसमें सन्देह नहीं, कि कौटलीय अर्थशास्त्र में कहीं भी चन्द्रगुप्त और पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। पर इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता, कि कौटल्य का इनके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं था। कौटलीय अर्थशास्त्र एक वैज्ञानिक ग्रन्थ है, जिसमें राजनीति का शास्त्रीय रीति से प्रतिपादन किया गया है। उसकी रचना न संस्मरणों के रूप में की गई है, और न गेजेटियर के रूप में। उसमें राजाओं के जो नाम आये हैं, वे किसी मन्तव्य या सिद्धान्त की पुष्टि के लिये ही हैं। राजा को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष का परित्याग कर इन्द्रियजयी होना चाहिये, इस मन्तव्य का निरूपण करते हुए कौटल्य ने भोज दाण्डक्य, वैदेह कराल, जनमेजय, अजविन्दु आदि कतिपय राजाओं का उल्लेख किया है।[१] इसी प्रकार से कुछ अन्य नाम भी अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। पर चन्द्रगुप्त के नाम का कोई भी प्रसंग इस शास्त्र में नहीं है। फिर भी अर्थशास्त्र में एक स्थान पर यह वाक्य विद्यमान है—'तेन गुप्तः प्रभवति'[२] (गुप्त इसी के अनुरूप करता है)। यहाँ गुप्त से चन्द्रगुप्त ही अभिप्रेत है, यह कल्पना असंगत नहीं है। जिस चाणक्य द्वारा नन्दराज के हाथ में गयी हुई पृथिवी का उद्धार किया गया, उसी ने इस ग्रन्थ की रचना की, यह कथन भी अर्थशास्त्र में विद्यमान है। पौराणिक अनुश्रुति द्वारा हमें ज्ञात है, कि नन्दवंश के विनाश के अनन्तर चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, अतः जिस 'गुप्त' की ओर अर्थशास्त्र में संकेत किया गया है, वह यदि चन्द्रगुप्त ही हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

जो भौगोलिक नाम अर्थशास्त्र में आये हैं[३] वे वहाँ उत्पन्न या तैयार होनेवाली किसी वस्तु का उल्लेख करते हुए ही दिये गये हैं। कलिङ्ग और अङ्ग जनपदों के हाथी प्रसिद्ध थे, काशी का सूती कपड़ा बहुत उत्कृष्ट माना जाता था,[४] नेपाल के कम्बल विख्यात थे,[५] और काम्बोज के घोड़े प्रसिद्ध थे। इसीलिये इन स्थानों का उल्लेख अर्थशास्त्र में विद्यमान है।

१. कौ. अर्थ. १।६
२. कौ. अर्थ. १।५
३. कौ. अर्थ. २।२
४. कौ. अर्थ. २।११
५. कौ. अर्थ. २।११

कौटल्य ने मगध का तो उल्लेख किया है, क्योंकि वहाँ के पत्थर तोलने के बट्टे बनाने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त थे,[1] पर उसकी राजधानी पाटलिपुत्र का पृथक् रूप से उल्लेख करने की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि वहाँ की कोई वस्तु ऐसी प्रसिद्ध नहीं थी कि उसको निर्दिष्ट करना उपयोगी होता।

(५) दुर्ग की प्राचीर आदि के निर्माण के लिये काष्ठ का प्रयोग न करके शिलाखण्डों और प्रस्तरों को प्रयुक्त करना चाहिये, यह मन्तव्य कौटल्य ने सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। पर उस युग के सभी दुर्गों का निर्माण कौटल्य के इस मन्तव्य के अनुसार ही किया जाए, यह कैसे सम्भव हो सकता था। खुदाई द्वारा पाटलिपुत्र के जो प्राचीन अवशेष इस समय उपलब्ध हुए हैं, उन पर हम अगले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है कि पाटलिपुत्र की खुदाई में काष्ठ के जो शहतीर और कड़ियाँ मिली हैं, उनका उपयोग प्राचीर के लिये ही किया गया था—यह बात सर्वसम्मत नहीं है।

(६) मौर्य युग में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का क्या स्वरूप था, इस विषय पर अगले एक अध्याय में विशद रूप से विचार किया जायगा। इसमें सन्देह नहीं, कि चन्द्रगुप्त के काल में पाटलिपुत्र, तक्षशिला, उज्जैन और कौशाम्बी सदृश नगरों में 'पौर' सभाओं की सत्ता थी। मैगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र की पौर सभा का ही अपने भारत-विवरण में उल्लेख किया है। कौटलीय अर्थशास्त्र में किसी भी स्थानीय स्वशासन संस्था का विवरण नहीं मिलता, यद्यपि उनकी सत्ता के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश वहाँ विद्यमान हैं। देश, ग्राम, जाति, कुल आदि की इन संस्थाओं के (जिन्हें कौटल्य ने 'संघ' संज्ञा दी है) धर्म, व्यवहार और चरित्र को अक्षपटलमध्यक्ष द्वारा निबन्ध पुस्तकस्थ भी किया जाता था। पर इन संस्थाओं (संघों या सभाओं) की सदस्य संख्या कितनी होती थी और उनके कार्य क्या होते थे—इस सम्बन्ध में कोई भी सूचनाएँ अर्थशास्त्र से उपलब्ध नहीं होतीं। इसका कारण यह है, कि इनकी रचना, कार्य और शक्ति आदि परम्परा व प्रथा पर आधारित थे, राजा द्वारा विहित व्यवस्था पर नहीं। कौटल्य ने अर्थशास्त्र में या तो दण्डनीति के सिद्धान्तों का निरूपण किया है, और या उस नीति का जिसका अनुसरण विजिगीषु राजा को करना चाहिये। पुरातन परम्पराओं पर आधारित स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के सम्बन्ध में विवेचन करने का अर्थशास्त्र में कोई प्रसंग ही नहीं है। नगरों के शासन में राजा—या केन्द्रीय शासन का क्या कर्तव्य है, इसका प्रतिपादन कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से किया गया है, क्योंकि नगरों के शासनाधिकारी 'नागरक' की नियुक्ति केन्द्रीय शासन द्वारा की जाती थी।

सैनिक प्रबन्ध के लिये ३० व्यक्तियों की सभा और उसकी छः उपसमितियों का जो उल्लेख मैगस्थनीज़ ने किया है, उसकी सत्यता व प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। अनेक विद्वानों

---

१. कौ. अर्थ. २।१९

ने यह प्रतिपादित किया है, कि पाटलिपुत्र सदृश नगरों की पौर सभाओं के संगठन व स्वरूप को ही मैगस्थनीज़ ने भूल से सेना के सम्बन्ध में भी उल्लिखित कर दिया है। मौर्य युग के सैनिक प्रबन्ध के लिये पदाति, अश्वारोही, रथ आदि के छः विभागों की सत्ता अवश्य स्वीकार्य है, पर उनके लिये छः उपसमितियों तथा ३० सदस्यों की एक सभा की बात पूर्ण-रूप से विश्वसनीय नहीं मानी जाती। पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, आदि के रूप में इन विभागों की सत्ता कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा भी सूचित होती है।

(७) यह सही है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र में धातुओं को शुद्ध करने तथा उनसे अनेकविध वस्तुओं के निर्माण का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में धातुविद्या अच्छी उन्नत दशा में थी। पर मैगस्थनीज़ ने भी भारतीयों के विषय में यह नहीं लिखा कि वे धातुओं को पिघलाने व उन्हें शुद्ध करने के शिल्प से अनभिज्ञ थे। यह बात उसने दरदई (दरद) लोगों के विषय में लिखी है। दरदई लोगों के प्रदेश का वर्णन कर मैगस्थनीज़ ने ऐसी चींटियों का उल्लेख किया है, जो कि सोना खोदा करती थीं और आकार में लोमड़ी के बराबर होती थीं। ये चींटियाँ जो सोना खोदती थीं, दरदई लोग उसे पशुओं पर लाद कर ले जाते थे और कच्ची धात की दशा में ही व्यापारियों को बेच दिया करते थे, क्योंकि ये दरदई लोग धात को पिघलाने तथा शुद्ध करने के शिल्प को नहीं जानते थे। मैगस्थनीज़ के समय में यदि दरद लोग धातुविद्या से अपरिचित हों, तो इससे यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है कि मौर्य युग के सभी भारतीय इस शिल्प से अनभिज्ञ थे। साथ ही, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अनेक ग्रीक लेखकों ने भारतीयों के धातु ज्ञान और सोने चाँदी से निर्मित आभूषणों आदि का उल्लेख किया है। डायोडोरस ने लिखा है, कि भारत की भूमि जहाँ अपने ऊपर सब प्रकार के फल उपजाती है, वहाँ भूमि के गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। उनमें सोना, चाँदी, ताम्बा और लोहा प्रचुर मात्रा में होता है, तथा टिन व अन्य धातुएँ भी। इन धातुओं का उपयोग आभूषण, हथियार, युद्ध का साज-सामान तथा अन्य वस्तुओं के निर्माण के लिये किया जाता है। डायोडोरस के इस कथन की पुष्टि कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा होती है, क्योंकि वहाँ धातुओं का विशद रूप से विवरण विद्यमान है।

मैगस्थनीज़ के भारत-विवरण और कौटलीय अर्थशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। पर इस अध्ययन से कोई निश्चित परिणाम निकालते हुए यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये, कि मैगस्थनीज़ का भारत-विवरण वर्तमान समय में अविकल रूप में उपलब्ध नहीं होता। उसके कुछ अंश ही इस समय प्राप्य हैं। मौर्य युग के भारत का अनुशीलन करते हुए उनका उपयोग अवश्य किया जा सकता है, पर उनको दृष्टि में रखकर कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के काल आदि के विषय में कोई मत स्थिर नहीं किया जा सकता। मैगस्थनीज़ एक विदेशी राजदूत था, जो कुछ साल तक भारत में रहा था। यहाँ निवास करते हुए उसने जो कुछ देखा या सुना,

उसे उसने लेखबद्ध कर दिया। उसका यह विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे गम्भीर व प्रामाणिक ग्रन्थ का समकक्ष नहीं हो सकता।

(८) यह सही है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन पट्ट और चीनभूमि का उल्लेख विद्यमान है, जिससे यह सूचित होता है कि चीन देश कौटल्य को ज्ञात था। पर चिन वंश (जिसका प्रारम्भ तीसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में हुआ था) से उस देश का नाम चीन पड़ा, यह बात सर्वसम्मत नहीं है। चीन के प्राचीन इतिहास का यहाँ उल्लेख करना निरर्थक है। पर अनेक विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है, कि चिन वंश के उत्कर्ष से पूर्व भी चीन का एक भाग 'चिन' कहाता था। उस समय चीन में छ: राज्यों की सत्ता थी, जिनमें से एक 'चिन' भी था। यह सर्वथा सम्भव है, कि भारत को इस चिन या चीन का ज्ञान हो, और इसी को कौटलीय अर्थशास्त्र में 'चीन भूमि' कहा गया हो। चीन के इतिहास में चिन राज्य की सत्ता ७२२ ई० पू० में प्रारम्भ मानी जाती है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में नेपाल, बाह्लीक, कपिशा और वनायु आदि जिन अन्य देशों के जो नाम आये हैं, उनका चौथी सदी ई० पू० में भारतीयों को परिज्ञान नहीं था, यह निश्चित रूप से कैसे कहा जा सकता है? इस मन्तव्य के प्रतिपादक यह समझते हैं, कि सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भारतीयों का हिन्दूकुश पर्वतमाला के पश्चिम के प्रदेशों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं था। पर यह बात सर्वथा निराधार है। ईरान और बैबिलोनिया जैसे पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध चौथी सदी ई० पू० से बहुत पहले स्थापित हो चुका था, इस विषय में अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। असीरिया के राजा सेन्नाचरीब ने ७०० ई० पू० के लगभग अपने देश में कपास के पौदे लगवाये थे, और इन्हें उसने भारत से प्राप्त किया था। असीरिया जैसे पश्चिमी देश के निवासी कपास के पौदे को 'ऊन का वृक्ष' कहते थे। ईरान के हखामनी वंश के राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर भी आक्रमण किया था, और उसके कतिपय प्रदेश भी राजा दारयवहु प्रथम की अधीनता में आ गये थे (५१८ ई० पू०)। दारयवहु के उत्तराधिकारी राजा ख्षयार्श (Xerxes) ने जिस सेना को साथ लेकर ग्रीस पर आक्रमण किया था, हीरोदोतस के अनुसार उसमें सिन्ध और गान्धार के भारतीय सैनिक भी सम्मिलित थे। ख्षयार्श का काल ४८५ ई० पू० से ४६५ ई० पू० तक है। सिकन्दर के आक्रमण से बहुत समय पूर्व से भारत के व्यापारी समुद्र मार्ग द्वारा ईरान, बैबिलोन तथा अन्य पश्चिमी देशों में आया-जाया करते थे। इस दशा में यदि चौथी सदी ई० पू० में लिखे गये कौटलीय अर्थशास्त्र में कतिपय पश्चिमी देशों का उल्लेख वहाँ के पण्य के प्रसंग में हो गया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

(९) संस्कृत का 'सुरङ्ग' शब्द ग्रीक भाषा में लिया गया है, यह सब विद्वान् स्वीकार नहीं करते। कतिपय भाषाशास्त्रियों ने यह प्रतिपादित किया है, कि सुरङ्ग शब्द सन्थाली भाषा के 'सुरुण्' के साथ सम्बन्ध रखता है। सुरुण् का अर्थ छिद्र है। इसी प्रकार प्राचीन

ख्मेर भाषा के 'रण्' शब्द का अर्थ भी छिद्र है। सुरङ्ग इन 'सुरुण्' और 'रण्' शब्दों से भी बन सकता है। उसे ग्रीक-मूलक मान कर कौटलीय अर्थशास्त्र के काल को निर्धारित करना समुचित नहीं कहा जा सकता।

(१०) यह सर्वथा सत्य है कि कौटलीय अर्थशास्त्र एक ऐसे युग के चित्र को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है, जबकि भारत बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों (जनपदों) में विभक्त था, और ये राज्य परस्पर संघर्ष में भी व्यापृत रहते थे। पर नन्द वंश द्वारा सम्पूर्ण भारत एक साम्राज्य के शासन में नहीं आ गया था। हमें ज्ञात है, कि आचार्य चाणक्य तक्षशिला के निवासी थे और वहीं दण्डनीति का अध्यापन करते थे। चन्द्रगुप्त ने तक्षशिला में ही चाणक्य से दण्डनीति और युद्धविद्या की शिक्षा प्राप्त की थी। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो चाणक्य और चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही थे, और ग्रीक विवरणों के अनुसार वहीं चन्द्रगुप्त की सिकन्दर से भेंट भी हुई थी। उस युग में गंगा-यमुना के पश्चिम के भारत में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, जिनमें से कुछ में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था और कुछ में संघ-शासन की सत्ता थी। ग्रीक विवरणों से सूचित होता है कि उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत के जिन राज्यों के साथ सिकन्दर का सम्पर्क हुआ था, उनकी संख्या २८ के लगभग थी। इनमें जहाँ कठ, मालव और क्षुद्रक जैसे शक्तिशाली गण-राज्य थे, वहाँ साथ ही केकय, अभिसार और गान्धार जैसे राजतन्त्र राज्य भी थे, जिनके राजा कौटलीय अर्थशास्त्र के शब्दों में 'विजिगीषु' होकर साम्राज्य-विस्तार में तत्पर थे। कौटल्य के जीवन का बड़ा भाग ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में ही व्यतीत हुआ था। तक्षशिला का राजा आम्भि स्वयं एक 'विजिगीषु' था, और अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने तथा अपने पड़ोसी राजा पोरु की विजिगीषा से अपनी रक्षा करने के लिए यवनराज सिकन्दर की सहायता प्राप्त करने को भी उचित समझता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में मण्डल के सिद्धान्त पर आश्रित जिस कूटनय का निरूपण किया गया है, वह उस युग की वाह्लीक देश की परिस्थितियों के पूर्णतया अनुरूप है।

चौथी सदी ई० पू० के पूर्वार्ध में उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत में यद्यपि बहुत-से जनपद विद्यमान थे, पर उस समय यह विचार भलीभाँति विकसित हो चुका था कि हिमालय से समुद्र-पर्यन्त जो यह भारतभूमि है, वह एक चक्रवर्ती साम्राज्य का क्षेत्र है कौटल्य ने इस विचार को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रगट किया है। मगध के राजा इस विचार को क्रियान्वित करने के लिये प्रयत्नशील थे, और उन्हें आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त हुई थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में जिस राजा को 'विद्याविनीत' करने के साधनों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है, उसे 'विजिगीषु' होकर इसी लक्ष्य को पूर्ण करना है। कौटलीय अर्थशास्त्र जिन भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियों में लिखा गया था, वे उस युग को निर्दिष्ट करती हैं, जबकि एक ओर तो भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, और दूसरी ओर एक शक्तिशाली साम्राज्य का भी विकास हो रहा था। इस दशा में यदि कौटलीय

अर्थशास्त्र में जिस राज्य की शासन-पद्धति का उल्लेख है, वह विशाल साम्राज्य न होकर एक साधारण जनपद ही हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। कौटल्य भारत के बड़े भाग को एक शासन में ले आने के लक्ष्य को पूर्ण करने में अवश्य सफल हुआ, पर उसने अपने ग्रन्थ में जिस दण्डनीति का प्रतिपादन किया है, वह भारत की परम्परागत राजनीति थी और स्वाभाविक रूप से उसके प्रतिपाद्य विषय वे जनपद ही थे जो इस देश में सदियों से विद्यमान थे।

(११) श्री भाण्डारकर ने मौर्य युग में चाणक्य या कौटल्य नाम के किसी व्यक्ति की सत्ता में ही जो सन्देह प्रगट किया है, वह सर्वथा निराधार है। पतञ्जलि के महाभाष्य में चाणक्य शब्द न आने से यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है, कि दूसरी सदी ई० पू० से पहले इस नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं। महाभाष्य न इतिहास-ग्रन्थ है, और न पुराण है। वह एक व्याकरण ग्रन्थ है, जिसमें व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के प्रयोजनसे ही शब्दों का उल्लेख किया गया है। उसमें जिन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम न *आये हों,* उनकी सत्ता से ही इन्कार करना कदापि युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

मैगस्थनीज़ के भारत-विवरण में भी कहीं चाणक्य का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे श्री विन्टरनिट्ज़ को बहुत आश्चर्य हुआ है, और उन्होंने भी सन्देह प्रगट किया है, कि क्या वस्तुतः चाणक्य चन्द्रगुप्त का मन्त्री व गुरु था। पर मैगस्थनीज़ के भारत-विवरण में तो मौर्य युग के किसी भी मन्त्री, सेनापति व अन्य शासनाधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता। श्री विन्टरनिट्ज़ की आशंका में तब तो कुछ बल होता, यदि मैगस्थनीज़ ने किसी अन्य मन्त्रीका उल्लेख किया होता। वस्तुतः, ग्रीक विवरण इतने अपूर्ण हैं, कि उनके आधार पर प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति की किसी मान्यता को असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(१२) कौटलीय अर्थशास्त्रमें 'इति कौटल्यः' कहकर आचार्य चाणक्य या कौटल्य के मत को उद्धृत किया गया है, यह बात सही है। पर इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता, कि यह ग्रन्थ कौटल्य की कृति न होकर किसी अन्य लेखक द्वारा लिखा गया है। इस ढंग से अपने मन्तव्य को प्रगट करना एक विशिष्ट शैली का सूचक है, जिसका अनुसरण प्राचीन भारत के अन्य भी अनेक ग्रन्थों में किया गया है। वात्स्यायन के कामसूत्र और राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा में भी इसी शैली से लेखकों ने अपने मन्तव्यों को प्रगट किया है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि कौटलीय अर्थशास्त्र में जहाँ कहीं भी 'इति कौटल्यः' कहकर किसी मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ उससे पूर्व अनेक आचार्यों या विचार-सम्प्रदायों (औशनसाः, मानवाः आदि) के मत प्रगट करके अन्त में कौटल्य का मन्तव्य दिया गया है। यदि इस ग्रन्थ का लेखक कौटल्य न होकर कोई अन्य विद्वान् होता, तो वह कहीं तो कौटल्य के मन्तव्य पर अपनी ओर से कोई टीका-टिप्पणी करता या किसी भी ढंग से उसका परिष्कार करता। पर सर्वत्र कौटल्य के मत को अन्त में अधिकार के साथ प्रगट करना

यह सूचित करता है, कि कौटल्य ने इस ग्रन्थ में एक विशिष्ट शैली का अनुसरण किया है, जिसका अनुकरण बाद के अन्य भी कतिपय लेखकों द्वारा किया गया।

कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना चौथी सदी ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही हुई थी, इस मत की पुष्टि में जो अनेक प्रमाण विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकरण के प्रारम्भ में किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में कतिपय अन्य युक्तियों को निर्दिष्ट करना भी उपयोगी होगा। धर्मस्थीय न्यायाधीशों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले प्रकीर्णक नियमों का प्रतिपादन करते हुए कौटल्य ने एक नियम यह भी लिखा है, कि यदि कोई शाक्य, आजीवक आदि वृषल प्रव्रजितों को देव-कार्य और पितृकार्य में भोजन कराए, तो उस पर सौ पण जुरमाना किया जाए।[1] यहाँ कौटल्य ने उन भिक्षुओं का उल्लेख किया है, जो वैदिक परम्परा का अनुसरण कर संन्यास आश्रम में प्रवेश नहीं करते थे, अपितु अन्य वेदविरुद्ध सम्प्रदायों के प्रव्रजित थे। ऐसे प्रव्रजितों में कौटल्य ने शाक्यों (बौद्ध भिक्षुओं) और आजीवकों का उल्लेख किया है, और अन्यों के लिये 'आदि' शब्द प्रयुक्त कर दिया है। ध्यान देने योग्य बात यह है, *कि कौटल्य ने इस* प्रसंग में निर्ग्रन्थों या जैनों का नाम देने की आवश्यकता नहीं समझी। इसका कारण यही हो सकता है, कि कौटल्य के समय में आजीवक और बौद्ध संप्रदायों की महत्ता जैन सम्प्रदाय की तुलना में अधिक थी। आजीवक सम्प्रदाय भी उस समय इतना महत्त्वपूर्ण था, कि अर्थशास्त्र में उसका पृथक् रूप से उल्लेख किया गया। हमें ज्ञात है कि मौर्य युग में आजीवक सम्प्रदाय की स्थिति अत्यन्त महत्त्व की थी। दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार राजा बिन्दुसार (चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र और उत्तराधिकारी) ने पिङ्गलवत्स नाम के एक आजीवक साधु को अपने पुत्रों की परीक्षा लेने के लिये नियुक्त किया था, और उसने यह भविष्यवाणी की थी, कि बिन्दुसार के पश्चात् अशोक पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ होगा। यद्यपि अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, पर आजीवक सम्प्रदाय की भी वह उपेक्षा नहीं कर सका था। इसीलिये उसने बराबर की पहाड़ियों में अनेक गुहाएँ आजीवकों के उपयोग के लिये दान की थीं। मौर्य राजा दशरथ ने भी नागार्जुनी पहाड़ियों में तीन गुहाएँ आजीवकों को प्रदान की थीं। अशोक और दशरथ दोनों के गुहादान सम्बन्धी लेख इन गुहाओं की भित्तियों पर उत्कीर्ण हैं। देहली-टोपरा स्तम्भ पर उत्कीर्ण अशोक के लेख में भी आजीवकों का उल्लेख है, और वहाँ उन्हें निर्ग्रन्थों (जैनों) से पहले स्थान दिया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि अशोक के समय में जैनों की अपेक्षा आजीवकों का महत्त्व अधिक था। पर बौद्धों और जैनों के समान आजीवक सम्प्रदाय देर तक भारत में नहीं रहा। मौर्य युग की समाप्ति के साथ ही प्रायः इस सम्प्रदाय की भी समाप्ति हो गई। यदि कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना मौर्य युग के पश्चात् कभी (विशेष-

---

१. 'शाक्याजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतश्शत्यो दण्डः।'
कौ. अर्थ. ३।२०

तथा तीसरी या चौथी सदी ई० पू०) हुई होती, तो उसमें आजीविकों का एक प्रमुख 'वृषल' सम्प्रदाय के रूप में कभी उल्लेख नहीं हो सकता था।

'संघवृत्तम्' अधिकरण में कौटल्य ने अपने समय के कतिपय संघ-राज्यों का परिगणन किया है। ये संघ लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल, काम्भोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणि हैं। कौटल्य ने इनके साथ 'आदि' लगाकर अन्य संघ-राज्यों की सत्ता को भी सूचित किया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अपने समय के प्रमुख संघों को उसने नाम से निर्दिष्ट किया है। अब प्रश्न यह है, कि भारतीय इतिहास के किस युग में इन संघों या गणराज्यों की सत्ता थी। मौर्य और शुङ्ग वंशों की शक्ति के क्षीण होने पर जब गण-राज्यों का पुनरुत्थान हुआ, तो बहुत-से गणराज्य भारतीय इतिहास के रंगमञ्च पर प्रगट हुए, जिनमें यौधेय, आर्जुनायन, उदुम्बर, कुलूत, कुनिन्द, महाराज आदि प्रमुख थे। गुप्तवंश के उत्कर्ष से पूर्व उत्तरी बिहार में लिच्छवि गण की भी पुनः स्थापना हो गई थी। पर उस क्षेत्र में वृजिक और मल्लक गण फिर कभी इतिहास में प्रगट नहीं हुए। यही बात कुरु, पाञ्चाल, मद्रक, कुकुर आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन गणराज्यों की सत्ता न शुङ्ग वंश के पतन के बाद थी, और न गुप्त वंश के उत्कर्ष से पूर्व। यदि कौटलीय अर्थशास्त्र का रचना-काल पहली या तीसरी-चौथी सदी ई० प० में माना जाए, तो उसमें इन गणराज्यों के उल्लेख की कोई सन्तोषजनक व्याख्या कर सकना सम्भव नहीं होगा। वृजिक और मल्लक गणों की स्वतन्त्रता का अन्त मगधराज अजातशत्रु द्वारा किया गया था, और पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत के गणराज्य पहले सिकन्दर द्वारा आक्रान्त हुए थे, और फिर चन्द्रगुप्त ने उन्हें अपने अधीन कर लिया था। 'संघवृत्तम्' अधिकरण में कौटल्य ने उस नीति का प्रतिपादन किया है, जिसका प्रयोग नये जीते हुए संघ-राज्यों के प्रति किया जाना चाहिये, और साथ ही यह भी बताया है कि किस प्रकार के संघों से मैत्री स्थापित करनी चाहिये और किन्हें नष्ट कर देना चाहिये। वृजिक और मल्लक सदृश संघ राज्य मगध द्वारा जीते अवश्य जा चुके थे, पर उनमें अपने पृथक्त्व और स्वातन्त्र्य के विचार का अभी पूर्णतया अन्त नहीं हो गया था। 'संघवृत्तम्' में जिस प्रकार के 'अभिसंहत' संघों के प्रति साम-दान की नीति का प्रयोग कर उनसे मैत्री सम्बन्ध रखने की व्यवस्था की गई है, वृजिक और मल्लक उसी प्रकार के संघ थे। संघ-राज्यों के जो निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं, वे उसके चौथी सदी ई० पू० में विरचित होने को ही निर्दिष्ट करते हैं।

कौटलीय अर्थशास्त्र में 'आन्वीक्षकी' विद्या में सांख्य, योग और लोकायत को अन्तर्गत किया गया है।[1] न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त जैसे आर्ष या आस्तिक दर्शनों का आन्वीक्षकी के अन्तर्गत रूप से उल्लेख न करना और लोकायत (चार्वाक) दर्शन को भी उसमें स्थान देना इस ग्रन्थ की प्राचीनता की ओर ही निर्देश करता है। कौटल्य की दृष्टि में छः आस्तिक दर्शनों में सांख्य और योग प्रमुख थे, और वेदविरुद्ध दर्शनों में लोकायत

१. **'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी।' कौ. अर्थ. १।२**

या चार्वाक दर्शन की मुख्यता थी। हमें ज्ञात है, कि गुप्त वंश व उससे कुछ समय पूर्व ही न्याय और वेदान्त का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और वेदविरुद्ध दर्शनों में भी बौद्ध और जैन दर्शनों ने प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। कौटलीय अर्थशास्त्र को उस काल की रचना मानना होगा, जब कि सांख्य, योग और चार्वाक दर्शनों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऐसा काल तीसरी-चौथी ई० प० में न होकर उससे पाँच छः सदी पहले ही था।

ये सब युक्तियाँ हमें इस परिणाम पर पहुँचने के लिये विवश करती हैं, कि कौटलीय अर्थशास्त्र चौथी सदी ई० पू० की कृति है। इसी कारण मौर्य युग की शासनपद्धति, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा तथा धर्म आदि के अनुशीलन के लिये इस ग्रन्थ का उपयोग किया जा सकता है। पर इस प्रसंग में यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये, कि इस ग्रन्थ की रचना एक शास्त्र के रूप में की गई है। चाणक्य जहाँ दण्डनीति के प्रयोक्ता थे, वहाँ वह उसके प्रवक्ता भी थे। कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना हमारे सम्मुख प्रस्तुत की गई है, जिसका राजा इन्द्रियजयी राजर्षि है, जिसके मन्त्री 'सर्वोपधाशुद्ध' हैं,और जिसके राजकर्मचारियों को नियुक्त करते हुए यह परख लिया जाता है कि वे अपने कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त हैं। अर्थशास्त्र के इस प्रकार के प्रसंगों को दृष्टि में रख कर इस निष्कर्ष पर पहुँचना कदापि उचित नहीं होगा कि चन्द्रगुप्त मौर्य के युग का शासन ऐसा ही आदर्श था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस ग्रन्थ के अनुशीलन से मौर्य युग के भारत का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है।

कौटलीय अर्थशास्त्र के रचना-काल के सम्बन्ध में जो विचार-विमर्श हुआ है, उन सबको यहाँ हमारे लिये उल्लिखित कर सकना न सम्भव है, और न उसका विशेष उपयोग ही है। प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा ज्ञान को सुरक्षित रखने की प्रथा थी। चाणक्य जैसे प्रकाण्ड विद्वान् की विचारसरणी उनकी शिष्य-परम्परा में स्थिर रहती थी। सम्भव है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र का वर्तमान रूप चौथी सदी ई० पू० का न होकर बाद के काल का हो। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस ग्रन्थ में जो विचार पाये जाते हैं, उनके प्रवर्त्तक, संकलयिता और विवेचक वही चाणक्य थे जिन्होंने कि नन्द वंश का अन्त कर मौर्य चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ कराया था।

हमने इस इतिहास में 'कौटल्य' और 'कौटलीय अर्थशास्त्र' शब्दों का प्रयोग किया है। बहुसंख्यक ग्रन्थों में कौटल्य के स्थान पर 'कौटिल्य' और कौटलीय के स्थान पर 'कौटिलीय' शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। कौटल्य सही है या कौटिल्य, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। इस शास्त्र की जो हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें कौटल्य और कौटिल्य—दोनों ही पाठ मिलते हैं। इसके प्राचीन भाष्यों और टीकाओं में भी इस शब्द को दोनों ही प्रकार से लिखा गया है। पुराणों में इस आचार्य के लिये कौटिल्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, और विशाखदत्त ने अपने प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस में भी इसे 'कुटिलमति कौटिल्य' कहा है। हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि के दो मुद्रित संस्करणों में इस आचार्य की संज्ञा

'कौटिल्य' लिखी गई है, और एक में कौटल्य। कामन्दक नीतिसार और उसकी टीकाओं में भी ये दोनों ही पाठ विद्यमान हैं। प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी जहाँ कहीं चाणक्य के इस नाम का उल्लेख है, कहीं वह 'कौटल्य' रूप में है और कहीं 'कौटिल्य' रूप में। उत्कीर्ण लेखों में भी यही पाठभेद पाया जाता है। अलूर में उपलब्ध विक्रमादित्य पञ्चम के एक शिलालेख में 'कौटल्य' शब्द आया है। यह लेख दसवीं सदी का है। गुजरात में गणेसर नामक स्थान (धोल्का के समीप) से एक शिलालेख मिला है, जिसमें बाघेला राजा वीरधवल के जैन मन्त्री वस्तुपाल को राजनीति में 'कौटल्य' के समकक्ष कहा गया है। यह लेख १२९१ विक्रम संवत् (१२३४ ई० प०) का है। इन दो उत्कीर्ण लेखों में जहाँ 'कौटल्य' पाठ है, वहाँ एक अन्य उत्कीर्ण लेख में 'कौटिल्य' पाठ भी विद्यमान है। कामरूप के राजा भास्करवर्मन् का एक लेख निधनपुर से उपलब्ध हुआ है, जिसमें 'कौटिल्यो' शब्द आया है। भास्करवर्मन् का काल सातवीं सदी ई० प० में है, और वह स्थानेश्वर के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था।

क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों में कौटल्य और कौटिल्य दोनों ही पाठ पाये जाते हैं, अतः यह निर्णय कर सकना बहुत कठिन है कि इनमें से कौन-सा पाठ सही है। नन्द वंश का विनाश करने और चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत का चक्रवर्ती सम्राट् बनाने के लिये आचार्य चाणक्य को ऐसे साधनों का प्रयोग करना पड़ा था, जिन्हें कि सामान्य परि-स्थितियों में समुचित नहीं समझा जाता। शत्रु के विनाश के लिये अर्थशास्त्र में विष, रूपा-जीवा आदि हीन साधनों का भी प्रतिपादन किया गया है। नन्दवंश के प्रति अनुरक्त अमात्य राक्षस को वश में लाने के लिये चाणक्य ने जो नीतिजाल फैलाया था, मुद्राराक्षस में उसका विशद रूप से निरूपण किया गया है, और उसी के कारण दण्डनीति के इस प्रकाण्ड पण्डित के लिये विशाखदत्त ने 'कुटिलमति' विशेषण प्रयुक्त करने में संकोच नहीं किया है। हमें ऐसा प्रतीत होता है, कि नन्द वंश का विनाश करने और चन्द्रगुप्त को राज्याभिषिक्त करने के प्रयोजन से चाणक्य ने जिस कूटनीति का आश्रय लिया था, उसी के कारण उसके कुटिल होने की अनुश्रुति धीरे-धीरे विकसित हो गई थी, और इसीलिये उसे कौटल्य के स्थान पर कौटिल्य कहा जाने लगा था। पर कौटल्य और कौटिल्य का यह भेद तात्त्विक नहीं है। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में इसके दोनों ही पाठ विद्यमान हैं, अतः उनमें से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है। हमने इस इतिहास में 'कौटल्य' पाठ को प्रयुक्त किया है, क्योंकि हमें वह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

चाणक्य या कौटल्य के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। मौर्य वंश के चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठापित करने और नन्दवंश का विनाश करने के सम्बन्ध में उनका जो कर्तृत्व था, उसका यथास्थान उल्लेख किया जायगा। पर जहाँ तक उनके जीवन-परिचय का प्रश्न है, प्राचीन अनुश्रुति उस सम्बन्ध में प्रायः चुप है। वे कहाँ उत्पन्न हुए थे और कहाँ के निवासी थे, इस विषय में भी अनेक मत हैं।

कतिपय विद्वानों ने उन्हें दाक्षिणात्य प्रतिपादित किया है। इस मत की पुष्टि में जहाँ कौटलीय अर्थशास्त्र की अन्तःसाक्षी प्रस्तुत की गई है, वहाँ साथ ही हेमचन्द्र द्वारा चाणक्य के अनेक नामों में 'द्रामिल' और "पक्षिलस्वामी' नामों का भी उल्लिखित किया जाना एक प्रबल युक्ति के रूप में उपस्थित किया गया है। द्रामिल से हेमचन्द्र को द्रविड़ ही अभिप्रेत था। पक्षिलस्वामी भी चाणक्य का अन्यतम नाम था। इस शैली के नाम सुदूर दक्षिण के द्रविड़ देशों में ही प्रयुक्त होते हैं। पर बौद्ध ग्रन्थों में चाणक्य या कौटल्य को तक्षशिला का निवासी कहा गया है। महावंसो की टीका में चन्द्रगुप्त और चाणक्य की जो कथा दी गई है, उसके अनुसार चाणक्य का तक्षशिला का निवासी होना सर्वथा निर्विवाद है। पर अभिजन और निवास में भेद होता है। यह सम्भव है, कि चाणक्य का अभिजन सुदूर दक्षिण में हो, और वे द्रविड़ देश में उत्पन्न हुए हों, पर तक्षशिला में आकर निवास करने लगे हों। पर चाणक्य के अभिजन के सम्बन्ध में यह विचार किसी ठोस प्रमाण पर आश्रित नहीं है। हम केवल इतना ही जानते हैं, कि चाणक्य तक्षशिला के निवासी थे, और दण्डनीति के पण्डितों में उनका प्रमुख स्थान था। चन्द्रगुप्त उनका शिष्य था, और उन्होंने मगध से नन्द वंश के शासन का अन्त कर चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया था। नन्द वंश का विनाशकर वे तक्षशिला वापस लौट गये या पाटलिपुत्र में रहकर मौर्य साम्राज्य के शासन का सञ्चालन करते रहे, इस सम्बन्ध में भी दो मत हैं। मुद्राराक्षस के अनुसार चाणक्य ने मगध के पुराने अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकार करने के लिये तैयार कर लिया था, और उन्होंने स्वयं इस पद का परित्याग कर दिया था। पर तिब्बत की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार वह बिन्दुसार के शासनकाल में भी मौर्य साम्राज्य के शासन का सञ्चालन करते रहे थे। यद्यपि संस्कृत और बौद्ध साहित्य चाणक्य के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में सर्वथा चुप हैं, पर जैन-साहित्य में उनके परिवार, जन्मस्थान तथा जीवन वृत्तान्त के विषय में अनेक सूचनाएँ विद्यमान हैं। इनके आधार पर चाणक्य का जीवन-परिचय हमने इस ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप से पृथक् दिया है।

(३) प्राचीन संस्कृत साहित्य

मौर्यवंश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले संस्कृत ग्रन्थों में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख्य पुराण संख्या में अठारह हैं, और उनमें भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति सुरक्षित है। वेदों के समान पुराण भी अत्यन्त प्राचीन हैं। जिस प्रकार वैदिक संहिताओं में भारत के प्राचीन ऋषियों की सूक्तियाँ संकलित हैं, वैसे ही पुराणों में प्राचीन राजवंशों एवं राजाओं के चरित, इतिवृत्त तथा आख्यान संगृहीत है। पुराण वर्तमान समय में जिस रूप में मिलते हैं, वह चाहे बहुत पुराना न हो, पर उनमें संकलित अनुश्रुति अवश्य ही बहुत प्राचीन है। पुराणों में ही पुराणों का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का प्रलय किस प्रकार होता है, काल के विविध मन्वन्तर

कौन-से हैं, इन मन्वन्तरों में किन वंशों ने शासन किया और इन वंशों एवं राजाओं के चरित क्या थे—इन पाँच बातों का वर्णन पुराणों में किया जाता है।"[१] ऐतिहासिक दृष्टि से मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत, गरुड़ और भविष्य पुराण अधिक महत्त्व के हैं। इन में प्राचीन राजवंशों और राजाओं के सम्बन्ध में जो अनुश्रुति एवं इतिवृत्त संकलित हैं, इतिहास के लिये उनका बहुत उपयोग है। इसमें सन्देह नहीं कि पुराणों में संकलित अनुश्रुति प्रायः अस्पष्ट है। पर उसका ठीक प्रकार से अनुशीलन तथा विवेचन करके भारत के प्राचीन राजवंशों, राजाओं और राज्यों के विषय में परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह सही है, कि पुराणों में राजाओं और राजवंशों की जो तालिकाएँ दी गई हैं, उनमें किसी निश्चित संवत् का उपयोग नहीं किया गया। इस कारण प्राचीन भारत के क्रमबद्ध राजनीतिक इतिहास को तैयार करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पर प्राचीन समय में भारतीय लोग काल की गणना के लिये चतुर्युग के विभाग का आश्रय ग्रहण किया करते थे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगों में भारत के विद्वानों ने अपने देश की ऐतिहासिक अनुश्रुति को विभक्त किया था। पुराणों द्वारा यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर दिया गया है, कि कौन-से राजा कलियुग के प्रारम्भ में हुए, कौन-से द्वापर में हुए, और कौन-से त्रेता या कृतयुग में हुए। साथ ही, उनमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जब कलियुग का अन्त हुआ, तो कौन-से राजवंश और उनके कौन-कौन से राजा किस-किस प्रदेश में शासन कर रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों की ये सूचनाएँ अत्यन्त महत्त्व की हैं। प्राचीन भारतीय राजवंशों और राजाओं के पौर्वापर्य तथा समय को निर्धारित करने में इससे बहुत सहायता ली जा सकती है। कठिनाई तब आती है, जब कि कलियुग के प्रारम्भ का समय निश्चित करना हो। पुराणों के निर्माताओं या संकलयिताओं के सम्मुख शायद यह कठिनाई नहीं थी। भारतीय इतिहास के तिथिक्रम के सम्बन्ध में जो मतभेद व विवाद हैं, उनका प्रधान कारण यही है। प्राचीन परम्परा के अनुसार यह माना जाता है, कि कलियुग का प्रारम्भ अब से कोई पाँच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। पर आधुनिक विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार महाभारत का युद्ध द्वापर और कलियुगों के सन्धि काल में हुआ था। यदि कलि के प्रारम्भ का काल अब से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के लगभग माना जाए, तो पाण्डव राजा युधिष्ठिर का काल भी अब से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व रखना होगा और अन्य राजाओं के काल का निर्धारण इसी तिथि या वर्ष के आधार पर करना होगा। इस प्रश्न पर हमें यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। अगले अध्याय में तिथिक्रम की समस्या का हम विशद रूप से विवेचन करेंगे। यद्यपि पुराणों से प्राचीन भारतीय राजवंशों तथा राजाओं का सुनिश्चित रूप से काल-निर्धारण नहीं किया जा सकता, पर उनमें ऐसा इतिवृत्त अवश्य सुरक्षित है, जो प्राचीन इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। मौर्य वंश के राजाओं के केवल नाम ही पुराणों में नहीं मिलते, अपितु उनके सम्बन्ध में

१. वायु पुराण ४।१० और मत्स्यपुराण ५३।६५

कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं के निर्देश भी पौराणिक अनुश्रुति में विद्यमान हैं। मौर्य इतिहास के लिये इनका बहुत उपयोग है।

पुराणों की रचना का काल प्रायः ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पश्चात् की पहली-दूसरी सदियों में माना जाता है। पर इसका अभिप्राय केवल यह है, कि इस काल में पुराण अपने वर्तमान रूप में आये थे। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के राजवंशों और राजाओं के सम्बन्ध में जो अनुश्रुति चली आ रही थी, महर्षि वेदव्यास ने उसे सबसे पूर्व संकलित किया। इसी कारण वेदव्यास को अठारहों पुराणों का 'कर्ता' कहा गया है। पर वस्तुतः वेदव्यास पुराणों के कर्त्ता न होकर 'संकलयिता' ही थे। वैदिक अनुश्रुति के संकलयिता भी महर्षि वेदव्यास ही माने जाते हैं। वह महाभारत-युद्ध के समय में हुए थे। यही कारण है, जो महाभारत-युद्ध तक के प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त का वर्णन पुराणों में भूतकाल के रूप में किया गया है। बाद के इतिवृत्त भी पुराणों में जुड़ते गये, महाभारत के पश्चात् की अनुश्रुति भी पुराणों का अंग बनती गई। पर क्योंकि अनुश्रुति के अनुसार पुराणों के कर्ता या संकलयिता वेदव्यास थे, अतः बाद के इतिवृत्त का रचयिता या संकलयिता भी उन्हीं को होना चाहिये था। इसीलिये भविष्य की घटनाओं का विवरण भी उन्हीं के द्वारा भविष्य-वाणी के रूप में कराया गया। महाभारत युद्ध के बाद की जो भी अनुश्रुति पुराणों में संगृहीत है, वह भविष्य-काल के रूप में दी गई है। मौर्य वंश के इतिवृत्त का उल्लेख भी पुराणों में भविष्य-काल के रूपमें ही मिलता है।

पुराणों के साथ ही कलियुग राजवृत्तान्त नामक ग्रन्थ का उल्लेख करना आवश्यक है। श्री नारायण शास्त्री ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द एज़ आफ शंकर' में इससे जो बहुत-से उद्धरण दिये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि कलियुग के राजवंशों का इस ग्रन्थ में पुराणों की अपेक्षा भी अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। पर यह ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है, और कुछ विद्वान् इसकी प्रामाणिकता में भी सन्देह करते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास के परिज्ञान के लिये पुराणों का किस अंश तक उपयोग किया जा सकता है, इस विषय पर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। पर अब ऐतिहासिक उनका निःशङ्क होकर उपयोग करने लगे हैं। पार्जिटर के प्रयत्न से अब पौराणिक अनुश्रुति की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों को अधिक सन्देह नहीं रह गया है, यद्यपि उसका अनुशीलन करते हुए विवेचनात्मक दृष्टिकोण की विशेष रूप से आवश्यकता होती है।

कवि विशाखदत्त द्वारा विरचित **'मुद्राराक्षसम्'** नाटक एक ऐसा ग्रन्थ है, जो मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त के राजनीतिक इतिहास के परिज्ञान के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विशाखदत्त के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। प्रोफेसर विल्सन ने इस कवि का काल बारहवीं सदी में प्रतिपादित किया था। उनकी मुख्य युक्ति यह थी, कि मुद्राराक्षस के अन्तिम श्लोक में 'म्लेच्छों से उद्विज्यमान' पृथिवी का उल्लेख किया गया है। क्योंकि भारतीय मुसलमान आक्रान्ताओं को म्लेच्छ समझते थे, और भारत पर मुसलिम आक्रमण बार-

हवीं सदी में हुए थे, अतः विशाखदत्त का काल वारहवीं सदी में ही माना जाना चाहिये। यह सही है, कि मध्यकाल के भारतीय मुसलिम आक्रान्ताओं को म्लेच्छ समझते थे। पर इस संज्ञा का प्रयोग केवल मुसलमानों के लिये ही नहीं किया जाता था। अन्य विदेशी व विधर्मी लोगों को भी हिन्दू म्लेच्छ ही मानते थे। मुसलिम तुर्कों और अफगानों से पूर्व भी मुसलिम अरबों ने भारत पर आक्रमण किये थे, और मुहम्मद बिन कासिम तो सिन्ध के एक प्रदेश को अपनी अधीनता में ले आने में भी समर्थ हो गया था (७१२ ई०)। मुद्राराक्षस में पृथिवी या भारतभूमि को म्लेच्छों द्वारा 'उद्विज्यमान' होता हुआ वताया गया है। वारहवीं सदी में तो शहाबुद्दीन गौरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हो गया था। 'उद्विज्यमान' शब्द निरन्तर होते हुए आक्रमणों को निर्दिष्ट करता है। वारहवीं सदी में तो इस स्थिति का अन्त हो गया था, क्योंकि तव उत्तरी भारत पर मुसलिम आधिपत्य की स्थापना हो चुकी थी। यदि 'म्लेच्छों' का अभिप्राय मुसलमान ही समझा जाए, तो भी *मुद्राराक्षस* को आठवीं या दसवीं सदी की रचना मानना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि उस काल में मुसलिम लोग भारत पर आक्रमण करने में तत्पर थे। पर वस्तुतः विशाखदत्त ने जिन म्लेच्छों का उल्लेख किया है, वे मुसलमान न होकर वे शक थे जिन्होंने कि गुप्त वंश के शासन के समय भारतभूमि को 'उद्विज्यमान' कर दिया था और जिनसे अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिये गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७८-४१४ ई० प०) को स्त्री का वेश वनाकर शकराज की हत्या करनी पड़ी थी। इस चन्द्रगुप्त ने पहले अपने वड़े भाई रामगुप्त के सेवक या भृत्य के रूप में गुप्त साम्राज्य का सञ्चालन किया, और फिर राजा के रूप में। मुद्राराक्षस की नान्दी स्तुति में म्लेच्छों से उद्विज्यमान होती हुई पृथिवी की 'वन्धुभृत्य चन्द्रगुप्त' द्वारा रक्षा किये जाने के सम्वन्ध में जो निर्देश है, वह सम्भवतः गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त द्वितीय के विषय में ही है। अतः यही मत समीचीन प्रतीत होता है कि विशाखदत्त का काल चौथी सदी ई० प० के अन्तिम भाग में था।

यद्यपि मुद्राराक्षस की रचना मौर्य वंश की स्थापना के सात सदी से भी अधिक समय पश्चात् हुई थी, पर इसका कथानक ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। चाणक्य ने नन्द-वंश का विनाश कर किस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन कराया, नन्द के पुराने अमात्य राक्षस ने कैसे चाणक्य और चन्द्रगुप्त की योजनाओं को विफल करने का प्रयत्न किया, और किस प्रकार चाणक्य ने सव विघ्न-वाधाओं को दूर कर चन्द्रगुप्त का न केवल अवाधित शासन स्थापित किया, अपितु राक्षस जैसे पुराने व योग्य अमात्यको भी मौर्य सम्राट् के प्रति अनुरक्त किया—यह सव कथा इस नाटक में अत्यन्त मनोरञ्जक एवं विशद रूप से लिखी गई है। मुद्राराक्षस न केवल साहित्यिक दृष्टि से एक अनुपम ग्रन्थ है, अपितु मौर्य साम्राज्य की स्थापना और चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक इतिहास के परिज्ञान के लिये भी उस द्वारा प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत होती है।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना की कथा मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज ने स्वलिखित

उपोद्घात में भी लिखी है। ढुण्ढिराज का काल अठारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में था, और वह 'चोलमण्डल' के भोंसले राजा शरभजी (शाहजी भोंसले) के समकालीन थे। उन्होंने 'श्री त्र्यम्बकार्योध्वरी' के संरक्षण में रहते हुए तथा उसकी प्रेरणा से मुद्राराक्षस पर अपनी टीका लिखी थी। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस के समान ढुण्ढिराज द्वारा लिखित उपोद्घात भी प्रामाणिक ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आधारित है, और मुद्राराक्षस में वर्णित कथानक से पूर्व के इतिवृत्त को जानने के लिये उसका उपयोग किया जा सकता है, यद्यपि इस उपोद्घात में अनेक ऐसी बातें विद्यमान हैं जिन्हें विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

सोमदेव द्वारा विरचित **कथासरित्सागर** में भी नन्द और चन्द्रगुप्त के कथानक का विशद रूप से उल्लेख है। यह विशाल ग्रन्थ ग्यारहवीं सदी की कृति है, और इसके रचयिता सोमदेव का काल १०६३ से १०८१ ईस्वी तक माना जाता है। कथासरित्सागर की सब कथाएँ गुणाढ्य द्वारा रचित बृहत्कथा पर आधारित हैं। गुणाढ्य प्रसिद्ध सातवाहन राजा हाल (२०-२४ ई० प०) के समकालीन थे, और उसी की राजसभा के अन्यतम रत्न थे। उन्होंने पुरानी कथाओं को लेकर बृहत्कथा नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जो पैशाची भाषा में था। राजा हाल के समय में भारत में तीन मुख्य भाषाएँ थीं, संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा। पर गुणाढ्य ने अपने ग्रन्थ के लिये इन तीनों में से किसी का भी प्रयोग न कर पैशाची या भूतभाषा को प्रयुक्त किया। ऐसी अनुश्रुति है कि इस ग्रन्थ में सात लाख श्लोक थे। दुर्भाग्यवश इस समय यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि ऐसे कतिपय ग्रन्थ अब भी विद्यमान हैं, जो कि इसके आधार पर बाद के काल में लिखे गये थे। छठी सदी में गंग वंश के राजा दुर्विनीत ने बृहत्कथा का संस्कृत में अनुवाद किया था। आठवीं सदी में नेपाल के बुधस्वामी ने बृहत्कथा श्लोक-संग्रह की रचना की थी, जिसका आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा ही थी। काश्मीर में क्षेमेन्द्र (१०५० ई०) ने बृहत्कथा-मञ्जरी की रचना की, और इसी समय के लगभग सोमदेव (१०६३–१०८१) ने कथासरित्सागर की। ये सब ग्रन्थ गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आधारित हैं, और इनमें जो कथाएँ दी गई हैं, वे प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आश्रित हैं। यद्यपि ये कथाएँ प्रायः अद्भुत एवं असम्भव बातों से परिपूर्ण हैं, पर विवेकपूर्वक विवेचन द्वारा उनसे ऐतिहासिक तथ्यों को पता लगा सकना कठिन नहीं है। नन्द वंश के पतन और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में अनेक कथानक कथासरित्सागर में विद्यमान हैं, जिनका ऐतिहासिक प्रयोजन से उपयोग किया जा सकता है।

महाकवि कालिदास द्वारा विरचित **मालविकाग्निमित्र** नाटक भी मौर्य इतिहास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था, जिसकी हत्या कर सेनानी पुष्यमित्र ने मगध के राजसिंहासन को हस्तगत कर लिया था। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र था। मालवकाग्निमित्र नाटक की रचना इसी अग्निमित्र की कथा को लेकर की गई है। यद्यपि इस नाटक का मौर्यवंश के साथ सीधा सम्बन्ध

नहीं है, पर मौर्य साम्राज्य के पतन-काल के विषय में इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ विद्यमान हैं। महाकवि कालिदास का काल पाँचवीं सदी ईस्वी में माना जाता है।

राजतरङ्गिणी नाम से काश्मीर का जो इतिहास कल्हण ने लिखा है, उसे एक विशुद्ध इतिहास-ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें अत्यन्त प्राचीन काल से प्रारम्भ कर बारहवीं सदी तक का काश्मीर का इतिहास क्रमवद्ध रूप से दिया गया है। मौर्य वंशी राजा अशोक का शासन काश्मीर पर भी था, अतः वहाँ के राजाओं का वृत्तान्त देते हुए कल्हण ने अशोक और उसके उत्तराधिकारियों का वृत्तान्त भी उल्लिखित कर दिया है, जिसे मौर्य साम्राज्य के इतिहास के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है।

महाकवि भास द्वारा विरचित तेरह नाटक इस समय उपलब्ध हैं। इन्हें प्रायः प्राङ्-मौर्य काल की कथाओं के आधार पर लिखा गया है। मागध साम्राज्यके विकास के इतिहास के लिये ये बहुत उपयोगी हैं। विशेषतया, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता जैसे नाटक भारत में साम्राज्यवाद-सम्वन्धी संघर्ष पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

संस्कृत के अन्य अनेक ग्रन्थों द्वारा भी मौर्य वंश के विषय में महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। बाणभट्ट द्वारा विरचित 'हर्षचरितम्' में मौर्य वंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ के विरुद्ध सेनानी पुष्यमित्र के षड्यन्त्र का उल्लेख है। पतञ्जलि मुनि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' नाम से जो भाष्य लिखा था, उससे भी मौर्य वंश के पतन-काल पर प्रकाश पड़ता है। महाभाष्य में कतिपय ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं, जिनका सम्बन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ माना जाता है। पतञ्जलि शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे। शालिशुक जैसे निर्बल मौर्य राजा के शासनकाल में यवनों ने भारत पर जो आक्रमण किया था, उसे उन्होंने स्वयं देखा था। महाभाष्य में जहाँ यवनों द्वारा साकेत और माध्यमिका नगरियोंके आक्रान्त किया जाने का उल्लेख है, वहाँ साथ ही कतिपय ऐसी घटनाओं को भी निर्दिष्ट किया गया है, जिनका सम्बन्ध मौर्य युग के साथ है। आर्थिक संकट का निवारण करने के लिये मौर्यों के देव-प्रतिमाओं का निर्माण कराया था और उनकी पूजा के लिये जनता को प्रेरित कर धन एकत्र किया था, यह हमें महाभाष्य से ही ज्ञात होता है। महाभाष्य में स्थान-स्थान पर ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं, जिनसे मौर्य युग के ह्रास काल की सामाजिक आदि दशाओं पर प्रकाश पड़ता है।

कात्यायन ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर वार्त्तिक लिखे थे। उनका काल पाणिनि और पतञ्जलि के बीच के समय में है। कतिपय ऐतिहासिकों ने उनका काल तीसरी सदी ई० पू० में निर्धारित किया है। यद्यपि कात्यायन के वार्त्तिकों का सम्बन्ध व्याकरण से है, पर उनमें कतिपय ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं जो मौर्य इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। राजा अशोक ने अपने उत्कीर्ण लेखों में अपने नाम के साथ 'देवानांप्रियः' विशेषण का प्रयोग किया है। धर्मविजय की नीति को अपना कर अशोक ने शस्त्रशक्ति की जो उपेक्षा की थी, जनता ने उसे पसन्द नहीं किया था। इसी कारण 'देवानां प्रियः' का अर्थ प्रचलित भाषा में मूर्ख

हो गया, यह बात हमें कात्यायन के एक वार्तिक से ही ज्ञात होती है।

संस्कृत साहित्य के अन्य भी कितने ही ग्रन्थों में मौर्य युग के राजाओं और उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के निर्देश मिलते हैं। बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों को जीत कर जो विजिगीषु राजा विशाल साम्राज्य बनाने में तत्पर थे, और जिनके पराक्रम के परिणामस्वरूप मगध के साम्राज्य का विकास हुआ, उनके विषय में बहुत-सी कथाएँ प्राचीन समय में प्रचलित थीं। इन कथाओं का उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में प्रसंगवश आ गया है। यहाँ इन सब ग्रन्थों का विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। इस इतिहास में हम यथास्थान उनका उपयोग करेंगे ही।

ऐतिहासिकों के अनुसार संस्कृत के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मौर्य युग के लगभग के काल में ही अपने वर्तमान रूप में आये थे। रामायण और महाभारत में यद्यपि भारत की अत्यन्त प्राचीन अनुश्रुति संकलित है, और उनका मूलरूप बहुत पहले निर्मित हो चुका था, पर जिस रूप में वे वर्तमान समय में उपलब्ध होते हैं, ऐतिहासिक उन्हें बहुत पुराना नहीं मानते। रामायण को वे ४०० ई० पू० से २०० ई० प० तक के काल में विरचित मानते हैं, और महाभारत को ४०० ई० पू० से ४०० ई० प० तक के काल का[१]। यही बात अनेक धर्मसूत्रों और स्मृतियों के सम्बन्ध में भी है। धर्मसूत्रों का काल ६०० ई० पू० से ३०० ई० पू० तक का माना जाता है, और स्मृतियों का उसके तत्काल पश्चात्[२] का। इस प्रकार इस साहित्य का अनुशीलन भी मौर्य युग के जीवन के विषय में परिज्ञान के लिये सहायक हो सकता है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र के रूप में इस युग का एक ऐसा विश्व-कोश हमें प्राप्त है, जिसके कारण धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों पर निर्भर करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती।

(४) बौद्ध (संस्कृत और पालि) साहित्य

बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव छठी सदी ई० पू० में हुआ था। बुद्ध शाक्य गण में उत्पन्न हुए थे, और उनके धर्म-प्रचार के प्रधान क्षेत्र मगध, काशी, श्रावस्ती आदि के पूर्वी प्रदेश ही थे। पर उनके शिष्यों ने बुद्ध की शिक्षाओं का दूर-दूर तक प्रचार किया था। सारनाथ में धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हुए बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था—'भिक्षुओ ! बहुजनों के हित के लिये, बहुजनों के सुख के लिये और लोक पर दया करने के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।' भिक्षुओं ने अपने गुरु के उपदेश का उत्साहपूर्वक पालन किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि मौर्य युग के प्रारम्भ से पूर्व ही बौद्ध धर्म का भारत में दूर-दूर तक प्रचार हो चुका था। पर भारत के सीमान्तों तथा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय मौर्यवंशी राजा अशोक और उसके गुरु स्थविर मोद्गलिपुत्र तिष्य (या उपगुप्त) को प्राप्त है। उन्हीं के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि बौद्धधर्म विश्वव्यापी

१.K. A. Nilakanta Sastri : A Comprhensive History of India Val.II p 641

२.The Age of Imperial Unity (Vidya Bhawan) p. 255

धर्म की स्थिति प्राप्त कर सका। पिछले समय के बौद्ध लेखकों ने अशोक की कथा और धर्मप्रचार के लिये किये गये उसके प्रयत्नों को अत्यन्त गौरव के साथ अपने ग्रन्थों में वर्णित किया। यही कारण है, कि बौद्ध साहित्य में अशोक के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। क्योंकि अशोक मौर्य वंश में उत्पन्न हुआ था, अतः बौद्ध ग्रन्थों में स्वाभाविक रूप से उसके पूर्वज मौर्य राजाओं के विषय में भी अनेक कथाएँ एवं अन्य उपयोगी सूचनाएँ दे दी गई हैं।

श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश राजा अशोक के समय में ही हुआ था। उसके पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा के प्रयत्न से लंका के लोगों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया, और वहाँ के राजा भी बुद्ध के अनुयायी हो गये। समयान्तर में लंका बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया, और वहाँ अनेक विहार स्थापित हुए जिनमें 'महाविहार' और 'उत्तरविहार' सर्वप्रधान थे। इन दोनों विहारों की स्थिति अनिरुद्धपुर में थी। इनके पण्डितों और स्थविरों ने बहुत-से ऐसे ग्रन्थों की रचना की, जिनमें लंका में बौद्ध धर्म के प्रवेश तथा प्रसार का वृत्तान्त *विशद रूप से दिया गया है।* महाविहार में 'अट्ठकथा-महावंसो' नाम का एक विशाल ग्रन्थ लिखा गया था, जिसमें बौद्धधर्म-सम्बन्धी वह सब अनुश्रुति संगृहीत थी जिसका सम्बन्ध लंका के साथ था। दुर्भाग्यवश, यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। पर इसके आधार पर लिखे गये दीपवंसो और महावंसो नामक दो ग्रन्थ इस समय प्राप्य हैं, जिनमें लंका द्वीप के पुरातन इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त संकलित है। मौर्य युग के इतिहास के लिये ये ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं, क्योंकि इनमें राजा अशोक और उसके समकालीन लंका के राजा देवानांप्रिय तिष्य का वृत्तान्त पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है। राजा अशोक के सम्बन्ध में लिखते हुए इन ग्रन्थों में उसके पूर्वजों और उसके वंश का भी परिचय दिया गया है, जो मौर्य इतिहास के लिये बहुत महत्त्व का है।

दीपवंसो के लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। यह ग्रन्थ पद्य में है, और इसकी भाषा पालि है। इसकी पद्य रचना को सुपरिष्कृत नहीं कहा जा सकता। महावंसो के रचयिता का नाम महानाम था। यह ग्रन्थ भी पालिभाषा में है, और इसके पद्य काव्य व साहित्य की दृष्टि से बहुत परिष्कृत हैं। इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। दीपवंसो को प्रायः चौथी सदी की रचना माना जाता है, और महावंसो को पाँचवीं सदी के अन्तिम चरण या छठी सदी की। लंका के साहित्य में इन ग्रन्थों का प्रायः वही स्थान है, जो प्राचीन भारतीय साहित्य में रामायण और महाभारत का है, यद्यपि कलेवर में ये भारत के इन ऐतिहासिक महाकाव्यों की तुलना में बहुत छोटे हैं। मौर्य वंश के इतिहास के लिये इन ग्रन्थों का बहुत उपयोग है, विशेषतया अशोक के इतिवृत्त के लिये। राजा अशोक के काल का सुनिश्चित रूप से निर्धारण करने में महावंसो से बहुत सहायता प्राप्त हुई है। महावंसो के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के एक साल पश्चात् राजा विजय लंकाके राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। विजय और उसके उत्तराधिकारियों ने कितने-कितने वर्ष राज्य किया

यह भी महावंसो में दिया हुआ है। इस हिसाब से देवानांप्रिय तिष्य (तिस्स) का शासन-काल २४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक पड़ता है। क्योंकि तिस्स अशोक का समकालीन था, अतः उसका काल भी तीसरी सदी ई० पू० में ही होना चाहिये। अशोक की तिथि को निर्धारित करने और उसके साथ-साथ पौर्वापर्य क्रम से उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अन्य मौर्य राजाओं का समय निश्चित करने में महावंसो के इस विवरण से बहुत ठोस सहायता मिली है। महावंसो के 'देवानां प्रिय तिस्साभिसेको' और 'महिन्दागमनो' परिच्छेद मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये विशेष रूप से उपयोगी हैं। महावंसो की टीका में चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा बहुत विस्तार के साथ दी गई है। हमने इस इतिहास में उसका विशद रूप से उल्लेख किया है। यह महावंसो टीका बारहवीं सदी में लिखी गई थी। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। इसी को 'वंसत्थदीपनी' टीका भी कहते हैं।

पालिभाषा में लिखे गये कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी मौर्य इतिहास के लिये उपयोग किया जा सकता है। सद्धम्मसंगह (सद्धर्मसंग्रह) में बुद्ध से प्रारम्भ कर तेरहवीं सदी तक का भिक्षु संघ का इतिहास दिया गया है। बौद्ध धर्म की तीनों *संगीतियों (महासभाओं)* के उल्लेख के अनन्तर इसमें उन भिक्षुओं के भी नाम दिये गये हैं, जिन्हें धर्म के प्रचार के प्रयोजन से विविध देशों में भेजा गया था। यह ग्रन्थ चौदहवीं सदी की रचना है, और इसका लेखक धम्मकित्ति महासामी नामक भिक्षु था। 'महाबोधि वंस' में अनुराधपुर (लंका) में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा दी गई है। प्रसंग के अनुसार इसमें लंका में बौद्धधर्म के प्रवेश एवं प्रचार का वृत्तान्त भी दे दिया गया है, जिसके कारण महेन्द्र और उसके पिता राजा अशोक का इतिवृत्त भी इस ग्रन्थ में आ गया है। इस ग्रन्थ की रचना उपतिस्स नामक भिक्षु ने ग्यारहवीं सदी में की थी। थूपवंस में बुद्ध की धातुओं (अस्थियों) पर स्मारक रूप से निर्मित स्तूपों का वर्णन एवं इतिहास संकलित है। इसे तेरहवीं सदी की रचना माना जाता है, और इसका लेखक वाचिस्सक नामक भिक्षु था। सद्धम्म संगह, महाबोध वंस और थूपवंस—ये तीनों ग्रन्थ लंका में लिखे गये थे, और इनमें मौर्य इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाला जो भी विवरण मिलता है, वह सब प्रायः दीपवंसो और महावंसो पर आधारित है। बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव, विकास और प्रसार के सम्बन्ध में जो प्राचीन अनुश्रुति लंका में विद्यमान थी, उसी के आधार पर इन ग्रन्थों की रचना की गई थी। यही कारण है, कि इनसे कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ नहीं मिलतीं, जो दीपवंसो और महावंसों में विद्यमान न हों।

पालि भाषा के एक अन्य प्रकार के ग्रन्थ भी मौर्य इतिहास के लिये उपयोगी हैं। इन्हें अट्ठकथा (अर्थकथा) कहते हैं। ये बौद्ध त्रिपिटक के अन्तर्गत ग्रन्थों पर भाष्यरूप में लिखे गये हैं। पर इनमें केवल मूल ग्रन्थ के अभिप्राय या अर्थ को ही स्पष्ट नहीं किया गया, अपितु उस ऐतिहासिक परिस्थिति का भी विवरण दे दिया गया है, जिसमें कि विवेचनीय मूल ग्रन्थ लिखा गया था। इसके परिणामस्वरूप इन अट्ठ-कथाओं में बहुत-सी ऐसी

ऐतिहासिक सामग्री संकलित हो गई है, जिसका सम्बन्ध भारत के प्राचीन इतिहास के साथ है। महात्मा बुद्ध उत्तरी विहार के एक गणराज्य में उत्पन्न हुए थे, अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये वे प्रायः भारत के मध्यदेश के विविध प्रदेशों में विचरण करते रहे, उनके शिष्यों ने भारत में दूर-दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया, और राजा अशोक के समय में लंका आदि कितने ही विदेशों में भारतीय भिक्षु धर्म प्रचार के लिये गये। बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव, विकास एवं प्रसार कब और किन परिस्थितियों में हुआ, इस विषय को अट्ठ-कथाओं में जिस ढंग से स्पष्ट किया गया है, उससे उनमें बहुत-सी ऐसी सामग्री भी आ गई है जो प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये उपयोगी है। क्योंकि मौर्य राजा अशोक का बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः स्वाभाविक रूप से अट्ठ-कथाओं में अनेक ऐसे कथानक व विवरण आ गये हैं, जिनका सम्बन्ध मौर्य युग से है। अट्ठकथाओं के रच-यिताओं में बुद्धघोष का स्थान सर्वोच्च है। उनका काल चौथी सदी के अन्त और पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में माना जाता है। उन्होंने त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ लिखीं, *जिनमें विनय-पिटक* की 'समन्तपासादिका' अट्ठकथा मौर्य इतिहास के परिज्ञान के लिये विशेष रूप से उपयोगी है। बौद्ध धर्म का विकास एवं प्रसार किस प्रकार हुआ, इसे समझने के लिये इस ग्रन्थ से बहुत सहायता मिलती है। इसमें बौद्ध धर्म की संगीतियों (महासभाओं) का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है। क्योंकि तीसरी बौद्ध संगीति राजा अशोक के समय में हुई थी, अतः मौर्य इतिहास के साथ सम्बन्ध रखनेवाली महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री भी इस अट्ठकथा में विद्यमान है। प्राचीन अट्ठकथाओं के आधार पर लिखित वंसत्थप्पकासिनी ग्रन्थ और नन्द पेतवत्थु में भी चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि के विषय में कतिपय उल्लेख विद्यमान हैं, यद्यपि इन ग्रन्थों से अधिक परिचय अशोक के विषय में ही प्राप्त होता है।

बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति के अध्यक्ष स्थविर मोद्गलिपुत्र तिष्य ने कथावत्थु नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें यह प्रतिपादित किया गया था, कि स्थविरवाद ही वास्तविक बौद्ध धर्म है, और जो अन्य बहुत-से सम्प्रदाय राजा अशोक के समय तक बौद्धधर्म में विक-सित हो गये थे, वे सब मिथ्या हैं। बौद्धों के धार्मिक साहित्य में कथावत्थु को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, और उसे अभिधम्म पिटक का अन्यतम अंग माना जाता है। त्रिपिटक के अन्य अनेक ग्रन्थों के समान कथावत्थु पर भी अट्ठकथा लिखी गई थी, जो बौद्धयुग की धार्मिक एवं साम्प्रदायिक दशा के अनुशीलन के लिये उपयोगी है। मौर्य युग की धार्मिक दशा पर भी इस ग्रन्थ से अच्छा प्रकाश पड़ता है।

त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं के रूप में पालिभाषा में लिखित बौद्ध धर्म का जो विशाल साहित्य है, उसके अनेक ग्रन्थ मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों का मौर्य इतिहास के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है, पर मागध साम्राज्य के विकास के वृत्तान्त को जानने के लिये और बौद्ध युग की राजनीतिक,

भौगोलिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा का परिचय प्राप्त करने के लिये इन ग्रन्थों से अच्छी सहायता मिलती है। वज्जि-संघ की शासनपद्धति का क्या स्वरूप था, और मगध के राजा अजातशत्रु द्वारा उसकी स्वतन्त्रता का किस प्रकार अन्त किया गया, इसका विवरण अंगुत्तर निकाय (सुत्तपिटक का अन्यतम ग्रन्थ) में विद्यमान है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना का अध्ययन करते हुए हमें मागध साम्राज्य के विकास को भी दृष्टि में रखना होता है। मगध के राजाओं ने किस प्रकार उत्तरी विहार के गणराज्यों का अन्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया, इसका परिज्ञान प्राप्त करने के लिये त्रिपिटक साहित्य वहुत ही उपयोगी है। इसी प्रकार के अन्य भी वहुत-से ऐतिहासिक तथ्य हम इस साहित्य से जान सकते हैं। हमने इस इतिहास में वौद्ध धार्मिक साहित्य का अनेक स्थानों पर उपयोग किया है।

मिलिन्द पन्हो एक अन्य पालि ग्रन्थ है, जिसका मौर्य इतिहास के लिये उपयोग किया जा सकता है। मौर्य युग के पतन काल में उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक प्रदेश मागध साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो गये थे, और कतिपय प्रदेशों पर ग्रीक (यवन) आक्रान्ताओं ने अपने राज्य स्थापित कर लिये थे। ऐसा ही एक राज्य साकल या सागल (सियालकोट) का था, जिसका अन्यतम राजा मिनान्दर था। इसके काल के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है, पर यह निश्चित है कि उसका शासनकाल मौर्यवंश के अन्तिम वर्षों या शुङ्ग वंश के प्रारम्भ-समय में है। मिनान्दर ने वौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, और भदन्त नागसेन से प्रव्रज्या भी ग्रहण कर ली थी। अपने गुरु नागसेन से बौद्धधर्म और दर्शन के सम्बन्ध में मिनान्दर (मिलिन्द) ने जो प्रश्न किये, और नागसेन ने उनके जो उत्तर दिये, मिलिन्दपञ्हो में वे ही संकलित हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ का विषय धार्मिक एवं दार्शनिक है, पर प्रसङ्गवश इसमें अनेक ऐसे निर्देश भी आ गये हैं, जो कि मौर्ययुग के पतनकाल के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हैं।

वर्तमान समय में बौद्धों का धार्मिक साहित्य प्रधानतया पालिभाषा में ही उपलब्ध है। बौद्धधर्म के अनेक सम्प्रदाय है, जिनमें स्थविरवाद (थेरवाद) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लंका और बरमा में इसी सम्प्रदाय का प्रचार है। इसका त्रिपिटक पालिभाषा में है। पर बौद्धों के सर्वास्तिवादी, महायान आदि अनेक सम्प्रदाय ऐसे भी हैं, जिनका त्रिपिटक संस्कृत में है। चीन आदि उत्तरी देशों में इन्हीं सम्प्रदायों का प्रचार हुआ था। खेद है, कि संस्कृत का त्रिपिटक इस समय अविकल रूप से उपलब्ध नहीं होता। पर संस्कृत भाषा में लिखे हुए वौद्ध धर्म के कतिपय अन्य ऐसे ग्रन्थ वर्तमान समय में प्राप्य हैं, जो मौर्य वंश के इतिहास के परिज्ञान के लिये महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ऐसा एक ग्रन्थ दिव्यावदान है, जो नेपाल में उपलब्ध हुआ है। इसे तीसरी सदी ई० प० की कृति माना जाता है, और इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। यह अत्यन्त उत्कृष्ट, सरल और सुललित संस्कृत भाषा में लिखित है। साहित्यिक शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है। इसमें

बहुत-सी प्राचीन बौद्ध कथाएं संगृहीत हैं, जिनमें से कुछ का सम्बन्ध मौर्य वंश के साथ है। विशेषतया, दिव्यावदान के अन्तर्गत अशोकावदान तथा कुणालावदान में मौर्य युग की ऐतिहासिक अनुश्रुति बहुत शुद्ध रूप में सुरक्षित है।

'मञ्जुश्रीमूलकल्प' नाम का एक अन्य बौद्ध ग्रन्थ भी भारत के प्राचीन इतिहास के अनुशीलन के लिये अत्यन्त उपयोगी है। महात्मा बुद्ध के जन्म काल से प्रारम्भ कर आठवीं सदी के मध्य तक का क्रमबद्ध राजनीतिक इतिहास इस ग्रन्थ में संकलित है। इसमें १००५ श्लोक हैं, जो संस्कृत भाषा में है, और पौराणिक शैली में विरचित हैं। बुद्ध के मुख से भविष्य-वाणी के रूप में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कराया गया है, यद्यपि कहीं-कहीं भूतकाल का भी प्रयोग हो गया है। ग्यारहवीं सदी में कुमार कलश नामक भारतीय पण्डित ने इस ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। यह ग्रन्थ अब संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं में उपलब्ध है। मौर्य राजाओं में चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट है, यद्यपि अशोक का उल्लेख मौर्य राजाओं में न कर नन्दों के पूर्ववर्ती राजा के रूप में किया गया है। मञ्जुश्रीमूलकल्प में इस राजा के लिये 'अशोकमुख्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है। इस ग्रन्थ में प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास जिस रूप में दिया गया है, यद्यपि वह व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट नहीं है, पर मौर्य राजाओं के विषय में इससें अनेक ऐसी बातें ज्ञात होती हैं, जो प्राचीन अनुश्रुति व साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं पायी जातीं।

(५) जैन (संस्कृत और प्राकृत) साहित्य

बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य में भी मौर्य इतिहास के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त––दोनों ही जैन धर्म के अनुयायी थे, और अशोक के पौत्र (कुनाल के पुत्र) सम्प्रति ने जैन धर्म के देश-विदेश में सर्वत्र प्रसार के लिये बहुत कार्य किया था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि जैन साहित्य में मौर्य वंश और उसके राजाओं के विषय में अनेक कथाएँ पायी जाएँ।

जैन धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनों सम्प्रदायों के न केवल धार्मिक साहित्य में भेद है, अपितु अनुश्रुति एवं आख्यानों के साथ सम्बन्ध रखनेवाला इनका साहित्य भी पृथक्-पृथक् है। यही कारण है, कि मौर्य राजाओं के सम्बन्ध में जो कथाएँ व विवरण दिगम्बर सम्प्रदायों के ग्रन्थों में मिलते हैं, श्वेताम्बर साहित्य द्वारा उनकी पुष्टि नहीं होती। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार मौर्य साम्राज्य के संस्थापक राजा चन्द्र-गुप्त ने सुदूर दक्षिण के श्रवणबेलगोल नामक स्थान पर जाकर अनशन व्रत द्वारा प्राणत्याग किया था। पर श्वेताम्बर लोग इन अनुश्रुति को विश्वसनीय नहीं मानते। इसी प्रकार के मतभेद अन्य मौर्य राजाओं के विषय में भी इन जैन सम्प्रदायों में विद्यमान हैं। पर इन

मतभेदों के होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा, कि मौर्य इतिहास के सम्बन्ध में जितनी सामग्री जैन साहित्य में पायी जाती है, उतनी पौराणिक या बौद्ध साहित्य में नहीं है। विशेषतया, राजा चन्द्रगुप्त और सम्प्रति के विषय में जैन कथाएँ अत्यन्त विशद एवं सुस्पष्ट हैं। चाणक्य के अभिजन, कुल तथा प्रारम्भिक जीवन के विषय में पौराणिक व बौद्ध साहित्य से कोई उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। पर जैन साहित्य में न केवल चाणक्य के बाल्यकाल तथा प्रारम्भिक जीवन के विषय में अनेक निर्देश विद्यमान हैं, अपितु यह भी लिखा गया है, कि इस आचार्य ने अपने जीवन का अन्तिम समय एक जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया था।

दिगम्बर साहित्य में हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष, प्रभाचन्द्रकृत आराधनासत्कथाप्रबंध, श्रीचन्द्रकृत कथाकोष और नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष ऐसे कथाग्रन्थ है, जिनमें चाणक्य और चन्द्रगुप्त की कथा पर्याप्त विशद रूप से दी गई है। इनमें हरिषेण और नेमिदत्त के कथाकोष संस्कृत पद्य में है, और श्रीचन्द्र का कथाकोष प्राकृत पद्य में है। प्रभाचन्द्र का आराधनासत्कथाप्रबन्ध संस्कृत गद्य में है। इन चारों कथा-ग्रन्थों में हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष सबसे प्राचीन है, और उसका काल दसवीं सदी के पूर्वार्ध में माना जाता है। नेमिदत्त का आराधना कथाकोष सोलहवीं सदी की कृति है, और अन्य दो कथाकोषों का काल दसवीं और सोलहवीं सदियों के मध्यवर्ती समय में है। दिगम्बर परम्परा का ही एक अन्य कथाकोष भी है, जिसे पुण्याश्रवकथा कोष कहते हैं, और जिसके रचयिता रामचन्द्र मुमुक्षु थे। इसे भी सोलहवीं सदी का ही माना जाता है। इन सब कथाकोषों में चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में कथाएँ विद्यमान हैं। विशेषतया, हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष के अन्तर्गत 'भद्रबाहुकथानकम्' मौर्य इतिहास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें चन्द्रगुप्त के समय में पड़े बारह वर्ष के दुर्भिक्ष, चन्द्रगुप्त के मुनिव्रत ग्रहण करने और दक्षिणापथ में जाकर तप करने की कथा विशद रूप से दी गई है।

जिन कथाकोषों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। पर उनमें जो कथाएँ पायी जाती हैं, वे प्राचीन जैन अनुश्रुति पर आधारित हैं। इन्हें शिवार्य द्वारा प्रणीत 'भगवती आराधना' से लिया माना जाता है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय मुनियों का आचार था, जिसमें अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिये कथाओं का भी संकेत कर दिया गया था। बाद के टीकाकारों ने कथाओं के संकेतों को पल्लवित किया, जिसके परिणामस्वरूप आराधना कथा साहित्य का विकास हुआ। शिवार्य के 'भगवती आराधना' का काल पहली सदी ई० पू० के लगभग है। हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष आदि जिन कथाकोषों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उन में जैन अनुश्रुति की वही प्राचीन कथाएँ संकलित हैं, जिन्हें सूत्र या संकेत के रूप में पहली सदी में शिवार्य द्वारा अपने ग्रन्थ 'भगवती आराधना' में निर्दिष्ट किया गया था। पर कथाकोषों में संकलित अनुश्रुति का आदिस्रोत भगवती आराधना से भी अधिक पुराना है। वस्तुतः, यह अनुश्रुति अत्यन्त प्राचीन है, और इसका सबसे पुराना रूप उन 'पइन्नों' (प्रकीर्णों या प्रकीर्णकों) में पाया जाता है, जो कि जैन आगम

(धार्मिक साहित्य) के अंग हैं। पइन्न संख्या में दस हैं, जो जैन आगम-साहित्य के परिशिष्ट रूप में हैं। इनमें से दो पइन्नों (भत्तपरिन्ना या भक्तपरिज्ञा और संथार या संस्तारक) में चाणक्य की कथा वीजरूप से विद्यमान है। इनमें चाणक्य को जैन मुनि कहा गया है, और उनकी कथा महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्माचरण के समर्थन में दृष्टान्त रूप से दी गई है। पइन्नों का रचना-काल सुनिश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है, पर पहली सदी ई० पू० तक अवश्य ही उनकी रचना हो चुकी थी। इस प्रकार कथाकोषों में संकलित कथाओं का सूत्र रूप से निर्देश उन ग्रन्थों में भी विद्यमान है, जिनका निर्माण ईस्वी सन् के प्रारम्भकाल से भी पहले हो चुका था।

दिगम्बर जैन साहित्य में कतिपय अन्य भी ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका मौर्य इतिहास के लिये उपयोग किया जा सकता है। ऐसा एक ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) है, जिसका रचना-काल तीसरी सदी ई० पू० के लगभग माना जाता है। इसके लेखक वृषभाचार्य थे। तिलोयपण्णत्ति में चन्द्रगुप्त का एक ऐसे राजा के रूप में उल्लेख है, जो जिन-दीक्षाग्रहण करनेवाले मुकुटधारी राजाओं में *अन्तिम था।* इसके अतिरक्त हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण, त्रिलोकसार और धवला व जयधवला टीकाएँ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राचीन भारत के राजवंशों तथा उनके काल के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्देश पाये जाते हैं। प्राचीन भारतीय तिथिक्रम के निर्धारण के लिये इनका विशेष उपयोग है। हरिवंश पुराण, धवला और जयधवला आठवीं सदी की रचनाएँ हैं, उत्तरपुराण नवीं सदी की और त्रिलोकसार दसवीं सदी की।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी अनेक ग्रन्थ मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये उपयोगी हैं। मूल आगम-ग्रन्थों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अनेक विद्वानों ने उनपर निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ और टीकाएँ लिखी थीं, जिनमें प्रसङ्गवश ऐसी कथाएँ भी दे दी गई हैं, जो प्राचीन इतिहास के परिज्ञान में सहायक हो सकती हैं। प्राचीन आचार्य और मुनि धर्मोपदेश करते हुए अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिये कतिपय उदाहरणों एवं दृष्टान्तों का भी सहारा लिया करते थे। इसीलिये मूल आगम साहित्य में भी उदाहरणों व दृष्टान्तों से सम्वद्ध कथाएँ वीजरूप से विद्यमान हैं। पर उनको स्पष्ट करने तथा विशद रूप से निरूपित करने का कार्य उन विद्वानों द्वारा किया गया, जिन्होंने कि मूल आगमों पर निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ आदि लिखीं। निर्युक्तियों में ये कथाएँ उल्लिखित अवश्य हैं, पर अत्यन्त संक्षिप्त रूप से। निर्युक्तियों के लेखकों ने कथाओं का सार मात्र दिया है, उन्हें विशद रूप से निरूपित नहीं किया। कथाओं को विशद रूप से लिखने का कार्य चूर्णियों, भाष्यों और टीकाओं के लेखकों द्वारा किया गया है। इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य में जो कथाएँ पायी जाती हैं, उनके चार स्तर हैं—सूत्र (मूल आगम के अंग रूप), निर्युक्ति, चूर्णि तथा टीका या भाष्य। जैनों के इस सम्पूर्ण कथानक साहित्य का यहाँ परिचय दे सकना सम्भव नहीं है, और न उसकी आवश्यकता ही है। हम केवल उस साहित्य का उल्लेख करेंगे, जिसका सम्बन्ध मौर्य इतिहास के साथ है।

जैन आगम (धार्मिक साहित्य) में द्वादश अंग, द्वादश उपाङ्ग, दस प्रकीर्ण (पइन्न) चौदह पूर्व (पुव्व), छः छेदसूत्र, चार मूल सूत्र और कतिपय विविध ग्रन्थ अन्तर्गत हैं। चार मूल सूत्रों में से तीन के नाम निम्नलिखित हैं—उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र और दशवैकालिक सूत्र। छः छेद सूत्रों में दो के नाम निशीथ सूत्र और बृहत्कल्प सूत्र हैं। इन पाँच सूत्रों (जो जैन आगम साहित्य के अंगीभूत हैं) पर जो निर्युक्तियां, चूर्णियां तथा टीकाएँ या भाष्य लिखे गये हैं, उनमें वे कथाएँ विद्यमान हैं जिनका मौर्य इतिहास के लिये उपयोग किया जा सकता है। मूल आगम-ग्रन्थों पर जिन विद्वानों ने निर्युक्तियाँ लिखीं, उनमें भद्रवाहु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह भद्रवाहु प्रसिद्ध श्रुतकेवली भद्रवाहु हैं या कोई अन्य-इस प्रश्न पर जैन विद्वानों में मतभेद है। पर अधिक प्रचलित एवं मान्य मत यही है, कि निर्युक्तियों के लेखक भद्रवाहु श्रुतकेवली भद्रवाहु से भिन्न थे, और उनका समय छठी सदी के पूर्वार्ध में था। बृहत्कल्प सूत्र पर भद्रवाहु ने जो निर्युक्ति लिखी, उसमें मौर्य इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल तथा सम्प्रति के सम्बन्ध में इसमें ऐसी सूचनाएँ संक्षिप्तरूप से दी गई है, जिन्हें कि संघदास-गणिक्षमाश्रमण नामक विद्वान् ने अधिक विशद रूप से अपने भाष्य में प्रतिपादित किया है।[1] यह बृहत्कल्पसूत्र (भद्रवाहु स्वामी की निर्युक्ति और संघदासगणिक्षमाश्रमण के भाष्य के के साथ) मौर्य इतिहास के सम्बन्ध में ऐसी सामग्री प्रस्तुत करता है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। संघदासगणिक्षमाश्रमण का समय प्रायः आठवीं सदी में माना जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र और निशीथसूत्र पर प्राचीन जैन विद्वानों ने जो निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ एवं टीकाएँ लिखीं, उनमें भी ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं, जिनका मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये बहुत उपयोग है। जिन विद्वानों ने इन मूल-सूत्रों या उनकी निर्युक्तियों पर टीकाएँ लिखकर प्राचीन कथाओं को विशद रूप से उल्लिखित किया, उन में आचार्य हरिभद्र का स्थान विशेष महत्त्व का है। उनका समय आठवीं सदी में माना जाता है, और वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् एवं टीकाकार हुए हैं। आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति तथा चूर्णि में भी चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा संक्षिप्त रूप से विद्यमान थी, पर हरिभद्र ने उन पर जो टीका संस्कृत में लिखी, उसमें मौर्य साम्राज्य के इन संस्थापकों का वृत्तान्त बड़े विशद रूप से दिया गया है। आचार्य हरिभद्र की यह रचना, 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' नाम से प्रसिद्ध है, और मौर्य इतिहास के लिये यह बहुत उपयोगी है।

आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि और टीका के समान उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति एवं टीका आदि में भी मौर्य इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ संकलित हैं। इस सूत्र की जो टीका इस समय विशेष रूप से प्रसिद्ध है, उसकी रचना देवेन्द्रगणि नामक विद्वान्

१. बृहत्कल्प सूत्र टीका के अन्त में यह वाक्य उद्धरण-योग्य है—"श्री भद्रबाहुस्वामिविनिर्मितस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं श्रीसंघदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भूषितम्।"

ने की थी, जिनका समय ग्यारहवीं सदी में माना जाता है। दशवैकालिक सूत्र और निशीथ सूत्र की निर्युक्तियों, चूर्णियों और टीकाओं (भाष्यों) में भी मौर्य इतिहास की सामग्री विद्यमान है।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में परिशिष्ट पर्व नामक ग्रन्थ का भी मौर्य इतिहास के लिये बहुत महत्त्व है। इसके लेखक आचार्य हेमचन्द्र थे। उन्होंने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित नाम से एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जो दस पर्वों या खण्डों में विभक्त था। इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप से उन्होंने परिशिष्ट पर्व या स्थविरावलीचरित को लिखा था, जिसमें महावीर के बाद के जैन आचार्यों या स्थविरों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ संकलित हैं। त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित में ३४,००० श्लोक हैं, और उसमें २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ९ वासुदेवों, ९ बलदेवों और ९ प्रतिवासुदेवों के वृत्तान्त संकलित हैं। ये सब (जिनकी कुल संख्या ६३ है) महापुरुष अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के समय तक हो चुके थे। अतः स्वाभाविक रूप से त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित में महावीर के बाद के अर्हतों, आचार्यों व मुनियों का वृत्तान्त नहीं आ सकता था। इसीलिये हेमचन्द्र ने अपने महान् ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में स्थविरावलिचरित या परिशिष्ट पर्व की रचना की, जिसमें महावीर के बाद के महापुरुषों के वृत्तान्त को उल्लिखित किया। क्योंकि जैन अनुश्रुति के अनुसार मौर्य वंश के अनेक राजा भी जैन धर्म के अनुयायी थे, अतः स्वाभाविक रूप से हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ में उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं का भी संकलन कर दिया है। वस्तुतः, इस युग के इतिहास के सम्बन्ध में जो भी आख्यान, गाथाएँ व अन्य वृत्तान्त जैन साहित्य में विद्यमान थे, प्रायः उन सबको हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में संगृहीत कर दिया है। हेमचन्द्र का समय बारहवीं सदी में था। उनसे पहले ही उस कथा-साहित्य का विकास हो चुका था, जिसका उल्लेख हमने अभी ऊपर किया है। आगम ग्रन्थों की निर्युक्तियों, चूर्णियों और टीकाओं में महावीर के समकालीन तथा बाद के ऐसे राजाओं के विषय में, जिनका जैन धर्म के महान् आचार्यों के साथ सम्बन्ध था, जो भी सूचनाएँ उपलब्ध थीं, प्रायः उन सबका उपयोग कर हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व की रचना की थी। इसी कारण ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्व का है, और मौर्य इतिहास पर भी इससे बहुत प्रकाश पड़ता है। चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल, सम्प्रति आदि सभी मौर्य राजाओं का वृत्तान्त इस ग्रन्थ में विद्यमान है। हेमचन्द्र का समय बारहवीं सदी में था, और वह गुजरात के शक्तिशाली राजा सिद्धार्थ (१०९४-११४३) और कुमारपाल (११४३-११७४) का समकालीन था। राजा कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित करने में भी उसे सफलता प्राप्त हुई थी। हेमचन्द्र ने त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, और जैन विद्वानों में उसका स्थान बहुत ऊँचा है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भद्रबाहुचरित्र' है, जिसके रचयिता रत्ननन्दि थे। इसे सत्रहवीं सदी की रचना माना जाता है। इस ग्रन्थ में आचार्य भद्रबाहु

और उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों की कथा दी गई है। क्योंकि जैन अनुश्रुति के अनुसार भद्रबाहु का चन्द्रगुप्त के साथ सम्बन्ध था, और बारह वर्ष के घोर दुर्भिक्ष की उनकी भविष्यवाणी को जानकर चन्द्रगुप्त ने मुनिव्रत धारण कर लिया था, अतः स्वाभाविक रूप से भद्रबाहुचरित्र में इस मौर्य राजा की कथा भी विद्यमान है।

जिनप्रभासूरि द्वारा विरचित 'विविध तीर्थकल्प' ग्रन्थ से भी मौर्य इतिहास के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस ग्रन्थ का एक भाग 'पाटलिपुत्र नगर-कल्प' है, जिसमें चाणक्य द्वारा नन्दवंश केविनाश, चन्द्रगुप्त मौर्य का राजा बनना और उसके वंश में उत्पन्न बिन्दुसार, अशोकश्री, कुणाल तथा सम्प्रति का उल्लेख है। सम्प्रति द्वारा जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये जो महान् प्रयत्न किया गया, उसका विवरण भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। आचार्य जिनप्रभासूरि का काल चौदहवीं सदी में है, और उन्हें तुगलक सुल-तान मुहम्मदशाह के दरबार में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त था। विविध तीर्थकल्प ग्रन्थ भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है।

मेरुतुङ्ग (चौदहवीं सदी का पूर्वाध) विरचित 'विचारश्रेणी' *ग्रन्थ में भी मौर्य इतिहास* के साथ सम्बन्ध रखनेवाली कतिपय सूचनाएँ विद्यमान हैं। महावीर के पश्चात् जैन धर्म के जो प्रधान नेता व आचार्य हुए, श्वेताम्बर मत के अनुसार उनका वृत्तान्त इस ग्रन्थ में दिया गया है। प्रसङ्गवश, कतिपय राजवंशों तथा उनके काल का भी इस ग्रन्थ में निर्देश हो गया है, जिनमें अन्यतम मौर्यवंश भी है। तिथिक्रम के निर्णय के लिये इस ग्रन्थ से भी सहायता मिलती है।

मौर्य इतिहास के अनुशीलन में सहायक जैन साहित्य का विवरण देते हुए पट्टावलियों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। जैन मुनियों एवं आचार्यों के विविध संघों तथा गणों में गुरु शिष्य परम्परा चिरकाल तक विद्यमान रही, और अब तक भी वह नष्ट नहीं हुई है। पट्टावलियों में जैन स्थविरों, आचार्यों एवं मुनियों की इस परम्परा की स्मृति को सुरक्षित रखा गया है, और इनके अध्ययन से हम यह भलीभाँति जान सकते हैं, कि किस जैन संघ या गण में किस समय कौन व्यक्ति स्थविर या आचार्य के पद पर विराजमान था। प्रसङ्गवश इन पट्टावलियों में कहीं-कहीं उन राजाओं तथा अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी दे दिये गये हैं, जिनसे किसी जैन आचार्य का विशिष्ट सम्बन्ध था, या जो किसी आचार्य के प्रति विशेष भक्ति रखते थे। इसीलिये ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए भी जैन पट्टावलियाँ बहुत उपयोगी हैं। मौर्य इतिहास की दृष्टि से तिथिक्रम के निर्णय के लिये इन पट्टावलियों का बहुत महत्त्व है। ये पट्टावलियाँ दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों सम्प्रदायों की हैं, और इनमें से कुछ का प्रकाशन भी अब किया जा चुका है।

जैन-साहित्य में अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं, जिन्हें मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः, मौर्य वंश के वृत्तान्त के लिये जैन साहित्य पौराणिक और बौद्ध—दोनों प्रकार के साहित्यों की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध है। क्योंकि मौर्य

राजा विशुद्ध क्षत्रिय न होकर 'व्रात्य' या 'वृषल' थे, अतः पौराणिक अनुश्रुति में उन्हें समुचित महत्त्व नहीं दिया गया। बौद्ध ग्रन्थों में राजा अशोक का वृत्तान्त वहुत विशद रूप से दिया गया है, क्योंकि उसने तथागत वुद्ध के अष्टांगिक धर्म को अपना लिया था। पर अन्य मौर्य राजाओं के विषय में बौद्ध साहित्य से अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और सम्प्रति जैन धर्म के अनुयायी थे, और आचार्य चाणक्य भी जैन थे। जैन विद्वान् यह मानते रहे हैं, कि मौर्य राजाओं में सम्प्रति सवसे अधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण राजा था, और मौर्यों का अपकर्ष उसके पश्चात् प्रारम्भ हुआ। इसीलिये उन्होंने अपने ग्रन्थों में सम्प्रति का वृत्तान्त विशद रूप से उल्लिखित किया है।

(६) प्राचीन ग्रीक और लैटिन साहित्य

पाश्चात्य जगत् के साथ भारत का सम्बन्ध वहुत पुराना है। सातवीं सदी ईस्वी पूर्व से भी पहले भारत के व्यापारी जल और स्थल मार्गों से व्यापार के लिये पश्चिमी देशों में जाया-आया करते थे। उनकी अनेक वस्तियाँ भी पाचात्य देशों में विद्यमान थीं, और पश्चिम के लोगों को भारत के दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से भी परिचय था। यही कारण है, कि पाइथोगोरस जैसे ग्रीक दार्शनिक के विचारों पर उपनिषदों के मन्तव्यों का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। अरिस्टोक्सेनस (३३० ई०-पू० के लगभग) नामक एक ग्रीक लेखक ने एक भारतीय दार्शनिक का उल्लेख किया है, जिसने एथेन्स की यात्रा की थी, और जिसने वहाँ सुकरात (सोक्रेटीज़) के साथ दार्शनिक विषयों पर विचार विमर्श किया था। पाश्चात्य जगत् और भारत के इस सम्बन्ध का ही यह परिणाम था, कि सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व काल के भी अनेक ग्रीक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में भारत और उसके निवासियों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं।

छठी सदी ई० पू० में पर्शिया के राजा कुरु या साइरस (५५८-५२९ ई० पू०) ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर भी आक्रमण किया, और भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। सिन्ध नदी के पश्चिम के प्रदेश इस समय पर्शियन साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये, और इसके कारण पाश्चात्य जगत् के साथ भारत का सम्बन्ध और भी अधिक वढ़ गया। पर्शियन सम्राट् दारयवहु या डेरियस (५२२-४८६ ई० पू०) के शिलालेखों में भारत के इन प्रदेशों का उल्लेख मिलता है, और निःसन्देह ये प्रदेश उसकी अधीनता में थे। भारत के कतिपय प्रदेशों के पर्शियन साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने के कारण पाश्चात्य लेखकों का ध्यान भारत की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ, और इस काल के अनेक ग्रन्थों में भारत के सम्बन्ध में अनेक वातें पायी जाती हैं, जिन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी समझा जा सकता है।

करिआन्डा का स्काइलैक्स प्रथम ग्रीक लेखक था, जिसने कि भारत के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी। इसे पर्शियन सम्राट् दारयवहु ने इस प्रयोजन से समुद्रयात्रा के लिये

भेजा था, कि भारत के समुद्र-तट का अवगाहन कर उसके सम्बन्ध में सही-सही जानकारी प्राप्त करे और यह पता लगाये कि सिन्ध नदी कहाँ समुद्र में जाकर मिलती है। तीस मास की यात्रा के पश्चात् वह समुद्र मार्ग द्वारा भारत पहुँचने में समर्थ हुआ था, और उसने जो सूचनाएँ दारयवहु को प्रदान की थीं, भारत के आक्रमण में पर्शियन सम्राट् ने उनका उपयोग किया था। स्काइलैक्स द्वारा लिखित भारत-सम्बन्धी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, पर उसका उपयोग बाद के ग्रीक लेखकों ने किया और उन्होंने अपनी पुस्तकों में इस यात्री द्वारा प्रदत्त सूचनाओं का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। स्काईलैक्स ने अपनी भारत-यात्रा का प्रारम्भ ५०९ ई० पू० में किया था। ५०० ई० पू० के लगभग मिलेटस् के हिकेटियस ने संसार के भूगोल पर एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें भारत का भी उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ भी इस समय अप्राप्य है।

प्राचीन ग्रीक लेखकों में हीरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) बहुत प्रसिद्ध है। उसने विश्व के इतिहास पर पुस्तकें लिखीं, और उनमें भारत का भी वृत्तान्त उल्लिखित किया। हीरोडोटस के अनुसार भारत सभ्य संसार के पूर्वी *भाग में स्थित था,* और भारतीय लोग उस प्राच्य प्रदेश में निवास करते थे, जहाँ सूर्य का उदय होता है। स्वाभाविक रूप से हीरोडोटस को भारत के उस उत्तर-पश्चिमी भाग का अधिक ज्ञान था, जो पर्शियन साम्राज्य के अन्तर्गत था। पर इस ग्रीक ऐतिहासिक ने अनेक ऐसे लोगों व प्रदेशों का भी उल्लेख किया है, जो पर्शियन साम्राज्य के अधीन नहीं थे। आरण्यक आश्रमों में निवास करनेवाले ऋषि-मुनियों ने हीरोडोटस का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया था। पशुओं की हिंसा को ये पाप समझते थे, और जंगल में उत्पन्न होनेवाले कन्द, मूल, फल और नीवार सदृश अन्न से ही अपना निर्वाह किया करते थे। दारयवहु के साम्राज्य में भारत के जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश सम्मिलित थे, उनके विषय में हीरोडोटस ने लिखा है, कि ये अत्यन्त समृद्ध थे, और सुवर्ण की ३६० टेलेन्ट मात्रा भेंट के रूप में प्रतिवर्ष पर्शियन सम्राट् को प्रदान किया करते थे। इतनी अधिक आमदनी किसी अन्य प्रदेश से पर्शियन सम्राट् को प्राप्त नहीं होती थी।

हीरोडोटस के कुछ समय पश्चात् एक अन्य ग्रीक लेखक हुआ, जिसने भारत के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी। इसका नाम क्टेसियस था, और पर्शिया के सम्राट् आर्टेजरक्सीज़ की राजसभा में यह सत्रह वर्ष (४१६-३९८ ई० पू०) रहा था। यह सम्राट् का राजवैद्य था, और भारत के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने का इसे अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। इस द्वारा लिखित भारत-सम्बन्धी पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं है, पर बाद के ग्रीक लेखकों ने इसकी पुस्तक से अनेक उद्धरण दिये हैं, जो अत्यन्त उपयोगी हैं। भारत की चिकित्सापद्धति पर इनसे विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। नवीं सदी में कोन्स्टेन्टिनोपल के फोटियस (८५८-८८६ ई० प०) नामक ग्रीक लेखक ने क्टेसियस के ग्रन्थ का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया था, जो अब उपलब्ध है।

मौर्य काल से पूर्व के इन ग्रीक लेखकों के ग्रन्थों का मौर्य इतिहास के लिये विशेष उपयोग नहीं है। पर जिस प्रकार प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से मौर्य युग के पूर्ववर्त्ती काल की आर्थिक व सामाजिक दशा के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, वैसे ही इन प्राचीन ग्रीक लेखकों के विवरणों से उस युग की परिस्थितियों पर कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य पड़ जाता है, जिनमें मौर्यों ने अपने विशाल साम्राज्य का विकास किया था।

चौथी सदी ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। सिन्ध नदी को पार कर उसने भारत के अनेक राज्यों को युद्ध में परास्त किया, और सतलज नदी तक के प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित किया। यद्यपि उसका शासन देर तक इन प्रदेशों पर कायम नहीं रहा, पर उसके आक्रमण के कारण ग्रीस और भारत का सीधा सम्बन्ध स्थापित हुआ, और ग्रीक लोगों को भारत के विषय में परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। सिकन्दर के साथ अनेक ग्रीक विद्वान् व लेखक भी भारत आये थे। उन्होंने भारत के सम्बन्ध में अपने संस्मरण व वृत्तान्त भी लिखे, जो दुर्भाग्यवश इस समय उपलब्ध नहीं हैं। पर बाद के ग्रीक लेखकों ने उनका उपयोग किया, और अपने ग्रन्थों में उनसे अनेक उद्धरण भी दिये। सिकन्दर के साथ आये हुए इन लेखकों ने जहाँ अपने स्वामी की विजय-यात्रा का वृत्तान्त लिखा, वहाँ साथ ही उन प्रदेशों के रीति-रिवाजों, प्रथाओं और शासन-संस्थाओं का भी उल्लेख किया, जिनपर कि सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी। इन लेखकों में सर्वप्रथम स्थान निआकर्स का है। यह क्रीट का निवासी था, पर इसकी शिक्षा-दीक्षा मैसिडोनिया के राजदरबार में हुई थी। यह सिकन्दर का सहपाठी भी था। मैसिडोनियन सम्राट् की विजय-यात्रा में यह उसके साथ रहा था, और उसकी सामुद्रिक सेना का प्रधान सेनापति था। नियार्कस का ग्रन्थ भी अब उपलब्ध नहीं है। पर एरियन और स्ट्रेबो जैसे बाद के ग्रीक लेखकों ने उसकी मूल पुस्तक से अनेक उद्धरण दिये हैं, जो बहुत महत्त्व के हैं। ओनेसिक्रिटस भी सिकन्दर की जलसेना का अन्यतम सेनापति था, और भारत की विजय यात्रा में अपने स्वामी के साथ रहा था। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक डायोजेनस का वह अनुयायी था, और स्वयं भी एक उत्कृष्ट दार्शनिक था। इसी कारण जब सिकन्दर ने तक्षशिला में प्रवेश किया, तो वहाँ के चिन्तकों व ब्राह्मणों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये ओनेसिक्रिटस को नियुक्त किया गया। उसने सिकन्दर का एक जीवन वृत्तान्त लिखा था, जो अब नष्ट हो चुका है। पर अन्य ग्रीक लेखकों ने उसका उपयोग किया, और उसके मूलग्रन्थ के अनेक अंश बाद की ग्रीक पुस्तकों में विद्यमान हैं। अरिस्टोबुलस एक अन्य ग्रीक लेखक था, जो सिकन्दर की विजय-यात्रा में उसके साथ रहा था। उसने सिकन्दर की विजयों का विशद रूप से वृत्तान्त लिखा था, जो अब प्राप्य नहीं है। पर एरियन और प्लूटार्क ने बाद में सिकन्दर की विजय-यात्रा के जो विवरण लिखे, वे प्रधानतया अरिस्टोबुलस के ग्रन्थ पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार क्लाइटार्कस, यूमेनस, कैलिस्थनीज़, डायोग्नेटस, किसिलस, पालीक्लाइस आदि अन्य भी अनेक विद्वान् एवं लेखक सिकन्दर की विजय-यात्रा में अपने स्वामी के साथ रहे

थे, और उन्होंने उसकी विजयों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। यद्यपि ये ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, पर इनके जो अंश बाद के ग्रीक लेखकों द्वारा अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त किये गये, वे मौर्य इतिहास के अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी हैं। सिकन्दर का भारत-आक्रमण उस समय हुआ था, जबकि मगध के सम्राट् भारत के बड़े भाग को अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हो चुके थे। मौर्य चन्द्रगुप्त ने इसी मागध साम्राज्य के सम्राट् को पदच्युत कर पाटलिपुत्र का राजसिंहासन प्राप्त किया, और अपनी शक्ति का और अधिक विस्तार किया। गंगा-यमुना के पश्चिम में उस समय जो अनेक राज्य विद्यमान थे, उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिये इन ग्रीक लेखकों के विवरणों का बहुत अधिक महत्त्व है। मालव, क्षुद्रक, कठ, शिवि आदि गण-राज्यों की शासनपद्धति का परिचय हमें प्रधानतया इन्हीं के लेखों से प्राप्त होता है।

सिकन्दर और सैल्युकस के आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारत का पाश्चात्य जगत् और विशेषतया ग्रीक राज्यों के साथ सम्बन्ध बहुत अधिक बढ़ गया। मौर्य राजाओं ने इन राज्यों में अपने राजदूत नियुक्त किये, और सीरिया, मिस्र आदि के ग्रीक राज्यों ने भी मौर्य राजाओं की राजसभा में अपने राजदूतों की नियुक्ति की। सीरिया के राजा सैल्युकस ने मैगस्थनीज को चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्यसभा में अपना राजदूत बनाकर भेजा था। वह चिरकाल तक पाटलिपुत्र में रहा। वहाँ रहते हुए उसने शासन-प्रबन्ध, सैन्य-संचालन, समाज, राजदरबार, आर्थिक दशा आदि सब बातों का भली भाँति अनुशीलन किया। पाटलिपुत्र में रहते हुए मैगस्थनीज़ ने जो कुछ देखा व सुना, उसे वह लेखबद्ध करता गया। उसने भारत विषयक जो विवरण लिखा, वह मौर्य युग के इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। चन्द्रगुप्त कालीन भारत का अध्ययन करने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र के बाद इसी विवरण का स्थान है। दुःख की बात है, कि मैगस्थनीज़ का यह भारत विवरण भी अपने मूल रूप में इस समय उपलब्ध नहीं है। पर एरियन, स्ट्रेबो आदि बाद के ग्रीक लेखकों ने इसका समुचित रूप से उपयोग किया है, और उनके ग्रन्थों में मैगस्थनीज के भारत-विवरण से जो उद्धरण दिये गये हैं, मौर्य युग के इतिहास के लिये उनका बहुत महत्त्व है। चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी मौर्य राजा बिन्दुसार था। सैल्युकस ने डायमेचस को उसकी राजसभा में अपना राजदूत नियुक्त किया था। सैल्युकस के बाद एण्टियोकस सार्टर के शासन-काल में भी यही डायमेचस पाटलिपुत्र में सीरिया का राजदूत रहा। सैल्युकस की जलसेना के सेनापति का नाम पेट्रोक्लीज था। उसे इस प्रयोजन से सीरिया के राजा द्वारा पूर्व की ओर भेजा गया था, कि वह एशिया के अज्ञात देशों का परिचय प्राप्त करे और उनके सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी अपने स्वामी को प्रदान करे। इसने सिन्ध नदी और कैस्पियन सागर के समीपवर्ती प्रदेशों का अवगाहन किया, और इनके सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी। ग्रीक लोग पेट्रोक्लीज़ के इस ग्रन्थ को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। स्ट्रैबो ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सिकन्दरिया (मिस्र) के पुस्तकालय

के अध्यक्ष एरोजोस्थनीज़ (२४०-१९६ ई० पू०) की दृष्टि में भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् टाल्मी फिलेडेल्फस ने मिस्र में अपने पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। मिस्र के इस ग्रीक राज्य का भी भारत के साथ राजनयिक सम्बन्ध विद्यमान था। टाल्मी फिलेडेल्फस ने डायोनीसियस नामक व्यक्ति को भारत (मौर्य साम्राज्य) के राजा के दरबार में अपना राजदूत नियुक्त किया था। उसने भारत के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं, यह ज्ञात नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं कि यह डायोनीसियस भी पर्याप्त समय तक मौर्य राजा चन्द्रगुप्त या अमित्रघात (बिन्दुसार) की राजसभा में रहा था। टाल्मी के जल-सेनापति का नाम टिमोस्थनीज़ था। उसे भी भारत आदि प्राच्य देशों से परिचय प्राप्त करने के लिये भेजा गया था।

मौर्य युग के अन्तिम भाग में पोलिबिअस नामक एक अन्य ग्रन्थकार हुआ, जिसने कि अपने 'इतिहास' में सैल्युकस के वंशजों का वृत्तान्त लिखा था। इसके ग्रन्थ से सूचित होता है, कि *सीरिया के राजा एण्टियोकस द ग्रेट* ने *भारत* के राजा सौभागसेनस (सुभागसेन) के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। यह सुभागसेन मौर्य साम्राज्य की शक्ति के शिथिल होने पर उत्तर-पश्चिमी भारत में स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा था, और सम्भवत: मौर्य वंश का ही अन्यतम राजकुमार था।

यदि इन सब ग्रीक लेखकों के भारतसम्बन्धी विवरण इस समय उपलब्ध होते, तो निस्सन्देह मौर्य इतिहास के विषय में हमारी जानकारी में बहुत अधिक वृद्धि हो सकती थी। पर खेद है, कि इनके ग्रन्थ अपने मूलरूप में अब नष्ट हो चुके हैं। केवल हीरोडोटस का ग्रन्थ ही वर्तमान समय में उपलब्ध है। पर बाद के पाश्चात्य लेखकों ने अपने ग्रन्थों में इनका उपयोग किया है। ईस्वी सन् का प्रारम्भ होने से पूर्व ही शक, युइशि, कुशाण आदि जातियों के भारत पर आक्रमण शुरू हो गये थे। इन जातियों ने मध्य एशिया, ईरान आदि के अन्य अनेक ऐसे प्रदेशों को भी जीत कर अपने अधीन कर लिया था, जो पहले ग्रीकों (यवनों) के अधीन थे। इसी कारण बाद में ग्रीक लोगों का भारत के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया, और चिरकाल तक कोई ग्रीक यात्री भारत में नहीं आया। अत: बाद के ग्रीक लेखकों को भारत के सम्बन्ध में सीधा परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। इस दशा में उन्होंने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा, वह प्राचीन ग्रीक लेखकों के आधार पर ही था। उन्होंने मैगस्थनीज़ आदि के विवरणों का ही अपने ग्रन्थों के लिये उपयोग किया। इसीलिये उनके ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राचीन लेखकों के उद्धरण दिये गये हैं। इन्हीं द्वारा हम यह जान सके हैं, कि प्राचीन ग्रीक विवरणों का क्या स्वरूप था, और उनमें भारत के विषय में क्या जानकारी दी गई थी। निस्सन्देह, ये उद्धरण मौर्य इतिहास के लिये उपयोगी हैं।

बाद के जिन लेखकों के ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं, और जिनमें प्राचीन ग्रीक लेखकों के विवरण उद्धृत किये गये हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) डायोडोरस सिल्युकस—इसका जन्म सिसली के अगीरीयम नामक स्थान पर हुआ था, और इसका काल प्रथम शताब्दि ई० पू० के पूर्वार्ध में था। उसने तीस साल तक निरन्तर परिश्रम करके बिब्लिओथिका हिस्टोरिका (ऐतिहासिक पुस्तकालय) नाम से एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें ४० पुस्तकें सम्मिलित थीं। इनमें से केवल १५ ही इस समय उपलब्ध हैं। इनमें सिकन्दर की विजय-यात्रा का विशद रूप से वर्णन किया गया है, और साथ ही भारत के सम्बन्ध में अन्य भी कतिपय बातें उल्लिखित हैं।

(२) प्लुटार्क—यह ग्रीस के एक छोटे-से नगर कैरोनिया का निवासी था, और इसका काल ४६ से १२० ई० प० तक था। इसकी शिक्षा एथेन्स की प्राचीन एकेडमी में हुई थी, और इसने मिस्र और इटली में दूर-दूर तक पर्यटन किया था। यह कुछ समय तक रोम में भी रहा था, जहाँ इसे हेड्रियन (जो बाद में रोम का सम्राट् बना था) के शिक्षक के रूप में नियुक्त किया गया था। हेड्रियन के शासन काल में इसे उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया गया, और बाद में यह कुछ समय तक डेल्फाई में अपोलो के मन्दिर का प्रधान पुरोहित भी रहा। प्लुटार्क ने बहुत-सी पुस्तकों की रचना की, जिनमें 'सिकन्दर की जीवनी' भी एक थी। सिकन्दर ने भारत में जो विजय-यात्रा की, उसके परिज्ञान के लिये इसकी यह पुस्तक भी अत्यन्त उपयोगी है। सिकन्दर की विजयों के अतिरिक्त भारत के गणराज्यों और अन्य राज्यों के सम्बन्ध में भी इसकी पुस्तक से महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

(३) स्ट्रैबो—इसका जन्म ६३ ई० पू० में एशिया माइनर के अन्यतम ग्रीक नगर अमेसिया में हुआ था। इसने भूगोल पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था, जिसे प्राचीन ग्रीक साहित्य में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है। यह ग्रन्थ १७ खण्डों में विभक्त है, जिनमें से पन्द्रहवें खण्ड में ईरान और भारत का विशद रूप से वर्णन किया गया है। भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग के विषय में ग्रीक लोगों को जो जानकारी थी, उसे जानने के लिये यह खण्ड बहुत उपयोगी है।

(४) प्लिनी—यह एक रोमन विद्वान् था, जिसका काल २३ से ७९ ईस्वी तक था। इसने ३७ खण्डों में 'प्राकृतिक इतिहास' नाम से एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें भूगोल, प्राणिशास्त्र, नृवंशशास्त्र, नसल विज्ञान आदि अनेक विषयों का समावेश है। अन्य देशों के साथ-साथ प्लिनी ने भारत के भूगोल और यहाँ निवास करनेवाली विविध जातियों के सम्बन्ध में भी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें उल्लिखित की है।

(५) टाल्मी—यह मिस्र का निवासी था, और इसका काल दूसरी सदी ई० प० में माना जाता है। यह एक प्रसिद्ध ज्योतिषी और भूगोलवेत्ता था, और इसने ज्योतिष और भूगोल विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। इसके भूगोल में भारत के सम्बन्ध में जो अध्याय हैं, उनमें अनेक स्थानों और नगरों की स्थिति को अक्षांश और देशांश द्वारा स्पष्ट किया गया है। भारत के प्राचीन भूगोल के परिचय के लिये टाल्मी का ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, यद्यपि उसमें वर्णित अनेक स्थानों का सही-

सही परिज्ञान अभी प्राप्त नहीं किया जा सका है। टाल्मी द्वारा बनाया गया भारत का नक्शा भी इस समय उपलब्ध है, यद्यपि इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

(६) कर्टियस––इसका काल पहली सदी ई० प० में था, और यह रोमन सम्राट् क्लाडियस का समकालीन था। इसका लिखा हुआ 'सिकन्दर का इतिहास' नामक ग्रन्थ इस मैसिडोनियन आक्रान्ता की विजय-यात्रा और उसके समय के भारत पर अच्छा प्रकाश डालता है।

(७) एरियन––प्राचीन ग्रीक लेखकों में एरियन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका जन्म ९६ ई० प० के लगभग हुआ था, और यह १८० ई० प० के लगभग तक जीवित रहा था। रोमन सम्राट् हेड्रियन की अधीनता में इसने अनेक उच्च राजकीय पद प्राप्त किये, और अपने स्वामी की सेवा में रहते हुए कतिपय सैनिक आक्रमणों का सेनापतित्त्व भी किया। इसने सिकन्दर की जीवनी पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा,जिसमें उसके राजसिंहासन प्राप्त करने के समय से लगाकर उसकी मृत्यु तक का वृत्तान्त विशद रूप से लिखा गया है। इसने जो ग्रन्थ लिखा, वह प्रधानतया एरिस्टोबेनस और टाल्मी (जो बाद में ईजिप्ट का स्वतन्त्र राजा हो गया था) के पुराने ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। ये दोनों सिकन्दर के समकालीन थे, और उसकी विजय-यात्रा में उसके साथ रहे थे। एरियन ने 'इण्डिका' नाम से एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी, जिसे मुख्यतया मेगस्थनीज़ और एरेटोस्थनीज़ द्वारा लिखित प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया था। एरियन के इन ग्रन्थों को बहुत प्रामाणिक माना जाता है, क्योंकि उनके आधार वे प्राचीन ग्रीक ग्रन्थ हैं, जिन्हें विविध लेखकों ने अपनी निजी जानकारी द्वारा लिखा था।

(८) जस्टिन––यह एक रोमन ऐतिहासिक था, जिसके काल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पर उसने राजा फिलिप (सिकन्दर का पिता) के वंशजों का लेटिन भाषा में जो इतिहास लिखा, वह बहुत महत्त्व का है। यह इतिहास भी पुराने इतिवृत्तों पर आधारित है, और इसके लिये जस्टिन ने पोम्पियस ट्रोगस (पहली सदी ई० प०) द्वारा लिखित पुरातन इतिवृत्त का आश्रय लिया था। सिकन्दर की विजय-यात्रा पर जस्टिन के ग्रन्थ से अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इन आठ लेखकों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक लेखक पाश्चात्य जगत् में हुए, जिन्होंने ग्रीक और लेटिन भाषाओं के अपने ग्रन्थों में भारत के सम्बन्ध में लिखा। पर्शिया के सम्राटों और सिकन्दर द्वारा भारत के साथ पाश्चात्य जगत् का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था, उसी के कारण इन लेखकों को भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला, और इन्होंने इस जानकारी को अपने ग्रन्थों में संकलित किया। ग्रीक साहित्य में कतिपय अन्य भी ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिनमें भारत के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ पायी जाती हैं। इनमें से एक का नाम 'परिप्लस मारिस एरिथ्रेई' (एरेथ्रियन सागर का परिप्लस) है। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। विद्वानों ने इसे पहली सदी ई० प० में

लिखित प्रतिपादित किया है। सम्भवतः, इसका लेखक मिस्र का निवासी कोई ग्रीक विद्वान् था, जो स्वयं भी सामुद्रिक व्यापार के लिये एरेथ्रियन सागर में आया-जाया करता था। ग्रीक लोग पर्शिया की खाड़ी, लाल सागर और हिन्द महासागर को एरेथ्रियन सागर कहा करते थे, और इस ग्रन्थ में लेखक ने उन नगरों और बस्तियों का वर्णन किया है, जो इन सागरों के तट पर विद्यमान थे और जिनमें पाश्चात्य जगत् के व्यापारी व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। भारत के समुद्र तट पर स्थित बन्दरगाहों के परिचय के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। प्रसंगवश इसमें भारत के सम्बन्ध में अन्य भी बहुत-सी बातें दे दी गई हैं, जो पहली सदी ईस्वी के भारत के विषय में प्रकाश डालती हैं। प्राचीन समय में भारत और पाश्चात्य देशों के बीच में व्यापार का जो स्वरूप था, उसका परिचय प्राप्त करने के लिये यह ग्रन्थ महत्त्व का है। जिस ढंग का विदेशी व्यापार पहली सदी ईस्वी में विद्यमान था, उसका विकास मौर्य युग में भी हो चुका था, यह कल्पना कर सकना असंगत नहीं है।

ग्रीक साहित्य में एक अन्य ग्रन्थ है, जिसका भारत के प्राचीन-इतिहास के साथ सम्बन्ध है। यह अपोलोनियस नामक दार्शनिक एवं सन्त के जीवन चरित्र के रूप में है, जिसे फिलोस्ट्रेटस ने लिखा था। फिलोस्ट्रेटस का काल दूसरी सदी ई० प० में माना जाता है, पर उसने जिस दार्शनिक का जीवन चरित्र लिखा, उसका जन्म ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में एशिया माइनर के अन्यतम अगर टयाना में हुआ था। अपोलोनियस ग्रीस के प्राचीन दार्शनिक पेथोगोरस का अनुयायी था, और सन्त-महात्माओं का-सा जीवन व्यतीत करता था। न वह मांस भक्षण करता था, और न शराब ही पीता था। विवाह भी उसने नहीं किया था। साधु के रूप में जीवन बिताते हुए उसने दूर-दूर तक यात्राएँ की थीं, और विश्व का पर्यटन करते हुए वह भारत भी आया था। भारत का भ्रमण करते हुए उसे इस देश के अनेक मुनियों और महात्माओं के सम्पर्क में आने का अवसर मिला था, और उनके रहन-सहन, विचार एवं दर्शन आदि से उसने परिचय प्राप्त किया था। यही कारण है, कि फिलोस्ट्रेटस के ग्रन्थ से प्राचीन भारत के सम्बन्ध में उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

प्राचीन पाश्चात्य साहित्य के जिन ग्रीक और लेटिन ग्रन्थों तथा उनके लेखकों का हमने यहाँ परिचय दिया है, उन सबका मौर्य इतिहास के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। इनमें से कुछ मौर्य युग से पहले की सदियों पर प्रकाश डालते हैं, और कुछ बाद की सदियों पर। सिकन्दर की विजययात्रा और मैगस्थनीज का भारत-विवरण सदृश ग्रन्थों का मौर्य इतिहास के साथ सीधा सम्बन्ध है। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि ग्रीक और लेटिन भाषाओं के अन्य ग्रन्थ भी मौर्य युग के भारत की दशा की जानकारी प्राप्त करने के लिये उपयोगी हैं, क्योंकि वे उस काल पर प्रकाश डालते हैं, जो या तो मौर्यों से कुछ समय पहले का है या कुछ समय बाद का। इसी कारण हमने यहाँ उनका भी उल्लेख कर दिया है।

(७) चीनी और तिब्बती साहित्य

चीन और भारत का सम्बन्ध भी बहुत पुराना है। महाभारत में चीन देश का उल्लेख है, और कौटलीय अर्थशास्त्र में चीनपट्ट के रूप में उस देश से आनेवाले रेशमी वस्त्रों का निर्देश विद्यमान है। इससे सूचित होता है, कि मौर्य युग में भारत और चीन में व्यापारिक सम्बन्ध की सत्ता थी। जब बौद्ध धर्म का विदेशों में विस्तार प्रारम्भ हुआ, तो अनेक बौद्ध प्रचारक चीन भी गये। तिब्बती साहित्य के अनुसार अशोक के अन्यतम पुत्र कुस्तन द्वारा चीन के लोगों को बौद्ध धर्म के साथ परिचय प्राप्त हुआ था।[1] चीन के साहित्य के अनुसार भी २१७ ई० पू० के लगभग अनेक भारतीय प्रचारक बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये चीन गये थे।[2] पर चीन देश में बौद्ध धर्म के प्रचार का व्यवस्थित रूप से प्रवेश ६१ ई० पू० में हुआ। इस समय मिङ्ग-टी नामक राजा का चीन में शासन था। एक दिन उसे स्वप्न में भगवान् बुद्ध के दर्शन हुए। इस महापुरुष और उसके धर्म के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के प्रयोजन से उसने अपने दूत भारत भेजे। उन्होंने भारत आकर बौद्ध पण्डितों के साथ सम्पर्क किया, और बौद्ध पुस्तकों का अवलोकन किया। स्वदेश को वापस लौटते हुए ये चीनी दूत मध्यदेश के प्रसिद्ध विद्वान् काश्यप मातङ्ग को अन्य अनेक पण्डितों के साथ अपने देश ले गये। चीन जाकर काश्यप मातङ्ग ने बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। अनेक बौद्ध ग्रन्थों का भी उसने चीनी भाषा में अनुवाद किया, और इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म का सूत्रपात हुआ। इस समय से भारतीय प्रचारक निरन्तर चीन जाते रहे, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण चीन बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। पाँचवीं सदी ई० प० में आचार्य कुमार-जीव ने चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। उसने बहुत-सी बौद्ध पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, और पाँचवीं सदी से वह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई जिस द्वारा बहुत-से भारतीय पण्डित चीन जाने लगे और बहुत-से चीनी भिक्षु अपनी धर्म-पिपासा को शान्त करने के लिये भारत आने लगे। बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप में अब नष्ट हो चुके हैं, पर चीनी अनुवाद के रूप में वे अबतक भी विद्यमान हैं। बौद्धधर्म के इतिहास में मौर्य राजा अशोक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर उसके जीवनवृत्त तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में उसके कर्तृत्त्व का वर्णन पाया जाता है। प्रसङ्गवश, अन्य मौर्य राजाओं के सम्बन्ध में भी इन ग्रन्थों में उपयोगी सूचनाएँ दे दी गई हैं। यही कारण है, कि चीन में विद्यमान बौद्ध ग्रन्थ भी मौर्य साम्राज्य के इतिहास के अनुशीलन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। चीनी ग्रन्थों में मौर्य राजाओं के सम्बन्ध में किस प्रकार के इतिवृत्त विद्यमान हैं, इसके लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 'फा-युएन-चू-

1. Rockhill : Life of the Buddha, Chapter VIII
2. Edkins : Chinese Buddhism p. 8
3. Ibid pp 87,88

लिन' नामक प्राचीन चीनी ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से इस प्रकार कहा— "तुम्हें जानना चाहिये पालिनपुत (पाटलिपुत्र) नगरी में 'युइ-हू' (संस्कृत अनुवाद-चन्द्रगुप्त) नाम का एक राजा होगा। उसका एक पुत्र बिन्दुपाल नाम का होगा। इस बिन्दुपाल के सुसीम नाम का एक पुत्र होगा।' हमें ज्ञात है, कि सुसीम अशोक का बड़ा भाई था, और बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सुसीम को मारकर ही अशोक ने मौर्य साम्राज्य पर अपना अधिकार किया था। फा-युएन-चू-लिन में संकलित यह अनुश्रुति मौर्य वंश के इतिहास के परिज्ञान के लिये सहायक है। क्योंकि अशोक मौर्य वंश का था, अतः इस वंश के सम्बन्ध में अन्य प्राचीन चीनी ग्रन्थों में भी बहुत-से इतिवृत्त विद्यमान हैं, जिनका उपयोग मौर्य इतिहास के अध्ययन के लिये किया जा सकता है। बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण चीन और भारत का परस्परिक सम्बन्ध इतना अधिक बढ़ गया था, कि छटी सदी के प्रारम्भ में चीन में निवास करनेवाले भारतीयों की संख्या ३००० से भी अधिक हो गई थी। चीन के अन्यतम राज्य वेई के राजा ने इन भारतीयों के निवास के लिये अनेक विहारों का निर्माण कराया था, जो प्रधानतया लो-यांग नामक नगर में विद्यमान थे। चीन में निवास करनेवाले ये भारतीय बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यापृत थे। उन द्वारा जहाँ चीन में भारत के धर्म और ज्ञान का प्रवेश हुआ, वहाँ साथ ही उनके कारण भारत की ऐतिहासिक अनुश्रुति का भी चीनी लोगों को ज्ञान हुआ। इसीलिये प्राचीन भारतीय इतिहास और विशेषतया मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये चीनी साहित्य का भी बहुत महत्त्व है।

भारत और चीन का धर्म-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर केवल भारतीय विद्वान् व भिक्षु ही चीन नहीं गये, अपितु बहुत-से चीनी भी भारत आये। बुद्ध का जन्म भारत में हुआ था, और इसी देश में उन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त की थी। जिन स्थानों से बुद्ध का सम्बन्ध था, बौद्धों की दृष्टि में वे पवित्र थे और उन्हें वे अपने तीर्थ-स्थान मानते थे। इसी कारण जब चीन, जापान आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया, तो वहाँ से बहुत-से यात्री इन तीर्थ-स्थानों का दर्शन करने के लिये भारत आने लगे, और सम्पूर्ण बौद्ध जगत् की दृष्टि में भारत पुण्यभूमि व धर्मस्थली बन गया। साथ ही, चीन आदि के अनेक बौद्ध राजाओं ने भगवान् बुद्ध के 'शरीरों' (अवशेषों) की प्राप्ति के लिये भी अपने दूत-मण्डल भारत भेजे। बुद्ध के शरीरों की उपासना तथा उन पर स्तूपों के निर्माण की प्रवृत्ति बौद्ध लोगों में विकसित हो गई थी। ये 'शरीर' केवल भारत से ही प्राप्त किये जा सकते थे। अतः इन्हें लेने के लिये अनेक विदेशी भारत आये। बौद्ध धर्म की प्रामाणिक पुस्तकों को प्राप्त करने के लिये भी बहुत-से चीनी भिक्षु व विद्वान् भारत आये। ये न केवल धार्मिक पुस्तकों को ही भारत से अपने देश ले जाने के लिये प्रवृत्त हुए, पर उनके सही-सही अभि-प्राय को समझने के प्रयोजन से अनेक भारतीय विद्वानों को भी उन्होंने अपने देश में ले जाने का प्रयत्न किया। मध्य काल में नालन्दा और विक्रमशिला बौद्धधर्म के प्रधान केन्द्र थे। यहाँ के विहारों में हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, और इनके आचार्य अपनी

विद्या और ज्ञान के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे। इन विद्यापीठों में बौद्धधर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये भी अनेक चीनी यात्री भारत आये।

राजा अशोक ने अपने साम्राज्य में बहुत-से स्तूपों, चैत्यों, संघारामों और विहारों का निर्माण कराया था। ये इस समय नष्ट हो चुके हैं, और इनके भग्नावशेष ही कहीं-कहीं अब विद्यमान हैं। पर चीनी यात्रियों के भारत आने के समय इनमें से कतिपय अविकल रूप में विद्यमान थे। ह्युएन्-त्सांग सदृश चीनी यात्रियों ने इनका विशद रूप से वर्णन किया है। अशोक का बौद्ध धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः उसके जीवनवृत्त तथा कृत्यों से परिचय प्राप्त करने की इन यात्रियों में उत्सुकता थी। भारत में भ्रमण करते हुए इन यात्रियों ने अशोक की कीर्ति के जीते-जागते चिन्हों को अपनी आँखों से देखा, और अपने यात्रा-विवरणों में उनका उल्लेख किया। भारत के संघारामों में निवास करते हुए उन्होंने अशोक के जीवन वृत्तान्त के विषय में जो जानकारी प्राप्त की, उसे भी उन्होंने लेखबद्ध किया। यही कारण है कि मौर्य वंश के इतिहास के लिये चीनी यात्रियों के विवरणों का बहुत महत्त्व है। इन यात्रियों में तीन उल्लेखनीय हैं, फाहियान, सुंगयुन और ह्युएन्-त्सांग। फाहियान का जन्म चीन के शान-सी प्रान्त में वु-यांग नामक स्थान पर हुआ था। जब वह तीन वर्ष का था, उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित कर श्रमण बना दिया गया, और उस समय की प्रथा के अनुसार शाक्यपुत्र फाहियान कहा जाने लगा। चीन में रहते हुए उसने बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की, और अपने देश में अप्राप्य धर्मग्रन्थों की तलाश में उसने भारत की यात्रा का निश्चय किया। ३९९ ईस्वी में उसने भारत के लिये प्रस्थान किया, और १४ वर्ष तक वह इस देश में रहा। उसने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा है, वह जहाँ गुप्त युग की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दशा के परिज्ञान के लिये अत्यन्त उपयोगी है, वहाँ साथ ही उससे मौर्य इतिहास पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। फाहियान ने भारत की यात्रा करते हुए अशोक द्वारा निर्मित बहुत-से स्तूपों व संघारामों का अवलोकन किया था, और इस मौर्य वंशी राजा के सम्बन्ध में जानकारी भी प्राप्त की थी। इनका उल्लेख उसने अपने यात्रा-विवरण में किया है। सुंगयुन तुङ्ग-व्हा का निवासी था, और ५१८ ईस्वी में उसे वाई वंश की साम्राज्ञी ने श्रमण हुई-सांग के साथ महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों की खोज के लिये भारत भेजा था। भारत से वापस लौटते हुए ये चीनी यात्री १७० पुस्तकें अपने साथ चीन ले गये थे। सुङ्गयुन द्वारा लिखित भारत यात्रा का विवरण भी मौर्य इतिहास के लिये उपयोगी है। चीनी यात्रियों में ह्युएन्-त्सांग सबसे प्रसिद्ध है। वह होनान प्रान्त में चिन-लिउन नामक स्थान पर उत्पन्न हुआ था (६०३ ई० प०)। १३ वर्ष की आयु में उसने भिक्षु-व्रत ग्रहण किया, और २६ वर्ष की आयु में भारत यात्रा के लिये प्रस्थान किया। उसका उद्देश्य बौद्ध धर्म का अध्ययन और चीन में अप्राप्य धर्मग्रन्थों को एकत्र करना था। चीन

1. Edkins : Chinese Buddhism, p 108

की पश्चिमी सीमा को पार कर ह्युएन्-त्सांग वंक्षु नदी की घाटी में पहुँचा, जो उस समय बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। मध्य एशिया का पर्यटन करते हुए इस चीनी यात्री ने हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार किया, और भारत की यात्रा प्रारम्भ की। पश्चिम से पूर्व और उत्तर से दक्षिण——सर्वत्र भारत में इसने भ्रमण किया। सोलह साल वह भारत में रहा, और इस समय का उपयोग उसने बौद्धधर्म का अध्ययन करने और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के संग्रह में किया। चीन वापस लौटते हुए वह ६५७ पुस्तकों को अपने साथ ले गया। उसने अपनी भारत यात्रा का जो वृत्तान्त लिखा, वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। ह्युएन्-त्सांग जहाँ भी गया, वहाँ के दर्शनीय स्थानों का उसने विशद रूप से वर्णन किया है। वहाँ कितने विहार हैं, उनमें कितने भिक्षु निवास करते हैं, वहाँ के स्तूपों व संघारामों का निर्माण किसने और कब कराया, उनका सम्बन्ध किस ऐतिहासिक अनुश्रुति के साथ है——इन सब बातों का इस चीनी यात्री ने बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया है। क्योंकि राजा अशोक द्वारा बहुत-से स्तूपों, चैत्यों आदि का निर्माण कराया गया था, अतः स्वाभाविक रूप से इस मौर्य राजा तथा उसके वंश का इतिवृत्त ह्युएन्-त्सांग के यात्रा विवरण में पर्याप्त विशद रूप से विद्यमान है। ह्युएन्-त्सांग सातवीं सदी में भारत आया था। तब अशोक की मृत्यु हुए ८०० साल से भी अधिक समय हो चुका था। पर उस द्वारा निर्मित बहुत-से चैत्य, स्तूप व संघाराम तब भी सुरक्षित दशा में विद्यमान थे। अशोक-सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुश्रुति और उसकी कृतियों की आँखों देखी दशा का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये ह्युएन्-त्सांग का यात्रा विवरण एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

तिब्बत के निवासी भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। चीन के समान वहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रचार भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया, और अनेक भारतीय स्थविरों व विद्वानों ने वहाँ जाकर बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। जो बहुत-से बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ अब अपने मूल रूप में भारत में उपलब्ध नहीं होते, वे तिब्बती भाषा के अनुवादों के रूप में इस समय भी विद्यमान हैं। इनमें कतिपय ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनमें बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली ऐतिहासिक अनुश्रुति संकलित है। अशोक और उसके वंश का वृत्तान्त इन तिब्बती ग्रन्थों में भी पाया जाता है, और मौर्य इतिहास के लिये उसका उपयोग किया जा सकता है। अनेक आधुनिक विद्वानों ने तिब्बती साहित्य का अनुशीलन कर उस अनुश्रुति को संकलित करने का प्रयत्न किया है, जिसका सम्बन्ध बौद्धधर्म के साथ है। स्वाभाविक रूप से इस अनुश्रुति में राजा अशोक के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कथाएँ भी पायी जाती हैं, और उन्हीं द्वारा मौर्य वंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

(८) उत्कीर्ण लेख और अन्य अवशेष

मौर्य युग के बहुत-से उत्कीर्ण लेख और कृतियां (Monuments) इस समय भी विद्यमान हैं। राजा अशोक ने जिन सैकड़ों स्तूपों, विहारों, चैत्यों और संघारामों का निर्माण

कराया था, और जो सातवीं सदी तक भी सुरक्षित दशा में विद्यमान थे, वे अब नष्ट हो चुके हैं। पर उनके कतिपय अवशेष व खण्डहर अबतक भी पाये जाते हैं। दशरथ मौर्य द्वारा बनवायी हुई कुछ गुहाएँ भी इस समय विद्यमान हैं। उत्कीर्ण लेखों की दृष्टि से मौर्य युग के अवशेष अत्यन्त समृद्ध हैं। हमने इन सबका दो पृथक् अध्यायों में विशद रूप से वर्णन किया है, अतः इनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। निस्सन्देह, ये सब अवशेष मौर्य इतिहास के अनुशीलन के लिये बड़े महत्त्व के हैं।

पर मौर्य युग के उत्कीर्ण लेखों और अन्य अवशेषों के अतिरिक्त कतिपय अन्य भी ऐसे शिलालेख आदि हैं, जो मौर्य इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। कलिङ्ग के राजा खारवेल का जो लेख हाथीगुम्फा नाम की पर्वत गुहा पर उत्कीर्ण है, उससे मौर्य युग के ह्रास काल के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। मैसूर राज्य में श्रवण बेलगोल जैन धर्म का पवित्र तीर्थ है। वहाँ चन्द्रगिरि पर्वत पर अनेक ऐसे लेखों की सत्ता है, जिनका सम्बन्ध मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के साथ है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त ने चन्द्रगिरि पर्वत पर अनशन द्वारा प्राण त्याग किया था। इसी का वृत्तान्त इन लेखों में विद्यमान है। सौराष्ट्र में गिरनार शिला पर शक क्षत्रप रुद्रदामन का एक लेख उत्कीर्ण है, जिसमें मौर्य सम्राटों द्वारा बनवायी हुई सुदर्शन झील की मरम्मत की बात लिखी गई है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उत्कीर्ण लेख इस समय उपलब्ध हैं, जिनमें बाद के काल के मौर्यों के सम्बन्ध में सूचनाएँ पायी जाती हैं। हमने प्रसंगवश इन सबका इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है, अतः उन पर यहाँ पृथक् रूप से प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरा अध्याय

तिथिक्रम का निर्णय

(१) प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम की आधारशिला

वर्तमान समय में भारत में अनेक प्राचीन संवत् प्रचलित हैं, जिनमें विक्रम संवत् और शक संवत् प्रधान हैं। पर इन संवतों का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। प्राचीन साहित्य और शिलालेखों में कतिपय अन्य संवतों का भी प्रयोग किया गया है। पर उनके आधार पर विविध राजवंशों और राजाओं के पौर्वापर्य एवं काल का निर्धारण करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। बुद्ध और महावीर जैसे धर्मप्रवर्तकों का जन्म कब हुआ, कृष्ण किस समय में हुए, महाभारत का युद्ध कब हुआ, और चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त तथा विक्रमादित्य जैसे प्रतापी राजाओं का क्या काल था——इन सब प्रश्नों पर विद्वानों में मतभेद हैं। वस्तुतः, भारतीय इतिहास का तिथिक्रम एक विवादग्रस्त विषय है, और केवल प्राचीन साहित्य तथा शिलालेखों के आधार पर उसका निर्णय कर सकना बहुत कठिन है। मौर्य साम्राज्य के इतिहास में भी इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

भारत के निकट सम्पर्क में आकर पाश्चात्य विद्वानों ने जब संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया, तो उनका ध्यान पौराणिक अनुश्रुति के राजा चन्द्रगुप्त की ओर आकृष्ट हुआ। प्राचीन ग्रीक इतिहास से वे भली भाँति परिचित थे। उन्हें ज्ञात था, कि जब मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर आक्रमण किया, तो उसकी भेंट सेण्ड्राकोट्टस नामक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति से हुई थी। वे यह भी जानते थे, कि सिकन्दर के उत्तराधिकारी सैल्युकस ने पालिबोथ्रा के राजा सैण्ड्राकोट्टस के साथ एक सन्धि की थी। चन्द्रगुप्त और सैण्ड्राकोट्टस में ध्वनिसाम्य है, और पालिबोथ्रा तथा पाटलिपुत्र भी एक ही नगरी को सूचित करते हैं। निस्सन्देह, भारतीय तिथिक्रम के निर्णय के लिये यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योंकि इसके आधार पर राजा चन्द्रगुप्त के काल को सुनिश्चित रूप से निर्धारित किया जा सकता था। ग्रीक इतिहास के अनुसार सिकन्दर ने चौथी सदी ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था, अतः उसके समकालीन सैण्ड्राकोट्टस (चन्द्रगुप्त) का काल भी चौथी सदी ई० पू० में ही होना चाहिये। इस मत का प्रतिपादन सबसे पहले सर विलियम जोन्स द्वारा किया गया। २८ फरवरी, सन् १७९३ के दिन उन्होंने अपने इस 'आविष्कार' को बंगाल की रोयल एशियाटिक सोसायटी के सम्मुख इन शब्दों में प्रगट किया था——

"हिन्दुओं और अरबों का विधानशास्त्र मेरी गवेषणाओं का प्रमुख विषय है। अतः आप यह आशा नहीं कर सकते, कि ऐतिहासिक ज्ञान के सम्बन्ध में मैं कोई नवीन बात आपके सम्मुख उपस्थित कर सकूँ। इस क्षेत्र में मैं कभी-कभी ही कोई बात प्रस्तुत कर सकता हूँ। पर आज मैं एक 'आविष्कार' आपके सम्मुख रखने लगा हूँ, जो अकस्मात् ही मेरे ध्यान में आ गया है। इस पर मैं एक पृथक् निबन्ध में विशद रूप से प्रकाश डालूँगा, जिसे मैंने सोसायटी के चतुर्थ कार्यविवरण के लिये रख छोड़ा है। मैगस्थनीज़ ने जिस पालिबोथ्रा की यात्रा की थी और जिसका उसने वर्णन किया है, वह नगरी कहाँ स्थित थी, इसका निर्णय कर सकना बहुत कठिन समझा जाता रहा है। यह पालिबोथ्रा प्रयाग नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन काल में प्रयाग राजधानी नहीं रहा। इसे कान्यकुब्ज भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि पालिबोथ्रा और कान्यकुब्ज में ध्वनि साम्य नहीं है। इसे गौड़ या लक्ष्मणावती भी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि यह नगर बहुत प्राचीन नहीं है। यद्यपि पालिबोथ्रा और पाटलिपुत्र में बहुत कुछ साम्य है, और ग्रीक लोगों द्वारा वर्णित पालिबोथ्रा की परिस्थितियाँ भी पाटलिपुत्र की परिस्थितियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, तथापि इनका एक होना अब तक सुनिश्चित नहीं माना जा सकता था। इसका कारण यह है, कि पाटलिपुत्र सोन और गङ्गा नदियों के संगम पर स्थित था और ग्रीक लोगों की पालिबोथ्रा नगरी की स्थिति गंगा और एरानेबोअस नदियों के संगम पर थीं। श्री द एन्विल के अनुसार एरानेबोअस यमुना नदी का ही नाम है। इसी कठिनाई के कारण पालिबोथ्रा और पाटलिपुत्र को एक समझ सकना सम्भव नहीं था। पर अब यह समस्या हल हो गई है। इसका कारण यह है, कि दो हजार साल पुरानी एक पुस्तक में सोन नदी को हिरण्यबाहु लिखा गया है, और निस्सन्देह एरानेबोअस हिरण्यबाहु का ही रूपान्तर है, यद्यपि मैगस्थनीज़ ने असावधानता या अज्ञान के कारण इन दोनों को पृथक् रूप से लिखा है। इस आविष्कार के कारण एक अन्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाला जा सका है। यह है चन्द्रगुप्त और सेण्ड्राकोट्टस की एकता। सेण्ड्राकोट्टस के समान ही चन्द्रगुप्त भी जो पहले एक साहसिक सैनिक था, बाद में उत्तरी भारत का राजा बन गया था और उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया था। उसके दरबार में विदेशी राजदूत भी आते थे। निस्सन्देह, यह चन्द्रगुप्त वही सेण्ड्राकोट्टस है, जिसने कि सैल्युकस के साथ सन्धि की थी।[1]"

इस प्रकार सर विलियम जोन्स ने पौराणिक अनुश्रुति और प्राचीन भारतीय साहित्य के चन्द्रगुप्त मौर्य और ग्रीक विवरणों में सेण्ड्राकोट्टस को एक ही व्यक्ति प्रतिपादित किया, और पालिबोथ्रा को पाटलिपुत्र का रूपान्तर निर्धारित किया। इस स्थापना को विल्फोर्ड, मैक्समूलर आदि विद्वानों ने स्वीकृत कर लिया और अनेक प्रमाणों द्वारा इसकी पुष्टि की।

---

1. Asiatic Researches, Vol. iv. pp. 10-11

मैक्समूलर ने इसे भारतीय तिथिक्रम की आधारशिला मानते हुए यह लिखा कि "केवल एक ही साधन है जिससे भारतीय इतिहास को ग्रीस के इतिहास के साथ जोड़ा जा सकता है, और भारत के तिथिक्रम को सही रूप से निर्धारित किया जा सकता है। यद्यपि ब्राह्मणों और बौद्धों के साहित्य में सिकन्दर के आक्रमण का कहीं उल्लेख नहीं है और सिकन्दर के साथियों द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को भारत के ऐतिहासिक इतिवृत्त के साथ मिला सकना असम्भव है, तथापि प्राचीन लेखकों ने एक ऐसा नाम सुरक्षित छोड़ दिया है जो कि सिकन्दर की विजयों के तत्काल पश्चात् की घटनाओं की सही-सही व्याख्या कर देता है और जो पाश्चात्य तथा प्राच्य इतिहासों को मिलाने के लिये शृंखला का कार्य करता है। यह नाम है सेण्ड्राकोट्टस या सेण्ड्रोकिप्टस अथवा संस्कृत का चन्द्रगुप्त।[1]" इसी प्रसंग में आगे चलकर मैक्समूलर ने यह लिखा कि "जस्टिन, एरियन, डायोडोरस, सिक्युलस, स्ट्रेबो, क्विन्टस, कर्टियस और प्लुटार्क आदि प्राचीन लेखकों द्वारा हमें ज्ञात है कि सिकन्दर के समय गङ्गा के पूर्व के प्रदेशों पर एक *शक्तिशाली राजा का शासन था*, जिसका नाम क्सैन्ड्रमस था। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् शीघ्र ही सेण्ड्रोकोट्टस या सेण्ड्रोकिप्टस ने एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की।" इसके बाद मैक्समूलरने ग्रीक लेखकों के विवरणों में उल्लिखित सेण्ड्राकोट्टस की चन्द्रगुप्त के साथ एकता प्रतिपादित की है। विल्सन, लैस्सन आदि अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस मत को स्वीकार कर लिया, और सेण्ड्रोकोट्टस तथा चन्द्रगुप्त के एक होने की यह स्थापना प्राचीन भारतीय तिथिक्रम की आधारशिला बन गई। पौराणिक, बौद्ध और जैन ऐतिहासिक अनुश्रुतियों में प्राचीन राजवंशों की जो वंशावलियाँ दी गई हैं, उनके राजाओं के काल का इसी स्थापना के अनुसार निर्णय किया गया। ३२५ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, और ३२३ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। ये दो तिथियाँ भारत के प्राचीन इतिहास में सुनिश्चित मान ली गईं, और इन्हीं के आधार पर अन्य प्राचीन राजवंशों तथा राजाओं के काल का निर्णय किया जाने लगा। नन्द और शैशुनाग आदि जिन राजवंशों का उल्लेख पुराणों में मौर्य वंश से पहले किया गया है, उनका काल ३२३ ई० पू० से पूर्व निर्धारित किया गया, और शुङ्ग, कण्व, आन्ध्र आदि वंशों का मौर्यों के पश्चात्। पौराणिक अनुश्रुति में विविध राजवंशों और उनके राजाओं का कुल शासन-समय भी दे दिया गया है। अतः ३२३ ई० पू० को एक सुनिश्चित तिथि मान लेने के कारण भारतीय राजवंशों के तिथिक्रम को निर्धारित कर सकना बहुत सुगम हो गया। वर्तमान समय में भारत के प्राचीन इतिहास को लिखते हुए इसी तिथिक्रम को प्रामाणिक मान जाता है, और प्रायः सभी विद्वान् इसे तथ्य रूप से स्वीकार करते हैं।

---

1. Maxmuller : History of Sanskrit Literature, pp 141-143

(२) स्वीकृत तिथिक्रम पर विप्रतिपत्तियाँ

निस्सन्देह, सर विलियम जोन्स ने जो 'आविष्कार' बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के सम्मुख प्रस्तुत किया था, वह प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये एक महत्वपूर्ण क्रान्ति के रूप में था। चिर काल तक प्रायः सभी विद्वान् इसे एक सत्य स्थापना के रूप में स्वीकृत करते रहे। पर बाद में कतिपय विद्वानों ने इस पर विप्रतिपत्तियाँ उठाईं, और इसे स्वीकार कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं हुआ। इन विद्वानों में श्री. टी. एस. नारायण शास्त्री[1], श्री. एम. के. आचार्य[2] और श्री. टी. सुब्बाराव के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें श्री. नारायणशास्त्री ने सर विलियम जोन्स के मत पर अत्यन्त विशद रूप से विचार-विमर्ष किया है। उनकी सम्मति में सर जोन्स के मत में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) चन्द्रगुप्त मौर्य ने ३२३ ई० पू० में मगध का राजसिंहासन प्राप्त किया, यह मत प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक इतिवृत्त के अनुकूल नहीं है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार अब से कोई ५००० वर्ष पूर्व कलियुग का प्रारम्भ हुआ था। कलियुग में जिन राजवंशों और राजाओं ने भारत में शासन किया, उन सबका काल पुराणों में दिया हुआ है। इस वृत्तान्त के अनुसार चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि १५३५ ई० पू० है, ३२३ ई० पू० नहीं।

(२) जिस समय सर विलियम जोन्स ने अपना 'आविष्कार' विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत किया था, तब केवल मौर्य वंशी चन्द्रगुप्त का ही ऐतिहासिकों को परिज्ञान था। पर बाद में शिलालेखों के आधार पर गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त का भी पता लगा, और साहित्यिक अनुश्रुति द्वारा भी इस चन्द्रगुप्त की सत्ता प्रमाणित हो गई। भारतीय इतिवृत्त के अनुसार गुप्तवंश के इस चन्द्रगुप्त का काल ३२८ ई० पू० के लगभग पड़ता है। इस दशा में यह अधिक उपयुक्त होगा, कि ग्रीक विवरणों के सेण्ड्राकोट्टस को गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त माना जाए, न कि मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त।

(३) भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आन्ध्रवंश से पूर्व भारत पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुए। चन्द्रगुप्त मौर्य का काल आन्ध्रवंश से पहले है, और गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त का काल आन्ध्रवंश के बाद में। अतः स्वाभाविक रूप से यह मानना अधिक संगत होगा, कि सैल्युकस द्वारा जिस सैण्ड्राकोट्टस के साथ सन्धि किये जाने का उल्लेख ग्रीक विवरणों में पाया जाता है वह गुप्त वंशी चन्द्रगुप्त था, मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त नहीं।

---

1. Narayan Shastri : The Mistaken Greek Syncronism in Indian History (Appendix of the Age of Shankar).
2. Acharya : The Basie Blunder in Orientists' Reconstruction of Indian History.

(४) भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आन्ध्र वंश का अन्तिम राजा चन्द्रश्री था, जिसे राज्यच्युत कर चन्द्रगुप्त ने राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया था। ग्रीक विवरणों से सूचित होता है, कि क्सेण्ड्रमस नामक राजा को मारकर सैण्ड्राकोट्टस ने पालिबोथ्रा पर अधिकार किया था। यह निर्विवाद है कि मौर्य चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र के जिस राजा का उन्मूलन कर राज्य प्राप्त किया था, उसका नाम नन्द था। नन्द और क्सैण्ड्रमस में ध्वनि साम्य नहीं है। यद्यपि ग्रीक विवरण बहुत स्पष्ट नहीं हैं और उनमें परस्पर विरोधी बातें भी विद्यमान हैं, पर उन सब में उस राजा का नाम, जिसे मारकर सैण्ड्राकोट्टस ने एक नये राजवंश की स्थापना की थी, क्सेण्ड्रमस, एण्ड्रेमस या एण्ड्रेमन लिखा गया है। इस राजा को नन्द के साथ कदापि नहीं मिलाया जा सकता। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो गंगा नदी के पूर्ववर्ती प्रदेशों पर जिस शक्तिशाली राजा का शासन था, कतिपय ग्रीक विवरणों में उसका नाम सेण्ड्राकोट्टस लिखा गया है। ग्रीक विवरणों का सार यही है, कि सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय मगध के राजसिंहासन पर सेण्ड्राकोट्टस विराजमान था और इस राजा ने क्सेण्ड्रमस का घात कर राज्य प्राप्त किया था। यह ग्रीक विवरण कलियुगराजवृत्तान्त में उल्लिखित अनुश्रुति के सर्वथा अनुकूल है। कलियुगराजवृत्तान्त के अनुसार एक पार्वत्य राज्य का अधिपति 'गुप्त' नाम का राजा था, जिसके पौत्र चन्द्रगुप्त ने नेपाल के एक राजा की कन्या से विवाह कर अपने महत्त्व को बहुत बढ़ा लिया था। नेपाल के इस लिच्छवि राजा की सहायता से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र के आन्ध्रवंशी राजा चन्द्रश्री के राज्य में प्रवेश पा लिया, और वहाँ वह सेनापति के पद पर नियुक्त हो गया। बाद में उसने चन्द्रश्री का घात कर दिया, और उसके पुत्र पुलोमान के प्रतिभू (रीजेन्ट) के रूप में स्वयं राज्य का संचालन प्रारम्भ कर दिया। पर पुलोमान भी देर तक राजसिंहासन पर आरूढ़ नहीं रह सका। चन्द्रगुप्त ने पुलोमान की भी हत्या कर दी, और आन्ध्रवंश का उच्छेद कर राजगद्दी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। विजयादित्य की उपाधि धारण कर चन्द्रगुप्त ने सात साल तक मागध साम्राज्य का शासन किया। चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम समुद्रगुप्त था। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया, और म्लेच्छ सेनाओं की सहायता से चन्द्रगुप्त को मारकर स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यही बाद में 'अशोकादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[१]

कलियुगराजवृत्तान्त में विद्यमान गुप्त वंश की स्थापना का यह इतिवृत्त ग्रीक विवरणों से बहुत मिलता है। आन्ध्रवंशी राजा चन्द्रश्री को ग्रीक लेखकों ने क्सेण्ड्रमस नाम से लिखा है, जो सर्वथा संगत है। क्सेण्ड्रमस और चन्द्रश्री में ध्वनिसाम्य स्पष्ट है। इसी की हत्या कर सेण्ड्राकोट्टस या चन्द्रगुप्त ने मगध का राज्य प्राप्त किया था, और एक नये राजवंश की स्थापना की थी। पर यह चन्द्रगुप्त भी देर तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग नहीं कर सका

१. कलियुगराजवृत्तान्त ३।२

था। विदेशी म्लेच्छ सेनाओं की सहायता से इसके पुत्र ने अपने पिता का घात कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया था। श्रीनारायण शास्त्री के अनुसार ग्रीक विवरणों के सेण्ड्राकोट्टस और सेण्ड्राकिप्टस दो भिन्न व्यक्तियों को सूचित करते हैं। सेण्ड्राकोट्टस चन्द्रगुप्त था, और सेण्ड्राकिप्टस समुद्रगुप्त। जिस सेण्ड्राकिप्टस ने तक्षशिला में सिकन्दर के साथ भेंट की थी वह समुद्रगुप्त था, चन्द्रगुप्त नहीं। इसी समुद्रगुप्त ने म्लेच्छ (ग्रीक आदि) सेनाओं की सहायता से चन्द्रगुप्त की हत्या कर राजसिंहासन प्राप्त किया था। यही बाद में अशोकादित्य या अशोक के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और जिस राजा अशोक के बहुत-से उत्कीर्ण लेख इस समय पाये जाते हैं, और जिसने अपने समकालीन ग्रीक राजाओं का इन उत्कीर्ण लेखों में उल्लेख किया है, वह गुप्त वंशी अशोकादित्य था, मौर्यवंशी अशोक नहीं। अतः सर विलियम जोन्स आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित ग्रीक समसामयिकता (Greek Synchronism) अशुद्ध व भ्रामक आधारों पर आश्रित है। इसी के कारण भारतीय तिथिक्रम का जिस ढंग से प्रतिपादन इन विद्वानों ने किया है, उसे स्वीकार्य नहीं माना जा सकता।

श्री नारायण शास्त्री के अनुसार प्राचीन ग्रीक विवरण विश्वसनीय नहीं हैं। भारत के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ उनमें विद्यमान हैं, वे प्रायः अद्भुत तथा असंगत प्रकार की हैं। विशाल आकार की सोना खोदनेवाली पिपीलिकाओं (चीटियों) और इसी प्रकार की अन्य असम्भव बातों पर कौन विश्वास कर सकता है। यदि भारत के तिथिक्रम के निर्धारण के लिये विदेशी इतिहास का सहारा लेने की आवश्यकता समझी जाय, तो वह पर्शिया के प्राचीन इतिहास में विद्यमान है। श्री शास्त्री ने सर विलियम जोन्स की ग्रीक समसामयिकता के मुकाबले में एक पर्शियन समसामयिकता को स्थापित किया है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार भारत में विशाल मागध साम्राज्य का विकास हुआ था, वैसे ही हिन्दूकुश के पश्चिम के प्रदेशों में सुविस्तृत पर्शियन साम्राज्य का निर्माण एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस पर्शियन साम्राज्य का संस्थापक राजा कुरू या साइरस था, जिसका काल ५५८ से ५२९ ई० पू० तक माना जाता है। छठी सदी ई० पू० में पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में तीन राज्यों की सत्ता थी—बैबिलोन का राज्य, मीडिया का राज्य और असीरिया का राज्य। इन तीनों में संघर्ष चल रहा था। पर इसी समय एक नई राजशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने इन तीनों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। यह शक्ति पर्शिया के छोटे-से राज्य के राजा साइरस के रूप में थी। धीरे-धीरे साइरस ने पश्चिमी एशिया के अन्य सब राज्यों को जीत लिया, और वह एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में समर्थ हुआ। अपनी विजय-यात्राओं में साइरस ने काबुल के प्रदेश पर भी आक्रमण किया और उसे भी अपने अधीन कर लिया। हिन्दूकुश का समीपवर्ती यह प्रदेश उस समय भारत के अन्तर्गत था, और इसमें भारतीय भाषा, धर्म और संस्कृति की ही सत्ता थी। साइरस जो मीडिया, असीरिया आदि के पश्चिमी राज्यों को जीत सकने में समर्थ हुआ, उसमें गान्धार के भारतीय

सैनिकों का साहाय्य एक महत्त्वपूर्ण कारण था। ५५० ई० पू० तक साइरस ने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था, अतः यह वर्ष पर्शिया के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस वर्ष मीडियन राज्य का अन्त और पर्शियन साम्राज्य के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, अतः इससे पर्शिया में एक नये संवत् का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'शक संवत्' कहते हैं। हीरोडोटस ने लिखा है, कि पर्शिया के राजा काल की गणना के लिये इसी संवत् का प्रयोग किया करते थे। क्योंकि उत्तर-पश्चिमी भारत का इस पर्शियन साम्राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और साइरस ने इसके कतिपय प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित भी कर लिया था, अतः यह स्वाभाविक था कि इस क्षेत्र के भारतीय भी अपनी काल गणना इस नये पर्शियन (शक) संवत् से करने लगे, और भारत में भी यह प्रयुक्त होने लगे। भारत के लोग इस संवत् को 'शक काल' कहा करते थे। इसका कारण यह है, कि उनकी दृष्टि में पश्चिमी एशिया के प्रदेश शप्तद्वीप के अन्तर्गत थे। प्राचीन भारतीय अनुश्रुति के अनुसार सप्रद्वीपों में एक द्वीप शकद्वीप था, जिसमें प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया सम्मिलित था। मनु ने शकों को कम्बोजों, पह्लवों, पारदों और यवनों में विभक्त किया है। यद्यपि पश्चिमी एशिया के सब निवासी शक नहीं थे, और वहाँ पह्लव, यवन आदि अनेक जातियों का निवास था, पर भारत के निवासी उन सबके लिये शक संज्ञा को ही प्रयुक्त किया करते थे। इसीलिये उन्होंने साइरस आदि पर्शियन राजाओं को 'शकनृपति' कहा है। अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर साइरस ने जिस नये संवत् का प्रारम्भ किया था, उसी को भारत में 'शककाल' या 'शकनृपतिकाल' कहा जाता था। यह 'शक काल' 'शालिवाहनशक-काल' से भिन्न था। पर आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने इस तथ्य को न समझ कर भारत के तिथिक्रम के निर्धारण में अनेक भयंकर भूलें की हैं। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका की रचना ४२७ शक काल में की थी। शक काल को शालि-वाहन शाक मानकर विद्वानों ने वराहमिहिर का समय ५०५ ई० पू० माना, जो भारतीय अनुश्रुति के सर्वथा विपरीत है। क्योंकि वराहमिहिर राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक था, अतः विक्रमादित्य का काल भी छठी सदी ईस्वी में मान लिया गया है। अब यदि वराह-मिहिर का समय ४२७ शककाल (राजा साइरस द्वारा स्थापित शक संवत्) में माना जाए, तो उसका काल दूसरी सदी ई० पू० (५५०-४२७=१२३) में पड़ता है, जो सर्वथा संगत एवं भारतीय अनुश्रुति के अनुरूप है। आमराज के अनुसार वराहमिहिर की मृत्यु ५०९ शक (शक काल) में हुई थी।[1] शक काल का प्रारम्भ ५५० ई० पू० में मानने पर वराहमिहिर की मृत्यु की तिथि ४१ ई० पू० में पड़ती है। इस प्रकार वराहमिहिर १२३ से ४१ ई० पू० तक अवश्य जीवित थे। यही समय था, जब भारत में राजा विक्रमादित्य

---

१. **'नवाधिक पञ्चशतसंख्य शके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः ।'**
(खण्डखाद्य में भाउदाजी द्वारा उद्धृत)

का शासन था। वराहमिहिर और विक्रमादित्य दोनों का यही काल था। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार यही वात तथ्य पर आधारित है, क्योंकि विक्रम संवत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में हुआ था।

आधुनिक विद्वानों ने इसी प्रकार की भूल प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के काल के सम्वन्ध में भी की है। भास्कराचार्य के ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि से सूचित होता है, कि वे १०३६ शकनृपति काल में हुए थे। शकनृपतिकाल और शालिवाहन शाक को एक मानकर आधुनिक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि भास्कराचार्य का काल ११५० ई० पू० में था। पर इस मत में कठिनाई यह उपस्थित होती है, कि अलवरूनी ने अपने ग्रन्थों में भास्कराचार्य और उसके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अलबरूनी ने ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में भारत की यात्रा की थी, और वह प्रसिद्ध तुर्क आक्रान्ता महमूद गजनवी का समकालीन था। यदि भास्कराचार्य का काल बारहवीं सदी (११५० ई०) में माना जाए, तो अलवरूनी के लिये उसका उल्लेख करना सम्भव ही नहीं हो सकता। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस कठिनाई को अनुभव किया है। प्रो० वीवर ने लिखा है कि "मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ हूँ।" इसीलिये कतिपय विद्वानों ने यह माना है, कि भास्कराचार्य नाम के दो ज्योतिषी हुए थे। अलवरूनी ने जिस भास्कराचार्य का उल्लेख किया है, वह सिद्धान्त शिरोमणि के लेखक से भिन्न था। पर यह मत युक्तिसंगत नहीं है। यदि शकनृपति काल या शककाल को शालिवाहन शाक से भिन्न मान लिया जाए, तो यह समस्या स्वयं हल हो जाती है। शककाल का प्रारम्भ ५५० ई० पू० में हुआ था। अतः भास्कराचार्य का समय सातवीं सदी में पड़ता है, और उस दशा में अलवरूनी द्वारा उसका उल्लेख किया जाना सर्वथा युक्तिसंगत हो जाता है।

शक काल द्वारा भारत में काल गणना की जाती थी, इसका एक प्रमाण वराहमिहिर-संहिता में भी विद्यमान है। वहाँ राजा युधिष्ठिर के काल और शक काल में २५२६ वर्षों का अन्तर बताया गया है।[1] भारतीय अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव युधिष्ठिर का स्वर्गवास ३०७६ ई० पू० में हुआ था। ३०७६ में से २५२६ घटा देने पर ५५० शेष रह जाते हैं। वराहमिहिर ने युधिष्ठिर की मृत्यु और शक काल के प्रारम्भ में २५२६ वर्षों का जो अन्तर बताया है, उसके अनुसार शक काल का प्रारम्भ ५५० ई. पू. में माना जाना सर्वथा उचित है। यही समय था, जबकि राजा साइरस ने पर्शियन साम्राज्य की स्थापना की थी।

श्री नारायण शास्त्री के अनुसार प्राचीन भारत का प्रामाणिक इतिहास और तिथिक्रम विशुद्ध रूप से पौराणिक अनुश्रुति में सुरक्षित हैं। सब भारतीय विद्वान् कलियुग के प्रारम्भ को अब से प्रायः ५००० वर्ष पूर्व (३१०२ ई० पू० में) मानते रहे हैं। पाण्डव राजा

---

१. 'आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षट्द्विक् पञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥'

युधिष्ठिर के पश्चात् भारत में जिन राजवंशों ने शासन किया, उनका और उनके राजाओं का सही-सही शासनकाल भी पुराणों में दे दिया गया है। इसे स्वीकृत न कर नये तिथिक्रम का निर्धारण करने का प्रयत्न सर्वथा अयुक्तियुक्त है। प्राचीन भारत में अनेक संवतों का प्रचलन था, जिन में मुख्य निम्नलिखित थे—(१) कल्यब्द या कलियुग संवत्—प्रारम्भ ३१०२ ई० पू०। (२) शक काल या शकनृपति काल—प्रारम्भ ५५० ई० पू०। (३) श्री हर्ष काल–प्रारम्भ ४५७ ई० पू०। (४) विक्रम संवत्—प्रारम्भ ५७ ई० पू०। (५) शालिवाहन शाक–प्रारम्भ ७८ ई० पू०। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों और शिलालेखों में राजवंशों और राजाओं के शासनकाल का उल्लेख प्रायः इन्हीं संवतों में किया गया है। इस तथ्य की उपेक्षा करने के कारण पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय राजाओं के काल का निर्धारण करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। नेपाल के राजाओं की अनेक वंशावलियाँ इस समय उपलब्ध हैं। उनमें से अन्यतम पार्वतीय वंशावलि के अनुसार सूर्यवंश के सताईसवें राजा शिवदेव वर्मा का शासन काल २७६४ कल्यब्द के लगभग था। कल्यब्द का प्रारम्भ ३१०२ ई० पू० में मानने पर इस राजा का समय ३३८ ई० पू० में होता है। पर राजा शिवदेव वर्मा का एक दानपत्र भी उपलब्ध हुआ है, जिसमें ११९ हर्ष संवत् का उल्लेख है। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का काल सातवीं सदी में माना जाता है। यह राजा ६०६ ई० पू० के लगभग राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। इस आधार पर डा० फ्लीट ने यह प्रतिपादित किया, कि हर्ष संवत् का प्रारम्भ ६०६ ई० प० में होने पर शिवदेव वर्मा का काल ७२५ ई० पू० होना चाहिये, ३३८ ई० पू० नहीं। इसी कारण उन्होंने पार्वतीय वंशावलि के कालक्रम को अस्वीकार्य माना, और शिवदेव वर्मा का काल आठवीं सदी में निर्धारित किया। पर प्रश्न यह है, कि चीनी यात्री ह्युएन्-त्सांग के समकालीन राजा हर्षवर्धन द्वारा किसी नये संवत् का प्रारम्भ किया भी गया था या नहीं। चीनी या भारतीय किसी भी ग्रन्थ में इस हर्ष द्वारा किसी नये संवत् के चलाये जाने का उल्लेख नहीं हैं। कवि वाणभट्ट ने हर्ष का जो जीवन चरित्र 'हर्ष चरितम्' में विशद रूप से लिखा है, उमें भी इस राजा द्वारा किसी नये संवत् के प्रारम्भ किये जाने की बात नहीं लिखी गई हैं। वस्तुतः, किसी अधिक प्राचीन हर्ष नाम के राजा द्वारा हर्ष संवत् का प्रारम्भ किया गया था, जो विक्रम संवत् की अपेक्षा भी अधिक पुराना था। अलबरूनी के अनुसार भी हर्ष संवत् का प्रारम्भ विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पूर्व हुआ था, जो सर्वथा सही है। शिवदेव वर्मा के दानपत्र में यही हर्ष संवत् प्रयुक्त किया गया है। पार्वतीय वंशावलि में ठाकुरी वंश के प्रथम राजा अंशु वर्मा का शासनकाल ३००० कल्यब्द (१०२ ई० पू०) में प्रारम्भ हुआ था। इस राजा ने ६८ वर्ष (१०२-३४ ई० पू०) तक शासन किया। राजा विक्रमादित्य द्वारा अंशु वर्मा के शासनकाल में नेपाल यात्रा का उल्लेख भी पार्वतीय वंशावलि में विद्यमान है। राजा विक्रमादित्य पहली सदी ई० पू० में हुए थे, और उन्हीं के राज्यारोहण के वर्ष से विक्रम संवत् का ५७ ई० पू० में प्रारम्भ किया गया था। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार शिवदेव वर्मा और

अंशु वर्मा दोनों का जो समय पार्वतीय वंशावलि में दिया गया है, वह सर्वथा सही है। उसे अशुद्ध मानने का कोई कारण नहीं है।

भारतीय इतिवृत्त के अनुसार विविध राजवंशों का जो शासन काल है, वह श्री नारायण शास्त्री के अनुसार निम्नलिखित है--

प्रद्योत वंश	२१३३ ई० पू०	से	१९९५ ई० पू०	तक
शैशुनाग वंश	१९९५ ई० पू०	से	१६३५ ई० पू०	तक
नन्द वंश	१६३५ ई० पू०	से	१५३५ ई० पू०	तक
मौर्य वंश	१५३५ ई० पू०	से	१२१९ ई० पू०	तक
शुङ्ग वंश	१२१९ ई० पू०	से	९१९ ई० पू०	तक
कण्व वंश	९१९ ई० पू०	से	८३४ ई० पू०	तक
आन्ध्र वंश	८३४ ई० पू०	से	३२८ ई० पू०	तक
गुप्त वंश	३२८ ई० पू०	से	८३ ई० पू०	तक

इस *तिथिक्रम के अनुसार* जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर गुप्तवंशी राजाओं का शासन विद्यमान था। ग्रीक विवरणों में मगध के जिस राजा क्सैण्ड्रमस का उल्लेख है, वह गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त ही था, जिसने कि आन्ध्रवंश के राजा चन्द्रश्री की हत्या कर पहले चन्द्रश्री के पुत्र पुलोमान् के प्रतिभू के रूप में शासन किया, और फिर पुलोमान् को भी मारकर स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जिस सेण्ड्रोकिप्टस ने तक्षशिला में सिकन्दर से भेंट की थी, वह चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त था। इसी समुद्रगुप्त ने बाद में विदेशी म्लेच्छ सेनाओं की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया, और अपने पिता का घात कर मागध साम्राज्य को अधिगत कर लिया। यह मत स्वीकार कर लेने पर ग्रीक विवरणों और भारतीय इतिवृत्त में संगति बिठा सकना भी सर्वथा सम्भव हो जाता है। विक्रम संवत् का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, इस प्रश्न पर ऊहापोह करने की आवश्यकता भी इस दशा में नहीं रह जाती, क्योंकि भारतीय अनुश्रुति के अनुसार इस संवत् का प्रारम्भ राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा किया गया था। यह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य गुप्तवंशी सम्राट् था, और इस वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त से भिन्न था। इसी कारण इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय कहा जाता है। गुप्त वंश के शासनकाल में जिन विविध विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण करने प्रारम्भ किये थे, और जिन्हें प्राचीन भारतीय सामूहिक रूप से 'शक' कहा करते थे, इस चन्द्रगुप्त ने उन्हें परास्त कर 'शकारि' की उपाधि धारण की थी। निस्सन्देह, श्री नारायण शास्त्री की स्थापना को सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

(३) विवेचना

श्री नारायण शास्त्री ने प्राचीन भारतीय इतिहास के जिस तिथिक्रम का निर्धारण किया है, उसे स्वीकार करने में कतिपय कठिनाइयाँ भी हैं। प्रथम कठिनाई राजा अशोक

के सम्बन्ध में है। अशोक के जो बहुत-से उत्कीर्ण लेख इस समय उपलब्ध हुए हैं, उनमें अनेक यवन (ग्रीक) राजाओं का उल्लेख है। ये राजा अशोक के समकालीन थे, और इनके राज्यों में अपने धर्मविजय के संदेश को पहुँचाने के लिए उसने अन्त-महामात्रों की नियुक्ति की थी। अन्तियोक (एण्टिगोनस), तुरमय (टाल्मी), अलिकसुन्दर (एलेग्जैण्डर) आदि इन राजाओं का काल ग्रीक इतिहास के अनुसार सुनिश्चित है। ये ग्रीक राजा तीसरी सदी ई० पू० में हुए थे। अतः अशोक का काल भी तीसरी सदी ई० पू० में ही मानना चाहिये। यदि मौर्यवंशी अशोक का काल पन्द्रहवीं सदी ई० पू० में माना जाए, तो इस दोष का निराकरण कर सकना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि उस काल में पाश्चात्य जगत् में इन नामों के कोई राजा नहीं हुए। श्री नारायण शास्त्री ने इस समस्या का हल करने का प्रयत्न यह प्रतिपादित करके किया है, कि प्राचीन भारतीय इतिहास में अशोक नाम के अनेक राजा हुए थे। एक अशोक मौर्य वंश का था, जिसका उल्लेख पुराणों में विद्यमान है। दूसरा अशोक गुप्त वंश में हुआ था, जो गुप्त वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का पुत्र था। यह समुद्रगुप्त भी कहाता था, और कलियुगराजवृत्तान्त में इसे 'अशोकादित्य' भी कहा गया है। तीसरे अशोक का वर्णन कल्हण द्वारा विरचित राजतरङ्गिणी में मिलता है। यह अशोक गोनन्द वंश का था, और इसके पितामह का नाम शकुनि था। इसने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, और बहुत-से स्तूपों, चैत्यों, विहारों और संघारामों का निर्माण कराया था। काश्मीर की राजधानी श्रीनगर की स्थापना भी इसी अशोक द्वारा की गई थी। इसके शासन काल में एवं उससे पूर्व विदेशी म्लेच्छ जातियों के आक्रमण भी भारत के क्षेत्र में प्रारम्भ हो गये थे, और इनसे अपने राज्य की रक्षा करने के प्रयोजन से इस अशोक ने 'भूतेश' की आराधना कर जलोक नामक पुत्र को प्राप्त किया था। अशोक नाम के जिस राजा के उत्कीर्ण लेख इस समय प्रायः सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं, सम्भवतः वह यही अशोक था। राजतरङ्गिणी में इस अशोक द्वारा जिन (बुद्ध) के शासन को स्वीकार कर लेने और बहुत-से चैत्यों का निर्माण करने का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। यह सही है, कि बौद्ध इतिवृत्त के अनुसार बौद्धधर्म का संरक्षक व प्रसारक अशोक मौर्य वंश का था। पर इस सम्बन्ध में बौद्ध इतिवृत्त को पूर्णतया विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। श्री नारायण शास्त्री के अनुसार बौद्ध इतिवृत्त में दो अशोकों को परस्पर मिला दिया गया है। जिस अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर उसके प्रचार में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा दिया था, वह चक्रवर्ती सम्राट् नहीं था, और जिस अशोक का साम्राज्य अत्यधिक विशाल था वह बौद्ध नहीं था। पर इस युक्ति-परम्परा द्वारा अशोक-सम्बन्धी समस्या का समाधान नहीं होता। जिस अशोक के बहुत-से शिलालेख इस समय पाये जाते हैं, निस्सन्देह वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था और उसका साम्राज्य प्रायः सम्पूर्ण भारत में विस्तृत था। अशोक के शिलालेखों द्वारा उसके साम्राज्य की सीमाओं का परिज्ञान प्राप्त कर सकना कठिन नहीं है। उनमें साम्राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों और सीमान्त पर विद्यमान राज्यों का भेद स्पष्ट

रूप से उल्लिखित कर दिया गया है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि बौद्ध धर्म का अनुयायी राजा अशोक एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। राजतरङ्गिणी में जिस अशोक का उल्लेख किया गया है, यदि उसे मौर्य अशोक से भिन्न समझा जाए, तो उसे एक विशाल साम्राज्य का स्वामी मान सकना कदापि सम्भव नहीं होगा। गुप्तवंशी समुद्रगुप्त (अशोकादित्य) का साम्राज्य अवश्य अत्यन्त विस्तृत था। पर वह बौद्ध नहीं था। उसने अपनी दिग्विजयों के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ का भी अनुष्ठान किया था, जो कोई बौद्ध सम्राट् कदापि नहीं कर सकता था। समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में जो शिलालेख उपलब्ध हैं वे संस्कृत में हैं, जबकि बौद्ध अशोक के लेख पालि भाषा में हैं। इस दशा में धर्म विजय की स्थापना के लिये प्रयत्नशील अशोक की गुप्तवंशी समुद्रगुप्त से एकता प्रतिपादित कर सकना भी असम्भव है। राजतरङ्गिणी में जिस अशोक का उल्लेख है, वह वस्तुतः मौर्यवंशी अशोक ही है। अत्यन्त प्राचीन काल के सम्बन्ध में राजतरङ्गिणी के वृत्तान्त पूर्णतया प्रामाणिक नहीं हैं। काश्मीर में जिन राजाओं ने पौर्वापर्य क्रम से शासन किया, उनका उल्लेख कल्हण ने क्रमशः कर दिया। जब काश्मीर मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया, और वहाँ मौर्य वंश के राजा शासन करने लगे, तो इस वंश के उन राजाओं को भी राजतरङ्गिणी में उल्लिखित कर दिया गया, जिनका शासन काश्मीर पर विद्यमान था। अशोक का शकुनि के प्रपौत्र के रूप में उल्लेख सम्भवतः भ्रमवश है। श्री. नारायण शास्त्री के मन्तव्य में जो कठिनाई राजा अशोक द्वारा प्रस्तुत होती है, उसका संतोषजनक रीति से निवारण कर सकना वस्तुतः असम्भव है।

श्री. नारायण शास्त्री द्वारा प्रतिपादित तिथिक्रम को स्वीकार करने में एक अन्य कठिनाई यह है, कि बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के साथ उसकी संगति नहीं बैठती है। पुराणों के समान प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्यों में भी विविध राजवंशों और राजाओं का इतिवृत्त संकलित है, और सम्भवतः यह पौराणिक अनुश्रुति की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं प्रामाणिक है। जैन अनुश्रुति के अनुसार अवन्ति का राजा पालक वर्धमान महावीर का समकालीन था, और वह उसी रात्रि में राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, जिसमें कि महावीर का निर्वाण हुआ था। पालक का शासन काल ६० वर्ष था, और उसके पश्चात् १५५ वर्ष नन्द वंश के राजाओं ने शासन किया। अन्तिम नन्द राजा को मार कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने राज्य की प्राप्ति की। इस प्रकार महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त का शासन प्रारम्भ हुआ। मौर्य वंश के राजाओं और उनके उत्तराधिकारी अन्य राजवंशों के शासन-काल का उल्लेख कर अन्त में जैन साहित्य में यह प्रतिपादित किया गया है, कि महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् का प्रारम्भ हुआ। विक्रम संवत् ५७ ई० पू० में शुरू हुआ था, और इस प्रकार महावीर के निर्वाण का वर्ष ५२७ ई० पू० होता है। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति और धवला आदि जैन ग्रन्थों के अनुसार महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद शक राजा हुआ था, जिससे कि शाक सम्वत्सर का प्रारम्भ हुआ था। इस शाक सम्वत्सर और

ईस्वी सन् में ७८ वर्षों का अन्तर है। यदि महावीर के निर्वाण वर्ष को शाक संवत्सर से ६०५ वर्ष पूर्व माना जाए, तो भी उनका निर्वाण वर्ष ५२७ ई० पू० ही निश्चित होता है। जैन अनुश्रुति में भी महावीर के निर्वाण-काल के सम्बन्ध में कतिपय मतभेद विद्यमान हैं, पर ये भेद कुछ वर्षों के ही हैं। जो भी विविध मत इस विषय में पाये जाते हैं, उन सबके अनुसार महावीर का काल छठी सदी ई० पू० में निर्धारित होता है। केवल राजाओं की वंशावलियों द्वारा ही नहीं, अपितु धार्मिक आचार्यों की जिस परम्परा का जैन साहित्य में उल्लेख है, उस द्वारा भी महावीर के निर्वाण काल के विषय में इसी मत की पुष्टि होती है। महावीर के पश्चात् जो केवली, श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधारी, अंगधारी और एकाङ्गधारी जैन मुनि हुए, उन सबके वृत्तान्त एवं काल भी जैन साहित्य में उल्लिखित हैं। प्रसंगवश इन मुनियों के साथ समकालीन राजाओं का भी जैन ग्रन्थों में उल्लेख पाया जाता है। इस आधार पर जब महावीर के काल पर विचार किया जाता है, तब भी यही परिणाम निकलता है कि महावीर का काल छठी सदी ई० पू० में था। अब यदि महावीर के काल को छठी सदी ई० पू० में स्वीकार कर लिया जाय, तो इस बात में कोई सन्देह *नहीं रह जाता* कि चन्द्रगुप्त मौर्य का समय चौथी सदी ई० पू० में होना चाहिए। जैन अनुश्रुति के अनुसार अनेक मौर्य राजा जैन धर्म के अनुयायी थे,अतः इस वंश का जैसा विशद वृत्तान्त जैन साहित्य में विद्यमान है, वैसा पौराणिक साहित्य में नहीं है। श्री. नारायण शास्त्री के मन्तव्य के सम्बन्ध में यह एक ऐसी समस्या है, जिसका समाधान कर सकना सुगम नहीं है।

महात्मा बुद्ध वर्धमान महावीर के समकालीन थे। बौद्ध साहित्य में बुद्ध का जो जीवन-वृत्तान्त दिया गया है, उससे सूचित होता है कि जब बुद्ध शाक्यों के राज्य में जा रहे थे तो उन्हें यह सूचना मिली कि पावापुरी में महावीर का निर्वाण हो गया है। इसके कुछ समय बाद तक बुद्ध जीवित रहे, और ४८६ ई० पू० के लगभग उन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त की। बुद्ध के निर्वाण-काल के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। कतिपय विद्वानों ने उनका निर्वाणकाल ५४३ ई० पू० में प्रतिपादित किया है, कुछ ने ४८६ ई० पू० में और कुछ ने ४८३ ई० पू० में। इन मतों पर विचार विमर्श करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। पर सब विद्वान् इस बात पर सहमत हैं, कि बुद्ध का काल भी छठी सदी ई० पू० में ही था। बौद्ध धर्म का साहित्य लंका, चीन, बरमा आदि विदेशों में भी विद्यमान है। चीन में तो एक ऐसे रिकार्ड की भी सत्ता है, जिससे बिन्दुओं द्वारा बुद्ध के काल का परिगणन किया गया है। चीनी रिकार्ड के अनुसार बुद्ध का निर्वाण वर्ष ४८६ ई० पू० में ठहरता है, जो मत अधिक संगत है। क्योंकि राजा अशोक बुद्ध धर्म का अनुयायी था और उसने तथागत के अष्टाङ्गिक धर्म के प्रचार के लिये अनुपम उद्योग किया था, अतः बौद्ध साहित्य में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि इस राजा ने बुद्ध के निर्वाण के कितने समय पश्चात् मगध का राज्य प्राप्त किया। दीपवंसो के अनुसार अशोक ने बुद्ध के निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् राज्य की प्राप्ति की थी, और २१८ वर्ष बाद उसका राज्याभिषेक हुआ था। यदि बुद्ध के

निर्वाण काल को ४८६ ई० पू० में माना जाए, तो अशोक की राज्यप्राप्ति का वर्ष २७२ ई० पू० निर्धारित होता है, और राज्याभिषेक का २६८ ई० पू० । इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के अनुसार मौर्य वंश के प्रारम्भ को चौथी सदी ई० पू० से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता, और श्री नारायण शास्त्री द्वारा इस वंश के काल को जो सोलहवीं सदी ई० पू० में प्रारम्भ हुआ निश्चित किया गया है, वह स्वीकार्य नहीं हो सकता ।

यद्यपि श्री नारायण शास्त्री द्वारा स्थापित मत सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है, पर ऐतिहासिक शोध की वर्तमान दशा में उसे मान्य समझ सकना कठिन है। इसी कारण इस ग्रन्थ में हमने विद्वानों द्वारा अभिमत मन्तव्य के अनुसार ही मौर्य राजाओं के तिथिक्रम को स्वीकार किया है।

तीसरा अध्याय

मागध साम्राज्य का विकास

(१) प्राचीन भारत में साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति

प्राचीन काल में भारत में वहुत-से छोटे-वड़े राज्यों की सत्ता थी। मगध के प्रतापी और विजिगीषु राजाओं ने इन सवको जीत कर अपने अधीन किया, और भारत के बहुत वड़े भाग में एक विशाल तथा शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। मौर्य वंश के शासन काल में मगध का यह साम्राज्य अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गया था। चन्द्रगुप्त और विन्दुसार जैसे मौर्य राजा अत्यन्त वीर थे, पर मगध के विशाल साम्राज्य के निर्माण का सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं को नहीं दिया जा सकता। उनसे पूर्व भी *मगध के वार्हद्रथ, शैशुनाग,* नन्द आदि राजवंशों के राजा अन्य राज्यों को जीत कर एक शक्तिशाली साम्राज्य के निर्माण के लिये तत्पर थे, और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई थी। मगध के इस उत्कर्ष को भली भाँति समझने के लिये मौर्यों से पूर्व के इतिहास का भी संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

भारत के प्राचीनतम राजवंशों में अयोध्या का ऐक्ष्वाकव (सूर्य) वंश, प्रतिष्ठान का ऐल वंश और हस्तिनापुर का भारत वंश सर्वप्रधान थे। ऐक्ष्वाकव वंश में मान्धाता नाम का एक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ था, जिसे पुराणों में 'चक्रवर्ती और सम्राट्' कहा गया है। उसके सम्वन्ध में पौराणिक अनुश्रुति में कहा गया है, कि सूर्य जहाँ से उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, वह सम्पूर्ण प्रदेश मान्धाता के शासन में था। मान्धाता के वंश में ही दिलीप, भगीरथ और रघु जैसे राजा हुए, जो वड़े प्रतापी थे। रघु के दिग्विजय का विशद वर्णन महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश में किया है। रामचन्द्र भी इसी ऐक्ष्वाकव वंश में उत्पन्न हुए थे। ऐल वंश के राजाओं में कार्तवीर्य अर्जुन महान् विजेता था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसने दक्षिण में नर्मदा नदी से लेकर उत्तर में हिमालय तक विजय की थी। हस्तिनापुर के भारतवंशी राजाओं में दुष्यन्त और भरत वड़े प्रतापी थे। भरत को भी चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् कहा गया है। पश्चिम में सरस्वती नदी से प्रारम्भ कर पूर्व में अयोध्या के समीप तक के सब प्रदेश भरत के सीधे शासन में थे, और उत्तर भारत के अन्य बहुत-से राजा उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। अनेक विद्वानों का मत है, कि हमारे देश का भारत नाम भी इस राजा भरत के नाम पर ही पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन काल में भारत में वहुत-से ऐसे राजा हुए, जिन्होंने कि पड़ौस के अन्य राज्यों को जीत कर चक्रवर्ती और सम्राट् के पद प्राप्त किये थे।

ऐतरेय ब्राह्मण में काषवेय तुर, साहदेव्य, सोमक, साञ्जय, सहदेव, वैदर्भ भीम, गान्धार नग्नजित्, वभ्रु, सुदास आदि वहुत-से राजाओं के नाम देकर उनके विषय में यह कहा है कि ये सव राजा सब दिशाओं से वलि (कर, भेंट, उपहार) ग्रहण करते हुए आसुरादित्य के समान श्री से प्रतिष्ठापित थे। इसी प्रकार मैत्रायणी उपनिषद् में सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्वरीश, स्वर्याति, भरत आदि वहुत-से राजाओं के नाम देकर उनके लिये 'महाधनुर्धर' और 'चक्रवर्ती' विशेपणों का प्रयोग किया है। इनमें से अनेक राजा ऐसे भी हैं, जिनके विषय में पौराणिक अनुश्रुति द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। प्राचीन भारत में प्रत्येक शक्तिशाली राजा की यह महत्त्वाकांक्षा होती थी, कि राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर चक्रवर्ती और सम्राट् पदों को प्राप्त करे। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"राजा के लिये ही राजसूय है। राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान से ही राजा वनता है।" जो राजा सम्राट् का पद प्राप्त करना चाहे, उसके लिये वाजपेय यज्ञ का विधान था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार *"वाजपेय से सम्राट् वनता* है। राज्य हीन है, साम्राज्य श्रेष्ठ है। राजा सम्राट् वनने की कामना करे।" सार्वभौम और चक्रवर्ती का पद प्राप्त करने के लिये अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। इस यज्ञ में यज्ञीय अश्व को विविध आभूषणों द्वारा अलंकृत करके खुला छोड़ दिया जाता था। अश्व के साथ-साथ सेना चलती थी। यदि कोई राजा इस अश्व की गति को रोकने का प्रयत्न करता, तो सेना युद्ध द्वारा उसे परास्त करती थी। जव यज्ञीय अश्व सव दिशाओं का परिभ्रमण कर वापस लौट आता, तो विजयी राजा ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा सार्वभौम व चक्रवर्ती पद को प्राप्त करता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरु, पाञ्चाल, कोशल आदि के अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ के अनन्तर ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा यह सार्वभौम पद प्राप्त किया था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार कुरु के भारतवंशी राजा जनमेजय, शतानीक सत्रजित्, यधांश्रौष्टि और दौष्यन्ति भरत ने तथा पाञ्चाल के राजा पैजवन सुदास और दुर्मुख ने सार्वभौम पद की प्राप्ति की थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार परीक्षित के वंशज जनमेजय, भीमसेन, उग्रसेन, श्रुतसेन तथा दौष्यन्ति भरत और शतानीक सत्रजित् कुरुदेश के ऐसे राजा थे, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर सार्वभौम चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया था। कुरु के राजाओं के अतिरिक्तशतपथ ब्राह्मण में पाञ्चाल (यथा क्रैव्य और सत्रासाह), मत्स्य (यथा द्वैतवन ध्वसन) और कोशल (यथा पुरुकुत्स) के भी अनेक राजाओं का उल्लेख है, जो अश्वमेध यज्ञ द्वारा सार्वभौम पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि भारत के अत्यन्त प्राचीन इतिहास में भी वहुत-से ऐसे राजा हुए, जिन्होंने कि अन्य राजाओं को जीत कर और उनसे अधीनता स्वीकार कराके सार्वभौम पद को प्राप्त किया था। प्राचीन साहित्य में इन राजाओं के लिये प्राय: चक्रवर्ती और सार्वभौम शब्दों का प्रयोग किया गया है, सम्राट् शब्द का नहीं। भारत के ये राजा अन्य राज्यों को

जीत कर अपनी सार्वभौम सत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य करते थे, पर परास्त राजाओं का मूलोच्छेद नहीं करते थे। वे अन्य राज्यों की स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता को नष्ट करना आर्य मर्यादा के विरुद्ध मानते थे, और उनसे अधीनता स्वीकृत करा लेना ही पर्याप्त समझते थे। आर्य राजाओं के साम्राज्यवाद का यही रूप था।

पर भारत के कतिपय जनपदों में एक अन्य प्रकार के साम्राज्यवाद का भी विकास हो रहा था। मगध, अंग और बंग सदृश प्राच्य राज्यों के राजाओं में यह प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी, कि वे अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकृत कराके ही संतुष्ट न हो जाएँ, अपितु उनका मूलोच्छेद करके उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लें। महाभारत के समय में मगध का जरासन्ध इसी प्रकार का राजा था, जो अन्य राजाओं का मूलोच्छेद कर अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने में तत्पर था। महाभारत में संकलित एक अनुश्रुति के अनुसार "जिस प्रकार सिंह महाहस्तियों को पकड़ कर गिरिराज की कन्दरा में वन्द कर देता है, उसी प्रकार जरासन्ध ने राजाओं को परास्त कर उन्हें गिरिव्रज में कैद कर रखा था। राजाओं के द्वारा यज्ञ करने की इच्छा से (*यज्ञ में राजाओं की* वलि देने की इच्छा से) उस जरासन्ध ने अत्यन्त कठोर तप करके उमापति महादेव को संतुष्ट किया था, और एक-एक करके राजाओं को परास्त कर अपने पास कैद कर लिया था।"

जरासन्ध का पूर्ववर्ती मागध राजा दीर्घ भी अन्य राजाओं का उच्छेद कर अपने साम्राज्य का विकास करने में तत्पर था। महाभारत में उसके सम्बन्ध में यह लिखा है, कि उसने वहुत-से राजाओं को हानि पहुँचायी हुई थी, वहुत-से महीप उससे नुकसान उठाये हुए थे, और इसी कारण उसे अपने वल का वहुत घमण्ड था।

मगध सदृश प्राच्य जनपदों की साम्राज्य-विस्तार-सम्बन्धी इस प्रवृत्ति का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में भी विद्यमान है। वहाँ लिखा है—प्राच्य दिशा में प्राच्यों के जो राजा हैं, उनका अभिषेक साम्राज्य के लिये ही होता है। अभिषिक्त होने पर ही वे सम्राट् कहाते हैं। महाभारत के समय के दीर्घ और जरासन्ध इसी प्रकार के मागध राजा थे, जिन्होंने कि सम्राट् पद प्राप्त किया हुआ था। चक्रवर्ती और सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिये तो भारत के सभी आर्य राजा प्रयत्नशील रहा करते थे, पर सम्राट् पद की प्राप्ति प्राच्य राजाओं की ही विशेषता थी। वस्तुतः, मगध के राजाओं ने भारत के इतिहास में एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का प्रारम्भ किया था, जो कि आर्य मर्यादा के विपरीत था। मगध में यह प्रवृत्ति किन कारणों से विकसित हुई, इस प्रश्न पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर विचार करेंगे। पर यह सुनिश्चित है, कि जरासन्ध और उसके समय से पूर्व ही मगध में साम्राज्य की जो प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, उसी के परिणाम स्वरूप मौर्य वंश के राजा भारत में एक अत्यन्त विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य के निर्माण में सफल हो सके थे।

(२) बौद्ध काल के सोलह महाजनपद

महाभारत के समय में अन्धक-वृष्णि संघ के 'संघ-मुख्य' कृष्ण की प्रेरणा से इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों द्वारा जरासन्ध की शक्ति का अन्त किया गया था। जरासन्ध के मरते ही उसका शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर का साहाय्य पाकर वे अधीनस्थ राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये, जो पहले मगध के अधीन थे। महाभारत के युद्ध के वाद कई सदियों तक मगध की राजशक्ति विशेष प्रवल नहीं हो सकी। बौद्ध युग में एक वार फिर मगध की शक्ति का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, जो मौर्य राजाओं के शासन काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। मगध के इस उत्कर्ष को भली भाँति समझने के लिये बौद्ध युग के अन्य राज्यों को भी दृष्टि में रखना होगा। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख किया गया है। प्राचीन भारत में जो वहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, उन्हें 'जनपद' कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध युग तक भारत के वहुत-से पुराने जनपदों की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता का अन्त हो गया था, और उनका स्थान सोलह शक्तिशाली जनपदों ने ले लिया था, जो अव 'महाजनपद' कहलाने लगे थे। बौद्ध साहित्य के ये सोलह महाजनपद निम्नलिखित थे—अंग, मगध, काशी, कोशल, वृजि (वज्जि), मल्ल, वत्स, चेदि, पांचाल, कुरु, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार और कम्वोज। इन महाजनपदों में से कुछ (जैसे अंग, मगध, काशी, कोशल, वत्स, चेदि, कम्वोज और अवन्ति) में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, और कुछ (जैसे वृजि, मल्ल, पांचाल, कुरु, कम्वोज आदि) में गणतन्त्र शासनों की सत्ता थी। इनमें मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति के राज्य सवसे अधिक शक्तिशाली थे। बौद्ध युग के राजनीतिक इतिहास की सवसे महत्त्वपूर्ण घटना यह है, कि मगध के राजा इनमें से वहुत-से महाजनपदों को जीत कर अपने अधीन कर सकने में समर्थ हुए, और इस प्रकार उन्होंने विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना के लिये मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

बौद्ध युग के इन सोलह महाजनपदों की भौगोलिक स्थिति और उनकी राजनीतिक दशा का संक्षिप्त परिचय मागध साम्राज्य के विकास की प्रक्रिया को समझने के लिये उपयोगी है।

(१) **अङ्ग**—इस महाजनपद की स्थिति मगध के ठीक पूर्व में थी। मगध और अङ्ग के बीच में चम्पा नदी वहती थी, जो इन दोनों जनपदों की सीमा का कार्य करती थी। अंग की राजधानी का नाम भी चम्पा था, जिसे उस समय भारत के छः वड़े नगरों में गिना जाता था। चम्पा नगरी पूर्वी देशों के व्यापार का वड़ा केन्द्र थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक प्रदेशों में भारतीयों ने जो उपनिवेश वाद की सदियों में बसाये थे, उनमें भी अंग और चम्पा के निवासियों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। दक्षिणी अनाम के क्षेत्र में भारतीयों के एक उपनिवेश का नाम ही चम्पा था। निस्सन्देह, अंग जनपद की राजधानी के नाम पर ही उसका यह नाम रखा गया था।

मगध और अङ्ग जनपदों की सीमा मिलती थी, अतः उनमें परस्पर संघर्ष होना स्वाभाविक था। अङ्ग भी एक प्राच्य जनपद था, और उसमें भी साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति विद्यमान थी। वहाँ भी अनेक ऐसे राजा हुए, जिन्होंने कि पड़ौस के राज्यों को जीत कर अपने अधीन करने का प्रयत्न किया। विधुर पण्डित जातक में राजगृह को अंग जनपद के अन्यतम नगर के रूप उल्लिखित किया गया है। राजगृह मगध की राजधानी था। उसका अङ्ग के अन्यतम नगर के रूप में उल्लिखित किया जाना यह सूचित करता है, कि किसी समय अङ्ग के राजाओं ने मगध को भी जीत लिया था। पर अङ्ग न देर तक मगध को अपने अधीन रख सका, और न अपनी स्वतन्त्र सत्ता को ही कायम रख सका। छठी सदी ई० पू० के मध्य तक अङ्ग मगध की अधीनता में आ चुका था। वहाँ का अन्तिम राजा ब्रह्मदत्त था, मगध के युवराज श्रेणिक बिम्बिसार ने जिसे मारकर चम्पा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस समय से अङ्ग मगध के राज्य के अन्तर्गत हो गया, और फिर कभी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सका।

(२) **मगध**—दक्षिणी बिहार के गया और पटना जिलों के प्रदेश में प्राचीन समय में मगध जनपद की स्थिति थी। इसके उत्तर में गङ्गा नदी थी, और पश्चिम में सोण नदी। चम्पा नदी इसकी पूर्वी सीमा थी, और इसके दक्षिण में विन्ध्याचल की पर्वतमाला थी। मगध की प्राचीन राजधानी का नाम गिरिव्रज था। इसके समीप ही बाद में राजगृह नामक नये नगर का निर्माण हुआ, जिसने पुराने गिरिव्रज का स्थान ले लिया। गिरिव्रज और राजगृह की स्थिति वर्तमान समय के राजगिर के समीप ही थी। महाभारत के समय में मगध का राजा जरासन्ध था, जो बार्हद्रथ वंश का था। इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों के उत्कर्ष के कारण जब जरासंध का पतन हुआ, तो मगध की शक्ति बहुत क्षीण हो गई। पर बाद में जरासन्ध के अन्यतम वंशज श्रुतञ्जय के समय में मगध की शक्ति का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। पुराणों में श्रुतञ्जय को 'महाबल' 'महाबाहु' और 'महाबुद्धिपराक्रम' कहा गया है। प्रतीत होता है कि इस राजा के प्रयत्न से मगध एक बार फिर साम्राज्य-विस्तार की दिशा में अग्रसर हुआ था, और उसके बल तथा बुद्धि-पराक्रम की स्मृति उसके पीछे भी चिरकाल तक कायम रही थी।

बार्हद्रथ वंश का अन्तिम राजा रिपुञ्जय था। उसके अमात्य पुलिक ने अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह कर उसे मार डाला, और अपने पुत्र बालक को मगध के राजसिंहासन पर आसीन कराया। पुराणों में पुलिक को 'प्रणत-सामन्त' और 'नयवर्जित' विशेषणों से विभूषित किया गया है। निस्सन्देह, वह एक शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, जो मगध के पुराने बार्हद्रथ वंश का अन्त करने में समर्थ हुआ था। पर मगध में पुलिक के वंश का शासन भी देर तक कायम नहीं रह सका। भट्टिय नामक एक वीर पुरुष ने पुलिक के पुत्र बालक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और उसे मार कर मगध के राजसिंहासन पर स्वयं अधिकार कर लिया। पुलिक द्वारा प्रारम्भ की गई परंपरा का अनुसरण

कर भट्टिय भी स्वयं राजगद्दी पर नहीं बैठा, अपितु अपने पुत्र बिम्बिसार को उसने राजा के पद पर अभिषिक्त किया। प्राचीन साहित्य में भट्टिय और बिम्बिसार दोनों को 'श्रेणिय' कहा गया है। मगध की सैन्य शक्ति में 'श्रेणी-बल' का बहुत महत्त्व था। उस काल में सैनिकों की 'श्रेणियाँ' (Guilds) पृथक् रूप से संगठित होती थीं, और इनमें संगठित सैनिकों का पेशा ही युद्ध करना हुआ करता था। सम्भवतः, भट्टिय इसी प्रकार की एक शक्तिशाली सैनिक श्रेणि का नेता था, और इसीलिये वह 'श्रेणिय' कहाता था। महात्मा बुद्ध के समय में श्रेणिय विम्बिसार ही मगध का राजा था। वह अत्यन्त प्रतापी और विजिगीषु था, और मगध की पुरानी परम्परा का अनुसरण कर साम्राज्य-विस्तार के लिये तत्पर था। अङ्ग जनपद की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता का उसी के द्वारा अन्त किया गया और उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण दिशाओं में भी उसने अनेक राज्यों के विरुद्ध युद्ध किये। बिम्विसार का उत्तराधिकारी राजा अजातशत्रु हुआ, जिसने न केवल अवन्ति के राजा के आक्रमण से मगध की रक्षा ही की, अपितु वज्जि-संघ को परास्त कर उत्तरी बिहार में अपनी शक्ति का विस्तार किया।

(३) **काशी**—इस महाजनपद की राजधानी वारांणसी नगरी थी। जातक कथाओं के अनुसार वाराणसी का विस्तार बारह योजनों में था, और वह भारत की सबसे बड़ी नगरी थी। उसके राजा भी बड़े प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी थे। काशी जनपद के पड़ोस में ही कोशल जनपद की स्थिति थी, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। काशी और कोशल में प्रायः संघर्ष होता रहता था। जातक कथाओं से सूचित होता है, कि अनेक बार काशी के राजा कोशल को जीतने में भी समर्थ हुए थे, और उसकी राजधानी श्रावस्ती पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया था। सोननन्द जातक में तो यहाँ तक लिखा है, कि काशी के राजा मनोज ने कोसल, अंग और मगध—तीनों जनपदों को जीत कर अपने अधीन किया हुआ था। पर काशी का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रह सका। बाद में कोसल के राजाओं ने उसे जीत लिया, और अपने राज्य के अन्तर्गत कर लिया।

(४) **कोशल**—इस महाजनपद की राजधानी श्रावस्ती थी। यह अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित थी। कोशल की दूसरी प्रसिद्ध नगरी साकेत (अयोध्या) थी। इस जनपद के पश्चिम में गोमती नदी, पूर्व में सदानीरा (गण्डक) नदी, उत्तर में नैपाल की पर्वत माला और दक्षिण में स्पन्दिका नदी थी। आधुनिक समय का अवध प्रदेश प्रायः वही है, जो प्राचीन समय में कोशल महाजनपद था। इस में ऐक्ष्वाकव वंश के क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। पुराणों में इस ऐक्ष्वाकव वंश की वंशावलि अविकल रूप से दी गई है। छठी सदी ई० पू० के प्रारम्भ में कोशल का राजा महाकोशल था, जिसकी कन्या का विवाह मगधराज श्रेणिय विम्बिसार के साथ हुआ था। इस समय तक काशी जनपद की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और उसके अनेक प्रदेश कोशल की अधीनता तथा स्वत्त्व में आ चुके थे। यही कारण है, कि जब महाकोशल ने अपनी कन्या का विवाह विम्बिसार के साथ किया,

तो उसने उसके स्नान और प्रसावन का खर्च चलाने के लिए दहेज के रूप में काशी का एक प्रदेश उसे प्रदान किया था।

महाकोशल के वाद उसका पुत्र प्रसेनजित् (पसेनदी) श्रावस्ती के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके शासन काल में न केवल सम्पूर्ण काशी जनपद कोशल की अधीनता में आ गया, अपितु अनेक गण-राज्यों की स्वतन्त्रता भी उस द्वारा समाप्त की गई। शाक्य गण और मल्लगण को जीत कर अपने अधीन करना राजा प्रसेनजित् का ही कार्य था। प्रसेनजित् का पुत्र विरुद्धक (विड़ूडभ) था, जो अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। शाक्यगण की स्वतन्त्रता का अन्तिम रूप से अन्त उसी द्वारा किया गया। प्रसेनजित् और विरुद्धक महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध अनेक बार कोशल की राजधानी श्रावस्ती में गये भी थे। इसमें सन्देह नहीं, कि बौद्ध युग के जनपदों में कोशल अत्यन्त शक्तिशाली था, और अन्य राज्यों को जीत कर अपने उत्कर्ष के लिये भी प्रयत्नशील था। काशी को जीत लेने के कारण उसकी पूर्वी सीमा मगध के साथ आ लगी थी। पर कोशल के राजा मगध की शक्ति से भली भाँति परिचित थे। इसीलिये उन्होंने उससे मैत्री भाव रखना ही हितकर समझा था। महाकोशल ने अपनी पुत्री का विवाह मगधराज विम्बिसार के साथ किया था, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। प्रसेनजित् ने भी अपनी पुत्री वजिका का विवाह विम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु के साथ कर दिया था, ताकि कोशल और मगध में संघर्ष न होने पाए।

(५) **वृजि या वज्जि**—यह एक संघ का नाम था, जिसमें आठ गण-राज्य सम्मिलित थे। इन आठ गण-राज्यों में विदेह, लिच्छवि, ज्ञातृक और वृजि सर्वप्रधान थे। अन्य चार गण कौन-से थे, यह सुनिश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। सूत्रकृदंग के एक संदर्भ में उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकव और कौरव का लिच्छवियों और ज्ञातृकों के साथ उल्लेख किया गया है। सम्भव है, कि अन्य चार गणों के ये ही नाम हों, पर यह केवल कल्पना मात्र है। विदेह गण की राजधानी मिथिला थी, और ज्ञातृक गण की कुण्डग्राम। लिच्छवि और वृजि गणों की राजधानी वैशाली थी। वही सम्पूर्ण वृजि-संघ (जिसमें आठ गणराज्य सम्मिलित थे) की भी राजधानी थी। वर्तमान समय के बिहार राज्य में गंगा नदी के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में उत्तरी बिहार के जो प्रदेश हैं, उसे तिरहुत कहते हैं। वृजि या वज्जि-संघ की स्थिति वहीं पर थी। महात्मा बुद्ध के समय में यह वज्जि-संघ अत्यन्त समृद्ध तथा शक्तिशाली था, और इसी के गण-तन्त्र शासन को आदर्श बनाकर बुद्ध ने अपने भिक्षुसंघ के संगठन के स्वरूप तथा नियमों का निर्धारण किया था।

मिथिला के विदेह जनपद का शासन पहले राजतन्त्र था। वहाँ के वंशक्रमानुगत राजा 'जनक' कहाते थे। पर छठी सदी ई० पू० तक इस जनपद से राजतन्त्र शासन का अन्त होकर गणतन्त्र शासन की स्थापना हो चुकी थी। शान्ति पर्व (महाभारत) में लिखा है, कि विदेह का राजा जनक ब्रह्मज्ञान में इतना लीन हो गया था, कि उसे मोक्ष दृष्टिगोचर

होने लगा था। द्वन्द्व से विहीन तथा विमुक्त दशा को पहुँच कर उसने राज्य कार्य की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी कारण उसकी यह मनोवृत्ति हो गई थी—'जब मैं सर्वथा अकिञ्चन हो जाऊँ, जब मेरे पास कुछ न रहे, तभी मुझे अनन्त धन की प्राप्ति होगी। यदि मिथिला अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाए, तो उससे मेरा तो कुछ भस्म नहीं होता।[1]' जिस राजा की यह मनोवृत्ति हो, वह राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का कभी पालन नहीं कर सकता। सम्भवतः, इसी कारण प्रजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और विदेह से राजतन्त्र शासन का अन्त कर गणतन्त्र की स्थापना की। सम्भवतः, विदेह के इस जनक राजा का व्यक्तिगत नाम कराल था, जिसके बन्धु-बान्धवों के साथ विनाश होने का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है।[1] लिच्छवि और वज्जि गणों तथा वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली थी, विष्णुपुराण के अनुसार जिसका संस्थापक ऐक्ष्वाकव वंश के राजा तृणबिन्दु का पुत्र विशाल था। सम्भवतः, मिथिला के समान वैशाली में भी पहले राजतन्त्र की सत्ता थी, और बाद में वहाँ का शासन गणतन्त्र के रूप में परिवर्तित हो गया था।

वैशाली अत्यन्त भव्य और समृद्धिशाली नगरी थी। जातक कथाओं के अनुसार वैशाली तीन प्राचीरों से घिरी हुई थी, और प्रत्येक प्राचीर एक दूसरी से एक-एक गव्यूति की दूरी पर स्थित थी। इन प्राचीरों में तीन विशाल प्रवेश द्वार थे, जो ऊंचे तोरणों और बुर्जों से सुशोभित थे। ललित-विस्तार में वैशाली का वर्णन करते हुए उसे अत्यन्त समृद्ध, वैभवशाली, धनधान्य से भरपूर, अत्यन्त रमणीक, बहुत-से मनुष्यों से परिपूर्ण, विविध प्रकार की इमारतों से सुसज्जित, और बाग, पार्क, उद्यान आदि से समलंकृत कहा गया है। वर्तमान समय के बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में बसाड़ नामक एक गाँव है, जो गण्डक नदी के बाँये तट पर स्थित है। इसी स्थान पर प्राचीन समय में वैशाली नगरी विद्यमान थी।

वज्जि-संघ और उसके अन्तर्गत गणराज्यों की स्वतन्त्रता का अन्त मगध के राजा अजातशत्रु द्वारा अपने अमात्य वत्सकार की सहायता से किया गया।

(६) **मल्ल**—यह महाजनपद भी एक संघ के रूप में था, जिसमें दो गण-राज्य सम्मिलित थे—कुशीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल। इस संघराज्य की स्थिति वज्जि-संघ के ठीक पश्चिम में थी। पूर्वी गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) में कसिया के समीप एक विशाल स्तूप में एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है, जिस पर '(परिनि) र्वाणचैत्ये ताम्रपट्ट इति' शब्द उत्कीर्ण हैं। इससे अब यह सुस्पष्ट हो गया है, कि जहाँ अब कसिया है, वहीं पर प्राचीन समय में कुशीनारा की स्थिति थी, और यही कुशीनारा के मल्ल-गण का प्रदेश था। पावा की

---

१. 'अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत ।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥
अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चित्प्रदह्यते ॥' महाभारत, शान्तिपर्व १७।१८-१९।

स्थिति के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। पर यह नगरी भी गोरखपुर के क्षेत्र में ही थी, और बौद्ध युग का मल्ल-संघ इसी प्रदेश में विद्यमान था। मल्ल-संघ की स्वतन्त्रता का अन्त भी मगध के राजा अजातशत्रु द्वारा किया गया था।

(७) **वत्स**––यह एक राजतन्त्र महाजनपद था, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। इस नगरी के अवशेष इलाहाबाद जिले में यमुना के तट पर कोसम नामक गाँव में उपलब्ध हुए हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार जनमेजय के वंशज (चौथी पीढ़ी में) निचक्षु के समय में हस्तिनापुर गंगा की बाढ़ में बह गया था, जिससे विवश होकर राजा निचक्षु कौशाम्बी में जा बसा था। निचक्षु के उत्तराधिकारियों ने कौशाम्बी में अच्छी ख्याति प्राप्त की, और वहाँ अनेक प्रतापी व शक्तिशाली राजा हुए। बुद्ध के समय में कौशाम्बी (वत्स महाजनपद) का राजा उदयन था। वह शतानीक परन्तप का पुत्र था, और प्राचीन कौरव या भारत वंश में उत्पन्न हुआ था। संस्कृत साहित्य उदयन-सम्बन्धी कथाओं से परिपूर्ण है। अवन्ति के राजा प्रद्योत से उसका निरन्तर संघर्ष रहा। इसी संघर्ष को लेकर महाकवि भास ने 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' नामक नाटक लिखे थे, और कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामञ्जरी में भी इस सम्बन्ध में कथाएँ विद्यमान हैं। उदयन जहाँ उत्कट वीर था, वहाँ चतुर राजनीतिज्ञ भी था। वह भली भाँति अनुभव करता था, कि अवन्ति और मगध जैसे शक्तिशाली राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर सकना सुगम नहीं होगा। अतः उसने इन दोनों राज्यों के साथ सन्धियां कर ली थी, और अपनी शक्ति का उपयोग काशी, बंग आदि अन्य राज्यों को जीतने के लिये किया था। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार उदयन ने पूर्व में वंग और कलिङ्ग की विजय की थी, और दक्षिण में चोल और केरल राज्यों की। कथासरित्सागर में उसकी दिग्विजय का जो वर्णन है, उसमें लाट देश (दक्षिणी गुजरात में), सिन्ध, पारसीक आदि देशों के भी उदयन द्वारा जीते जाने का उल्लेख है। सम्भव है, कि इस वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो। पर इसे पढ़ कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि उदयन एक शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसकी कीर्ति चिरकाल तक स्थिर रही। बौद्ध, जैन और पौराणिक–– सभी प्रकार के भारतीय साहित्य में उदयन-विषयक कथाएँ विशद रूप से उपलब्ध हैं। उसकी मृत्यु के सदियों पश्चात् तक उसकी कथाएँ सर्वसाधारण जनता में प्रचलित रहीं। कालिदास ने 'मेघदूतम्' में मेघ से कहा है, कि जब अवन्ति पहुंचना, तो वहां उन ग्रामवृद्धों से मिलना जो उदयन-सम्बन्धी कथाओं के जानकार हैं।

उदयन के पश्चात् चार अन्य राजाओं ने कौशाम्बी में शासन किया। पर ये राजा देर तक अपनी स्वतन्त्रता को कायम नहीं रख सके। मगध के सम्राटों ने वत्स देश को भी जीत कर अपने अधीन कर लिया।

(८) **चेदि**––वर्तमान समय के बुन्देलखण्ड का पूर्वी भाग ही प्राचीन काल में चेदि महाजनपद था। इसकी राजधानी शुक्तिमती नगरी थी, जो शुक्तिमती (केन) नदी के

तट पर स्थित थी। जातक कथाओं में इसी को सोत्थिवती नगरी कहा गया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार हस्तिनापुर के भारत वंश में उत्पन्न राजा वसु ने चेदि को जीत कर अपने अधीन किया था, और उसके वंशज वहाँ चिरकाल तक शासन करते रहे थे। बौद्धकाल तक भी चेदि एक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य था, जो बाद में मगध के विजिगीषु राजाओं द्वारा जीत लिया गया।

(९) **पांचाल**—इस महाजनपद की स्थिति कोशल और वत्स के पश्चिम में तथा चेदि के उत्तर में थी। प्राचीन समय में यह जनपद दो भागों में विभक्त था, उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। वर्तमान समय का रुहेलखण्ड उत्तर-पांचाल को तथा कानपुर व फर्रुखाबाद के जिले दक्षिण पांचाल को सूचित करते हैं। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी, और दक्षिण पाञ्चाल की काम्पिल्य। उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में आंवला नाम का कसबा है, जिससे सात मील के लगभग दूर प्राचीन अहिच्छत्र के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। *काम्पिल्य गंगा* के तट पर कन्नौज के समीप था। दक्षिण और उत्तर पांचाल जनपदों को गंगा नदी विभक्त करती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में कुरु और पांचाल भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। विदेह के तत्त्वचिन्तक राजा जनक की राजसभा में जो विद्वान् व दार्शनिक एकत्र होते थे, उनमें कुरु-पाञ्चाल के ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। महाभारत के समय में पाञ्चाल का राजा द्रुपद था, जिसकी कन्या द्रौपदी का विवाह पाण्डव अर्जुन के साथ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों में पाञ्चाल के अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जो अत्यन्त शक्तिशाली थे और जिन्होंने दूर-दूर तक पृथिवी की विजय की थी। ऐसे एक राजा का नाम दुर्मुख था। छठी सदी ईस्वी पूर्व के प्रारम्भ तक भी पाञ्चाल में राजतन्त्र शासन की सत्ता थी। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र में काम्पिल्य के राजा सञ्जय का उल्लेख है, जिसने कि राजसिंहासन का परित्याग कर मुनि व्रत स्वीकार कर लिया था। पर बाद में विदेह जनपद के समान पाञ्चाल से भी राजतन्त्र शासन का अन्त हो गया, और वहाँ गणतन्त्र शासन स्थापित हुआ। कौटलीय अर्थशास्त्र में पाञ्चाल की गणना 'राजशब्दोपजीवि' संघों में की गई है।

(१०) **कुरु**—इस महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। इस नगरी की स्थिति वर्तमान दिल्ली के समीप यमुना नदी के तट पर थी। मेरठ, दिल्ली और उनके समीप के प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे। जातक कथाओं में कुरु के अन्य भी अनेक नगरों का उल्लेख है, जिनमें हत्थिनीपुर (हस्तिनापुर), थुल्लकोट्ठित, कुण्डी और वारणावन मुख्य हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और महाभारत के समय में कुरु राज्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली था। महाभारत की कथा का सम्बन्ध कुरु देश के कौरवों और पाण्डवों के साथ ही है। दुष्यन्त और भरत जैसे प्रतापी राजा कुरु देश के ही थे। पर बौद्ध युग में इस जनपद की शक्ति बहुत कम हो गई थी, और वहाँ राजतन्त्र शासन का अन्त होकर गणतन्त्र शासन स्थापित हो गया था।

(११) **मत्स्य**—इस महाजनपद की राजधानी विराट् नगर या वैराट थी, जो वर्तमान समय के जयपुर (राजस्थान) क्षेत्र में है। यह जनपद यमुना के पश्चिम तथा कुरु के दक्षिण-पश्चिम में स्थित था, और अलवर, जयपुर तथा भरतपुर के प्रदेश इसके अन्तर्गत थे। अत्यन्त प्राचीन समय में इसमें भी अनेक ऐसे राजा हुए, जो वड़े प्रतापी थे और जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर चक्रवर्ती पद भी प्राप्त किया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऐसा एक राजा ध्वसन द्वैतवन था। पर मत्स्य का राजनीतिक इतिहास प्रायः अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है, कि बौद्ध युग तक भी इस मत्स्य राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र रूप से सत्ता कायम रही थी, और उत्तरापथ के अन्य राज्यों के समान मगध के विजिगीषु राजाओं ने ही उसकी स्वतन्त्रता का भी अन्त किया था।

(१२) **शूरसेन**—इस महाजनपद की राजधानी मथुरा थी, जो कौशाम्वी और इन्द्रप्रस्थ के समान यमुना के तट पर स्थित थी। महाभारत के समय का प्रसिद्ध अन्धक-वृष्णि संघ इसी प्रदेश में स्थित था। कृष्ण इसी संघके 'संघमुख्य' थे। मगधके विजिगीषु राजा जरासन्ध ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए अनेक बार अन्धक-वृष्णि संघ पर आक्रमण किये थे, और इन्हीं आक्रमणों से परेशान होकर अन्धक-वृष्णि संघ शूरसेन को छोड़कर सुदूर द्वारका में जा बसा था। अन्धक-वृष्णि संघ के सम्वन्ध में प्राचीन साहित्य में ऐसे निर्देश नहीं मिलते, जिनसे उसका क्रमवद्ध राजनीतिक इतिहास ज्ञात हो सके। ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में किसी समय अन्धक-वृष्णि लोग पुनः शूरसेन देश में आ वसे थे, और उनके जनपद से गणतन्त्र शासन का अन्त होकर वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन स्थापित हो गया था। मज्झिम निकाय में शूरसेन जनपद के एक राजा का उल्लेख है, जिसका नाम अवन्तिपुत्र था। यह शाक्य मुनि बुद्ध के अन्यतम शिष्य महाकच्छान का समकालीन था, और इसी द्वारा मथुरा के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था। उत्तरी भारत के अन्य जनपदों के समान शूरसेन की स्वतन्त्रता का भी मगध द्वारा अन्त किया गया।

(१३) **अश्मक**—यह महाजनपद गोदावरी नदी के समीपवर्ती प्रदेश में था, और इसकी राजधानी पोतल या पोतलि नगरी थी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार अश्मक के राजा ऐश्वाकव वंश के थे, और अश्मक के नाम के एक ऐक्ष्वाकव कुमार द्वारा ही इस राज्य की स्थापना की गई थी। बौद्ध साहित्य में अश्मक के अनेक राजाओं के नाम उल्लिखित हैं, जिससे सूचित होता है कि बौद्ध युग में इस राज्य में राजतन्त्र शासन की सत्ता थी।

(१४) **अवन्ति**—चेदि के दक्षिण-पश्चिम का प्रदेश आजकल मालवा कहाता है, और मध्य प्रदेश राज्य के अन्तर्गत है। इसी को प्राचीन काल में अवन्ति महाजनपद या अवन्ति-राष्ट्र कहा जाता था। इसकी राजधानी उज्जैनी नगरी थी। बौद्ध काल में यह राज्य बहुत शक्तिशाली था, और उसके राजा पड़ोस के अन्य राज्यों को जीत कर साम्राज्य-निर्माण के लिये तत्पर थे। अवन्ति का बुद्ध का समकालीन राजा महासेन प्रद्योत था, जो

वत्स के राजा उदयन को जीत कर अपने अधीन करने के लिये प्रयत्नशील था। वत्स और अवन्ति के इस संघर्ष का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। मगध के प्रतापी राजा शिशुनाग नन्दिवर्धन ने आगे चलकर अवन्ति की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त किया।

(१५) **गान्धार**—इस महाजनपद की राजधानी तक्षशिला थी, जो बौद्ध कालीन भारत में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र था। रावलपिण्डी, पेशावर और काश्मीर तथा हिन्दूकुश तक फैले हुए पश्चिमोत्तर भारत (अब पाकिस्तान) के प्रदेश इस महाजनपद में सम्मिलित थे। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गान्धार के राजा द्रुह्यु के वंश के थे। द्रुह्यु प्रतिष्ठान के ऐल वंशी राजा ययाति का पुत्र था, और उसने यमुना तथा सरस्वती नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। इसी द्रुह्यु का एक वंशज गान्धार था, जिसने भारत (पाकिस्तान) के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में एक नये राज्य की स्थापना की थी। राजा गान्धार के नाम से ही इस राज्य का नाम गान्धार पड़ा था। इस जनपद के राजाओं के विषय में अनेक बातें प्राचीन साहित्य में विद्यमान है, पर उन्हें यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी नहीं है। छठी सदी ई० पू० के मध्य भाग में गान्धार के राजसिंहासन पर राजा पुक्कसाति विराजमान था, जो मगधराज बिम्बिसार का समकालीन था। गान्धार की स्वतन्त्रता का अन्त पहले पर्शिया (ईरान) के राजाओं द्वारा किया गया, और फिर मैसिडोनियन आक्रान्ता सिकन्दर द्वारा। बाद में चन्द्रगुप्त मौर्य ने इसे मागध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

(१६) **कम्बोज**—गान्धार के परे उत्तर में पामीर का प्रदेश तथा उससे भी परे का बदख्शां का प्रदेश प्राचीन समय में कम्बोज महाजनपद कहाता था। पर सब विद्वान् कम्बोज की इस भौगोलिक स्थिति को स्वीकार नहीं करते। अनेक विद्वानों ने कम्बोज को काश्मीर के पुंछ प्रदेश के दक्षिण व दक्षिण-पूर्व में स्थित प्रतिपादित किया है। महाभारत के अनुसार कम्बोज की राजधानी का नाम राजपुर था, जिसका उल्लेख ह्यएन्त्सांगने भी अपने यात्रा-विवरण में किया है। कनिंघम ने इस राजपुर को काश्मीर के दक्षिण में स्थित राजौरी से मिलाया है। कम्बोज में पहले वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, पर बाद में वहाँ गणतन्त्र शासन स्थापित हो गया। कौटलीय अर्थशास्त्र में कम्बोज की गणना वार्ताशस्त्रोपजीवि संघों में की गई है।

इन सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक जनपदों की बौद्ध युग में पृथक् व स्वतन्त्र रूप से सत्ता थी। कोशल के उत्तर और मल्लगण के पश्चिमोत्तर में (आधुनिक नेपाल के तराई के प्रदेश में) शाक्य जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। बुद्ध का जन्म इसी के समीप लुम्बिनिवन में हुआ था। शाक्य जनपद के पड़ोस में ही कोलिय गण (राजधानी–रामग्राम), मोरिय गण (राजधानी–पिप्पलिवन), बुलि गण (राजधानी–अल्लकप्प), भग्ग गण (राजधानी–सुंसुमार) और कालाम गण (राजधानी–केसपुत्त) की स्थिति थी।

गान्धार और कुरु जनपदों के बीच में केकय, मद्रक, त्रिगर्त और यौधेय जनपद थे। यही प्रदेश वर्तमान समय में पंजाब (पश्चिमी पंजाब और पूर्वी पंजाब) कहाता है। और अधिक दक्षिण में सिन्धु, शिवि, अम्बष्ठ और सौवीर आदि अन्य जनपदों की स्थिति थी। पर बौद्ध साहित्य में सोलह महाजनपदों का जिस ढंग से उल्लेख हुआ है, उससे प्रतीत होता है कि उस समय में ये सब अन्य जनपद अपने पड़ोसी शक्तिशाली महाजनपदों की किसी-न-किसी रूप में अधीनता स्वीकार करते थे। वस्तुतः, बौद्ध काल में इन सोलह महाजनपदों में भी मगध, वत्स, कोशल और अवन्ति——ये चार सबसे अधिक शक्तिशाली थे। ये जहाँ अपने समीपवर्ती जनपदों को जीतकर अपने अधीन करने के प्रयत्न में थे, वहाँ इनमें परस्पर संघर्ष भी प्रारम्भ हो चुका था।

(३) मगध का उत्कर्ष

श्रेणि बल के सेनानी भट्टिय ने मगधराज बालक के विरुद्ध षड्यन्त्र कर किस प्रकार अपने पुत्र बिम्बिसार को पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बिठाया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सम्भवतः, राजा बालक का दूसरा नाम कुमारसेन भी था। महाकवि बाण-भट्ट ने हर्षचरितम् में इस षड्यन्त्र का निर्देश किया है। महाकाल के उत्सव में महामांस की बिक्री के कारण जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ था, उससे लाभ उठाकर श्रेणिय भट्टिय की प्रेरणा से तालजंघ नामक एक वैताल ने राजा कुमारसेन पर अकस्मात् आक्रमण कर दिया और उसे मौत के घाट उतार दिया। बाणभट्ट ने कुमारसेन को 'जघन्यज' लिखा है। यह सम्भव है, कि पुलिक के वंशज शुद्ध आर्यकुल के न होकर किसी आर्यभिन्न नीच कुल के हों। इस काल में मगध में आर्य-भिन्न सैनिक श्रेणियों की प्रबलता थी और उनके साहसी नेता मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिये षड्यन्त्रों में तत्पर रहते थे। बार्हद्रथ वंश के राजा रिपुञ्जय को 'जघन्यज' पुलिक ने मारा, और उसके (पुलिक के) पुत्र बालक या कुमारसेन को भट्टिय ने मरवा दिया।

बिम्बिसार बहुत शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी राजा था। उसका विवाह कोशल की राजकुमारी कोशलदेवी के साथ हुआ था। इसी विवाह में दहेज में 'नहान चुन्न मूल्य' के रूप में काशी जनपद का एक प्रदेश बिम्बिसार को प्राप्त हुआ था। कोशल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने के कारण मगध को पश्चिम के इस शक्तिशाली महाजनपद से कोई भय नहीं रह गया था, और वह निश्चिन्त रूप से पूर्व की ओर साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्न कर सकता था। सब से पूर्व उसने अंग महाजनपद के राजा ब्रह्मदत्त पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। इससे कुछ समय पहले अंग को वत्स के राजा (शतानीक और उसका पुत्र उदयन) अपने अधीन कर चुके थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि वत्स देर तक अंग को अपनी अधीनता में नहीं रख सका था, और अवसर पाकर वह स्वतन्त्र हो गया था। पर अंग की स्वतन्त्रता देर तक कायम नहीं रह सकी। मगधराज

बिम्बिसार अंग से केवल अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु मगध की पुरानी परम्परा का अनुसरण कर उसने अंगराज ब्रह्मदत्त को मारकर उसके राज्य को मागध साम्राज्य के साथ मिला लिया। अंग को जीत लेने पर मगध की शक्ति बहुत बढ़ गई। अब वह साम्राज्य-विस्तार के उस घोर संघर्ष में प्रवृत्त हुआ, जिसका उग्र रूप बिम्बिसार के पुत्र व उत्तराधिकारी अजातशत्रु के शासन काल में प्रगट हुआ था।

मगध की पुरानी राजधानी गिरिव्रज थी। यह नगरी गंगा के उत्तर में स्थित वज्जि-संघ के आक्रमणों से सुरक्षित नहीं थी। इस पर वज्जियों के निरन्तर आक्रमण होते रहते थे। इन्हीं के कारण एक बार गिरिव्रज में भयंकर अग्निकाण्ड भी हो गया था। बिम्बिसार ने गिरिव्रज के उत्तर में एक नये नगर की स्थापना की, जिसका नाम राजगृह था। इसे एक दुर्ग के रूप में बनाया गया था, ताकि वहाँ से वज्जियों के आक्रमण का भलीभाँति प्रतिरोध किया जा सके।

बिम्बिसार के पश्चात् अजातशत्रु मगध का राजा बना। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार वह बड़े उद्दण्ड स्वभाव का था, और उसने अपने पिता तथा बड़े भाई दर्शक की हत्या कर राज्य प्राप्त करने का उद्योग किया था। बिम्बिसार को उसने कारागृह में डाल दिया था, जहाँ अन्न और जल के बिना उन्होंने प्राण त्याग दिये थे। अजातशत्रु के भय से उसके बड़े भाई दर्शक तथा शीलवन्त और विमल आदि छोटे भाइयों ने भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर ली थी। राज-सिंहासन पर अधिकार कर लेने के अनन्तर अजातशत्रु ने पड़ौस के अन्य राज्यों से युद्ध प्रारम्भ किये। पहला युद्ध कोशल महाजनपद के साथ हुआ। चिर काल के संघर्ष के अनन्तर मगध और कोशल में सन्धि हो गई, और इस सन्धि को स्थिर करने के लिये कोशल के राजा प्रसेनजित् ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया। इसी प्रकार की सन्धि पहले भी कोशल और मगध में हुई थी, जबकि प्रसेनजित् के पिता ने अपनी पुत्री कोशल देवी का विवाह मगधराज बिम्बिसार के साथ किया था। पर पितृघाती अजातशत्रु की उद्दण्डता से कोशल का राजा प्रसेनजित् बहुत उद्विग्न था। इसी कारण इन दोनों जनपदों में सन्धि का अन्त होकर एक बार फिर युद्ध तथा संघर्ष का प्रारम्भ हुआ था।

वज्जि-संघ की स्वतन्त्रता का अन्त अजातशत्रु के शासनकाल की प्रधान घटना है। यह पहले लिखा जा चुका है, कि वज्जि-संघ में आठ गणराज्य सम्मिलित थे और उसकी शक्ति बहुत अधिक थी। युद्ध में उसे परास्त कर सकना मगधराज के लिये सम्भव नहीं था। अतः उसने अपने मन्त्री वर्षकार के परामर्श से भेदनीति का आश्रय लिया। अजातशत्रु की राजसभा में राजा और मन्त्री में नकली लड़ाई प्रदर्शित की गई, और अजातशत्रु ने वर्षकार को अपमानित कर अपने राज्य से निकल जाने का आदेश दिया। राजगृह से बहिष्कृत होकर वर्षकार ने वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली में आश्रय प्राप्त किया, और वहाँ 'भेद' तथा 'प्रदान' के उपायों से वज्जियों में फूट डाल दी। जब वर्षकार को विश्वास हो गया कि अब वज्जि-संघ में भलीभाँति फूट पड़ गई है, तब उसने अजातशत्रु के पास

तुरन्त आक्रमण कर देने के लिये संदेश भेज दिया। गण तथा संघ राज्यों की शक्ति का मुख्य आधार उनका 'संहत' होकर रहना ही होता है। पर वर्षकार की भेदनीति के कारण वज्जि-संघ की शक्ति अव क्षीण हो चुकी थी। इसीलिये जव अजातशत्रु के उस पर आक्रमण किया, तो वह उसके सम्मुख नहीं टिक सका। जैन अनुश्रुति के अनुसार काशी और मल्ल जनपद ने इस युद्ध में वज्जियों की सहायता की थी। सम्भवतः, वज्जि-संघ के साथ ही काशी और मल्ल जनपद भी इस समय मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, और अजातशत्रु ने उन्हें परास्त कर मागध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। ४५६ ई० पू० के लगभग अजातशत्रु के शासन का अन्त हुआ। तव तक अंग, वज्जि, काशी और मल्ल महाजनपद मगध की अधीनता में आ चुके थे, और वह भारत का सवसे अधिक शक्तिशाली राज्य वन गया था।

अजातशत्रु के वाद उदायीभद्र, अनुरुद्ध और मुण्ड क्रमशः मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। पर वे मगध के साम्राज्य का विस्तार करने के सम्वन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकें। उदायीभद्र ने पाटलिपुत्र की स्थापना की, और राजगृह के स्थान पर उसे अपनी राजधानी बनाया।

मुण्ड के वाद नागदासक मगध का राजा वना। उसका प्रधान अमात्य शिशुनाग था। नागदासक नाम को ही राजा था, वास्तविक राज्यशक्ति शिशुनाग के हाथ में थी। शिशुनाग ने उसी मार्ग का अवलम्वन किया, जिस पर वार्हद्रथ वंश के अन्तिम मागध राजा रिपुञ्जय का प्रधानामात्य पुलिक चला था। एक वार फिर मगध में राज्यक्रान्ति हुई। नागदासक को राजसिंहासन से च्युत कर उसका अमात्य शिशुनाग राजा वन गया। बौद्ध साहित्य के अनुसार पाटलिपुत्र के पौरों, अमात्यों और मन्त्रियों ने नागदासक को राजसिंहासन से च्युत कर 'साधुसम्मत अमात्य शिशुनाग' को राजा के पद पर अभिषिक्त किया। शिशुनाग अत्यन्त प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसके शासनकाल में मागध साम्राज्य का और भी अधिक विस्तार हुआ। उसके समय की सवसे महत्त्वपूर्ण घटना अवन्ति महाजनपद का मागध साम्राज्य में सम्मिलित होना है। अवन्ति के राजा प्रद्योत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह अत्यन्त प्रतापी राजा था। इसीलिये प्राचीन अनुश्रुति में उसके लिये 'चण्ड' विशेषण का प्रयोग किया गया है। पर उसके उत्तराधिकारी वीर व प्रतापी नहीं थे। अवन्ति का शिशुनाग का समकालीन राजा अवन्तिवर्धन था। शिशुनाग ने उस पर आक्रमण किया, और उसे मारकर अवन्ति महाजनपद को मागध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। सम्भवतः, शिशुनाग ने ही अवन्ति के साथ वत्स महाजनपद को भी जीत कर अपने अधीन किया था। अजातशत्रु द्वारा मगध के उत्कर्ष के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया था, शिशुनागने उसे और आगे वढ़ाया, और अब अवन्ति, वत्स, वज्जि और अंग महाजनपद मगध की अधीनता में आ गये। शिशुनाग का ही दूसरा नाम नन्दिवर्धन था, और उसका शासनकाल चौथी सदी ई० पू० के प्रारम्भ में था।

शिशुनाग नन्दिवर्धन का पुत्र काकवर्ण महानन्दी था। कुछ ग्रन्थों में इसे ही कालाशोक के नाम से लिखा गया है। इसने कुल २८ वर्ष तक राज्य किया। इसके शासन-काल के दसवें वर्ष में महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुए १०० वर्ष पूर्व हो चुके थे। महात्मा बुद्ध के निर्वाण का वर्ष ४८६ ई० पू० के लगभग माना जाता है। अतः काकवर्ण महानन्दी का शासन-काल ३८६-३५८ ई० पू० समझना चाहिये। बौद्ध धर्म की द्वितीय धर्मसंगीति (महासभा) इसी के समय में वैशाली में संगठित की गई थी।

महानन्दी का अन्त भी एक षड्यन्त्र द्वारा हुआ। महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम्' में लिखा है, कि नगर के बाहर गले में छुरी भोंक देने से उसकी मृत्यु हुई। जिस षड्यन्त्र द्वारा राजा काकवर्ण महानन्दी की हत्या की गई, उसका नेता महा पद्मनन्द था। यह जाति का शूद्र था, और अपने बाल्य तथा युवाकाल में इसे आजीविका के लिये अनेक कष्ट उठाने पड़े थे। पर देखने में यह अत्यन्त सुन्दर था। धीरे-धीरे महानन्दी की रानी उसके वश में आ गई, और रानी के माध्यम से राजा पर भी उसने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। अवसर पाकर महापद्म नन्द ने महानन्दी की हत्या कर दी, और उसके पुत्रों के नाम पर वह स्वयं राज्य का सञ्चालन करने लगा। महानन्दी के दस पुत्र थे। प्रतीत होता है, कि पिता की हत्या के समय वे सभी कम आयु के थे। यही कारण है कि राजमाता का कृपापात्र होने के कारण सब शासन-शक्ति महापद्म नन्द के हाथों में आ गई थी। बाद में इस महापद्म नन्द ने महानन्दी के पुत्रों का भी घात करा दिया, और स्वयं मगध का सम्राट् बन गया। भारत के प्राचीन इतिहास में इस महापद्म नन्द का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। पुराणों में उसके नाम के साथ 'सर्वक्षत्रान्तक' (सब क्षत्रियों का अन्त करनेवाला) विशेषण का प्रयोग किया गया है, और साथ ही उन राजवंशों के नाम भी दिये गये हैं, जिनका उच्छेद कर उसने अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया था। ये राजवंश निम्नलिखित हैं—ऐक्ष्वाकव, पाञ्चाल, काशी, हैहय, कलिङ्ग, शूरसेन, मैथिल, अश्मक, वीतिहोत्र और कौरव। ऐक्ष्वाकव वंश का शासन कोशल महाजनपद में था, और कौरव वंश का कुरु तथा वत्स महाजनपदों में। हैहय वंश का शासन अनेक जनपदों में था। उस का मुख्य केन्द्र माहिष्मती नगरी में था, और उसकी विभिन्न शाखाओं ने विदर्भ, चेदि आदि में अपने राज्य स्थापित किये थे। वीतिहोत्र वंश भी हैहयवंश की ही एक शाखा था। महापद्म नन्द द्वारा जिन राजवंशों और राज्यों का उच्छेद किया गया, उनकी स्थिति भारत के मध्यदेश तथा उसके समीपवर्ती दक्षिणापथ के प्रदेशों में थी। अश्मक जनपद को जीत लेने के कारण नन्द के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा गोदावरी नदी तक पहुँच गई थी। वत्स और अवन्ति को शिशुनाग नन्दिवर्धन जीत चुका था, और वज्जिसंघ को अजातशत्रु। बिम्बिसार ने अंग महाजनपद को मागध साम्राज्य के अन्तर्गत किया था। अब महापद्म नन्द ने पश्चिम में काशी, कोशल, पाञ्चाल, कुरु और शूरसेन महाजनपदों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त किया, और पूर्व में कलिङ्ग महाजनपद की। पौराणिक अनुश्रुति में महापद्म नन्द द्वारा जीते गये जिन राजवंशों व राज्यों
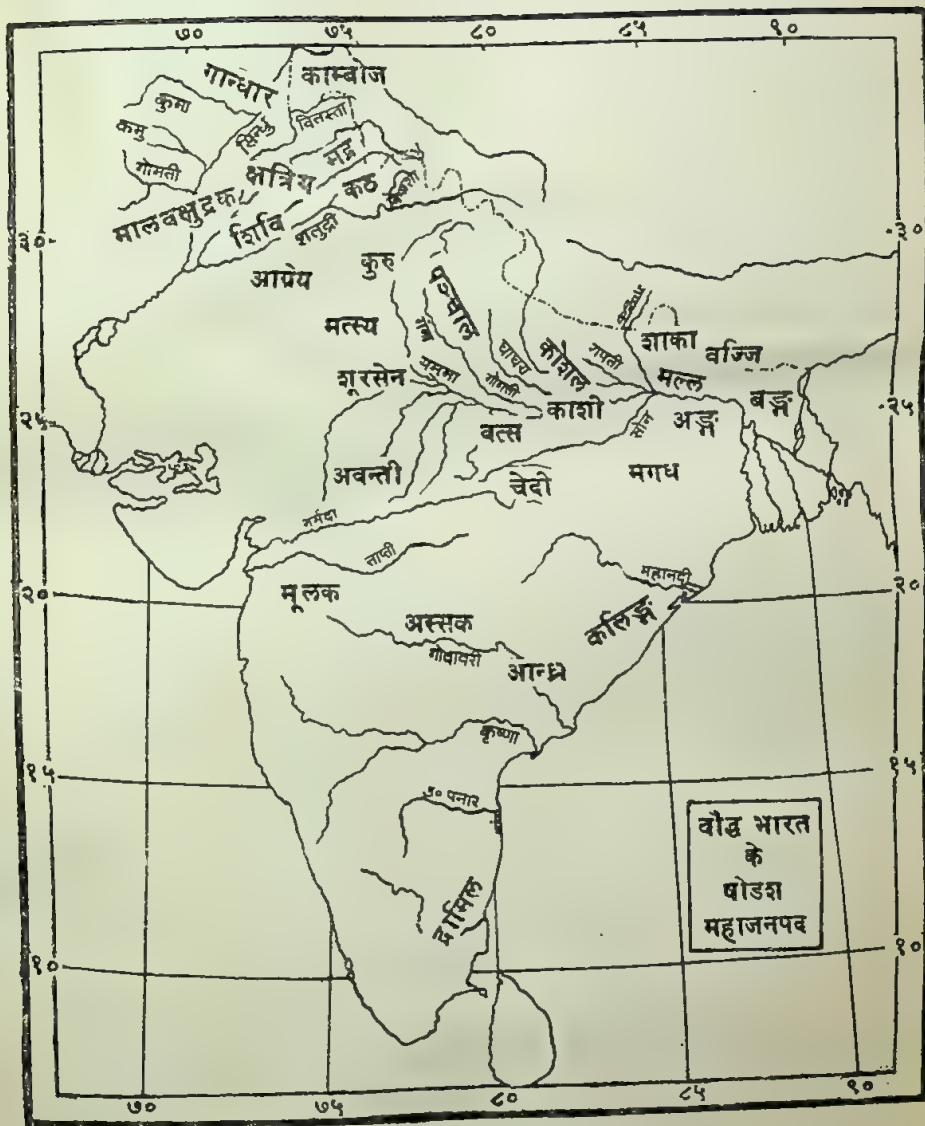
बौद्ध काल के सोलह महाजनपद

का उल्लेख है, उनमें से अनेक उससे पूर्व भी मगध की अधीनता में आ चुके थे। काशी की स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता कोशल द्वारा नष्ट की जा चुकी थी, और मैथिल प्रदेश, जिसमें वज्जि-संघ विद्यमान था, अजातशत्रु के समय में ही मगध की अधीनता में आ चुका था। अतः पौराणिक अनुश्रुति अतिशयोक्ति से पूर्ण प्रतीत होती है। सम्भवतः, पुराणों में उन सब जनपदों तथा राजवंशों को परिगणित कर दिया गया है, जो महापद्म नन्द के अधीन थे। इसमें सन्देह नहीं, कि महापद्म नन्द एक महान् विजेता था। पुराणों में उसे 'अतिबल' कहा गया है, और बौद्ध साहित्य में 'उग्रसेन'। उत्कृष्ट बल या उग्र सैन्यशक्ति का उपयोग करके ही उसने 'सब क्षत्रियों का अन्त कर' के पृथिवी पर अपने 'अनुलंघित शासन' की स्थापना की थी।

महापद्म नन्द के सम्बन्ध में पौराणिक अनुश्रुति की पुष्टि अन्य साधनों से भी होती है। कलिङ्ग (उड़ीसा) के हाथी गुम्फा शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है कि कलिङ्ग को जीत कर वहाँ से नन्द जैन तीर्थङ्कर की एक बहुमूल्य मूर्ति को उठवा कर अपनी राजधानी में लिवा ले गया था।[1] गोदावरी के तट पर नान्देड़ या नौनन्द देहरा नामक एक बस्ती है। सम्भवतः, महापद्म नन्द के नाम पर ही उसका नाम रखा गया था। गोदावरी के दक्षिण में उत्तरी कर्णाटक की भी नन्द ने विजय की थी, यह वहाँ के मध्यकालीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा सूचित होता है। इनमें कुन्तल के प्रदेश पर नन्द का शासन होने का उल्लेख है। कुन्तल वर्तमान माइसूर राज्य के उत्तरी प्रदेश के अन्तर्गत था। कथासरित्सागर में इस बात के निर्देश विद्यमान हैं, कि कोशल पर नन्द का आधिपत्य था। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में समुद्र तक फैले हुए नन्द के राज्य का उल्लेख है। इन सब निर्देशों को दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि महापद्म नन्द के शासन काल में मागध साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ था, और पश्चिम में यमुना नदी में लगाकर पूर्व में अंग और कलिङ्ग तक तथा उत्तर में हिमालय और दक्षिण में गोदावरी और उससे भी परे तक के सब प्रदेश इस 'सर्वक्षत्रान्तक' सम्राट् की अधीनता में आ गये थे। विष्णुपुराण में इस सम्राट् के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—"उसके पश्चात् शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न उस महापद्म का शासन होगा, जो अतिलुब्ध (अत्यन्त लालची), अतिबल (अत्यन्त शक्तिशाली) और दूसरे परशुराम के समान सब क्षत्रियों का अन्त करने वाला होगा। उससे लगाकर सब राजा शूद्र होंगे। वह महापद्म अनुलंघितशासन (जिसके शासन का कोई उल्लंघन न कर सके) होकर एकच्छत्र रूप से पृथिवी का भोग करेगा।" भागवत पुराण में भी महानन्दी के पुत्र महापद्म नन्द को 'क्षत्रविनाशकृत्' 'द्वितीय इव भार्गव' और 'अनुलंघितशासन' सदृश

१. "मागधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय पाययति। मागधं च राजानं बहसतिमितं पादे वंदापयति। नंदराजनीतं च कलिंगजिनं संनिवेस ··· अंगमगध-वसुं च नयति।" हाथीगुम्फा शिलालेख (खारवेल)।

विशेषणों से विभूषित किया गया है। कलियुगराजवृत्तान्त में जहाँ महापद्म नन्द द्वारा जीते गये ऐक्ष्वाकव, पाञ्चाल, हैहय, कौरव्य (कुरु), शूरसेन, मैथिल, कलिङ्ग आदि नृपतियों व उल्लेख है, वहाँ यह भी सूचित किया गया है विन्ध्याचल और हिमालय के मध्यवर्ती सम्पूर्ण प्रदेशों पर उसका अनुलंघित शासन स्थापित था। साथ ही, उसके लिये 'एकराट्' और 'एकच्छत्र' जैसे विशेषण भी वहां प्रयुक्त किये गये हैं। इतने बड़े भूभाग को जीत कर महापद्म नन्द अपार भू-सम्मत्ति को भी सञ्चित करने में समर्थ हुआ था। मुद्राराक्षस और कथासरित्सागर में उसे 'नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वर' और 'नवाधिकनवतिकोटीनामधिप' (९९ करोड़ का स्वामी) लिखा गया है, जो उसके अत्यधिक धनी होने को सूचित करता है।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार महापद्म नन्द के आठ पुत्र थे। बौद्ध ग्रन्थ महाबोधिवंश में इन आठ पुत्रों के नाम दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं——पण्डुक, पण्डुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविशांक, दशसिद्धक, कैवर्त्त और धन। पुराणों से यह तो सूचित होता है, कि नन्द नौ हुए थे, पर उनमें महापद्म नन्द के केवल एक ही पुत्र का नाम विद्यमान है। यह पुत्र सुमाल्य या सुकल्प था। पुराणों के अनुसार नवनन्दों (महापद्म नन्द और उसके आठ पुत्रों) ने कुल मिलाकर १०० वर्ष तक राज्य किया। मत्स्य पुराण में महापद्म नन्द का शासन काल ८८ वर्ष लिखा गया है, और वायु पुराण में २८ वर्ष। सम्भवतः, मत्स्य पुराण में अष्टाविंशति भूल से अष्टाशीति हो गया है। महापद्मनन्द और उसके उत्तराधिकारियों के तिथिक्रम के सम्बन्ध में मतभेद हैं। महावंसो में उनका शासन काल केवल २२ वर्ष उल्लिखित है। पर यह निर्विवाद है, कि ये नन्द राजा अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध थे। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो गंगा के पूर्व में जिस राजा का शासन था, उसे ग्रीक लेखकों ने अग्रमस (Agrammes) या क्सैन्द्रमस (Xandrames) लिखा है। श्री राय चौधरी ने अग्रमस को औग्रसैन्य से मिलाया है, और यह प्रतिपादित कर कि महाबोधिवंश के अनुसार प्रथम नन्द (महापद्म) का नाम उग्रसेन भी था, उन्होंने महापद्म नन्द के पुत्र व उत्तराधिकारी का नाम औग्रसैन्य माना है। उनके मत में इसी औग्रसैन्य को ग्रीक लेखकों ने अग्रमस लिखा है।[१] इसमें सन्देह नहीं, कि गंगा नदी के पूर्व के प्रेसिआई (Prasii प्राच्य) राज्य का यह राजा अत्यन्त शक्तिशाली था। ग्रीक लेखकों के अनुसार इसकी सेना में २०,००० अश्वारोही और २,००,००० पदाति सैनिक थे। इन के अतिरिक्त २००० रथ (जिनमें से प्रत्येक में चार-चार घोड़े जुतते थे) और ३००० हाथी भी इस अग्रमस की सेना में थे। कर्टियस ने अग्रमस की सेना में हाथियों की संख्या ३००० दी है, पर डायोडोरम ने इनकी संख्या ४००० लिखी है, और प्लुटार्क ने ६०००।[२]

---

१ Ray Chaudhuri : Political History of Ancient India, pp 233-336

२ Ibid pp 236-237

प्राच्य (मगध) देश के राजा की सेना में हाथियों की संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हो, पर यह निर्विवाद है कि वह अपने समय का सबसे शक्तिशाली भारतीय राजा था। साम्राज्य-विस्तार की जो प्रवृत्ति चिरकाल से मगध के राजाओं में विकसित हो रही थी, महापद्म नन्द और उसने पुत्र सुमाल्य (या औग्रसैन्य) नन्द के शासन काल में उसे बहुत सफलता प्राप्त हो चुकी थी। सिकन्दर जो भारत में अधिक आगे नहीं बढ़ा, उसका एक कारण मगध के इस राजा की प्रवल सैन्य शक्ति का भय भी था। पर मगध के इस उत्कर्ष का प्रधान श्रेय महापद्म नन्द को ही दिया जाना चाहिये, उसके पुत्र को नहीं। सम्भवतः, महापद्म का उत्तराधिकारी नन्द राजा जनता में अधिक लोकप्रिय नहीं था। धन और शक्ति के गर्व में चूर होकर वह प्रजा की परवाह नहीं करता था, और लोग उसे समुचित आदर प्रदान नहीं करते थे। साथ ही, ये नन्द राजा शूद्र या शूद्रप्राय भी थे। पुराणों में महापद्म नन्द को 'शूद्रागर्भोद्भव' कहा गया है। वह महानन्दी की जिस रानी का पुत्र था, वह शूद्र वर्ण की थी। जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में उसे 'नापितसूः' (नाई का पुत्र) कहा गया है।[१] इसकी पुष्टि ग्रीक लेखकों के विवरण द्वारा भी होती है। कर्टियस ने लिखा है कि "उस (अग्रमस) का पिता वस्तुतः नाई था, और उसके लिये यह भी सम्भव नहीं था कि अपनी कमाई से पेट भी भर सके। पर क्योंकि वह कुरूप नहीं था, अतः रानी का प्रेम प्राप्त कर सकने में समर्थ हो गया। रानी के प्रभाव से लाभ उठा कर वह राजा का विश्वासपात्र बन गया, और बाद में उसने धोखे से राजा की हत्या कर दी। राजपुत्रों का संरक्षक बनकर उसने शासन के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त कर लिये, और फिर उन राजपुत्रों का भी घात कर दिया। वर्तमान राजा (अग्रमस) इसी का पुत्र है।"[२] नन्द वंश के कुल आदि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। पर यह निर्विवाद है, कि नन्द राजा विशुद्ध क्षत्रिय नहीं थे। वे शूद्र या शूद्रप्राय ही थे। इस कारण भी प्रजा का उनके प्रति विशेष अनुराग नहीं था।

नन्दों की शक्ति का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया। यह चन्द्रगुप्त अत्यन्त वीर और साहसी था। इसने न केवल ग्रीक (यवन) आक्रान्ता सैल्युकस को परास्त किया, अपितु भारत के बड़े भाग में मागध साम्राज्य का विस्तार भी किया।

(४) साम्राज्य-निर्माण में मगध की सफलता के कारण

बौद्ध युग में भारत में जो सोलह महाजनपद थे, उन पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। इन सोलह महाजनपदों में मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति प्रधान थे। इन चारों में शक्तिशाली राजाओं का शासन था, और ये चारों ही अपने-अपने साम्राज्यों

१. **'नन्दस्य न नतिं चक्रुरसौ नापितसूरिति।' परिशिष्ट पर्व ६।२४४**

२. Mccrindle : The Invasion of India by Alexander, p222

के निर्माण के लिये प्रयत्नशील थे। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि साम्राज्य-निर्माण के इस संघर्ष में मगध की क्यों सफल हुआ ? किन कारणों से मगध के राजा 'सम्पूर्ण पृथिवी' पर अपना अनुलंघित शासन स्थापित कर सके ? सम्भवतः, ये कारण निम्नलिखित थे—

(१) मगध के निवासियों में ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक थी, जो विशुद्ध आर्य-जाति के नहीं थे। भारत में आर्यों का प्रसार पश्चिम से पूर्व की ओर हुआ था। पञ्चनद, कुरु, पाञ्चाल आदि प्रदेशों में आर्यों ने अपनी प्रारम्भिक बस्तियाँ बसायी थीं। ज्यों-ज्यों वे पूर्व की ओर आगे बढ़े, उन्हें वहाँ के आर्यभिन्न निवासियों से अनेक युद्ध करने पड़े। आर्य इनका सर्वनाश नहीं कर सके, अपितु इन्हें अपनी अधीनता में ले आकर ही संतुष्ट हो गये। यही कारण है, कि मगध और अंग जैसे प्राच्य जनपदों में आर्य-भिन्न जातियों के लोगों की बहुसंख्या थी। जब कोई विजेता जाति बहुसंख्यक विजातियों पर शासन करती है, तो शासनकार्य में निरंकुश होना उसके लिये आवश्यक व उपयोगी हो जाता है। मगध के राजा भी 'एकराट्' व 'एकच्छत्र' शासक थे। जैसी स्वशासन संस्थाएँ कुरु, पांचाल आदि विशुद्ध आर्य जनपदों में विद्यमान थीं, वैसी मगध में नहीं थीं। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहा गया है कि प्राच्य देशों के जो राजा हैं, वे साम्राज्य के लिये ही अभिषिक्त होते हैं और सम्राट् कहाते हैं। इन राजाओं की दृष्टि में आर्यों की प्राचीन मर्यादाओं और मान्यताओं का वह महत्त्व नहीं था, जो अन्य आर्य राजाओं की दृष्टि में था। इसी कारण प्रारम्भ से ही इनमें एक ऐसे साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति पायी जाती है, जिसमें जीते हुए राजाओं का मूलोच्छेद कर दिया जाता था। मगध की इस प्रवृत्ति पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है।

(२) मगध के जिन सम्राटों ने साम्राज्य-विस्तार में असाधारण सफलता प्राप्त की वे भी विशुद्ध आर्य नहीं थे। महापद्म नन्द शूद्र या 'शूद्रप्राय' था। मगध के अन्य भी अनेक राजा शूद्रप्राय थे। पूर्व के प्रदेशों में जो आर्य बसे थे, उन्होंने आर्य-भिन्न जातियों की स्त्रियों से भी विवाह किये थे। उनकी सन्तान वर्णसंकर थी। केवल सर्वसाधारण आर्य ही नहीं, अपितु राजकुलों के पुरुष भी अपनी रक्तशुद्धता को कायम नहीं रख सके थे। इस दशा में उनके लिये यह बहुत सुगम था, कि आर्यों की प्राचीन मर्यादा का अतिक्रमण कर अन्य राजाओं का मूलोच्छेद करने के लिये प्रवृत्त हो सकें।

(३) मगध की जनता में आर्य भिन्न लोगों की प्रचुरता थी, अतः वहाँ भृत सैनिकों को प्राप्त कर सकना बहुत सुगम था। कौटलीय अर्थशास्त्र में मौल सेना के अतिरिक्त भृत और आटविक सेनाओं का भी उल्लेख किया गया है।[1] भृति (वेतन) प्राप्त कर जो सैनिक सेना में भरती होते थे, उन्हें 'भृत' कहते थे, और अटवियों (जंगलों) के निवासियों की सेना को 'आटविक' सेना। इन दोनों प्रकार के सैनिकों को प्राप्त करने की जैसी सुविधा

---

१. कौ. अर्थ. ९।२

मगध में थी, वैसी वत्स, कोशल आदि जनपदों में नहीं थी। मगध के समीप ही महाकान्तार था, जहाँ बहुत-सी आटविक जातियाँ बसती थीं। आर्य-भिन्न लोगों में से भृत सैनिक भरती करना भी बहुत सुगम था।

(४) प्राचीन काल में युद्धों के लिये हाथियों का बहुत महत्त्व था। चाणक्य ने लिखा है—'राजाओं की विजय प्रधानतया हाथियों पर ही आश्रित है। शत्रुओं की छावनी, दुर्ग आदि को कुचल डालने और तोड़ देने के लिये इन विशाल शरीर वाले हाथियों का बहुत उपयोग है।'[1] इसीलिये चाणक्य ने विधान किया है, कि हाथी का वध करने पर प्राणदण्ड दिया जाए।[2] ये हाथी प्राच्य जनपदों के ही श्रेष्ठ माने जाते थे। कलिङ्ग और अङ्ग के हाथी सर्वश्रेष्ठ थे।[3] जब अङ्ग जनपद मगध के अन्तर्गत हो गया, तो वहाँ के राजाओं के लिये हाथियों को बड़ी संख्या में प्राप्त करना सुगम हो गया। ग्रीक लेखकों के अनुसार प्राच्य राजा अन्द्रमस की सेना में हजारों हाथी थे।

१. 'हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्। परानीक व्यूह दुर्ग स्कन्धावार प्रमर्दना ह्यतिप्रमाण-शरीराः प्राणहरकर्माणो हस्तिन इति।' कौ. अर्थ. २।२

२. 'हस्तिघातिनं हन्युः।' कौ. अर्थ. २।२

३. 'कलिङ्गाङ्गगजाः श्रेष्ठाः प्राच्याश्चेति करूशजाः।' कौ. अर्थ. २।२

चौथा अध्याय

चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका शासन

(१) मोरिय गण का कुमार चन्द्रगुप्त

मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त था। उसी ने नन्द वंश के शासन का अन्त कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, और गंगा के पश्चिम के विविध जनपदों को जीत कर हिन्दूकुश पर्वत माला तक मागध साम्राज्य का विस्तार किया था। यह चन्द्रगुप्त कौन था, इस विषय पर प्राचीन साहित्य में अनेक मत पाये जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) नन्द वंश के अन्तिम राजा सुमाल्य नन्द (या धननन्द) की एक पत्नी का नाम मुरा था। वह जाति से शूद्र थी। इसी से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। मुरा का पुत्र होने के कारण ही वह 'मौर्य' कहाया। विष्णुपुराण में लिखा है, कि "तव ब्राह्मण कौटल्य इन नवनन्दों का नाश करेगा। उन (नन्दों) के अभाव में मौर्य पृथिवी का भोग करेंगे। कौटल्य ही 'उत्पन्न' चन्द्रगुप्त को राज्य में अभिषिक्त करेगा।" श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण की टीका करते हुए 'उत्पन्न' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—"नन्द की ही मुरा नाम की भार्या से उत्पन्न।" पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य नन्द का ही पुत्र था, और उसकी माता का नाम मुरा था।

विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस नाटक के उपोद्घात में टीकाकार ढुण्ढिराज ने चन्द्रगुप्त की कथा विस्तार के साथ लिखी है। यह कथा इस प्रकार है—

कलियुग के प्रारम्भ में नन्द नाम के राजाओं का शासन था। इनमें सर्वार्थसिद्धि नाम का राजा अपने पौरुष के लिये विख्यात था। वह 'नवकोटिशत' (नौ सौ करोड़ धन) का स्वामी था, और चिरकाल से पृथिवी पर शासन कर रहा था। इस राजा के वक्रनास आदि कुलीन ब्राह्मण अमात्य थे, जिनमें राक्षस नाम का ब्राह्मण बहुत प्रसिद्ध था। यह राक्षस दण्डनीति में प्रवीण, षाड्गुण्य का ज्ञाता, शुचि (सच्चरित्र) और अत्यन्त शूर था। नन्द राजा इसका बहुत मान करते थे, और राज्य का सञ्चालन इसी के हाथों में था। राजा की दो पत्नियाँ थीं, सुनन्दा और मुरा। सुनन्दा बड़ी थी, और मुरा छोटी। मुरा जाति से वृषल (शूद्र) थी। वह अत्यन्त लावण्य से युक्त और शीलवती होने के कारण पति को बहुत प्रिय थी। एक बार कोई तपोनिष्ठ (तपस्वी) अतिथि राजा के घर आये। पत्नियों के साथ राजा ने अर्घ्य, पाद्य आदि द्वारा भक्तिपूर्वक उनका सत्कार किया। पादोदक

(चरणोदक) के नौ विन्दु सुनन्दा के सिर पर जा पड़े, और एक विन्दु मुरा के। मुरा ने इस विन्दु को वड़े भक्तिभाव तथा सम्मान और प्रतिष्ठा के साथ ग्रहण किया। यह देख कर वह ब्राह्मण अतिथि बहुत प्रसन्न हुआ।

यथोचित समय के पश्चात् मुरा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो वहुत गुणी था। यही मौर्य कहाया। सुनन्दा ने मांस के एक पिण्ड को जन्म दिया, जिसके नौ टुकड़े करा के राक्षस ने उन्हें तेल में रखवा दिया। इन्हीं से वाद में नव नन्द उत्पन्न हुए। राक्षस ने इनका यत्नपूर्वक पालन किया। जव राजा वृद्ध हो गया, तो उसने राज्य-कार्य इन नव नन्दों को सौंप दिया, और मौर्य को सेनापति के पद पर नियुक्त किया। मौर्य के सौ पुत्र हुए, जिनमें चन्द्रगुप्त सवसे श्रेष्ठ था। ये मौर्य पुत्र गुणों में नन्दों की तुलना में वहुत वढ़े चढ़े थे। नन्द इनके प्रति ईर्ष्या का भाव रखते थे। उन्होंने मौर्य पुत्रों के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और सव को छल से भूमि के नीचे वने हुए तहखाने में वन्द कर दिया। वे वहीं पर पञ्चत्व को प्राप्त हो गये, केवल चन्द्रगुप्त ही किसी प्रकार जीता रहा।

एक वार की वात है, कि सिंहलद्वीप के राजा ने मोम का वना हुआ एक ऐसा शेर पिंजरे में वन्द करके नन्दों के पास भेजा, जो देखने में विलकुल जीवित प्रतीत होता था। सिंहल के राजा ने इस शेर को भेजते हुए यह कहलवाया, कि जो कोई पिंजरे को खोले विना ही इस शेर को पिंजरे से वाहर कर देगा, वही वस्तुतः सुमति (बुद्धिमान्) है। नन्द कुछ भी न समझ पाए, वे देखते ही रह गये। चन्द्रगुप्त अभी जीवित था। वह पिंजरे में वन्द शेर के रहस्य को समझ गया। उसने लोहे की शलाका को गरम कर शेर को छुआना प्रारम्भ किया। शेर मोम का वना हुआ था। गरम लोहे के स्पर्श से वह पिघल गया, और पिंजरे से वाहर हो गया। यद्यपि नन्द चन्द्रगुप्त को जिन्दा नहीं रखना चाहते थे, पर क्योंकि उसने अपनी बुद्धि से सवको चमत्कृत कर दिया था, अतः विवश होकर अव उन्होंने उसे भूमि के नीचे वने हुए गुप्तगृह से छुटकारा दे दिया। इस चन्द्रगुप्त में राजा के सव लक्षण विद्यमान थे। इसकी वाहुएँ घुटनों को छूती थीं। यह औदार्य (उदारता), शौर्य, गाम्भीर्य और विनय का भण्डार था। ऐसे गुणी व्यक्ति को भी वे दुष्ट नन्द सहन करने को उद्यत नहीं थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने एक वार फिर चन्द्रगुप्त की हत्या के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया। वे इस प्रतीक्षा में थे कि कोई उपयुक्त अवसर आये और वे चन्द्रगुप्त का घात करा सकें। प्रतीक्षा के इस काल के लिये उन नन्दों ने उसे 'अन्नसत्र' का अधिकारी नियत कर दिया था। चन्द्रगुप्त नन्दों के मनोभावों से भलीभाँति परिचित था, और वह भी उनकी ओर से सावधान था।

एक दिन चन्द्रगुप्त ने एक ऐसे ब्राह्मण को देखा, जो अत्यन्त क्रोधी स्वभाव का था। उसके पैर में कुशा का अग्रभाग चुभ गया था। इससे वह इतना क्रुद्ध हुआ, कि उसने उस कुशा को जड़ से उखाड़ फेंकने का यत्न प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने सोचा, कि यदि यह ब्राह्मण नन्दों पर क्रुद्ध हो जाए, तो उनका विनाश किये बिना कभी नहीं

मानेगा। यह विचार करके चन्द्रगुप्त उस ब्राह्मण की सेवा में उपस्थित हुआ और उसकी सेवा करने लगा। इस ब्राह्मण का नाम विष्णुगुप्त था। औशनस (शुक्राचार्य के सम्प्रदाय की) दण्डनीति और ज्योतिषशास्त्र का यह पारंगत विद्वान् था। नीतिशास्त्र का यह स्वयं प्रणेता था, और सब धर्मों का ज्ञाता था। चणक का पुत्र होने के कारण यह 'चाणक्य' नाम से भी विख्यात था। क्योंकि चन्द्रगुप्त भी अत्यन्त गुणी था, अतः चाणक्य का उसके प्रति बड़ा पक्षपात हो गया। नन्दों ने उस (चन्द्रगुप्त) के प्रति जो व्यवहार किया था, उसका वृत्तान्त जानकर ब्राह्मण विष्णुगुप्त ने प्रतिज्ञा की, कि वह नन्दों का विनाश कर उनका राज्य चन्द्रगुप्त को दिला देगा।

एक दिन चाणक्य नन्दों की भुक्तिशाला में गया, और वहाँ जाकर अग्रासन (प्रधान आसन) पर बैठ गया। नन्दों को जब यह ज्ञात हुआ, तो उन्होंने समझा कि कोई साधारण बटुक अग्रासन पर जा बैठा है। उन्होंने आदेश दिया, कि उसे अग्रासन से उठा दिया जाए। राजाज्ञा के अनुसार बल का प्रयोग कर चाणक्य को अग्रासन से उठा दिया गया। इस पर क्रोध से आविष्ट हो चाणक्य ने भुक्तिशाला के बीच में अपनी शिखा खोलकर यह प्रतिज्ञा की--मेरा अपमान करनेवाले दर्प से अन्ध, दुर्मति और अधम नन्दों को जब तक मैं उखाड़ कर नहीं फेंक दूंगा, शिखा को नहीं बांधूगा। यह घोषणा करके चाणक्य भुक्तिशाला से बाहर निकल गया, और पाटलिपुत्र से भी अन्यत्र चला गया। गर्व से उन्मत्त नन्दों ने उसकी कोई परवाह नहीं की, और उसे मनाने के लिये कोई यत्न नहीं किया। चन्द्रगुप्त भी इसी समय पाटलिपुत्र को छोड़ कर चाणक्य के पास गया, और उसके आश्रय में रहने लगा।

मुद्राराक्षस का उपोद्घात लिखनेवाले ढुण्ढिराज चोडमण्डल के भोसल (भोंसले) वंश के राजा शाहजी के समकालीन थे। भोंसले वंशी शाहजी का काल १७१३-१७२९ था। ढुण्ढिराज ने यह उपोद्घात अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में लिखा था, अतः इसकी प्रामाणिकता में सन्देह होना स्वाभाविक है। पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि ढुण्ढिराज ने इसे किसी प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखा होगा। विष्णु पुराण की टीका में टीकाकार श्रीधर ने यह प्रगट किया है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दराज का पुत्र था, और उसकी मुरा संज्ञक भार्या से उत्पन्न हुआ था। पर ढुण्ढिराज के अनुसार चन्द्रगुप्त नन्द का पौत्र था, पुत्र नहीं। पर श्रीधर और ढुण्ढिराज दोनों इस बात में एकमत हैं, कि मुरा नन्द की अन्यतम भार्या थी, और चन्द्रगुप्त का जन्म नन्दवंश में ही हुआ था। मुरा जाति से शूद्र या वृषल थी। नन्द के अन्य पुत्र भी थे, चाणक्य की सहायता से जिन्हें मारकर चन्द्रगुप्त ने स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया था।

(२) सोमदेवकृत कथासरित्सागर (कथापीठलम्बक, तरङ्ग ५,६) में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में एक अन्य कथा विद्यमान है, जिसे संक्षेप के साथ इस प्रकार लिखा जा सकता है—

वररुचि, व्याडि और इन्द्रदत्त तीन सहपाठी थे। राजा नन्द कुछ समय के लिये अयोध्या आये हुए थे। तीनों सहपाठियों ने सोचा, गुरुदक्षिणा की व्यवस्था करने का यह अच्छा अवसर है। क्यों न नन्द के पास जाकर भिक्षा माँगी जाए। भिक्षा की आशा से वे नन्द के भवन पर गये। पर ज्यों ही वे राजप्रासाद के समीप पहुँचे, राजा की मृत्यु हो गई। इन्द्रदत्त परकाया-प्रवेश में प्रवीण था। योग-विद्या द्वारा उसने राजा नन्द के मृत शरीर में प्रवेश कर लिया। परकाया प्रवेश से पूर्व उसने अपने साथी वररुचि से कहा, कि तुमने भिक्षा मांगने के लिये अकेले मेरे पास आना, और जब तक मैं नन्द के शरीर में रहूँ, व्याडि मेरे शरीर की रक्षा करता रहे। इन्द्रदत्त के शरीर को एक पुराने मन्दिर के एक कोने में छिपा कर रख दिया गया, और इन्द्रदत्त नन्द के मृत शरीर में प्रविष्ट हो गया। राजा को फिर से जीवित देख कर उसके अनुचर व पार्श्वचर बहुत प्रसन्न हुए। नन्द के मन्त्री का नाम शकटार था। वह अत्यन्त चतुर और चाणाक्ष था। पुनर्जीवित होते ही नन्द ने शकटार को आज्ञा दी, कि वररुचि को एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ दे दी जाएँ। इस आज्ञा से शकटार को बहुत आश्चर्य हुआ। मृत राजा का पुनर्जीवित हो जाना, तुरन्त याचक का भिक्षा के लिये उपस्थित हो जाना और राजा द्वारा एक अपरिचित व्यक्ति को एक कोटि सुवर्ण-मुद्राओं का दान दे देना—ये बातें वस्तुतः आश्चर्य की थीं। शकटार जैसे बुद्धिमान् अमात्य को वास्तविक बात समझने में कठिनाई नहीं हुई। शकटार ने राजा की आज्ञा के अनुसार भिक्षा तो दे दी, पर मन में यह विचार किया कि नन्द का पुत्र अभी बालक है, और राज्य के शत्रुओं की कमी नहीं है। अतः यदि यही राजा बना रहे, तो अच्छा है। मुझे इस देह की रक्षा करनी ही चाहिये। यह सोचकर शकटार ने राजकर्मचारियों को यह आज्ञा दी कि राज्य में जो भी मुर्दे हों, उन्हें तुरन्त जलवा दिया जाए। गुप्तचरों ने इन्द्रदत्त की देह का भी पता कर लिया, और उसे भी अग्नि के अर्पित कर दिया गया। अब इन्द्रदत्त के लिये केवल यही मार्ग शेष रह गया, कि वह नन्द के शरीर को ही स्थायी रूप से अपना ले। क्योंकि अब नन्द का शरीर था और इन्द्रदत्त की आत्मा—अतः वह योगानन्द कहा जाने लगा। योगानन्द या इन्द्रदत्त ने व्याडि से परामर्श करके यह विचार किया, कि शकटार सब बात जानता है, अतः स्वाभाविक रूप से उसका यही प्रयत्न होगा, कि जब नन्द का पुत्र चन्द्रगुप्त बड़ा हो जाए, तो उसे ही राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाए। अतः इस अमात्य को अपने मार्ग से हटाना आवश्यक है। उसने शकटार पर यह अभियोग लगाकर कि उसने एक जीवित ब्राह्मण को जलवा दिया है, उसे सन्तान सहित एक बन्द स्थान पर कैद करवा दिया। अब योगानन्द निश्चिन्त हो गया था। उसने वररुचि को अपना प्रधान अमात्य नियुक्त किया, और निश्चिन्त रूप से राज्य करने लगा।

योगानन्द (या इन्द्रदत्त) का असली नन्द की रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम हिरण्यगुप्त रखा गया। इस बीच में शकटार के सब पुत्रों की मृत्यु हो चुकी थी। कैद में शकटार और उसकी सन्तान के लिये दिन भर में केवल एक बार भोजन भेजा जाता था,

और वह भी इतना कम कि एक व्यक्ति के लिये भी पर्याप्त नहीं होता था। इस दशा में शकटार जीवित बच गया, यह भी आश्चर्य की वात थी। वररुचि ने दया कर उसे बन्धनागार से मुक्त करा दिया। पर शकटार का मन वहुत अशान्त था। उसने निश्चय किया, कि योगानन्द से बदला लिया जाए। एक दिन शकटार कहीं जा रहा था। मार्ग में उसे एक ब्राह्मण मिला। वह क्रोध से पृथिवी को खोद रहा था। शकटार ने उससे प्रश्न किया––आप पृथिवी को इस प्रकार क्यों खोद रहे हैं? ब्राह्मण ने उत्तर दिया––मैं यहाँ से कुशा को उखाड़ रहा हूँ, क्योंकि इसने मेरा पैर जख्मी कर दिया है। शकटार ने यह सुनकर सोचा, इस ब्राह्मण द्वारा मेरा कार्य सिद्ध हो सकेगा। नाम धाम पूछकर उसने कहा––कल राजा नन्द के यहाँ श्राद्ध है। मैं आपको वहाँ आने के लिये निमन्त्रित करता हूँ। दक्षिणा में आपको एक लाख सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान की जायेंगी।

चाणक्य ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, और अगले दिन यथासमय श्राद्ध में मुख्य होता के स्थान पर बैठ गया। सुवन्धु नाम का एक अन्य ब्राह्मण था, जो श्राद्ध में मुख्य होता बनना चाहता था। शकटार ने नन्द के सम्मुख समस्या प्रस्तुत की। नन्द ने आदेश दिया––सुबन्धु मुख्य होता का स्थान ग्रहण करेगा, दूसरा ब्राह्मण इस पद के योग्य नहीं है। भय से कांपता हुआ शकटार चाणक्य के पास गया, और सब बातें उसकी सेवा में निवेदन कर दीं। शकटार की वात सुनते ही चाणक्य क्रोध से जल उठा। शिखा खोल कर उसने प्रतिज्ञा की––सात दिन के अन्दर-अन्दर ही इस नन्द का विनाश करके छोड़ूंगा। नन्द के विनाश के वाद ही मेरी यह खुली हुई शिखा बंध पायगी। अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये चाणक्य ने अभिचार क्रिया का आश्रय लिया। शकटार की सहायता से प्रतिज्ञात दिन नन्द की मृत्यु हो गई। योगानन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त की भी शकटार द्वारा हत्या करा दी गई, और वास्तविक नन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर आसीन कराया गया। शकटार ने चाणक्य से प्रार्थना की, कि वह चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री का पद स्वीकार करे। चाणक्य को मन्त्री और चन्द्रगुप्त को राजा वनाकर शकटार ने शान्ति की सांस ली, और पुत्रशोक से पीड़ित वह बन को चला गया।

कथासरित्सागर की अन्य अनेक कथाओं के समान चन्द्रगुप्त, चाणक्य और नन्द की इस कथा में भी अनेक असम्भव व अविश्वसनीय वातें विद्यमान हैं। इसका आधार ही परकाया प्रवेश है, जिसकी सचाई में विश्वास कर सकना सम्भव नहीं है। कथासरित्सागर के अनुसार चन्द्रगुप्त नन्द का ही पुत्र था, और वही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन का वास्तविक अधिकारी था। वह दासी-पुत्र या शूद्रा माता का पुत्र न होकर नन्द की एकमात्र सन्तान था, और उसकी माता मागध राज्य की रानी थी। विष्णु पुराण और ढुण्डिराज की कथा से इसका यही तात्त्विक भेद है।

(३) लंका की वौद्ध अनुश्रुति में चन्द्रगुप्त मौर्य के वंश व जाति के सम्बन्ध में एक सर्वथा भिन्न मत पाया जाता है। महावंसो में इस विषय में ये पक्तियाँ आयी हैं––काला-

सोक के दस पुत्र थे। इन दस भाइयों ने बाईस वर्ष तक शासन किया। उनके पश्चात् नव-नन्दों ने क्रमशः राज्य किया। इनके शासन का काल भी बाईस वर्ष ही था। इन सब नन्दों में नवें नन्द का नाम धन नन्द था। चाणक्क (चाणक्य) नाम के ब्राह्मण ने चण्ड क्रोध से इस धननन्द का विनाश किया, और मोरिय खत्तियों (मौर्य क्षत्रियों) के वंश में उत्पन्न श्रीसम्पन्न चन्द्रगुप्त को सकल जम्बू द्वीप का राजा बनाया। (महावंसो ५।१४-१७)

चन्द्रगुप्त और चाणक्य का यह परिचय सूत्ररूप से है। पर इसमें यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है कि चन्द्रगुप्त का जन्म मोरिय क्षत्रियों के वंश में हुआ था। महावंसो के टीकाकार ने चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में अधिक विशद रूप से प्रकाश डाला है, जो इस प्रकार है—

"यहाँ यह उचित होगा कि इन दोनों (चाणक्य और चन्द्रगुप्त) के विषय में लिखा जाए। यदि मुझसे पूछा जाए कि यह चाणक्क किसका पुत्र था और कहाँ रहता था, तो मैं उत्तर दूंगा कि यह तक्षशिला का रहनेवाला था और वहीं के एक ब्राह्मण का पुत्र था। वह तीनों वेदों का ज्ञाता, शास्त्रों में पारंगत, मन्त्रविद्या में निपुण और दण्डनीति का आचार्य था। जब उसके पिता की मृत्यु हो गई, तो वह कर्तव्य समझ कर अपनी माता की सेवा करने लगा। यह बात जगविदित थी कि वह एक असाधारण व्यक्ति है। एक दिन की बात है, कि उसकी माता रो रही थी। चाणक्क ने अपनी माता के पास जाकर प्रश्न किया—'मां, तुम रोती क्यों हो?' माता ने उत्तर दिया—'प्रिय पुत्र, तुम्हारे भाग्य में छत्र धारण करना लिखा है। तुम छत्र धारण करने और राज्यश्री से युक्त होने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? राज-कुमार प्रायः अपने कुटुम्बियों को भूल जाते हैं। मेरे पुत्र, क्या तुम भी मुझे और मेरे प्रेम को भूल जाओगे? यदि ऐसा हुआ, तो मुझे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। मैं इसी सम्भावना से रो रही हूँ।' यह सुनकर चाणक्क ने फिर प्रश्न किया—'माँ, मेरे कौन-से अंग पर श्री अंकित है?' माता ने उत्तर दिया—मेरे प्रिय पुत्र, तुम्हारे दाँत पर।' यह सुनकर चाणक्क ने अपना दाँत तोड़ दिया, और वह खण्डदन्त होकर अपनी माता की सेवा करने लगा। उसका केवल दाँत ही नहीं टूटा हुआ था, अपितु उसके अंग भी टेढ़े थे, और उसका शरीर कुरूप था।

"इसी बीच में चाणक्क पुष्पपुर गया। वहाँ का राजा धननन्द अब पहले के समान कृपण नहीं रहा था। धन को दबा कर रखने की प्रवृत्ति का परित्याग कर उसने अब दान-पुण्य करना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके कारण उसका मन 'मच्छरिय मल' से विरहित हो गया था। उसने एक भुक्तिशाला बनवायी हुई थी, जिसमें वह ब्राह्मणों को दान दिया करता था। साधारण ब्राह्मणों को एक लाख दान में दिया जाता था, और संघ-ब्राह्मणों को एक कोटि। चाणक्क भी इस भुक्तिशाला में गया, और अग्र-ब्राह्मण या संघ-ब्राह्मण के आसन पर जा बैठा। यथासमय राजा नन्द सुन्दर वस्त्र पहनकर और बहुत-से मनुष्यों के साथ भुक्तिशाला में आया। प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि चाणक्क पर पड़ी, जो अग्रासन पर

आसीन था। चाणक्क को देख कर उसके मन में आया, निश्चय ही यह अग्रस्थान का अधिकारी नहीं हो सकता। नन्द ने चाणक्क से प्रश्न किया—'तुम कौन हो, जो अग्रासन पर बैठे हुए हो?' चाणक्क ने उत्तर दिया—'यह मैं हूँ।' यह सुनकर नन्द को क्रोध आ गया, और उसने क्रुद्ध होकर कहा—इस नीच ब्राह्मण को धक्के देकर बाहर निकाल दो, इसे यहाँ न बैठने दो। यद्यपि साथियों (राजपुरुषों) ने उसे बार-बार समझाया कि देव, ऐसा न कीजिये, पर राजा ने उनकी एक न सुनी। इस पर राजपुरुष चाणक्क के पास गये, और उससे बोले—'आचार्य! हम राजकीय आज्ञा से आपको यहाँ से उठाने के लिये आये हैं, परन्तु हमें यह कहने का साहस नहीं हो रहा कि आचार्य, आप यहाँ से उठ जाइये। हम लज्जित होकर आपके सम्मुख खड़े हैं।' नन्द पर क्रुद्ध होकर उठते हुए चाणक्क ने अपने कमण्डल को इन्द्रकील पर पटक कर जोर के साथ कहा—'राजा बहुत उद्धत हो गये हैं, चारों समुद्रों से घिरी हुई यह पृथिवी नन्द का विनाश देख ले।' राजपुरुषों ने यह बात राजा नन्द की सेवा में निवेदन कर दी, जिसे सुनकर नन्द क्रोध से तमतमा उठा। उसने गरज कर कहा—पकड़ो, पकड़ो, इस दास को पकड़ो। भागता हुआ चाणक्क राजप्रासाद के एक गुप्त स्थान पर छिप गया। पीछा करने वाले उसे पकड़ नहीं सके। उन्होंने वापस लौट कर नन्द को सूचना दी, कि ब्राह्मण का कहीं भी पता नहीं मिला।'

"रात्रि के समय चाणक्क राजकुमार पब्बत (पर्वतक) के कुछ साथियों से मिला। उसने उन्हें विश्वास दिलाया कि वह पर्वतक को राज्य दिला देगा। उनकी सहायता से उसने राजकुमार से भी भेंट की। पर्वतक को अपने साथ मिलाकर और उसे शीघ्र राज्य दिला देने की आशा दिलाकर उसने राजप्रासाद से बाहर निकलने के उपायों पर सोचना प्रारम्भ किया। अन्त में राजकुमार की माता से चाबी मंगवाकर उसने गुप्त मार्ग को खोल लिया, और राजकुमार के साथ इसी गुप्त मार्ग से राजप्रासाद से बाहर हो गया। वे दोनों विन्ध्याचल के समीप के जंगलों की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच कर चाणक्क ने धन एकत्र करना शुरू किया। एक काहापन (कार्षापण) के आठ काहापन बनाकर उसने ८० करोड़ कार्षापण एकत्र कर लिये। इस धन को गुप्त कोष में रखकर अब चाणक्क ने किसी ऐसे राजकुमार की ढूंढ प्रारम्भ की, जो जन्म से भी कुलीन हो। तब पूर्वकथित चन्द्रगुप्त से उसकी भेंट हुई। यह चन्द्रगुप्त मोरिय क्षत्रियों के वंश में उत्पन्न हुआ था। इसकी माता मोरिय नगर की रानी थी। इस मोरिय नगर का उल्लेख पहले किया जा चुका है। जब एक शक्तिशाली राजा ने मोरिय नगर पर आक्रमण कर वहाँ के राजा को मार दिया, तब चन्द्रगुप्त की माता गर्भवती थी। अपने गर्भ की रक्षा करने के लिये रानी गुप्त वेश में अपने भाइयों के साथ पुष्पपुर चली आई। भाइयों के संरक्षण में वह पुष्पपुर में ही निवास करती रही। गर्भ का समय पूरा होने पर उसने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। पर शत्रुओं से उसकी रक्षा करना कठिन जान माता ने उसे उक्खली में डालकर एक घोष-द्वार पर रख दिया। जिस प्रकार राजकुमार घोष की रक्षा चन्द नामक वृषभ द्वारा की गई थी, वैसे ही इस राजकुमार की

रक्षा भी चन्द नामक वृषभ ने की। वाद में एक गोपालक ने राजकुमार की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। क्योंकि प्रारम्भ में इसकी रक्षा भी चन्द द्वारा की गई थी, अतः इसे 'चन्दगुप्त' नाम दिया गया। जव चन्द्रगुप्त की आयु स्वयं पशु चराने के योग्य हो गई, तो उस गोपालक के अन्यतम शिकारी मित्र ने उसे अपने पास रख लिया। वह शिकारी चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया, और वह उसी के घर पर रहने लगा।

"एक वार की वात है, कि चन्द्रगुप्त अन्य लड़कों के साथ पशु चरा रहा था। लड़कों ने एक खेल खेलना प्रारम्भ किया। इसे वे 'राजकीय खेल' कहते थे। खेल में चन्द्रगुप्त ने राजा का पद ग्रहण किया, और उसके साथियों ने उपराजा, न्यायाधीश आदि के अन्य राजकीय पद। कुछ को चोर और डाकू वनाया गया। इस प्रकार अपने साथियों को विविध व्यक्तियों की भूमिकाएं प्रदान कर चन्द्रगुप्त 'राजसिंहासन' पर वैठ गया, और उसके सम्मुख चोरी और डकैती के अभियुक्तों को न्याय के लिये उपस्थित किया गया। सरकार और अभियुक्त दोनों की ओर से अपने-अपने पक्ष में साक्षी पेश किये गये, और दोनों पक्षों द्वारा युक्तियाँ प्रत्युक्तियाँ प्रस्तुत की गईं। न्यायाधीशों ने निर्णय किया कि अभियुक्तों के विरुद्ध चोरी और डकैती का अभियोग सिद्ध हो गया है, और उन्हें हाथ तथा पैर काट दिये जाने का दण्ड प्रदान किया जाता है। इस निर्णय को क्रियान्वित करने के लिये 'राजा' चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी, कि अभियुक्तों के हाथ और पैर काट दिये जाएँ। इस पर 'राजपुरुषों' ने कहा—'देव ! हमारे पास कुल्हाड़े तो हैं ही नहीं।' यह सुनकर चन्द्रगुप्त ने कहा—'यह राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा है, कि इनके हाथ और पैर काट दिये जाएँ। यदि तुम्हारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं, तो लकड़ी का डण्डा वनाओ और उसके आगे वकरे के सींग लगाकर कुल्हाड़ा बना लो।' राजपुरुषों ने यही किया। कुल्हाड़ा वना लिया गया, और अभियुक्तों के हाथ तथा पैर काट डाले गये। अव चन्द्रगुप्त ने फिर आज्ञा दी—'इनके हाथ पैर फिर जुड़ जाएँ।' यही हुआ, और उनके हाथ पैर फिर जुड़ गये।

"चाणक्क खड़ा हुआ यह दृश्य देख रहा था। वह वहुत आश्चर्यान्वित हुआ और चन्द्रगुप्त से प्रभावित भी। वह वालक चन्द्रगुप्त के साथ गाँव में गया, और शिकारी के सम्मुख एक हजार कार्षापण रखकर वोला—'अपने इस पुत्र को तुम मेरे साथ कर दो। उसे मैं सव शिक्षाएँ दूंगा।' शिकारी ने उसकी वात मान ली, और चाणक्क चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया। ऊन के तागे को सुवर्ण सूत्र के साथ वट कर उसने चन्द्रगुप्त के गले में डाल दिया।

"चाणक्क ने इसी प्रकार का सुवर्णसूत्र कुमार पर्वतक के गले में भी डाल रखा था। जव ये दोनों कुमार (चन्द्रगुप्त और पर्वतक) चाणक्क के साथ रह रहे थे, दोनों को एक-एक सुपना आया। दोनों ने अपने-अपने सुपने चाणक्क को सुनाए। उन्हें सुनकर वह जान गया कि पर्वतक राज्य प्राप्त नहीं कर सकेगा, और चन्द्रगुप्त शीघ्र ही जम्वुद्वीप का सम्राट् वनेगा। पर उसने यह वात कुमारों से नहीं कही।

"एक दिन की बात है कि वे तीनों एक न्यौते में खीर खाकर एक वृक्ष के नीचे लेटे हुए थे। उन्हें वहाँ नींद आ गई। चाणक्य की नींद सबसे पहले खुली। उसने पर्वतक को जगाया और उसकी परीक्षा लेने के प्रयोजन से उसे एक तलवार देकर कहा—चन्द्रगुप्त के गले में जो सूत्र पड़ा हुआ है, उसे मेरे पास ले आओ, पर यह ध्यान रखना कि न सूत्र टूटने पाए और न उसकी गाँठ ही खुले। पर्वतक को कोई उपाय न सूझा और वह खाली हाथ वापस आ गया। ऐसे ही एक अन्य दिन चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की परीक्षा ली। चन्द्रगुप्त को भी एक तलवार दी गई, और उसे भी यह कहा गया कि पर्वतक के गले में जो सूत्र पड़ा हुआ है, उसे इस ढंग से निकाल लाओ कि न वह टूटे और न उसकी गाँठ ही खुले। चन्द्रगुप्त ने सोचा, पर्वतक का सिर काट कर ही सूत्र इस रूप में प्राप्त किया जा सकता है, कि न वह टूटने पाए और न उसकी गाँठ ही खुले। उसने यही किया और सूत्र लाकर चाणक्य के हाथ में दे दिया। इससे चाणक्य अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

"चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को छः या सात साल अपने पास रखा। इस काल में उसने उसे सब प्रकार की विद्याएँ सिखायीं। सैन्य-सञ्चालन और युद्ध विद्या की शिक्षा पर उसने विशेष ध्यान दिया। चाणक्य ने सोचा, कि अब यह चन्द्रगुप्त सेना का सञ्चालन करने के योग्य हो गया है। उसने कोश में सञ्चित धन बाहर निकाला, और सेना एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया। चन्द्रगुप्त को इस सेना का सेनापति बनाया गया, और ग्रामों तथा नगरों को जीत कर अपने अधीन करना शुरू किया गया। इससे लोग उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और उन्होंने सेना को चारों ओर से घेर कर नष्ट कर दिया। अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने भाग कर जंगल में शरण ली, और यह विचार किया कि अब तक युद्ध का कोई भी परिणाम नहीं निकला है, केवल हमारी सेना ही नष्ट हुई है, क्यों न हम चलकर लोगों के विचारों का पता करें। यह निश्चय करके उन्होंने वेश बदल कर घूमना प्रारम्भ किया। दिन भर वे घूमते-फिरते रहते, और रात को किसी गाँव या नगर में विश्राम कर लोगों की बातचीत को सुनने का प्रयत्न करते। एक गाँव में एक स्त्री पुवे बनाकर अपने लड़के को खाने के लिये दे रही थी। लड़का पुवों का चारों ओर का किनारा छोड़ता जाता था और बीच का भाग खा लेता था। यह देखकर उसकी माता ने कहा—'इस लड़के का व्यवहार चन्द्रगुप्त जैसा है, जिसने कि राज्य लेने का प्रयत्न किया था।' यह सुनकर बालक ने प्रश्न किया—'मां, मैं क्या कर रहा हूँ, और चन्द्रगुप्त ने क्या किया था ?' माता ने उत्तर दिया—'मेरे प्रिय पुत्र ! तुम चारों ओर का भाग छोड़कर केवल बीच का भाग खा रहे हो। चन्द्रगुप्त की आकांक्षा सम्राट् बनने की थी। उसने सीमान्तों को अपने अधीन किये बिना ही राज्य के मध्यवर्ती ग्रामों और नगरों को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया। इसी कारण लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और सीमान्त की ओर से आक्रमण कर उसकी सेना को नष्ट कर दिया। चन्द्रगुप्त की युद्धनीति मूर्खतापूर्ण थी।"

"चाणक्य और चन्द्रगुप्त माता और पुत्र का यह वार्तालाप सुन रहे थे। उन्होंने इससे

शिक्षा ग्रहण की, और एक बार फिर सेना एकत्र की। इस बार उन्होंने पहले सीमान्त के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, और वहाँ से वे देश के मध्य भागों में स्थित नगरों और ग्रामों को जीतते हुए आगे बढ़ते गये। धीरे-धीरे वे पाटलिपुत्र तक बढ़ आये, और धननन्द का विनाश कर उन्होंने राज्य प्राप्त कर लिया।

"यद्यपि राज्य प्राप्त हो गया, पर चाणक्क ने चन्द्रगुप्त को तुरन्त राजगद्दी नहीं दी। उसने पहले धननन्द के कोश का पता लगाने का प्रयत्न किया। इस प्रयोजन से उसने एक मछियारे को अपने साथ मिलाया, और उसे राज्य प्रदान कर देने का लालच देकर राजकीय कोश का पता लगा लिया। फिर उस मछियारे को मार कर चाणक्क ने चन्द्रगुप्त को राज-सिंहासन पर बिठाया।

"चन्द्रगुप्त की यह सम्पूर्ण कथा उत्तर विहार के श्रवणों की अट्ठकथा में लिखी हुई है। जो अधिक विस्तार से जानना चाहें, वे वहाँ पढ़ सकते हैं। यहाँ यह कथा संक्षिप्त रूप से से दी गई है। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार हुआ।"

चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्व जीवन के सम्बन्ध में जो कथा महावंसो की टीका में दी गई है, ऐतिहासिक दृष्टि से वह तथ्य पर आश्रित प्रतीत होती है। बौद्ध युग में 'मोरिय' नाम के एक गणराज्य की सत्ता बौद्ध साहित्य द्वारा सूचित होती है। महापरिनिब्बानसुत्त (६।३१) के अनुसार जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण (स्वर्गवास) हो गया, तो पिप्पलिवन के मोरियों ने कुशीनारा के मल्लों के पास यह संदेश भेजा था—"भगवान् (बुद्ध) क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं। अतः हमें भी भगवान् के शरीर के भाग को प्राप्त करने का अधिकार है। हम भी भगवान् के शरीर (शरीर के भाग) पर महान् स्तूप का निर्माण करेंगे।" पर जब मोरियों का यह सन्देश कुशीनारा पहुँचा, भगवान् बुद्ध के शरीर के सब भाग विभक्त हो चुके थे। कोई भी शेष नहीं रहा था। केवल अंगारे ही बच रहे थे। उन्हें ही प्राप्त कर मोरियों को सन्तोष करना पड़ा। वे उन्हीं को ले गये। महात्मा बुद्ध की मृत्यु कुशीनारा में हुई थी। वहीं उनके अन्तिम संस्कार हुए थे। महापरिनिब्बानसुत्त में 'शरीर' शब्द का प्रयोग 'अस्थि' के अर्थ में हुआ है। मोरिय गण के लोगों ने भी बुद्ध की अस्थि (फूल) प्राप्त करने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसमें वे सफल नहीं हो सके थे।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार मोरिय गण का प्रादुर्भाव शाक्य गण से ही हुआ था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, कि मोरिय शाक्य गण की ही एक शाखा थे। महावंसो के टीकाकार ने लिखा है, कि जब भगवान् बुद्ध जीवित थे, राजा विडूडभ (कोशल महाजन-पद का राजा विरुद्धक, जो प्रसेनजित् का उत्तराधिकारी था) ने शाक्य जनपद पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के कारण शाक्य गण के कुछ लोग अपने देश को छोड़ कर हिमवन्त प्रदेश में जा बसे। वहाँ उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर तथा रमणीक स्थान को देखा। यहाँ शुद्ध जल का एक जलाशय था और यह स्थान सघन वृक्षों से आच्छादित था। उन शाक्यों की इच्छा हुई, कि इसी स्थान पर बस जाएँ। इस प्रदेश में एक ऐसे स्थान पर जहाँ कि

अनेक मार्ग आकर मिलते थे, उन्होंने अपना नगर बसाया जो सम्यक् प्रकार से सुरक्षित था। इस नगर के भवनों की रचना मयूरग्रीवा के समान क्रम से बनायी गई थी। मयूरों की केकाध्वनि से भी यह नगर सदा प्रतिध्वनित रहता था। इसी कारण इस नगर का नाम ही 'मयूर नगर' पड़ गया। इस नगर के निवासी और उनके वंशज जम्बुद्वीप में मोरिय (मौर्य) नाम से प्रसिद्ध हुए। मोरिय गण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कथा कहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य पर आश्रित है, यह निर्धारित कर सकना कठिन है। मौर्य वंश के राजा अशोक का बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके प्रयत्न से बौद्ध धर्म का बहुत उत्कर्ष हुआ, और लंका में इस धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को है, जो अशाक की सन्तान थे। इस दशा में यदि लंका की प्राचीन अनुश्रुति में महेन्द्र, संघ-मित्रा और अशोक के कुल का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के कुल के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। बुद्ध शाक्य क्षत्रिय थे, और शाक्य गण के अन्यतम 'राजा' शुद्धोदन के पुत्र थे। बौद्धों की दृष्टि में शाक्य कुल की बहुत प्रतिष्ठा थी। अतः अशोक के कुल की महत्ता को बढ़ाने के लिये उसे शाक्य कुल के साथ सम्बद्ध करना स्वाभाविक था। मोरिय गण का चाहे शाक्य गण के साथ सम्बन्ध न भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि छटी सदी ई० पू० और उसके समीपवर्ती काल में मोरिय नामक एक गण उत्तरी विहार के प्रदेश में विद्यमान था। इसकी राजधानी पिप्पलिवन नगरी थी, जिसकी स्थिति कुशीनारा के मल्ल-गण और रामनगर के कोलिय-गण के समीपवर्ती प्रदेश में ही कहीं थी। ह्युएन्त्सांग ने अपने यात्रा विवरण में न्यग्रोध वन का वर्णन किया है, जहाँ राजा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप भी विद्यमान था।[1] कतिपय ऐतिहासिकों ने पिप्पलिवन को ह्युएन्त्सांग के न्यग्रोध वन के साथ मिलाया है।[2]

बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य में भी मोरिय या मौर्य जाति की सत्ता के निर्देश विद्यमान हैं। परिशिष्ट पर्व में लिखा है, कि जिस ग्राम में राजा नन्द के मयूरपोषक लोग रहते थे, एक दिन चाणक्क परिव्राजक का वेश बनाकर भिक्षा के लिये वहाँ चला गया। मयूरपोषकों के सरदार की एक लड़की गर्भवती थी। इसी से चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ था।[3] जैन ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की हरिभद्रीया टीका में भी राजा नन्द के मोरपोसगों (मयूरपोषकों) के ग्राम और उसके प्रमुख के कुल में चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति का उल्लेख है।[4] सम्भवतः,

---

1 Beal : Buddhist Records of the Western World, Vol. II, pp. 21-22.

2. Ray Chaudhuri : Political History of Ancient India, p. 194

३. परिशिष्ट पर्व ८।२२९-२३१

४. नन्दस्स मोरपोसगा। तेसिं गामे गाओ परिव्वायगालिं गेणं। तेसिं च मयहर धूयाए चंद पियणं मि दोहलो। सा समुयाणि वो गओ। पुच्छंति सो भगइ। इमं दाणं देह। तोणं पाएमि चंद...इत्यादि ।

मोरियों या मौर्यों को ही जैन साहित्य में 'मयूरपोषक' नाम से उल्लिखित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि उत्तरी बिहार के क्षेत्र में मोरिय क्षत्रियों का भी एक अपना गणराज्य था, जिसकी राजधानी पिप्पलिवन थी। वज्जि, विदेह, शाक्य, मल्ल आदि अन्य गण राज्यों के समान मोरियगण भी कोशल और मगध जैसे शक्तिशाली महाजनपदों के आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकने में असमर्थ रहा। शाक्य गण की स्वतन्त्रता का अन्त कोशल के राजा विरुद्धक द्वारा किया गया था। सम्भवतः, मोरिय गण की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त भी कोशल के ही किसी राजा ने किया था। पर इस सम्वन्ध में कोई निर्देश प्राचीन साहित्य में नहीं पाया जाता। पड़ोस के किसी विजिगीषु राजा द्वारा जब पिप्पलिवन आक्रान्त कर लिया गया, तो उसके अन्यतम 'राजा' की पत्नी ने अपने भाइयों के साथ पाटलिपुत्र में आकर आश्रय ग्रहण किया। उस समय वह गर्भवती थी। पाटलिपुत्र में निवास करते हुए ही उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। महावंसो के टीकाकार द्वारा संकलित जो कथा ऊपर दी गई है, उससे सूचित होता है कि पाटलिपुत्र में भी चन्द्रगुप्त और उसकी माता का जीवन निरापद नहीं था। उनके कुटुम्बी लोग प्रच्छन्न रूप से ही वहाँ अपना जीवन बिता रहे थे। इसीलिये चन्द्रगुप्त का पालन पोषण पहले एक गोपालक (ग्वाले) द्वारा किया गया, और फिर एक शिकारी द्वारा।

मौर्य वंश की उत्पत्ति के सम्वन्ध में जो मत विष्णुपुराण, कथासरित्सागर और मुद्राराक्षस के उपोद्घात में दिये गये हैं, उनके अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म नन्द वंश में ही हुआ था। उसकी माता का नाम मुरा था, जो शूद्रा या वृषल थी, पर नन्द की पत्नी थी। कथासरित्सागर में चन्द्रगुप्त ही राजा नन्द का एकमात्र पुत्र था, और वहाँ उसकी माता को शूद्रा या वृषल नहीं कहा गया। मुद्राराक्षस को भी यही मत अभिप्रेत है, कि चन्द्रगुप्त नन्द वंश का था। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अंक में मलयकेतु को वहकाते हुए भागुरायण ने यह कहा है, "ठीक है, पर वात यह है कि अमात्य राक्षस का वैर चाणक्य से है, चन्द्रगुप्त से नहीं है। यदि कहीं चाणक्य के अतिशय प्रभाव को न सह सकने के कारण चन्द्रगुप्त उसे (राक्षस को) अपना मन्त्री वना ले, और वह राक्षस भी नन्द कुल के प्रति भक्ति के कारण 'यह नन्द के वंश का ही है' यह सोच कर चन्द्रगुप्त के साथ सुलह कर ले, और चन्द्रगुप्त भी यह समझ कर कि यह (राक्षस) पिता के समय से चला आ रहा है, उसके साथ उस सुलह को स्वीकार कर ले..." मुद्राराक्षस के पाँचवें अंक में भी मलयकेतु ने क्रुद्ध होकर राक्षस से इस प्रकार कहा है—"यह मौर्य (चन्द्रगुप्त) आपके स्वामी का पुत्र है, इसके विपरीत मैं आपके मित्र का पुत्र हूँ।[1]" निस्सन्देह, विशाखदत्त की दृष्टि में चन्द्रगुप्त राजा नन्द का ही पुत्र था, यद्यपि मुद्राराक्षस में भी उसे बार-बार 'वृषल' कहा गया है। विशाखदत्त ने उसी अनुश्रुति का प्रयोग किया गया है, जो विष्णुपुराण को स्वीकार्य थी।

---

१. **"मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रस्तवाहम् ।'**

सम्भवतः, ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध अनुश्रुति की कथा अधिक संगत और विश्वसनीय है। उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं पायी जाती, जो अयुक्तियुक्त हो। परकाया-प्रवेश और गर्भ को अनेक खण्डों में विभक्त कर उनसे सन्तान की उत्पत्ति जैसी असम्भव बातों का इस कथा में सर्वथा अभाव है। उत्तरी बिहार में वज्जि, शाक्य आदि जो अनेक गणराज्य विद्यमान थे, वे 'राजशब्दोपजीवि' थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघों का उल्लेख करते हुए लिच्छविक, वृजिक और मल्लक गणों को उनमें परिगणित किया गया है।[1] ये तीनों गण या संघ उत्तरी बिहार में ही स्थित थे। इनकी शासन पद्धति के सम्बन्ध में अनेक निर्देश बौद्ध साहित्य में पाये जाते हैं। ललितविस्तार में लिखा है, कि वैशाली (वज्जि की राजधानी) के निवासियों में उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नहीं किया जाता। वहाँ सब कोई अपने विषय में यही समझते हैं, कि मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ। कोई किसी से छोटा होना स्वीकार नहीं करता। एकपण्ण जातक के अनुसार वैशाली में राज्य करनेवाले राजाओं की संख्या सात हजार सात सौ सात थी। वहाँ प्रत्येक कुल के मुखिया को राजा कहा जाता था। इसके विपरीत शाक्य गण में राज्य के मुखिया (गणमुख्य) के लिये ही राजा शब्द का प्रयोग होता था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य राज्य के वंशक्रमानुगत राजा नहीं थे। उन्हें कुछ समय के लिये ही 'राजा' क पद प्राप्त हुआ था। इसी कारण बौद्ध साहित्य में जहाँ अनेक स्थलों पर उनके नाम के साथ 'राजा' विशेषण आया है, वहाँ अन्यत्र उनके जीवन काल में ही उनके भतीजे भद्दिय को राजा कहा गया है, और उन्हें केवल "शाक्य शुद्धोदन।" मोरिय गण में शाक्यों के ढंग की शासन पद्धति थी या वज्जियों जैसी, यह निर्धारित कर सकना सम्भव नहीं है। पर यह कहा जा सकता है, कि चन्द्रगुप्त का पिता भी मोरिय गण में 'राजा' की स्थिति रखता था, यद्यपि वह वहाँ का वंशक्रमानुगत शासक नहीं था।

चन्द्रगुप्त और उसके वंशज जो मौर्य या मोरिय कहाए, उसका कारण उनका मोरिय क्षत्रियों के कुल में उत्पन्न होना ही था। इस सम्बन्ध में बौद्ध अनुश्रुति की कथा पुराण, कथासरित्सागर और मुद्राराक्षस की कथाओं की तुलना में अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय प्रतीत होती है। मुरा नाम की शूद्र माता की सन्तान होने के कारण चन्द्रगुप्त मौर्य कहाया, यह युक्तिसंगत नहीं है। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के लिये चाणक्य से अनेक बार 'वृषल' विशेषण का प्रयोग कराया है। प्राचीन काल में 'वृषल' या तो शूद्रों के लिये प्रयुक्त होता था, और या धर्म से च्युत व्यक्तियों के लिये। महाभारत के अनुसार 'वृष' का अर्थ धर्म होता है, जो उसकी परिसमाप्ति कर दे, उसे वृषल कहते हैं।[2] सम्भवतः,

---

१. 'लिच्छविक बृजिक मल्लक मद्रककुकुरकुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः संघाः।" कौ. अर्थ. १३।१

२. 'वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।' महाभारत १२।९०।१५

चन्द्रगुप्त सनातन वैदिक या पौराणिक धर्म का अनुयायी नहीं रहा था, और बौद्ध या निर्ग्रन्थ सदृश नये धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव में आ गया था। इसी कारण उसे 'वृषल' विशेषण से सूचित करना सर्वथा उपयुक्त था। पर विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को जो वृषल कहाया है, उसका कारण उसका शुद्ध क्षत्रिय न होना भी हो सकता है। प्राचीन साहित्य में प्राच्य भारत के क्षत्रियों को प्रायः 'क्षत्रियबन्धु' और 'व्रात्य' कहा गया है। इसका कारण यह था, कि आर्यों की दृष्टि में प्राच्य जनपदों के अनेक राजवंश शुद्ध क्षत्रिय नहीं थे। मगध, अंग, वंग, वज्जि आदि प्राच्य जनपदों में आर्य-भिन्न जातियों का बड़ी संख्या में निवास था। जिन आर्यों ने इन आर्य-भिन्न लोगों को जीत कर इन प्रदेशों में अपना आधिपत्य स्थापित किया था, वे अपनी रक्त-शुद्धता को कायम नहीं रख सके थे। साथ ही, आर्यों की पुरातन मर्यादाओं व मान्यताओं का अविकल रूप से पालन कर सकना भी उनके लिये सम्भव नहीं रहा था। यही कारण था, जो प्राच्य देशों के शासक कुलों को आर्य लोग शुद्ध क्षत्रिय न मान कर 'व्रात्य' समझते थे। मनुस्मृति में मल्ल और निच्छवि (लिच्छवि) सदृश जातियों को 'व्रात्य' राजन्य की संज्ञा दी गई है।[1] मोरिय लोग भी मल्लों और लिच्छवियों के पड़ौसी ही थे। यदि आर्य लोग उन्हें भी व्रात्य समझते हों और उन्हें विशुद्ध क्षत्रिय न मानकर नीची दृष्टि से देखते हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर मौर्य वंश का पिप्पलिवन के मोरियों से सम्बद्ध होना और उनका शूद्र न होकर क्षत्रिय (चाहे वे व्रात्य क्षत्रिय ही क्यों न हों) होना सर्वथा सम्भव है। दिव्यावदान से भी मौर्य राजाओं का क्षत्रिय होना सूचित होता है। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के मुख से एक कुमारी को दिव्यवदान में यह कहलवाया गया है—तू नापिनी (नापित कन्या) है, और मैं मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा हूँ। तेरा और मेरा समागम कैसे हो सकता है[2] इसी प्रकार अशोक ने अपनी अन्यतम रानी तिष्यरक्षिता को यह कहा था—देवि! मैं क्षत्रिय हूँ। मैं पलाण्डु (प्याज) कैसे खा सकता हूँ?[3] माइसूर के एक उत्कीर्ण लेख में भी चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कहा गया है।[4] इन सब युक्तियों को दृष्टि में रखकर यही स्वीकार करना होगा, कि मौर्य राजा क्षत्रिय थे और उनका वंश पिप्पलिवन के मोरियगण के साथ सम्बन्ध रखता था। ग्रीक लेखकों ने भी मोरिई (Morieis) नामक एक जाति का उल्लेख किया है, जो मोरिय या मौर्य से अभिन्न थी।

---

१. 'झल्लो मल्लश्च राजन्यात् व्रात्यान् निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसोद्राविड़ एव च॥' मनुस्मृति १०।२२

२. 'त्वं नापिनी अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः कथं मया सार्धं समागमो भविष्यति।' दिव्यावदान पृ० ३७०

३. 'देवि अहं क्षत्रियः कथं पलाण्डुं परिभक्षयामि।' दिव्यावदान पृ० ४०९

४. Rice : Mysore and Coorg from the Inscriptions p. 10

(२) विदेशी आक्रमण

महापद्म नन्द जैसे प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी मागध राजा की विजयों के कारण मगध का साम्राज्य पश्चिम में गंगा नदी तक, उत्तर में हिमालय तक तथा दक्षिण में विन्ध्याचल तक के सब प्रदेशों में विस्तीर्ण हो चुका था, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा इस मागध साम्राज्य का पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वतमाला तक विस्तार किया गया। पर मगध के इस उत्कर्ष में कतिपय विदेशी आक्रमण वहुत सहायक हुए। गंगा से पश्चिम के भारत में प्राचीन काल में वहुत-से छोटे-वड़े जनपदों की सत्ता थी। उनमें से कुछ में वंशाक्रमानुगत राजाओं का शासन था, और कुछ में गण-शासन विद्यमान थे। उत्तर-पश्चिमी भारत के इन जनपदों में ऐसी जातियों का निवास था, जो अत्यन्त वीर और युद्धकुशल थीं। इनकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने में विदेशी आक्रान्ताओं का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्त्व था। जब सिकन्दर जैसे विजेता द्वारा एक वार इनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया, तो चन्द्रगुप्त के लिये भी इन्हें अपने अधीन कर सकना सम्भव हो गया। वस्तुतः, चन्द्रगुप्त ने ही विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये इन्हें प्रोत्साहित और प्रेरित किया था, और वाद में इन्हीं की सहायता से उसने मगध से नन्दों के शासन का अन्त किया था। गंगा से पश्चिम के क्षेत्र में मागध साम्राज्य के विस्तार के वृत्तान्त को भली भाँति समझने के लिये उन विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों का संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी है, जिन्होंने कि पाँचवीं और चौथी सदी ई० पू० में भारत पर आक्रमण किये थे। मौर्य युग के इतिहास के साथ इन आक्रमणों का घनिष्ठ सम्वन्ध है।

वर्तमान समय में जिस देश को ईरान या पर्शिया कहते हैं, उसके निवासी भी आर्य जाति के ही हैं। जैसे प्राचीन भारत में अनेक छोटे-वड़े राज्य थे, वैसे ही ईरान में भी थे। ईरान के ये विविध राज्य भी परस्पर संघर्ष में व्यापृत रहते थे, और उनमें भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी कि पड़ोस के अन्य राज्यों को जीत कर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करें। सातवीं सदी ई० पू० में ईरान का अन्यतम राज्य, जिसे पार्स कहते थे, वहुत शक्तिशाली हो गया, और उसके राजा हखामनी ने अपनी शक्ति को वहुत वढ़ा लिया। छठी सदी ई० पू० में हखामनी के वंश में एक अन्य महत्त्वाकांक्षी राजा हुआ, जिसका नाम कुरु (Cyrus या काइरस) था। कुरु ने न केवल सम्पूर्ण ईरान को जीत कर अपने अधीन किया, अपितु पूर्व दिशा में आगे वढ़कर वाख्त्री (वैक्ट्रिया), शकस्थान (सीस्तान) और मकरान को भी जीत लिया। हिन्दूकुश पर्वतमाला के पश्चिम के सव प्रदेश इस पार्शराज कुरु की अधीनता में आ गये थे, और इसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी थी।

कुरु के वंशजों ने ईरानी साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। इनमें दारयवहु (डेरियस) का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध है। उसका शासनकाल ५२१-

४८५ ई० पू० था, और वह मगध के प्रतापी राजा विम्बिसार और अजातशत्रु का समकालीन था। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध का भी विजय किया। इनका शासन करने के लिये उसकी ओर से 'क्षत्रप' (प्रान्तीय शासक) भी नियुक्त किये गये। भारत के मध्यदेश में जो कार्य मगध के सम्राट् कर रहे थे, सुदूर उत्तर-पश्चिमी भारत के क्षेत्र में वही हखामनी सम्राट् दारयवुश द्वारा किया गया। कम्बोज, गान्धार और सिन्ध मगध की अपेक्षा पार्श के अधिक समीप थे। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वहाँ का राजा दारयवहु (दारयवुश) उनको जीत कर अपने अधीन करने का प्रयत्न करे। भारत के आर्य राजाओं के समान ईरान के हखामनी वंश के राजा भी आर्य थे, और दारयवुश ने अपने शिलालेखों में अपने को 'ऐर्य ऐर्यपुत्र' (आर्य आर्यपुत्र) कहा है।[1]

दारयवुश का उत्तराधिकारी ख्षयार्श (Xerxes) था, जिसका शासनकाल ४८५-४६५ ई० पू० था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये पश्चिम की ओर अनेक आक्रमण किये, और ग्रीस को भी आक्रान्त किया। उसकी सेना में गान्धार और सिन्ध के भारतीय सैनिक भी सम्मिलित थे, जिनके सूती वस्त्रों को देख कर ग्रीस के लोग अत्यन्त आश्चर्य अनुभव करते थे। यह पहला अवसर था, जबकि ग्रीक लोगों ने सूती वस्त्रों को देखा था। उत्तर-पश्चिमी भारत के जिन जनपदों को दारयवहु ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था, वे देर तक ईरान के अधीन नहीं रहे। सम्भवतः, पाँचवीं सदी ई० पू० में ही उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। चौथी सदी ई० पू० में जब सिकन्दर ने इन प्रदेशों पर आक्रमण किया, तब ये ईरान के अधीन न होकर स्वतन्त्र थे।

यद्यपि भारत का बहुत थोड़ा-सा भाग ईरान के हखामनी साम्राज्य के अधीन हुआ था, पर उसने अनेक प्रकार से भारत के इतिहास को प्रभावित किया। इसके कारण भारत का पश्चिमी संसार से सम्पर्क अधिक दृढ़ हो गया। दारयवहु ने भारत पर आक्रमण करने से पूर्व अपने जल-सेनापति स्काईलैक्स को ईरान के समुद्र-तट के साथ-साथ जलमार्ग द्वारा सिन्ध नदी के मुहाने तक के रास्ते का पता करने के लिये भेजा था। स्काईलैक्स ने भारत के पश्चिमी समुद्र तट का भलीभाँति अवगाहन किया, और उसके इस प्रयत्न से भारत और ईरान के सामुद्रिक व्यापार को बहुत सहायता मिली। इस समय से भारत के व्यापारी समुद्र मार्ग द्वारा दूर-दूर तक पश्चिमी देशों में जाने लगे।

---

१. पार्श के राजा दारयवुश का जो उत्कीर्ण लेख नकशाए-रुस्तम (ईरान) में मिला है, उसमें उस द्वारा शासित प्रदेशोंमें बाख्त्रि (बैक्ट्रिया) और सुगुद (सोग्डियाना) के साथ गादार (गान्धार) और हिंदुश (सिन्धु) को भी अन्तर्गत किया है। ख्षयार्श के पर्सिपोलिस (ईरान) शिलालेख में भी इस राजा द्वारा शासित प्रदेशों में सिन्धु और गान्धार का परिगणन किया गया है। (Sen. S.: Old Persian Inscriptions, pp. 96-98 **तथा** pp. 148-149)

ईरान का हखामनी साम्राज्य देर तक कायम नहीं रहा। प्राचीन काल में ग्रीस में अनेक छोटे-छोटे जनपदों की सत्ता थी, जिन्हें ग्रीक लोग 'पोलिस' कहते थे। हखामनी सम्राट् ख्षयार्श ने ईगियन सागर को पार कर इन्हीं ग्रीक राज्यों को जीतने का उपक्रम किया था। यद्यपि ये ग्रीक राज्य ईरान के अधीन होने से बचे रह गये, पर वे देर तक अपनी स्वतन्त्रता को कायम नहीं रख सके। जिस प्रकार उत्तरी विहार के वज्जि आदि गण राज्यों की स्वतन्त्रता का मगध के विजिगीषु राजाओं द्वारा अन्त किया गया, वैसे ही मैसिडोनिया (जो ग्रीक जनपदों के उत्तर में था) के राजाओं ने ग्रीस के विविध राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। जिस मैसिडोनियन राजा ने सम्पूर्ण ग्रीस को जीत कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया था, उसका नाम फिलिप (चौथी सदी ई० पू०) था। वह मगध के नन्द-वंशी राजाओं का समकालीन था। पूर्वी भारत में जो कर्तृत्व महापद्मनन्द ने प्रदर्शित किया था, पाश्चात्य जगत् में फिलिप ने उसी का अनुसरण किया, और ग्रीस के विविध जनपदों को जीत कर अपने अधीन कर लिया।

फिलिप के पुत्र का नाम सिकन्दर (अलेग्जेण्डर) था। अपने पिता की मृत्यु के बाद ३३६ ई० पू० में वह मैसिडोनियन साम्राज्य का अधिपति बना। फिलिप द्वारा साम्राज्य विस्तार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की गई थी, सिकन्दर ने उसे जारी रखा। उस समय मिस्र, एशिया माइनर और सीरिया के प्रदेश ईरान के हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। छठी सदी ई० पू० में जिस विशाल ईरानी साम्राज्य का निर्माण शुरू हुआ था, अब ढाई सौ वर्ष के लगभग व्यतीत हो जाने पर वह बहुत कुछ निर्बल हो गया था। धन, शक्ति और वैभव की प्रचुरता ने उसके सम्राटों और क्षत्रपों को निःशक्त बना दिया था। सिकन्दर ने इस विशाल पर निर्बल ईरानी साम्राज्य पर आक्रमण किया, और बात की बात में एशिया माइनर को जीत लिया। वहाँ से उसने मिस्र में प्रवेश किया, और नील नदी के मुहाने पर अपने नाम से सिकन्दरिया (अलेग्जेण्ड्रिया) नामक नगरी की स्थापना की। ३३२ ई० पू० तक वह मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था। अगले वर्ष उसने ईराक पर आक्रमण किया, और बैबिलोन, निनेवा आदि प्राचीन नगरों पर कब्जा करके वह ईरान में प्रविष्ट हुआ। उस समय ईरान के राजसिंहासन पर दारयवहु तृतीय विराजमान था। वह सिकन्दर का सामना नहीं कर सका, और अपने प्राणों की रक्षा के लिये बाख्त्री की ओर भाग गया। ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस मैसिडोनियन सेनाओं द्वारा बुरी तरह से ध्वंस की गई।

ईरानी साम्राज्य को परास्त कर चुकने पर सिकन्दर भारत की दिशा में आगे बढ़ा। ३३० ई० पू० के समाप्त होने से पूर्व ही वह भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित शकस्थान में आ पहुँचा। इसे अपने अधीन कर उस ने पश्चिमी गान्धार पर आक्रमण किया, जिसकी राजधानी उस समय हरउवती नगरी थी। पश्चिमी गान्धार को अपने अधिकार में लेकर सिकन्दर काबुल नदी की घाटी में प्रविष्ट हुआ। इस घाटी में जहां आजकल चरीकर है, सिकन्दर ने एक नगरी की स्थापना की, जिसे सिकन्दरिया नाम दिया गया। उसकी यह

नीति थी कि जिन प्रदेशों को जीत कर वह अपने अधीन कर लेता था, वहाँ सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों की किलाबन्दी कर देता था, और वहाँ अपने स्कन्धावार भी स्थापित करता था। नील नदी के मुहाने पर जिस ढंग से उसने एक सिकन्दरिया नगरी बसायी थी, वैसी ही अन्य भी नगरियाँ उस द्वारा जीते हुए प्रदेशों में स्थापित की गई थीं।

बाख्त्री (बैक्ट्रिया) का प्रदेश भी हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत था। पर्सिपोलिस पर आक्रमण के समय दारयवहु तृतीय ने बाख्त्री में आकर ही आश्रय ग्रहण किया था। काबुल की घाटी में सिकन्दर को यह समाचार मिला, कि बाख्त्री में ईरानी साम्राज्य की सेना का पुनःसंगठन किया जा रहा है, और वह पीछे की ओर से मैसिडोनियन सेना पर आक्रमण करने की तैयारी में है। इस दशा में सिकन्दर ने यह उचित समझा कि पहले हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर बाख्त्री पर आक्रमण किया जाए। ईरानी सेना परास्त हो गई, और सीर (Jaxartes) नदी तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर सिकन्दर का अधिकार हो गया। सीर नदी तक विस्तीर्ण इस प्रदेश का प्राचीन नाम सुग्ध था, और ग्रीक लोग इसे *सोग्डिआना* (Sogdiana) कहते थे। वर्तमान समय में समरकन्द और बोखारा इसी प्रदेश में हैं। बाख्त्री और सुग्ध देशों के बीच में वंक्षु (Oxus) नदी बहती थी, जो इन दोनों देशों को पृथक् करती थी। उस युग में बाख्त्री और सुग्ध में ईरानी और भारतीय दोनों प्रकार के आर्यों का निवास था, और दोनों की अनेक बस्तियाँ व नगर-राज्य वहाँ विद्यमान थे। हखामनी सम्राट् बाख्त्री और सुग्ध दोनों को अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हुए थे। अब जब कि सिकन्दर ने हिन्दुकुश पारकर बाख्त्री में ईरानी सेना को परास्त कर दिया, तो सीर नदी तक के सम्पूर्ण प्रदेश उसकी अधीनता में आ गये। बाख्त्री और सुग्ध को जीत कर सिकन्दर ने एक बार फिर हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार किया, और काबुल नदी की घाटी में स्थापित सिकन्दरिया नगरी में प्रवेश किया। हिन्दूकुश के पश्चिम के प्रदेशों के विद्रोहों के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाने के कारण अब उसके लिये भारत पर आक्रमण कर सकना सम्भव हो गया था।

सिकन्दर ने भारत के विविध जनपदों को किस क्रम से आक्रान्त किया, और इन जनपदों की स्थिति कहाँ थी, इस सम्बन्ध में ग्रीक लेखकों के विवरण स्पष्ट नहीं है। इसी कारण भारतीय इतिहास की किन्हीं भी दो पुस्तकों में इस यवन आक्रमण का वृत्तान्त एकसदृश प्राप्त हो सकना कठिन है। यहाँ हम इस आक्रमण का वृत्तान्त अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लिखित करेगें। काबुल की घाटी में आकर सिकन्दर ने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। हेफेस्तियन और पडिक्कस नामक के दो सेनापतियों को यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे पूर्व की ओर आगे बढ़ते हुए सिन्ध नदी तक पहुँच जाएँ और वहाँ नदी को पार करने की व्यवस्था करें। सिकन्दर ने स्वयं एक बड़ी सेना को साथ लेकर काबुल नदी के उत्तर की ओर प्रस्थान किया और उन विविध जनपदों की विजय का उपक्रम प्रारम्भ किया, जो इस पार्वत्य प्रदेश में स्थित थे। इस युग में वे जनपद उसी ढंग से पूर्णतया भारतीय थे, जैसे कि गान्धार,

केकय आदि उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य जनपद थे। ग्रीक लेखकों ने इन्हें स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। इस क्षेत्र की अलीशांग और कुनार नदियों की घाटी में निवास करने वाली जाति को ग्रीक लेखकों ने अस्पस (Aspasioi) कहा है। इस के साथ सिकन्दर को घोर युद्ध करना पड़ा। ग्रीक विवरणों के अनुसार सिकन्दर ने अस्पस जनपद के ४०,००० व्यक्तियों को कैदी बनाया, और २,३०,००० पशु लूट में प्राप्त किये। अस्पस के आगे गौरी और वास्तु नदियों की घाटी में अस्सकेन (Assakenoi) जाति का निवास था। उसने भी सिकन्दर का डटकर मुकाबला किया। अस्सकेन जनपद की राजधानी मस्सग थी, जिसका निर्माण एक दुर्ग के समान हुआ था। यह दुर्ग न केवल प्राकृतिक दृष्टि से अभेद्य था, अपितु इसकी रक्षा के लिये एक ऊँची प्राचीर और गहरी परिखा भी विद्यमान थीं। इसे जीतने में सिकन्दर को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। मस्सग की रक्षा के लिये जो सेना दुर्ग में विद्यमान थी, उस में वाहीक देश के ७,००० 'भृत' सैनिक भी थे। प्राचीन समय में पंजाब को ही वाहीक देश कहा जाता था। घनघोर युद्ध के बाद जब अस्सकेन लोगों ने यह अनुभव कर लिया कि युद्ध को जारी रखना व्यर्थ है, तो उन्होंने सिकन्दर के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि की एक शर्त यह भी थी, कि वाहीक देश के इन भृत सैनिकों को बिना किसी रुकावट के अपने देश वापस लौट जाने का अवसर दिया जायगा। पर सिकन्दर ने इस शर्त का पालन नहीं किया। जब वाहीक सैनिक अपने परिवारों के साथ मस्सग के दुर्ग से बाहर निकल कर डेरा डाले पड़े थे, तो ग्रीक सेना ने अकस्मात् उन पर हमला कर दिया। वाहीक सैनिकों ने वीरतापूर्वक उसका मुकाबला किया। न केवल पुरुष, अपितु स्त्रियाँ भी बड़ी वीरता से लड़ीं। जब तक उनमें एक भी व्यक्ति जीवित रहा, वे युद्ध करते रहे। सन्धि की शर्तों की उपेक्षा कर सिकन्दर ने वाहीक के प्रति जो विश्वासघात किया, ऐतिहासिकों ने उसकी कटु आलोचना की है। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने भी इसे बहुत अनुचित माना है।

मस्सग पर सिकन्दर का कब्जा हो जाने के साथ ही अस्सकेन लोगों ने पराजय स्वीकार नहीं कर ली। उनके जनपद में अन्य भी अनेक दुर्ग थे। उन्हें केन्द्र बनाकर उन्होंने सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध को जारी रखा। पर अन्त में वे परास्त हो गये, और अस्सकेन पर सिकन्दर का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया। अस्सकेन जनपद की स्थिति गौरी नदी के पूर्व में थी। पर इस नदी के पश्चिम में एक अन्य जनपद था, जिसे ग्रीक लेखकों ने "नीसा' कहा है। सिकन्दर ने उसे भी अपने अधीन कर लिया। छः मास तक निरन्तर युद्ध करके सिकन्दर उन जातियों व जनपदों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ, जो काबुल नदी के उत्तर के पार्वत्य प्रदेश में विद्यमान थे। कतिपय ऐतिहासिकों के मत में 'अस्पस' और 'अस्सकेन' के भारतीय नाम 'अश्वायन' और 'अश्वकायन' थे। इन्हें 'अश्वक' और 'अश्मक' से भी मिलाने का प्रयत्न किया है। महाभारत में अश्वक नामक एक जाति का उल्लेख है, जिसकी गणना उत्तर दिशा के क्षेत्र में निवास करने वाली जातियों में की गई है। सम्भवतः,

इसी अश्वक के लिये ग्रीक लेखकों ने 'अस्पस' शब्द का प्रयोग किया है। वर्तमान समय के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त (पाकिस्तान) में पठानों के जो अनेक कबीले बसे हुए हैं, उनमें से एक यूसुफजई भी है, जिसके लिये पश्तो भाषा में 'असिप' या 'इसप' प्रयुक्त होता है। यह इसप या असिप स्पष्टतया अस्पस या अश्वक का अपभ्रंश है।[1] पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'अश्मक' शब्द आया है, जो अश्वक को भी सूचित कर सकता है। बौद्ध युग के सोलह महाजनपदों में एक अश्मक भी था, पर उसकी स्थिति दक्षिणापथ में गोदावरी के क्षेत्र में थी। सम्भवतः, काबुल नदी के उत्तर के अश्मक या अश्वक लोगों की ही एक शाखा कभी पूर्व काल में दक्षिणापथ में भी जा बसी थी। पाणिनि ने अन्यत्र 'अश्वायन' और 'अश्वकायन' का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः, 'अश्वायन' अस्पस को सूचित करता है, और 'अश्वकायन' अस्सकेन को। अस्सकेन की राजधानी मस्सग को संस्कृत की 'मशकावती' के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी विद्यमान है।

हेफिस्तियन और पर्डिक्कस के सेनापतित्त्व में सिकन्दर ने जिन सेनाओं को सीधे सिन्ध नदी की ओर बढ़ने का आदेश दिया था, उन्हें भी अनेक जनपदों से युद्ध करना पड़ा। इनमें गान्धार जनपद प्रधान था। उस युग में गान्धार जनपद सिन्ध नदी के दाँये और बायें दोनों तटों पर विस्तीर्ण था। सिन्ध के पश्चिम में जो गान्धार था, उसे पश्चिमी गान्धार कहा जा सकता है, और उसकी राजधानी पुष्कलावती या पुस्करावती थी। ग्रीक लेखकों ने इसी को प्युकलावतिस् (Peukelaotis) लिखा है। ग्रीक विवरणों के अनुसार पुष्करावती के राजा का नाम अस्तस (Astes) था, जिसे संस्कृत में हस्ती या अष्टक कहा जा सकता है। अस्तस को परास्त करने में सिकन्दरके सेनापतियों को एक मास के लगभग लग गया। इससे सूचित होता है कि पुष्फरावती का पश्चिमी गान्धार जनपद बहुत शक्तिशाली था, और उसे अपने आधिपत्य में लाने के लिये मैसिडोनियन सेना को विकट युद्ध लड़ने पड़े थे।

भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले आने के अनन्तर सिकन्दर ने सिन्ध नदी के पूर्व की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ किया। सिन्धके पूर्वी तट पर उस समय पूर्वी गान्धार जनपद की सत्ता थी, जिसकी राजधानी तक्षशिला नगरी थी। उस युग में तक्षशिला भारत का सर्वप्रधान शिक्षा-केन्द्र था। बहुत-से विश्वविख्यात आचार्य वहाँ निवास करते थे, जिनके ज्ञान और यश से आकृष्ट होकर भारत के विविध जनपदों के विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिये तक्षशिला जाया करते थे। व्यापार की दृष्टि से भी इस नगरी का बहुत महत्त्व था। पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाला राजमार्ग तक्षशिला होकर जाता था, और पूर्व तथा पश्चिम के व्यापारी स्वार्थ वहाँ अपने पण्य का आदान-प्रदान किया करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय पूर्वी गान्धार का राजा आॅम्फिस (Omphis) था, जिसे संस्कृत में 'आम्भि' का रूपान्तर कहा जा सकता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में आम्भि

---

1. Nilakanta Sastri ; A Comprehensive History of India Vol. II p. 118

शब्द विद्यमान है, और कौटलीय अर्थशास्त्र में भी 'आम्भीयाः' का राजनीतिशास्त्र के अन्यतम सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख हुआ है। इस आम्भीय सम्प्रदाय का तक्षशिला के राजा आम्भि के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह निर्धारित कर सकना सम्भव नहीं है। जब सिकन्दर सुग्ध देश पर आक्रमण कर रहा था, तभी तक्षशिला के राजदूतों ने उसके साथ भेंट की थी। गान्धार के राजा ने स्वेच्छापूर्वक सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली थी और उसे भारत पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित भी किया था। पर्डिक्कस और हेफिस्तियन के नेतृत्त्व में जो मेसिडोनियन सेना पुष्करावती और सिन्ध के पश्चिम के अन्य दुर्गों को जीतने में तत्पर थी, गान्धारराज ने उसकी सहायता भी की थी। आम्भि ने जो इस ढंग से विदेशी आक्रान्ता की सहायता की, उसका कारण सम्भवतः यह था कि वह वाहीक देश के अन्य जनपदों को जीत कर अपनी अधीनता में ले आने के लिये प्रयत्नशील था। उस युग में राजनीतिक दृष्टि से भारत में एकता का अभाव था, और उस के विविध जनपद वहुधा आपस में संघर्ष करते रहते थे। उन दिनों केकय जनपद (वितस्ता या जेहलम नदी के पूर्व में) वहुत शक्तिशाली था, और पड़ोस के अनेक जनपदों को जीतकर उसने अपने अधीन कर लिया था। पूर्वी गान्धार की सीमा केकय के साथ लगती थी। पूर्वी गान्धार की स्थिति सिन्ध और जेहलम नदियों के वीच के प्रदेशों में थी, और केकय की जेहलम नदी के पूर्व में। सम्भवतः, केकय जनपद का राजा पोरु तक्षशिला को भी अपनी अधीनता में ले आने के लिये प्रयत्नशील था, और इस दशा में आम्भि ने यह उपयोगी समझा था कि सिकन्दर की संरक्षा में आकर केकय राज की साम्राज्य लिप्सा से अपनी रक्षा की जाए। सिन्ध नदी के तट पर जहाँ आजकल अटक नामक नगर स्थित है, उससे कुछ ऊपर ओहिन्द नामक स्थान पर सिकन्दर की सेना ने नौकाओं द्वारा एक पुल का निर्माण किया। आम्भि ने इस पुल को बनाने में मैसिडोनियन सेना की सहायता की। इस पुल से सिन्ध नदी को पार कर सिकन्दर ने अपनी सेना के साथ तक्षशिला में प्रवेश किया। आम्भि ने अपनी राजधानी में उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और अनेक बहुमूल्य उपहार उसकी सेवा में अर्पित किये। इन उपहारों में ५६ हाथी, ३००० वैल, वहुत-सी भेड़ वकरियाँ और प्रचुर संख्या में सुवर्ण तथा रजत मुद्राएँ भी सम्मिलित थीं। तक्षशिला में कुछ समय तक विश्राम कर सिकन्दर भारत के अन्य जनपदों की विजय के लिये प्रवृत्त हुआ।

वितस्ता (जेहलम) और असिक्नी (चनाव) नदी के वीच हिमालय की उपत्यका में जहाँ आजकल भिम्भर और राजौरी (काश्मीर राज्य के अन्तर्गत) के प्रदेश हैं, उस युग में अभिसार जनपद की स्थिति थी। अभिसार के दक्षिण में (वितस्ता नदी के पूर्व में) केकय जनपद था, जो उस समय वाहीक देश का सवसे अधिक शक्तिशाली राज्य था। सिकन्दर समझता था कि अभिसार और केकय भी पूर्वी गान्धार के समान युद्ध के विना ही उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर देंगे। अतः उसने अपने दूत केकयराज पोरु (Porus) की सेवा में इस उद्देश्य से भेजे, कि वे उसे यवनराज की अधीनता स्वीकार कर लेने के लिये कहें।

पर राजा पोरु न केवल आत्माभिमानी था, अपितु अपनी शक्ति में भी उसे विश्वास था। उसने सिकन्दर के दूतों को उत्तर दिया——मैं रणक्षेत्र में यवनराज से भेंट करूँगा। केकयराज पोरु के समान अभिसार का राजा भी सिकन्दर से युद्ध करने की तैयारी में व्यापृत था। जब सिकन्दर अस्सकेन के विरुद्ध युद्ध कर रहा था, तब भी अभिसार की सेना सिन्ध नदी को पार कर अस्सकेन की सहायता के लिये गई थी। अब अभिसार केकय की सहायता के लिये तत्पर था। यदि इन दोनों जनपदों की सेनाएँ परस्पर मिल जातीं, तो सिकन्दर के लिये उन्हें परास्त कर सकना बहुत कठिन हो जाता। अतः उसने निश्चय किया, कि तुरन्त ही वितस्ता को पार कर केकय पर आक्रमण कर दिया जाए, और अभिसार की सेनाओं के केकय पहुँचने से पहले ही उसे परास्त कर दिया जाए। पर सिकन्दर के लिये वितस्ता नदी को पार कर सकना सुगम नहीं था। उसके पूर्वी तट पर पोरु की सेना छावनी डाले हुए शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रही थी। अतः सिकन्दर ने चाल से काम लिया। एक रात जब घनघोर वर्षा हो रही थी, सिकन्दर अपनी सेना के एक भाग को अपनी मुख्य छावनी से उत्तर की ओर ले गया। इस स्थान पर वितस्ता नदी के बीच में एक द्वीप था, जिसके कारण मैसिडोनियन सेना की गतिविधि पर दृष्टि रख सकना केकय की सेना के लिये सम्भव नहीं था। ग्यारह हजार चुने हुए सैनिकों के साथ रात्रि के अन्धकार में सिकन्दर ने इस स्थान से वितस्ता नदी को पार कर लिया। जब पोरु को यह समाचार मिला, तो उसने अपने पुत्र को एक सेना के साथ सिकन्दर का मार्ग रोकने के लिये भेजा। केकय के दो हजार सैनिक देर तक ग्यारह हजार मैसिडोनियन सैनिकों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वे परास्त हो गये। पर इस बीच में पोरु ने अपनी सेना को युद्ध के लिये तैयार कर लिया था। व्यूहरचना करके वह सिकन्दर का सामना करने को उद्यत हो गया। ग्रीक लेखक डायोडोरस के अनुसार पोरु की सेना में ५०,००० पदाति, ३००० अश्वारोही, १००० से ऊपर रथ और १३० हाथी थे। यह विशाल सेना भी देर तक सिकन्दर की विश्वविजयिनी सेना के सम्मुख नहीं टिक सकी। वितस्ता के पूर्वी तट पर दोनों सेनाओं में जम कर युद्ध हुआ। पोरु और उसके सैनिक बड़ी वीरता के साथ लड़े, पर अन्त में उनकी पराजय हुई। घायल पोरु को जब सिकन्दर के सामने उपस्थित किया गया, तो सिकन्दर ने उससे पूछा——आपके प्रति कैसा बरताव किया जाए? पोरु ने उत्तर दिया——जैसा राजा राजाओं के प्रति करते हैं। सिकन्दर ने पोरु से राजाओं का-सा ही बरताव किया। केकय देश का शासन उसने उसी को सौंप दिया, और उसे अपनी सेना में ऊंचा पद दिया। सिकन्दर भली भाँति समझता था, कि पोरु जैसे शक्तिशाली राजा को अपना मित्र व सहायक बना लेने में ही हित है। भारत के अन्य जनपदों को जीतने में उसे पोरु की सेनाओं से बहुत सहायता मिली। केकय की पराजय के पश्चात् सिकन्दर ने इस जनपद में दो नये नगरों की स्थापना की। जिस स्थान पर उसने वितस्ता नदी को पार किया था, वहाँ बुकेफला नगर बसाया गया। जिस रणक्षेत्र में पोरु परास्त हुआ था, वहाँ नीकिया नगर की स्थापना की गई।

केकय के परास्त हो जाने पर अभिसार जनपद ने भी सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। सिकन्दर ने उसके प्रति भी उदारता का बरताव किया। वहाँ के राजा का न केवल उसके अपने जनपद पर शासन कायम रहने दिया गया, अपितु अर्सकस् (Arsakes) का जनपद भी उसी के शासन में दे दिया गया। जिसे ग्रीक लेखकों ने अर्सकम् लिखा है, उसका संस्कृत नाम 'उरशा' था। इसकी स्थिति उस प्रदेश में थी, जहाँ आज कल हजारा जिला है। उरशा और अभिसार पड़ोसी जनपद थे, और अब एक शासन में आ गये थे।

केकय जनपद की स्थिति वितस्ता (जेहलम) और असिक्नी (चनाव) नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में थी, और वहाँ का राजा पोरु (Porus) था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। ग्रीक लेखकों ने एक अन्य पोरु या पोरस का भी उल्लेख किया है, जिसका राज्य चनाव नदी के पूर्व में था। सम्भवतः, चनाव के पश्चिम और पूर्व—दोनों ओर के ये दो जनपद प्राचीन पौरव वंश के क्षत्रियों द्वारा शासित थे,और इसी कारण इनके राजाओं के नाम ग्रीक लेखकों ने पोरस या पुरु लिखे हैं। केकयराज पोरु की पराजय के समाचार से यह दूसरा पौरव वंशी राजा अत्यन्त चिन्तित हुआ, और अपने राज्य को छोड़ कर गंडेरिडेई (Gandaridai) जाति के प्रदेश में चला गया। ग्रीक लेखकों ने जिसे गंडेरिडेई लिखा है, वह किस जाति या प्रदेश का नाम था, यह निर्धारित कर सकना कठिन है। यह गान्धार भी हो सकता है, और गंगा नदी द्वारा सिञ्चित प्रदेश भी, जिसे ग्रीक लेखकों ने अन्यत्र गंगेरिडी (Gangaridae) रूप से लिखा है। यह दूसरा पुरु या पोरु असिक्नी नदी के पूर्ववर्ती जिस जनपद का राजा था, उसका नाम सम्भवतः 'मद्र' था। इसकी राजधानी साकल नगरी थी, जिसे वर्तमान समय का सियालकोट सूचित करता है।

पौरव वंशी राजाओं के जनपदों (केकय और मद्र) को अपने आधिपत्य में ले आने के पश्चात् सिकन्दर ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर ग्लौगनिकाई (Glauganikai) पर आक्रमण किया। इसकी स्थिति चनाव नदी के पूर्व में थी, और इसकी सीमा केकय जनपद के साथ लगती थी। ग्रीक लेखकों के अनुसार इस जनपद में ३७ नगर थे, जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या ५००० से १०,००० तक थी। वहाँ बहुत-से ग्रामों की भी सत्ता थी, जो सब समृद्ध और जनसमूह से परिपूर्ण थे। सिकन्दर ने ग्लौगनिकाई को जीत कर अपने अधीन कर लिया, और इसे भी शासन के लिये अपने मित्र व सहयोगी पोरु के सुपुर्द कर दिया। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार ग्लौगनिकाई संस्कृत के 'ग्लुचुकायन' का ग्रीक रूपान्तर है। पाणिनि की अष्टाध्यायी की काशिका टीका से ग्लुचुकायन या ग्लौचुकायन नामक गणराज्य की सत्ता सूचित होती है। इस जनपद में गण-शासन विद्यमान था।

ग्लौगनिकाई या ग्लुचुकायन गण को जीतकर सिकन्दर ने कठइओई (Kathaioi) पर आक्रमण किया। यह भी एक गण राज्य था। ग्रीक लेखकों के अनुसार कठइओई गण में यह प्रथा थी, कि जब कोई बच्चा एक मास की आयु का होता था, तो राजकर्मचारी उसका निरीक्षण करते थे। जिस बच्चे को वे कुरूप या निर्बल पाते थे, उसे वे मरवा देते थे।

कठइओई को संस्कृत के कठ का ग्रीक रूपान्तर माना गया है। कठोपनिषद् का निर्माण सम्भवतः इसी गण राज्य के तत्त्वचिन्तकों द्वारा किया गया था। कठोपनिषद् में बालक नचिकेता को आचार्य यम के सुपुर्द करने की जो कथा आती है, वह शायद उसी प्रथा की परिचायक है जिसका उल्लेख ग्रीक लेखकों ने किया है। इसी ढंग की प्रथा ग्रीस के स्पार्टा जनपद में भी प्रचलित थी। कठ लोगों में सौन्दर्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। राजपुरुषों का चुनाव करते हुए भी वे सौन्दर्य को सबसे बड़ा गुण मानते थे। कठ स्त्री-पुरुष अपने विवाह स्वेच्छापूर्वक करते थे, और उनमें सती प्रथा भी विद्यमान थी। कठ लोग न केवल सौन्दर्य के उपासक थे, अपितु उद्भट वीर भी होते थे। मृत्यु से वे जरा भी भयभीत नहीं होते थे। वे हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहुति दे दिया करते थे। ग्रीक लेखकों ने कठ राज्य की राजधानी का नाम 'सांगल' लिखा है। सम्भवतः, यह सांगल उस 'सांकल' का रूपान्तर है, जो पाणिनि के गणपाठ के अनुसार वाहीक देश का एक नगर था। इसकी स्थिति सम्भवतः वर्तमान समय के गुरुदासपुर जिले में थी। कतिपय लेखकों ने सांगल या सांकल का वर्तमान प्रतिनिधि सियालकोट को प्रतिपादित किया है। पर यह सही नहीं है, क्योंकि सियालकोट उस शाकल नगरी का प्रतिनिधित्व करता है, जो कि मद्र जनपद की राजधानी थी। कठ गण उस प्रदेश में विद्यमान था, जहाँ आजकल लाहौर, अमृतसर और गुरुदासपुर के जिले हैं।

कठों ने सिकन्दर का सामना बड़ी वीरता के साथ किया। अपनी राजधानी सांकल की रक्षा करने के लिये उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी। सिकन्दर की यवन सेना के लिये कठों को परास्त कर सकना सुगम नहीं था। जब केकयराज पोरु ५,००० भारतीय सैनिकों को साथ लेकर उसकी सहायता के लिये सांकल आया, तभी वह कठों की इस राजधानी को जीत सकी। इस युद्ध में १७,००० के लगभग कठ वीरों ने अपने जीवन की बलि दी। सिकन्दर इस युद्ध से इतना अधिक उद्विग्न और आक्रुष्ट हो गया था, कि सांकल के परास्त हो जाने पर उसने उसे भूमिसात् करने का आदेश दिया। ईरानी साम्राज्य की राजधानी पर्सिपोलिस को भी सिकन्दर ने इसी ढंग से भूमिसात् कराया था। इस नीति का अनुसरण सिकन्दर तभी करता था, जबकि वह अपने शत्रु की शक्ति से हतप्रभ हो जाता था। निस्सन्देह, सिकन्दर का सामना करते हुए कठ लोगों ने अनुपम शौर्य प्रदर्शित किया था। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भारत के मध्यदेश के समान उत्तर-पश्चिम के क्षेत्र में भी विविध जनपदों में संघर्ष जारी रहता था। जिस प्रकार मगध के विजिगीषु और महत्त्वाकांक्षी राजा वज्जि-संघ सदृश गण-राज्यों व संघों को अपने आधिपत्य में ले आने के लिये प्रयत्नशील थे, वैसे ही केकय के राजा वाहीक देश के विभिन्न गणराज्यों तथा राजतन्त्र जनपदों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के प्रयत्न में लगे थे। ग्रीक विवरणों से ज्ञात होता है, कि सिकन्दर के आक्रमण से कुछ समय पूर्व कठ गण ने केकय राज की शक्ति का मफलतापूर्वक सामना किया था, और इस अवसर पर आक्सिड्रेकेई (क्षुद्रक) तथा

मल्लोई (मालव) गणों का सहयोग भी कठों को प्राप्त हुआ था। कठों का केकय से जो विरोध पहले से ही चला आ रहा था, उसी के कारण शायद केकयराज पोरु ने सांकल के आक्रमण में सिकन्दर की मुक्तहस्त से सहायता की थी।

कठ-गण की स्थिति इरावती (रावी) नदी के पूर्ववर्ती प्रदेश में थी। उसके समीप ही (इरावती और विपाशा या व्यास नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में) एक अन्य राज्य विद्यमान था, जिसे ग्रीक लेखकों ने फेगेलस (Phegelas) लिखा है। इसे पाणिनिके गणपाठ में आये हुए 'भगल' के साथ मिलाया गया है। फेलेगस या भगल लोगों ने युद्ध के बिना ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली, और धूमधाम के साथ उसका स्वागत किया।

कठों को परास्त कर और फेगेलस द्वारा अधीनता स्वीकृत कर लिये जाने पर विपाशा (व्यास) नदी के पश्चिमी तट तक सिकन्दर की सेनाओं का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था। सिकन्दर चाहता था, कि विपाशा को पार कर भारत में और आगे बढ़ा जाए। पर उसकी सेना हिम्मत हार चुकी थी। सिन्ध नदी के पश्चिम में जो आर्य जनपद थे, उनसे यवन सेना को घोर युद्ध करने पड़े थे। केकयराज पोरु ने भी यवनों के विरुद्ध अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी। कठ गण ने जिस ढंग से सिकन्दर का सामना किया था, वह तो शौर्य और साहस की दृष्टि से अद्वितीय था। अभी यवन सेनाएँ विपाशा नदी तक पहुँची भी नहीं थीं, कि उन्हें यह ज्ञात हुआ कि व्यास नदी में तट का प्रदेश अत्यन्त उपजाऊ है, वहाँ के निवासी कृषि-कार्य में बहुत प्रवीण हैं, रणक्षेत्र में वे अनुपम वीरता प्रदर्शित करते हैं, और उनकी शासन-पद्धति अत्यन्त उत्कृष्ट है। वहाँ का शासन कुलीनतन्त्र (Aristocracy) के रूप में है, और उसके कुलीन शासक अपने अधिकारों का प्रयोग न्याय्य तथा समुचित ढंग से करते हैं। ग्रीक लेखक स्ट्रैबो के अनुसार इस राज्य का शासन ५,००० सभासदों के हाथों में था, जिनमें से प्रत्येक राजकीय सेना के लिये एक-एक हाथी प्रदान किया करता था। श्री. जायसवाल ने यह प्रतिपादित किया है, कि व्यास नदी के पूर्व में स्थित जिस गण राज्य की सूचना सिकन्दर को दी गई थी, वह यौधेय गण था। भारत के प्राचीन इतिहास में यौधेय गण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भौगोलिक दृष्टि से इस गण की स्थिति पंजाब के पूर्वी क्षेत्र में थी, और मौर्यों की शक्ति के निर्बल पड़ने पर इसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पुनः स्थापित कर लिया था। इसके बहुत-से सिक्के भी वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं, जो दूसरी सदी ई० पू० से लगाकर चौथी सदी ई० प० तक के हैं। ग्रीक वृत्तान्तों में उल्लिखित यह नाम-विहीन राज्य यदि यौधेय गण ही हो, तो यह सर्वथा सम्भव है। सिकन्दर को यह भी सूचित किया गया कि इस गण राज्य के परे गंगेरिडी (Gangaridae) और प्रासिओई (Prasioi) के प्रदेश हैं, जिनका राजा अग्रसस (Agrammes) अत्यन्त शक्तिशाली है। उसकी सेना में २,००,००० पदाति, २०,००० अश्वारोही, २,००० रथ और ४,००० हाथी हैं। यहाँ जिस राजा अग्रसस का ग्रीक लेखकों ने उल्लेख किया है, वह निस्सन्देह प्राच्य देश या मगध का राजा नन्द था, जिसके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा गंगा नदी या

उससे भी आगे यमुना तक थी। गंगा-यमुना का प्रदेश (जिसे ग्रीक विवरणों में गंगेरिडी कहा गया है) भी उसके राज्य के अन्तर्गत था। यौधेय गण और मागध साम्राज्य की शक्ति के सम्बन्ध में सुनकर मैसिडोनियन सेना का उत्साह भंग हो गया, और उसने विपाशा नदी को पार कर पूर्व की ओर आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने अपनी सेना को अनेक प्रकार से उत्साहित करने का प्रयत्न किया, उसने सम्मुख अनेक व्याख्यान दिये, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हुई। मैसिडोनियन सेना अपने दिग्विजयी सेनानी व सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह तक कर देने के लिये उद्यत हो गई। अपने प्रयत्न में विफल होकर सिकन्दर अपने शिविर में जा बैठा, और कई दिन तक उससे बाहर नहीं निकला। अन्त में उसे अपनी सेना की इच्छा के सम्मुख सिर झुका देने के लिये विवश होना पड़ा। व्यास नदी के पश्चिमी तट पर अनेक वेदिकाएँ बनवा कर सिकन्दर ने उन पर देवताओं को बलि अर्पित की, और फिर वापस लौट चलने की आज्ञा प्रदान की।

विपाशा (व्यास) नदी के तट पर देवताओं की पूजा कर सिकन्दर की सेना ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। विना किसी विघ्न बाधा के वे वितस्ता (जेहलम) के तट पर जा पहुँची। यहाँ पहुँच कर सिकन्दर ने एक बड़े दरबार का आयोजन किया, जिसमें उसके अधीनस्थ विविध भारतीय जनपदों के शासक सम्मिलित हुए। सिकन्दर की यह इच्छा थी, कि भारत से वापस लौट जाने से पहले अपने विजित प्रदेशों के शासन की सुव्यवस्था कर दे। विपाशा और वितस्ता नदियों के मध्यवर्ती सब प्रदेशों का शासन उसने केकयराज पोरु के सुपुर्द किया, जो सिकन्दर का मित्र व परम सहायक था। मगध के राजाओं के समान पोरु भी विजिगीषु और महत्त्वाकांक्षी था। पर साम्राज्य निर्माण की जिस आकांक्षा की पूर्ति वह स्वयं अपनी शक्ति से नहीं कर सका था, उसे उसने सिकन्दर का मित्र व सहायक होकर पूरा किया। उसका शासन-क्षेत्र अब केकय जनपद से बाहर सुदूरवर्ती विपाशा नदी तक विस्तीर्ण हो गया था, और मद्र, कठ आदि कितने ही जनपद उसके शासन में आ गये थे। अभिसार और उरशा के राज्यों को मिलाकर उनका शासन अभिसार के राजा को सुपुर्द किया गया, और वितस्ता तथा सिन्ध नदियों के बीच के सब प्रदेश तक्षशिला के राजा आम्भि की अधीनता में दे दिये गये। सिन्ध के पश्चिम के भारतीय प्रदेशों का शासक सेनापति फिलिप्पस को नियत किया गया। भारत के जिन प्रदेशों पर सिकन्दर का आधिपत्य स्थापित हो गया था, उनके अनेक नगरों में मैसिडोनियन सेना की छावनियाँ कायम की गईं, ताकि ये प्रदेश यवनराज के विरुद्ध विद्रोह न कर सकें। इस प्रकार अपने विजित प्रदेशों के शासन की सुव्यवस्था कर सिकन्दर ने अपने देश को वापस लौटने का उपक्रम किया। उसकी यह वापसी यात्रा ३२६ ई० पू० के अन्त में प्रारम्भ हुई।

वापसी यात्रा करते हुए जिस जनपद से सबसे पूर्व सिकन्दर का सामना हुआ, ग्रीक लेखकों ने उसके राजा का नाम सोफितस (Sophytes) लिखा है। सम्भवतः, यह सौभूति का ग्रीक रूपान्तर है। इस राज्य का नाम भी सम्भवतः सौभूति ही था। यह नाम

पाणिनि के गणपाठ में विद्यमान है, और इस की गणना जिन अन्य नामों के साथ की गई है, उनकी स्थिति भी उत्तर-पश्चिमी भारत के क्षेत्र में थी। एरियन के अनुसार यह राज्य वितस्ता (जेहलम) के तट पर था, और एक अन्य ग्रीक लेखक ने यह लिखा है कि नमक की पहाड़ी इसी राज्य के क्षेत्र में थी। स्यूड़ा की नमक की पहाड़ी जेहलम से सिन्ध तक फैली हुई है। अतः सौभूति की स्थिति के सम्बन्ध में यही मन्तव्य संगत प्रतीत होता है कि यह राज्य वितस्ता के पश्चिमीतट पर उस प्रदेश में था, जहाँ आजकल भेरा, नून मियानी आदि बस्तियाँ विद्यमान हैं। ग्रीक लेखकों ने सौभूति के निवासियों की वहुत प्रशंसा की है, और उसकी शासनपद्धति, सामाजिक व्यवस्था आदि को भी बहुत सराहा है। स्पार्टा और कठ गणों के समान सौभूति में भी कुरूप तथा निर्वल बच्चों को बचपन में ही मरवा देने की प्रथा विद्यमान थी। सौभूति के लोग भी सौन्दर्य को वहुत महत्त्व देते थे। ग्रीक विवरणों से सूचित होता है, कि सौभूति ने सिकन्दर से युद्ध नहीं किया, और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। सिकन्दर ने भी इस राज्य की स्वतन्त्र सत्ता को अक्षुण्ण रहने दिया।

सौभूति को अपने आधिपत्य में लाकर मैसिडोनियन सेना ने अपने देश को वापस लौटना प्रारम्भ किया। पर वापसी के लिये सिकन्दर ने एक नये मार्ग का अनुसरण किया। वितस्ता नदी में बहुत-से जहाजों और नौकाओं को एकत्र किया गया, जिनकी संख्या टालमी के अनुसार २,००० थी। यह विशाल जहाजी वेड़ा जलमार्ग से जा रहा था, और स्थल-सेना नदी के दोनों तटों पर। सिकन्दर की यह सेना विना किसी विघ्न-बाधा के उस स्थान तक आ गई, जहाँ वितस्ता (जेहलम) और असिक्नी (चनाव) नदियों का संगम होता है। इस संगम के समीप के प्रदेश में एक शक्तिशाली गणराज्य की स्थिति थी, जिसे ग्रीक विवरणों में सिवोई (Siboi) लिखा गया है। सिवोई 'शिवि' या 'शिव' का रूपान्तर है। ऋग्वेद में 'शिव' नामक एक 'जन' का उल्लेख है, जिसे सुदास ने परास्त किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'शैव्य' उल्लिखित है। जातक कथाओं में न केवल 'सिवि' जनपद का उल्लेख है, अपितु अरिट्ठपुर आदि उसके अनेक नगरों का भी वर्णन है। पतञ्जलि ने 'शिवयः' रूप से शिवि जनों का बहुवचन में प्रयोग किया है, और पाणिनीय व्याकरण में 'शिविपुर' नामक एक नगर का उल्लेख है जिसकी स्थिति उत्तरापथ के क्षेत्र में थी। पंजाव के शोरकोट नगर में एक शिलालेख मिला है, जिसमें शिविपुर नामक नगर का उल्लेख है। इससे यह परिणाम निकाला गया है, कि शिवि जनपद की स्थिति वितस्ता और असिक्नी के संगम के समीप उस प्रदेश में थी, जहाँ आज कल झंग का जिला है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में शिवि जनपद बहुत महत्त्वपूर्ण था। उसके अनेक सिक्के भी मिले हैं, जो वाद के समय के हैं। पंजाव के अन्य अनेक गण राज्यों के समान शिवि गण भी वाद में अपने प्राचीन अभिजन को छोड़ कर राजस्थान की मरुभूमि में जा वसा था, और वहाँ उसने चित्तौड़ के समीप माध्यमिका नगरी की स्थापना की थी। यद्यपि शिवि लोग बहुत वीर थे, पर सिकन्दर

धौली में प्राप्त शिला काट कर बनाया गया हाथी

का मुकवला कर सकना उनके लिये सुगम नहीं था। विना किसी विशेप युद्ध के उन्होंने यवनराज की अधीनता स्वीकार कर ली।

असिक्की (चनाव) नदी के साथ-साथ कुछ और अधिक दक्षिण की ओर जाने पर वायें ओर इरावती (रावी) नदी के साथ के प्रदेश में एक गणराज्य की स्थिति थी, जिसे ग्रीक विवरणों में मल्लोई (Malloi) लिखा गया है। यह स्पष्टतया 'मालव' का रूपान्तर है। मालव गण के पड़ोस में ही पूर्व की ओर क्षुद्रक-गण था, जिसे ग्रीक लेखकों ने ओक्सिड्राकेई (Oxydrakai) कहा है। महाभारत में मालवों और क्षुद्रकों का उल्लेख मिलता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में इन दोनों क्षुद्रक और मालव जनपदों ने कौरवों का साथ दिया था। पाणिनि ने मालवों का आयुधजीवि संघों में परिगणन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि मालव और क्षुद्रक वाहीक देश के अत्यन्त शक्तिशाली गणराज्य थे। ग्रीक लेखक कर्टियस के अनुसार उनकी सम्मिलित सेना में ९०,००० पदाति, १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ थे। यद्यपि इन गणराज्यों में चिरकाल से विरोध चला आ रहा था, पर विदेशी शत्रु का सामना करने के लिये इन्होंने सुलह कर ली थी। डायोडोरस ने लिखा है, कि इस सन्धि को स्थिर करने के लिये मालवों ने अपनी १०,००० अविवाहित कुमारियों का विवाह क्षुद्रक कुमारों के साथ कर दिया, और क्षुद्रकों ने भी इतनी ही कुमारियों का विवाह मालव कुमारों के साथ। जव सिकन्दर के सैनिकों को ज्ञात हुआ, कि अभी उन्हें भारत की दो अत्यन्त वीर जातियों से युद्ध करना है, तो वे वहुत घवराये, और एक वार फिर सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह के लिए उद्यत हो गये। पर सिकन्दर ने उन्हें यह कह कर समझाया, कि अव तो युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं है, क्यों कि क्षुद्रकों और मालवों का सामना किये बिना स्वदेश को लौट सकना असम्भव है।

यद्यपि सिकन्दर का सामना करने के लिये क्षुद्रक और मालव परस्पर मिलकर एक हो गये थे, पर इससे पूर्व कि क्षुद्रकों की सेना मालव गण की सहायता के लिये आ सकती, सिकन्दर ने उस पर आक्रमण कर दिया। मालव लोग अभी युद्ध के लिये तैयार नहीं थे। मैसिडोनियन सैनिकों ने उनके नगरों और ग्रामों पर अचानक हमला कर दिया, और वहुत-से मालव कृषक अपने खेतों में ही लड़ते हुए मारे गये। मालवों से युद्ध करते हुए ही सिकन्दर की छाती पर वह भयंकर चोट लगी, जो भविष्य में उसकी मृत्यु का कारण सिद्ध हुई। इस चोट के कारण सिकन्दर इतना क्रुद्ध हो गया, कि उसने सर्वसंहार का आदेश दिया। स्त्री-पुरुष और बाल-वृद्ध किसी की भी यवन सैनिकों ने परवाह नहीं की, और हजारों मालव सिकन्दर के क्रोध के शिकार वने। इस वीच में क्षुद्रकों की सेना मालव गण की सहायता के लिये आ गई थी। मालवों से युद्ध करते हुए सिकन्दर इतना परेशान हो गया था, कि उसने उनके साथ समझौता कर लेने में ही अपना हित समझा। क्षुद्रकों और मालवों ने भी यह अनुभव किया, कि सिकन्दर जैसे दिग्विजयी वीर के साथ लड़ाई को जारी रखना निरर्थक है। इस दशा में दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। मालवों और क्षुद्रकों के सौ प्रमुख

पुरुष सिकन्दर की सेवा में उपस्थित हुए। सिकन्दर ने उनका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया। उनके सम्मान में एक भोज की व्यवस्था की गई, जिसमें क्षुद्रकों और मालवों के नेताओं के बैठने के लिये सुवर्णजटित आसन रखे गये। क्षुद्रकों और मालवों ने कहा—हम आज तक स्वतन्त्र रहे हैं। पर सिकन्दर लोकोत्तर पुरुष है, हम स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। यद्यपि ग्रीक विवरणों के अनुसार क्षुद्रकों और मालवों ने सिकन्दर को अपना अधिपति स्वीकृत कर लिया था, पर भारत की प्राचीन अनुश्रुति इसके विपरीत है। श्री. जायसवाल ने प्रतिपादित किया है, कि संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थों के अनुसार क्षुद्रक लोग अकेले ही सिकन्दर को परास्त करने में समर्थ हुए थे। महाभाष्य ने 'एकाकिभिः क्षुद्रकैः जितम्' (अकेले ही क्षुद्रकों ने जीत लिया) लिखकर उस प्राचीन अनुश्रुति को दोहराया है, जो क्षुद्रकों की विजय के सम्बन्ध में सदियों तक विद्यमान रही थी। सिन्कदर ने जिस प्रकार सम्मानपूर्वक क्षुद्रकों और मालवों का स्वागत किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए यह कल्पना करना अनुचित नहीं होगा कि सिकन्दर उन्हें परास्त करने में असमर्थ रहा था, और उनसे सुलह कर लेने में ही उसने अपना हित समझा था।

मालवों और क्षुद्रकों से समझौता कर लेने से ही सिकन्दर की समस्या हल नहीं हो गई। इनके पड़ौस में ही कतिपय अन्य गण-राज्यों की स्थिति थी, जिनमें अम्बष्ठ (Abastanoi या Sambastai), क्षत्र या क्षत्रिय (Xathroi) और वसाति (Ossadioi) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अम्बष्ठ ने वीरतापूर्वक मैसिडोनियन सेना से युद्ध किया, पर अन्य दो गण-राज्यों ने युद्ध के विना ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली। महाभारत में 'अम्बष्ठ' का उल्लेख मालव के साथ किया गया है, जिससे सूचित होता है कि वह पंजाब का ही अन्यतम जनपद था। पाणिनि के एक सूत्र पर भाष्य लिखते हुए पतञ्जलि ने भी अम्बष्ठ का एक देश या जनपद के रूप में उल्लेख किया है।[1] ग्रीक लेखकों के अनुसार अम्बष्ठ जनपद की सेना में ६०,००० पदाति, ६००० अश्वारोही और ५०० रथ थे।[2] सिकन्दर का सामना करने के लिये अम्बष्ठों ने तीन सेनापति चुने थे, जो वीरता और युद्धनीति में निपुणता के लिये प्रसिद्ध थे। सिकन्दर ने अम्बष्ठों से सन्धि कर लेना ही उचित समझा। अम्बष्ठों के वृद्धों या ज्येष्ठों की भी यही सम्मति थी, कि सिकन्दर से देर तक युद्ध को जारी रखना निरर्थक होगा। अतः उन्होंने अपने पचास दूत यवनराज की सेवा में भेजे, जिन्होंने उसके साथ सन्धि कर ली। अम्बष्ठ गण की स्थिति असिक्नी नदी के समीपवर्ती प्रदेश में ही थी। सम्भवतः,वह मालवों के दक्षिण में विद्यमान था।

ग्रीक विवरणों में एक अन्य जनपद का उल्लेख है, जिसे वहाँ क्सथ्रोई (Xathroi) कहा गया है। यह 'क्षत्रिय' संघ का रूपान्तर है, जिसका परिगणन कौटलीय अर्थशास्त्र

---

१. **'द्व्यञ् मगध कलिङ्गसूरमसादण्' (पाणिनिसूत्र ४।१।१७०) पर पातञ्जल भाष्य।**

2. McCrindle : Invsion of Alexander, p 252

द्वारा 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' संघों में किया गया है।[1] ग्रीक लेखकों के ओसदिओई (Ossadioi) को संस्कृत के 'वसाति' के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख महाभारत में क्षुद्रक-मालवों[2] और सिन्धु-सौवीर के साथ किया गया है।[3] पाणिनि के गणपाठ में भी वसाति नाम राजन्यादिगण में परिगणित है, और पतञ्जलि ने महाभाष्य में वसाति का उल्लेख शिवि के साथ किया गया है। निस्सन्देह, इन दोनों (क्षत्रिय और वसाति) जनपदों की स्थिति भी मध्य पंजाब के चनाव और रावी नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में थी।

शिवि, मालव, क्षुद्रक और अम्बष्ठ जनपदों ने सिकन्दर की सेनाओं का मुकावला करने का प्रयत्न किया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। शिवि के पूर्व के प्रदेशों में एक अन्य शक्तिशाली गणराज्य की स्थिति थी, जिसे ग्रीक विवरणों में अगलस्सि (Agalassi), अगिरि (Agiri) व अगसिनई (Agesinae) लिखा गया है। पर इनमें अधिक प्रचलित नाम अगलस्सि ही है। ग्रीक लेखकों के अनुसार इस जनपद की सेना में ४०,००० पदाति और ३००० अश्वारोही सैनिक थे। अगलस्सि सैनिक वड़ी वीरता के साथ लड़े, पर सिकन्दर को परास्त नहीं कर सके। जव उन्होंने देखा कि अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकना सम्भव नहीं है, तो उन्होंने स्वयं अपनी नगरी को भस्मसात् कर दिया। उनकी स्त्रियों ने जौहर व्रत लेकर अपना अन्त कर दिया, और उनके पुरुष युद्ध द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए।[4] श्री. काशीप्रसाद जायसवाल ने अगलस्सि को 'अग्रश्रेणि' के साथ मिलाया है। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' संघों का परिगणन करते हुए 'श्रेणि' को भी इन संघों की सूचि में सम्मिलित किया है। इससे जायसवाल जी ने यह कल्पना की है, कि 'श्रेणि' नाम का एक गणराज्य प्राचीन समय में विद्यमान था, जिसके एक से अधिक भाग थे। उनमें जो प्रधान 'श्रेणिगण' था, उसे 'अग्रश्रेणि' कहते थे। पर यह मत युक्तिसंगत नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत में 'श्रेणि' नाम के एक गणराज्य की सत्ता थी, जिसकी वर्तमान प्रतिनिधि सैनी नामक जाति है। पर अगलस्सि शब्द का प्रयोग जिस गण-राज्य के लिये किया गया है, सम्भवतः, वह आग्रेय गण है, जिसका उल्लेख महाभारत के कर्ण विजय पर्व में हुआ है[5] और जिसकी मुद्राएँ भी अगरोहा (जिला हिसार) की खुदाई में उपलब्ध हुई हैं। इस गण का मूल प्रवर्तक अग्रसेन था, और इसकी राजधानी 'अग्रोदक' नगरी थी। यद्यपि अग्रोदक की स्थिति सतलुज नदी के दक्षिण-पूर्व में थी, पर यह असम्भव

---

१. कौ. अर्थ. ११।१

२. 'वशातयश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः।' महा. सभा पर्व

३. 'गान्धाराः सिन्धुसौवीराः सिवयोऽथ वसातयः।' महा. ६।५१।१४

4. McCrindle : Invasion of Alexander the Grcat, p 232

५. 'भद्रान् रोहितकांच्चैव आग्रेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव।"। महाभारत, सभापर्व

नहीं कि इस जनपद का विस्तार पश्चिम में पर्याप्त दूर तक हो, और इसकी पश्चिमी सीमा शिवि, मालव और क्षुद्रक जनपदों के समीप तक हो। महाभारत के अनुसार भी आग्रेय गण मालवगण के पड़ोस में था। कर्ण ने पूर्व से पश्चिम की ओर विजय यात्रा करते हुए पहले आग्रेयों को जीता था, और फिर मालवों को। सिकन्दर उत्तर-पश्चिम की ओर से पूर्व-दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। अतः स्वाभाविक रूप से उसने पहले क्षुद्रक-मालवों से युद्ध किये, और फिर दक्षिण-पूर्व की ओर आगे बढ़ने पर आग्रेय या अगलस्सि को परास्त किया। वस्तुतः, अगलस्सि 'आग्रेय' का परिचायक है, 'अग्रश्रेणि' का नहीं। अग्रसेन के नाम के कारण यह गण सम्भवतः 'अग्रसेनिय' भी कहाता था, और इसी कारण ग्रीक लेखकों ने इसे अगसिनेई भी लिखा है। कतिपय ऐतिहासिकों ने अगलस्सि को 'आर्जुनायन' से भी मिलाया है। यह सही है, कि आर्जुनायन नामक एक गण राज्य प्राचीन समय में इस क्षेत्र में विद्यमान था, पर अगलस्सि द्वारा वह अभिप्रेत नहीं हो सकता।

आग्रेय (अगलस्सि) जनपदको अपने अधीन कर सिकन्दर निरन्तर दक्षिण की ओर चलता गया। जहाँ वितस्ता (जेहलम) और शतुद्रि (सतलुज) नदियों का संगम होता है, और जहाँ ये दोनों परस्पर मिली हुई नदियाँ सिन्धु नदी के साथ आ मिलती हैं, वहाँ तक के सब जनपद अब सिकन्दर के आधिपत्य में आ गये थे। अब मेसिडोनियन सेनाओं ने सिन्ध के साथ-साथ दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। इस क्षेत्र में उसे जिन जनपदों का सामना करना पड़ा, उनके सम्बन्ध में ग्रीक विवरण बहुत अस्पष्ट हैं। पर इस क्षेत्र के जन-पदों में सबसे पूर्व सोग्दी (Sogdi) या सोद्रए (Sodrai) का उल्लेख हुआ है, और फिर मस्सनोई (Massanoi) का। जायसवालजी ने सोद्रए को पाणिनि के गणपाठ के सौद्रायण के साथ मिलाया है। पर अन्य अनेक ऐतिहासिकों का यह मत है, कि शूद्र नाम के एक जनपद की भी प्राचीन भारत में सत्ता थी, और ग्रीक लेखकों को सोद्रए से वही अभिप्रेत था। महाभारत में इस शूद्र जनपद का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भारत में आर्यों के प्रवेश से पूर्व जो लोग निवास करते थे, उनके विभिन्न जनों (कबीलों) को सामूहिक रूप से जहाँ 'दास' कहा जाता था, वहाँ उनके किसी 'जन' की शूद्र संज्ञा भी थी।[1] इसी शूद्र जन का एक जनपद सिन्ध के उत्तरी क्षेत्र में शेष था। मस्सनोई को मुसर्नि (Musarni) के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख टाल्मी ने जिड्रोसिया के एक नगर के रूप में किया है।[2]

सोद्रए और मस्सनोई के बाद ग्रीक लेखकों ने तीन जनपदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम क्रमशः मूसिकनोई (Mousikanoi), सैम्बस (Sambos) और आक्सीकेनस (Oxykanos) थे। जायसवाल जी ने मूसिकनोई को 'मुचिकर्ण' का रूपान्तर

1. Nilakanta Sastri : A Comprehensive History of India Vol. II p 129
2. McCrindle : India as described by Ptolemy p. 322

माना है। पाणिनि के एक सूत्र की काशिका वृत्ति में मुचिकर्ण का उल्लेख मिलता है। एक अन्य सूत्र के पातञ्जल भाष्य में 'मौशिकार' नाम आया है। ग्रीक लेखकों का मूसिकनोई सम्भवतः यह मुचुकर्ण व मौशिकार ही था, यद्यपि कतिपय अन्य विद्वानों ने मुसिकनोई को 'मूषिक' का रूपान्तर माना है। इस मुचुकर्ण या मूषिक जनपद की ग्रीक लेखकों ने बहुत प्रसंशा की है। उन्होंने लिखा है, कि इस जनपद के निवासी दीर्घायु होते हैं। उनकी आयु प्रायः १३० वर्ष की होती है। यद्यपि उनके जनपद में सब पदार्थ प्रभूत परिमाण में उत्पन्न होते हैं, पर वे संयम का जीवन विताते हैं और सात्त्विक भोजन करते हैं। वे सोने और चांदी का उपयोग नहीं करते, यद्यपि उनके जनपद में इन धातुओं की खानें विद्यमान हैं। वे एक साथ वैठ कर सामूहिक रूप से भोजन करते हैं। दास प्रथा का उनमें अभाव है, और सबके प्रति एक सदृश व्यवहार किया जाता है। चिकित्सा के अतिरिक्त किसी अन्य विद्या को वे महत्त्व नहीं देते।[1]

मूसिकनोई के पड़ोस में ही एक अन्य जनपद था, जिसे ग्रीक विवरणों में सैम्वस (Sambus) लिखा गया है। इस सैम्वस की राजधानी सिन्दिमन (*Sindimana*) थी, जिसका भारतीय नाम पहचाना नहीं जा सका है, यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इसे सेहवान से मिलाया है, जो सिन्ध के तट पर स्थित एक नगर है।[2] सैम्वस को 'साम्व' का रूपान्तर माना जा सकता है। आक्सीकेनस (Oxykanos) की स्थिति सिन्ध नदी के पश्चिम में उस क्षेत्र में थी, जहाँ आजकल लरकाना है। मूसिकनोई और सैम्वस में चिरकाल से उसी ढंग से शत्रुता चली आ रही थी, जैसे के केकयराज पोरु और तक्षशिला के राजा आम्भि में थी। सैम्वस ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली, और मूसिकनोई ने उससे युद्ध की तैयारी की। पर जब मूसिकनोई ने देखा, कि सिकन्दर ने अकस्मात् उस पर चढ़ाई कर दी है, तो उसने भी यवनराज का अधीनता स्वीकार कर लेने में ही हित समझा, और बहुमूल्य उपहार प्रदान कर सिकन्दर का स्वागत किया। सिकन्दर ने उदारतापूर्वक मूसिकनोई की आन्तरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा,यद्यपि उसकी राजधानी में उसने एक मैसिडोनियन सेना की छावनी कायम कर दी। मूसिकनोई जनपद की राजधानी सम्भवतः रोरुक नगरी थी। वर्तमान समय का रोड़ी नगर इसी रोरुक का उत्तराधिकारी है। मूसिकनोई, सैम्वस और आक्सीकेनस—तीनों के प्रदेश सिकन्दर की अधीनता में आ गये थे।

उत्तरी सिन्ध के विविध जनपदों को अपने आधिपत्य में ले आने के पश्चात् सिकन्दर दक्षिण की ओर और आगे बढ़ा। वहाँ उसे एक अन्य जनपद से युद्ध करना पड़ा, ग्रीक विवरणों के अनुसार ब्राह्मणों का जहाँ निवास था। इसे ग्रीक लेखकों ने 'ब्रचमनोई' की संज्ञा दी है। इसे 'ब्राह्मणक' जनपद के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख पतञ्जलि

1. McCrindle : Ancient India as descriped in Classical Literature p 41
2. Raychaudhuri : Political History of Ancient India p. 259

ने पाणिनि के एक सूत्र का भाष्य करते हुए किया है। पतञ्जलि ने 'ब्राह्मणक' को स्पष्ट रूप से एक जनपद लिखा है।[1] ब्राह्मणक जनपद ने वीरता के साथ सिकन्दर का मुकाबला किया, यद्यपि वे उसे परास्त कर सकने में असमर्थ रहे। सिकन्दर ने क्रूरता से ब्राह्मणक के निवासियों का वध किया, और बहुत-से ब्राह्मणों की लाशों को मार्ग पर लटकवा दिया, ताकि अन्य लोग उन्हें देखकर मैसिडोनियन सेना के विरुद्ध हाथ उठाने का साहस न करें।

सिन्ध प्रान्त में सिन्ध नदी जहाँ दो धाराओं में विभक्त होकर समुद्र की ओर आगे बढ़ने लगती है, प्राचीन समय में वहाँ पातानप्रस्थ नामक जनपद की स्थिति थी। ग्रीक लेखकों ने इसी को 'पातालेन' (Patalene) लिखा है। ग्रीक विवरणों में इस जनपद के शासन की तुलना स्पार्टा के शासन के साथ की गई है। डायोडोरस ने लिखा है, कि पातालेन की शासन पद्धति उसी ढंग की है, जैसी कि स्पार्टा की है। यहाँ सेनापतित्त्व दो भिन्न-भिन्न कुलों में वंशानुगत रूप से स्थित रहता है, और वृद्धों या ज्येष्ठों की एक कौंसिल होती है जिसे सम्पूर्ण जनपद पर शासन करने का अधिकार है।[2] पाणिनि के गणपाठ में पातालप्रस्थ का उल्लेख है[3], और ग्रीक लेखकों का पातालेन यह पातालप्रस्थ ही था। पातालप्रस्थ के निवासी सिकन्दर का मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहे, और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रयोजन से अपने प्राचीन अभिजन का परित्याग कर अन्यत्र चले गये।

सिकन्दर अब सिन्ध नदी के मुहाने पर पहुँच गया था। वहाँ उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। जल-सेनापति नियार्कस को जहाजी बेड़े के साथ समुद्र मार्ग से वापस लौटने का आदेश देकर वह स्वयं मकरान के किनारे-किनारे स्थल मार्ग से अपने देश को वापस चल पड़ा (३२५ ई० पू०)। मार्ग में अनेक प्रकार के कष्ट उठाता हुआ वह अपनी सेना के साथ ३२३ ई० पू० में बैबिलोन पहुँच गया। न केवल उसकी सेना निरन्तर युद्धों के कारण बहुत थक गई थी, अपितु वह स्वयं भी श्रान्ति अनुभव करने लगा था। मालवों से युद्ध करते हुए उसकी छाती में जो भयंकर चोट लगी थी, वह अभी तक भी पूर्णतया ठीक नहीं हुई थी। इस दशा में अपने देश को वापस पहुँचने से पूर्व ही बैबिलोन में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु का काल ३२३ ई० पू० में माना जाता है।

सिकन्दर एक महान् विजेता था। दिग्विजय द्वारा उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। पर इस साम्राज्य को स्थायी रूप से एक सूत्र में बांध सकने की न उसमें क्षमता थी, और न उसके सहयोगियों में। यही कारण है, कि सिकन्दर के मरते ही उसके साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। उसके विभिन्न सेनापति अपने-अपने पृथक् राज्य

१. 'ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्' (पाणिनि अष्टाध्यायी ५।२।७१) सूत्र पर पातञ्जल भाष्य में 'ब्राह्मणको नाम जनपदः।'

2. McCrindle : Invasion of India by Alexander the Great, p. 296

३. पाणिनि, गणपाठ ४।१।१४

स्थापित करने में तत्पर हो गये, और विशाल मैसिडोनियन साम्राज्य अनेक खण्डों में विभक्त हो गया। ये खण्ड तीन थे, मैसिडोनिया, मिस्र और सीरिया। सिकन्दर मैसिडोनिया का निवासी था। वहाँ सेनापति एण्टीगोनस ने अपने पृथक् राज्य की स्थापना कर ली। ग्रीस इसी राज्य के अन्तर्गत था। टाल्मी नामक सेनापति ने मिस्र में अपना पृथक् राज्य कायम किया। भारत से लगाकर एशिया माइनर तक के विशाल भूखण्ड पर सेनापति सैल्युकस ने अधिकार कर लिया। इसी को सीरिया का राज्य कहा जाता है। भारतीय इतिहास के साथ सीरिया के इस राज्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि सिकन्दर द्वारा भारत के जो प्रदेश जीते गये थे, वे भी इसी राज्य के अन्तर्गत थे।

(३) सिकन्दर के आक्रमण का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

दिग्विजय द्वारा सिकन्दर ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह उसकी मृत्यु होते ही खण्ड-खण्ड हो गया। एशियन प्रदेशों में सैल्युकस द्वारा जो राज्य कायम किया गया, वह वस्तुतः पुराने हखामनी साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी था। इसी प्रकार टाल्मी द्वारा मिस्र में जिस पृथक् राज्य की स्थापना की गई, कुछ ही समय पश्चात् वह मैसिडोनियन या ग्रीक राज्य न रह कर पुराने मिस्री राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया और उसका ग्रीक राजवंश पुराने फैरोहा–सम्राटों का स्मरण दिलाने लगा। वस्तुतः, सिकन्दर आंधी की तरह आया था, और आंधी की ही तरह वापस चला गया था। उसने कितने ही पुराने राजवंशों और राजकुलों का उच्छेद कर दिया, पर उनके स्थान पर वह किसी ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात नहीं कर सका, जो इतिहास में चिरस्थायी रहती। उसकी दिग्विजय का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह अवश्य हुआ, कि चौथी सदी ई० पू० की तीन उन्नत व सभ्य जातियाँ—ग्रीक, ईरानी और भारतीय—एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ गईं और उनमें ज्ञान तथा व्यापार के सम्बन्ध घनिष्ठ हो गये। सिकन्दर ने अपने जीते हुए प्रदेशों में अनेक नई नगरियाँ बसायी थीं। इनमें मैसिडोनियन या ग्रीक सैनिकों की छावनियाँ भी स्थापित की गई थीं। भारत में ऐसी नगरियों में मुख्य पाँच थीं—अलेग्जेण्ड्रिया (काबुल के क्षेत्र में), बुकेफला (जहाँ ग्रीक सेना ने वितस्ता नदी को पार किया था), नीकिया (जहाँ केकयराज पोरु को परास्त किया गया था), अलेग्जेण्ड्रिया (असिक्नी और सिन्ध नदियों के संगम पर) और एक अन्य अलेग्जेण्ड्रिया जो कि वितस्ता और इरावती (रावी) नदियों के संगम के दक्षिणी प्रदेश में थी। इन तथा ऐसी ही अन्य नगरियों में जिन ग्रीक (यवन) लोगों को आवाद किया गया था, वे स्थायी रूप से भारत में ही वस गये थे और धीरे-धीरे पूर्णतया भारतीय ही बन गये थे। मौर्य साम्राज्य के स्थापित होने पर इन्हें शासन में भी स्थान प्राप्त हुआ। अशोक द्वारा यवन तुषास्प की राजकीय पद पर नियुक्ति इसका प्रमाण है। बहुत-से यवन मौर्यों की सेना में 'भृत' सैनिकों के रूप में भी भरती हुए। चन्द्रगुप्त की जिस सेना ने नन्द के शासन का अन्त करने के लिये मगध पर आक्रमण किया था, मुद्रा-

राक्षस के अनुसार पारसीक और म्लेच्छ सैनिक भी उसमें सम्मिलित थे। सम्भवतः, ये विदेशी सैनिक सिकन्दर की उन सेनाओं के अवशेष थे, जिन्हें वह भारत में ही छोड़ गया था। सिकन्दर की मृत्यु होते ही उसका साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था, और भारत के सव प्रदेश मैसिडोनियन आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गये थे। पर जिन विदेशी सैनिकों को सिकन्दर भारत में छोड़ गया था, उन्हें अपने देश में वापस जाने का अवसर ही नहीं मिल सका था। इस दशा में यदि वे भृत सैनिकों के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में सम्मिलित हो गये हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

पश्चिमी संसार के साथ भारत के सम्वन्धों में घनिष्ठता और दृढ़ता आने में भी सिकन्दर के आक्रमण से वहुत सहायता मिली थी। इससे पूर्व भी भारत का पाश्चात्य जगत् के साथ सम्वन्ध विद्यमान था। पर कुछ वर्षों के लिये विपाशा नदी से भूमध्य सागर तक के सुविस्तृत व विभिन्न प्रदेशों में एक शासन स्थापित हो जाने के कारण यह सम्वन्ध और भी अधिक दृढ़ हो गया। भारत के व्यापारी अव वड़ी संख्या में ईराक, मिस्र और ग्रीस आने-जाने लगे, और पश्चिमी देशों में भारत का माल वड़ी मात्रा में विक्रय के लिये भेजा जाने लगा।

पर सिकन्दर के आक्रमण का सवसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण भारत भूमि में राजनीतिक एकता और एक शासन के स्थापित होने में इससे वहुत सहायता मिली। पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत में जो वहुत-से छोटे-वड़े राज्य विद्यमान थे, सिकन्दर के आक्रमण के कारण उनकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो गई। उसकी प्रवल शक्ति के सम्मुख वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सके। गंगा के पूर्व के भारत में प्राचीन काल में जो वहुत-से छोटे-वड़े राज्य या जनपद विद्यमान थे, वे मगध की साम्राज्यविस्तार की प्रवृत्ति और प्रवल शक्ति द्वारा नष्ट कर दिये गये थे। वार्हद्रथ, शैशुनाक और नन्द वंशों के प्रतापी सम्राट् भारत के मध्यप्रदेश और प्राच्य प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले आने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे, और नन्दवंशी राजा महापद्म नन्द हिमालय से विन्ध्याचल तक और गंगा-यमुना से वंगाल की खाड़ी तक विस्तीर्ण एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ। जो कार्य पूर्व में मगध के राजाओं और विशेषतया महापद्म नन्द ने किया था, वही वितस्ता नदी के पश्चिम के भारत में सिकन्दर द्वारा किया गया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य के स्थापित होने के कार्य में इससे वहुत सहायता मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने एकच्छत्र शासन में ले आ सका, उसका वहुत कुछ श्रेय सिकन्दर की दिग्विजय को दिया जा सकता है। मैसिडोनियन आक्रमण के कारण वाहीक देश के विभिन्न जनपदों का वल वहुत क्षीण हो गया था। चन्द्रगुप्त जो उन्हें इतनी सुगमता से अपनी अधीनता में ला सका, उसका यही मुख्य कारण था। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ सिकन्दर के आक्रमण का प्रत्यक्ष सम्वन्ध है। इसीलिये हमने इस आक्रमण का विवरण इतने विशद रूप से उल्लिखित किया है। मैसिडोनियन आक्रमण के समय पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत

में जो राज्य विद्यमान थे, उनकी संख्या ३० के लगभग थी। इनमें गान्धार, केकय, अभिसार, मद्रक, पुष्करावती और मुचिकर्ण के राज्य राजतन्त्र राज्यों में मुख्य थे, और कठ, मालव, क्षुद्रक, आग्रेय, ग्लुचुकायन और वसाति गणतन्त्र राज्यों में। गान्धार, केकय और अभिसार की स्थिति प्रायः वही थी, जो कि गंगा के पूर्व में मगध, वत्स, कोशल और अवन्ति के राज्यों की थी। मध्य पंजाब के क्षुद्रक, मालव आदि गणराज्यों की स्थिति को उत्तरी विहार के वज्जि, शाक्य, मल्ल आदि गणराज्यों के सदृश समझा जा सकता है। इन सब राज्यों को जीत कर एक शासन में ले आ सकना सुगम कार्य नहीं था। गान्धार और केकय के राजाओं का यह प्रयत्न रहा था, कि वे अन्य जनपदों को जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार करें। उन्हें आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त हुई थी। पर यदि सिकन्दर का आक्रमण न होता, तो शायद केकय या गान्धार के लिये सम्पूर्ण वाहीक देश में एकच्छत्र शासन स्थापित कर सकना कदापि सम्भव न होता। साम्राज्य-विस्तार द्वारा भारत भूमि के अधिक से अधिक भाग को एक शासन में ले आने की जो प्रवृत्ति चिरकाल से विकसित हो रही थी, सिकन्दर के आक्रमण से उसे वहुत बल मिला, और कुछ वर्ष पश्चात् ही मौर्य साम्राज्य के रूप में इस प्रवृत्ति ने अनुपम सफलता प्राप्त कर ली। सिकन्दर के आक्रमण के कारण उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनीतिक दशा में जो परिवर्तन हो गया था, उसी से चन्द्रगुप्त ने लाभ उठाया और एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

(४) चन्द्रगुप्त द्वारा राज्य की प्राप्ति और विस्तार

चन्द्रगुप्त और चाणक्य की जो कथा महावंसो में पायी जाती है, और जिसका हमने इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण में उल्लेख किया है, उसके अनुसार नन्द वंश का नाश करने के प्रयोजन से पहले उन्होंने मगध के नगरों और ग्रामों पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया था। पर इसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। फिर वे मागध-साम्राज्य के सीमान्त पर गये, और उसे अपने अधीन कर उन्होंने मगध पर आक्रमण किया। इस बार वे सफल हुए, और नन्द वंश का विनाश कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

महावंसो की यह कथा एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है। सिकन्दर के आक्रमण के कारण मागध-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में उथल-पुथल मच गई थी, और ज्यों ही मैसिडोनियन सेनाएँ भारत से विदा हुईं, इन सीमावर्ती प्रदेशों में विद्रोह हो गया। सिकन्दर द्वारा नियुक्त सेनापतियों और क्षत्रपों के लिये इन प्रदेशों को अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं रहा। यही समय था, जबकि चाणक्य और चन्द्रगुप्त नन्दवंश के विनाश की आकांक्षा को लेकर इस सीमान्त प्रदेश में आये, और वहाँ की राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठा कर उन्होंने उत्तर-पश्चिमी भारत को सिकन्दर की अधीनता से मुक्त किया। ३२३ ई० पू० में जब सिकन्दर की मृत्यु हो गई, तो पंजाब में यवन शासन के

विरुद्ध विद्रोह अत्यन्त प्रचण्ड रूप धारण कर गया, और चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त को यवनों की अधीनता से मुक्त कर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उन्हें एक शासनसूत्र में संगठित किया, और फिर इस क्षेत्र की सेनाओं को साथ लेकर मगध पर आक्रमण किया। नन्द का घात कर चन्द्रगुप्त स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, और इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उसने एकच्छत्र शासन की स्थापना की।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त के इस कर्तृत्व को हैवेल ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है—"सिकन्दर के भारत से वापस लौटने के एक साल पश्चात् उस द्वारा विजित प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गया। प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला इस विद्रोह का केन्द्र था। यहाँ चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो दण्डनीति, राजनय और सैन्य शास्त्र में पारंगत था। उसकी असाधारण योग्यता सर्वत्र विदित थी। उसका चन्द्रगुप्त नाम का एक शिष्य था। मैसिडोनियन आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही था। सम्भवतः, चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित भी किया था। परन्तु व्यास नदी के तट पर अपनी यूरोपियन सेना के विद्रोह कर देने के कारण वह और आगे नहीं बढ़ सका। सिकन्दर के किसी क्षत्रप ने राजा पोरस का घात कर दिया था, यद्यपि पोरस सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करता था। इस हत्या के कारण भारतीय जनता में बहुत असन्तोष फैल गया। एक अन्य प्रान्त के क्षत्रप फिलिप्पस का भी घात कर दिया गया, और क्रान्ति के लिये अब विद्रोहियों को केवल एक योग्य नेता की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त ने इन घृणित यूनानी लोगों को निकाल कर बाहर कर देने और मगध के राजा से बदला लेने के इस सुवर्णावसर को हाथ से नहीं जाने दिया। चाणक्य की सहायता से उसने पंजाब की जातियों को भड़का दिया, और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उन्हीं सेनाओं की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। मगध के राजा को गद्दी से च्युत कर और ग्रीक लेखकों के मतानुसार मारकर वह राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ।[1]"

सिकन्दर की वापसी के बाद की भारत के राजनीतिक इतिहास की घटनाओं का हैवेल ने जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, वह ग्रीक विवरणों पर आधारित है। सिकन्दर ने भारत के नये जीते हुए प्रदेशों को शासन की दृष्टि से छः भागों में विभक्त किया था, और इनके शासन के लिये छः शासकों को नियुक्त किया था। ये छः विभाग निम्नलिखित थे—(१) सिन्ध, जिसका शासक या क्षत्रप (Satrap) पाइथॉन (Peithon) को बनाया गया था। (२) पश्चिमी गान्धार, जिसकी राजधानी प्युक्लाओतिस (Peucelaotis) या पुष्कलावती थी, और जिसमें सिन्ध नदी के पश्चिम से लगाकर काबुल की घाटी से पूर्व तक के सब प्रदेश अन्तर्गत थे। इसका क्षत्रय निकनौर (Nicanor) को नियुक्त किया

1. Havell E.B. : The History of Aryan Rule in India, Chapter 5

गया था। (३) पैरोपनिसदी (Paropanisadae) या कावुल की घाटी का प्रदेश, जिसका क्षत्रप आक्स्यार्टस (Oxyartes) था। (४) सिन्ध और वितस्ता (जेहलम) नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश, जिसका शासन तक्षशिला के राजा आम्भि के सुपुर्द किया गया था। (५) वितस्ता और विपाशा (व्यास) नदियों का प्रदेश, जिसका शासक केकय-राज पोरु को नियुक्त किया गया था, और (६) हिमालय और उसके साथ-साथ का वह सब उत्तरीय प्रदेश जो सिन्ध और व्यास नदियों के बीच में विद्यमान था। इस पार्वत्य प्रदेश को शासन के लिये अभिसार के राजा के सुपुर्द कर दिया गया था। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है, कि अपने विजित भारतीय प्रदेशों के शासन की जो व्यवस्था सिकन्दर द्वारा की गई थी, उसमें भारतीयों और विदेशियों को एक समान स्थान दिया गया था। तीन प्रदेशों का शासनाधिकार भारतीयों के हाथों में था, और तीन का विदेशियों के। सिन्ध नदी के पश्चिम के सब प्रदेशों के शासक ग्रीक नियुक्त किये गये थे, और सिन्ध के पूर्व के प्रदेशों के भारतीय। पर भारतीय राजाओं द्वारा शासित प्रदेशों में भी अनेक ग्रीक या मैसिडोनियन छावनियाँ स्थापित की गई थीं, और उनमें विदेशी सैनिकों को भी अच्छी बड़ी संख्या में रखा गया था। सिकन्दर की सेना में केवल मैसिडोनियन सैनिक ही नहीं थे। ग्रीस, ईरान, मिस्र आदि जो अन्य अनेक देश उसकी अधीनता में थे, उनके भी वहुत-से भृत सैनिक उसकी सेना में सम्मिलित थे। भारत के विविध नगरों में स्थापित इन विदेशी सेनाओं का प्रधान कार्य भारत के इन प्रदेशों को यवनराज की अधीनता में वनाये रखना और उन्हें स्वतन्त्र न होने देना ही था।

पर सिकन्दर देर तक भारत को अपनी अधीनता में नहीं रख सका। उसके पाताल-प्रस्थ से विदा होते ही उस द्वारा जीते हुए भारतीय प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गया, और वैविलोन में उसकी मृत्यु होते ही भारतीयों ने पराधीनता के जुए को अपने कन्धों से उतार फेंका। यह सब किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में ग्रीक लेखकों के कतिपय विवरण उद्धरणीय हैं। जस्टिन ने लिखा है, कि "सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने पराधीनता के जुए को अपने कन्धे से उतार फेंका और उस (सिकन्दर) द्वारा नियुक्त शासकों की हत्या कर दी। (भारत की) इस स्वाधीनता का संस्थापन सैन्ड्राकोट्टस (Sandracottus) द्वारा किया गया था। इस (सैन्ड्राकोट्टस) का जन्म एक हीन कुल में हुआ था, पर अलौकिक रूप से प्रोत्साहन प्राप्त कर उसमें राजशक्ति को अधिगत कर लेने की महत्त्वाकांक्षा प्रादुर्भूत हो गई थी। उसने सिकन्दर से ढिठाई से बातचीत की थी, जिससे अपमानित होकर सिकन्दर ने उस (सैन्ड्राकोट्टस) के बध की आज्ञा प्रदान की थी। पर भागकर उसने अपने प्राणों की रक्षा की। भागने से थककर उसे नींद आ गई। जब वह सोया हुआ था, तो वहाँ एक सिंह आया और उसके पसीने को अपनी जीभ से चाटने लगा। इस प्रकार जब सेन्ड्राकोट्टस की नींद खुल गई, तो वह सिंह उसे बिना कोई क्षति पहुँचाये वहाँ से चला गया। इस अपूर्व घटना से सेन्ड्राकोट्टस के मन में राजकीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गई,

और उसने लुटेरों की टोलियाँ संगठित कर भारतीयों को इस बात के लिये प्रेरित करना प्रारम्भ किया कि वे ग्रीक शासन को पलट दें। कुछ समय पश्चात् जब वह (सेन्ड्राकोट्टस) सिकन्दर के सेनापतियों के विरुद्ध लड़ाई के लिये जा रहा था, एक विशालकाय जंगली हाथी स्वयं उसके सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने एक पालतू हाथी के समान उसे उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया। अब यह हाथी सैन्ड्राकोट्टस का पथप्रदर्शक हो गया और युद्ध-क्षेत्रों में इसने बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। जिस समय सैल्युकस अपनी भावी महत्ता की नींव डाल रहा था, चन्द्रगुप्त ने इस ढंग से राजसिंहसान प्राप्त किया और भारत में अपना आधिपत्य स्थापित किया।"

जस्टिन का यह विवरण अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) चन्द्रगुप्त का जन्म किसी राजा के घर में न होकर एक ऐसे परिवार में हुआ था, जो हीन दशा में था। (२) जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो चन्द्रगुप्त (जिसे जस्टिन व अन्य ग्रीक लेखकों ने सेन्ड्राकोट्टस लिखा है, जो स्पष्टतया चन्द्रगुप्त का ही ग्रीक रूपान्तर है) उत्तर-पश्चिमी भारत में था, और सिकन्दर से उसकी भेंट भी हुई थी। सिकन्दर के प्रति उसने ढिठाई का बरताव किया था, और उसे समुचित आदर प्रदान नहीं किया था। विजिगीषु व साम्राज्य निर्माता वीर व्यक्ति में जो एक विशेष प्रकार का उद्दण्ड साहस होना बहुत उपयोगी होता है, वह चन्द्रगुप्त में था। (३) सिकन्दर के विरुद्ध जो विद्रोह भारत में हुआ, चन्द्रगुप्त ने उसका नेतृत्व किया। (४) इस प्रयोजन से उसने बहुत-से सैनिक एकत्र किये। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिकन्दर के आक्रमण के कारण उत्तर-पश्चिमी भारत के बहुत-से निवासी अव्यवस्थित दशा को प्राप्त हो गये थे। वंशाक्रमानुगत वृत्ति का अनुसरण कर सकना भी अब उनके लिये सम्भव नहीं रहा था, और जीवन-निर्वाह का कोई समुचित साधन न होने के कारण वे लूटमार के लिये विवश हो गये थे। यह भी सम्भव है, कि वाहीक देश के जिन गणराज्यों का मैसिडोनियन सेनाओं द्वारा ध्वंस कर दिया गया था, उनके निवासी विदेशी शासन को सहन न करने के कारण ऐसा जीवन बिताने लगे हों, जिसे ग्रीक लेखकों ने लुटेरों का जीवन कहा है। चन्द्रगुप्त ने इन्हीं को एकत्र कर उस शतिशाली सेना को संगठित किया, जिसने कि न केवल भारत से मैसिडोनियन शासन का अन्त कर दिया, अपितु मगध की प्रबल सैन्यशक्ति को परास्त करने में भी सफलता प्राप्त की।

सिकन्दर ने जिन जनपदों को जीत कर अपने अधीन किया था, युद्ध में यद्यपि वे परास्त हो गये थे पर वे विदेशी आधिपत्य को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे। इसी का यह परिणाम था कि उनमें निरन्तर विद्रोह होते रहते थे। चन्द्रगुप्त ने इस परिस्थिति से भी लाभ उठाया। जब सिकन्दर भारत में ही था और पंजाब के गण-राज्यों को जीतने में व्यस्त था, अस्सकेन (अश्वकायन) लोगों ने पुष्कलावती (गान्धार) के क्षत्रप निकनोर की हत्या कर दी थी। इस निकनोर की अधीनता में अश्वकायन जनपद के शासन के लिये एक

भारतीय भी नियुक्त किया गया था, जिसका नाम ग्रीक लेखकों ने सिसिकोट्टस (Sisicottus) लिखा है। यह सम्भवतः शशिगुप्त का रूपान्तर है। अश्वकायन लोग इसका भी अन्त कर देने के लिये प्रयत्नशील थे, पर सिकन्दर ने इसकी रक्षा के लिये अन्य प्रदेशों से सेनाएँ भेजीं, जिनकी सहायता से ही शशिगुप्त अपनी रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ। गान्धार के क्षेत्र में भी मैसिडोनियन आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह हुआ था, जिसका नेतृत्व करने वाले वीर का नाम ग्रीक विवरणों में दमरैक्सस (Damaraxus) लिखा गया है। ये विद्रोह तो उस समय में हुए थे, जबकि सिकन्दर भारत में ही था। जब उसने पातालप्रस्थ से अपने देश के प्रति प्रस्थान किया, तब स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई। पुष्कलावती में जो मैसिडोनियन सेना स्थापित की गई थी, उसका सेनापति फिलिप था। वह न केवल एक सेनापति था, अपितु शासन-सम्बन्धी अधिकार भी उसे प्राप्त थे। निकनोर की हत्या के पश्चात् पुष्कलावती के क्षत्रप का पद भी सम्भवतः उसे ही प्रदान कर दिया गया था। ३२५ ई० पू० में फिलिप की भी हत्या कर दी गई। सिकन्दर अभी जीवित था। फिलिप की मृत्यु के समाचार से वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने तत्काल यह आदेश दिया, कि तक्षशिला का राजा आम्भि फिलिप का स्थान भी ग्रहण कर ले, और सिन्ध नदी के तट पर स्थित मैसिडोनियन शिविर का सेनापति यूदेमस (Eudamus) शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने में आम्भि की सहायता करे। पर यूदेमस के पास पर्याप्त सेना नहीं थी। चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे वीर और चाणाक्ष नेताओं के नेतृत्त्व में विद्रोहियों की शक्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही थी। इस दशा में यूदेमस को अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

सिकन्दर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) के पश्चात् उसके सुविशाल साम्राज्य में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में झगड़े प्रारम्भ हो गये थे। मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशों (विपाशा नदी से भूमध्य सागर तक विस्तीर्ण प्रदेशों) के विषय में ये झगड़े सिकन्दर के दो सेनापतियों के बीच में थे, जिनके नाम सैल्युकस और एण्टिगोनस थे। ऐसी स्थिति में यूदेमस का कार्य और भी अधिक कठिन हो गया। अब वह यह आशा नहीं कर सकता था, कि उत्तर-पश्चिमी भारत में मैसिडोनियन आधिपत्य को स्थापित रखने के लिये पश्चिम से कोई नई सेना आ सकेगी। चन्द्रगुप्त और चाणक्य के नेतृत्त्व में सिकन्दर द्वारा विजित प्रदेशों में सर्वत्र विद्रोह जारी थे, और इन विद्रोहियों की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। ऐसी दशा में यूदेमस ने यही उचित समझा, कि अपनी बची-खुची सेना को साथ लेकर पश्चिम की ओर चला जाया जाए, ताकि वहाँ जाकर वह सैल्युकस और एण्टिगोनस के युद्ध में एण्टिगोनस की सहायता कर सके। ३१७ ई० पू० यूदेमस के भारत से प्रस्थान कर देने के साथ इस देश से मैसिडोनियन शासन का पूर्ण रूप से अन्त हो गया था। पर चन्द्रगुप्त ने इससे पहले ही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना आधिकार प्राप्त कर लिया था, और उत्तर-पश्चिमी भारत भी सब क्रियात्मक दृष्टि से उसकी अधीनता में आ चुका था।

मैसिडोनियन शासन के विरुद्ध भारत में जो विद्रोह हुआ, उनमें आचार्य चाणक्य का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। चाणक्य तक्षशिला में अध्यापन का कार्य करते थे, और वहाँ के 'विश्वविख्यात' आचार्यों में उनका प्रमुख स्थान था। दण्डनीति के वह प्रसिद्ध विद्वान् थे। विदेशी शासन उनकी दृष्टि में अत्यन्त अनुचित व हानिकारक था। कौटलीय अर्थशास्त्र में वैराज्य (विदेशी शासन) के दोषों को उन्होंने इस प्रकार प्रगट किया है, कि इस प्रकार के शासन में शासक बलपूर्वक दूसरे देश को छीन लेता है, उसे कभी अपना नहीं समझता, उसका शोषण करता है, उसपर अत्याचार करता है, उसका विक्रय कर देता है, और यदि उस (शोषित) देश के निवासी उस (विदेशी राजा) के प्रति विरक्त (विरोधी) हो जाएँ तो उसे छोड़ कर चला जाता है।[1] निस्सन्देह, किसी भी विदेशी शासन में स्वाभाविक रूप से ये सब दोष होते हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत पर सिकन्दर ने अपना जो शासन स्थापित किया था, उसमें भी ये सब दोष विद्यमान थे। इसी कारण चाणक्य जैसे प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ ने इस शासन का अन्त करने में क्रियात्मक रूप से भाग लिया था।

केवल चाणक्य ही नहीं, अन्य भी अनेक ब्राह्मण व आचार्य सिकन्दर के शासन के विरुद्ध अपना रोष प्रगट करने में तत्पर थे। ग्रीक विवरणों में इस प्रकार के अनेक निर्देश विद्यमान हैं। एक बार एक ऐसे ब्राह्मण से जो सिकन्दर के विरुद्ध एक राजा को भड़का रहा था, यवन राज ने प्रश्न किया—तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो ? ब्राह्मण ने उत्तर दिया—मैं चाहता हूँ, यदि वह जिए तो सम्मानपूर्वक जिए, अन्यथा सम्मानपूर्वक मर जाए। एक अन्य ब्राह्मण सन्यासी ने सिकन्दर से कहा था—तुम्हारा राज्य सूखी हुई खाल के समान है, जिसका कोई गुरुता-केन्द्र नहीं होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व उसके विरुद्ध उठ खड़ा होता है। तक्षशिला के एक वृद्ध दण्डी (Dandanis) को सिकन्दर के सम्मुख यह डर दिखा कर लाने की कोशिश की गई कि सिकन्दर तो संसार के स्वामी द्यौः (Zeus) का पुत्र है। यदि तुम उसके सम्मुख प्रस्तुत नहीं होंगे, तो वह तुम्हारे सिर को धड़ से अलग कर देगा। यह सुनकर दण्डी ने उपेक्षाजनक हंसी हंसते हुए कहा—मैं भी उसी प्रकार द्यौः का पुत्र हूँ, जैसे सिकन्दर है। मैं अपनी मातृभूमि भारत से पूर्णतया संतुष्ट हूँ जो माता के समान मेरा पालन करती है। उसी दण्डी ने व्यङ्गपूर्वक यह भी कहा—यदि सिकन्दर गंगा के पार के प्रदेश में जायगा, तो (नन्द की सेना) उसे विश्वास दिला देगी कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नहीं बना है।

सिकन्दर के विरुद्ध भारत में जो विद्रोह हुआ, वह वस्तुतः जनता का विद्रोह था। उसमें उन गणराज्यों के निवासियों ने विशेष रूप से भाग लिया था, जिनकी स्वतन्त्रता का मैसिडोनियन सेना द्वारा अन्त कर दिया गया था। गणराज्यों को अपनी स्वतन्त्रता से

---

१. **"वैराज्यं तु जीवितः परस्याच्छिद्य "नैतन्मम" इति मन्यमानः कर्शयत्यपवाहयति, पण्यं वा करोति, विरक्तं वा परित्यज्य अपगच्छतीति।" कौ. अर्थ. ८।२**

बहुत अधिक प्रेम था। वे विदेशी आक्रान्ता के प्रभुत्त्व को कदापि सहन नहीं कर सकते थे। गणराज्यों की तो वात ही क्या, सम्भवतः, राजतन्त्र राज्यों के राजाओं के लिये भी मैसिडोनियन शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना से अपने को पृथक् रख सकना सम्भव नहीं रहा था। इसी कारण केकयराज पोरु (जो वितस्ता और विपाशा नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का सिकन्दर द्वारा नियुक्त शासक था) और यवन सेनापति यूदेसस में विरोध हो गया था, और यूदेससने पोरु का घात करा दिया था।[1] चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इस परिस्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठाया और विपाशा (व्यास) नदी के पश्चिम के सव भारतीय प्रदेशों से मैसिडोनियन शासन का अन्त कर दिया। इन प्रदेशों के जनपदों ने स्वाभाविक रूप से अपने को विदेशी आधिपत्य से स्वतंत्र कराने वाले चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली। इसीलिये ग्रीक लेखक जस्टिन ने लिखा है--'सिकन्दर के लौट जाने पर सेन्ड्राकोट्टस (चन्द्रगुप्त) ने भारत को स्वतन्त्रता दिलायी। पर अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त कर चुकने पर शीघ्र ही उसने स्वतन्त्रता को दासता के रूप में परिवर्तित कर दिया। जिन्हें उसने विदेशियों के जुए में स्वतन्त्र किया था, उन्हें उसने अपने अधीन कर लिया।' उत्तर-पश्चिमी भारत को अपनी अधीनता में ले आने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने किस प्रकार मगध से नन्द वंश के शासन का अन्त कर पाटलिपुत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, इस सम्वन्ध में महावंसो की टीका का यह कथन ध्यान देने योग्य है--सीमान्त देश से वे (चाणक्य और चन्द्रगुप्त) पूर्व की ओर वढ़ते गये। नगरों और ग्रामों को अपने अधीन करते हुए वे निरन्तर आक्रमण करते हुए चले। एक भारी सेना उनके साथ थी। ठीक समय पर उन्होंने पाटलिपुत्र को आक्रान्त किया, और धननन्द को मार कर राज्य प्राप्त कर लिया।

विशाखदत्त के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस द्वारा भी इस वात की पुष्टि होती है। उसके अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त की जिन सेनाओं ने पाटलिपुत्र को आक्रान्त किया था, उनमें शक, यवन, किरात, काम्वोज, पारसीक, वाह्लीक आदि की सेनाएँ सम्मिलित थीं, जिन्हें चाणक्य ने अपनी बुद्धि द्वारा वश में कर रखा था। इस प्रसंग में अमात्य राक्षस और विराधगुप्त की यह वार्ता उल्लेखनीय है--

"राक्षस--सखे! चन्द्रगुप्त के नगर (पाटलिपुत्र) में प्रवेश कर चुकने के अनन्तर क्या कुछ हुआ, और हमारी ओर से उसके वध के लिये नियुक्त तीक्ष्ण विषदायी गुप्तचरों ने क्या किया, यह सब प्रारम्भ से ही सुनने की हमारी इच्छा है।

विराधगुप्त--प्रारम्भ से ही कहता हूँ। चाणक्य अपनी बुद्धि द्वारा वश में करके शक, यवन, किरात, काम्वोज, पारसीक, वाह्लीक आदि की सेनाओं को ले आया और चन्द्रगुप्त तथा पर्वतक की सेनाओं के साथ इन्होंने प्रलय के समुद्र के समान कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) को घेर लिया।"

---

१. Cambridge History of India Vol. I, p. 429

मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक नाम के एक शक्तिशाली राजा को मगध का आधा राज्य देने का बचन प्रदान कर उसकी भी सहायता प्राप्त की थी। जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व की कथामें भी पर्वतक का उल्लेख है, और वह भी अपने सेनाके साथ चन्द्रगुप्त की सहायता कर रहा था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार पर्वतक मगध के राजकुल का ही था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पर्वतक की स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी प्राचीन साहित्य के सब विवरण इस बात पर एकमत हैं, कि नन्द वंश का अन्त करने के लिये जिन सेनाओं ने मगध पर आक्रमण किया था, उनमें पर्वतक की भी सेना सम्मिलित थी, और साथ ही पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य अनेक राजाओं की सेनाएँ भी। मुद्राराक्षस के अनुसार ये राजा निम्नलिखित थे—कुलूत (कुल्लू) का राजा चित्रवर्मा, मलय (सम्भवतः, मालव गण) का राजा सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिन्धु (सिन्ध) का राजा सिन्धुषेण और पारसीक का राजा मेघाक्ष। इन सब राजाओं का सम्बन्ध पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत के उन्हीं प्रदेशों के साथ था, जिन्हें चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने सिकन्दर के आधिपत्य से स्वतन्त्र कराया था। पारसीकराज मेघाक्ष के विषय में विशाखदत्त ने लिखा है, कि उसकी सेना में घोड़ों की प्रचुर संख्या थी।

कतिपय विद्वानों ने मुद्राराक्षस में दिये हुए राजाओं के इन नामों को ग्रीक विवरणों में विद्यमान नामों से मिलाने का प्रयत्न किया है। टामस ने पर्वतक को पोरस या पोरु के साथ मिला कर यह लिखा है, कि पोरस की सहायता के बिना इस (चाणक्य और चन्द्रगुप्त के) आक्रमण का सफल हो सकना सम्भव नहीं था। इसलिये हमारे सम्मुख दो मार्ग रह जाते हैं, या तो पोरस ने स्वयं इस आक्रमण में भाग लिया और वही नाटक के चन्द्रगुप्त का मित्र पर्वतक है. . .या वह पोरस का कोई उत्तराधिकारी है। एक विद्वान् ने पारसीकाधिपति मेघाक्ष को मैगस्थनीज़ के साथ मिलाया है, और एक का कहना है कि विशाखदत्त ने भूल से शैलाक्ष का मेघाक्ष लिख दिया है, और यह शैलाक्ष सैल्यूकस का ही संस्कृत रूपान्तर है। पर इस प्रकार के सब प्रयत्न न किसी ठोस आधार पर आश्रित हैं, और न उनका कोई विशेष लाभ ही है। तात्त्विक बात यह है, कि जिस शक्तिशाली सेना को साथ लेकर चन्द्रगुप्त ने मगध पर आक्रमण किया था, उसमें पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत के बहुत-से सैनिक तत्त्व सम्मिलित थे, और अनेक राजकुल भी इस आक्रमण में चन्द्रगुप्त की सहायता कर रहे थे। चन्द्रगुप्त के प्रधान सहयोगी पर्वतक की तो पहले ही हत्या हो गई थी, और मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार उसके पुत्र मलयकेतु की सेना में खश, मगध, गान्धार, यवन, शक, चीण, हूण और कुलूत देश के सैनिक सम्मिलित थे। इस सूचि में मगध के अतिरिक्त अन्य सब नाम ऐसे हैं, जिनका सम्वन्ध उत्तर-पश्चिमी भारत तथा उससे भी परे के प्रदेशों के साथ है। मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार पर्वतक बाद में राजा नन्द और उसके अमात्य राक्षस के पक्ष में हो गया था, अतः चाणक्य ने कूटनीति द्वारा उसका वध करा दिया गया था। पर्वतक का पुत्र मलयकेतु था, जो स्वाभाविक रूप से राक्षस का साथ दे रहा था। अतः यदि

उसकी सेना में विशाखदत्त ने मगध के सैनिकों का भी उल्लेख किया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मागध साम्राज्य से नन्दवंश के शासन का अन्त करने के लिये चाणक्य की बुद्धि द्वारा जिन सेनाओं का संगठन किया गया था, विशाखदत्त के अनुसार उनमें शक, यवन, किरात, कम्बोज, पारसीक और वाह्लीक आदि सैनिक थे, और कुलूत, मलय, काश्मीर, सिन्ध तथा पर्शिया के राजा चन्द्रगुप्त के विरोध में थे। पर्वतक के पुत्र मलयकेतु की सेना में भी खश, गान्धार, यवन, शक, चीण, हूण और कुलूत के सैनिक सम्मिलित थे। यद्यपि मुद्राराक्षस के इस विवरण पर अविकल रूप से विश्वास कर सकना सम्भव नहीं है, पर इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सिकन्दर की भारत से वापसी के बाद उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसमें न केवल चाणक्य और चन्द्रगुप्त के लिये अपितु उनके विरोधी पक्ष द्वारा भी उनसे भृत सैनिकों को बड़ी संख्या में भरती कर सकना सर्वथा सुगम हो गया था। प्राचीन भारत में 'यवन' शब्द का प्रयोग ग्रीक लोगों के लिये किया जाता था। सिकन्दर की सेना के जो ग्रीक व मैसिडोनियन सैनिक भारत में रह गये थे और जिनके लिये अपने देश को वापस लौट सकना क्रियात्मक नहीं था, वे यदि चन्द्रगुप्त और मलयकेतु—दोनों की सेनाओं में भृत सैनिकों के रूप में भरती हो गये हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। सिकन्दर के साम्राज्य में पर्शिया (पारसीक देश) भी अन्तर्गत था। एक पारसीक महिला से सिकन्दर ने विवाह भी किया था। स्वाभाविक रूप से बहुत-से पारसीक सैनिक भी उसकी सेना में भरती थे। दिग्विजय करता हुआ सिकन्दर मध्य एशिया के क्षेत्र में भी पहुँच गया था। सम्भव है, कि इस क्षेत्र की कतिपय जातियों के युवक भी उसकी सेना में भरती हो गये हों। बाह्लीक बाख्त्री या बैक्ट्रिया को कहते थे। इससे परे के प्रदेशों में उस समय शकों और हूणों का निवास था। यदि कतिपय शक और हूण युवक भी सिकन्दर के मध्य एशिया के क्षेत्र में आने पर उसकी सेना में सम्मिलित हो गये हों, तो यह असम्भव नहीं है। खश जाति का अभिजन भी मध्य एशिया के क्षेत्र में ही था। विशाखदत्त ने मलयकेतु के सैनिकों में 'चीणों' का भी उल्लेख किया है। मुद्राराक्षस की कतिपय पाण्डुलिपियों में 'चीण' के स्थान पर 'चेदि' पाठ भी मिलता है। चौथी सदी ई० पू० में चीन के सैनिकों ने भी चन्द्रगुप्त और नन्द के संघर्ष में भाग लिया हो, यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। विशाखदत्त ने जिस समय अपना नाटक लिखा था, शक लोग भारत में प्रविष्ट हो चुके थे, और हूणों के आक्रमणों का भी सूत्रपात हो गया था। चीन के साथ भी उस समय तक भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। इस दशा में यदि विशाखदत्त ने उत्तर-पश्चिम की जातियों का उल्लेख करते हुए शकों, हूणों और चीनियों को भी उनमें सम्मिलित कर दिया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत के सीमान्त क्षेत्रों से अनेकविध जातियों के युवकों को भृत सैनिकों के रूप में भरती कर सकना बहुत सुगम था। उस समय इन प्रदेशों

में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं थी जिनकी आजीविका का कोई सुनिश्चित साधन नहीं रह गया था, और जो चोरी या लूटमार करने में भी संकोच नहीं करते थे। जस्टिन ने इन्हीं को 'लुटेरा' कहा है। इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र का एक निर्देश महत्त्व का है। वहाँ लिखा है कि जिसके पास अपने जनपद, दुर्ग आदि न हों और उसे सैन्य शक्ति संगठित करनी हो, तो वह 'उत्साहहीन श्रेणीप्रवीरपुरुषों, चोर-गणों, आटविकों, म्लेच्छ-जातियों और परापकारी गूढ़ पुरुषों' को सेना में भरती करे।[1] प्राचीन भारत में शिल्पियों, कर्मकरों और सैनिकों आदि की 'श्रेणियाँ' (Guilds) संगठित थीं। 'श्रेणिबल' को भी अन्यतम प्रकार का सैनिक बल माना गया है। सैनिकों की श्रेणियाँ वृत्ति प्राप्त कर युद्ध में किसी एक का पक्ष लेकर सम्मिलित हो जाया करती थीं। श्रेणियों में संगठित शिल्पियों के समान श्रेणि के सैनिक भी नियन्त्रण में रहते थे, और 'श्रेणि' के निर्णय के विपरीत आचरण नहीं कर सकते थे। ऐसे (श्रेणियों में संगठित) सैनिकों को कोई विजिगीषु अपनी सेना में भरती नहीं कर सकता था। पर जब कोई सैनिक-श्रेणि उत्साहहीन हो जाए, तो उसके प्रवीर (वीरता और साहस से परिपूर्ण) पुरुष अपनी श्रेणि से असंतुष्ट होने के कारण किसी नई सेना में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त कर लेते थे। 'चोरगण' से कौटल्य को वही लोग अभिप्रेत हैं, जिन्हें जस्टिन ने 'लुटेरा' कहा है। अटवियों (जंगलों) में निवास करने वाली जातियों की 'आटविक' संज्ञा थी। इनके युवकों को भी सेना में भरती किया जा सकता था। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् उत्तर-पश्चिमी भारत में म्लेच्छ जातियों की कोई कमी नहीं रह गई थी। कितने ही ग्रीक, मैसिडोनियन, पारसीक आदि जातियों के सैनिक जो सिकन्दर के साथ भारत आये थे, उस द्वारा इस देश में स्थापित छावनियों में रह गये थे और सिकन्दर के भारत से लौट जाने और उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अव्यवस्था के कारण बेकार हो गये थे। ऐसे ही लोगों को कौटल्य ने 'म्लेच्छजाति' कहा है। 'परापकारी' का अर्थ दूसरों को क्षति पहुँचानेवाला है। जो लोग दूसरों को क्षति पहुँचाने का सामर्थ्य रखते हों, उन्हें भी भरती कर अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाया जा सकता है। निस्सन्देह, चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने जिस सेना की सहायता से मगध के नन्द वंश का विनाश किया था, उसका संगठन उत्तर-पश्चिमी भारत के इसी प्रकार के लोगों द्वारा किया गया था। ऐसी सेना को ही विशाखदत्त ने 'चाणक्यमतिपरिगृहीत' का विशेषण दिया है।

भारत से मैसिडोनियन आधिपत्य का अन्त कर चन्द्रगुप्त ने मगध की ओर प्रस्थान किया। इस सम्बन्ध में लंका की बौद्ध अनुश्रुति का इसी अध्याय में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व की कथा भी उससे मिलती-जुलती है। वहाँ लिखा है कि जैसे कोई बालक लोभ के मारे अपना हाथ गरम खीर में डाल देता है और उससे उसका

---

१. 'तेषामलाभ...उत्साहहीनश्रेणीप्रवीरपुरुषाणां चोरगणाटविकम्लेच्छजातीनां परापकारिणां गूढपुरुषाणां च यथालाभमुपचयं कुर्वीत ।' कौ. अर्थ. ७।१४

हाथ जल जाता है, वह यह नहीं सोचता कि मुझे किनारे की ओर से खाना शुरू करना चाहिये क्योंकि किनारे ठण्डे होते हैं; इसी प्रकार चाणक्य ने पहले सीमान्तों के प्रदेशों को जीते विना शत्रु के केन्द्रीय स्थलों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था और इसीलिये उसे पराजित होना पड़ा था। पर वाद में चाणक्य हिमवतकूट गया और वहाँ के राजा पर्वतक के साथ सन्धि की। उन दोनों (चाणक्य और पर्वतक) ने सीमान्तों को जीत लेने के पश्चात् फिर मगध पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र को जीत लिया। पर्वतक के सम्बन्ध में जो मत महावंसो की टीका में पाया जाता है और जिसे हमने ऊपर उल्लिखित भी किया है, परिशिष्टपर्व के मत से वह भिन्न है। पर जैन अनश्रुति का मत अधिक युक्तिसंगत है, और मुद्राराक्षस द्वारा भी उसी की पुष्टि होती है। पर्वतक और उसके पुत्र मलयकेतु की सहायता के लिये जो राजा अपनी सेनाएँ लेकर आये थे, विशाखदत्त के विवरण से सूचित होता है कि वे सव पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों के शासक थे।

पर मागध सम्राट् नन्द की शक्ति का अन्त करना सुगम कार्य नहीं था। जैसा कि पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, ग्रीक विवरणों के अनुसार नन्द की सेना में २,००,००० पदाति, २०,०००, अश्वारोही, २,००० रथ और ३,००० हाथी थे। कर्टियस ने तो नन्द की सेना के पदाति सैनिकों की संख्या दो लाख के वजाय छः लाख लिखी है। इस शक्तिशाली सेना को परास्त करने के लिये चाणक्य और चन्द्रगुप्त को विकट युद्ध की आवश्यकता हुई थी। वौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्दपन्हो' के अनुसार इस युद्ध में १०० कोटि पदाति, १० हजार हाथी, १ लाख अश्वारोही और ५ हजार रथ काम आये थे। इस विवरण में अवश्य ही आतिशयोक्ति से काम लिया गया है। पर यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त और नन्द के युद्ध की विकटता और उसमें हुए धन-जन के विनाश की स्मृति चिरकाल तक कायम रही थी, और जनता उसकी भयंकरता को भूल नहीं सकी थी। मिलिन्दपन्हो के अनुसार नन्द के सेनापति का नाम भद्दसाल था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है, कि युद्ध करते-करते जब नन्द की सव सेना, सम्पत्ति, शक्ति और यहाँ तक कि बुद्धि भी नष्ट हो गई, तो उसे चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देने के लिये विवश होना पड़ा। परास्त हुए नन्द का चाणक्य ने घात नहीं किया, अपितु उसे अपनी दो पत्नियों और एक कन्या के साथ पाटलिपुत्र से बाहर चले जाने की अनुमति प्रदान कर दी। साथ ही, उतनी सम्पत्ति भी उसे अपने साथ ले जाने दी, जितनी कि एक रथ में आ सकती थी। पर अन्य प्राचीन अनुश्रुति में चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा नन्द के विनाश का उल्लेख है।

पर नन्द का नाश कर देने के साथ ही चन्द्रगुप्त और चाणक्य का कार्य पूर्ण नहीं हो गया। राजा नन्द के अनेक मन्त्री थे। इनमें राक्षस प्रधान था। वह जाति से ब्राह्मण था, और दण्डनीति का प्रकाण्ड पण्डित था। मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार राजा नन्द की मृत्यु के पश्चात् अमात्य राक्षस ने उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को राजा घोषित कर दिया। यद्यपि पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया था, पर मगध की जनता नन्दवंश के

प्रति भक्ति रखती थी। अभी मगध की सेना पूर्णतया परास्त भी नहीं हुई थी। इस दशा में चाणक्य के सम्मुख प्रधान कार्य यह था, कि अमात्य राक्षस को वश में लाए और उसे सर्वार्थसिद्धि का पक्ष छोड़ कर चन्द्रगुप्त का सहयोगी होने के लिये तैयार करे। दूसरी ओर अमात्य राक्षस का यह प्रयत्न था, कि मगध के राजसिंहासन पर नन्द वंश का आधिपत्य स्थिर रहे। नीतिशास्त्र के इन दो आचार्यों (चाणक्य और राक्षस) में जो संघर्ष हुआ, मुद्राराक्षस में उसी का बड़े सुन्दर रूप से वर्णन किया गया है।

(५) सैल्युकस का आक्रमण

मगध के सम्राट् नन्द के विनाश के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो गया था। महापद्म नन्द ने जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। ग्रीक लेखकों के अनुसार नन्द राजा गंगेरिडी (Gangaridae) और प्रासिओई (Prasioi) का स्वामी था। गंगेरिडी से गंगा-यमुना की घाटी का प्रदेश अभिप्रेत, है और प्रासिओई (प्राची) से प्राच्य भारत का ग्रहण किया जाता था। कलिङ्ग भी नन्दों के आधिपत्य में था, यह खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख द्वारा सूचित होता है। दक्षिण में कर्णाटक तक के प्रदेश नन्दों के शासन में थे, इस सम्बन्ध में जो निर्देश शिलालेखों में व अन्यत्र पाये जाते हैं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि नन्दवंश के विनाश के साथ ही एक सुविशाल साम्राज्य चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गया था, जो हिमालय से दक्षिणापथ और उससे भी परे तक तथा बंगाल की खाड़ी से यमुना नदी तक विस्तृत था। भारत के जिन प्रदेशों की सिकन्दर ने विजय की थी, वे भी चाणक्य की नीति-निपुणता और चन्द्रगुप्त की सैनिक प्रतिभा के कारण मगध के साम्राज्य में सम्मिलित हो गये थे। भारतीय इतिहास में सम्भवतः यह पहला अवसर था, जबकि इतना विशाल भूखण्ड एक सम्राट् की अधीनता में आया था, और उसके शासन का सञ्चालन एक केन्द्र से किया जाता था।

जिस समय चन्द्रगुप्त अपने नये प्राप्त किये हुए साम्राज्य के शासन को सुदृढ़ करने में व्यापृत था, उसी समय सिकन्दर का अन्यतम सेनापति सैल्युकस भी मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशों में अपने शासन की नींव को सुदृढ़ करने में व्यस्त था। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य किस प्रकार अनेक भागों में विभक्त हो गया था, इसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित करने के लिये सिकन्दर के दो सेनापतियों में प्रमुख रूप से संघर्ष हुआ। ये सेनापति सैल्युकस और एन्टिगोनस थे। सैल्युकस के पिता का नाम एन्टिओकस था, और वह सिकन्दर के पिता फिलिप के प्रमुख सेनापतियों में एक था। सैल्युकस की गणना भी सिकन्दर के मुख्य सेनापतियों में की जाती थी। नौ वर्ष के लगभग तक सैल्युकस और एन्टि-

गोनस में लड़ाई जारी रही। कभी सैल्युकस की विजय होती, और कभी एन्टिगोनस की। प्रारम्भ में विजयश्री ने एन्टिगोनस का साथ दिया। पर ३२१ ई० पू० में सैल्युकस ने वैबिलोन जीत लिया। तब से युद्ध की गति बदल गई। धीरे-धीरे सैल्युकस ने एन्टिगोनस को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया, और उसे मिस्र में जाकर शरण लेने के लिये विवश किया। अब सैल्युकस ने सम्राट् पद ग्रहण किया, और ३०६ ई० पू० में बड़ी धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक हुआ। इसी समय से उसने निकेटर या विजेता की उपाधि धारण की। सैल्युकस की राजधानी सीरिया के क्षेत्र में थी, इसी कारण वह सीरियन सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध है। पर उसका साम्राज्य पश्चिम में भूमध्यसागर व एशिया माइनर से लगा कर पूर्व में भारत की सीमा तक विस्तृत था।

पश्चिमी एशिया में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाकर सैल्युकस ने यह विचार किया, कि एशिया के जो प्रदेश सिकन्दर द्वारा जीत लिये गये थे, और उसकी मृत्यु के पश्चात् स्वतन्त्र हो गये थे, उन्हें फिर से अपने अधीन किया जाए। इसी उद्देश्य से उसने पहले बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया, और फिर भारत पर। बैक्ट्रिया की विजय में उसे सफलता प्राप्त हुई, पर भारत को वह नहीं जीत सका। इस सम्बन्ध में ग्रीक लेखक जस्टिन का यह विवरण उल्लेखनीय है--"उस (सैल्युकस) ने अपने तथा सिकन्दर के अन्य उत्तराधिकारियों के बीच साम्राज्य के बँट जाने के पश्चात् पूर्व में बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं। पहले उसने बैबिलोन को अधिकृत किया, और फिर बैक्ट्रिया की विजय की। इसके पश्चात् वह भारत गया, जिसने सिकन्दर की मृत्यु के अनन्तर अपने कन्धे से दासत्व का जुआ हटा फेंकने के विचार से शासकों को मार दिया था। सैन्ड्राकोट्टस ने उसे स्वाधीन किया था। किन्तु जब विजय उसे प्राप्त हो गई, तो उसने स्वाधीनता को दासत्त्व के रूप में परिवर्तित कर दिया। वह उन्हींको दासत्व से पीडित करता था, जिन्हें कि उसने विदेशी आधिपत्य से मुक्त किया था।...इस प्रकार राजमुकुट प्राप्त कर चन्द्रगुप्त उस समय भारत का स्वामी बन गया था, जबकि सैल्युकस अपने भावी महत्त्व की नींव रख रहा था। सैल्युकस ने उससे समझौता कर लिया, और पूर्वी जगत् के सब मामलों का निबटारा कर वह एन्टिगोनस के विरुद्ध युद्ध में तत्पर हुआ (३०२ ई० पू०)।"

जस्टिन के अतिरिक्त एप्पिएनस ने भी सैल्युकस और चन्द्रगुप्त के युद्ध का उल्लेख किया है। उसने लिखा है, कि "उस (सैल्युकस) ने सिन्ध नदी को पार किया और भारतीयों के राजा सैन्ड्राकोट्टस से लड़ाई ठानी। पर अन्त में उसने सुलह कर ली और उसके साथ विवाह का सम्बन्ध स्थापित किया।"

स्ट्रैबो के अनुसार सैल्युकस ने सैन्ड्राकोट्टस को एरिआना का बड़ा भाग प्रदान किया था, और इस समय से एरियाना के बड़े भाग पर भारतीयों का आधिपत्य हो गया था। बदले में सैल्युकस ने पाँच सौ हाथी प्राप्त किये थे, और सैन्ड्राकोट्टस से वैवाहिक सम्बन्ध

भी स्थापित किया था। इसी बात की पुष्टि प्लूटार्क आदि अन्य ग्रीक लेखकों के विवरणों द्वारा भी होती है।[१]

ग्रीक लेखकों के विवरणों के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सैल्युकस ने भारत पर आक्रमण किया था। पर इस आक्रमण में वह भारत में कितनी दूर तक आगे बढ़ आया था, इस विषय पर ग्रीक लेखकों से अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। कतिपय विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया था, कि सैल्युकस भारत को आक्रान्त करता हुआ मध्यदेश में प्रविष्ट हो गया था और पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) को जीत कर गंगा के मुहाने तक चला गया था। पर यह मन्तव्य सर्वथा निराधार है। लैसन, श्लेगल, श्वानबक आदि विद्वानों ने इस मत का युक्तिपूर्वक खण्डन कर यह प्रतिपादित किया है, कि सैल्युकस केवल सिन्ध नदी तक ही आ सका था और वहीं पर उसको चन्द्रगुप्त का सामना करना पड़ा था।[२] वस्तुतः, ग्रीक लेखकों ने सैल्युकस के भारतीय आक्रमण को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। उन्होंने केवल आनुषङ्गिक रूप से ही उसका उल्लेख किया है। यदि सैल्युकस सिकन्दर के समान वाहीक (पंजाब) देश तक भी भारत में अग्रसर हुआ होता, तो ग्रीक लेखक उसके भारतीय आक्रमण की इतनी उपेक्षा कदापि न करते। अधिक सम्भव यही है कि चन्द्रगुप्त की सेनाओं ने सिन्ध नदी के पूर्वी तट पर कहीं सैल्युकस का मुकाबला किया था, और वह भारत में इससे अधिक आगे नहीं बढ़ सका था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब के प्रदेशों में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। वहाँ बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों की सत्ता थी, जो परस्पर युद्धों में व्यापृत रहते थे। इस दशा में सिकन्दर के लिये उन्हें जीत कर विपाशा नदी तक बढ़ आना सम्भव हो गया था। पर अब चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में भारत में एक विशाल और सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। इस दशा में यदि सैल्युकस सिन्ध नदी से आगे नहीं बढ़ सका, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

युद्ध के पश्चात् चन्द्रगुप्त और सैल्युकस में जो सन्धि हुई, उसका मुख्य शर्तें निम्न-लिखित थीं—(१) चन्द्रगुप्त सैल्युकस को ५०० हाथी प्रदान करे। (२) बदले में सैल्युकस चन्द्रगुप्त को ये चार प्रदेश दे—परोपनिसदी (Paropanisadae), आर्कोशिया (Archosia), आरिया (Aria) और जड्रोसिया (Gedrosia)। (३) इस सन्धि को स्थायी मैत्री के रूप में परिवर्तित करने के प्रयोजन से सैल्युकस अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दे।

---

१. **ग्रीक लेखकों के ये उद्धरण** McCrindle : Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian **की भूमिका से लिये गये हैं।**

२. McCrindle : Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian **की भूमिका में लैसन, श्लेगल और श्वानबक की युक्तियों का सार दिया गया है।**

इस सन्धि के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश पर्वतमाला के पश्चिम में भी कुछ दूर तक विस्तीर्ण हो गई थी। सैल्युकस के साम्राज्य के चार प्रदेश अब मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे। परोपनिसदी का अभिप्राय वर्तमान अफगानिस्तान के उस पहाड़ी प्रदेश से है जो हिन्दूकुश पर्वतमाला के समीप में स्थित है। काबुल का प्रान्त इसी के अन्तर्गत है। आर्कोशिया से आज कल के कन्दहार का ग्रहण होता था। आरिया आधुनिक हेरात का पुराना नाम था। जड्रोसिया का अभिप्राय वर्तमान समय के मकरान (बलोचिस्तान) के प्रदेश से है। इस प्रकार सैल्युकस के आक्रमण के परिणामस्वरूप काबुल, कन्दहार, हेरात और बलोचिस्तान के प्रदेश मागध साम्राज्य में सम्मिलित हो गये थे। प्रसिद्ध ऐतिहासिक वी. ए. स्मिथ ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि दो हजार साल से भी अधिक हुए, जब भारत के प्रथम सम्राट् ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था, जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राट् भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं कर सके थे।[1]

यह सन्धि ३०३ ई० पू० में हुई थी। इसके बाद शीघ्र ही सैल्युकस ने मैगस्थनीज़ को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त की राजसभा में भेजा, और वह चिरकाल तक मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा। उसने अपने समय का उपयोग भारत की भौगोलिक स्थिति और आर्थिक तथा राजनीतिक दशा आदि का अनुशीलन करने और उन्हें लेखबद्ध करने में किया। मैगस्थनीज़ के इस विवरण के जो अंश इस समय उपलब्ध हैं, वे मौर्यकालीन भारत के परिज्ञान के लिये अत्यन्त प्रामाणिक समझे जाते हैं और उनसे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। पाटलिपुत्र में नियुक्त होने से पूर्व मैगस्थनीज़ आर्कोशिया के क्षत्रप सिर्बिटियस (Sibyrtius) को राजसभा में सैल्युकस का राजदूत था। उसे कूटनय का अच्छा अनुभव था। क्योंकि अब आर्कोशिया चन्द्रगुप्त को प्राप्त हो गया था, अतः सिर्बिटियस की राजसभा में किसी राजदूत की आवश्यकता नहीं रह गई थी। मैगस्थनीज़ कितने वर्ष तक पाटलिपुत्र में रहा, यह कह सकना कठिन है। पर उसका यह काल ३०३ ई० पू० से २९८ ई० पू० तक माना जाता है।

सैल्युकस और चन्द्रगुप्त में हुई सन्धि की शर्तों के सम्बन्ध में कतिपय बातें विचारणीय हैं। इस सन्धि के परिणामस्वरूप सैल्युकस ने ५०० हाथी प्राप्त किये थे। उस युग की

---

1. "The first Indian emperor, more than two thousand years ago, thus entered into possession of that scientific frontier sighed for invain by his English successors and never held in the entirety by the Moghul Monarchs of the sixteenth and seventeenth centuries." Smith V.A., Early History of India, p. 126

युद्ध कला में हाथियों का बहुत महत्त्व था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार युद्ध में सफलता प्रधानतया हस्तिसेना पर ही निर्भर करती है। सैल्युकस जो अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी एन्टिगोनस को परास्त कर सकने में समर्थ हुआ था, उसका एक बड़ा कारण उसकी यह हस्तिसेना ही थी। इप्सस के जिस रणक्षेत्र में एन्टिगोनस की बुरी तरह पराजय हुई थी, वहाँ भारत से भेजे हुए ५०० हाथी समय पर सैल्युकस की सहायता के लिये पहुँच गये थे। सैल्युकस द्वारा जो चार प्रदेश चन्द्रगुप्त को प्रदान किये गये, उनके सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। उनकी भौगोलिक स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। इन प्रदेशों में ऐसी जातियों का ही निवास था, जो सभ्यता, संस्कृति आदि की दृष्टि से अन्य भारतीय जातियों के समान थीं। पहले इन प्रदेशों में भी अनेक जनपदों की सत्ता थी, जिन्हें जीत कर सिकन्दर ने अपने अधीन कर लिया था। अब ये प्रदेश चन्द्रगुप्त की अधीनता में आ गये, और मागध साम्राज्य के अंग बन गये। चन्द्रगुप्त का विवाह सैल्युकस की कन्या के साथ हुआ था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। एप्पिएनस के विवरण से केवल इतना ज्ञात होता है कि सैल्युकस ने चन्द्रगुप्त के साथ विवाह का सम्बन्ध स्थापित किया था। पर इस सम्बन्ध का क्या रूप था, इस पर एप्पिएनस ने कोई प्रकाश नहीं डाला। चन्द्रगुप्त सैल्युकस का जामाता था, या सैल्युकस चन्द्रगुप्त का—एप्पिएनस के विवरण द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता। पर सन्धि की शर्तों के अनुसार चार प्रदेशों का चन्द्रगुप्त द्वारा प्राप्त किया जाना यह सूचित करता है कि युद्ध में सैल्युकस को नीचा देखना पड़ा था। इस दशा में ऐतिहासिकों को यही मत अभिप्रेत है, कि विजेता चन्द्रगुप्त ने यवन कन्या को विवाह में प्राप्त किया था और उसके साथ में परोपसिदी आदि चार प्रदेशों को भी। जो ५०० हाथी चन्द्रगुप्त द्वारा सैल्युकस को प्रदान किये गये थे, वे एण्टिगोनस के विरुद्ध उसकी सहायता करने के प्रयोजन से ही दिये गये थे।

(६) चन्द्रगुप्त का शासन

सैल्युकस को युद्ध में परास्त करने के अनन्तर चन्द्रगुप्त ने अपनी शक्ति को स्थिर रखने या अपने साम्राज्य का और अधिक विस्तार करने के प्रयोजन से अन्य भी कोई युद्ध किये थे या नहीं—इस विषय में भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। प्लुटार्क ने लिखा है, कि सैल्युकस से सन्धि कर चुकने पर चन्द्रगुप्त ने ६,००,००० सैनिकों को साथ लेकर सारे भारत को अपने आधिपत्य में कर लिया। 'सारे भारत' से प्लुटार्क का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। महापद्म नन्द द्वारा स्थापित मागध साम्राज्य नन्द वंश के शासन के विरुद्ध हुई क्रान्ति के समय किस अंश तक अक्षुण्ण रह सका था, इस विषय में भी सुनिश्चित रूप से कोई मत प्रगट नहीं किया जा सकता। कलिङ्ग नन्द के अधीन था, यह खारवेल के हाथीगुम्फा लेख द्वारा सूचित होता है। इस राज्य की विजय कर नन्द वहाँ से जिन की एक मूर्ति भी पाटलिपुत्र ले गया था। पर बाद में कलिङ्ग मगध के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं रह

गया था। तभी राजा अशोक को उसे जीतने की आवश्यकता हुई थी। सम्भव है, कि कलिङ्ग ने उसी समय स्वतन्त्रता प्राप्त की हो, जबकि चन्द्रगुप्त की सेनाओं ने मगध पर आक्रमण कर वहाँ से नन्दवंश के शासन का अन्त किया था। यह भी सम्भव है, कि उस समय की अव्यवस्था से लाभ उठाकर दक्षिणापथ और कर्णाटक आदि के अन्य भी अनेक प्रदेश, जो नन्दों के अधीन थे, स्वतन्त्र हो गये हों, और उन्हें पुनः मागध साम्राज्य में सम्मिलित करने के लिये चन्द्रगुप्त को युद्धों की आवश्यकता हुई हो। सम्भवतः, प्लुटार्क ने चन्द्रगुप्त की इन्हीं विजयों की ओर निर्देश किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि सौराष्ट्र (काठियावाड़) चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत था। गिरनार में उत्कीर्ण शक रुद्रदामन के एक लेख में सूचित होता है, कि वहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा एक झील का निर्माण कराया गया था। उस समय सौराष्ट्र का 'राष्ट्रिक' (प्रान्तीय शासक) पुष्पगुप्त था, जिसे चन्द्रगुप्त द्वारा यह आदेश दिया गया था, कि गिरनार की नदी के सम्मुख एक बांध बांधकर उसे एक झील के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, और उससे नहरें निकालकर उस प्रदेश में सिंचाई का प्रबन्ध किया जाए। इस झील का नाम 'सुदर्शन' रखा गया। मौर्यों के दक्षिण-विजय के कुछ निर्देश प्राचीन तमिल साहित्य में भी पाये जाते हैं। ये विजय चन्द्रगुप्त द्वारा की गई थीं या बिन्दुसार द्वारा, इस प्रश्न पर हम अगले एक अध्याय में विचार करेंगे। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि सैल्युकस की पराजय के पश्चात् भी चन्द्रगुप्त को अनेक युद्धों की आवश्यकता हुई थी। ये युद्ध पुराने मागध साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने के लिये भी हो सकते हैं, और साम्राज्य विस्तार के लिये भी।

सम्भवतः, इन्हीं युद्धों के कारण चन्द्रगुप्त के राज्यकोश में धन की कमी हो गई थी और उसकी पूर्ति साधारण करों द्वारा नहीं की जा सकती थी। पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है, कि सुवर्ण की इच्छा से मौर्यों ने पूजार्थ मूर्तियाँ बनाकर धन एकत्र किया।[1] यह कार्य शायद चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही हुआ था। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त ने ८० करोड़ घटिया मुद्राएँ बनाकर अपने कोश की पूर्ति की थी। इस सब की आवश्यकता शायद निरन्तर युद्धों के कारण ही हुई थी।

---

१. जीविकार्थे चापण्ये (पाणिनि ५।३।९९) पर भाष्य—"अपण्ये इत्युच्यते तत्रेदं न सिद्ध्यति। शिवः स्कन्दो विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्याः प्रकल्पिताः, भवेत्तासु न स्यात्।"

पाँचवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्तकालीन शासनव्यवस्था

(१) साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

मागध साम्राज्य के विकास से पूर्व भारत में बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों की सत्ता थी, जिनमें अनेकविध शासन-पद्धतियाँ विद्यमान थीं। कुछ जनपदों में राजतन्त्र शासन थे, और कुछ में गणतन्त्र। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से शुरू कर पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वतमाला से भी परे तक विस्तृत था। इस विशाल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था उन जनपदों की शासन-पद्धति के सदृश नहीं हो सकती थी, जिनका स्वरूप नगर-राज्यों (City States) के समान था। मगध के साम्राज्य के विकास के साथ-साथ एक ऐसी शासन-पद्धति का भी विकास हुआ, जो विशाल साम्राज्यों के लिये उपयुक्त थी।

चक्र—यद्यपि सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कम्बोज, बंग और आन्ध्र तक विस्तीर्ण विशाल साम्राज्य का सुचारु रूप से शासन नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन सम्पूर्ण 'विजित' को अनेक भागों में बाँटा गया था। अशोक के समय में इन भागों की संख्या पाँच थी, और इनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। तोसाली कलिङ्ग की राजधानी थी, जिस प्रदेश की विजय अशोक द्वारा की गई थी। विन्ध्याचल से दक्षिण में स्थित प्रदेशों को जीत कर राजा बिन्दुसार ने मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत किया था, और इन सुविस्तृत प्रदेशों का शासन करने के लिये सुवर्णगिरि को राजधानी बनाया था। कलिङ्ग और दक्षिणापथ के प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं थे। अतः उसके शासनकाल में मौर्य साम्राज्य तीन भागों या चक्रों में विभक्त था—(१) उत्तरापथ—जिसमें कम्बोज, गान्धार, काश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब आदि के प्रदेश अन्तर्गत थे। इस चक्र की राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिम चक्र—इसमें सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और मालवा आदि सम्मिलित थे। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। (३) मध्यदेश—इसमें कुरु, पाञ्चाल, काशी, कोशल, मत्स्य, अंग, वंग आदि अन्तर्गत थे, और इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन चक्रों का शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था, जिन्हें 'कुमार' कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुणाल राजा बनने से पूर्व उज्जयिनी, तक्षशिला आदि के 'कुमार' पद पर रह चुके थे।

चक्रों के उपविभाग—इन चक्रों के अन्तर्गत अनेक मण्डल थे, जिनमें 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। सम्भवतः, इन मण्डलों की संज्ञा 'देश' थी। उज्जयिनी के अधीन सौराष्ट्र एक पृथक् 'देश' था, जिसका शासक चन्द्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहाँ का शासन यवन तुषास्प के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थीं, वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम ही होती थीं। उन्हीं के द्वारा वे आज्ञाएँ 'देशों' के शासकों को भेजी जाती थीं। पर मध्यदेश (राजधानी—पाटलिपुत्र) के चक्र के शासन के लिये किसी कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी, उसका शासन सीधे सम्राट् के अधीन था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से साम्राज्य के इन विभागों और उनके शासन के सम्बन्ध में कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होते। इनकी सत्ता का परिज्ञान अशोक के शिलालेखों और अन्य साहित्य द्वारा ही होती है। अतः इनके सम्वन्ध में हम अशोक की शासन-व्यवस्था का विवेचन करते हुए अधिक विस्तार से लिखेंगे।

जनपद और ग्राम—चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य तीन चक्रों में विभक्त था, और ये चक्र अनेक मण्डलों या देशों में विभक्त थे। प्रत्येक मण्डल में वहुत-से जनपद होते थे। सम्भवतः, ये जनपद प्राचीन काल के उन जनपदों के प्रतिनिधि थे, जिन्हें मगध के सम्राटों ने विजय कर अपने 'विजित' या साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। महत्त्वाकांक्षी विजिगीषु सम्राटों द्वारा विजित हो जाने पर भी शासन की दृष्टि से इन जनपदों की पृथक् सत्ता अभी विद्यमान थी। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से जनपदों की शासन-व्यवस्था का भलीभाँति परिचय प्राप्त होता है। मागध साम्राज्य के अधीन हो जाने पर भी इन जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता अभी अक्षुण्ण थी, और इनमें पौर जानपद आदि पुरानी शासन-संस्थाएँ भी अभी विद्यमान थीं। सव जनपदों की शासन-पद्धति भी एक सदृश नहीं थी।

शासन की सुविधा के लिये जनपदों के भी अनेक विभाग होते थे, जिन्हें कौटलीय अर्थ-शास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक, संगहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सवसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संगहण कहते थे। वीस संगहणों (या २०० ग्रामों) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों (या ४०० ग्रामों) से एक द्रोणमुख और दो द्रोणमुखों (८०० ग्रामों या ८० संगहणों) से एक स्थानीय बनता था।[1] सम्भवतः, स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। स्थानीय में प्रायः ८०० के लगभग ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशों में सघन आवादी न होने के कारण 'स्थानीय' में गाँवों की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयों को द्रोणमुख और खार्वटिक कहा जाता था। स्थानीय, द्रोणमुख

---

१. **'अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखं, द्विशतग्राम्या खार्वटिकं, दशग्रामीसंग्रहेण सङ्ग्रहणं स्थापयेत्।' कौटलीय अर्थशास्त्र २।१**

और खार्वटिक में भेद एक अन्य आधार पर भी था। जिन पट्टणों (पत्तनों) में जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्गों से आया-जाया जा सके, वे द्रोणमुख कहाते थे[१]; और जो पत्तन छोटे हों, जिनके प्राकार सुव्यवस्थित न हों, उन्हें खार्वटिक कहते थे।[२] वस्तुतः, जनपदों के जो छोटे उपविभाग होते थे, उनमें ग्रामों की संख्या और उपविभागों के शासन-केन्द्र पत्तन के स्वरूप को दृष्टि में रखकर उन्हें 'स्थानीय', 'द्रोणमुख' या 'खार्वटिक' कहा जाता था।

ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का शासक गोप और स्थानीय (या द्रोणमुख या खार्वटिक) का शासक स्थानिक कहाता था। सम्पूर्ण जनपद के शासक की संज्ञा समाहर्ता थी। समाहर्ता के ऊपर महामात्य होते थे, जो चक्रों के अन्तर्गत विविध मण्डलों या देशों का शासन करने के लिये पाटलिपुत्र की केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इन मण्डल-महामात्यों के ऊपर कुमार और उनके सहायक महामात्य रहते थे। सबसे ऊपर सम्राट् की स्थिति थी।

शासकवर्ग—शासनकार्य में सम्राट् की सहायता के लिये एक मन्त्रिपरिषद् होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस मन्त्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। अशोक के शिलालेखों में भी उसकी परिषद् का वार-वार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यों की सहायता से शासन का संचालन करते थे, उनकी भी एक परिषद् होती थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से जो राजकर्मचारी साम्राज्य में शासन के विविध पदों पर नियुक्त थे, उन्हें 'पुरुष' कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और हीन—इन तीन वर्गों के होते थे। जनपदों के समूहों (मण्डलों या देशों) के ऊपर शासन करने वाले महामात्यों की संज्ञा सम्भवतः 'प्रादेशिक' या 'प्रदेष्टा' थी। उनके अधीन जनपदों के शासक 'समाहर्ता' कहाते थे। निस्सन्देह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। इनके अधीन 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी मध्यम और हीन वर्गों में रखे जाते थे।

स्थानीय स्वशासन—जनपदों के शासन के लिये जहाँ केन्द्रीय सरकार की ओर से समाहर्ता नियत थे, वहाँ जनपदों की अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में वार-वार इस वात पर जोर दिया गया है कि जनपदों, नगरों और ग्रामों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाए। इसका अभिप्राय यही है, कि इनमें अपना स्थानीय स्वशासन पुरानी परम्परा के अनुसार जारी था। सब जनपदों में एक ही सदृश स्थानीय स्वतन्त्रता नहीं थी। मागध साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदों में वंशक्रमानुगत राजाओं के शासन थे, और कुछ में गणों के शासन की सत्ता थी।

---

१. 'द्रोणमुखं जलनिगमप्रवेशं पट्टणमित्यर्थः।' रायपसेणीसूत्रव्याख्याने।
'द्रोणमुखानि जलस्थलपथोपेतानि।' प्रश्नव्याकरणसूत्रव्याख्याने। शामशास्त्री द्वारा कौटलीय अर्थशास्त्र (२।१) की टिप्पणि में उद्धृत।

२. 'क्षुल्लकप्राकारवेष्टितं खर्वटम्।'

उनके धर्म, चरित्र और व्यवहार भी पृथक्-पृथक् थे। जब वे मागध साम्राज्य के अधीन हो गये, तो भी उनमें अपनी प्राचीन परम्परा के अनुसार स्थानीय स्वशासन कायम रहे, और ग्रामों में ग्रामसभाएँ तथा नगरों (पुरों) में पौर सभाएँ विद्यमान रहीं। ग्रामों के समूहों या जनपदों में भी जानपद सभाओं की सत्ता कायम रही। पर केन्द्रीय सरकार की ओर से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का सञ्चालन करने के लिये 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

चन्द्रगुप्त मौर्य की शासनव्यवस्था की यही रूपरेखा है। अब हम अधिक विस्तार से इसका निरूपण करेंगे।

(२) विजिगीषु सम्राट्

विविध जनपदों और गणराज्यों को जीत कर जिस विशाल मागध साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसकी शासन-शक्ति स्वाभाविक रूप से राजा या सम्राट् में केन्द्रित थी। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो की ही मुख्यता है, राजा, और राज्य (देश) की।[३] प्राचीन परम्परा के अनुसार राज्य के सात अंग माने जाते थे—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, सेना और मित्र।[४] प्राचीन काल में भारत में जब बहुत-से छोटे-छोटे जनपदों की सत्ता थी, और उनमें प्रायः एक-एक ही 'जन' का निवास होता था, तो उनमें राजा की स्थिति विशेष महत्त्व की नहीं होती थी। इसी कारण आचार्य भारद्वाज की दृष्टि में राजा की तुलना में अमात्य का महत्त्व अधिक था। मन्त्रफल की प्राप्ति अमात्यों द्वारा ही होती है, अमात्य ही राज्य पर आयी हुई विपत्तियों का प्रतीकार करते हैं और उनके अभाव में राजा सर्वथा अशक्त हो जाता है, अतः राजा की अपेक्षा अमात्यों का महत्त्व अधिक है, यह भारद्वाज का मत था।[५] आचार्य विशालाक्ष की सम्मति में अमात्यों की तुलना में भी जनपद अधिक महत्त्व के होते हैं, क्योंकि कोश और सेना की शक्ति जनपद पर ही निर्भर रहती है। यदि जनपद निर्बल हो, तो राजा या उसके अमात्य क्या कर सकते हैं? इसी प्रकार पाराशर, पिशुन, कौणपदन्त आदि अन्य आचार्यों ने दुर्ग, कोश आदि की महत्ता का प्रतिपादन किया है। पर चाणक्य ने इन सबके मतों का खण्डन कर राज्य संस्था में राजा को सबसे अधिक महत्त्व का सिद्ध किया है।[६] यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि विविध जनपदों को जीत कर जिन विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया जा रहा था, वे किसी

---

३. 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।' कौटलीय अर्थशास्त्र ८।२

४. 'स्वाम्यमात्य जनपद दुर्गकोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः॥' कौ. अर्थ. ६।१

५. 'स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीयः।' कौ. अर्थ. ८।१

६. कौटलीय अर्थशास्त्र ८।१

एक महत्त्वाकांक्षी व शक्तिशाली राजा की ही कृति थे। उनमें राजा की ही स्थिति कूटस्थानीय व केन्द्रीभूत थी। उसी ने कोश, सेना, दुर्ग आदि की सुव्यवस्था कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटल्य के शब्दों में 'मन्त्री, पुरोहित आदि भृत्य वर्ग की और शासनके विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है; यदि राजपुरुषों, कोश तथा जनता पर कोई विपत्ति आए, तो उसका प्रतीकार भी राजा द्वारा ही किया जाता है; इन सबकी उन्नति भी राजा के ही हाथों में होती है; यदि अमात्य ठीक न हों, तो राजा उन्हें हटाकर नये अमात्यों की नियुक्ति करता है; पूज्य लोगों की पूजा कर और दुष्टों का दमन कर राजा ही सबका कल्याण करता है; यदि राजा सम्पन्न हो, तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी सम्पन्न होती है; राजा का जो शील हो, वही शील प्रजा का भी होता है; यदि राजा उद्यमी व उत्थानशील हो, तो प्रजा भी उत्थानशील होती है; यदि राजा प्रमादी हो, तो प्रजा भी प्रमादी हो जाती है; अतः राज्य में राजा ही कूटस्थानीय (केन्द्रीभूत) है।' (कौ० अर्थ० ८।१)

छोटे-छोटे जनपदों के युग में इस प्रश्न पर मतभेद की गुञ्जाइश थी, कि उनमें राजा की महत्ता अधिक है या अमात्यों की, या जनपद की या सेना आदि की। राजतन्त्र जनपदों में भी राजा 'समानों में ज्येष्ठ' ही होता था। ये पुराने जनपद किसी एक व्यक्ति की शक्ति व प्रतिभा पर आश्रित नहीं थे, अतः प्राचीन आचार्य यदि राजा की तुलना में अमात्य, जनपद, कोश आदि को अधिक महत्त्वपूर्ण मानें, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। पर साम्राज्यवाद के युग में 'विजिगीषु' राजा की महत्ता सर्वथा निर्विवाद थी।

जब साम्राज्य का निर्माण व स्थिति राजा पर ही निर्भर हो, तो उसे भी एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिये। कोई साधारण व्यक्ति राज्य में 'कूटस्थानीय' स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। चाणक्य के अनुसार राजा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—'वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह वृद्धजनों (elders) की बात को सुननेवाला हो, धार्मिक हो, सदा सत्य भाषण करनेवाला हो, परस्पर-विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य ऊँचा हो, उसमें अत्यधिक उत्साह हो, वह दीर्घसूत्री न हो, सामन्त राजाओं को अपने वश में रख सकने की उसमें क्षमता हो, उसकी बुद्धि सुदृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो, और वह विनय में (नियन्त्रण में) रहनेवाला हो।' इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गुणों का चाणक्य ने विशद रूप से वर्णन किया है, जो राजा में अवश्य होने चाहियें। चाणक्य के अनुसार राजा की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण होनी चाहिये। स्मरणशक्ति, प्रतिभा और बल की उसमें अतिशयता होनी चाहिये। वह अत्यन्त उग्र, अपने ऊपर काबू रखनेवाला, सब शिल्पों में निपुण, सब दोषों से रहित और दूरदर्शी होना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता आदि पर उसे पूरा काबू होना चाहिये। यह आवश्यक है कि राजा प्रज्ञा और उत्साह के गुणों से सम्पन्न हो। इसमें सन्देह नहीं, कि राज्य के अन्य अंगों (प्रकृतियों) को भी सुदृढ़ होना चाहिये। पर यदि राजा

सुयोग्य व शक्तिशाली हो, तो वह राज्य के अन्य अंगों की निर्बलताओं को दूर कर सकेगा। अन्यथा, अन्य प्रकृतियाँ उसका विनाश कर देंगी। (कौ० अर्थ० ६।१)

चाणक्य इस तथ्य को भली भाँति समझते थे कि इस प्रकार का आदर्श राजा सुगमता से प्राप्त नहीं हो सकता। पर शिक्षा और विनय द्वारा ये गुण उत्पन्न व विकसित किये जा सकते हैं। यदि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को वचपन से ही उचित शिक्षा दी जाए, तो उसे आदर्श राजा वनने के लिये तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा व विनय का विस्तार के साथ वर्णन किया है, जो वचपन और किशोरावस्था में राजा को दी जानी चाहिये। राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय स्थापित करे। उसका एक-एक क्षण काम में लगा हो। दिन में तो उसे विलकुल ही विश्राम नहीं करना चाहिये। रात को भी उसे तीन घण्टे से अधिक विश्राम नहीं करना चाहिये। रात और दिन के उसके सारे समय का कार्यक्रम चाणक्य ने अर्थशास्त्र में दिया है। भोग-विलास, नाचरंग आदि के लिये कोई भी समय उसमें नहीं दिया गया है।[1] चाणक्य का राजा एक राजर्षि है, जो सर्वगुण-सम्पन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह पड़ोस के सव जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिये प्रयत्नशील है। चातुरन्त साम्राज्य के आदर्श को उसे कार्यान्वित करना है। उसका मन्तव्य है, कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त सीधी रेखा खींचने से जो एक सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है।[2] हिमालय से समुद्र तक फैली हुई एक हजार योजन विस्तीर्ण जो यह भारतभूमि (देश) है, वह सव एक चक्रवर्ती राजा के अधीन होनी चाहिये। इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुण-सम्पन्न न हो, यदि वह राजर्षि का जीवन व्यतीत न करे, और काम क्रोध आदि शत्रुओं को यदि उसने अपने वश में न किया हुआ हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है? अतः चाणक्य के 'विजिगीषु को आदर्श' पुरुष वनने का प्रयत्न करना ही चाहिये।

मौर्यों ने जिस प्रकार अपने साम्राज्य का निर्माण किया था, उसकी सफलता के लिये राजा को अवश्य ही अनुपम शक्तिशाली और गुणी होना चाहिये था। मगध के राजा चिरकाल से साम्राज्य विस्तार के लिये तत्पर थे। बिम्बिसार, अजातशत्रु और महापद्म नन्द जैसे मागध राजा जो अन्य जनपदों को जीत कर अपना उत्कर्ष करने में समर्थ हुए थे, उसमें उनकी व्यक्तिगत क्षमता व शक्ति भी महत्त्वपूर्ण कारण थीं। निस्सन्देह, मगध

१. कौटलीय अर्थशास्त्र १।२ और १।१६
२. 'देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम्।' कौ. अर्थ. ९।१

में राजा ही कूटस्थानीय हुआ करता था। यही कारण है कि यदि कोई राजा निर्बल या अयोग्य हुआ, तो उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े होते थे और साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगती थी। मगध के बार्हद्रथ वंश के राजा रिपुञ्जय को पुलिक ने मरवा दिया था, और उसके पुत्र कुमारसेन की हत्या भट्टिय ने करायी थी। प्रतापी मागध राजा बिम्बिसार के वंशज नागदासक को मार कर उसके अमात्य शिशुनाग ने स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को अधिकृत कर दिया था। मगध में यह एक पुरानी परम्परा थी। अतः यदि आचार्य चाणक्य ने राजा के व्यक्तिगत गुणों को इतना अधिक महत्त्व दिया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। मौर्य राजा भी तभी तक अपने साम्राज्य को कायम रख सके थे, जब तक कि वे शक्तिशाली रहे। 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' मौर्य राजा बृहद्रथ की हत्या कर सेनानी पुष्यमित्र ने मौर्य वंश के शासन का अन्त कर दिया था।

क्योंकि राज्य में राजा की स्थिति सबसे अधिक महत्त्व की होती है, और शासन की स्थिरता के लिये राजा का सर्वगुण-सम्पन्न और शक्तिशाली होना अनिवार्य है, अतः आचार्य चाणक्य ने उन उपायों का विशद रूप से प्रतिपादन किया है, जिनका प्रयोग कर राजा को आदर्श बनाया जा सकता है। इसके लिये चाणक्य ने 'इन्द्रियजय' पर सबसे अधिक जोर दिया है। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर राजा को इन्द्रियजयी होना चाहिये।[१] चाणक्य की सम्मति में इन्द्रियों पर विजय ही सब शास्त्रों का सार-तत्त्व है।[२] जो राजा इन्द्रियजयी नहीं होगा, वह न केवल अपना विनाश कर लेगा[३], अपितु उसके बन्धु-बान्धव और उसका राष्ट्र भी विनष्ट हुए बिना नहीं रहेंगे। पर इन्द्रियजय के लिये साधना की आवश्यकता है। जबतक राजा को समुचित शिक्षा न दी जाए, बचपन से ही उसे नियन्त्रण में न रखा जाए, उसे 'विद्याविनीत' न किया जाए, वह कभी आदर्श राजा नहीं बन सकता। पर विद्या और प्रशिक्षण द्वारा भी ऐसे व्यक्ति में ही उत्कृष्ट गुण विकसित किये जा सकते हैं, जिसमें बीज रूप से ये पहले से ही विद्यमान हों। जिस प्रकार अच्छे घट के निर्माण के लिये अच्छी मृत्तिका की आवश्यकता होती है, वैसे ही अच्छे राजा के लिये भी उत्कृष्ट 'द्रव्य' अपेक्षित है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्त्व-रूपी 'द्रव्य' उत्कृष्ट प्रकार का न हो, उसे प्रशिक्षण द्वारा कैसे उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। विद्या व प्रशिक्षण द्वारा केवल ऐसे मनुष्य को ही विकसित किया जा सकता है, जिसमें श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह की क्षमता हो।[४] ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मचर्यपूर्वक

---

१. 'तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत।' कौ. अर्थ. १।३

२. 'कृत्स्नं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः।' कौ. अर्थ. १।३

३. 'तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।' कौ. अर्थ. १।३

४. 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्। शुश्रूषा श्रवणग्रहण धारण विज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिविष्टबुद्धि विद्या विनयति नेतरम्।' कौ. अर्थ. १।२

विद्याध्ययन करा के और अनुभवी विद्वानों के सत्संग में रखकर इस प्रकार प्रशिक्षित किया जा सकता है, कि वह राजा के अपने कर्तव्यों का भलीभाँति पालन कर सके।

क्योंकि मौर्य राजा एकतन्त्र शासक या एकराट् थे, और राज्य में उनकी स्थिति कूटस्थानीय थी, अतः उनकी वैयक्तिक रक्षा का प्रश्न भी इस युग में बहुत महत्त्व का था। इसी कारण शत्रुओं से राजा की रक्षा करने के उपायों का कौटलीय अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अपने शय्यागार में राजमहिषी के पास जाते हुए भी राजा निश्चिन्त नहीं हो सकता था। शय्या के नीचे कोई शत्रु तो नहीं छिपा हुआ है, कहीं रानी ने अपने केशों या वस्त्रों में कोई अस्त्र या विष तो नहीं छिपा रखा है, इन सब बातों पर सुचारु रूप से ध्यान दिया जाता था। राजमहिषी के कक्ष में छिपकर उसके भाई ने ही भद्रसेन की हत्या कर दी थी। माँ की शय्या में छिप कर पुत्र ने अपने पिता कारूश को मार दिया था। अपनी वेणी में शस्त्र छिपा कर रानी ने विदूरथ की जान ले ली थी। (कौ० अर्थ० १।१७) अतः आवश्यक है कि राजा की रक्षा के लिये सचेष्ट होकर रहा जाए। राजा को न केवल बाह्य शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये तत्पर रहना चाहिये, अपितु अपनी रानियों, राजपुत्रों और निकट सम्बन्धियों से अपना बचाव करने के लिये भी जागरूक रहना चाहिये। राजा को अपने पुत्रों तक से भय रहता था। वे कभी भी उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर सकते थे। वह भोजन तक भी निश्चिन्त होकर नहीं खा सकता था। कोई उसके भोजन में विष न मिला दे, यह आशंका सदा उसके सम्मुख रहती थी। इस सबका कारण यही था, एक साम्राज्य की स्थिति प्रधानतया राजा पर ही निर्भर थी, और वह उसी दशा में अपने पद पर रह सकता था जबकि वह सब प्रकार के भयों के प्रतीकार के लिये सचेष्ट हो। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे सम्राट् जो चिरकाल तक मागध साम्राज्य का शासन कर सके, उसका कारण यही था कि कौटल्य के शब्दों में वे 'विद्याविनीत' थे, और उनकी व्यक्तिगत शक्ति अत्यधिक थी।

(३) मन्त्रिपरिषद्

चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है, प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सम्मुख हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बताएँ, वह परोक्ष है। किये हुए कर्म से न किये हुए कर्म का अन्दाज कर लेना अनुमेय कहाता है। सब काम एक साथ नहीं होते। राजकर्म बहुत-से होते हैं, और बहुत-से स्थानों पर होते हैं। अतः एक राजा सब काम अपने-आप नहीं कर सकता। इसी कारण उसे अमात्यों की नियुक्ति की आवश्यकता होती है। इसीलिये यह भी आवश्यक है कि मन्त्री नियुक्त किये जाएँ, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के सम्बन्ध में राजा को परामर्श देते रहें और उसकी ओर से राजकार्यों का सम्पादन भी

करते रहें।[1] राज्यकार्य सहायता के बिना सम्पादित नहीं किये जा सकते। एक पहिये से राज्य की गाड़ी नहीं चलती। अतः राजा सचिवों को नियुक्त करे, और उनकी सम्मति को सुने।[2] यह तो स्पष्ट ही है, कि अकेला राजा स्वयं शासन-कार्य का सम्पादन नहीं कर सकता। छोटे-छोटे जनपदों के शासन के लिये भी राजा को अनेक सहायकों व राजकर्मचारियों की आवश्यकता होती थी, क्योंकि जैसा चाणक्य ने लिखा है, राजवृत्ति प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय तीन प्रकार की होती है, और जहाँ राजकीय कार्य बहुत-से होते हैं, वहाँ वे बहुत-से स्थानों पर भी होते हैं। जब जनपदों तक का शासन एक व्यक्ति के बस की बात नहीं थी, तो विशाल साम्राज्यों का शासन तो कोई एक व्यक्ति (चाहे वह कितना ही योग्य व शक्तिशाली क्यों न हो) कर ही कैसे सकता था। इसीलिये चाणक्य ने यह प्रतिपादित किया, कि राज्यकार्य में सहायता करने और परामर्श देने के लिये अमात्यों या सचिवों को नियुक्त करना अनिवार्य है। पर सभी अमात्य (सचिव) मन्त्री भी हों, यह आवश्यक नहीं था। चाणक्य ने लिखा है, कि "अमात्यों के विभव (Functions) को देश, काल और कर्म के आधार पर विभक्त किया जाए, और सब विभवों के लिये अमात्यों की नियुक्ति की जाए। ये सब राजकर्मचारी अमात्य तो होंगे, पर मन्त्री नहीं।" (कौ० अर्थ० १।४) इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि अमात्य-विभव (राजकीय कार्यों) को तीन बातों को दृष्टि में रखकर विभक्त किया जायगा—(१) देश—राज्य के किस प्रदेश या स्थान पर राज-कर्मचारी को नियुक्त करना है। (२) काल—कितने समय के लिये राजकर्मचारी की नियुक्ति की जानी है। (३) कर्म—राजकर्मचारी को कौन-सा राजकीय कार्य सुपुर्द किया जाना है। यह स्पष्ट है, कि विविध स्थानों के लिये, विविध समयों के लिये और विविध कार्यों के लिये बहुत-से अमात्यों या सचिवों की नियुक्ति की जायगी। पर ये सब अमात्य मन्त्री नहीं होंगे। अमात्यों में से कतिपय प्रमुख व्यक्तियों को ही मन्त्री की स्थिति प्रदान की जायगी, सबको नहीं। अमात्य या सचिव एक व्यापक संज्ञा है, जिससे राज्य के सब प्रमुख पदाधिकारियों का बोध होता था, पर मन्त्री का पद कतिपय विशिष्ट अमात्यों को ही प्राप्त होता था।

राज्यकार्य के सम्पादन के लिये राजा को केवल सहायक ही नहीं चाहिये, अपितु ऐसे मन्त्री भी चाहियें जो महत्त्वपूर्ण राजकीय विषयों के सम्बन्ध में उसे परामर्श दें। इसी कारण कौटलीय अर्थशास्त्र में मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई है। राजा के लिये मन्त्रियों

---

१. 'प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः। स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम्, परोपदिष्टं परोक्षम्। कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम्। अयौगपद्यात्तु कर्मणामनेकत्वादनेकस्थत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूत् इति परोक्षममात्यैः कारयेत् अमात्यकर्म।' कौ. अर्थ. १।५

२. 'सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥' कौ. अर्थ. १।३

की उपयोगिता राजशास्त्र के पुराने आचार्य भी स्वीकार करते थे। पर मन्त्रिपरिषद् के मन्त्रियों की संख्या कितनी हो, इस सम्बन्ध में उनमें मतभेद था। चाणक्य ने लिखा है—"मानव सम्प्रदाय का मत है कि बारह अमात्यों की मन्त्रिपरिषद् बनायी जाए। पर बार्हस्पत्य सम्प्रदाय का मत है—सोलह की। औशनस सम्प्रदाय का मत है—बीस की। पर कौटल्य का मत है—यथासामर्थ्य।" कौटल्य के अनुसार मन्त्रिपरिषद् में कितने मन्त्री हों, यह निश्चित करने की आवश्यकता नहीं। जितनी सामर्थ्य हो, जैसी आवश्यकता हो, उसके अनुसार मन्त्रियों को नियत किया जाना चाहिये। साथ ही, चाणक्य के अनुसार बड़ी मन्त्रिपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिये है, क्योंकि इससे उसकी मन्त्रशक्ति में वृद्धि होती है। सब समारम्भों की सफलता 'मन्त्र' पर ही निर्भर है।[1] इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में सहस्र ऋषि थे, जो इन्द्र की चक्षु के समान थे। इसीलिये दो आँखोंवाला होने पर भी उसे हजार आँखोंवाला कहा जाता है।[2] बड़ी मन्त्रिपरिषद् का यही लाभ है। उससे राजा की मन्त्रशक्ति बढ़ जाती है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से इस बात में तो कोई सन्देह रह ही नहीं जाता कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी, पर उसमें कितने मन्त्री थे इसे जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्रयोजन विस्तीर्ण मौर्य साम्राज्य की मन्त्रिपरिषद् में यदि मन्त्री अच्छी बड़ी संख्या में हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

मौर्यों की मन्त्रिपरिषद् का क्या स्वरूप था, इस विषय में विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक समिति की सच्ची प्रतिनिधि वह मन्त्रिपरिषद् (प्रिवी कौंसिल) थी, जिसका उल्लेख कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। यह मन्त्रिपरिषद् सामान्य मन्त्रियों की सभा से स्पष्टतया भिन्न है, क्योंकि कौटल्य ने राजा को यह परामर्श दिया है कि आवश्यक कार्य के लिये मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् को बुलाया जाए। किसी समय इसके सदस्यों की बहुत अधिक संख्या हुआ करती थी, यह चाणक्य के इस कथन से स्पष्ट है कि इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि सदस्य होते थे।[3]" आगे चल कर श्री मजूमदार ने लिखा है, कि 'यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में भी शासन-संस्थाओं का विकास इङ्गलैण्ड के ही सदृश हुआ है। जिस प्रकार इङ्गलिश लोगों की 'नेशनल कौंसिल' से 'परमनेन्ट कौंसिल' का प्रादुर्भाव हुआ और यही बाद में 'प्रिवी कौंसिल' के रूप में परिणत हो गई, और इसी प्रिवी कौंसिल से राजा

१. **'मन्त्रपूर्वास्समारम्भाः।' कौ. अर्थ. १।११**

२. **'इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्। तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः।' कौ. अर्थ. १।११**

३ Mazumdar R. C. Corporate Life in Ancient India (Second edition) pp 126-127.

अपने विश्वस्त मन्त्रियों को चुनते रहे और मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) का निर्माण हुआ, इसी तरह भारत में भी वैदिक काल की समिति वाद में मन्त्रिपरिषद् के रूप में परिणत हो गई और इसी परिषद् से राजा अपने मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों को चुनते रहे।[1]"

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दू पोलिटी' में मन्त्रिपरिषद् का स्वरूप और स्थिति पर विशद रूप से विचार-विमर्श करके यह परिणाम निकाला है कि मन्त्रिपरिषद् का स्वरूप एक राष्ट्रसभा (Council of State) के सदृश था, जिसमें विभिन्न प्रकार के मन्त्री व अन्य व्यक्ति सदस्य रूप से रहते थे। पर कौटलीय अर्थ-शास्त्र के अनुशीलन से यह ज्ञात नहीं होता कि मन्त्रिपरिषद् प्राचीन काल की समिति की उत्तराधिकारी संस्था थी, या इसका स्वरूप राष्ट्रसभा के सदृश था। मगध के विशाल साम्राज्य के लिये यह सम्भव भी नहीं था, कि उसमें किसी ऐसी संस्था की सत्ता हो जो कि पुराने समय के छोटे-छोटे जनपदों की 'समिति' के सदृश हो। मौर्य युग की मन्त्रिपरिषद् विजिगीषु सम्राट् की अपनी कृति थी, जिसके सदस्यों की नियुक्ति वह मन्त्रशक्ति की प्राप्ति के लिये अपनी आवश्यकता के अनुसार कर लिया करता था। मन्त्रिपरिषद् का प्रयोजन यही था, कि महत्त्वपूर्ण राजकीय विषयों पर विचारविमर्ष करने के लिये राजा को ऐसे व्यक्तियों का साहाय्य प्राप्त हो सके, जो कि 'बुद्धिवृद्ध' हों। कोई व्यक्ति अपने अधिकार से मन्त्रिपरिषद के सदस्य नहीं होते थे। केवल मन्त्रशक्ति की प्राप्ति के लिये ही राजा मन्त्रियों को नियुक्त किया करता था।

कौटलीय अर्थशास्त्र के निम्नलिखित संदर्भ से यह बात स्पष्ट हो जाती है—"गुह्य विषयों पर अकेला ही मन्त्रणा करे, यह भारद्वाज का मत है। मन्त्रियों के भी मन्त्री होते हैं, और उनके भी अन्य मन्त्री होते हैं। मन्त्रियों की इस परम्परा के कारण मन्त्र गुप्त नहीं रह सकता।...पर विशालाक्ष का मत है कि अकेले से मन्त्र की सिद्धि सम्भव नहीं है। क्योंकि राजवृत्ति प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय तीन प्रकार की होती है, अत. बुद्धिवृद्धों के साथ मन्त्र करना चाहिए। किसी की उपेक्षा न की जाए, सबकी बात सुनी जाए। यदि बालक भी कोई सार्थक बात कहे, तो समझदार आदमी को उसका भी उपयोग करना चाहिये। पर पराशर की सम्मति में इस प्रकार मन्त्र का ज्ञान तो सम्भव है, मन्त्र की रक्षा इससे नहीं हो सकती। अतः बात को घुमा फिरा कर मन्त्रियों से प्रश्न किये जाएं।...पर पिशुन इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि घुमा फिरा कर बात पूछने पर मन्त्री उसे समुचित महत्त्व नहीं देते। वे अनादर के साथ उसका उत्तर देते हैं। अतः जिस कार्य का जिसके साथ सम्बन्ध हो, उससे उसके विषय में मन्त्रणा की जाए।...पर कौटल्य को यह भी स्वीकार्य नहीं है। तीन या चार मन्त्रियों से मन्त्रणा की जानी चाहिये।...देश, काल और कार्य को दृष्टि में रख कर एक दो या जैसी आवश्यकता समझी जाए, उसके अनुसार मन्त्रियों से

१ Mazumdar : Corporate life in Ancient India pp 128-129,

मन्त्रणा की जाया करे।...मन्त्रियों से एक-एक करके भी परामर्श किया जाए, और सामूहिक रूप से भी।' (कौ० अर्थ० १।११)

इस संदर्भ के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग की मन्त्रिपरिषद् कोई ऐसी संस्था नहीं थी, जिसकी तुलना इङ्गलैण्ड की प्रिवी कौंसिल या वर्तमान समय की राष्ट्रसभाओं से की जा सके। वस्तुतः, वह राजा की अपनी कृति थी, जिसके सदस्यों की नियुक्ति वह समय की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर स्वयं किया करता था।

जिस मन्त्रिपरिषद् की रचना राजा ने स्वयं मन्त्रबल की प्राप्ति के लिये की हो, उसके लिये यह सर्वथा स्वाभाविक था कि राजा मन्त्र की गुप्ति पर विशेष ध्यान दे। चाणक्य के अनुसार इसके लिये एक ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जिस पर पक्षियों तक की दृष्टि न पड़े, जहाँ से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके। कहते हैं कि शुक, सारिका व अन्य जीवजन्तुओं तक से मन्त्र का भेद खुल गया था। अतः मन्त्ररक्षा की पूर्ण व्यवस्था किये बिना इस कार्य में कभी प्रवृत्त न हो। यदि कोई मन्त्र का भेद खोले, तो उसे जान से मार दिया जाए। (कौ० अर्थ० १।११)

किन विषयों पर राजा को मन्त्रियों से परामर्श की आवश्यकता होती है, इसपर भी कौटलीय अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। ये विषय निम्नलिखित हैं--(१) राज्य द्वारा जो कार्य सम्पन्न किये जाने हों, उनको प्रारम्भ करने के उपाय, (२) उन कार्यों को सम्पन्न करने के लिये कितने पुरुषों और कितने धन की आवश्यकता होगी, इसका निर्धारण, (३) राज्यकार्यों के सम्पादन के लिये यह निश्चय करना कि उन्हें किस प्रदेश में सम्पादित किया जाए, और उनके लिये समय की अवधि निर्धारित करना, (४) विपत्तियों का प्रतीकार, और (५) कार्यसिद्धि के साधनों पर विचार। (कौ० अर्थ० १।११)

एक अन्य स्थान पर चाणक्य ने लिखा है--'मन्त्री राजा के स्वपक्ष और परपक्ष का चिन्तन करें। जो कार्य अब तक नहीं किये गये हैं उनको प्रारम्भ करें। जो कार्य प्रारम्भ हो चुके हों उनको सम्पन्न करें, जो सम्पन्न हो चुके हों उनको और अधिक आगे बढ़ाएँ, और राजकीय आदेशों का समुचित रूप से पालन कराएँ।' (कौ० अर्थ० १।११) मन्त्रियों को जिस स्वपक्ष और परपक्ष का चिन्तन करना है, उसे हम आजकल की भाषा में राज्य के आभ्यन्तर कार्य (Home Affairs) और बाह्य कार्य (External Affairs) कह सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उपसमिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार मन्त्री होते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इसे 'मन्त्रिणः' कहा गया है। आत्ययिक (जिनके संम्बन्ध में तुरन्त निर्णय करना हो) विषयों पर 'मन्त्रिणः' से परामर्श किया जाता था, और फिर आवश्यकतानुसार सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् की बैठक भी बुलायी जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मन्त्रिणः' और मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से ही राज्यकार्य का संचालन किया करता था। वह भलीभाँति समझता था, कि मन्त्रसिद्धि अकेले

कभी नहीं हो सकती। जो बात ज्ञात नहीं है उसे ज्ञात करना, जो ज्ञात है उसका यथार्थ रूप से निश्चय करना, जिस बात में संशय हो उसके संशय को दूर करना, जो बात आंशिक रूप से ज्ञात हो उसे पूर्णांश में जानना—यह सब मन्त्रिपरिषद् में निर्धारित मन्त्र द्वारा ही सम्भव है। अतः जो व्यक्ति वुद्धिवृद्ध हों,उन्हें सचिव व मन्त्री बनाकर उनके साथ परामर्श करना चाहिये। मन्त्रिपरिषद् में भूयिष्ठ (वहुसंख्यक) जो बात कहें, उसी के अनुसार कार्य करना चाहिये। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो, तो उसे वही बात माननी चाहिये, जो उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर हो। जो मन्त्री उपस्थित न हों, उनकी सम्मति पत्र द्वारा प्राप्त की जाए। (कौ० अर्थ० १।११)

मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी कौटलीय अर्थशास्त्र से कुछ निर्देश प्राप्त होते हैं। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि सब अमात्यों को मन्त्री की स्थिति प्राप्त नहीं होती थी। चाणक्य ने कतिपय ऐसी कसौटियों या जाँचों (उपधाओं) का वर्णन किया है, जिनमें खरा उतरने पर ही किसी व्यक्ति को अमात्य बनाना चाहिये। जो व्यक्ति रुपये पैसे के मामले में खरे हों (अर्थोपधाशुद्ध हों), उन्हें समाहर्ता और सन्निधाता जैसे पदों पर नियुक्त किया जाता था, क्योंकि राजकीय आय व व्यय के साथ इनका सम्बन्ध होता था। इसी प्रकार निष्पक्ष व्यक्ति धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे। पर मन्त्री केवल ऐसे अमात्य ही हो सकते थे, जो 'सर्वोपधाशुद्ध' हों, जो धर्म, अर्थ, काम, भय आदि की परखों में खरे उतरें। जो धन की लालच में न आएँ, जो दूसरों से डर कर कोई काम न करें, जो काम के वशीभूत होकर अपने कर्तव्य से च्युत न हों, और धार्मिक भावना को उभाड़ कर जिन्हें असत् मार्ग पर प्रवृत्त न किया जा सके, ऐसे 'सर्वोपधाशुद्ध' व्यक्तियों को ही मन्त्रिपरिषद् का सदस्य बनाया जाता था। मन्त्रियों की नियुक्ति करते हुए राजा मन्त्री और पुरोहित संज्ञा के दो प्रधान अमात्यों से परामर्श लेता था, और उन्हीं की सम्मति के अनुसार राज्य के सब प्रधान अमात्यों की नियुक्ति की जाती थी।[1]

मौर्यों के शासन में मन्त्रिपरिषद् का स्थान अत्यन्त महत्त्व का था, यह सर्वथा असन्दिग्ध है। पर यह परिषद् किसी प्राचीन संस्था का प्रतिनिधित्व करती हो और राजा को अनिवार्य रूप से इसके निर्णयों के अनुसार ही कार्य करना पड़ता हो, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। वस्तुतः, कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित मन्त्रिपरिषद् एक ऐसी संस्था है, जिसकी उपयोगिता केवल इस कारण से है, क्योंकि शासन में मन्त्रवल का बहुत महत्त्व है। राजकीय विषय अत्यन्त जटिल होते हैं, विद्यावृद्ध मन्त्रियों से परामर्श करके ही राजा को उनके विषय में कोई निर्णय करना चाहिये। मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता

१. 'मन्त्रिपुरोहितसखस्सामान्येस्वधिकरणेषु
स्थापयित्वाऽमात्यानुपधाभिश्शोचयेत्।' कौ. अर्थ. १।६

इसीलिये है। "यदि जटिल (अर्थकृच्छ्र) मामलों पर केवल एक से परामर्श किया जाए, तो किसी निश्चय पर पहुँच सकना कठिन होता है। एक मन्त्री यथेष्ट रूप से आचरण करता है, और वह मर्यादा नहीं रखता। यदि दो मन्त्रियों से मन्त्रणा की जाए, और वे दोनों मिल जाएँ, तो राजा उनके सम्मुख असहाय हो जाता है। यदि उन दोनों मन्त्रियों में विरोध हो, तो यह स्थिति भी नाशकारी होती है। पर यदि तीन या चार मन्त्रियों से मन्त्रणा की जाए, तो कोई ऐसा महादोष उत्पन्न नहीं हो सकता। इस दशा में राजा किसी निश्चय पर पहुँच सकेगा। यदि मन्त्रियों की संख्या इससे अधिक हो, तो निर्णय करने में कठिनाई ही उपस्थित होगी, और मन्त्रणा को गुप्त रख सकना भी सुगम नहीं रहेगा।[१]"

जब मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् का प्रयोजन केवल राजा को परामर्श देना ही हो, और उसे यह भी अधिकार हो कि वह स्वविवेक से मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा कर जिसे वह कार्यसिद्धि कर समझे उसे ही करे, तो मन्त्रिपरिषद् राजा को अपने वश में किस प्रकार रख सकती है? वस्तुतः, मौर्य युग में राजा की स्थिति कूटस्थानीय थी और शासन के सब अधिकार उसी में केन्द्रित थे। पर राजा किस अंश तक स्वेच्छाचारी रूप से शासन करे और किस अंश तक मन्त्रियों के अधीन रहे, यह राजा और उसके मन्त्रियों के व्यक्तित्त्व व योग्यता पर निर्भर था। चाणक्य जैसे सुयोग्य मन्त्री राजा को अपना वशवर्ती बनाकर रख सकते थे। ऐसे मन्त्रियों के नेतृत्व में शासन राजायत्त (राजा के अधीन) न होकर सचिवायत्त (सचिव या मन्त्री के अधीन) हो जाता था। इस सम्बन्ध में मुद्राराक्षस का एक संदर्भ उल्लेखनीय है। विशाखदत्त द्वारा विरचित इस नाटक में चाणक्य के मुख से यह कहलवाया गया है—"वृषल! सुनो, अर्थशास्त्र के प्रणेता तीन प्रकार की सिद्धियों का वर्णन करते हैं—राजायत्तसिद्धि, सचिवायत्तसिद्धि और उभयायत्तसिद्धि। तुम तो सचिवायत्तसिद्धि हो, अर्थात् तुम्हारा शासन तो सचिव के अधीन है। इस कारण तुम्हें प्रयोजन पूछने की क्या आवयकता है? इस कार्य के लिये जब हम नियुक्त हैं, तो हम ही इस विषय में जानकारी रखते हैं[२]।"

एक अन्य स्थान पर विशाखदत्त ने अमात्य राक्षस के मुख से चन्द्रगुप्त के विषय में यह कहलवाया गया है—"हाँ, असमर्थ है। क्यों? क्योंकि यह तो उन्हीं राजाओं के लिये सम्भव

---

१. "मन्त्रयमाणो ह्येकेनार्थकृच्छ्रेषु निश्चयं नाधिगच्छेत्। एकश्च मन्त्री यथेष्टमनवग्रहश्चरति। द्वाभ्यां मन्त्रयमाणो द्वाभ्यां संहताभ्यामवगृह्यते। विगृहीताभ्यां विनाश्यते। त्रिषु चतुर्षु वा नैकान्ते कृच्छ्रेणोपपद्यते महादोषम्। उपपन्नं तु भवति। ततः परेषु कृच्छ्रेणार्थनिश्चयो गम्यते। मन्त्रो च रक्ष्यते।" कौ. अर्थ. १।११

२. "वृषल! श्रूयताम्, इह खल्वर्थशास्त्रकारास्त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति—राजायत्तां सचिवायत्तामुभयायत्तां चेति। ततः सचिवायत्तसिद्धेस्तव किं प्रयोजनमन्वेषणेन। यतो वयमेवात्र नियुक्ता वेत्स्यामः।" मुद्राराक्षस—तृतीय अंक।

है, जो स्वायत्तसिद्धि हों। यह दुरात्मा चन्द्रगुप्त तो सचिवायत्तसिद्धि है। जिस प्रकार विकल चक्षु वाले मनुष्य के लिये लोकव्यवहार अप्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार चन्द्रगुप्त के लिये भी है। वह कैसे स्वयं कोई कार्य कर सकता है।[1]"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त मौर्य स्वायत्तसिद्धि न होकर सचिवायत्तसिद्धि था। वह अपने गुरु, मन्त्री और पुरोहित चाणक्य की सम्मति से ही राज्य कार्य का संचालन करता था। चाणक्य के सम्मुख उसकी स्थिति सर्वथा अगण्य थी। पर इसका कारण यह नहीं था, कि चाणक्य किसी ऐसे मन्त्रिमण्डल के नेता हों, जो जनता द्वारा निर्वाचित संसद के प्रति उत्तरदायी हो। इसका कारण केवल यह था, कि चन्द्रगुप्त चाणक्य का शिष्य था, और उन्हीं के साहाय्य से उसने नन्दों का विनाश कर मगध के राजसिंहासन पर अधिकार स्थापित किया था। चाणक्य चन्द्रगुप्त के केवल मन्त्री ही नहीं थे, अपितु पुरोहित भी थे। पुरोहित के विषय में कौटलीय अर्थशास्त्र का यह कथन उल्लेखनीय है---"जो उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हो, जिसका शील (चरित्र) उच्च हो, जो वेदों, वेदाङ्गों, दैवविद्या, निमित्तविद्या और दण्डनीति में निष्णात हो, जो अभिविनीत (प्रशिक्षण द्वारा मर्यादित जीवन वाला) हो, और जो आथर्वण उपायों द्वारा दैवी और मानुषी आपत्तियों के निराकरण में समर्थ हो, ऐसे व्यक्ति को पुरोहित पद पर नियुक्त किया जाए। जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का, और भृत्य स्वामी का अनुवर्ती होकर रहता है, वैसे ही राजा पुरोहित का अनुवर्ती होकर रहे।"[2] चन्द्रगुप्त जो चाणक्य का अनुवर्ती होकर राज्य कार्य का संचालन करता था, उसका कारण यही था कि चाणक्य में पुरोहित के ये सब गुण विद्यमान थे।

मौर्य युग के राजा शासन में कूटस्थानीय होने के कारण यद्यपि अत्यन्त शक्तिशाली थे, पर सुयोग्य मन्त्री उन्हें अपने वश में रख सकते थे, यह निर्विवाद है। अपने पुरोहित और मन्त्रियों की उपेक्षा कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था। कौटल्य ने ठीक ही लिखा है, कि जो राजा ब्राह्मण गुरु द्वारा सुचारू रूप से विद्याविनीत किया गया हो, मन्त्रियों की मन्त्रणा को जो समुचित महत्त्व देता हो और जो शास्त्रों के आदेशों का पालन करता हो, वह अजित होकर सर्वत्र विजय प्राप्त करता है। शास्त्र के आदेश ही उसके लिये सर्वश्रेष्ठ शस्त्र होते हैं।[3]

---

१. "वाढमसमर्थः। कुतः स्वायत्तसिद्धिषु तत्संभवति। चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितचक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात्।" मुद्राराक्षस---चतुर्थ अंक।

२. "पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत।" कौ. अर्थ. १।५

३. "ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्य जितमत्यन्तं शास्त्रानुगम शस्त्रितम्॥" कौ. अर्थ. १।५

(४) केन्द्रीय शासन का संगठन

कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में विशद रूप से परिचय प्राप्त होता है। मौर्य युग में शासन के विविध अधिकरणों (महकमों) की संज्ञा 'तीर्थ' थी। प्रत्येक तीर्थ एक-एक महामात्य के अधीन होता था। इन तीर्थों की संख्या अठारह थी।[1] इन अठारह तीर्थों (अधिकरणों) और उनके विविध कार्यों को संक्षेप से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) **मन्त्री और पुरोहित**—यद्यपि ये दोनों पृथक् पद थे, पर सम्भवतः चन्द्रगुप्त के शासन में आचार्य चाणक्य मन्त्री और पुरोहित दोनों पदों पर विद्यमान थे। बाद में राधागुप्त जैसे प्रतापी अमात्य भी सम्भवतः मन्त्री और पुरोहित दोनों पदों पर रहे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख प्रायः एक ही साथ आया है।[2] राजा इन्हीं के परामर्श से विविध अधिकरणों के अमात्यों की नियुक्ति करता था, और उनके शौच (शुचिता) व अशौच (शुचिहीनता) की परीक्षा लेता था,[3] प्रजा की सम्मति और गतिविधि को जानने के लिये गुप्तचरों को नियत करता था,[4] और विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति व परराष्ट्रनीति का संचालन करता था।[5] शिक्षा का कार्य भी इन्हीं के अधीन रहता था।[6] राज्य के अन्य सब अधिकरणों पर भी मन्त्री और पुरोहित का नियन्त्रण रहता था। राजा इन्हीं के परामर्श से राज्यकार्यों का सम्पादन करता था। इन पदों पर प्रायः ब्राह्मण ही नियुक्त किये जाते थे। यदि राजा क्षत्र शक्ति का प्रतिनिधि था, तो ये ब्रह्मशक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे। राजनीतिशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में ब्रह्म और क्षत्र तत्त्वों के सहयोग को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। प्राचीन भारतीय समाज में इन्हीं दो तत्त्वों की प्रमुखता थी। राजा से यह अपेक्षा की जाती थी, कि वह सदा शास्त्र मर्यादा का पालन करे। उसकी स्वेच्छाचारिता को रोकने का सबसे बड़ा साधन यही था, कि वह देश के धर्म, चरित्र और व्यवहार का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। पर धर्म क्या है, इसका

---

१. 'तान्राजा स्वविषये मन्त्रिपुरोहित सेनापति युवराज दौवारिकान्तर्वंशिक प्रशास्तृ-समाहर्तृ सन्निधातृ प्रदेष्टृ नायक पौर व्यावहारिक कार्मान्तिक मन्त्रिपरिषदध्यक्ष दण्डदुर्गान्तपालाटविकेषु..." कौ. अर्थ. १।८

२. कौ. अर्थ. १।६

३. 'मन्त्रिपुरोहितसखस्सामान्येस्वधिकरणेषु स्थापयित्वाऽमात्यानुपधाभिः शोचयेत्।' कौ. अर्थ. १।६

४. 'मन्त्री चैषां वृत्तिकर्मभ्यां वियतेत।' कौ. अर्थ. १।७

५. कौ. अर्थ. १।१२

६. कौ. अर्थ. १।६

प्रतिपादन शास्त्र द्वारा ही किया जाता था, और शास्त्र के अभिप्राय को अभिव्यक्त करना ब्राह्मण पुरोहितों का ही कार्य था।

(२) **समाहर्ता**—साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों के शासन के लिये नियुक्त अमात्यों (राजपुरुषों) को जहाँ समाहर्ता करते थे, वहाँ केन्द्रीय शासन का भी एक अधिकरण (तीर्थ) समाहर्ता नामक अमात्य के अधीन था। राजकीय करों को एकत्र करना इस अधिकरण का सर्वप्रधान कार्य था। समाहर्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र करते थे, और व्यापार, व्यवसाय व उद्योग का सञ्चालन करते थे।

राजकीय आय के सात मुख्य स्रोत थे—दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक्-पथ।[१] दुर्ग, राष्ट्र आदि पारिभाषिक शब्द है, जिनके कौटलीय अर्थशास्त्र में विशिष्ट अर्थ हैं। राजकीय आय-व्यय पर प्रकाश डालते हुए इन शब्दों का विशद रूप से विवेचन किया जायगा। यहाँ समाहर्ता के कार्यों को स्पष्ट करने और यह प्रदर्शित करने के लिये कि उसके अधिकरण के अधीन कौन-कौन से विभाग थे, इन शब्दों के अभिप्राय को स्पष्ट करना उपयोगी होगा। 'दुर्ग' से शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवर्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पिगण, देवताध्यक्ष, द्वारदेय और वाहिरिकादेय का ग्रहण होता था।[२] 'दुर्ग' के अन्तर्गत जो शुल्क, दण्ड आदि हैं, वे सब भी विशिष्ट अर्थों का बोध करानेवाली संज्ञाएँ हैं, और ये सब शब्द राजकीय आमदनी के विभिन्न स्रोतों के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। इनका सम्बन्ध प्रधानतया दुर्गों या नगरों के साथ है, इसी कारण इन्हें 'दुर्ग' के अन्तर्गत किया गया है।

'राष्ट्र' से सीता, भाग, वलि, कर, वणिक्, नदीपालस्तर, नाव, पट्टन, विवीत, वर्तनी, रज्जू और चोररज्जू का ग्रहण होता था।

'खनि' से सुवर्ण, रजत, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल, शंख, लोह, लवण, भूमिप्रस्तर, रस तथा अन्य धातुओं का ग्रहण होता था।

'सेतु' से पुष्प, फल, वाट, षण्ड, केदार, मूल और वाप का ग्रहण किया जाता था।

'व्रज' से गो, महिष, अजा, अवि, खर, उष्ट्र, अश्व और अश्वतर ग्रहण किये जाते थे।

'वन' से पशु, मृग, हस्ति और अन्य जाङ्गलिक द्रव्यों के वनों का ग्रहण होता था।

'वणिक्पथ' में स्थलपथ और जलपथ दोनों का अन्तर्भाव था।

---

१. **'समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।' कौ. अर्थ. २।६**

२. **'शुल्कं दण्डः पौतवं नागरको लक्षणाध्यक्षो मुद्राऽध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं घृतं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वार-बाहिरकादेयं च दुर्गम् ।' कौ. अर्थ. २।६**

कौटलीय अर्थशास्त्र में दुर्ग, राष्ट्र, खनि आदि को 'आयशरीर' कहा है।[1] राजकीय आमदनी के विभिन्न साधनों को इन विविध वर्गों में विभक्त कर चाणक्य ने यह भी लिखा है, कि राज्य को जो आय प्राप्त होती है, उसके 'मुख' सात हैं—मूल, भाग, व्याजी, परिघ, क्लृप्त, रूपिक और अत्यय।[2] राजकीय आय-व्यय का विवरण देते हुए इन सब पर विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा।

अर्थशास्त्र में जिस प्रकार राजकीय आय के विविध साधनों को दुर्ग आदि सात प्रमुख वर्गों और इनमें से प्रत्येक वर्ग को बहुत-से उपवर्गों में विभक्त किया गया है, वैसे ही राजकीय व्यय के निम्नलिखित वर्ग प्रतिपादित किये गये हैं—देवपूजा, पितृपूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तःपुर, महानस, दूतप्रावर्तिमम्, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कुप्यगृह, कर्मान्त, विष्टि, पत्तिपरिग्रह, अश्वपरिग्रह, हस्तिपरिग्रह, रथपरिग्रह, गोमण्डल, पशुवाट, मृगवाट, पक्षिवाट, व्यालवाट, और तृणवाट। ये सब भी पारिभाषिक शब्द हैं, और अर्थशास्त्र में इनके विशिष्ट अर्थ हैं।

समाहर्ता का अधिकरण राजकीय आय और व्यय की व्यवस्था करता था। इस अमात्य को यह देखना था कि कौन-से कार्य हाथ में हैं, कौन-से कार्य सिद्ध हो चुके हैं, कौन-से कार्य शेष हैं, कितनी आय है, कितना व्यय है, और कितनी विशुद्ध आमदनी है। (कौ. अर्थ. २।६)

समाहर्ता के कार्यों का चाणक्य ने इस प्रकार उपसंहार किया है—वह राजकीय आय को एकत्र करे, आय में वृद्धि करे, व्यय में कमी करे, इससे विपरीत न होने दे।

(३) **सन्निधाता**—राजकीय कोश के प्रधान अधिकारी को 'सन्निधाता' कहते थे। वह कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बन्धनागार का निर्माण करा कर उनकी देखभाल करता था। कोशगृह आदि की व्यवस्था के लिये सन्निधाता के अधीन कोशाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष आदि अन्य अमात्य कार्य करते थे। कोशगृह में विविध पदार्थों का संग्रह किया जाता था। कोशगृह के विषय में चाणक्य ने लिखा है—"एक चौकोन बावड़ी खोदी जाए, जिसमें न पानी हो और न नमी। उसकी चारों दीवारों और फर्श को बड़ी-बड़ी शिलाओं से पक्का बनाया जाए। उसके अन्दर पक्की लकड़ी द्वारा पिंजरे के ढंग का एक मकान बनाया जाए, जो तिमंजला हो और जिसमें अनेक कमरे हों। इसमें द्वार केवल एक हो। इसमें यन्त्रयुक्त सीढ़ी (सोपान) लगी हो, और देवता भी इसमें स्थापित हो।

---

१. 'इत्यायशरीरम्।' कौ. अर्थ. २।६

२. 'मूलं भागो व्याजी परिघः क्लृप्तं रूपिकमत्ययश्च मुखम्।' कौ. अर्थ. २।६

३. "देवपितृपूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमन्तःपुरमहानसं दूतप्रावर्तिमं कोष्ठागारमायुधागारं पण्यगृहं कुप्यगृहं कर्मान्तो विष्टिः पत्त्यश्वरथद्विपपरिग्रहो गोमण्डलं पशुमृगपक्षिव्यालवाटाः काष्ठतृणवाटश्चेति व्ययशरीरम्।" कौ. अर्थ. २।६

इसके ऊपर कोशगृह का निर्माण किया जाए, जो दोनों ओर से बन्द हो, जिसकी छत ढालदार हो, जो ईंटों से बनाया गया हो और जिसमें भाण्ड (कोश्य पदार्थों) को भरने के लिये एक नाली बनी हुई हो।" (कौ. अर्थ. २।५) इस प्रकार के सुरक्षित कोशगृहों में सन्निधाता द्वारा बहुमूल्य द्रव्यों का सञ्चय कराया जाता था। विविध प्रकार के रत्न, मणि, माणिक्य और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ उनकी जाँच में कुशल व्यक्तियों द्वारा परीक्षा के अनन्तर कोशगृह में सञ्चित की जाती थीं।

सन्निधाता के अधीन भी अनेक उपविभागों की सत्ता थी—कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बन्धनागार। कोशगृह के अध्यक्ष को 'कोशाध्यक्ष' कहते थे। वह सब प्रकार के रत्नों और अन्य बहुमूल्य पदार्थों का कोशगृह में संग्रह करता था। चाणक्य के अनुसार कोशाध्यक्ष का कर्तव्य है, कि वह रत्नों के मूल्य, प्रमाण, लक्षण, जाति, रूप, प्रयोग, संशोधन, देश तथा काल के अनुसार उनका घिसना या नष्ट होना, मिलावट, हानि का प्रत्युपाय आदि बातों का परिज्ञान रखे।[1] पण्यगृह में राजकीय पण्य (विक्रेय पदार्थ) एकत्र किये जाते थे। राज्य की ओर से जिन विविध उद्योगों व व्यवसायों का संचालन किया जाता था, उन द्वारा तैयार किये गये पदार्थ सन्निधाता के अधीन पण्यगृह में भेज दिये जाते थे।[2] राजकीय पण्य की बिक्री कराने के अतिरिक्त पण्याध्यक्ष का यह भी कार्य था कि वह अन्य माल की बिक्री को नियन्त्रित करे। माल के विक्रय के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, कि उसे जनता की भलाई की दृष्टि से बेचा जाए। यदि बहुत अधिक लाभ की सम्भावना भी हो, तो भी माल की बिक्री ऐसी कीमत पर न की जाए, जिससे जनता का अहित होता हो।[3] कोष्ठागार में वे पदार्थ एकत्र किये जाते थे, जिनकी राज्य को आवश्यकता होती थी। सेना और राजपुरुषों आदि का खर्च चलाने के लिये राज्य की ओर से जो माल खरीदा जाता था, स्वयं राजकीय कारखानों बनाया जाता था, या बदले में प्राप्त किया जाता था, उस सबको कोष्ठागार में रखा जाता था।[4] कुप्यगृह में कुप्य पदार्थ (जंगलों से प्राप्त होने वाले विविध प्रकार के काष्ठ, ईंधन, चर्म आदि) एकत्र किये जाते थे।[5] आयुधागार में सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह रहता

---

१. "अतः परेषां रत्नानां प्रमाणं मूल्यलक्षणम्।
जातिं रूपं च जानीयन्निधानं नवकर्मच॥" कौ. अर्थ. २।११

२. कौ. अर्थ. २।१६

३. "उभयं च प्रजानामनुग्रहेन विक्रापयेत्। स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१६

४. कौ. अर्थ. २।१५

५. 'कुप्याध्यक्षो द्रव्यवनपालैः कुप्यमानाययेत्। द्रव्यवनकर्मान्तांश्च स्थापयेत्।" कौ. अर्थ. २।१७

था।[1] वन्धनागार (जेलखाना) का विभाग भी सन्निधाता के अधीन था। चाणक्य के अनुसार वन्धनागार के सब कमरे सब ओर से सुरक्षित वनाये जाने चाहिएं, और स्त्री-पुरुषों के निवास के लिये पृथक्-पृथक् कमरों की व्यवस्था की जानी चाहिये।[2]

क्योंकि सन्निधाता का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राजकीय कोश की देखभाल करना था, अतः उससे यह आशा की जाती थी, कि राजकीय आय और व्यय का भी उसे भलीभाँति ज्ञान हो। चाणक्य ने लिखा है—"सन्निधाता को सैकड़ों वर्षों की वाह्य तथा आभ्यन्तर आय का ज्ञान होना चाहिये, जिससे कि वह पूछे जाने पर तुरन्त व्ययशेष (Net income या Surplus) को बता सके।[3]"

(४) **सेनापति**—यह युद्ध विभाग का महामात्य होता था। चाणक्य के अनुसार "सेनापति युद्धविद्या और अस्त्र-शस्त्रों की विद्या में सुचारु रूप से सुशिक्षित होकर हाथी, घोड़े तथा रथ के सञ्चालन में समर्थ हो। वह चतुरंग (पदाति, अश्व, रथ और हस्ति) वल के कार्यों तथा स्थान को भलीभाँति जाने। अपनी भूमि (मोरचा), युद्ध का काल, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेद, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण, एकत्र सेना को तितर बितर करना, तितर वितर हुई सेना का संहार करना, किले को तोड़ना और युद्ध यात्रा का समय आदि बातों का ध्यान रखे।[4]" सैन्य विभाग का सर्वोच्च अधिकारी 'सेनापति' कहाता था, जिसके लिये युद्ध नीति में विशारद होना और सैन्य संचालन के कार्य में समर्थ होना आवश्यक समझा जाता था।

(५) **युवराज**—राजा की मृत्यु के वाद जहाँ युवराज राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, वहाँ राजा के जीवन काल में भी शासन में उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति होती थी। उसका एक पृथक् अधिकरण (तीर्थ) था, और शासन-सम्वन्धी अनेक अधिकार उसे प्राप्त थे। इन अधिकारों के विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र से नहीं मिलते, पर दिव्याव-दान की एक कथा से सूचित होता है, कि युवराज को यह भी अधिकार था कि वह राजा की आज्ञा को कार्यान्वित होने से रोक सके। इस कथा के अनुसार जव राजा अशोक ने भिक्षु-संघ को राजकीय कोश से दान देने का संकल्प किया, तो युवराज सम्प्रति ने उसे ऐसा नहीं

---

१. कौ. अर्थ. २।१८

२. 'विभक्त स्त्री पुरुष स्थानमपसारतः सुगुप्तकक्ष्यं बन्धनागारं कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।५

३. 'बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशतादपि।
यथापृष्टो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत्॥' कौ. अर्थ २।५

४. "तदेव सेनापतिस्सर्व युद्धप्रहरण विद्याविनीतो हस्त्यश्वरथचर्या सम्पुष्टश्चतुरङ्गस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात्। स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीकभिन्नभेदनं भिन्न-सन्धानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालंच पश्येत्।" कौ. अर्थ. २।३३

करने दिया, और अशोक विवश होकर चुप रह गये ।[1] अशोक के समय की शासन व्यवस्था का निरूपण करते हुए हम इस कथा का विशद रूप से उल्लेख करेंगे । पर यदि अशोक के समय में युवराज को इतने महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे, तो चन्द्रगुप्त के अष्टादश तीर्थों में से अन्यतम तीर्थ 'युवराज' को भी इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त होंगे, यह सहज में स्वीकार किया जा सकता है ।

राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज के पद पर नियुक्त हो, यह आवश्यक नहीं था । सुयोग्य व विद्याविनीत होने पर ही ज्येष्ठ पुत्र को युवराज का पद प्राप्त हो सकता था । चाणक्य ने तो यहाँ तक लिखा है, कि 'यदि राजा का एक ही पुत्र हो और वह विनीत न हो, तो उसे राज्य में स्थापित न किया जाए ।[2] इस दशा में यह स्वीकार करना होगा, कि युवराज भी एक राजकीय पद था, जिसके लिये ऐसे ही व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था जो इस पद के योग्य हो । यही कारण है कि अशोक के पुत्र कुणाल के अन्धा हो जाने पर युवराज का पद उसके पुत्र सम्प्रति को दिया गया था, कुणाल को नहीं ।

(६) **प्रदेष्टा**—मौर्य युग में दो प्रकार के न्यायालय होते थे, कण्टकशोधन और धर्मस्थीय । इन के भेद पर यथास्थान प्रकाश डाला जायगा । कंटकशोधन न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे ।[3] न्याय विभाग का यह महत्त्वपूर्ण अधिकरण प्रदेष्टा के ही अधीन था । न्याय के अतिरिक्त कतिपय अन्य कार्य भी प्रदेष्टा को प्रदान किये गये थे । विविध अध्यक्षों और अध्यक्षों के अधीन राज-पुरुषों के कार्यों पर नियन्त्रण रखना और यह ध्यान रखना कि वे बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि से दूर रहें, भी प्रदेष्टा का कार्य था । यह कार्य वह समाहर्ता के सहयोग से सम्पादित करता था ।[4]

(७) **नायक**—सैन्य सञ्चालन करनेवाला अधिकरण नायक के अधीन था । सेनापति सेना विभाग का महामात्य होता था, और नायक युद्ध क्षेत्र में सेना का सञ्चालन करता था । रणक्षेत्र में वह सेना के आगे रहता था ।[5] स्कन्धावार (छावनी) तैयार कराने का काम भी उसी के हाथ में था ।[6] युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर सैनिकों को क्या-क्या

---

१. दिव्यावदान. पृ. ४२९–४३२

२. "न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत् ।" कौ. अर्थ. १।११

३. कौ. अर्थ. ४।१

४. 'समाहर्तृ प्रदेष्टारः पूर्वमध्यक्षाणामध्यक्षपुरुषाणां च नियमनं कुर्युः । खनिसारकर्मान्तेभ्यस्सारं रत्नं वापहरतः शुद्धवधः ।' कौ. अर्थ. ४।९

५. 'पुरस्तान्नायकः ।' कौ. अर्थ. १०।२

६. 'वास्तुकप्रशस्तवास्तुनि नायकवर्धकिमौहूर्तिकाः स्कन्धावारं वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा, भूमिवशेन वा चतुर्द्वारं षट्पथं नवसंस्थानं मापयेयुः ।' कौ. अर्थ. १०।१

कार्य दिये जाएँ, सेना की व्यूहरचना कैसे की जाए, और युद्ध किस प्रकार लड़ा जाए—इन सब बातों का निर्णय नायक ही करता था।[१]

(८) **कार्मान्तिक**—मौर्य युग में राज्य की ओर से अनेक उद्योगों का सञ्चालन होता था। इसके लिये बहुत-से कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किये जाते थे। खानों, जंगलों, खेतों आदि से एकत्र कच्चे माल को भिन्न-भिन्न उपयोगों के लिये तैयार माल के रूप में परिवर्तित करने के निमित्त राज्य की ओर से जो विविध कारखाने स्थापित थे, उनका सञ्चालन कार्मान्तिक के अधिकरण द्वारा किया जाता था। चाणक्य ने लिखा है कि "खानों से जो धातुएँ निकाली जाएँ, उन्हें उनके कारखानों में भेज दिया जाए। जो माल तैयार हो, उसे बेचने का प्रबन्ध एक स्थान पर किया जाए। इन नियमों का उल्लंघन करने वाले क्रेता, विक्रेता तथा कर्ता (पक्का माल तैयार करने वाले) को दण्ड दिया जाए।[२] क्योंकि मौर्य युग में राज्य द्वारा सञ्चालित कर्मान्त अच्छी बड़ी संख्या में थे, अतः स्वाभाविक रूप से कार्मान्तिक का अधिकरण (तीर्थ) विशेष महत्त्व का था।[३]

(९) **व्यावहारिक**—धर्मस्थीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को व्यावहारिक कहा जाता था। इसी को 'धर्मस्थ' भी कहते थे।[३]

(१०) **मन्त्रिपरिषदध्यक्ष**—राज्य कार्य में राजा को परामर्श देने के लिये मौर्य युग में मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। उसका एक पृथक् अधिकरण था, जिसके अध्यक्ष की गिनती राज्य के प्रधान अष्टादश तीर्थों में की जाती थी। चाणक्य ने राजा के लिये आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है, कि उसे 'अक्षुद्र-परिषत्कः' (अच्छी बड़ी परिषद् वाला) होना चाहिये।[४] इससे सूचित होता है, कि मन्त्रि-परिषद् न केवल एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी, अपितु उस का आकार भी अच्छा बड़ा होता था। इस दशा में यदि उसके अध्यक्ष की गणना राज्य के प्रधान तीर्थों में की जाए, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है।

(११) **दण्डपाल**—सेनापति और नायक नाम के दो महामात्यों का सम्बन्ध सेना के साथ था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। दण्डपाल के अधिकरण का सम्बन्ध भी सेना के ही साथ था। इसका विशेष कार्य सेना की आवश्यकताओं को पूरा करना और उसके लिये

---

१. कौ. अर्थ. १०।२

२. 'धातुसमुत्थितं तज्जात कर्मान्तेषु प्रयोजयेत्। कृतभाण्डव्यवहारमेकमुखमत्ययं चान्यत्र कर्तृक्रेतृविक्रेतृणां स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।१२

३. 'धर्मस्थास्त्रयस्त्रोऽमात्या जनपदसन्धि संग्रहण द्रोणमुख स्थानीयेषु व्यावहारिका-नर्थात् कुर्युः।' कौ. अर्थ. ३।१

४. कौ. अर्थ. ६।१

सब प्रबन्ध करना था। कौटलीय अर्थशास्त्र में दण्डपाल का उल्लेख बहुत कम स्थानों पर किया गया है।

(१२) **अन्तपाल**—मौर्य युग में सीमान्तों का महत्त्व बहुत अधिक था। सीमा की रक्षा के लिये उस समय बहुत-से दुर्गों का निर्माण किया जाता था। विदेशी सेना जब राज्य की सीमा को लांघने का प्रयत्न करने लगे, तो देश की रक्षा के लिये ये दुर्ग बहुत उपयोगी सिद्ध होते थे। सीमा प्रदेश के मार्गों पर भी स्थान-स्थान पर स्कन्धावार स्थापित किये जाते थे। इन सब की व्यवस्था अन्तपाल के अधिकरण के सुपुर्द थी। सीमान्त के प्रदेश में वागुरिक, शवर, पुलिन्द, चण्डाल, अरण्यचर आदि ऐसी जातियों को भी बसाया जाता था, जो सीमान्त की रक्षा में सहायक हो सकें।[1] इन सब की व्यवस्था भी अन्तपाल के अधीन थी। सीमान्तों पर स्थापित दुर्गों को 'अन्तपालदुर्ग' कहते थे।

(१३) **दुर्गपाल**—जिस प्रकार सीमान्त प्रदेशों के दुर्ग अन्तपाल के अधीन थे, वैसे ही साम्राज्य के अन्तर्वर्ती दुर्ग दुर्गपाल के अधिकरण के अधीन रहते थे। दुर्गों की आवश्यकता केवल सीमान्तों पर ही नहीं थीं, साम्राज्य की आन्तरिक व्यवस्था के लिये भी उनका उपयोग था। वैसे तो इस युग में प्रायः सभी बड़े नगरों की रचना दुर्ग के रूप में की जाती थी, पर ऐसे भी दुर्ग होते थे जिनका निर्माण युद्ध तथा सुरक्षा की दृष्टि से ही किया जाता था। इन्हें 'साम्परायिक' दुर्ग कहा जाता था।[2] ये दुर्ग अनेक प्रकार के होते थे, अन्तर्द्वीप दुर्ग, स्थल-दुर्ग, औदक दुर्ग, प्रास्तर दुर्ग, पार्वत दुर्ग आदि। इन सब की व्यवस्था करना दुर्गपाल का महत्त्वपूर्ण कार्य होता था।

(१४) **नागरक**—जैसे जनपदों का शासन समाहर्ता के अधीन था, वैसे ही नगरों या पुरों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी नागरक होता था। प्राचीन युग के राज्यों में पुर या राजधानी का महत्त्व बहुत अधिक था। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र एक विशाल नगरी थी, जिसका विस्तार इस युग के रोम और एथन्स सदृश पाश्चात्य नगरों से बहुत अधिक था। मागध साम्राज्य में पाटलिपुत्र की विशिष्ट स्थिति थी, और उसका शासन यदि केन्द्रीय सरकार के एक पृथक् अधिकरण के अधीन हो, तो यह सर्वथा उचित था।

(१५) **प्रशास्ता**—चाणक्य के अनुसार 'राजकीय आज्ञाओं पर ही शासन आधारित होता है। सन्धि और विग्रह का मूल राजकीय आज्ञाएँ ही हैं, अतः राजा 'शासन प्रधान' ही होते हैं।[3] इन राजकीय आज्ञाओं (राजशासन) को लिपिबद्ध करने के लिये एक पृथक्

---

१. **'अन्तपालेष्वन्तपालदुर्गाणि। जनपदद्वाराण्यन्तपालाधिष्ठितानि स्थापयेत्। तेषामन्तराणि वागुरिक शवरपुलिन्द चण्डालारण्यचरा रक्षेयुः।' कौ. अर्थ. २।१**

२. **'चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३**

३. **'शासने शासनमित्याचक्षते। शासनप्रधाना हि राजानः, तन्मूलत्वात् सन्धिविग्रहयोः।' कौ. अर्थ. २।९**

अधिकरण था, जिसके प्रधान अधिकारी को 'प्रशास्ता' कहते थे। जिसमें अमात्य के सब गुण विद्यमान हों, जो सब समयों (संविदाओं या अनुबन्धों) का ज्ञान रखता हो, जिसे सब ग्रन्थों (Records) के साथ पूर्ण परिचय हो, जिसका लेख सुन्दर हो, और जो लिखने व बाँचने में निष्णात हो, ऐसे व्यक्ति को 'लेखक' नियत किया जाए। वह अव्यग्र मन से राजकीय आदेशों को सुने, और उन्हें इस ढंग के 'लेखों' (लेख्य या Documents) के रूप में लिखित करे जिनका अभिप्राय सुनिश्चित हो।[1] सम्भवतः, यह 'लेखक' ही मौर्यों के अष्टादश तीर्थों में प्रशास्ता संज्ञा से परिगणित है। यह भी सम्भव है, कि प्रशास्ता के अधिकरण में 'लेखक' नाम से अन्य अधीनस्थ अमात्य होता हो, जो सरकारी सचिवालय का प्रमुख अधिकारी हो। सुगमता के साथ यह कल्पना की जा सकती है, कि मौर्यों के विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिये एक केन्द्रीय सचिवालय की सत्ता भी अवश्य होगी, जिसमें बहुत-से लिपिक आदि कार्य करते होंगे। वे 'लेखक' नामक अमात्य के अधीन कार्य करते होंगे, और यह राजकीय विभाग प्रशास्ता के नियन्त्रण में होगा।

प्रशास्ता के अधिकरण (तीर्थ) के अधीन ही 'अक्षपटलमध्यक्ष' नाम का महत्त्वपूर्ण अमात्य कार्य करता था, जिसे विभिन्न निबन्ध-पुस्तकों (रजिस्टरों) की संभाल का कार्य सुपुर्द था। कौटल्य ने लिखा है—'अक्षपटलमध्यक्ष एक निबन्ध-पुस्तक-स्थान का निर्माण कराए, जिसका मुख्य द्वार पूर्व या उत्तर दिशा की ओर हो और जिसमें विविध कर्मचारियों के बैठने के लिये पृथक्-पृथक् स्थान बने हों।'[2] यह अमात्य निबन्ध-पुस्तक-स्थान में निम्नलिखित को निबन्ध-पुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करता था—(१) राज्य के विविध अधिकरणों (विभागों) की संख्या, (२) राज्य द्वारा सञ्चालित कर्मान्तों (कारखानों) में क्या-क्या कार्य हो रहा है, और उनमें क्या-क्या व कितना उत्पादन हुआ है; (३) राजकीय कर्मान्तों से कितना लाभ हुआ, कितनी हानि हुई, कितना व्यय हुआ, कितना व्याज प्राप्त हुआ, कितनी कमाई विलम्बित होकर हुई, किन कार्यों में धन फंसा हुआ है, कितने वेतन दिये जा रहे हैं और कितनी बेगार ली जा रही है, (४) रत्न, सार (काष्ठ सार आदि), फल्गु और कुप्य पदार्थों की वर्तमान कीमतें क्या हैं, वस्तु-विनिमय या प्रतिवर्णक (Barter) द्वारा उनके बदले में क्या प्राप्त किया जा सकता है, उन्हें तोलने के लिये किन मानों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें मापने के लिये किन मानों का प्रयोग किया जाता है, और उनकी संख्या, भार या माप क्या हैं, (५) विभिन्न देशों (जनपदों), ग्रामों, जातियों और कुलों व उनके संघातों के क्या-क्या धर्म, चरित्र और व्यवहार हैं, (६) राजा पर आश्रित व्यक्तियों को राज्य की ओर से क्या कुछ प्रदान किया

---

१. कौ. अर्थ. २।९

२. 'अक्षपटलमध्यक्षः प्रत्यङ्मुखमुदङ्मुखं वा विभक्तोपस्थानं निबन्धपुस्तकस्थानं कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।७

जाता है, निर्वाह के लिये उन्हें कितनी व कौन-सी भूमि प्रदत्त है, राजकीय करों में कितनी छूट उन्हें दी गई है, उन्हें कितना वेतन किया जाता है, और अन्य कौन-सी सुविधाएँ दी गई हैं; (७) राजा की पत्नी और पुत्रों को कितने रत्न, भूमि व अन्य लाभ प्रदान किये गये हैं, (८) उत्पातों के प्रतीकार के लिये कितने व्यय की व्यवस्था है, और (९) शत्रु-राज्यों और मित्र-राज्यों के साथ कौन-सी सन्धियाँ की गई हैं, किन दशाओं में उन्हें विक्रम (Ultimatum) दिया जा सकता है, किस राज्य से क्या प्राप्त होता है और किस राज्य को क्या प्रदान किया जाता है।[1]" निस्सन्देह, अक्षपटलमध्यक्ष का कार्य अत्यन्त महत्त्व का था, क्योंकि राजशासन के साथ सम्बन्ध रखने वाली इतनी महत्त्वपूर्ण बातों को निबन्ध-पुस्तकस्थ कराना उसी का कार्य था। राज्य के सब अधिकरणों के विषय में निम्नलिखित बातों का विवरण भी अक्षपटलमध्यक्ष तैयार कराता था—क्या और कौन-से कार्य करणीय हैं, कितने कार्य सम्पन्न हो चुके हैं, कितने कार्य करने अभी शेष हैं, उन पर कितना व्यय हुआ है और उनसे कितनी आय हुई है। शुद्ध प्राप्ति या आमदनी उनसे कितनी हुई है, और विविध अधिकरणों के क्या चरित्र और नियम आदि हैं।[2] इन सब बातों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएँ अक्षपटलमध्यक्ष राजा को देता रहता था।

अक्षपटलमध्यक्ष के अधीन बहुत-से कर्मचारी कार्य करते थे, जिन्हें गाणनिक्य, कारणिक, संख्यायक, कार्मिक आदि कहा जाता था।[3]

(१६) दौवारिक—राजप्रासाद के प्रधान अधिकारी को दौवारिक कहते थे। विशाल मागध साम्राज्य के शासन में राजा की स्थिति 'कूटस्थानीय' थी, जो बड़ी शान व वैभव के साथ अत्यन्त विशाल राजप्रासाद में निवास करता था। राजप्रासाद में हजारों स्त्री-पुरुष रहते थे। राजा की रानियों, पुत्रों और निकट सम्बन्धियों के निवास के लिये पृथक्-पृथक् प्रासाद बने होते थे। इन सबकी व्यवस्था करना दौवारिक का ही कार्य था। राजप्रासाद अनेकविध षड्यन्त्रों का भी केन्द्र होता था। चाणक्य ने राजपुत्रों की तुलना कर्कटकों (कैंकड़ों) के साथ की है, जो अपने जनक को ही खा जाते हैं।[4] कोई राजपुत्र राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र कर स्वयं राजसिंहासन की प्राप्ति का प्रयत्न न कर सके, इसका ध्यान रखना उस युग में अत्यन्त महत्त्व की बात थी। राजपुत्रों से राजा किस प्रकार अपनी रक्षा करे, कौटलीय अर्थशास्त्र में इस समस्या पर विशद रूप से विचार किया गया है। ज्यों ही कोई राजपुत्र उत्पन्न हो जाए, उससे अपनी रक्षा का प्रश्न राजा के सम्मुख उपस्थित हो जाता था। राज-

१. कौ. अर्थ. २।७

२. 'ततस्सर्वाधिकरणानां करणीयं सिद्धं शेषमायव्ययौ नीवीमुपस्थानं प्रचारचरित्रसंस्थानं च निबन्धेन प्रयच्छेत्।' कौ. अर्थ. २।७

३. कौ. अर्थ. २।७

४. 'कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः।' कौ. अर्थ. १।११

माता और उसके निकट सम्बन्धी राजपुत्र का पक्ष लेकर राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में तत्पर हो जाते थे।[1] अतः राजा को केवल राजपुत्रों से ही अपनी रक्षा नहीं करनी होती थी, अपितु दाराओं राजमाताओं या रानियों से भी उसे सावधान रहना पड़ता था। राजा ज्यों ही यह देखे कि राजपुत्र का उसके प्रति अस्नेहभाव है, वह उसे गुप्त रूप से दण्ड दे, यह आचार्य भारद्वाज का मत था।[1] पर आचार्य विशालाक्ष इससे सहमत नहीं थे, उनका कहना था कि ऐसा दण्ड नृशंस होगा और इससे क्षेत्र के बीजनाश की भी सम्भावना रहेगी। अतः उचित यह है, कि राजपुत्र को किसी एक स्थान पर अवरुद्ध करके रखा जाए। पर आचार्य पाराशर इस उपाय को सही नहीं मानते थे। उनका कहना था कि राजपुत्र शीघ्र ही यह समझ जायगा कि राजा ने मुझे विरोध के भय से एक स्थान पर अवरुद्ध कर दिया है, और वह राजा को ही अवरुद्ध करने के लिये प्रयत्नशील हो जायगा। अतः उचित यह है कि राजपुत्र को अन्तपाल दुर्ग में निवास के लिये भेज दिया जाए। सीमान्त के दुर्ग में निवास करते हुए वह राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र नहीं कर सकेगा। पर आचार्य पिशुन को इस विचार में यह विप्रतिपत्ति थी कि सीमान्त के अन्तपाल से मिलकर राजपुत्र अपनी शक्ति को और अधिक बढ़ा सकता है। अतः समुचित यह होगा कि राजपुत्र को अपने राज्य से बहुत दूर किसी सामन्त राज्य के दुर्ग में रखा जाए। पर आचार्य कौणपदन्त को इस व्यवस्था में यह आशंका थी, कि कहीं राजपुत्र को अपने पास पाकर सामन्त राजा को उस ढंग से न दुहने लगे, जैसे ग्वाला बछड़े को आगे करके गाय को दुहता है। अतः अधिक अच्छा यह होगा, कि राजपुत्र को उसकी माता के बन्धुओं के पास रखा जाए। पर आचार्य वातव्याधि इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि राजपुत्र की माता के बन्धुबान्धव भी राजा से निरन्तर कोई न कोई याचना करते रहेंगे, अतः उचित यह है कि राजपुत्र को भोग-विलास में फंसा दिया जाए। भोग में फंस कर राजपुत्र पिता के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकेगा। पर आचार्य चाणक्य को यह नीति स्वीकार्य नहीं थी। उनका कहना था, कि इससे तो राजपुत्र जीवनकाल में ही मृत के समान हो जायगा। जैसे घुन काष्ठ को खा जाते हैं, वैसे ही अनियमित व अविनीत जीवन बिताने से राजकुल का विनाश हो जायगा। अतः उचित यह होगा कि गर्भाधान के समय से ही राजपुत्र में ऐसे संस्कार डाले जाएँ, जिनसे वह एक सच्चरित्र मनुष्य बन सके और उसकी शिक्षा पर समुचित ध्यान दिया जाए। राजपुत्र को भोग-विलास में फंसा देना महादोष की बात है। जिस प्रकार कच्ची मिट्टी को जिस आकार में चाहें ढाल सकते हैं, वैसे ही कच्ची बुद्धि वाले राजपुत्र को जैसा चाहें बनाया जा सकता है। अतः उसे धर्म अधर्म और अर्थ अनर्थ का विवेक कराके सन्मार्ग पर प्रवृत्त करना ही उचित है।[2]

---

१. 'रक्षितो राजा राज्यं रक्षत्यासन्नेभ्यः परेभ्यश्च। पूर्वं दारेभ्यः राजपुत्रेभ्यश्च।' कौ. अर्थ. १।११

२. कौ. अर्थ. १।११

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है, कि राजप्रासाद में राजा के विरुद्ध षड्यन्त्रों की सदा सम्भावना बनी रहती थी, और रानियों व राजपुत्रों से राजा को सदा आशंका बनी रहती थी। इन षड्यन्त्रों का प्रतिरोध करने के लिये चाणक्य ने गुप्तचरों की भी व्यवस्था की है। सूद (पाचक), अरालिक (रसोइये), स्नापक (स्नान कराने वाले), अस्तरक (शय्या बनाने वाले), कल्पक (नाई), प्रसाधक (शृंगार करने वाले), उदक-परिचारक (पानी लाने वाले) आदि के रूप में ये गुप्तचर राजप्रासाद में सर्वत्र नियुक्त किये जाते थे,[१] और रानियों तथा राजपुत्रों की गतिविधि पर दृष्टि रखते थे। राजप्रासाद में यह सब व्यवस्था दौवारिक के ही अधीन होती थी।

निस्सन्देह, दौवारिक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अमात्य होता था। दौवारिक की स्थिति पर महाकवि बाणभट्ट के 'हर्षचरितम्' द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। वहाँ एक दौवारिक का वर्णन किया गया है, जिस के लिये महाप्रतीहारों में सबसे प्रधान (महाप्रतीहाराणा-मनन्तरः), जिस पर आँख न ठहरे (चक्षुष्यः), निष्ठुरता के काम में नियुक्त होने पर भी इस प्रतिष्ठित पद पर प्रश्रय के समान नम्र (नैष्ठुर्याधिष्ठानेऽपि प्रतिष्ठिते पदे प्रश्रयमिवावन-म्रेण) और कर्मचारियों से सूचित किया जाता हुआ (द्वारपाललोकेन प्रत्यभिज्ञायमानः) आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।[२] यद्यपि वर्तमान समय में द्वारपाल या दौवारिक शब्द अधिक सम्मानास्पद अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, पर प्राचीन काल में वह एक अत्यन्त उच्च स्थिति के अमात्य को सूचित करता था।

(१७) **आन्तर्वंशिक**—राजा की निजी अंगरक्षक सेना के प्रधान अधिकारी को आन्तर्वंशिक कहते थे। राजा की रक्षा के लिये एक पृथक् अंगरक्षक सेना संगठित थी, जिसके सैनिक अन्तःपुर की विविध कक्ष्याओं के बीच के स्थानों पर सर्वत्र नियुक्त रहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजा के अन्तःपुर का विशद रूप से वर्णन किया गया है। उसका निर्माण राजप्रासाद के एक प्रशस्त प्रदेश में किया जाता था। उसे भी प्राकार और परिखा से घिरा हुआ बनाया जाता था, और उसमें प्रवेश के लिये एक ही द्वार रहता था, यद्यपि राजा, रानी आदि के निवास के लिये उसमें बहुत-सी कक्ष्याओं का निर्माण किया जाता जाता था।[३] कौटल्य ने लिखा है कि अन्तःपुर को उसी प्रकार सुरक्षित बनाया जाए, जैसे कि कोशगृह होता है। आन्तर्वंशिक सेना के सैनिक सदा राजा के साथ-साथ रहते थे। वह उसी समय अकेला होता था, जब रानी से मिल रहा हो। पर तब भी यह भली भाँति देख

---

१. **कौ. अर्थ. १।८**

२. **हर्षचरितम्, द्वितीयोच्छ्वासः।**

३. **'कक्ष्यान्तरेष्वन्तर्वंशिक सैन्यं तिष्ठेत्।' कौ. अर्थ १।१७**

४. **'वास्तुकप्रशस्ते देशे सप्राकारपरिखाद्वारमनेककक्ष्यापरिगतमन्तःपुरं कारयेत्।' कौ. अर्थ. १।१७**

लिया जाता था, कि शयनागार में कोई अन्य व्यक्ति छिपा हुआ तो नहीं है। आन्तर्वंशिक द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ तब न केवल शयनागार या वासगृह की भली भाँति तलाशी ले लेती थीं, अपितु रानी के वस्त्र, वेणी आदि की भी परीक्षा ले लेती थीं।[1] यह सब प्रबन्ध अन्तर्वंशिक के ही हाथों में था। आन्तर्वंशिक सेना में केवल ऐसे ही सैनिक भरती किये जाते थे, जो पूर्णतया विश्वासपात्र हों। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि "जो पिता-पितामह के समय से चले आ रहे हों, जिनके सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध हों, जो सुशिक्षित हों, जो राजा के प्रति अनुरक्त हों, और जिन्होंने पहले से काम किया हुआ हो, उन्हीं को अंगरक्षक सेना में नियुक्त किया जाए। ऐसे लोगों को आन्तर्वंशिक सेना में कदापि न लिया जाए, जो विदेशी हों, और जिन्होंने पूर्वसेवा काल में उत्तम सेवा द्वारा सम्मान न प्राप्त किया हो। अपने देश के भी ऐसे व्यक्तियों को आन्तर्वंशिक सेना में न लिया जाए, जो असत्य कार्यों को करने में व्यापृत हों।"[2]

राजा के निजी प्रयोग के लिये जो भी पदार्थ भेजे जाते थे, वे पहले आन्तर्वंशिक के हाथ से गुजरते थे। वह उनकी शुद्धता की परीक्षा करता था, और उनपर मुहर लगाकर यह प्रमाणित करता था कि वे सर्वथा शुद्ध व निर्दोष होने के कारण राजा के उपयोग के योग्य हैं।[3]

(१८) **आटविक**––मौर्य साम्राज्य की सेना में 'आटविक बल' का भी बहुत महत्त्व था। मगध के सम्राटों ने अपने साम्राज्यके विकास के लिये अटवि-सेना का भी आश्रय लिया था। इसी सेना के प्रधान को 'आटविक' कहा जाता था, और उसे भी अष्टादश तीर्थों में स्थान प्राप्त था। सैनिक संगठन का विवेचन करते हुए 'आटविक' के कार्यों पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा।

मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय शासन के यही अष्टादश तीर्थ (अधिकरण) थे, जिन द्वारा मौर्यों के सुविस्तृत 'विजित' का शासन चलाया जाता था। इनमें मन्त्री और पुरोहित प्राचीन परम्परा की 'ब्रह्म' शक्ति को सूचित करते थे। भारत के आर्य राज्यों की पुरानी परम्परा के अनुसार ब्रह्म और क्षत्र के सहयोग से ही राज्यसंस्था का सुचारुरूप से सञ्चालन सम्भव था। मन्त्री और पुरोहित राजा को धर्म, चरित्र और व्यवहार के पालन और शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों का अनुसरण करने के लिये प्रेरित करते रहते थे। राजा से यह आशा की जाती थी, कि पुत्र, शिष्य या भृत्य के समान इनका अनुवर्ती बन कर रहे। समाहर्ता और सन्निधाता राज्य के प्रमुख शासनाधिकारी थे। राजकीय आय की प्राप्ति, उसका व्यय, राजकोश की रक्षा और वृद्धि जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य इन्हीं के

---

१. 'अन्तर्गृहगतस्स्थविरस्त्री परिशुद्धां देवीं पश्येत्।' कौ. अर्थ. १।१७
२. 'पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबन्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्माणं जनमासन्नं कुर्वीत। नान्यतो देशीय मकृतार्थमानं स्वदेशीयं वाऽप्यकृत्योपगृहीतं अन्तर्वंशिक सैन्यं राजानमन्तःपुरं च रक्षेत्।' कौ. अर्थ. १।१८
३. कौ. अर्थ. १।१७

सुपुर्द थे। प्रदेष्टा और धर्मस्थ (व्यावहारिक) राज्य के न्याय विभाग के प्रधान अधिकारी थे। सेनापति, नायक, अन्तपाल, दुर्गपाल, आन्तर्वंशिक और आटविक का सम्बन्ध सेना के विविध विभागों के साथ था। नागरक राजधानी का प्रमुख अधिकारी था, और प्रशास्ता द्वारा केन्द्रीय शासन के सचिवालय का सञ्चालन किया जाता था। राज्य द्वारा सञ्चालित कर्मान्त (कारखाने) कार्मान्तिक के अधीन थे। मन्त्रिपरिषदध्यक्ष मन्त्रिपरिषद् का सभापति होता था, और युवराज को भी शासन में पृथक् स्थिति प्राप्त थी। इन अष्टादश महामात्यों के अधीन अन्य बहुत-से अधिकरण थे, जिनके लिये पृथक्-पृथक् अध्यक्षों की नियुक्ति की जाती थी।

(५) केन्द्रीय शासन के कतिपय प्रमुख विभाग

राजकीय करों को एकत्र करने का कार्य समाहर्त्ता के सुपुर्द था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उसके अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र किया करते थे, और ऐसे व्यापार, व्यवसाय व उद्योगों का भी सञ्चालन करते थे जो राज्य के स्वामित्त्व में किये जाते हों। ऐसे कतिपय अध्यक्ष निम्नलिखित थे—

(१) **शुल्काध्यक्ष**—व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले अनेकविध करों को एकत्र करना शुल्काध्यक्ष का कार्य था। जब कोई व्यापारी अपना पण्य लेकर नगर में विक्रय के लिये आता था, तो उसके माल पर शुल्क लिया जाता था। इसे वसूल करना शुल्काध्यक्ष का कार्य था। शुल्क केवल विक्रेय माल पर ही नहीं लिया जाता था, अपितु जिन पशुओं या गाड़ियों पर ढोकर माल लाया जाए, उनपर भी शुल्क देना होता था। क्रेताओं की प्रतिस्पर्धा के कारण यदि मूल्य बहुत बढ़ जाए, तो बढ़ा हुआ मूल्य राजकीय कोश को प्रदान करना होता था। शुल्क न देने या कम देने का प्रयत्न करने पर व्यापारी को दण्ड रूप से भी धनराशि देनी पड़ती थी। विदेशों से आये हुए सार्थ (काफिले) विक्रय के लिये जो माल लाते थे, शुल्काध्यक्ष उनपर भी अनेक कर वसूल करता था।[१]

(२) **पौतवाध्यक्ष**—तोल और माप के विविध मानों का नियन्त्रण राज्य की ओर से किया जाता था। व्यापारी लोग तोल और माप के केवल ऐसे ही मान प्रयुक्त कर सकते थे, जो राज्य द्वारा स्वीकृत हों। इसीलिये राज्य की ओर से ऐसे कर्मान्त (कारखाने) स्थापित थे, जिनमें इन मानों (बाट आदि) को तैयार किया जाता था। इनका सञ्चालन पौतवाध्यक्ष के अधीन था।[२]

(३) **मानाध्यक्ष**—दूरी (देश) और काल को मापने के विविध साधनों का नियन्त्रण भी राज्य के अधीन था। यह विभाग मानाध्यक्ष के सुपुर्द था।[३]

---

१. कौः अर्थः २।२१ और २।२२

२. कौ. अर्थ. २।१९

३. कौ. अर्थ. २।२०

(४) **सूत्राध्यक्ष**––राज्य की ओर से जो अनेक व्यवसाय चलाये जाते थे, उनमें सूत कातने और वुनने का व्यवसाय भी था। विधवा, विकलाङ्ग, अनाथ, कन्या, भिखारी, राज्य के कैदी, वेश्याओं की वृद्ध माताएँ, वृद्ध राजदासी, देवदासी आदि के पालन-पोषण के लिये राज्य की ओर से उन्हें काम दिये जाते थे, जिनमें सूत कातना, कपड़ा वुनना, कवच वनाना और रस्सी वटना मुख्य थे। ये सव कार्य सूत्राध्यक्ष द्वारा ही कराये जाते थे। इनके अतिरिक्त ऐसे कर्मान्त भी स्थापित थे, जिनमें सूत कातने, वस्त्र वुनने आदि के कार्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा कराये जाते थे, जो इनमें निपुण हों। इनके कर्मकरों (मजदूरों या शिल्पियों) को या तो निर्धारित वेतन दिया जाता था, और या कार्य के अनुसार उनको मजदूरी प्रदान की जाती थी।[१]

(५) **सीताध्यक्ष**––कृषि-विभाग के प्रधान कर्मचारी को 'सीताध्यक्ष' कहते थे। वह न केवल देश में कृषि की उन्नति पर ही ध्यान देता था, अपितु राजकीय भूमि पर खेती भी करवाता था। सीताध्यक्ष के लिये यह आवश्यक था कि वह कृषि-विद्या में प्रवीण हो, और साथ ही वनस्पति के आयुर्वेद का भी ज्ञाता हो। यदि सीताध्यक्ष में स्वयं ये गुण न हों, तो उसके साथ एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होना चाहिये, जो इन विद्याओं में निपुण हो।[२]

(६) **सुराध्यक्ष**––शराव का निर्माण, प्रयोग और व्यापार राज्य द्वारा नियन्त्रित था। सुराध्यक्ष का कार्य शराव वनवाना, उसकी विक्री का प्रवन्ध करना और उसके प्रयोग को नियन्त्रित करना था।[३]

(७) **सूनाध्यक्ष**––सूनाओं (वूचड़खानों) का नियन्त्रण करना सूनाध्यक्ष का कार्य था। वूचड़खानों के सम्वन्ध में अनेक प्रकार के नियम थे। कतिपय पशुओं और पक्षियों की हत्या निषिद्ध थी। अनेक ऐसे जङ्गल भी थे, जिनमें पशु-पक्षियों के शिकार का निषेध था। सूनाध्यक्ष न केवल राज्य के वूचड़खानों का नियन्त्रण करता था, अपितु राजकीय सूना का प्रवन्ध भी उसी के हाथों में था।[४]

(८) **गणिकाध्यक्ष**––मौर्य युग में राजनीतिक दृष्टि से भी वेश्याओं का उपयोग किया जाता था। जनपद-संघों, सामन्तों आदि को वश में रखने के लिये गणिकाएँ प्रयुक्त की जाती थीं। अमात्यों, राजपुरुषों तथा जनता के चरित्र, शील आदि का पता करने के लिये वे गुप्तचरों का भी कार्य करती थीं। अतः वहुत-सी वेश्याओं को राजकीय सेवा में भी रखा जाता था। वहुत-सी गणिकाएँ राजा के स्नान, मर्दन, छत्रवारण, शिविका, पीठिका, रथ आदि पर साथ चलने और इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिये भी रहती थीं। यह सव

---

१. कौ. अर्थ. २।२३
२. कौ. अर्थ. २।२४
३. कौ. अर्थ. २।२५
४. कौ. अर्थ. २।२६

विभाग गणिकाध्यक्ष के हाथों में था। स्वतन्त्र रूप से कार्य करनेवाली वेश्याओं का नियन्त्रण व प्रबन्ध भी इसी विभाग के अधीन था। वेश्याओं के अतिरिक्त नट, नर्तक, गायक, वादक, भाँड, भाट, रस्सी पर नाचने वाले, प्रेक्षा (तमाशा) दिखानेवाले, चारण आदि भी गणिकाध्यक्ष के विभाग के ही अधीन थे। इन सब पर भी राज्य का नियन्त्रण था।[१]

(९) **मुद्राध्यक्ष**—देश से बाहर जाने और विदेश से स्वदेश में आने के लिये राजकीय मुद्रा प्राप्त करना आवश्यक था। यह मुद्रा प्रदान करना मुद्राध्यक्ष के हाथों में था।[२]

(१०) **विवीताध्यक्ष**—गोचर भूमियों (चरागाहों) का प्रबन्ध इस विभाग का कार्य था। चोर तथा हिंसक जन्तु चरागाहों को नुकसान न पहुँचाएँ, इसकी व्यवस्था करना; जहाँ पशुओं के पीने के लिये पानी न हो, वहां उसका प्रबन्ध करना और तालाब तथा कुएँ बनवाना इसी विभाग के कार्य थे। जंगलों की सड़कों को ठीक हालत में रखना, व्यापारियों के सार्थों (काफिलों) के माल की रक्षा करना, डाकुओं से काफिलों को बचाना तथा जंगलों व चरागाहों से होकर आगे बढ़नेवाले शत्रुओं के विषय में सूचना देना—ये सब कार्य भी विवीताध्यक्ष के सुपुर्द थे।[३]

(११) **नावध्यक्ष**—जलमार्गों की व्यवस्था नावध्यक्ष के अधीन थी। छोटी-बड़ी नदियों, समुद्र-तटों तथा महासमुद्रों को पार करनेवाली नौकाओं और जहाजों का प्रबन्ध व नियन्त्रण भी नावध्यक्ष के विभाग का ही कार्य था। जलमार्ग से यात्रा करने पर क्या कर लगे, यह नावध्यक्ष ही तय करता था।[४]

(१२) **गोऽध्यक्ष**—राजकीय आय और सैनिक उपयोग की दृष्टि से गौओं तथा अन्य पशुओं की उन्नति पर मौर्य युग में विशेष ध्यान दिया जाता था। राज्य की ओर से गौशालाओं और अन्य पशुशालाओं की भी स्थापना की जाती थी। यह सब प्रबन्ध गोऽध्यक्ष के अधीन था।[५]

(१३) **अश्वाध्यक्ष**—मौर्य युग में सेना के लिये घोड़ों का बहुत महत्त्व था। इसी कारण उनके पालन, संवर्धन और उनकी नस्ल की उन्नति पर राज्य द्वारा बहुत ध्यान दिया जाता था। युद्ध के लिये घोड़ों को तैयार करने के लिये उनसे अनेक प्रकार की कवायद भी करायी जाती थी। ये कार्य अश्वाध्यक्ष के अधीन थे।[६]

(१४) **हस्त्यध्यक्ष**—मागध साम्राज्य की सेना में हस्ति-बल प्रधान था। मगध

---

१. कौ. अर्थ. २।२७
२. कौ. अर्थ. २।३४
३. कौ. अर्थ. २।३४
४. कौ. अर्थ. २।२८
५. कौ. अर्थ. २।२९
६. कौ. अर्थ. २।३०

जो अन्य जनपदों को जीत कर अपने अधीन करने में समर्थ हुआ था, उसका वहुत कुछ श्रेय हस्तिसेना को ही था। अतः हाथियों को जंगलों से पकड़वाने, हस्ति-वनों की रक्षा करने, हाथियों को पालने और उन्हें युद्ध के लिये प्रशिक्षित करने के कार्य इस युग में बड़े महत्त्व के थे। ये सब कार्य हस्त्यध्यक्ष के हाथों में थे।[१]

कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसे निर्देश मिलते हैं, कि ऊँटों, खच्चरों, भैंसों और वकरियों आदि के पालन व संवर्धन के लिये भी पृथक्-पृथक् विभाग थे, जो विभिन्न अध्यक्षों के सुपुर्द थे।[२]

(१५) **कुप्याध्यक्ष**—कुप्य पदार्थों का अभिप्राय शाक, महुआ, तिल, शीशम, साल, खैर, शिरीष, देवदार, कत्था, राल, ओषधि आदि से है। जंगलों से प्राप्त होनेवाले द्रव्यों को कौटलीय अर्थशास्त्र में 'कुप्य' कहा गया है। इनके अनेक वर्ग थे, दारु, वेणु (बाँस), वल्ली (लताएँ), वल्क, रज्जु वनाने की भावड़ आदि वस्तुएँ, पत्र, पुष्प, औषधि, विष, मृग, पशु, पक्षि, व्याल, काष्ठ, तृण, धातु आदि। कुप्याध्यक्ष का यह कार्य था कि जंगलों में उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थों को एकत्र कराके उन्हें कर्मान्तों (कारखानों) में भिजवा दे, ताकि वहाँ कच्चे माल को तैयार माल के रूप में परिवर्तित किया जा सके।[३]

कुप्याध्यक्ष के अधीन द्रव्यपाल, वनपाल आदि अनेक अन्य राजकर्मचारी भी होते थे, जो कुप्य द्रव्यों को एकत्र कराने और जंगलों की रक्षा का कार्य करते थे।

(१६) **पण्याध्यक्ष**—यह अमात्य न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार का नियन्त्रण करता था, अपितु राजकीय कर्मान्तों द्वारा तैयार माल की बिक्री की भी व्यवस्था करता था। विक्रय के लिये प्रस्तुत द्रव्यों की उपयोगिता, अनुपयोगिता, मूल्यों का उतार-चढ़ाव, माँग और उपलब्धि आदि का ज्ञान प्राप्त कर वह व्यापार को नियन्त्रित करता था। अपने राज्य के माल को विदेशों में बिकवाने और विदेशी माल के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने की उत्तरदायिता भी उसी की थी।[४]

(१७) **लक्षणाध्यक्ष**—मुद्रापद्धति का सञ्चालन लक्षणाध्यक्ष के अधीन था। मौर्य युग का प्रधान सिक्का 'पण' कहाता था, जो चाँदी का बना होता था। पण के अतिरिक्त अर्धपण, पादपण, अष्टभागपण, माशक आदि अन्य भी अनेक सिक्के थे, जिनका निर्माण लक्षणाध्यक्ष के अधिकरण के सुपुर्द था।[५]

(१८) **आकराध्यक्ष**—मौर्य युग में आकरों (खानों) से धातुओं और अन्य बहुमूल्य

---

१. कौ. अर्थ. २।३१
२. 'तेन गोमण्डलं खरोष्ट्रमहिषमजाविकं च व्याख्यातम्।' कौ. अर्थ. २।३०
३. कौ. अर्थ. २।१७
४. कौ. अर्थ. २।१६
५. कौ. अर्थ. २।१२

पदार्थों को निकालने का शिल्प अच्छी उन्नत दशा में था। आकराध्यक्ष इसी का प्रधान अधिकारी था। उसके अधीन लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, खन्यध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष, भारिक, आकरिक आदि वहुत-से राजपुरुष नियुक्त रहते थे, जो खानों से द्रव्य निकलवाने और उनके शोधन, प्रयोग आदि के प्रयोजन से स्थापित कर्मान्तों को संभालते थे।[१]

(१९) **सौवर्णिक**--टकसाल के अध्यक्ष को सौवर्णिक कहते थे। जनता अपनी चांदी और सोने को टकसाल ले जाकर सिक्कों के रूप में परिवर्तित करा सकती थी। टकसाल की सम्पूर्ण व्यवस्था सौवर्णिक के अधीन थी। यह अमात्य सम्भवतः लक्षणाध्यक्ष के अधीन रहकर कार्य करता था।[२]

(२०) **देवताध्यक्ष**--देवी देवताओं के मन्दिरों की व्यवस्था देवताध्यक्ष द्वारा की जाती थी।[३]

कौटलीय अर्थशास्त्र में इन अध्यक्षों का उल्लेख किया गया है, जो समाहर्ता के अधिकरण (तीर्थ) के अधीन विविध राजकीय कार्यों का सम्पादन करते थे। मौर्य युग की शासनपद्धति का स्वरूप इन विभिन्न अध्यक्षों द्वारा पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है।

समाहर्ता के समान सन्निधाता के अधिकरण (तीर्थ) के अधीन भी अनेक राजकीय विभागों की सत्ता थी, जिनमें से कतिपय उल्लेखनीय हैं--

(१) **कोशगृह**--राजकीय कोश के अध्यक्ष को कोशाध्यक्ष कहते थे। वह कोशगृह में सब प्रकार के रत्नों, मणिमाणिक्य और अन्य वहुमूल्य पदार्थों का संग्रह कर उन्हें सुरक्षित रूप से रखता था। कीमती वस्तुओं को राजकीय कोश में एकत्र करना ही इस अध्यक्ष का प्रमुख कार्य था।[४]

(२) **पण्यगृह**--जैसे कोशगृह में रत्न, मणिमाणिक्य आदि वहुमूल्य पदार्थ एकत्र किये जाते थे, वैसे ही पण्यगृह में राजकीय कर्मान्तों में तैयार किया गया माल विक्रय के लिये सञ्चित किया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है कि पण्यगृह की दीवारें तथा खम्बे पक्की ईंटों के वनाये जाएँ। उसमें केवल एक द्वार हो, पर वहुत-से कमरे और स्तम्भ हों।[५] पण्यगृह में राजकीय पण्य को एकत्र करना सन्निधाता के अधिकरण में था, और उसकी विक्री की व्यवस्था समाहर्ता के विभाग के अधीन पण्याध्यक्ष द्वारा की जाती थी।

(३) **कोष्ठागार**--राजकीय खर्च के लिये जिन पदार्थों की आवश्यकता होती थी,

---

१. कौ. अर्थ. २।१८
२. कौ. अर्थ. २।१४
३. कौ. अर्थ. २।६
४. कौ. अर्थ. २।५
५. 'पक्वेष्टकास्तम्भं चतुश्शालमेकद्वारमनेकस्थानतलं विवृतस्तम्भापसारमुभयतः पण्यगृहम्।' कौ. अर्थ. २।५

उन्हें कोष्ठगाराध्यक्ष कोष्ठागार में एकत्र करता था। ये पदार्थ कृषिजन्य अन्न, मधु, लवण आदि अनेक प्रकार के होते थे। इनका उपयोग न केवल राज्य की सेवा में नियुक्त सैनिकों और राजपुरुषों आदि के लिये किया जाता था, अपितु दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय सर्वसाधारण जनता के निर्वाह के लिये भी ये पदार्थ कोष्ठागार से प्रदान किये जाते थे।[1]

(४) **कुप्यगृह**—इसमें कुप्य पदार्थ सञ्चित किये जाते थे, जिनकी विक्री की व्यवस्था समाहर्ता के अधीन कुप्याध्यक्ष करता था।[2]

(५) **आयुधागार**—आयुधागाराध्यक्ष न केवल विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह ही करता था, अपितु उन्हें तैयार भी कराता था। कौटल्य ने लिखा है, कि वारम्वार आयुधों के स्थानों का परिवर्तन किया जाए, और यह व्यवस्था की जाए कि उन्हें धूप और वायु लगती रहे। जो हथियार नमी, गरमी, सरदी, वायु, कीड़े आदि से खराव हो जानेवाले हों, उन्हें पृथक् रखा जाए। जाति, रूप, लक्षण, प्रमाण (आकृति), आगम (प्राप्ति), मूल्य तथा गुण के अनुसार हथियारों का वर्गीकरण किया जाए।[3] आयुधागाराध्यक्ष का यह भी कार्य था, कि वह युद्ध के उपयोग में आनेवाले अस्त्र-शस्त्र आदि की माँग (इच्छा), उत्पादन (आरम्भ), पूर्ति (निष्पत्ति), प्रयोग, उत्पादन-व्यय, क्षय तथा खर्च का ज्ञान प्राप्त करे।[4] निःसन्देह, आयुधागाराध्यक्ष या आयुधेश्वर राज्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी था, जो सेना के लिये अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री की व्यवस्था करता था।

(६) **बन्धनागार**—जेल या वन्धनागार का विभाग भी सन्निधाता के अधिकरण (तीर्थ) के अन्तर्गत था, जिसके लिये एक पृथक् अध्यक्ष की नियुक्ति की जाती थी।[5]

मौर्यों के शासन में महामात्यों और अध्यक्षों के अधीन वहुत-से अन्य राजकर्मचारी भी कार्य करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रसंगवश इनका भी निर्देश किया गया है। इनके लिए युक्त, उपयुक्त और तत्पुरुष आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। युक्त ऐसे अधीनस्थ कर्मचारियों की संज्ञा थी, जो शासन के सभी अधिकरणों और अध्यक्षों के अधीन कार्य करने के लिए नियुक्त थे। उपयुक्त नामक कर्मचारी युक्तों की तुलना में हीन स्थिति रखते थे। मौर्य युग में भी ये कर्मचारी रिश्वत लेने व इसी प्रकार के

---

१. कौ. अर्थ. २।५

२. कौ. अर्थ. २।१७

३. 'स्थान परिवर्तनमातपप्रदानं च बहुशः कुर्यात्। ऊष्मोपस्नेहक्रिमिभिरुपहन्यमान-मन्यथा स्थापयेत्। जातिरूपलक्षणप्रमाणागममूल्यनिक्षेपैश्चोपलभेत।"
कौ. अर्थ. २।१८

४. "इच्छामारम्भनिष्पत्तिं प्रयोगं व्याजिमुद्यमम्।
क्षयव्ययौ च जानीयात् कुप्यानामायुधेश्वरः॥" कौ. अर्थ. २।१८

५. कौ. अर्थ २।५

अन्य अनुचित कार्यों से बाज़ नहीं आते थे। यद्यपि कौटल्य ने रिश्वत सदृश अपराध के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की है, पर उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा है कि जैसे यह पता कर सकना कठिन है कि जल में रहती हुई मछलियाँ कब जल पीती है वैसे ही यह ज्ञात हो सकना भी कठिन है कि राजकीय कार्य में नियुक्त 'युक्त' कब धन का अपहरण कर लेते हैं।[1]

(६) राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण और जनता का शासन

मौर्यों के शासन में राजा की स्थिति कूटस्थानीय थी, और राज्य-कार्य में उसे परामर्श देने व उसकी सहायता करने के लिये जिस मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी, वह राजा की अपनी ही कृति थी—यह हमने ऊपर प्रतिपादित किया है। इस अवस्था में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, कि क्या मौर्य राजा सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे? क्या इस युग के शासन में जनता का कोई भी हाथ नहीं था? यह सही है कि अपने व्यक्तिगत प्रताप और अपने प्रति अनुरक्त सेना की सहायता से जिन मौर्यों ने हिमालय से समुद पर्यन्त सहस्र-योजन विस्तीर्ण विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उन पर अंकुश रखने वाली कोई अन्य उच्चतर सत्ता नहीं थी, और ये राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इसके लिये प्रेरणा देने वाली सत्ता उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता, अपनी विद्याविनीतता और अपनी गुणसम्पन्नता के अतिरिक्त और कोई नहीं थी, पर यह स्वीकार करना होगा, कि मौर्य साम्राज्य के शासन में जनता का पर्याप्त हाथ था। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) मौर्यों ने भारत के जिन प्राचीन जनपदों को जीत कर अपने अधीन किया था, उनके धर्म, चरित्र और व्यवहार को उन्होंने अक्षुण्ण रखा था। मौर्यों ने यह यत्न नहीं किया, कि पुराने जनपदों में परम्परागत रूप से जो कानून व चरित्र-व्यवहार प्रचलित थे, उनको हटाकर राजशासन द्वारा नये धर्म, चरित्र और व्यवहार को लागू किया जाय। वे इस पुराने मन्तव्य का अनुसरण करते थे, कि विभिन्न जनपदों, जातियों, श्रेणियों और कुलों में जो 'धर्म' परम्परागत रूप से चले आ रहे हैं, उनको दृष्टि में रखते हुए ही 'स्वधर्म' का निर्धारण किया जाए।[2] चाणक्य ने स्वयं लिखा है कि देश (जनपद), जाति, संघ और ग्राम के जो धर्म हों, उन्हीं के अनुसार 'दायधर्म' का प्रयोग किया जाए।[3] यही कारण है कि

१. 'मत्स्याः यथान्तः सलिलं प्रविष्टाः ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः ।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं न शक्याः धनमाहरन्तः ॥" कौ. अर्थ. २।९

२. 'जाति जानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥' मनुस्मृति ८।४१

३. 'देशस्य जात्या संघस्य धर्मो ग्रामस्य वाऽपि यः ।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत् ॥' कौ. अर्थ. ३।७

मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत जो वहुत-से जनपद थे, उनकी अन्तःस्वतन्त्रता इस साम्राज्य-युग में भी कायम रही। वहुत-से पुराने जनपदों में पौर-जानपद संस्थाओं की भी सत्ता थी, जिन द्वारा सर्वसाधारण जनता भी जनपद के शासन में हाथ वटाती थी। कौटलीय अर्थ-शास्त्र में अनेक स्थलों पर 'पौर जानपद' का उल्लेख आया है। जनपदों के शासन पर हम अगले अध्याय में विशद रूप से विचार करेंगे। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि जनपदों की अन्तःस्वतन्त्रता के सुरक्षित रहने के कारण मौर्यों के साम्राज्य में भी जनता को अपना शासन स्वयं कर सकने का समुचित अवसर विद्यमान था।

(२) जनपदों के समान नगरों और ग्रामों में भी स्वशासन-संस्थाओं की सत्ता थी। इनके शासन पर भी हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

(३) व्यवसायियों और शिल्पियों के संगठन मौर्यकाल में विद्यमान थे, जिन्हें 'श्रेणि' (Guild) कहा जाता था। इसी प्रकार व्यापारी भी समूहों या समवायों में संगठित थे। व्यवसायियों, शिल्पियों और व्यापारियों के इन संगठनों के कारण इनमें सम्मिलित लोगों को यह अवसर था, कि वे अपने सम्वन्ध में स्वयं कानून व नियम बना सकें। राजकीय न्यायालयों में इनके कानून मान्य होते थे, और उन्हीं के अनुसार न्यायाधीश वादों का निर्णय किया करते थे।[१]

जनपदों, नगरों, ग्रामों, शिल्पि-श्रेणियों और व्यापारी-समवायों के विविध संगठन इस प्रकार की स्वशासन-संस्थाएँ थीं, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता को अपने कानून स्वयं वनाने, अपने व्यवहार को स्वयं निर्धारित करने और अपने साथ सम्वन्ध रखनेवाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करने का अवसर प्राप्त रहता था। मौर्यों का साम्राज्य इतना अधिक विशाल था, कि उसके शासन के लिये किसी प्रकार की लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि-संस्थाओं की सत्ता सम्भव ही नहीं थी। आवागमन के समुचित साधनों के अभाव में प्राचीन काल के विशाल साम्राज्यों में यदि जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर प्रदान भी किया जाता, तो इन निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिये साम्राज्य की राजधानी में एकत्र हो सकना सुगम नहीं था। यही कारण है, कि प्राचीन युग के बड़े राज्यों में प्रतिनिधि-संस्थाओं का विकास सम्भव नहीं हुआ। पर जनपद, नगर, ग्राम आदि में इन संस्थाओं की सत्ता थी, और इन द्वारा जनता अपना शासन स्वयं किया करती थी। मौर्य युग में भी जनता के शासन का यही रूप था।

जनपद, नगर आदि की स्वशासन संस्थाओं के कारण जहाँ राजा के राजशासन का क्षेत्र सीमित था, वहाँ साथ ही कतिपय अन्य भी ऐसे कारण थे जिनसे मौर्य युग का राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकता था। प्राचीन काल के भारतीय राज्यों में ब्रह्मशक्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। राजा को मर्यादा में रखने के लिये वानप्रस्थ, ब्राह्मण,

---

६. कौ. अर्थ. ८।४

आचार्य और संन्यासी सदा तत्पर रहते थे। इसीलिये चाणक्य ने लिखा है––"यदि दण्ड-शक्ति का ठीक ढंग से प्रयोग किया जाए, तो वह प्रजा का धर्म, अर्थ और काम से विनियोजन करता है। पर यदि काम, क्रोध या अज्ञान के कारण दण्डशक्तिका समुचित रीति से प्रयोग न किया जाए, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक तक भी कुपित हो जाते हैं, फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या है।[१]" एक अन्य स्थान पर कौटलीय अर्थशास्त्र में यह लिखा गया है, कि "आचार्य और अमात्य राजा को मर्यादा में स्थापित रखें। वे राजा को कुमार्गगामी होने से बचाएँ।[२]" कामन्दक नीतिसार में इसी बात को और अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहा गया है––"राजा के वे ही सुहृद् और गुरु होते हैं, जो उसे उलटे मार्ग पर जाने से रोकते रोकते हैं।[३]" निस्सन्देह, राजा को सदा इस बात का भय बना रहता था, कि जनता उसके विरुद्ध विद्रोह न कर दे। चाणक्य ने लिखा है––'जनता का कोप अन्य सब कोपों की तुलना में अधिक भयंकर होता है।[४]' यदि राजा धर्ममार्ग का अनुसरण करना छोड़कर कुमार्ग पर चलने लगे, निरंकुश होकर स्वेच्छाचारी रूप से शासन करने लगे, तो गृहस्थों की तो बात ही क्या, संन्यासी और वानप्रस्थ तक उसके विरुद्ध उठ खड़े होते थे, और राजा के लिये उनका मुकाबला करना कठिन हो जाता था। यद्यपि वानप्रस्थ और परिव्राजक नगरों से दूर अरण्यों में आश्रम बना कर निवास किया करते थे, पर राजा लोग उनका बहुत आदर करते थे। कृष्ण वृष्णि-संघ के मुख्य थे, वृष्णियों में परस्पर विरोध के कारण जब कृष्ण के सम्मुख कठिन समस्याएँ उपस्थित हुई, तो उन्होंने मुनि नारद से परामर्श किया और उनकी सम्मति के अनुसार अपनी कठिनाइयों को दूर किया।[५] मागध राजा अजात-शत्रु ने वज्जि-संघ पर आक्रमण करने से पूर्व अपने महामात्य वस्सकार को बुद्ध के पास परामर्श के लिये भेजा था।[६] आचार्य चाणक्य ने नन्दवंश का इसीलिये संहार किया था, क्योंकि नन्दराजा कुपथगामी हो गये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन से कुछ समय पूर्व जब यवनराज सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, तब उसकी अनेक वीतराग ब्राह्मण आचार्यों से भेंट हुई थी। ये ब्राह्मण सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभाड़ रहे थे। एक ऐसे ब्राह्मण से सिकन्दर ने प्रश्न किया––'तुम क्यों इस प्रकार मेरे विरुद्ध

---

१. 'सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्या-म ज्ञानाद्वा वानप्रस्थ परिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्।' कौ.अर्थ. १।२

२. 'मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान्वा। य एनमपायेभ्यो वारयेयुः।' कौ. अर्थ. १।३

३. 'नृपस्य तेहि सुहृदस्त एव गुरवो मताः।
य एनमुत्पथगतं वारयन्त्यनिवारिताः॥

४. 'प्रकृति कोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्।" चाणक्यसूत्राणि, सूत्र १३

५. महाभारत, शान्ति पर्व ८१।१–३१

६. बुद्धचर्या (महापरिनिब्वाण सुत्त) पृष्ठ ५२०–५२१

राजा को उभाड़ रहे हो ?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ कि यदि वह जिए, तो सम्मानपूर्वक जिए, अन्यथा सम्मानपूर्वक मर जाए।' एक अन्य संन्यासी ने सिकन्दर से कहा था—'तुम्हारा राज्य तो एक सूखी हुई खाल के समान है, जिसका कोई गुरुताकेन्द्र नहीं होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।' तक्षशिला के एक वृद्ध दण्डी (Dandamis) को यह भय दिखाकर सिकन्दर के समक्ष उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया, कि सिकन्दर तो संसार के स्वामी द्यौः (Zeus) का पुत्र है। यदि तुम उसके सम्मुख उपस्थित नहीं होंगे, तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दिया जायगा। यह सुनकर दण्डी ने उपेक्षापूर्वक हँसते हुए कहा—'मैं भी द्यौः का उसी प्रकार पुत्र हूँ, जैसे सिकन्दर है। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया संतुष्ट हूँ, जो माता के समान मेरा पालन करता है। उस दण्डी ने व्यङ्ग से यह भी कहा कि यदि सिकन्दर गंगा के पार के प्रदेश में जायगा, तो (नन्द की) सेना उसे यह विश्वास दिला देगी कि वह अभी सारी पृथिवी का स्वामी नहीं बन सका है।

ब्राह्मणों और आचार्यों का प्रभाव प्राचीन युग के भारतीय राजाओं को निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं होने देता था, यह बात असंदिग्ध है। इसीलिये प्राचीन भारत में यह विचार भी प्रचलित था, कि 'राजा तो ध्वजमात्र होता है।'[1] कौटल्य ने यह भी लिखा है, कि यदि राज्य की जनता सुयोग्य हो, तो राजा के अभाव में भी राज्य का काम चल सकता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मौर्य युग के राजा कूटस्थानीय होते हुए भी सर्वथा निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं थे। इसी कारण विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त मौर्य को 'स्वायत्त-सिद्धि' न कहकर 'सचिवायत्तसिद्धि' कहा है। वस्तुतः, इस युग के राजा आचार्य चाणक्य के इस मन्तव्य का पालन किया करते थे—'प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है। राजा का अपना प्रिय हित कुछ नहीं होता, प्रजा का प्रिय हित ही उसका प्रिय हित है।"[3]

(७) गुप्तचर विभाग

मौर्य साम्राज्य के शासन में गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों) का महत्त्वपूर्ण स्थान था। हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण मागध साम्राज्य के सुशासन के लिये यह आवश्यक था, कि उसके अमात्यों, मन्त्रियों, राजकर्मचारियों और पौर-जानपदों पर दृष्टि रखी जाए, उनकी गतिविधि और मनोभावों का परिज्ञान प्राप्त किया जाए, और पड़ौसी राज्यों के

१. 'ध्वजमात्रोऽयम्।' कौ. अर्थ. ५।६

२. 'प्रकृतिसम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते।' चाणक्य सूत्राणि, सूत्र १२

३. 'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥" कौ. अर्थ. १।१६

सम्बन्ध में भी सब जानकारी शासन को प्राप्त होती रहे। इसीलिये मौर्य युग में बहुत-से गुप्तचरों की नियुक्ति की व्यवस्था की जाती थी, जिनके मुख्य कार्य निम्नलिखित होते थे—

(१) **अमात्यों पर दृष्टि रखना**—केवल ऐसे व्यक्तियों को ही अमात्य-पद पर नियुक्त किया जाता था, विविध उपधाओं (परखों) द्वारा जिनके 'शौच' (शुचिता) और 'अशौच' (अशुचिता) का पता लगा लिया गया हो।[1] उपधाएँ चार प्रकार की होती थीं, धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा। जो व्यक्ति धर्मोपधाशुद्ध पाये जाएँ (परखों द्वारा जिनके विषय में यह जान लिया गया हो कि वे धार्मिक या साम्प्रदायिक भावना के वशीभूत होकर कर्तव्यविमुख नहीं होंगे), उन्हें धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालयों का न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था। कामोपधाशुद्ध (जो काम के वशीभूत न होने पाएँ) व्यक्तियों को राजप्रासाद और अन्तःपुर में कार्य दिया जाता था। अर्थोपधाशुद्ध (जो धन के लालच में न आएँ) व्यक्ति सन्निधाता और समाहर्त्ता बनाये जाते थे। भयोपधाशुद्ध (परखों द्वारा जिनके बारे में यह जान लिया जाए कि वे डर के कारण कोई अकरणीय कार्य नहीं करेंगे) व्यक्ति राजा के समीपवर्ती कार्यों के लिये नियुक्त किये जाते थे। जो सब परखों में खरे उतरें, उन्हें मन्त्री बनाया जाता था। जो किसी भी परख में खरे न उतरें, उन्हें खानों, कारखानों आदि में कार्य दिया जाता था।[2] अमात्यों की नियुक्ति करते हुए उनकी शुचिता की परख करना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिसे गूढ़पुरुष ही किया करते थे। जब मन्त्री, अमात्य आदि पदों पर नियुक्तियाँ कर ली जाती थीं, तब भी गूढ़ पुरुष उन पर दृष्टि रखते थे, और उनकी गतिविधि से राजा को सूचित करते रहते थे। यह आशंका सदा बनी रहती थी, कि कोई अमात्य क्रोध, लोभ, भय और मान के वशीभूत होकर शत्रु से न मिल जाए। कोई व्यक्ति किन कारणों से क्रोध आदि के वशीभूत हो जाता है, कौटलीय अर्थशास्त्र में इस विषय का विशद रूप से निरूपण किया गया है। कोई अमात्य इस कारण क्रुद्ध हो सकता है, कि राजकीय सेवा करते हुए उसकी समुचित रूप से पदोन्नति नहीं की गई, उसे पदच्युत कर दिया गया, या किसी अन्य को उसके स्थान पर उच्च पद पर अधिष्ठित कर दिया गया। कोई अमात्य इस कारण भय के वशीभूत हो सकता है, कि उसने अनुचित रूप से कोई धनराशि प्राप्त कर ली, या अपने राजकीय कर्तव्यों को करते हुए उससे कोई भयंकर भूल हो गई। कोई अमात्य लोभ का वशवर्ती इस कारण सुगमता से हो सकता है, क्योंकि उसे कोई व्यसन है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें अपनी मानमर्यादा का आवश्यकता से अधिक ध्यान रहता है, और इस कारण वे अपनी दशा से सदा असंतोष अनुभव करते हैं।

---

१. 'मन्त्रिपुरोहितसखस्सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वाऽमात्यानुपधाभिश्शोचयेत् ।' कौ० अर्थ० १।१०

२. कौ. अर्थ. १।१०

ऐसे अमात्य मान के वशीभूत होकर कर्तव्यपालन से च्युत हो जाते हैं।[1] गूढ़पुरुषों को सदा यह ध्यान रखना होता था, कि कोई अमात्य क्रोध, भय, लोभ या मान के कारण किसी शत्रुराज्य के काबू में तो नहीं आने लगा है। ज्योतिषी आदि के भेस बनाकर गुढ़ पुरुष अमात्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करते थे, और यह जानने का प्रयत्न करते थे कि उनके परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार के हैं, और शत्रु-राज्य के साथ उनके सम्बन्धों का क्या रूप है।[2] कोई व्यक्ति अमात्य-पद पर तभी नियुक्त किया जाता था, जब गुप्तचरों की सूचनाएँ उसके सम्बन्ध में अनुकूल हों, और अमात्य-पद पर नियुक्त हो जाने के पश्चात् भी उसे निरन्तर गुप्तचरों की तीक्ष्ण दृष्टि में रहना पड़ता था।

(२) राजकर्मचारियों की गतिविधि पर निगाह रखना—बड़े राजपदाधिकारियों (अमात्यों) के अतिरिक्त साधारण राजकर्मचारियों पर भी गुप्तचर दृष्टि रखते थे। इन राजकर्मचारियों से यह भय तो नहीं था, कि वे शत्रु-राज्य से मिलकर कोई विशेष क्षति पहुंचा सकेंगे। पर वे अपने राजकीय कर्तव्यों की उपेक्षा कर सकते थे, राजकीय धन का अपहरण कर सकते थे, रिश्वत ले सकते थे, और अन्य अनेक प्रकार से जालसाजी करके राज्य और जनता को नुकसान पहुँचा सकते थे। इन पर निगाह रखना शासन की सुव्यवस्था के लिये बहुत आवश्यक था। कौटल्य ने लिखा है कि राजकर्मचारियों का चित्त कभी स्थिर नहीं रहता। वे घोड़ों के समान होते हैं, जिनका मिजाज सदा बदलता रहता है। यह आवश्यक है कि उनके कार्यों की निरन्तर परीक्षा की जाती रहे।[3] यदि राजकर्मचारी परस्पर मिलकर 'संहत' हो जाएँ, तो वे मिलकर राजकीय आमदनी को खाने लग जाते हैं। इसके विपरीत यदि वे परस्पर विरोध भाव रखने लगें, तो काम विगाड़ देते हैं।[4] यदि राजकर्मचारी अधिक मात्रा में राजकीय कर वसूल करें, तो जनता को हानि पहुँचती है। यदि वे कर न्यून मात्रा में लें, तो राजा को हानि पहुंचती है।[5] राजकर्मचारी किस प्रकार से राजकीय धन का अपहरण करते हैं, यह पता कर सकना बहुत कठिन है। जैसे यह पता नहीं किया जा सकता कि जल में रहती हुई मछली कब जल पीती है, वैसे ही यह पता कर सकना भी सम्भव नहीं है, कि राजकर्मचारी कब धन का अपहरण कर रहे हैं। आकाश में बहुत उंचाई

---

१. कौ० अर्थ. १।१४

२. 'क्रुद्धलुब्धभीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः। तेषां कार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिकव्यञ्जनाः परस्पराभिसम्बन्धं अमित्रं प्रति सम्बन्धं वा विद्युः।' कौ. अर्थ. १।१३

३. 'कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेत् चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम्। अश्वसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते।' कौ. अर्थ. २।९

४. 'संहता भक्षयेयुः। विगृहीता विनाशयेयुः।' कौ. अर्थ. २।९

५. 'यस्समुदयं परिहापयति स राजार्थं भक्षयति...यस्समुदयं द्विगुणमुद्भावयति स जनपदं भक्षयति।' कौ. अर्थ. २।९

पर उड़ान करते हुए पक्षियों की जाति को जान सकना कदाचित् सम्भव भी हो, पर राजकर्मचारी प्रच्छन्न भाव से जो गतिविधि अपनाते हैं, उसे जान सकना कदापि सम्भव नहीं हैं।[१]

राजकर्मचारी अनेक प्रकार से राजकीय कोश को क्षति पहुँचाते हैं। उनका एक ढंग 'परिहापण' है, जिसमें आमदनी कम प्रदर्शित की जाती है, और व्यय की मात्रा बढ़ा दी जाती है। एक अन्य ढंग 'अपहार' है, जिसमें राजकीय आमदनी को हिसाब में प्रविष्ट ही नहीं किया जाता। राजकर्मचारी बढ़िया राजकीय माल को बदलकर उसके स्थान पर घटिया माल रख देते हैं, राजकीय आमदनी को अपने ऊपर खर्च कर लेते हैं, और अन्य अनेक प्रकार से राजकीय कोश को क्षति पहुँचा सकते हैं। कौटल्य ने ऐसे कुल ४० ढंग लिखे हैं, जिनसे राजकीय कर्मचारी राजकोश का अपहरण करते हैं।[२] अतः उनपर देखरेख रखना बहुत आवश्यक है, और यह कार्य गुप्तचर विभाग ही सम्पन्न करता है।

(३) पौर जानपदों की गतिविधि और मनोभावों का पता करना—गूढ़ पुरुषों का एक महत्त्व पूर्ण कार्य यह भी था कि वे पुरों (नगरों) और जनपदों में निवास करनेवाली जनता के विचारों और भावनाओं का पता करते रहें। जनता में किस बात से असंतोष है, लोग राजा और उसके कार्यों का पसन्द करते हैं या नहीं,देश के धनी मानी व्यक्तियों के क्या विचार हैं—इन सब बातों का परिज्ञान प्राप्त कर गूढ़ पुरुष सरकार को सूचित करते रहते थे। लोगों में जो अफवाहें फैल रही हों, उन्हें भी ये पता करते थे। वे तीर्थ-स्थान, सभा, शाला, पूग, जनसमवाय आदि में जाकर लोगों के साथ विचार विमर्श में सम्मिलित हो जाते थे, और इस प्रकार जनता के मनोभावों का पता किया करते थे।[३]

(४) विदेशी राज्यों के भेदों का पता करना—गुप्तचरों को केवल अपने राज्य में ही नियुक्त नहीं किया जाता था, अपितु अन्य राज्यों में भी उनकी नियुक्ति की जाती थी।[४] 'मित्र, शत्रु, उदासीन आदि सब प्रकार के विदेशी राज्यों में इस प्रयोजन से गुप्तचरों को भेजा जाता था, कि वे इन विदेशों की राजकीय नीति, सैनिक शक्ति आदि के विषय में जानकारी प्राप्त करते रहें। जिस राज्य को जीत कर अपने अधीन करना होता था, वहाँ गुप्तचरों का का एक जाल-सा बिछा दिया जाता था। वहाँ जाकर गुप्तचर लोग केवल गुप्त भेदों का ही

---

१. 'मत्स्याः यथान्तः सलिलं प्रविष्टा ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः ।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता ज्ञातुं न शक्याः धनमाहरन्तः ॥
अपि शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पतत्रिणाम् ।
न तु प्रच्छन्न भावानां युक्तानां चरतां गतिः ॥ कौ. अर्थ. २।९

२. 'तेषां हरणोपायाश्चत्वारिंशत् ।' कौ. अर्थ. २।८।

३. 'गूढ़पुरुषप्रणिधिः कृतमहात्यापसर्पः पौरजानपदानपसर्पयेत् । सत्रिणो द्वन्द्विनस्तीर्थसभाशालापूगजनसमवायेषु विवादं कुर्युः ।' कौ. अर्थ. १।१३

४. कौ. अर्थ. १।१४

पता नहीं करते थे, अपितु वहाँ के राजकुल के प्रमुख व्यक्तियों, कुलों, अमात्यों और मन्त्रियों में फूट डालकर या उन्हें लालच देकर अपने राजा के पक्ष में करने का प्रयत्न भी किया करते थे। अवसर आने पर शत्रु राज्य के प्रमुख व्यक्तियों का घात करने में भी वे संकोच नहीं करते थे।

गूढ़ पुरुष (गुप्तचर) अनेक प्रकार के भेस वनाकर अपने कार्यों का सम्पादन करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में उनके अनेक भेद प्रतिपादित किये गये हैं[१]—(१) कापटिक छात्र-दूसरों के मर्म को जानने में प्रवीण बुद्धिमान् गुप्तचर छात्र का भेस बनाकर रहते थे। मौर्य युग में शिल्पी और व्यवसायी भी अपने-अपने संगठनों में संगठित थे, जिन्हें 'श्रेणी' (गिल्ड) कहते थे। इन श्रेणियों में एक आचार्य के अधीन बहुत-से अन्तेवासी (शागिर्द या छात्र) कार्य करते थे। गुप्तचर लोग अन्तेवासियों (छात्रों) का भेस वनाकर इन श्रेणियों में प्रवेश पा लेते थे, और वहाँ के सब भेद पता करते रहते थे। (२) उदास्थित-परिव्राजक या सन्यासी के भेस में काम करनेवाले गुप्तचर 'उदास्थित' कहाते थे। ये वहुत बड़ी शिष्यमण्डली के साथ और बड़े ठाठ-बाठ में रहते थे। स्वाभाविक रूप से जनता इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी और इनके निकट सम्पर्क में आती थी, जिससे इन्हें लोगों के मनोभावों का परिज्ञान प्राप्त करने का उत्तम अवसर मिल जाता था। (३) गृहपतिक—इस वर्ग के गुप्तचर कृषकों के भेस में रहते थे। राज्य की ओर से इन्हें खेती के लिये भूमि प्रदान कर दी जाती थी, और ये कृषकों के रूप में रहते हुए जनता के भेदों का पता करते रहते थे। (४) वैदेहक-व्यापारी या सौदागर के भेस में काम करनेवाले गुप्तचरों का एक पृथक् वर्ग था, जिसे 'वैदेहक व्यञ्जन' कहते थे। (५) तापस—वहुत-से गुप्तचर मुण्ड (सिर मुंडाये हुए) या जटिल (जटाजूट से युक्त) तापसों का भेस वनाकर रहते थे। इनके साथ भी शिष्यों की एक बहुत बड़ी मण्डली रहा करती थी, जो सब मुण्ड या जटिल तापसों के रूप में ही रहते थे। ये नगर के समीप डेरा डाल कर पड़ जाते थे, और यह प्रदर्शित करते थे कि हम मास या दो मास के पश्चात् मुट्ठी भर अनाज या साक खाकर अपना निर्वाह करते हैं। सबके सामने ये एक या दो मास के पश्चात् ही भोजन ग्रहण करते थे, यद्यपि गुप्त रूप से यथेष्ट भोजन करते रहते थे।[२] नगर के निवासी इनके प्रति श्रद्धा रखने लगते थे, और इस प्रकार ये उनके भेद पता किया करते थे।

कापटिक छात्र, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक और तापस के रूप में कार्य करने वाले गुप्तचर 'संस्थाओं' में संगठित होकर कार्य करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन्हें 'पञ्च-

---

१. कौ अर्थ १।११

२. 'मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापस व्यञ्जनः। स नगराभ्याशे प्रभूतमुण्डजटिलान्तेवासी शाकं यवस मुष्टिं वा मासद्विमासान्तरं प्रकाशमश्नीयात्, गूढमिष्टाहारम्।' कौ. अर्थ. १।११

संस्थाः' कहा गया है। राजा द्वारा इनकी धन और मान द्वारा पूजा की जाती थी और इन संस्थाओं में संगठित गुप्तचर राजकर्मचारियों के शौच और अशौच का पता लगाने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। राजा द्वारा इन्हें धन भी मिलता था और सम्मान भी।[1]

कतिपय गूढ़ पुरुष ऐसे भी थे, जो संस्थाओं में संगठित नहीं थे। इन्हें 'सञ्चार' कहा जाता था। सञ्चार गुप्तचरों के चार भेद थे।[2] (१) सत्री—इस वर्ग के गुप्तचर ऐसे व्यक्ति होते थे, जिनके कोई सम्वन्धी या पारिवारिक जन न हों, जिनका पालन-पोषण राज्य द्वारा किया गया हो और जिन्हें गुप्तचर का कार्य करने के लिये विशेष रूप से प्रशिक्षित किया गया हो, और जिन्हें इसी प्रयोजन से अनेकविध विद्याएँ पढ़ायी गई हों। (२) तीक्ष्ण——इस वर्ग के गुप्तचर अत्यधिक शूर और साहसी होते थे, और धन लेकर हाथी व हिंस्र पशुओं से लड़ने में भी संकोच नहीं करते थे। शत्रु की हत्या के लिये इन्हें प्रयुक्त किया जाता था। (३) रसद——इस वर्ग के गुप्तचर अत्यन्त क्रूर होते थे। अपने वन्धु-वान्धवों के प्रति भी वे स्नेह भावना नहीं रखते थे। उनसे शत्रु को विष देकर हत्या कराने का काम लिया जाता था। (४) परिव्राजिका——परिव्राजकों के समान परिव्राजिकाओं से भी गुप्तचरों का कार्य लिया जाता था। समाज में इन्हें प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था, अतः ये राजा के अन्तःपुर और महामात्य आदि उच्चवर्ग के घरों में निर्वाध रूप से प्रवेश पा सकती थीं। इनके लिये उच्चवर्ग के भेदों का पता कर सकना वहुत सुगम था। परिव्राजिकाओं के समान मुण्डा (सिर मुंडाकर रहनेवाली भिक्षुणियाँ) और वृषली (वेदविरुद्ध सम्प्रदायों या पाषण्डों की सन्यस्त स्त्रियाँ) स्त्रियों में भी गुप्तचर का कार्य लिया जाता था।

गुप्तचरों की संस्थाएँ अपने कर्तव्यों का सम्पादन करती हुई अनेकविध लोगों से सहायता ग्रहण करती थीं। सूद (रसोइया), अरालिक (पाचक), स्नायक (स्नान करानेवाला), संवाहक (प्रसाधन करनेवाला), आस्तरक (विस्तर बनाने वाला), कल्पक (नाई), प्रसाधक (शृंगार करनेवाला), उदकपरिचारिक (पानी पिलाने वाला), कुब्ज (कुवड़ा) वामन (नाटा), किरात (वहुत छोटे कद वाला), मूक (गूँगा), वधिर (वहरा), जड़

---

१. 'पूजिताश्चार्थमानाभ्यां राज्ञा राजोपजीविनाम् ।
जानीयुः शौचमित्येताः पञ्चसंस्थाः प्रकीर्तिताः ॥' कौ. अर्थ. १।११

२. कौ. अर्थ. १।१२

३. 'ये चाप्यसम्बन्धिनोऽवश्यभर्तव्यास्ते लक्षणमङ्गविद्यां. . .अधीयानाः सत्रिणः ।'
कौ. अर्थ. १।१२

४. 'ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्मानो हस्तिनं व्यालं वा द्रव्यहेतोः प्रयोधयेयुस्ते तीक्ष्णाः ।'
कौ. अर्थ. १।१२

५. 'ये बन्धुषु निस्स्नेहाः क्रूराश्चालसाश्च ते रसदाः ।' कौ. अर्थ. १।१२

(मूर्ख) अन्ध (अन्धा) आदि का वहाना करनेवाले, नट, नर्तक. वादक, गायक आदि सब प्रकार के व्यक्ति गुप्त भेदों का पता करने के लिये प्रयुक्त किये जाते थे ।[1]

विविध गूढ़पुरुष जिस किसी बात का पता लगाते थे, उसकी सूचना वे 'संस्था' को पहुँचा देते थे। संस्था द्वारा वह उपयुक्त राजपदाधिकारी के पास भेज दी जाती थी। इसके लिये गुप्त लिपि का प्रयोग किया जाता था। विविध भावों को सूचित करने के लिये विभिन्न संज्ञाएँ निर्धारित थीं, इसी कारण कौटलीय अर्थशास्त्र में इस गुप्तलिपि को 'संज्ञा-लिपि' कहा गया है।[2] गूढ़पुरुषों का संस्थाओं के साथ सीधा सम्वन्ध नहीं होता था। संस्था और गूढ़ पुरुषों के वीच में सम्वन्ध स्थापित करने का कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता था, जो शिल्पिकारिका, कुशीलवा, दासी, भिक्षुकी आदि के भेस वनाकर यह यह कार्य सम्पन्न करती थीं। ये गुप्तचर स्त्रियाँ सन्देश पहुँचाने के लिये जहाँ 'गूढ़ लेख्यों' को प्रयुक्त करती थीं, वहाँ साथ ही गीत, वाद्य आदि द्वारा भी सूचना पहुँचाने का काम लेती थीं।[3] किस गीत को गाने या किस वाद्य को वजाने से क्या अभिप्राय समझा जाए, यह पहले से ही नियत रहता था। शंख, दुन्दुभि आदि को विभिन्न ढंग से वजाने पर विभिन्न अभिप्रायों का वोध होता था। धूम्र, अग्नि आदि के निशानों से भी सूचना भेजने का कार्य लिया जाता था। पालतू कवूतरों (गृहकपोतों) द्वारा भी सूचनाएं भेजी जाया करती थीं।[4]

गूढ़पुरुष विदेशों में भी नियुक्त किये जाते थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इस वात की आशंका सदा वनी रहती थी, कि अपना कोई गुप्तचर शत्रुराज्य से न मिल जाए और अपने देश के भेद शत्रु-राजा को न पहुँचाने लगे। ऐसे गुप्तचरों को कौटलीय अर्थशास्त्र में 'उभय वेतन' की संज्ञा दी गई है। ये दोनों राज्यों (अपने राज्य और शत्रु-राज्य) की सेवा में रहते हुए दोनों से वेतन प्राप्त किया करते थे। अपने राज्य का कोई गुप्तचर किसी शत्रु-राज्य से मिलकर 'उभय वेतन' न हो जाए, इसके लिये विशेष रूप से सतर्क रहा जाता था।[5]

कौटलीय अर्थशास्त्र में गुप्तचर विभाग का वड़े विशद रूप से निरूपण किया गया है। निस्सन्देह, मौर्यों के शासन में गुप्तचरों का वहुत अधिक महत्त्व था। मगध के शक्ति-शाली व महत्त्वाकांक्षी 'विजिगीषु' राजा विविध जनपदों को जीत कर अपने जिस चातुरन्त साम्राज्य के निर्माण में तत्पर थे, उसका सुशासन तभी सम्भव था. जव कि गूढ़ पुरुषों द्वारा

---

१. कौ. अर्थ. १।१२

२. 'संस्थानामन्तेवासिनः संज्ञालिपिभिश्चारसंचारं कुर्युः।' कौ. अर्थ. १।११

३. 'मातृपितृव्यञ्जनाः शिल्पकारिकाः कुशीलवा दास्यो वा गीतवाद्यभाण्ड गूढलेख्य-संज्ञाभिर्वा चारं निर्हरेयुः।' कौ. अर्थ. १।१२

४. 'तस्करामित्राभ्यागमे शंखदुन्दुभिशब्दमग्राह्याः कुर्युः।. . .गृहकपोतैर्मुद्रायुक्तैर्हारयेयुः धूम्राग्निपरम्पराया वा।' कौ. अर्थ. २।३४

५. कौ. अर्थ. १।१२

अमात्यों और राजकर्मचारियों के 'शौच' तथा 'अशौच' का सही-सही परिज्ञान प्राप्त किया जाए, जनता की भावनाओं का पता किया जाए और नये जीते हुए तथा पड़ौस के राज्यों की गतिविधि पर दृष्टि रखी जाए। ये सब कार्य एक सुसंगठित गुप्तचर विभाग द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते थे।

(८) राजदूत

विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति की प्रथा भी मौर्य युग में विद्यमान थी। मैगस्थनीज़ यवनराज सैल्युकस के राजदूत के रूप में ही चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में रहा था। मौर्य सम्राट् की ओर से भी यवनराज के राजदरबार में राजदूत नियुक्त किये गये होंगे——यह कल्पना करना असंगत नहीं है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से राजदूतों और उनकी नियुक्ति के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। वहाँ तीन प्रकार के दूतों का उल्लेख किया गया है[१] (१) निसृष्टार्थ——ऐसा दूत जिसमें अमात्य के सब गुण विद्यमान हों और जो अमात्य की स्थिति रखता हो। इसे विदेशी राजा से सन्धि आदि करने के पूर्ण अधिकार प्राप्त रहते थे, और यह अविकल रूप से अपनी सरकार का प्रतिनिधित्त्व करता था। (२) परिमितार्थ—अमात्य की तुलना में इसकी स्थिति हीन मानी जाती थी, और यह समझा जाता था कि अमात्य के लिये आवश्यक गुणों के एक चौथाई भाग की इसमें न्यूनता है। परिमितार्थ दूत को किसी निश्चित मामले में समझौता करने का ही अधिकार प्रदान किया जाता था, और वह ऐसा ही समझौता कर सकना था, जिसका उसे आदेश दिया गया हो। (३) शासनहर——इसकी स्थिति और भी हीन मानी जाती थी। यह केवल राजकीय सन्देश को पहुँचाने का ही कार्य करता था। स्वयं कोई सन्धि या समझौता करने का इसे अधिकार प्राप्त नहीं होता था। अमात्य के लिये जो गुण आवश्यक थे, उनके आधे गुण ही शासनहर दूत के लिये पर्याप्त समझे जाते थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में दूतों के लिये वेतन की दरों का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। पर उन्हें किस दर से भत्ता दिया जाए, यह विशद रूप से निरूपित है। मध्यम स्थिति के (परिमितार्थ) दूत के लिये पहले दस योजनों की यात्रा के लिये दस पण प्रति योजन की दर से भत्ता निर्धारित किया गया है, और बाद के योजनों के लिये वीस पण प्रति योजन।[२] इससे यह अनुमान किया जाता है, कि युवराज, सेनापति, नायक, समाहर्त्ता आदि के पदों पर नियुक्त अमात्यों को ही आवश्यकता के अनुसार राजदूत बनाकर भी भेज दिया जाता

१. 'अमात्य सम्पदोपेतो निसृष्टार्थः। पादगुणहीनः परिमितार्थः। अर्धगुणहीनः शासनहरः।' कौ. अर्थ. १।१६

२. 'देशपणिको योजने दूतः मध्यमः, दशोत्तरे द्विगुणवेतन आयोजनशतादिति।' कौ. अर्थ. ५।३

था। अमात्य या मन्त्री निसृष्टार्थ दूत नियुक्त किये जाते थे, और उनसे हीन स्थिति के राजपदाधिकारी परिमितार्थ और शासनहर दूतों के रूप में भेजे जाते थे। उन्हें वही वेतन प्रदान किया जाता था, जो कि अपने स्थायी पद के कारण उन्हें प्राप्तव्य था। पर दूत के रूप में कार्य करते हुए वे अतिरिक्त भत्ता अवश्य प्राप्त करते थे, जिसकी दर विभिन्न स्थिति के दूतों के लिये भिन्न-भिन्न होती थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजदूत के निम्नलिखित कार्य लिखे गये हैं—(१) प्रेषण—अपने राजा के सन्देश को पहुँचाना। (२) सन्धिपालत्व–सन्धियां करना और यह ध्यान रखना कि उनका यथोचित रूप से पालन किया जाए। (३) प्रताप—अवसर के अनुसार विदेशी राजा को चुनौती देना। (४) मित्रसंग्रह–अन्य राज्यों के साथ मैत्री करना। (५) उपजाप-विदेशी राज्य में षड्यन्त्र करना। (६) सुहृद् भेद—जिन विदेशी राज्यों में सौहार्द्र सम्बन्ध हो, उनमें भेद उत्पन्न करके उनके सौहार्द्र भाव को नष्ट करना। (७) गूढ़दण्डातिसारण—अपनी सैन्यशक्ति को गुप्त रूप से शत्रु राज्य में पहुँचाना। (८) बन्धुरत्नापहरण—शत्रु राज्य के राजा के बन्धुबान्धवों और सम्पत्ति का अपहरण करवाना। (९) चार ज्ञान–विदेशी राज्यों के गुप्तचरों की गतिविधि का पता रखना। (१०) पराक्रम—आवश्यकता पड़ने पर पराक्रम प्रदर्शित करना। (११) समाधिमोक्ष—जिस विदेशी राज्य के साथ जो सम्बन्ध विद्यमान हो, उसे भंग कर नये सम्बन्ध स्थापित करना।[१] निस्सन्देह, ये सब कार्य अत्यन्त महत्त्व के थे। विदेशी राज्यों में नियुक्त राजदूत जहाँ अपने राजा के सन्देश पहुँचाने का कार्य करते थे, वहाँ साथ ही विदेशों के साथ सम्बन्धों को निर्धारित करना भी प्रधानतया उन्हीं का कार्य था। विदेशी राज्यों द्वारा नियुक्त राजदूतों (परदूतों) की रक्षा करना राज्य के लिये आवश्यक माना जाता था। साथ ही, यह भी ध्यान में रखा जाता था, कि विदेशी दूत राज्य को किसी प्रकार से क्षति न पहुँचाने पाएँ। इसके लिये उन पर अनेक गुप्तचर तथा 'रक्षी' नियुक्त किये जाते थे, जो कि दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के होते थे।[२] इन गुप्तचरों और रक्षियों के कारण विदेशी राजदूतों के लिये राज्य को क्षति पहुँचा सकना सुगम नहीं रहता था।

दूतों से यह भी आशा की जाती थी, कि विदेशी राज्य में निवास करते हुए वे उनके अन्तपालों, अटविमुख्यों, पुरमुख्यों और राष्ट्र (जनपद) मुख्यों के साथ सम्पर्क स्थापित

---

१. 'प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः।
उपजापस्सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम् ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥' कौ. अर्थ. १।१६

२. 'स्वदूतैः कारयेदेतत् परदूतांश्च रक्षयेत्।
प्रतिदूतापसर्पाभ्यां दृश्यादृश्यैश्च रक्षिभिः ॥' कौ. अर्थ. १।१६

करें; विदेशी राज्य के अनीकस्थान (स्कन्धावार आदि सैनिक स्थान), युद्ध-प्रतिग्रह (युद्ध के साधन तथा सामग्री) और अपसारभूमि (जहाँ से सैन्य सञ्चालन किया जा सके) के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करें, और अपने राज्य की इन बातों के साथ उनकी तुलना करे; और यह जानकारी प्राप्त करें कि विदेशी राज्य के दुर्गों (दुर्गरूप नगरों) और राष्ट्र (जनपद) का कितना प्रमाण (आकार-प्रकार) है, और उसके कौन से स्थल सशक्त हैं, कौन से निर्बल हैं, और कौन से सुगुप्तरूप हैं।[१]

राजदूत के लिये यह आवश्यक माना जाता था, कि विदेशी राजा से सम्मान प्राप्त कर वह फूल न जाए, विदेशी राज्य की शक्ति को देखकर उसके रुआब में न आ जाए, यदि उसे कटु वचन भी कहा जाए तो उसे सहन कर ले, सुरा और सुन्दरी के सम्पर्क से बचकर रहे, और अकेला शयन करे।[२] सोते हुए या सुरा के प्रभाव से मत्त हो जाने की दशा में दूसरों के मनोभावों का पता कर सकना बहुत सुगम होता है, अतः राजदूतों से यह आशा की जाती थी कि वे अकेले सोयेंगे और सुरा तथा सुन्दरी से संसर्ग नहीं करेंगे।

---

१. 'अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत। अनीकस्थानयुद्धप्रतिग्रहापसारभूमीरात्मनः परस्य चावेक्षेत। दुर्गराष्ट्रप्रमाणं सारवृत्तिगुप्तिच्छिद्राणि चोपलभेत।' कौ. अर्थ. १।१६

२. 'प्रपूजया नोत्सिक्तः। परेषु बलित्वं न मन्येत। वाक्यमनिष्टं सहेत। स्त्रियः पानं च वर्जयेत्। एकश्शयीत। सुप्तमत्तयोर्हि भावज्ञानं दृष्टम्।' कौ. अर्थ. १।१६

छठा अध्याय

जनपदों, नगरों और ग्रामों का शासन

(१) जनपद का स्वरूप

मौर्य युग की शासनपद्धति को भली भाँति समझने के लिये जनपदों, नगरों और ग्रामों के शासन पर विचार करना बहुत उपयोगी है। शासन की सुविधा के लिये राज्यों को अनेक भागों और उपविभागों में विभक्त किया जाता है। वर्तमान समय में कमिश्नरियों, जिलों और तहसीलों के रूप में भारत के जो बहुत-से भाग व उपविभाग हैं, उनका निर्माण शासन की सुविधा को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। मौर्य साम्राज्य भी अनेक चक्रों और मण्डलों में विभक्त था, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। पर मण्डलों के अन्तर्गत जो बहुत-से जनपद थे, उनका निर्माण शासन की सुविधा को दृष्टि में रख कर नहीं किया गया था। ये उन्हीं पुराने जनपदों का प्रतिनिधित्व करते थे, जिनकी विजय कर मगध के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने अपने विशाल साम्राज्य का विस्तार किया था। प्राचीन काल में भारत में बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों की सत्ता थी। इनमें प्रायः संघर्ष होता रहता था, और कुछ जनपदों ने पड़ोस के जनपदों को जीतकर 'महाजनपदों' की स्थिति प्राप्त कर ली थी। महात्मा बुद्ध के समय में इन महाजनपदों की संख्या सोलह थी, यह पहले लिखा जा चुका है। मगध के सम्राटों ने इन महाजनपदों और जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं किया था। साम्राज्यवाद के युग में भी ये कायम रहे थे। विजिगीषु सम्राट् की इन जनपदों के प्रति क्या नीति हो, इसका प्रतिपादन कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से किया गया है, और ऐसा करते हुए वहाँ कतिपय ऐसे निर्देश भी दे दिये गये हैं, जिनसे जनपदों के स्वरूप का सुस्पष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

कौटल्य के अनुसार जनपद का निर्माण ऐसे ग्रामों से मिलकर होता था, जिनमें १०० से ५०० तक कुल (परिवार) निवास करते हों। ग्राम का क्षेत्रफल एक क्रोश (कोस) से दो क्रोश तक होता था। ग्राम के निवासियों की बहुसंख्या शूद्रों की होती थी, जो आर्यकुलों की भूमि पर खेती किया करते थे।[1] ठीक यही दशा प्राचीन ग्रीस और प्राचीन इटली के उन नगर-राज्यों (City States) की भी थी, जिन्हें ग्रीस में पोलिस (Polis) और इटली में सिविटास (Civitas) कहा जाता था। इन नगर-राज्यों के अन्तर्गत ग्रामों

१. 'शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्।' कौ. अर्थ. २।१

या ग्राम-संस्थाओं (Village Communities) के वहुसंख्यक निवासी भी दास या हेलट होते थे, जिन्हें शासन के सम्बन्ध में कोई भी स्थिति प्राप्त नहीं थी। भारत के सभी जनपदों के ग्रामों में शूद्र-कर्षकों की वहुसंख्या हो, यह स्वीकार कर सकना तो कठिन है, पर मगध, अंग, वंग आदि प्राच्य जनपदों में आर्य-भिन्न लोग अवश्य ही वहुसंख्या में थे।

दस ग्रामों को मिलाकर 'संग्रहण' वनता था, दस संग्रहणों या १०० ग्रामों से एक 'खार्वटिक' का निर्माण होता था, और ८०० ग्रामों या ८० संग्रहणों से एक जनपद वनता था।[1] यदि एक ग्राम में १०० से ४०० तक परिवार निवास करते हों और प्रत्येक परिवार की सदस्य-संख्या ५ मान ली जाए, तो एक जनपद की जनसंख्या ४ लाख से २० लाख तक होनी चाहिये। एथन्स, स्पार्टा आदि प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की आवादी भी प्रायः इसी के लगभग थी। वहाँ कोई भी ऐसा नगर-राज्य नहीं था, जिसमें ५० लाख से अधिक व्यक्तियों का निवास हो। वहुसंख्यक ग्रीक नगर-राज्यों की जनसंख्या २० लाख से कम ही थी। कौटलीय अर्थशास्त्र के निर्देशों से भारत के प्राचीन जनपदों के सम्वन्ध में भी यही वात सूचित होती है।

चाणक्य के अनुसार जनपद के अन्तर्गत प्रत्येक ग्राम को 'अन्योन्यारक्ष' होना चाहिये।[2] वह जहाँ स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, वहाँ साथ ही अन्य ग्रामों की रक्षा में भी सहायक हो। जनपद की सीमाओं पर अन्तपाल दुर्ग स्थापित किये जाएँ, जिनके वीच के सीमा-प्रदेश में वागुरिक, शवर, पुलिन्द, चण्डाल, अरण्यचर व आटविक जातियों को वसाया जाए, ताकि शत्रु के आक्रमण की दशा में उनका उपयोग जनपद की रक्षा के लिये किया जा सके।[3] पर जनपद की रक्षा का प्रधान आधार वह 'पुर' होता था, जिसे जनपद के मध्य में निर्मित किया जाता था, और जिसकी रचना एक दुर्ग के समान होती थी। यह पुर (राजधानी) न केवल जनपद के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र होता था, अपितु जनपद की रक्षा भी इसी पर आश्रित थी। कौटल्य के अनुसार पुर के चारों ओर एक प्राचीर होनी चाहिये, जिसमें वारह द्वार हों। पुर में प्रवेश के लिये ऐसे स्थल और जल मार्ग होने चाहियें, जिन्हें गुप्त रूप से वनाया गया हो। पुर के अन्दर तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर और तीन राजमार्ग उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले हों।[4] पुर की कुल भूमि के १।९ भाग पर अन्तःपुर होना चाहिये, जो कि पुर के उत्तरी भाग में स्थित हो। राजप्रासाद के पूर्वोत्तर में आचार्य, पुरोहित, मन्त्री आदि के निवास हों, दक्षिण-पूर्व में हस्तिशाला, कोष्ठा-

---

१. कौ. अर्थ. २।१

२. कौ. अर्थ. २।१

३. कौ. अर्थ. २।१

४. 'त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः। स द्वादशद्वारो युक्तोदक-भूमिच्छन्नपथः।' कौ. अर्थ. २।३

गार आदि रहें। उसके परे पूर्व की ओर गन्ध, माल्य, धान्य, रस आदि की पण्यशालाएँ हों, और क्षत्रियों तथा प्रधान शिल्पियों के निवास-स्थान हों। दक्षिण-पूर्व भाग में भाण्डागार, अक्षपटल और कर्मान्त रहें। दक्षिण-पश्चिम भाग में कुप्यगृह और आयुधागार बनाये जाएँ।[1] पुर के मध्य भाग में अपराजित, अप्रतिहत और वैजयन्त के कोष्ठक तथा शिव, वैश्रवण, श्री तथा मदिरा के गृह स्थापित किये जाएँ।[2] इसी प्रकार पुर के अन्य भागों में किस-किस का निवास रहे, इस सबका विशद रूप से वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र में दिया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि प्रति दस परिवारों के लिये एक-एक कुएँ का निर्माण किया जाए, और धान्य, नमक, औषधि, ईंधन, लोहे आदि को इतनी मात्रा से सञ्चित करके रखा जाए कि शत्रु द्वारा पुर के आक्रान्त हो जाने की दशा में वर्षों तक भी वे समाप्त न हो सकें। पुराने सामान को निरन्तर बदला जाता रहे, ताकि सञ्चित सामान बिगड़ने न पाए।[3] कौटल्य ने पुर की रक्षा का जो इतने विशद रूप से विधान किया है, उसका कारण यही था कि जनपद की रक्षा प्रधानतया पुर पर ही आश्रित रहती थी। वस्तुतः, जनपद में पुर की स्थिति सर्वाधिक महत्त्व की थी।

जनपदों का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र के 'लब्धप्रशमनम्' प्रकरण से महत्त्वपूर्ण निर्देश उपलब्ध होते हैं। इस प्रकरण में उन उपायों का विशद रूप से उल्लेख किया गया है, जिनका प्रयोग नये जीते हुए जनपदों में शान्ति स्थापित करने और उनके निवासियों को अपने अनुकूल बनाने के लिये करना चाहिये। ये उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) जनपद के पुराने शासकों में जो दोष हों, उन्हें अपने गुणों और सत्कर्मों द्वारा आच्छादित कर देना चाहिये। पुराने शासकों के जो गुण हों, उनके जो अच्छे कर्म हों, उनको आच्छादित करने के लिये अपनी ओर से दुगने गुणों और सत्कर्मों का उपयोग करना चाहिये। अनुग्रह, उपहार, परिहार (टैक्सों में कमी या छूट), दान और सम्मान द्वारा नागरिकों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाए।[4]

(२) विजित जनपद के निवासियों के जो प्रिय नेता हो, उनकी सम्मति को महत्त्व दिया जाए। वहाँ के जिन लोगों ने जनपद को जीतते समय अपना साथ दिया हो, उन्हें वे सब पुरस्कार व अनुग्रह प्रदान किये जाएँ, जिनकी कि उनसे प्रतिज्ञा की गई थी। जिसने जितनी अधिक सहायता की हो, उसे उतने ही अधिक पुरस्कार व अनुग्रह दिये जाएं। जो

१. कौ. अर्थ. २।३
२. 'आपराजिताप्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकान् शिववैश्रवणाश्विश्रीमदिरागृहं च पुरमध्ये कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३
३. कौ. अर्थ. २।३
४. कौ. अर्थ. १३।१४

अपने वचन को पूरा नहीं करता, उस पर न अपने लोग विश्वास करते हैं, और न पराये। जो जनता के विरुद्ध आचरण करता है, उसका भी कोई विश्वास नहीं करता।[1]

(३) विजित जनपद के जो शील, वेश, भाषा और आचार (प्रथाएं) हों, उनको स्वीकृत करना चाहिये। इसी प्रकार विजित जनपद के जो उपास्य हों, उनके प्रति भक्ति रखनी चाहिये। वहाँ के जो समाज (सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के स्थान), उत्सव और विहार (सामूहिक मनोरञ्जन) हों, उनमें उत्साह प्रदर्शित करना चाहिये।[2]

(४) देश (जनपद)–संघों और ग्राम-संघों के मुख्यों के सम्मुख विजेता के गुप्तचर यह प्रगट करें कि दूसरों के प्रति कैसा कठोर व्यवहार किया जाता रहा है, पर उनके प्रति विजेता ने कैसा अच्छा बरताव किया है, उनके प्रति वह कैसी भक्ति रखता है और उनका वह कितना सत्कार करता है।[3]

(५) विजित जनपद के निवासियों को उचित भोग (पुरस्कार), परिहार (टैक्स में छूट) और रक्षा (सुरक्षा की व्यवस्था) द्वारा प्रसन्न व संतुष्ट किया जाए। उनके देवताओं और धार्मिक आश्रमों का पूजन किया जाए। विजित जनपद के जो विद्वान्, वाग्मी, धार्मिक और शूर पुरुष हों, उन्हें भूमि और धन प्रदान किये जाएँ, और उनके टैक्सों में छूट दी जाए। वहाँ के कैदियों को छोड़ दिया जाए, और दीन, अनाथ तथा व्याधि-पीड़ित लोगों के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित किया जाए।[4]

(६) विजित जनपद में यदि कोई ऐसे परम्परागत चरित्र हों, जो धर्म के अनुकूल न हों या जो राज्यकोश तथा सैन्यशक्ति के विकास में हानिकारक हों, तो उन्हें हटाकर धर्मानुकूल व्यवहार की स्थापना की जाए। पर विजित जनपद के जो चरित्र व व्यवहार धर्म के अनुकूल हों उन्हें कायम रखा जाए, इस बात की अपेक्षा किये बिना कि उनका प्रारम्भ विजेता द्वारा न होकर किसी अन्य द्वारा किया गया था।[5]

---

१. कौ. अर्थ. १३।१४

२. 'तस्मात्समानशीलवेषभाषाचारतामुपगच्छेत् । देशदैवतसमाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत ।' कौ. अर्थ. १३।१४

३. देशग्रामजातिसंघमुख्येषु चाभीक्ष्णं सत्रिणः परस्यापचारं दर्शयेयुः । महाभाग्यं भक्तिश्च तेषु स्वामिनः स्वामिसत्कारं च विद्यमानम् ।' कौ. अर्थ. १३।१४

४. उचितैश्चैनान् भोगपरिहाररक्षावेक्षणैः भुञ्जीत सर्वाश्रमपूजनं च विद्यावाक्यधर्मशूरपुरुषाणां च भूमिद्रव्यदानपरिहारान् कारयेत् । सर्वबन्धनमोक्षमनुग्रहं दीनानाथव्याधितानां च । ' कौ. अर्थ १३।१४

५. 'यच्च कोशदण्डोपघातिकमधर्मिष्ठं वा चरित्रं मन्येत, तदपनीय धर्मव्यवहारं स्थापयेत् ।' कौ. अर्थ. १३।१४

(७) विजित जनपद का जो अपना विशिष्ट नक्षत्र हो, उसमें एक दिन के लिये पशु-हिंसा निषिद्ध रखी जाए।[1]

कौटलीय अर्थशास्त्र के इन निर्देशों से जनपदों के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं—

(१) जनपदों के अपने-अपने शील, वेश, भाषा और आचार होते थे, जिन्हें वे बहुत महत्त्व देते थे। इसी लिये किसी विजेता द्वारा परास्त हो जाने के बाद भी वे उन्हें कायम रखने को इच्छुक रहते थे। इसी कारण चाणक्य ने विजिगीषु राजा को यह परामर्श दिया है कि वह विजित जनपदों के शील आदि को कायम रखे।

(२) जनपदों के अपने देवता, धार्मिक संस्थाएँ, समाज, उत्सव और विहार होते थे, जिनके प्रति भक्ति को प्रदर्शित करना विजिगीषु राजा के लिये आवश्यक समझा जाता था।

(३) जनपदों का अपना विशिष्ट नक्षत्र भी होता था, जिसे वे पवित्र मानते थे।

(४) जनपदों का शासन संघ-मुख्यों के हाथों में होता था। विजिगीषु राजा के लिये भी उनके प्रति आदर-सत्कार प्रदर्शित करना उपयोगी था। जनपदों के अन्तर्गत ग्रामों के भी अपने-अपने ग्राममुख्य होते थे।

(५) जनपदों के अपने परम्परागत कानून, चरित्र और व्यवहार होते थे। कौटल्य का विजिगीषु राजा को यह परामर्श था, कि वह इन्हें कायम रखे। केवल ऐसे कानूनों, व्यवहार और चरित्र को ही कायम न रहने दिया जाए, जो धर्मविरुद्ध हों या जो कोश तथा सैन्यशक्ति के विकास में बाधक हों।

(६) विजित जनपद की जनता को अपने अनुकूल करके उसे दान, परिहार, अनुग्रह आदि द्वारा संतुष्ट रखना कौटल्य की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात थी।

इस प्रसंग से यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कौटलीय अर्थशास्त्र के 'लब्धप्रशमनम्' प्रकरण में जनपद के लिये 'देश' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में जनपद, देश और विषय शब्द पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त हुए हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के 'विषयो देशे' (अष्टाध्यायी ४।२।५२) सूत्र की टीका करते हुए काशिका में लिखा है कि विषय शब्द के अनेक अर्थ हैं। ग्रामों के समुदाय को भी 'विषय' कहते हैं, जैसे शिवि लोगों का विषय 'शैव' कहाता है। इसी प्रकार पाणिनि के एक अन्य सूत्र 'जनपदे लुप्' (अष्टाध्यायी ४।२।८१) पर टीका करते हुए काशिका में ग्रामों के समुदाय को 'जनपद' कहा गया है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि ग्रामों के समुदाय के लिये प्राचीन समय में विषय, देश और जनपद—इन शब्दों का समान रूप से प्रयुक्त किया जाता था।

---

१. 'राजदेशनक्षत्रेषु एकरात्रिकम्।' कौ. अर्थ. १३।१४

२. 'विषयो देशे। विषय शब्दो बह्वर्थः। क्वचित् ग्रामसमुदाये वर्तते। शिवीनां विषयो देशः शैवः। ग्रामसमुदायो जनपदः।' काशिका ४।२।८१

जनपद के स्वरूप को समझने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र का एक अन्य निर्देश भी महत्त्व का है। वहाँ लिखा है कि जिस देश पर शत्रुओं और जंगली पशुओं के निरन्तर आक्रमण होते रहते हों, या जिसमें दुर्भिक्ष पड़ता रहता हो, या जहाँ महामारियाँ बहुधा फैलती रहती हों, उसका परित्याग कर दिया जाए।[1] यह व्यवस्था ऐसे जनपदों के लिये ही सम्भव थी, जो छोटे-छोटे हों और जिनमें भूमि या प्रदेश के प्रति जनता की विशेष भक्ति या निष्ठा न हो। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों के इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जबकि शत्रुओं के आक्रमण या आन्तरिक झगड़ों से विवश होकर जनता अपनी भूमि को छोड़ कर अन्यत्र जा बसी थी। भारत के प्राचीन इतिहास में जरासन्ध के निरन्तर आक्रमणों से परेशान होकर अन्धक-वृष्णि संघ ने अपने प्राचीन अभिजन का परित्याग कर द्वारिका में प्रवास कर लिया था। इसी प्रकार टिड्डी दल के आक्रमणों के कारण कुरु जनपद के निवासी अपने अभिजन से प्रवास कर लेने के लिये विवश हुए थे। हूणों के आक्रमण के कारण पंजाब के मालव, शिवि आदि अनेक गण-जनपद राजस्थान की मरुभूमि में जा बसे थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के जिन निर्देशों का इस प्रकरण में उल्लेख किया गया है, उनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारत के प्राचीन जनपदों का स्वरूप प्रायः वही था, जैसा कि प्राचीन ग्रीस के 'पोलिस' और प्राचीन इटली के 'सिवितास' का था। ये ऐसे छोटे-छोटे राज्य थे, जिनके लिये 'नगर-राज्य' (City State) संज्ञा सर्वथा उपयुक्त है। इन सबकी शासनपद्धति एक सदृश नहीं थी, और न इनमें सदा एक-सा ही शासन रहता था। ये जनपद ऐसे बहुत-से ग्रामों के समूह थे, जिनके मध्य में एक बड़ा पुर (राजधानी) होता था। जनपद के सम्पन्न नागरिक, राजपुरुष, शिल्पी आदि इसी पुर में निवास करते थे। व्यापारियों के निगमों (Corporations) और वणिज्या द्वारा निर्वाह करनेवाले वणिक् लोगों के अधिष्ठान भी इस पुर में ही होते थे। एक जनपद में प्रायः एक ही 'जन' (Tribe) का निवास होता था, और जनपद का नाम भी इस जन के नाम पर ही हुआ करता था। कुरु जनपद में कुरु जन का निवास था, और शिवि जनपद शिवि जन का। इस 'जन' के लोगों के अतिरिक्त बहुत-से शूद्र भी जनपद में निवास करते थे, जो जन के कुलों की भूमि पर खेती का कार्य किया करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य से भी पूर्व मगध राजाओं ने जब अपनी शक्ति का विकास प्रारम्भ किया, तो इन प्राचीन जनपदों में से सोलह ने 'महाजनपदों' की स्थिति प्राप्त कर ली थी, क्योंकि पड़ोस के अनेक जनपदों को जीत कर उन्होंने अपने अधीन कर लिया था।

मौर्य साम्राज्य के विकास के समय भारत में जो बहुत-से जनपद थे, चाणक्य ने उन्हें अनेक वर्गों में विभक्त किया है। ये वर्ग निम्नलिखित थे—

---

१. 'परचक्राटवीग्रस्तं व्याधिदुर्भिक्षपीड़ितम्।
देशं परिहरेद्राजा व्ययक्रीडाश्च वर्जयेत्॥" कौ. अर्थ. २।१

(१) विगुण और अभिसंहत—जिन जनपदों या गणों ने परस्पर मिलकर संघात (Confederacy) का निर्माण कर लिया हो, उन्हें 'अभिसंहत' कहते थे। अन्य संघ 'विगुण' कहाते थे।[१] प्राचीन ग्रीस में नगर-राज्यों के संघातों की 'लीग' (League) संज्ञा थी। कौटल्य ने लिखा है, कि अभिसंहत गण या संघ सुगमता से परास्त नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे 'अधृष्य' होते हैं।

(२) वार्ताशस्त्रोपजीवि और राजशब्दोपजीवि—कृषि, पशुपालन और वणिज्या को प्राचीन नीति ग्रन्थों में 'वार्ता' कहा गया है।[२] जिन संघ-जनपदों के निवासी कृषि, पशुपालन और वणिज्या द्वारा अपना निर्वाह करते हों और शस्त्रधारण कर आत्मरक्षा व अपने उत्कर्ष के लिये प्रवृत्त रहते हों, उन्हें 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' कहा जाता था। विश्व के प्राचीन इतिहास में फिनीशियन राज्य के निवासी जहाँ उत्कृष्ट व्यापारी थे, जो समुद्र मार्ग द्वारा सुदूर देशों के साथ व्यापार के लिये आया जाया करते थे, वहाँ साथ ही वे विकट योद्धा भी थे। वैदिक साहित्य में इन फिनीशियन लोगों को 'पणि' कहा गया है, और उनकी सैन्यशक्ति को भी निर्दिष्ट किया गया है। कौटल्य की परिभाषा के अनुसार फिनीशिया एक वार्ताशस्त्रोपजीवि गण था। भारत में भी काम्भोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणि आदि इसी ढंग के वार्ताशस्त्रोपजीवि राज्य या जनपद थे।[३] राजशब्दोपजीवि जनपदों में कतिपय क्षत्रिय कुलों का शासन होता था, जिनके वृद्ध (elders) या मुख्य 'राजा' कहाते थे। इन्हीं को पाणिनि ने 'जनपदी' नाम से कहा है,[४] और मनु ने इन्हीं जनपदों की 'जातिमात्रोपजीवि' संज्ञा दी है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल आदि 'राजशब्दोपजीवि' गण या जनपद थे।[५] वार्ताशस्त्रोपजीवि और राजशब्दोपजीवि दोनों प्रकार के जनपदों में किसी वंशक्रमानुगत राजा का शासन नहीं होता था। उन का स्वरूप गणराज्यों या संघ-राज्यों का था, और उनमें या तो जनता का शासन था, और या कतिपय विशिष्ट कुलों का जिनके 'वृद्ध' या मुख्य 'राजा' कहाते थे।

गण-शासन वाले जनपदों के अतिरिक्त बहुत-से ऐसे जनपद भी थे, जिनमें वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था। इनके भी अनेक वर्ग थे, जैसे राज्य, द्वैराज्य आदि।

---

१. 'संघाभिसंहत्वात् अधृष्यान् परेषांताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। विगुणान् भेददण्डाभ्याम्।' कौ. अर्थ. ११।१

२. 'कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी' कौ. अर्थ. १।३

३. 'काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः।' कौ. अर्थ. ११।१

४. 'जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुबचने।' अष्टाध्यायी ४।३।१००

५. 'लिच्छविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरुकुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः।' कौ. अर्थ. ११।१

(२) जनपदों का शासन

मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत जो बहुत-से जनपद थे, पाटलिपुत्र के शासनतन्त्र की अधीनता में रहते हुए भी उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता और पृथक् स्थिति कायम थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। इसी का यह परिणाम था, कि ज्यों ही मौर्यों की शक्ति शिथिल हुई और यवनों के आक्रमण पुनः भारत पर प्रारम्भ हुए, ये जनपद पुनः पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गये। कौटलीय अर्थशास्त्र मेंअनेक ऐसे निर्देश विद्यमान हैं जिनसे इन जनपदों के शासन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कौटल्य ने प्रतिपादित किया है, कि दोनों प्रकार के देश-संघों (जनपद-संघ जो कि अभिसंहत और विगुण दो प्रकार के थे) के पारस्परिक न्यङ्ग (ईर्ष्या), वैर, द्वेष और कलह के स्थलों को जानकर उनका उपयोग विजिगीषु राजा द्वारा उन्हें परास्त करने के लिये किया जाए।[१] क्योंकि संघ-जनपदों में किसी एक राजा का शासन नहीं होता, अपितु बहुत-से संघमुख्य या कुलवृद्ध उनका शासन करते हैं, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि इन संघ मुख्यों में परस्पर ईर्ष्या, वैर, द्वेष और कलह विद्यमान हों। इन सबको जानकर इनका उपयोग संघों की विजय के लिये किया जा सकता है। यह कार्य गुप्तचरों (सत्रियों) द्वारा किया जायगा। सत्रियों द्वारा संघ के संघमुख्यों में फूट डलवायी जा सकती है। ईर्ष्या, वैर, द्वेष और कलह के स्थानों का पता करके सत्री लोग संघ के नेताओं में फूट उत्पन्न कर सकते हैं। कौटल्य के अनुसार विजिगीषु राजा के सत्री को चाहिये कि वह एक संघमुख्य से जाकर कहे—'वह आपकी निन्दा करता है। कुछ सत्री आचार्य (उस्ताद) का वेश बनाकर जायँ, और संघ-जनपद में जहाँ विद्या, शिल्प, द्यूत या खेलों में साम्मुख्य हो रहे हों, वहाँ जाकर संघ के नेताओं में छोटे-मोटे कलह उत्पन्न करें। तीक्ष्ण गुप्तचर मद्यशाला व नाटक-घरों में जाकर ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा करें जिनका संघ-जनपद में उच्च स्थान न हो, और इस प्रकार संघ के प्रमुख पुरुषों में पारस्परिक कलह और विद्वेष उत्पन्न करें। जन्म से हीन कुमारों के कुलों की प्रशंसा करके और उनका पक्ष ग्रहण कर उनमें महत्त्वाकांक्षा का प्रादुर्भाव किया जाए। जन्म और कुल की दृष्टि से विशिष्ट लोगों में यह भावना उत्पन्न की जाए, कि वे अपने से हीन लोगों के साथ भोजन व विवाह-सम्बन्ध न करें। जन्म और कुल की दृष्टि से हीन लोगों को इस बात के लिये प्रेरित किया जाए, कि वे दूसरों के साथ भोजन किया करें और उनके साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित करें। परम्परागत व्यवहार के विपरीत कुल, पौरुष और सामाजिक स्थिति की उपेक्षा कर हीन लोगों के प्रति जो समानता बरती गई हो, उसे प्रगट कर गुप्तचर लोग असन्तोष उत्पन्न करें। मुकदमों से लाभ उठाकर तीक्ष्ण सत्री रात के समय सम्पत्ति, पशु और मनुष्यों (मुकदमे से सम्बद्ध) का विनाश कर झगड़े को और बढ़ाएँ। संघ-जनपद में झगड़ों के जो भी अवसर हों, उनमें विजिगीषु राजा

---

१. **'सर्वेषामासन्नाः सत्रिणः संघानां परस्परन्यङ्गद्वेषवैरकलहस्थानान्युपलभ्य क्रमाभिनीतं भेदमपचारयेयुः।' कौ. अर्थ. ११।१**

के गुप्तचर निर्वल पक्ष का पक्ष लेकर और उसे धन व शक्ति द्वारा सहायता देकर प्रवल पक्ष के विनाश का प्रयत्न करें। भेद डाल कर उनके विनाश का प्रयत्न किया जाए।[1]

कतिपय ऐसे संघ-जनपद भी थे, जिनमें पहले राजतन्त्र शासनों की सत्ता थी, पर बाद में वहाँ गणशासन स्थापित हो गये थे। इनमें ऐसे राजकुमार विद्यमान थे, जिनके पूर्वज पहले कभी राजा रह चुके थे। ऐसे संघों की विजय के लिये चाणक्य ने विजिगीषु राजा को यह परामर्श दिया है—राजशब्दोपजीवि लोगों द्वारा पदच्युत किये गये या कैद किये गये किसी कुलीन अभिजात व्यक्ति को राजपुत्र के रूप में स्थापित कर दिया जाए। ज्योतिषी आदि का भेस वनाकर गुप्तचर संघ के लोगों को यह जताए कि यह राजपुत्र राजा के सव लक्षणों से युक्त है। धर्मिष्ठ संघ मुख्यों को यह समझाया जाए कि यह कुमार अमुक राजा का पुत्र है, और इसकी सत्ता को स्वीकार करना उनका धार्मिक कर्तव्य है। जिन संघमुख्यों को यह वात समझ में आ जाए। उनकी धन और शक्ति द्वारा सहायता की जाए और इस प्रकार उन्हें अपने पक्ष में कर लिया जाए, जव 'विक्रम' (कार्यसिद्धि का समय) का अवसर उपस्थित हो, तो गुप्तचर पुत्रजन्म, विवाह या मृत्यु का निमित्त बता कर संघमुख्यों को निमन्त्रित करें, और उन्हें शराव के सैकड़ों कुम्भ पिलाएँ। इन मद्यकुम्भों में मदन रस मिला दिया गया हो। (कौ० अर्थ० ११।१)

संघ जनपद के वाहनों और सुवर्ण की वस्तुओं को विजिगीषु राजा के सत्री प्राप्त कर लें, और उन्हें किसी संघ-मुख्य को प्रदान कर दें। जव संघ द्वारा इस सम्बन्ध में पूछताछ की जाए, तो वे संघ के सम्मुख यह स्वीकार कर लें कि ये वस्तुएँ व वाहन अमुक संघ-मुख्य को प्रदान की गई थीं। इस प्रकार संघ-मुख्यों में फूट पैदा की जाए। कौटल्य ने इन सब उपायों का निरूपण इसी प्रयोजन से किया था, ताकि संघ-जनपदों के संघमुख्यों में परस्पर कलह व द्वेष प्रादुर्भूत किये जा सकें।

यदि किसी संघमुख्य का कोई पुत्र महत्त्वाकांक्षी और अपने को बड़ा समझने वाला हो, तो विजिगीषु राजा के गुप्तचर उसे कहें—'तुम तो अमुक राजा के पुत्र हो। शत्रु के भय से ही तुम्हें यहाँ रखा गया है।' जव उस संघ-मुख्य के पुत्र को इस वात पर विश्वास हो जाए, तो कोश और सैन्यशक्ति द्वारा उसकी सहायता की जाए और उसे संघ-जनपद के विरुद्ध खड़ा कर दिया जाए। जब उसके विद्रोह के कारण अपने कार्य की सिद्धि हो जाए, तो उसे भी देशनिकाला दे दिया जाए। (कौ० अर्थ० ११।१)

विजिगीषु राजा के गुप्तचर परम रूप-यौवन-सम्पन्न स्त्रियों का संघ मुख्यों के साथ परिचय कराएँ। जव संघमुख्य उन पर मोहित हो जाएँ, तो उन स्त्रियों को अन्य संघमुख्यों के पास भेजकर मुग्ध हुए संघमुख्यों से यह कहा जाए कि दूसरा संघमुख्य जबर्दस्ती तुम्हारी प्रिय स्त्री को अपने साथ भगा ले गया है। इस प्रकार संघमुख्यों में झगड़े पैदा किये जाएँ, और झगड़े वढ़ जाने पर गुप्तचर स्वयं संघमुख्यों का घात कर यह घोषित कर दें कि अमुक संघमुख्य ने अमुक संघमुख्य की हत्या की है। जिस स्त्री ने अपने प्रेमी संघमुख्य को दूसरे

के पास जाकर निराश किया हो, वह उसे जाकर कहे—'मेरा प्रेम तो आप पर है, पर अमुक संघमुख्य हमारे प्रेम में बाधक है। उसके जीवित रहते हुए मेरा आपके पास रह सकना सम्भव नहीं है।' इस प्रकार कह कर वह गुप्तचर स्त्री एक संघमुख्य को दूसरे संघमुख्य की हत्या करने के लिये प्रेरित करे। गुप्तचर स्त्री किसी संघमुख्य के साथ भाग कर किसी उद्यान या क्रीड़ागृह में स्वयं विष द्वारा उस संघमुख्य की हत्या कर दे या उसे अकेले में पाकर तीक्ष्ण स्त्री उसका घात कर दे। पूछे जाने पर वह स्त्री कहे, कि मेरा यह प्रिय संघमुख्य अमुक व्यक्ति द्वारा मार दिया गया है। सिद्ध का भेस बनाकर कोई गुप्तचर संघमुख्य को ऐसी औषधि दे, जिसमें विष मिला हुआ हो। यह औषधि यह कह कर दी जाए कि इसके सेवन से मनोवाञ्छित स्त्री तुम्हारे वश में आ जायगी। जब उस औषधि द्वारा संघमुख्य की मृत्यु हो जाए, तो दूसरे गुप्तचर यह प्रगट करें कि इस संघमुख्य को अमुक संघमुख्य ने मरवाया है। (कौ० अर्थ० ११।१)

कौटल्य ने इसी प्रकार के अन्य भी बहुत-से उपायों का उल्लेख किया है, जिनका प्रयोजन संघमुख्यों में फूट डालना था। कौटल्य के अपने शब्दों में इन सब उपायों का यही उद्देश्य था, कि संघ जनपदों को जीतकर विजुगीषु राजा उन पर अपना 'एकराज' शासन स्थापित करे। कौटल्य के अनुसार इसमें संघ-जनपदों को भी लाभ था, क्योंकि 'एकराज' की अधीनता में रहते हुए उनमें आन्तरिक कलहों की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र के 'संघवृत्तम्' अधिकरण का प्रतिपाद्य विषय यह है, कि संघ-जनपदों की स्वतन्त्रता का अन्त कर किस प्रकार उन्हें विजिगीषु राजा की अधीनता में लाया जाए। पर इस अधिकरण के अनुशीलन से इस बात का भी परिचय प्राप्त हो जाता है, कि इन संघ-जनपदों के शासन का क्या प्रकार था :—

(१) संघ-जनपदों में अनेक 'संघ-मुख्य' होते थे, जिनमें पारस्परिक ईर्ष्या, वैर, द्वेष और कलह के कारण उत्पन्न होते रहते थे। ये संघमुख्य प्रायः एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी होते थे, और इसी कारण इनमें भेद या फूट को उत्पन्न कर सकना सुगम हुआ करता था।

(२) संघ-जनपदों के शासन में संघ-सभा की भी सत्ता होती थी। संघ सामूहिक रूप से न्याय का कार्य करता था, और अपराधियों को दण्ड भी देता था। कौटल्य ने लिखा है—"सत्री (गुप्तचर) किसी स्त्री लोलुप संघमुख्य से जाकर कहे—'अमुक ग्राम में एक दरिद्र परिवार विपद्ग्रस्त है। उसकी पत्नी राजा के योग्य है। आप उसे ग्रहण कर लें।' जब वह संघमुख्य उस स्त्री को ग्रहण कर ले, तो आधे महीने पश्चात् सिद्ध का भेस बनाये हुए एक गुप्तचर उसके विरुद्ध संघ के मध्य यह आरोप लगाए—"इसने मेरी पत्नी (या साली या भगिनी या कन्या) को अपहरण कर लिया है। जब संघ उस संघमुख्य के विरुद्ध कार्यवाही करे, तो राजा उसका पक्ष लेकर विगुण (असंहत) संघ पर आक्रमण कर दे।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि संघ अपने संघमुख्यों के किसी अनुचित कार्य के लिये उनके विरुद्ध निर्णय कर सकता था और उन्हें दण्ड भी दे सकता था।

(३) जहाँ संघ-जनपद में अनेक संघमुख्य होते थे, जो सम्भवतः उस संघ के अन्तर्गत विविध कुलों का गोत्रों के मुख्य (कुलमुख्य या कुलवृद्ध) होते थे, वहाँ साथ ही सम्पूर्ण संघ का भी एक प्रधान होता था जिसके लिये भी 'संघमुख्य' संज्ञा का ही प्रयोग किया जाता था। संघमुख्य के सम्बन्ध में कौटल्य की यह उक्ति उल्लेखनीय है––"संघमुख्य को चाहिये कि वह संघ में सबके प्रति न्याय की वृत्ति रखे, सबका हित सम्पादित करे, सबका प्रिय बनकर रहे, इन्द्रियों पर संयम रखे, सब के प्रति यथायोग्य व्यवहार करे और सबके चित्त का अनुवर्ती बनकर रहे।" निस्सन्देह, इस प्रकार के गुणों से युक्त संघमुख्य के नेतृत्व में ही संघ जनपद अपने शासन कार्य का सुचारुरूप से सञ्चालन कर सकते थे।

(४) संघ-जनपदों के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र के इस श्लोक में मिलता है––"या फिर कुल का राज्य होना चाहिये, क्योंकि कुल-संघ दुर्जय होते हैं। उनमें अराजकता या राजा के न होने का खतरा नहीं रहता, और वे शाश्वत रूप से पृथिवी पर कायम रहते हैं[1]" यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। यद्यपि चाणक्य एकराज-शासन के पक्षपाती थे और स्वयं सम्पूर्ण भारत में एक चक्रवर्ती शासन की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, पर अपने समय में विद्यमान संघ-जनपदों की उपयोगिता और लाभों को भी वह स्वीकार करते थे। इस श्लोक में ऐसे संघ-जनपदों का निर्देश है, जो कुलतन्त्र या श्रेणितन्त्र (Oligarchical) थे। इनमें किसी एक राजा या राजवंश का शासन न होकर कतिपय कुलों (गोत्रों) का शासन होता था, और चाणक्य की सम्मति में उनका सबसे बड़ा लाभ यह था कि उन्हें अराजकता या राजविहीनता की विपत्ति का सामना करने की कभी सम्भावना नहीं होती थी। अर्थशास्त्र के जिस अध्याय में यह श्लोक आया है, उसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि राजपुत्र (युवराज) की रक्षा और शिक्षा के लिये क्या उपाय किये जाएँ। राजतन्त्र शासनों में राजपुत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्व का होता था। राजपुत्र (युवराज) की हत्या हो जाने की दशा में राजविहीनता या अराजकता की विपत्ति उपस्थित हो सकती थी। राजपुत्र के दुराचारी या कुपथगामी होने की दशा भी राज्य के लिये एक विपत्ति ही थी। चाणक्य ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कुलतन्त्र जनपदों में इस प्रकार की विपत्ति की सम्भावना नहीं रहती। इसी कारण वे दुर्जय होते हैं, और चिरकाल तक पृथिवी पर स्थिर रहते हैं।

(५) मौर्य साम्राज्य के विकास के कारण यद्यपि संघ-जनपदों की राजनीतिक स्वतन्त्रता का अन्त हो गया था, पर उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता अभी कायम थी। एकराज शासन और चक्रवर्ती साम्राज्य के परम समर्थक चाणक्य ने भी यह प्रतिपादित किया है कि संघों को अपने अनुकूल कर उनसे मित्रता स्थापित कर लेना दण्ड और मित्र-

---

१. कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।
अराजव्यसनाबाधः शाश्वदावसति क्षितिम्॥' कौ. अर्थ. १।१४

लाभ की तुलना में भी अधिक उत्तम है।[१] जितना लाभ सैन्यशक्ति की वृद्धि और पड़ोसी राज्य के साथ मित्रता से प्राप्त किया जा सकता है, उससे कहीं अधिक लाभ संघ-जनपदों से मित्रता और उन्हें अपने अनुकूल बनाने से हो सकता है। अतः चाणक्य ने संघ-जनपदों के प्रति इस नीति का प्रतिपादन किया है, कि जो संघ-जनपद परस्पर मिलकर संगठित हो गये हों, और जो अभिसंहत (Confederated) हो जाने के कारण अधृष्य (जिन्हें सुगमता से जीता न जा सके) हों, उनके प्रति साम और दाम की नीति का प्रयोग कर उन्हें अपने अनुकूल कर लिया जाए। जो संघ अभिसंहत न होने के कारण 'विगुण' हों, भेद और दण्ड का प्रयोग कर उनकी विजय कर ली जाए।[२] दोनों नीतियों का यही प्रयोजन था, कि संघ-जनपदों की स्वतन्त्रता या सर्वोपरिता (Soveregnty) का अन्त कर 'एकराजता' की स्थापना हो। पर इस नीति के कारण संघ-जनपदों की पृथक् सत्ता व आन्तरिक स्वतन्त्रता का अन्त नहीं हो जाता था। चाणक्य भली भाँति समझते थे कि संघों में अपनी स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता की भावना को पूर्णतया नष्ट कर सकना सुगम नहीं है। इसी कारण उन्होंने यह प्रतिपादित किया था,[२] कि (१) संघों के अपने धर्म (कानून), चरित्र और व्यवहार को कायम रखा जाए, (२) उनके देवताओं, समाजों, उत्सवों और विहारों के प्रति आदर व आस्था प्रदर्शित की जाए, (३) उनके शील, वेश, भाषा और आचार का आदर किया जाए, (४) उनके ग्राममुख्यों, जातिमुख्यों और संघमुख्यों को अपने अनुकूल बनाया जाए, (५) कैदियों को मुक्त करके और विविध प्रकार से दीन, अनाथ व व्याधिपीड़ित व्यक्तियों की सहायता कर उनकी जनता की सहानुभूति प्राप्त की जाए, और (६) इन संघ-जनपदों में अपने राजशासन व कानून को जारी करते हुए यह ध्यान में रखा जाए कि वे वहाँ के परम्परागत कानूनों के प्रतिकूल न हों। इसमें सन्देह नहीं, कि विशाल मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रूप से जिन बहुत-से संघ-जनपदों की सत्ता थी, उनमें जहाँ अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार पूर्ववत् कायम रहे थे, वहाँ साथ ही उनमें संघ-मुख्य भी पहले के ही समान विद्यमान थे, यद्यपि वे अब मौर्य सम्राट् के प्रति आनुकूल्य भावना रखने लगे थे और उसे अपना अधिपति व 'एकराज' भी स्वीकार करते थे।

मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत सभी जनपदों में संघ-शासन नहीं था। अनेक जनपद ऐसे भी थे, जिनमें राजतन्त्र शासनों की सत्ता थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक विध राजतन्त्र जनपदों का उल्लेख किया गया है, जिनमें राज्य, द्वैराज्य और वैराज्य प्रधान हैं। जिस जनपद में किसी वंशक्रमानुगत राजा का शासन हो, उसे 'राज्य' कहते थे। जिस जनपद में

१. **'संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।' कौ. अर्थ. ११।१**

२. **'तस्मात्समानशीलवेषभाषाचारतामुपगच्छेत । देशदैवतसमाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत।'**
कौ. अर्थ. १३।५

दो राजाओं का शासन हो, उसकी संज्ञा 'द्वैराज्य' थी। प्राचीन ग्रीस और इटली में भी अनेक ऐसे नगर-राज्य थे, जिन्हें द्वैराज्य कहा जा सकता है। ग्रीस में स्पार्टा द्वैराज्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। प्राचीन रोम में भी दो 'कान्सलों' का एक साथ शासन रहता था, अतः वह भी द्वैराज्य था। महाभारत के सभापर्व के अनुसार अवन्ति जनपद के राजा विन्द और अनुविन्द थे, जिन्हें सहदेव ने परास्त किया था।[1] वैराज्य उस शासन को कहते थे, जिसमें जनपद के न्याय्य राजा के जीवित होते हुए ही कोई विदेशी राजसिंहासन पर अधिकार कर ले, और यह अनधिकृत व्यक्ति (Imposter) राज्य को 'यह मेरा तो है नहीं' समझकर उसका मनमाने ढंग से अपकर्षण करे, उसकी सम्पत्ति को पण्य के रूप में विक्रय करे, उसके सुशासन की परवाह न करे और जब जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हो, तो उसे छोड़ कर चले जाने में भी संकोच न करें।[2]

चाणक्य ने इन विविध प्रकार के राजतन्त्र शासनों के गुण दोषों का विवेचन भी किया है। द्वैराज्य का दोष यह है कि दो राजाओं की सत्ता के कारण उनमें पारस्परिक द्वेष, पक्षपात, किसी का किसी के प्रति अनुराग तथा परस्पर संघर्ष होते रहने से ऐसा राज्य नष्ट हो जाता है।[3] वैराज्य का दोष यह है कि ऐसे राज्य के राजा को अपने जनपद के प्रति ममता नहीं होती, वह उसे अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये शोषित करता है, उसकी सम्पत्ति को पण्य के समान समझता है और जनता का विरोध होने पर जनपद को छोड़कर चल देता है। ऐसे शासक की जनपद के प्रति न भक्ति होती है, और न उसमें कर्तव्य की भावना ही होती है।

जिन जनपदों को चाणक्य ने 'राज्य' की संज्ञा दी है, और जिनमें वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन होता है, शासन की दृष्टि से वे भी तीन प्रकार के होते थे—(१) अन्ध, (२) चलितशास्त्र, और (३) शास्त्रानुकूल शासन करनेवाला राजा। अन्ध राजा वह है, जो शासन कार्य में शास्त्रमर्यादा का पालन न करे, जो 'यत्किञ्चनकारी' (जो चाहे करनेवाला) हो, जो जिद्दी हो और दूसरे जिसे सुगमता से अपने पीछे चलाकर मनमानी कर सकें।[4] वर्तमान शब्दों में हम ऐसे राजा को स्वेच्छाचारी व एकतन्त्र कह सकते हैं। 'चलितशास्त्र'

---

१. 'विन्दानुविन्दौ आवन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्॥' महाभारत, सभापर्व ३१।१०

२. 'वैराज्यं तु जीवतः परस्याच्छिद्य "नैतन्मम" इति मन्यमानः कर्शयत्यपवाहयति, पण्यं वा करोति, विरक्तं वा परित्यज्य अपगच्छतीति।" कौ. अर्थ. ८।२

३. "द्वैराज्यवैराज्ययोः द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति।' कौ. अर्थ. ८।२

४. "अशास्त्रचक्षुरन्धो यत्किञ्चनकारी दृढ़ाभिनिवेशी परप्रणेयो वा राज्यमन्याय्येनोपहन्ति।' कौ. अर्थ. ८।२

राजा वह है जिसकी वुद्धि शास्त्र से विमुख हो, और जो अन्यायी हो।[1] जो शास्त्रानुकूल शासन करे, और स्वेच्छाचारी व निरंकुश न हो, ऐसा राजा तीसरे प्रकार का होता है। अन्ध और चलितशास्त्र राजाओं में कौन अधिक अच्छा है, इस विषय पर चाणक्य ने पुराने आचार्यों का यह मत उद्धृत किया है कि अन्ध राजा अन्याय और कुशासन के कारण अपने राज्य का नाश कर देता है; पर 'चलितशास्त्र' राजा की मति जव शास्त्र के विपरीत आचरण करने के लिये प्रवृत्त हो, तो उसे ऐसा करने से रोक कर शास्त्र मर्यादा में ला सकना सुगम है। अतः अन्ध और चलितशास्त्र राजाओं में चलितशास्त्र राजा अधिक अच्छा होता है।[2] पर चाणक्य की सम्मति इतके विपरीत है। उनकी युक्ति यह है कि यदि अन्ध राजा के सहायक अच्छे हों, तो वे उसे कभी-कभी सही मार्ग का अनुसरण करने के लिये प्रेरित भी कर सकते हैं, पर जिस राजा की वुद्धि शास्त्र से हट गई हो, उसे सही मार्ग पर ला सकना सम्भव नहीं होता। वह अन्याय द्वारा अपना और अपने राज्य का विनाश कर लेता है। अतः अन्ध और चलित शास्त्र राजाओं में अन्ध राजा को ही अधिक अच्छा समझना चाहिये।[3]

चाणक्य इस तथ्य को भलीभाँति समझते थे कि अन्ध और चलितशास्त्र राजाओं को जीत सकना बहुत सुगम होता है। ऐसे राजाओं की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि शत्रु राजा इस प्रकार के हों, तो उन्हें सुगमता से जीता जा सकता है। वह शत्रु राजा (विजय करने की दृष्टि से) वाञ्छनीय है, जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ हों—(१) अराजवीजी—जो किसी अभिजात वंश में उत्पन्न न हुआ हो। (२) लुब्ध :—जो लोभी हो। (३) क्षुद्रपरिषत्कः—जिसकी परिषद् क्षुद्र हो। (४) विरक्त प्रकृतिकः—जिसकी प्रजा का उसके प्रति अनुराग न हो। (५) अन्यायवृत्ति :—जो अन्याय की वृत्ति रखता हो। (६) अयुक्त—जिसका चरित्र उत्कृष्ट न हो। (७) व्यसनी—जो व्यसनों में फंसा हुआ हो। (८) यत्किंचनकारी—जो स्वेच्छाचारी हो या जो मनमानी करनेवाला हो। (९) निरुत्साहः—जिसमें उत्साह का अभाव हो। (१०) दैवप्रमाण :—जो भाग्यवाद में विश्वास रखता हो। (११) अननुबन्ध :—जिसकी प्रजा के साथ राजा का कोई अनुवन्ध (संविदा या इकरार) न हो। (१२) अगति :—जिसमें कार्यशीलता का अभाव हो। (१३) क्लीव :—जो नपुंसक हो। (१४) नित्यापकारी—जो सदा

---

१. 'चलितशास्त्रस्तु शास्त्रादन्यथाभिनिविष्टबुद्धिरन्यायेन राज्यमात्मानं चोपहन्तीति।' कौ. अर्थ. ८।२

२. कौ. अर्थ. ८।२

३. 'नेति कौटल्यः—"अन्धो राजा शक्यते सहायसम्पदा यत्रतत्र वा पर्यवस्थापयितुमिति। चलितशास्त्रस्तु शास्त्रादन्यथाभिनिविष्टबुद्धिरन्यायेन राज्यमात्मानं चोपहन्तीति।" कौ. अर्थ. ८।२

दूसरों का अपकार करने वाला हो।[१] अन्यत्र भी चाणक्य ने ऐसे राजाओं का उल्लेख किया है, जिन्हें उन्होंने अशास्त्रचक्षु, अन्ध, यत्किञ्चनकारी, दृढ़ाभिनिवेशी और परप्रणेय कहा है। निःसन्देह, ऐसे राजा चाणक्य के युग में विद्यमान थे, और उनकी सम्मति में उनके राज्यों को सुगमता के साथ विजय किया जा सकता था।[२]

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से राजाओं के कतिपय अन्य वर्गों का भी निर्देश मिलता है। चाणक्य ने इन प्रश्नों पर विचार किया है—(१) व्याधित और नये राजा में कौन अधिक अच्छा है, और (२) अभिजात (कुलीन) और अनभिजात (हीनकुल के) राजाओं में कौन अधिक अच्छा होता है। इस विचार के प्रसंग में व्याधित (रुग्ण) राजा के भी दो भेद किये गये हैं, पाप रोगी (जो नैतिक दृष्टि से रोगी हो) और अपरोगी (शरीर से जो रुग्ण हो)।[३] अभिजात राजा के भी दो भेद हैं—दुर्बल और बलवान्। यही दो भेद अनभिजात राजाओं के भी हैं।[४]

मौर्य युग के राजतन्त्र जनपदों के शासन को समझने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र के एक प्रसङ्ग को उद्धृत कहना उपयोगी है। वहाँ लिखा है—"कौन राजा अधिक अच्छा है, व्याधित या नव? व्याधित राजा के शासन का संञ्चालन मन्त्री करते हैं, अतः (मन्त्रियों के षड्यन्त्रों के कारण) या तो राजा अपने प्राणों से हाथ धो लेता है और या उसका राज्य छिन जाता है। पर नवराजा स्वधर्म के पालन, प्रजा के प्रति अनुग्रह, परिहार (टैक्सों की छूट), दान और दूसरों के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर जनता का रञ्जन और उपकार करता है, अतः नवराजा श्रेष्ठ है। यह आचार्यों का मत था,[५] पर चाणक्य इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि व्याधित राजा विविध राजप्रणिधियों (राजकीय अमात्यों व मन्त्रियों) का अनुवर्ती होकर राज्यकार्य का यथावत् सम्पादन करता रहता है। पर क्योंकि नया राजा बलप्रयोग द्वारा राज्य को प्राप्त करता है, अतः वह यह समझ कर कि यह राज्य मेरा है, यथेष्टाचार (स्वेच्छाचार) करने लगता है और उस पर कोई नियन्त्रण नहीं रह पाता। यदि कोई सत्ताएँ परस्पर सम्मिलित होकर उसके राज्य पर उपघात

---

१. 'अराजबीजलुब्धः क्षुद्रपरिषत्को विरक्तप्रकृतिरन्यायवृत्तिरयुक्तो व्यसनी निरुत्साहो दैवप्रमाणो यत्किञ्चन कार्यकारीरननुबन्धः क्लीबो नित्यापकारी चेत्यमित्रसम्पत्।" कौ. अर्थ. ६।१

२. 'एवं भूतो हि शत्रुस्सुखः समुच्छेत्तुं भवति।' कौ. अर्थ. ६।१

३. 'व्याधिते विशेषः—पापरोग्यपरोगी च।' कौ. अर्थ. ८।२

४. 'नवेऽप्यभिजातोऽनभिजात इति।' कौ. अर्थ. ८।२

५. 'व्याधितो नवो वा राजेति?—"व्याधितो हि राजा राज्योपघातममात्यमूलः प्राणाबाधं वा राज्यमूलमवाप्नोति। नवस्तु राजा स्वधर्मानुग्रहपरिहारदानमानकर्मभिः प्रकृतिरञ्जनोपकारैश्चरतीत्याचार्याः" कौ. अर्थ. ८।१

(आघात) करने लगें, तो वह उन्हें सहन कर लेता है। क्योंकि जनता में उसकी कोई स्थिति नहीं होती (वह राज्य में बद्धमूल नहीं होता), अतः सुगमता के साथ उसका उच्छेद किया जा सकता है। चाणक्य की सम्मति में नव राजा की तुलना में व्याधित राजा अधिक अच्छा था, चाहे वह पापरोगी हो या अपरोगी।[1]"

अभिजात नव राजा यदि दुर्बल हो, तो वह अधिक अच्छा है या ऐसा राजा जो अभिजात कुल का तो न हो, पर बलवान् हो ? इस प्रश्न पर भी चाणक्य का पुराने आचार्यों से मतभेद था। जो राजा वंशक्रमानुगत न हों, ऐसे राजा दो प्रकार के हो सकते हैं, उत्कृष्ट कुल में उत्पन्न (अभिजात) और हीन कुल के (अनभिजात)। फिर ये दोनों प्रकार के राजा बलवान् भी हो सकते हैं, और निर्बल भी। आचार्यों का मत था, कि अभिजात कुल के दुर्बल राजा की गतिविधि या कार्यनीति को राजा के दौर्बल्य के कारण जनता कठिनता से ही सहन कर पाती है। इसके विपरीत अनभिजात कुल में उत्पन्न बलवान् राजा की गतिविधि या कार्यनीति को जनता सहन कर लेती है, क्योंकि वह बलवान् होता है।[2] पर चाणक्य का मत इससे भिन्न था। उनका कथन था कि यदि अभिजात राजा दुर्बल भी हो, तो भी जनता स्वयं उसके सम्मुख झुक जाती है, क्योंकि समृद्ध जनता में कुलीनता को महत्त्व देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यदि अनभिजात राजा बलवान् भी हो, तो भी जनता उसकी गतिविधि व कार्यनीति को सहन नहीं कर पाती, क्योंकि सद्गुणों के प्रति ही लोग अनुकूल भावना रखा करते हैं।[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण को पढ़कर हमारा ध्यान स्वाभाविक रूप से प्राचीन ग्रीस के उन राजाओं के प्रति आकृष्ट होता है, जिन्हें 'टायरन्ट' कहा जाता था। ये राजा किसी अभिजात वंश के न होने के कारण जनता का स्नेह या भक्ति प्राप्त नहीं कर सकते थे, और प्रजा से इनका कोई अनुबन्ध भी नहीं होता था। पुरानी शासन-संस्थाओं की सर्वथा उपेक्षा कर ये मनमाने व स्वेच्छाचारी ढंग से शासन का सञ्चालन किया करते थे। सम्भवतः, भारत में भी ऐसे राजाओं की सत्ता थी और इन्हीं को चाणक्य ने 'नव' की संज्ञा प्रदान की है।

---

१. 'नेति कौटल्यः—व्याधितो राजा यथाप्रवृत्तं राजप्रणिधिमनुवर्तयति। नवस्तु राजा बलावर्जितं "ममेदं राज्यम्" इति यथेष्टमनवग्रहश्चरति। सामुत्थायकैरवगृहीतो वा राज्योपघातं मर्षयति। प्रकृतिष्वगूढः सुखमुच्छेत्तुं भवति।" कौ. अर्थ. ८।२

२. 'दुर्बलोऽभिजातो बलवाननभिजातो राजेति ?—"दुर्बलस्याभिजातस्योपजापं दौर्बल्यापेक्षाः प्रकृतयः कृच्छ्रेणोपगच्छन्ति। बलवतश्चानभिजातस्य बलापेक्षास्सुखेन।" इत्याचार्याः। कौ. अर्थ. ८।२

३. 'नेति कौटल्यः—"दुर्बलमभिजातं प्रकृतयस्स्वयमुपनमन्ति। जात्यमैश्वर्यप्रकृतिरनुवर्तत इति। बलवतश्चानभिजातस्योपजापं विसंवादयन्ति... "अनुयोगे साद्गुण्यम्।" कौ. अर्थ. ८।२

यद्यपि ये 'नव' और 'अनभिजात' राजा जनपदों की परम्परागत शासन-संस्थाओं की उपेक्षा कर शासन करते थे, पर ऐसे जनपद भी विद्यमान थे जिनके राजा शास्त्रानुकूल रूप से और पुरानी शासन-संस्थाओं को कायम रखते हुए शासनसूत्र का संचालन करते थे। ये शासन-संस्थाएँ मन्त्रिपरिषद् और पौर-जानपद थीं। जिन राज्यों में 'अक्षुद्र परिषद्' हो, चाणक्य ने उन्हें उत्तम माना है। मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं। मन्त्रिपरिषद् की सत्ता न केवल साम्राज्य के केन्द्रीय शासन में थी, अपितु साम्राज्य के अन्तर्गत राजतन्त्र जनपदों में भी वे विद्यमान थीं। केवल 'नव' राजाओं के जनपदों में ही उनका अभाव था, क्योंकि ये राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी व निरंकुश थे।

पौर और जनपद ऐसी संस्थाएँ थीं, जो मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय शासन में तो नहीं थीं, पर उसके अन्तर्गत राजतन्त्र जनपदों में ('नव' राजाओं द्वारा शासित जनपदों के अतिरिक्त) जिनकी सत्ता कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर पौर जानपद का उल्लेख हुआ है। राजा अपने कोश को किस प्रकार से पूर्ण करे, इसका विवेचन करते हुए चाणक्य ने पहले विशेष परिस्थितियों में विशेष करों का जिक्र किया है, और फिर यह लिखकर कि ऐसी मागें केवल एक ही बार प्रस्तुत करनी चाहियें, यह प्रतिपादित किया है, कि "समाहर्ता कार्य (प्रयोजन) का निर्देश कर के पौर जानपद से भिक्षा ले (भिक्षा के रूप में माँग प्रस्तुत करे)।[1]" "राजा ऐसे अनुग्रह और परिहार (टैक्स में छूट) दे जो कि कोश में वृद्धि करनेवाले हों। जिनसे कोश को हानि पहुँचती हो, ऐसे परिहार न दे। अल्पकोश वाला राजा पौर-जानपद को ही ग्रसता है।[2]"

'लब्धप्रशमनम्' (जीते हुए जनपदों की व्यवस्था) प्रकरण में चाणक्य ने लिखा है कि जीते हुए जनपद का शासक विजेता राजा को संतुष्ट व प्रसन्न रखने के लिये जब कोश और सेना से उसकी सहायता करना चाहता है, तो इस बात की आशंका रहती है कि पौर-जानपद कुपित न हो जाएँ और कुपित होकर उसका (विजित जनपद के शासक का) घात न कर दें।[3] कौटल्य ने जहाँ राजा की दिनचर्या दी है, उसमें पौर-जानपद के कार्यों के लिये भी पृथक् रूप से समय देने की व्यवस्था की है।[4]

कौटलीय अर्थशास्त्र के इन निर्देशों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग के अनेक (राजतन्त्र) जनपदों में पौर-जानपद संस्थाओं की सत्ता विद्यमान थी। जनपद

---

१. 'तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत्।' कौ. अर्थ. ५।२

२. 'अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कोशोपघातिकौ वर्जयेत्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते।" कौ. अर्थ. २।१

३. 'कोशदण्डदानमवस्थाप्य यदुपकुर्वाणः पौरजानपदान् कोपयेत्, कुपितैस्तैरेनं घातयेत्।' कौ. अर्थ. १३।५

४. 'द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्।' कौ. अर्थ. १।१९

की राजधानी को 'पुर' कहते थे, और जनपद के शासन में उसका विशिष्ट स्थान था। 'पुर' की सभा की संज्ञा "पौर" थी। यह पुरसभा या पौर-सभा राजधानी के शासन का संञ्चालन करती थी। 'जानपद' जनपद की सभा थी, जिसमें जनपद के विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित हुआ करते थे। प्राचीन साहित्य और शिलालेखों में अनेक स्थानों पर इन पौर-जानपद सभाओं का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब कोशल जनपद के राजा दशरथ ने भारत के प्राचीन राजाओं की परम्परा का अनुसरण कर राम को अपना उत्तराधिकारी नियत करना चाहा, तो उन्होंने पौर-जनपद की सम्मति ली।[१] महाभारत के शान्ति पर्व में भी पौर जानपद का उल्लेख किया गया है। वहाँ लिखा है कि आपत्ति की आशंका से जब राजा कोश को सञ्चित करना चाहे, तो उसे चाहिये कि संश्रित (अधिवेशन में एकत्र) और उपाश्रत (जो विश्राम कर रहे हों) दोनों प्रकार के पौर जानपदों, चाहे वे 'स्वल्पधन' भी क्यों न हों, के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शित करे। धन की माँग प्रस्तुत करने से पूर्व उनके सम्मुख राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित भय को प्रदर्शित करनेवाला भाषण दिया जाए।[२] दिव्यावदान में यह कथा आती है कि अशोक ने कुणाल को अन्धा करने का आदेश 'पौर' के नाम पर भेजा था।[३] महाक्षत्रप रुद्रदामा का जो शिलालेख गिरनार की सुदर्शन झील के बाँध का पुनः निर्माण करने के सम्बन्ध में उपलब्ध हुआ है, उसमें भी उसने 'पौर जानपद' का उल्लेख किया है।[४] अशोक के शिलालेखों में भी पौर जानपद के विषय में राजा द्वारा अपने कर्मचारियों को दिये गये आदेश उल्लिखित हैं, जिन पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। 'मृच्छकटिकम्' नाटक में एक ऐसे राजा के पदच्युत किये जाने का उल्लेख है, जिसने कि एक सार्थवाह के साथ दुर्व्यवहार किया था। पदच्युत राजा का भाई 'पौरों को आश्वस्त' करके राजा बना, और राजपरिवर्तन ने इस समाचार को लेकर एक दूत 'जनपद-समवाय' (जानपद सभा) के पास आया।[५] मृच्छकटिकम् में स्पष्ट रूप से 'पौर'

---

१. 'उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिमेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ रामायण २।१४।५४

२. "पौरजानपदान्सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा ।
यथाशक्तयनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनान्यपि ॥
प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः ।
सन्निपत्ये स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥' महा. शान्ति. ७८।२४-२६।

३. 'तक्षशिलापौरा अर्धत्रिकाणि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा प्रत्युद्गताः, वक्ष्यति च ।' दिव्यावदान, पृ. ४०७

४. 'अपीडयित्वा करविष्टिप्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात् कोशान् महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन...सेतु...करितम् ।' (जूनागढ़ शिलालेख)

५. 'पौरान् समाश्वास्य'

और 'जनपद समवाय' का इस ढंग से उल्लेख किया गया है, जिससे उनका संस्था होना सूचित होता है। 'दशकुमार चरितम्' में एक राजा के भाइयों के सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि 'पौर जानपदाः' के साथ उनकी मैत्री थी।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति में 'जानपद गण' का उल्लेख है, जिसे राजा को 'धर्म-चलित' नहीं होने देना चाहिये।[2]

इन सबको दृष्टि में रखकर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि भारत के प्राचीन जनपदों में पौर-जानपद सभाओं की सत्ता होती थी। मौर्य युग में जो जनपद मागध साम्राज्य के अधीन हो गये थे, उनमें भी ये सभाएँ पूर्ववत् विद्यमान रहीं। कौटलीय अर्थशास्त्र में जहाँ 'पौर जानपद' का उल्लेख है, वह साम्राज्य के अन्तर्गत जनपदों की पौर जानपद सभाओं के ही परिचायक हैं।

कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर जनपदों के स्वरूप और शासन के सम्बन्ध में जो विवेचन इस प्रकरण में किया गया है, उसका सार निम्नलिखित है––

(१) मागध साम्राज्य के विकास-काल में भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, जिनमें से कुछ में राजतन्त्र शासन पद्धति थी, और कुछ में गण या संघ शासन विद्यमान थे। राजतन्त्र जनपदों के भी अनेक वर्ग थे, राज्य, द्वैराज्य, वैराज्य आदि। एक राजा वाले राज्यों के राजा भी अनेक प्रकार के थे, अन्ध राजा, चलितशास्त्र राजा और शास्त्रानुकूल शासन करने वाले राजा। ये राजा व्याधित भी हो सकते थे, और नव भी। नव राजा (जो वंशक्रमानुगत न हों) अभिजात भी थे और अनभिजात भी। कुछ राजा दुर्बल भी थे, और कुछ बलवान् भी। संघ-जनपदों के मुख्य भेद 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' और 'राजशब्दोपजीवि' तथा 'अभिसंहत' और 'विगुण' थे।

(२) इन विविध जनपदों के प्रति मगध के सम्राटों की यह नीति थी कि इन्हें जीतकर हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण भूमि में 'एकराजता' की स्थापना की जाए। जो संघ-जनपद 'विगुण' होने के कारण निर्बल हों उन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया जाए, और जो 'अभिसंहत' होने के कारण शक्तिशाली हों उनसे मैत्री स्थापित कर उन्हें अपने अनुकूल व वशवर्ती बनाया जाए।

(३) विविध जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा गया था। विजिगीषु राजा उनके धर्म, चरित्र, शील और व्यवहार को यथापूर्व कायम रहने देते थे, और उन की भाषा, देवता, समाज और उत्सव आदि के प्रति आदर सत्कार प्रदर्शित करते थे। दान, उपहार, टैक्सों में छूट, सत्कार आदि साधनों से जनपदों की जनता को संतुष्ट किया जाता था, और संघ-मुख्यों के प्रति भी आदर-भाव प्रदर्शित किया जाता था।

---

१. 'अनुजाः पुनः अतिबह्वः तैरपि घटन्ते पौरजानपदाः ।'

२. 'कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि ।"
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि । याज्ञवल्क्य स्मृति १।३६०-६१

मौर्य सम्राटों ने चाणक्य द्वारा प्रतिपादित इसी नीति का अनुसरण किया था। इसी कारण यद्यपि वे भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने में समर्थ हुए थे, तथापि उनके साम्राज्य में बहुत-से ऐसे जनपद विद्यमान रहे थे जो आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र थे, जिनके धर्म, चरित्र, व्यवहार व शासन-संस्थाएँ पूर्ववत् कायम थीं, और जो शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् सत्ता रखते थे।

मौर्यों के 'एकराज' शासन में भी जो भारतीय जनता अनेक अंशों में अपना शासन स्वयं किया करती थी, उसका प्रधान कारण इन अनेकविध जनपदों की सत्ता ही थी। हमारे पास यह जानने के कोई साधन नहीं हैं, कि चाणक्य की नीति का अनुसरण कर किन जनपदों को पूर्णतया अपने अधीन कर लिया गया था, और किन के साथ मैत्री कर उन्हें अपना सहायक व वशवर्ती वनाया गया था। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि, वृजिक आदि जो अनेक गणतन्त्र जनपद उत्तरी विहार में स्थित थे, उन्हें मौर्यों से पूर्व ही मगध के राजाओं ने जीत लिया था। वत्स, कोशल और अवन्ति के महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने भी पड़ोस के अनेक जनपदों की स्वतन्त्रता का अन्त किया था। पर इन साम्राज्यवादी राजाओं के प्रयत्न जनपदों की पृथक् सत्ता और स्वातन्त्र्य भावना को नष्ट कर सकने में असमर्थ रहे थे। यही कारण है, कि मगध के साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होते ही वहुत-से पुराने जनपद पुनः स्वतन्त्र हो गये। अशोक की मृत्यु के साथ यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी, और शुङ्ग वंश के शासन-काल में भारत के बहुत वड़े भाग पर ये पुराने जनपद फिर से प्रगट हो गये थे। मौर्य साम्राज्य की शासन-व्यवस्था का अनुशीलन करते हुए इस तथ्य को दृष्टि में रखना बहुत आवश्यक है। कौटलीय अर्थशास्त्र में जनपदों के सम्वन्ध में विजिगीषु राजा की नीति का जो इतने अधिक विस्तार से प्रतिपादन किया गया है, उसका यही कारण है।

(३) नगरों का शासन

नगरों के शासन के सम्वन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र (२।३६) में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश विद्यमान हैं, जो जनपदों की राजधानी (पुर) के शासन पर प्रकाश डालते हैं। जनपद में पुर की स्थिति वहुत महत्त्व की होती थी, यह पहले लिखा जा चुका है। इन पुरों को प्रायः दुर्ग के रूप में वनाया जाता था। जिस प्रकार सम्पूर्ण जनपद का प्रधान राज-पदाधिकारी समाहर्ता होता था, वैसे ही पुर का प्रधान शासक 'नागरक' था। शासन की दृष्टि से पुर या नगर को अनेक भागों में विभक्त किया जाता था, जिनमें सवसे छोटा भाग १० या २० या ४० परिवारों के निवास-स्थानों से मिलकर वनता था। इनके अधिकारी को 'गोप' कहते थे। गोप के ये कार्य थे—अपने क्षेत्र में निवास करनेवाले सव स्त्री-पुरुषों के नाम, गोत्र और जाति को जानना, वे क्या पेशा करते हैं, और उनकी क्या आमदनी है और कितना खर्च है, यह पता रखना। गोप से ऊपर 'स्थानिक' संज्ञा का पदाधिकारी होता था, जो सम्पूर्ण पुर के चतुर्थ भाग का शासक था। स्थानिक के अधीन अनेक

गोप कार्य करते थे, और पुर के चारों स्थानिक नागरक के अधीन होते थे। सम्भवतः, ये तीनों वर्गों के शासक—नागरक, स्थानिक और गोप—केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे।

पुर के शासन में इन राजपदाधिकारियों को क्या-क्या कार्य करने होते थे, इस बात का परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र के 'नागरकप्रणिधिः' अध्याय से प्राप्त होता है। नगर में निवास करनेवाले सब स्त्री-पुरुषों के नाम, गोत्र, जाति आदि को जानना गोप का कार्य था, यह अभी लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग के पुरों में इस बात पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था, कि जो कोई भी व्यक्ति उनमें निवास, भ्रमण, व्यापार या किसी भी कार्य से आए, उसकी जानकारी पुर के अधिकारियों को रहे। इसीलिये चाणक्य ने ये व्यवस्थाएँ की थीं—धर्मस्थानों (मन्दिर, धर्मशाला आदि) में ठहरने के लिये जो भी पथिक (यात्री) या पाषण्ड (धार्मिक सम्प्रदाय के व्यक्ति) आएँ, उन्हें तभी वहाँ ठहराया जाए, जबकि उनके आगमन की सूचना तुरन्त अधिकारियों को दे दी जाए। तपस्वियों और श्रोत्रियों को तभी इन स्थानों पर ठहरने दिया जाए, जबकि वे जाने-पहचाने और विश्वास-योग्य हों। शिल्पी, कारु (कारीगर), वैदेहक (व्यापारी) शौण्डिक (शराब बेचनेवाले), पाक्वमांसिक (मांस को पकाकर बेचनेवाले), औदनिक (भात बेचनेवाले), रूपाजीवा (वेश्या) आदि के लिये भी यही आदेश था, कि वे केवल ऐसे व्यक्तियों को ही अपने पास ठहरने दें, जो उनकी जान-पहचान के हों और जिनपर उनका पूर्ण विश्वास हो। जब कोई अपरिचित व्यक्ति किसी के पास ठहरने के लिये आए, तब उसकी सूचना गोप (या स्थानिक) को दी जाए, और जब वह अपने पास से जाए, तब भी उसकी सूचना दी जाए। ऐसा न करने पर तीन पण का जुरमाना किया जाए, और यदि उस रात (जब कोई ऐसा अपरिचित किसी के पास ठहरा हो, जिसकी सूचना न दी गई हो।) कोई वारदात हो गई हो, तो उसकी उत्तरदायिता उस पर रहे जिसने बिना सूचना दिये अपरिचित को ठहराया हो। इन निर्देशों से स्पष्ट है कि गोप और स्थानिक जैसे राजपदाधिकारियों का एक महत्त्व पूर्ण कार्य यह था, कि नगर में आने-जानेवाले सब लोगों पर निगाह रखें और किसी की भी गतिविधि उनसे छिपी न रहे। साम्राज्यवाद के विकास के इस युग में विभिन्न जनपदों के सत्री (गुप्तचर) सिद्ध, वैदेहक, शिल्पी, वेश्या आदि के भेस बनाकर कार्य किया करते थे, और वे दूसरे जनपदों में अव्यवस्था उत्पन्न करने और विनाशकारी कार्यों के सम्पादन में तत्पर रहा करते थे। उनसे अपने पुर की रक्षा के लिये ही ये व्यवस्थाएँ की गई थीं।

यदि कोई व्यक्ति बहुत अधिक व्यय कर रहा हो और यदि कोई खतरे के कामों में लगा हो, तो उसकी सूचना भी गोप या स्थानिक को दी जाए। यह सन्देह किया जा सकता था, कि ऐसे व्यक्ति किसी विदेशी राज्य के गुप्तचर हैं या उससे धन प्राप्त कर अपने जनपद को क्षति पहुँचाने के लिये प्रयत्नशील हैं। इसी कारण उनपर ध्यान रखना भी नगर के अधिकारियों का कार्य था। (कौ० अर्थ० २।३६)

नगर में सफाई रखना भी नागरक आदि का कर्तव्य था। इसके लिये भी अनेक व्यवस्थाएँ की गई थीं। गली में गन्द फेंकने पर $\frac{1}{8}$ पण जुरमाना किया जाता था। गली में पानी या कीचड़ इकट्ठा होने देने पर $\frac{1}{4}$ पण जुरमाने की व्यवस्था थी। यदि यही राजमार्ग पर किया जाए, तो दुगना जुरमाना लिया जाता था। पुण्य-स्थान (तीर्थ-स्थान), उदक-स्थान (जलाशय, कुंआ आदि), देवगृह (मन्दिर) और राजकीय इमारतों के समीप विष्टा करने पर एक पण या अधिक जुरमाना किया जाता था, और मूत्रोत्सर्ग करने पर इससे आधा। पर यदि ऐसा औषधि के प्रयोग, व्याधि (बीमारी) या भय के कारण किया गया हो, तो कोई दण्ड नहीं दिया जाता था।[11] नगर के अन्दर कहीं यदि कोई मार्जार (बिल्ली), श्व (कुत्ता), नकुल (नेवला) या साँप का मृत शरीर फेंके, तो उसे तीन पण जुरमाना किया जाता था, और गधे, ऊँट, खच्चर, घोड़े व गाय बैल की लाश फेंकने पर इससे दुगना। मनुष्य की लाश नगर में फेंक देने पर पचास पण जुरमाने की व्यवस्था थी। (कौ० अर्थ० २।३६)

शव को श्मशान में ले जाने के लिये भी मार्ग नियत थे। अरथी को नगर के उसीद्वार से और उसी मार्ग से वाहर ले जाया जा सकता था, जो शवयात्रा के लिये निर्धारित हो। जो इसका अतिक्रमण करे, उसके लिये 'पूर्वस्साहसदण्ड' की व्यवस्था थी, और उस द्वार के रक्षकों के लिये जिन्होंने नियम के विरुद्ध शव को अपने द्वार से वाहर जाने दिया हो, २०० पण जुरमाने का विधान था। श्मशान के वजाय किसी अन्य स्थान पर यदि शव का दाह कर दिया जाए, या उसे कहीं और छोड़ दिया जाए, तो वारह पण जुरमाना किया जाता था।

ऊपर जिन व्यवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, उनका प्रयोजन यही था कि नगर में सफाई रहे और जनता के स्वास्थ्य को किसी प्रकार से क्षति न पहुँच सके। इसी उद्देश्य से नागरक और उसके कर्मचारियों के लिये यह भी आवश्यक था कि वे उदकस्थान (जलाशय, कुएँ आदि) का सदा निरीक्षण करते रहें। (कौ० अर्थ० २।३६)

नगर के निवासियों के माल और जान की रक्षा करना भी नागरक और उसके कर्मचारियों की उत्तरदायिता थी। इस सम्वन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र के कतिपय निर्देश उल्लेखनीय हैं। नगर की रक्षा के लिये जो कर्मचारी नियुक्त थे, चाणक्य ने उन्हें 'रक्षी' की संज्ञा दी है। निस्सन्देह, रक्षी पुलिस के कर्मचारियों को ही सूचित करता है। अर्थशास्त्र के अनुसार जो रक्षी ऐसे व्यक्ति को रोके जिसे नहीं रोकने चाहिये, और ऐसे व्यक्ति को न रोके जिसे रोकना चाहिये, तो उसे दण्ड दिया जाता था। रक्षियों के लिये सच्चरित्र होना आवश्यक माना जाता था। यदि रक्षी का किसी दासी (दास-स्त्री) के साथ अनुचित सम्वन्ध हो, तो उसे पूर्वस्साहसदण्ड दिया जाए। यदि वह किसी अदासी (जो दासी न हो) स्त्री से अनुचित सम्वन्ध रखे, तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाए। यदि उसका किसी ऐसी स्त्री से अनुचित सम्वन्ध हो जो अपराधी होने के कारण गिरफ्तार की हुई हो, तो उसे

उत्तम साहस दण्ड दिया जाए, और कुल-स्त्री (अभिजात कुल की स्त्री) से अनुचित सम्बन्ध होने पर प्राणदण्ड दिया जाए। चेतन या अचेतन –किसी भी प्रकार का रात्रिदोष होने पर यदि रक्षी उसकी सूचना नागरिक को न दे, तो उसे दोष (अपराध) के अनुरूप दण्ड दिया जाए। इसी प्रकार अपने कार्य में प्रमाद करने पर भी उसे दण्डित किया जाए। रात्रि के समय अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने की सम्भावना वनी रहती थी। चेतन मनुष्य (चोर, डाकू आदि) कुकर्म में पत्पर हो सकते थे, और आग लग जाने आदि की अचेतन घटनाएँ भी घटित हो सकती थीं। इन सव की नागरिक को सूचना देना रक्षियों का कार्य था। रात के समय नगर निवासियों की रक्षा एक महत्त्वपूर्ण वात थी। इसके लिये यह व्यवस्था की गई थी कि सूर्य डूब जाने के कुछ निश्चित समय के वाद तुरही वजा दी जाए। इसी प्रकार प्रातःकाल होने से कुछ समय पूर्व फिर तुरही वजायी जाए। इन तूर्य-शब्दों (तुरहीनाद) के वीच के काल में कोई व्यक्ति राजकीय भवनों के आसपास न आ-जा सके। जो इस नियम का अतिक्रमण करे, उसे दण्ड दिया जाए। जिस किसी की गतिविधि शङ्काजनक पायी जाए या जिसे अपराधी होने की शंका से गिरफ्तार किया गया हो, उससे पूछताछ की जाए। राजकीय भवनों के आसपास (शंकास्पद ढंग से) घूमते हुए जिसे पाया जाए, या नगर की रक्षा के लिये निर्मित प्राचीर पर जिसे चढ़ते हुए देखा जाए, उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाए। पर रात के समय यदि कोई वच्चा जनाने या चिकित्सा के लिये कहीं जाए, या शवदाह के लिये अरथी को ले जाए, या दीपक हाथ में लेकर कहीं जाए, या नागरक के पास किसी काम से जाए, या तुरही की प्रेक्षा को देखने के लिये जाए, या आग लग जाने पर उसे वुझाने के लिये जाए, या मुद्रा (राजकीय अनुमति का प्रमाण पत्र) लेकर कहीं जाए, तो उसे दण्द नहीं दिया जाना चाहिये। यदि कोई भेस वदलकर या छिपकर रात के समय वाहर निकले, या डण्डा व कोई अन्य अस्त्र लेकर निकले, तो उसे दोष के अनुसार दण्ड दिया जाए। ये सब व्यवस्थाएँ इसीलिये की गई थीं, कि नगर निवासियों की जान माल की सुचारु रूप से रक्षा हो सके। निस्सन्देह, नागरक का यह भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था।

आग न लग सके, इसकी व्यवस्था भी नागरक द्वारा की जाती थी। इस सम्वन्ध में भी कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक नियम प्रतिपादित किये गये हैं, जिन पर हम अन्यत्र यथा-स्थान प्रकाश डालेंगे।

चिकित्सकों पर भी नागरक का नियन्त्रण था। इसका प्रयोजन यह था, कि चिकित्सक किन्हीं ऐसे व्यक्तियों को छिपाने का प्रयत्न न कर सकें जिन्होंने कोई अपराध किया हो। चाणक्य ने लिखा है—'यदि चिकित्सक प्रच्छन्न व्रण वाले या अपथ्यकारी (भोजन, सुरापान आदि का अत्यधिक मात्रा में सेवन करने के कारण रोगी हुए) व्यक्ति की सूचना गोप या स्थानिक को दिये विना उसके रोग का प्रतीकार करे, तो उसे भी अपराधी के समान

दोष वाला माना जाए। यही दोष उस गृहस्वामी का भी माना जायगा, जिसके घर पर चिकित्सा की जायगी। (कौ० अर्थ० २।३६)

नगर में पण्य उसी स्थान पर बेचा जा सकता था, जो इस कार्य के लिये नियत हो पण्य के विक्रय के लिये समय भी नियत होता था। 'अदेशकाल विक्रेता' को दण्ड दिया जाता था।

मौर्य युग में नगरों के शासक नगर की सुरक्षा और सुशासन के लिये क्या व्यवस्थाएँ किया करते थे, यह जानने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र के ये निर्देश अत्यन्त महत्त्व के हैं। इन्हें पढ़ कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग के नगर सुशासित थे और उनमें निवास करने वाले लोगों की सब प्रकार की आपत्तियों से रक्षा के लिये समुचित व्यवस्था थी। नागरक की सहायता के लिये इस युग में किसी सभा की सत्ता थी या नहीं, इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। पर यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि पुरों की पुरानी पौर सभाएं इस काल में भी विद्यमान थी।

नगरों के शासन के सम्बन्ध में मैगस्थनीज़ के यात्रा विवरण से कुछ महत्त्व की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस यवन राजदूत ने पाटलिपुत्र के नगर-शासन का विशद रूप से वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगर सभा छः उपसमितियों में विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नलिखित थे—

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निर्धारित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम में लाते हैं, और मजदूरों के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति के कार्य थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शिल्पियों का समाज में आदरपूर्ण स्थान था। शिल्पियों को राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था। यही कारण है कि यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे जिसके कारण उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जाए, तो उसके लिये मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों की देखभाल और सत्कार करना था। आजकल जो कार्य विदेशों के दूत मण्डल करते हैं, उनमें से अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटलिपुत्र में आएँ, उन पर यह निगाह रखती थी। साथ ही, विदेशियों के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इसी उपसमिति के सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र में मृत्यु हो जाए, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबन्ध भी इसी द्वारा किया जाता था। मृत परदेसी की जायदाद व सम्पत्ति का प्रबन्ध भी यही उपसमिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का कार्य मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म का रिकार्ड रखना भी इसी का कार्य था। कर लगाने के लिये यह रिकार्ड बहुत उपयोगी होता था।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। भार और माप के मानों को निश्चित व नियन्त्रित करना, व्यापारी लोग उनका सही-सही उपयोग करते हैं इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था। व्यापारी जब किसी खास वस्तु को बेचने की अनुमति प्राप्त करना चाहते थे, तो इसी उपसमिति के पास आवेदन-पत्र भेजते थे। ऐसी अनुमति देते समय यह उपसमिति अतिरिक्त कर भी वसूल करती थी।

पाँचवीं उपसमिति व्यापारियों पर इस बात के लिये कड़ा निरीक्षण रखती थी कि वे नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचते। नये और पुराने पण्य को मिलाकर बेचना कानून के विरुद्ध था। इसे भंग करने पर सजा दी जाती थी। यह नियम इस कारण बनाया गया था, क्योंकि पुरानी वस्तुओं का विक्रय कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर सर्वथा निषिद्ध था।

छठी उपसमति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस युग में यह नियम था, कि जो कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाए, उसका दसवाँ भाग विक्रयकर के रूप में नगर सभा को प्रदान किया जाए। इस कर को न देने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

इस प्रकार छः उपसमितियों के पृथक्-पृथक् कार्यों का उल्लेख कर मैगस्थनीज़ ने लिखा है, कि "ये कार्य हैं जिन्हें उपसमितियाँ पृथक् रूप से करती हैं। पर पृथक् रूप से जहाँ उपसमितियों को अपने-अपने विशिष्ट कार्यों को सम्पादित करना होता है, वहाँ वे सब मिलकर सामूहिक रूप से सार्वजनिक या सर्वसामान्य हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं, यथा इमारतों को सुरक्षित रखना, उनकी मुरम्मत का ध्यान रखना, कीमतों को नियन्त्रित करना, और बाज़ार, बन्दरगाह और मन्दिरों का खयाल करना।[1]"

मैगस्थनीज़ के इस विवरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पाटलिपुत्र का का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथों में था। सम्भवतः, यही प्राचीन पौर सभा थी। यह कल्पना करना अनुचित नहीं है कि इसी प्रकार की सभाएँ तक्षशिला, उज्जयिनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि अन्य नगरों में भी रही होंगी। ये नगरियाँ पुराने महाजनपदों की राजधानी थीं, और इनका शासन भी ऐसी ही सभाओं द्वारा किया जाता होगा। केवल इन बड़े नगरों में ही नहीं, अपितु मागध साम्राज्य के अन्तर्गत विभिन्न जनपदों के पुरों (राजधानियों) में भी इसी प्रकार की पौर सभाओं की सत्ता सहज रूप से स्वीकृत की जा सकती है।

मैगस्थनीज़ का यह विवरण पाटलिपुत्र सदृश नगरों के उस स्वायत्त शासन को सूचित करता है, जो उनमें परम्परागत रूप से विद्यमान था। पर मौर्य साम्राज्य जैसे विशाल साम्राज्य के विकसित हो जाने पर यह भी आवश्यक हो गया था कि सम्राट् की ओर

---

१. McCrindle : Fragm. XXXIV.

से भी नगरों के सुशासन की व्यवस्था की जाए। इसीलिये केन्द्रीय सरकार द्वारा उनके शासन के लिये 'नागरक' की नियुक्ति की जाती थी, जिसके सम्बन्ध में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। नागरक जहाँ प्रत्येक नगर में नियुक्त थे, वहाँ साथ ही केन्द्रीय सरकार के अष्टादश अधिकारियों (तीर्थों) में भी नागरक नाम के एक महामात्य को स्थान प्राप्त था, जो नगरों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था।

यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र में कहीं भी नगर-सभा और उसकी उपसमितियों का उल्लेख नहीं मिलता, पर ऐसे निर्देश इस ग्रन्थ में अवश्य विद्यमान हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि नगर के शासन द्वारा वे सब कार्य सम्पन्न किये जाते थे जिनका उल्लेख मैगस्थनीज़ ने किया है। इस संदर्भ में चाणक्य की निम्नलिखित व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं—कारु, शिल्पी कुशीलव, चिकित्सक, वाग्जीवन आदि को कितना वेतन दिया जाए, इसका निर्णय इस आधार पर किया जाए कि उनके समान कार्य के लिये अन्यत्र कितना वेतन दिया जाता है, या कुशल (विशेषज्ञ) लोग इस प्रश्न का निर्णय करें। वेतन के सम्बन्ध में विवाद होने पर साक्षियों के आधार पर उसका निर्णय किया जाए।[1] यदि कोई स्वामी कारीगर, शिल्पी आदि को वेतन न दे, तो उस पर देय वेतन से दस गुना या छः पण जुरमाना किया जाए। यदि स्वामी वेतन की राशि का अपव्यय कर दे, तो इस प्रकार अपव्यय की गई राशि की पाँच गुना या बारह पण जुरमाना स्वामी पर किया जाए।[2] कार्यकर (मजदूर) और स्वामी में वेतन आदि के सम्बन्ध में जो अनुबन्ध हुआ हो, वह पड़ोस के लोगों को ज्ञात रहे। उन्हें यथासम्भाषित (जैसा कह दिया गया हो) वेतन दिया जाए।[3] कारु, शिल्पी, कर्मकर आदि के वेतन के सम्बन्ध में मौर्य युग में यह व्यवस्था थी, कि उन्हें 'यथासम्भाषित' वेतन दिया जाए। यदि यथासम्भाषित वेतन के सम्बन्ध में स्वामी (Employer) और कर्मकर में मतभेद हो, तो उसका निर्णय आसन्न (समीपवर्ती) व्यक्तियों की साक्षी के आधार पर किया जाए। यदि कोई वेतन यथासम्भाषित न हो, तो वेतन या पारिश्रमिक का निर्णय 'कुशलों' (experts) द्वारा किया जाए। कुशलों द्वारा वेतन के निर्धारित होने की बात अर्थशास्त्र में अन्यत्र भी लिखी गई है। वहाँ चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि जंगली पशुओं द्वारा आक्रान्त होने पर या किसी अन्य प्राकृतिक विपत्ति में फंस जाने पर यदि कोई व्यक्ति उस विपत्ति से मुक्त करने वाले पुरुष को अपना सर्वस्व प्रदान करने की

---

१. 'कारुशिल्पिकुशीलवचिकित्सकवाग्जीवनपरिचारकादिराशाकारिकवर्गस्तु यथाऽन्यस्तद्विधः कुर्यात्, यथा वा कुशलाः कल्पयेयुः, तथा वेतनं लभेत। साक्षिप्रत्ययमेव स्यात्।' कौ. अर्थ. ३।१३

२. 'वेतनादाने दशबन्धो दण्डः। षट्पणो वा। अपव्ययमाने द्वादशपणोदण्डः पञ्चबन्धो वा।' कौ. अर्थ. ३।१३

३. 'कर्मकरस्य कर्मसम्बन्धमासन्नाः विद्युः। यथासम्भाषितं वेतनं लभेत।' कौ. अर्थ. ३।१३

प्रतिज्ञा कर ले, तो यह सर्वस्व प्रदान कानून के अनुकूल नहीं माना जायगा। ऐसी दशा से उद्धार करनेवाले को प्रतिफल प्राप्ति का अधिकार तो होगा, पर प्रतिफल रूपी यह वेतन कितना हो, इसका निर्धारण भी 'कुशलों' द्वारा ही किया जायगा।[1] मैगस्थनीज़ ने नगर-सभा की प्रथम उपसमिति के कार्यों में मजदूरी का निर्धारण भी एक कार्य लिखा है, उसकी पुष्टि में अर्थशास्त्र के ये निर्देश महत्त्व के हैं। शिल्पियों, कारुओं और कर्मकरों के कार्य का समय भी निर्दिष्ट था। वे निर्दिष्ट काल की अवधि में ही कार्य करते थे।[2]

मैगस्थनीज़ के अनुसार विदेशियों की सुरक्षा आदि की व्यवस्था करना दूसरी उप-समिति का कार्य था। मागध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में बहुत-से विदेशियों का अवश्य ही निवास रहा होगा। परदेसी राजाओं के दूत भी वहाँ रहा करते थे। मैगस्थनीज़ ने स्वयं यवनराज सैल्युकस के राजदूत के रूप में पाटलिपुत्र में निवास किया था। इन विदेशी दूतों के सम्बन्ध में कौटल्य की यह उक्ति उल्लेखनीय है—'पर दूतों की रक्षा करे। इनकी रक्षा के प्रयोजन से दृश्य (जिन्हें सब देख सकें) और अदृश्य (छिपे हुए) रक्षी नियुक्त किये जाएँ, और साथ ही प्रतिदूत (परदूतों के समक्ष स्थिति के कर्मचारी) तथा गुप्तचर उनकी देख-भाल करें।[3]

मर्दुमशुमारी का कार्य नगरों में गोप के सुपुर्द था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। वह जन्म और मरण के आँकड़े रखता था। इसी कार्य को मैगस्थनीज़ के अनुसार नगरसभा की तीसरी उपसमिति करती थी।

तोल और माप के मानों को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में जो नियम मौर्य युग में प्रचलित थे, कौटलीय अर्थशास्त्र में उनका विशद रूप से उल्लेख हुआ है। पौतवाध्यक्ष नाम का अमात्य तोलने और मापने के लिये विविध बाटों व मानों की व्यवस्था करता था। अर्थशास्त्र के "वैदेहक रक्षणम्' अध्याय में इन मापों के सही-सही उपयोग के विषय में अनेक नियम दिये गये हैं। संस्थाध्यक्ष संज्ञा के अमात्य का यह कार्य था, कि वह किसी व्यापारी को तोलने या मापने के मामले में धोखा न करने दे, वे पण्य को सही-सही तोलें और सही-सही मापें।[4] पर इसमें बहुत सख्ती से काम नहीं लिया जाता था। एक द्रोण पण्य को तोलते हुए यदि आधे पल का फर्क पड़ जाए, तो उसके लिये व्यापारी को क्षम्य माना जाता था।[5] द्रोण २०० पल (१ पल=६४ माष) का होता था। यदि कौटलीय अर्थशास्त्र के माष को

---

१. 'नदीवेगज्वालास्तेनव्यालोपरुद्धं सर्वस्वपुत्रदारात्मदानेनार्तस्त्रातारमाहूय निस्तीर्णः कुशलप्रदिष्टं वेतनं दद्यात्॥' कौ. अर्थ. ३।१३

२. 'निर्दिष्टदेशकालकार्यं च कर्म कुर्युः।' कौ. अर्थ. ४।१

३. 'परदूतांश्च रक्षयेत्। प्रतिदूतापसर्पाभ्यां दृश्यादृश्यैश्च रक्षिभिः।' कौ. अर्थ. १।१२

४. 'तुलामान भाण्डानि चावेक्षेत, पौतवोपचारात्।' कौ. अर्थ. ४।२

५. 'परिमाणी द्रोणयोरर्धपलहीनातिरिक्तमदोषाः। कौ. अर्थ. ४।२

वर्तमान समय के मासे के बराबर मान लिया जाए, तो पल एक छटांक के लगभग होता है। द्रोण में २०० पल होते थे, अतः वह १२॥ सेर के लगभग हुआ। १२॥ सेर तोलते हुए यदि आधी छटाँक का अन्तर पड़ जाए, तो उसे क्षम्य समझना सर्वथा उचित था। पर यदि इससे अधिक अन्तर हो, तो व्यापारी को बारह पण दण्ड दिया जाता था। अन्तर के अधिक होने पर दण्ड में वृद्धि होती जाती थी।[1] तराजू भी यदि ठीक न पायी जाए, तो इस अपराध पर भी दण्ड दिया जाता था। पर यदि तराजू से तोलने पर केवल एक कर्ष (१६ मासे) का फर्क पड़े, तो इस फर्क की उपेक्षा कर दी जाती थी।[2] तोल और माप के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कार्य मैगस्थनीज़ के अनुसार नगर-सभा की चौथी उपसमिति के सुपुर्द थे।

पण्य में मिलावट करने, और घटिया वस्तु को बढ़िया बता कर बेचने और जो वस्तु जहाँ की न हो उसे वहाँ का कहकर बेचने पर भी दण्ड की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है कि असार भाण्ड (घटिया माल) को सारभाण्ड (बढ़िया माल) और अतज्जात (जो भाण्ड जहाँ का तैयार हुआ न हो) को तज्जात बताकर बेचने पर, पण्य में मिलावट करने पर, पण्य में धोखा करने पर, व बेचे हुए पण्य की बदली कर देने पर न केवल ५४ पण जुरमाना किया जाए, अपितु विक्रेता की क्षतिपूर्ति भी की जाए।[3] मैगस्थनीज़ ने नगर-सभा की जिस पाँचवीं उपसमिति का उल्लेख किया है, उसके भी यही कार्य थे।

मैगस्थनीज़ द्वारा वर्णित नगर-सभा की छठी उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर कर वसूल करना था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस कर का विशद रूप से निरूपण किया गया है। कोई भी पण्य उत्पादन-स्थान पर नहीं बिक सकता था। पण्य पर शुल्क प्रदान करने के अनन्तर ही उसकी बिक्री की जा सकती थी। क्रय-विक्रय के इस शुल्क पर अगले एक अध्याय में विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायगा। विक्रय-शुल्क मौर्य युग में राजकीय आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन था। यह शुल्क किस प्रकार और विभिन्न पण्यों पर किन विभिन्न दरों से वसूल किया जाए, चाणक्य ने विस्तार के साथ इसका निरूपण किया है।

पाटलिपुत्र की नगर-सभा द्वारा किये जाने वाले जिन विविध कार्यों का उल्लेख मैगस्थनीज ने किया है, कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार भी वे नगरों के राजकीय अधिकारियों द्वारा किये जाते थे। पर नगर सभा और उसकी छः उपसमितियों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र से कोई निर्देश नहीं मिलता। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि चाणक्य ने अर्थशास्त्र का

---

१. 'पलहीनातिरिक्ते द्वादशपणो दण्डः। तेन पलोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।' कौ. अर्थ. ४।२

२. 'तुलायाः कर्षहीनातिरिक्तमदोषः। द्विकर्षहीनातिरिक्ते षट्पणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।२

३. 'सारभाण्डमसारभाण्डं, तज्जातमित्यतज्जातं, राधायुक्तमुपधियुक्तं समुत्परिवर्तिमं वा विक्रयाधानं नयतो हीनमूल्यं चतुष्पञ्चाषत्पणो दण्डः।' कौ अर्थ. ४।२

निर्माण 'नरेन्द्र' चन्द्रगुप्त के लिये शासन की विधि के रूप में किया था। साम्राज्य के शासन में जो कार्य नरेन्द्र चन्द्रगुप्त को राज्य में 'कूटस्थानीय' रूप से सम्पादित करने थे और जिनका उसे नियन्त्रण व सञ्चालन करना था, प्रधानतया अर्थशास्त्र में उन्हीं का निरूपण किया गया है। पर पाटलिपुत्र और अन्य पुरों की नगर सभाएँ (पौर सभाएँ) राजा द्वारा स्थापित नहीं की गई थीं। वे वहाँ चिरकाल से विद्यमान थीं, और उनकी कार्यविधि व कार्याधिकार परम्परा पर आश्रित थे। अर्थशास्त्र में यह तो कहा गया है, कि जनपद, ग्राम आदि के संघों या गणों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को कायम रहने दिया जाए, पर इन संघों का स्वरूप क्या था, इसका कोई विवरण अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं है। पर फिर भी कतिपय ऐसे निर्देश अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि केन्द्रीय सरकार या राजा द्वारा नियुक्त राजपदाधिकारियों (अमात्यों, अध्यक्षों, राजपुरुषों और युक्तों) के अतिरिक्त जनपदों, नगरों और ग्रामों में ऐसे भी शासक वर्ग की सत्ता थी, जो राजा द्वारा नियुक्त न होकर परम्परागत रूप से वहाँ विद्यमान थे। जनपदों के शासन के लिये 'समाहर्ता' संज्ञा के और नगरों के शासन के लिये 'नागरक' संज्ञा के अमात्य केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। पर अर्थशास्त्र में 'पुरमुख्य' और 'राष्ट्रमुख्य' का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है,[1] जो अधिकारी स्पष्टतया नागरक और समाहर्ता से भिन्न थे। जनपद, देश और राष्ट्र पर्यायवाची संज्ञाएं थीं, यह भी पहले लिखा जा चुका है। सम्भवतः, ये पुर-मुख्य और राष्ट्र-मुख्य (जनपद-मुख्य) पुरों और जनपदों के ऐसे अधिकारी थे, जो इनके पुराने परम्परागत शासन का प्रतिनिधित्व करते थे। संघ-जनपदों में तो संघ-सभाओं का शासन था ही, और उनके प्रधान राजकीय अधिकारी 'संघमुख्य' कहाते थे। पर राजतन्त्र जनपदों में भी पौर जानपद सभाओं की सत्ता थी, जो इन जनपदों के मगध के अधीन हो जाने पर भी नष्ट नहीं हुई थी। इसी प्रकार पुराने 'राष्ट्रमुख्य' और 'पुरमुख्य' भी अभी विद्यमान थे, जिनकी सत्ता और अधिकारों को मौर्य सम्राटों ने यथापूर्व कायम रहने दिया था।

(४) ग्रामों का शासन

जनपदों का निर्माण बहुत-से ग्रामों से मिलकर होता था, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में ग्रामों के शासन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक ग्राम का एक-एक शासक होता था, जिसे 'ग्रामिक' कहते थे। जब ग्रामिक को ग्राम के किसी काम से कहीं जाना हो, तो 'उपवास' (ग्राम के कार्य में उसे सहायता देनेवाले) बारी-बारी से उसके साथ जाएँ। जो ऐसा न कर सकें, उन्हें एक योजन की दूरी के लिए

---

१. 'अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत् ।' कौ. अर्थ. १।१२

१।। पण के हिसाब से जुरमाना देना होगा।[1] इससे यह स्पष्ट है, कि ग्रामिक ग्रामवासियों से जुरमाना वसूल करता था, और ग्राम के शासन में उसकी सहायता करने के लिये कतिपय अन्य व्यक्ति भी होते थे, जिनकी संज्ञा 'उपवास' थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर 'ग्रामसंघ' का भी उल्लेख हुआ है।[2] ये 'उपवास' सम्भवतः ग्रामसंघ या ग्राम सभा के सदस्य होते थे, जो न केवल ग्राम-सम्बन्धी मामलों पर विचारविमर्श करते थे, अपितु शासन कार्य में ग्रामिक की सहायता भी करते थे। सम्भवतः, ये ही 'ग्रामवृद्ध' भी कहाते थे। ग्रामिक को यह अधिकार भी प्राप्त था, कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को ग्राम से 'निरस्त' (वहिष्कृत) कर सके, जो चोर हो या जो परस्त्री-गमन का अपराधी हो। पर इन दो प्रकार के अपराधियों के अतिरिक्त यदि वह किसी अन्य को ग्राम से निरस्त करे, तो उसे २४ पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। इसी अपराध के लिये 'ग्राम' को 'उत्तम-साहस दण्ड' मिलता था।[3] 'ग्राम' को दण्ड दिये जाने की वात इस तथ्य को स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित कर देती है, कि ग्राम का एक सुसंगठित रूप भी था, कानून की दृष्टि में जिसका पृथक् व्यक्तित्त्व था।

ग्रामिक और 'ग्राम' (ग्राम-संस्था) के क्या कार्य थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र के निम्न-लिखित निर्देशों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—"जो कर्षक (कृषक) गाँव में खेती करने के लिये आए पर खेती न करे, उसपर जुरमाना किया जाए और यह जुरमाना 'ग्राम' प्राप्त करे। जिसने काम करने के लिये पेशगी वेतन (पारिश्रमिक) ले लिया हो, पर काम न किया हो उससे पेशगी ली हुई राशि का दुगना जुरमाने के रूप में वसूल किया जाए। यदि ऐसा व्यक्ति किसी 'प्रवहण' में सम्मिलित हुआ हो और वहाँ उसने भोजन, पेय आदि प्राप्त किया हो, पर उसके वदले में वाञ्छित कार्यों का सम्पादन उसने न किया हो, तो भोजन और पेय के मूल्य का दुगना उससे वसूल किया जाए।[4]" प्रवहण एक प्रकार के समाज या मेले होते थे, जिनमें जनता के आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के लिये अनेकविध साधन प्रस्तुत किये जाते थे। इनमें सम्मिलित होने वालों को भोजन और पेय प्रदान किये जाते थे, पर इनके वदले में उन्हें कार्य करना पड़ता था। ग्राम की ओर से प्रेक्षाओं (नाटक, तमाशे

---

१. 'ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तं उपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुः, अननुगच्छन्तः पणार्धपणिकं योजनं दद्युः।' कौ. अर्थ. ३।१०

२. कौ. अर्थ. २।७

३. 'ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेनपारदारं निरस्यतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः। ग्रामस्योत्तमः।' कौ. अर्थ. ३।१०

४. 'कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्। कर्माकरणे कर्मवेतनद्विगुणं हिरण्यदानं प्रत्यंश द्विगुणंभक्ष्यपेयदाने च प्रवहणेषु द्विगुणमंशं दद्यात्।' कौ. अर्थ. ३।१०

आदि) की भी व्यवस्था की जाती थी, पर उन्हें देखने वालों के लिये यह आवश्यक था कि प्रेक्षा पर हुए खर्च का अंश वे प्रदान करें, या उस प्रेक्षा में हाथ बटाएँ। जो ऐसा न करें, उन्हें प्रेक्षा में सम्मिलित न होने दिया जाए। जो प्रच्छन्न रूप से (छिप कर) प्रेक्षा को देखें या सुनें, उन्हें दूसरों से लिये जानेवाले अंश (प्रेक्षा के व्यय का अंश) का दुगुना प्रदान करने के लिये विवश किया जाए। यही व्यवस्था सर्वहित (सबके हित) के कार्यों में भाग न लेने वालों के लिये थी।[1] सर्वहित (सार्वजनिक हित) के कामों में एक आज्ञा दे, और अन्य उसका पालन करें। जो ऐसा न करे, उसे बारह पण जुरमाने का दण्ड दिया जाए।[2] देश (जनपद) में विविध मार्गों को बनाने, बांध बाँधने आदि के कार्य भी ग्रामों द्वारा किये जाते थे।[3] ये कार्य देश के लिये हितकर माने जाते थे, और ग्राम-संस्थाओं से इनमें हाथ बटाने की आशा की जाती थी। ग्रामों को सुशोभित रखने और उनकी रक्षा की उत्तरदायिता भी ग्राम-संस्थाओं पर ही थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग के ग्रामों में स्वायत्त संस्थाओं की सत्ता थी। इन संस्थाओं को 'ग्राम' या 'ग्रामसंघ' कहते थे, और इन्हीं के धर्म (कानून), व्यवहार और चरित्र (परम्परागत प्रथाओं) आदि को अक्षपटलमध्यक्ष द्वारा निबन्ध-पुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) भी किया जाता था।[4] ग्रामसंघ के सदस्यों को 'ग्रामवृद्ध' कहते थे।[5] सम्भवतः, ग्राम में निवास करने वाले सब कुलों (परिवारों) के मुखियाओं (वृद्धों या elders) द्वारा ही ग्रामसंघ का निर्माण होता था। ग्राम में एक सौ से लगा कर पाँच सौ तक कुल रहते थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से कुलों के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। कुल के लिये पाणिनि ने 'गोत्र' शब्द का प्रयोग किया है। गोत्र (कुल) का जो सबसे अधिक आयु का पुरुष हो, उसे 'गोत्रापत्य' कहते थे, और कुल के अन्य सब सदस्यों की संज्ञा 'युवापत्य' होती थी। ग्राम-संघ में कुल का प्रतिनिधित्व ये गोत्रापत्य या कुलवृद्ध ही करते थे।[6] ग्राम-

---

१. 'प्रेक्षायामनंशदः स्वस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्न श्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात्।' कौ. अर्थ. ३।१०

२. 'सर्वहितमेकस्य ब्रुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वादशपणो दण्डः।' कौ. अर्थ. १३।०

३. 'राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि संङ्क्रमात्।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत्॥' कौ. अर्थ. ३।१०

४. 'देशग्रामजातिकुलसंघातानां धर्म व्यवहार चरित्र संस्थानं... निबन्धपुस्तकस्थं कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।७

५. कौ. अर्थ. २।१

६. विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र, अध्याय ७।

संघ जहाँ अपराधियों को दण्ड देता था, उनसे जुरमाने वसूल करता था, ग्राम-विषयक सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन करता था, लोगों के मनोरञ्जन की व्यवस्था करता था, ग्राम को सुशोभित रखने के लिये सचेष्ट रहता था, और ग्राम की रक्षा की व्यवस्था करता था, वहाँ नाबालिगों की सम्पत्ति का इन्तजाम करना भी उसी का कार्य था।[1] ग्राम में स्थित मन्दिरों और देवस्थानों की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी ग्रामसंघ के ही हाथों में था। अपने क्षेत्र में सड़कें, पुल और बाँध बंधवाना भी इसी संघ का कार्य था।

इस ग्रामसंघ या ग्रामसंस्था का मुखिया 'ग्रामिक' कहाता था, पर साम्राज्य की केन्द्रीय सरकार द्वारा भी ग्रामों के शासन के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। पाँच से दस ग्रामों तक के क्षेत्र के लिये 'गोप' नियुक्त होता था। यदि गाँव छोटे-छोटे हों, तो गोप के क्षेत्र में २० या ४० संख्या तक के ग्राम भी सम्मिलित हो सकते थे। 'गोप' का मुख्य कार्य राजकीय करों को एकत्र करना होता था। उसके कार्यों को कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है[2]—

(१) ग्रामों की सीमा का निर्धारण करना।

(२) प्रत्येक ग्राम के क्षेत्र के अन्तर्गत भूमि का यह हिसाब रखना कि उसमें कितनी भूमि पर जुते हुए खेत हैं, कितनी भूमि पर बिना जुते खेत हैं, कितनी भूमि परती पड़ी हुई है, कितनी भूमि केदार (खादर) है, कितनी पर आराम (बाग) हैं, कितनी पर षण्ड (सब्जी के खेत) हैं, कितनी बाजार के काममें है, कितनी पर जंगल है, कितनी पर इमारतें बनी हुई हैं, कितनी पर चैत्य और देवगृह हैं, कितनी पर तालाब हैं, कितनी पर श्मशान है, कितनी सत्र (लंगर) के प्रयोग में आ रही है, कितनी प्रपा (प्याऊ) के लिये है, और कितनी भूमि पर पुण्यस्थान, चरागाह और रास्ते हैं।

(३) भूमि के क्रय-विक्रय का उल्लेख करना, जंगलों की सीमाएँ निर्धारित करना और मार्गों को तय करना।

(४) भूमि के दान और सम्प्रदान को उल्लिखित करना।

(५) किस भूमि को राज्य द्वारा टैक्स से छूट (परिहार) दी गई है।

(६) कौन-से गृह कर से मुक्त हैं, और किनसे कितना-कितना कर लिया जाता है, इसका उल्लेख करना।

(७) ग्राम में चारों वर्णों के कितने-कितने मनुष्य निवास करते हैं, उनमें से कितने कृषक, कितने ग्वाले, कितने व्यापारी (वैदेहक), कितने कारु (कारीगर), कितने कर्मकर (मजदूर) और कितने दास हैं, इसका रिकार्ड रखना।

---

१. 'बालद्रव्यं ग्रामवृद्धाः वर्धयेयुरा व्यवहारप्रापणात्, देवद्रव्यं च।' कौ. अर्थ. २।७

२. कौ. अर्थ. २।३५

(८) ग्राम में दो पाँव वाले और चार पाँव वाले जन्तुओं की कितनी-कितनी संख्या है, इसका हिसाब रखना।

(९) ग्राम के प्रत्येक गृह से कितना सुवर्ण, कितनी विष्टि (बेगार), कितना शुल्क और कितना दण्ड (जुरमाना) प्राप्त हुआ है, इसका हिसाब रखना।

(१०) ग्राम के अन्तर्गत प्रत्येक कुल में कितने पुरुष हैं और कितनी स्त्रियाँ, उनमें कितने वृद्ध हैं और कितने बालक, वे क्या करते हैं, उनके क्या पेशे हैं, उनका चरित्र कैसा है, उनकी कितनी आय है और वे कितना व्यय करते हैं, इन सब बातों का रिकार्ड रखना।

निस्सन्देह, गोप एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजकर्मचारी था, जिसका कार्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत ग्रामों के सम्बन्ध में सब आवश्यक बातों का पूरा-पूरा रिकार्ड रखना होता था। अधिक बड़े क्षेत्र में ये ही कार्य स्थानिक द्वारा किये जाते थे। जनपद के चौथे भाग में यह स्थानिक नामक कर्मचारी केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रयोजन से नियुक्त किया जाता था,[1] कि अपने अधीन गोपों से इन सब कार्यों को सुचारु रूप से सम्पादित कराए। स्थानिक से ऊपर समाहर्ता पूरे जनपद के लिये इन्हीं कार्यों को सम्पन्न करता था। यद्यपि ग्रामों और जनपदों में स्थानीय स्वायत्त शासन की सत्ता थी, और उनके ग्राम-संघ और जनपद-संघ (देश-संघ) भी विद्यमान थे, पर क्योंकि मौर्य युग में ये जनपद मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हो चुके थे, अतः पाटलिपुत्र की केन्द्रीय सरकार के लिये भी यह आवश्यक था कि उस द्वारा इनके सुशासन के लिये और इनके विषय में पूरी-पूरी और सही-सही जानकारी प्राप्त करने के लिए राजकर्मचारी नियुक्त किये जाएँ। स्थानिक और गोप इसी ढंग के कर्मचारी थे।

ग्रामों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जाता था। जनसंख्या के आधार पर ग्रामों के तीन वर्ग थे, ज्येष्ठ (बड़े), मध्यम और कनिष्ठ (छोटे)। एक ग्राम में एक सौ से लेकर पाँच सौ तक की संख्या में कुलों (परिवारों) का निवास होता था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पाँच सौ के लगभग कुलों वाले ग्राम ज्येष्ठ थे, एक सौ के लगभग कुलों वाले कनिष्ठ थे, और इनके बीच के ग्राम मध्यम वर्ग के थे। इन तीनों प्रकार के ग्रामों को राजकीय कर की दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त किया गया था। ये विभाग निम्नलिखित थे[2]—

(१) ग्रामाग्र—ये साधारण ग्राम थे, जिनसे राजकीय कर वसूल किया जाता था।

(२) परिहारक—इस वर्ग के ग्रामों से कोई राजकीय कर नहीं लिया जाता था। सम्भवतः, ये ग्राम ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रिय आदि को 'ब्रह्मदेय' के रूप में

---

१. 'एवं च जनपदचतुर्थ भागं स्थानिक : चिन्तयेत्।' कौ. अर्थ. २।३५

२. 'समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठ मध्यम कनिष्ठ विभागेन ग्रामाग्रं परिहारक मायुधीयं धान्यपशु हिरण्यविष्टिप्रतिकरमिदमेतावदिति निबन्धयेत्।' कौ. अर्थ. २।३५

प्रदान किये हुए होते थे। न इनसे कोई कर लिया जाता था और न अनाज आदि। ऋत्विक् आदि इनसे इतनी आमदनी प्राप्त कर लेते थे, जिससे कि वे अपना निर्वाह भली भाँति कर सकें। इसी प्रकार विविध अध्यक्षों (राजकीय विभागों के अध्यक्षों), संख्यायकों, गोपों, स्थानिकों, अनीकस्थों (पशु-चिकित्सकों), चिकित्सकों, अश्वदमकों (घोड़ों को प्रशिक्षित करने वालों) और जंघारिकों (पशुपालकों) को भी ऐसी भूमि व ग्राम प्रदान कर दिये जाते थे, जिन पर उन्हें कोई कर नहीं देना पड़ता था। इन ग्रामों व जायदाद को ये न बेच सकते थे और न रहन ही रख सकते थे।[1] ये केवल इनकी आमदनी का उपभोग ही कर सकते थे। ऐसे ग्रामों की ही 'परिहारक' संज्ञा थी।

(३) आयुधीय—जिन ग्रामों से राजकीय कर तो न लिया जाता हो, पर जिनसे राज्य को सैनिक प्राप्त होते हों। बहुत-से ग्राम ऐसे भी होते थे, जो सेना के लिये सैनिक प्रदान करते थे, और इसी कारण वे राजकीय कर से मुक्त रहते थे।

(४) ऐसे ग्राम जो राजकीय कर नकद प्रदान न कर उसे धान्य (अनाज), पशु, हिरण्य, कुप्य (कच्चा माल) या विष्टि (बेगार) के रूप में प्रदान करते थे। दुर्गों और राजकीय भवनों के निर्माण के लिये जिन शिल्पियों और मजदूरों की आवश्यकता होती थी, अनेक ग्राम उन्हें प्रदान कर राजकीय कर से छूट प्राप्त कर लेते थे। क्योंकि इनके ग्राम राजकीय कर से मुक्त होते थे, अतः राज्य का कार्य करने पर इन्हें कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था।

ग्रामों के स्वरूप और शासन के सम्बन्ध में जो ये अनेक निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं, वे अत्यन्त महत्त्व के हैं। ग्रामों में जहाँ पुरानी परम्परागत स्वायत्त शासन-संस्थाओं की सत्ता थी जिन्हें शासन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे, वहां केन्द्रीय सरकार की ओर से भी उनमें कर्मचारी नियुक्त थे। चाणक्य इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे, कि गोप व स्थानिक सदृश कर्मचारी ही राजकीय करों को वसूल करते हैं, और वे ही उन बातों के रिकार्ड भी रखते हैं, जिन पर राज्य की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था निर्भर करती हैं। यदि ये कर्मचारी अपने कार्य में प्रमाद करें और ग्रामवासियों के विषय में सही-सही सूचनाएँ केन्द्रीय सरकार को न दें, तो राज्यशासन कभी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। अतः चाणक्य ने यह व्यवस्था की थी, कि समाहर्ता गृहपतिकों के भेस में ऐसे गुप्तचर ग्रामों में नियुक्त करे, जो गोपों और स्थानिकों के रिकार्डों की सत्यता व प्रामाणिकता का निश्चय करने में तत्पर रहें। गोपों और स्थानिकों ने खेतों, गृहों और कुलों के विषय में, ग्रामों के मनुष्यों और पशुओं की संख्या के बारे में, लोगों की आय और

---

१. **'ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्याभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। अध्यक्षसंख्यायकादिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थचिकित्सकाश्वदमक जंघारिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्ज्जम्।' कौ. अर्थ. २।१**

व्यय के सम्बन्ध में और उनके चरित्र के विषय में जो सूचनाएँ रिकार्ड की हों, उनकी सत्यता की जाँच करना इन गुप्तचरों का कार्य था।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौर्य युग में ग्रामों का शासन भी अत्यन्त व्यवस्थित था, और मौर्य सम्राट् उन पर अपना नियन्त्रण भली-भाँति स्थापित करने में समर्थ हुए थे।

मौर्यों ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसमें यह सम्भव ही नहीं था कि सम्पूर्ण साम्राज्य में किन्हीं ऐसी प्रतिनिधि-सभाओं की सत्ता हो जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हों, क्योंकि उस समय में यातायात के साधन समुन्नत नहीं थे। पर ग्रामों, नगरों और जनपदों में ऐसी स्वशासन संस्थाएँ इस काल में भी विद्यमान थीं, जिनके द्वारा जनता को अपना शासन स्वयं करने का अवसर प्राप्त होता था। ग्रामसंघों, नगरों की पौरसभाओं और जनपदों की जानपद-सभाओं का मौर्य युग के शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

---

१. 'समाहर्तृ प्रदिष्टाश्च गृहपतिक व्यञ्जना येषु ग्रामेषु प्रणिहितास्तेषां ग्रामाणां क्षेत्रगृहकुलाग्रं विद्युः। मानसञ्जाताभ्यां क्षेत्राणि भोगपरिहाराभ्यां गृहाणि वर्णकर्मभ्यां कुलानि च। तेषां जंघाग्रमायव्ययौ च विद्युः।' कौ. अर्थ. २।३५

सातवाँ अध्याय

न्याय व्यवस्था

(१) न्याय विभाग का संगठन

मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिये अनेक और अनेकविध न्यायालयों की सत्ता थी। सबसे छोटे न्यायालय ग्रामों के थे, क्योंकि 'ग्राम', 'ग्रामसंघ' या 'ग्राम सभा' को भी कतिपय मामलों में न्यायसम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देता था, और उनसे जुरमाने वसूल करता था।[१] ग्राम के न्यायालय से ऊपर संग्रहण द्रोणमुख, स्थानीय और जनपद-सन्धि के न्यायालय होते थे।[२] जनपद के निम्नलिखित विभागों का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है, स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम। इनके स्वरूप पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। हम यह भी लिख चुके हैं कि सम्भवतः स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक जनपद के एक ही विभाग को सूचित करते थे। विभाग के आकार को दृष्टि में रखकर ही इन्हें स्थानीय, द्रोणमुख या खार्वटिक कहा जाता था। जहाँ तक न्यायालयों का सम्बन्ध है, ये सम्पूर्ण जनपद में और उसके विभागों (द्रोणमुख आदि) में स्थापित थे। ग्राम-न्यायालय से ऊपर द्रोणमुख न्यायालयों की (या स्थानीय व खार्वटिक न्यायालयों की) सत्ता थी, और उनसे ऊपर जनपद न्यायालय, और उनसे भी ऊपर पाटलिपुत्र के केन्द्रीय न्यायालय थे। सबसे ऊपर राजा का न्यायालय था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्रामसंघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य सब न्यायालय दो प्रकार के थे—धर्मस्थीय और कण्टक शोधन। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ[३] या व्यावहारिक कहाते थे, और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों की संज्ञा प्रदेष्टा थी।[४] इनके न्यायाधीश अकेले न्याय कार्य नहीं करते थे। दोनों प्रकार के न्यायालयों में तीन-तीन धर्मस्थ और प्रदेष्टा न्याय कार्य का सम्पादन करते

---

१. कौ. अर्थ. ३।१०
२. 'धर्मस्थास्त्रस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धिसंग्रहणद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान् कुर्युः।' कौ. अर्थ. ३।१
३. कौ. अर्थ. ३।१
४. 'प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वाऽमात्या कण्टकशोधनं कुर्युः।' कौ. अर्थ. ४।१

थे।[1] आधुनिक युग के न्यायालयों में भी प्रायः दो, तीन या अधिक न्यायाधीश बेञ्च के रूप में बैठ कर कार्य करते हैं। यही दशा मौर्य काल में भी थी।

धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालयों में किन-किन विषयों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले वाद न्याय के लिये प्रस्तुत किये जाते थे, उनमें किन कानूनों के अनुसार फैसले दिये जाते थे, और न्याय कार्य करते हुए किस प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता था——इन सब बातों के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा विशद रूप से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस अध्याय में हम इसी विषय पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे। धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालयों में क्या भेद था, इसका स्पष्ट रूप से परिज्ञान उन वादों के अनुशीलन से सुगमतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, जो इन न्यायालयों में निर्णय के लिये प्रस्तुत किये जाते थे। स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तियों के पारस्परिक वाद धर्मस्थीय न्यायालय के विषय थे, और व्यक्तियों तथा राज्य के वाद कण्टकशोधन न्यायालय के आधुनिक परिभाषा में हम इन्हें दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal) न्यायालय समझ सकते हैं, यद्यपि कण्टक शोधन न्यायालयों में ऐसे विषय भी प्रस्तुत किये जाते थे जिनका सम्बन्ध प्रशासन (Administration) के साथ होता था।

(२) धर्मस्थीय न्यायालय

धर्मस्थीय न्यायालयों में प्रधानतया निम्नलिखित विषयों से सम्बद्ध वाद प्रस्तुत किये जाते थे——

(१) व्यवहार स्थापना (कौ.अर्थ.३।१)——दो व अधिक व्यक्तियों या दो व अधिक व्यक्तिसमूहों या व्यक्ति और व्यक्तिसमूह में आपस के 'व्यवहार' द्वारा उत्पन्न वाद 'व्यवहार-स्थापना' के अन्तर्गत आते थे। व्यक्ति आपस में अनेक प्रकार के व्यवहार करते हैं। ये व्यवहार रुपये के लेन देन के सम्बन्ध में, परस्पर मिलकर कारोबार करने के विषय में, कोई ठेका लेने के बारे में और इसी प्रकार के कितने ही अन्य विषयों के सम्बन्ध में हो सकते हैं। न्यायालय इन व्यवहारों को मान्य समझता था, पर उसी दशा में जब कि इन्हें सोच समझकर, होश-हवाश कायम रखते हुए और प्रगट रूप में किया जाए, और यदि वे किसी हीन या नीच उद्देश्य से न किये गये हों। कौटल्य के अनुसार ऐसे व्यवहार निषिद्ध व अमान्य होंगे, जिन्हें तिरोहित रूप से किया गया हो, जिन्हें किसी गुप्त स्थान पर छिप कर निर्धारित किया गया हो, रात के समय किया गया हो, जंगल में किया गया हो, गुप्त रूप से किया गया हो या छलपूर्वक किया गया हो। इस प्रकार के अमान्य व्यवहारों के कर्ता और कारयिता (करानेवाले) दोनों के लिये 'पूर्वस्साहसदण्ड' का विधान था। ऐसे व्यवहार के साक्षियों

---

१. कौ. अर्थ. ३।१ और कौ. अर्थ. ४।१

को इससे आधा दण्ड दिया जाता था। जिन्होंने इस व्यवहार को स्वीकार कर लिया हो, वे अपनी क्षति के स्वयं उत्तरदायी थे। न्यायालय उनकी क्षतिपूर्ति नहीं कराता था, क्योंकि वह ऐसे व्यवहारों को मान्य नहीं समझता था।

पर इस नियम के कतिपय अपवाद भी थे। जिन व्यवहारों का विषय विरासत में प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति का बँटवारा हो, जिनका सम्बन्ध धन के निक्षेप (deposit) से हो, जो विवाह से सम्बन्ध रखते हों, जिनका सम्बन्ध किसी व्याधित (रोगिणी) या अनिष्कासिनी (परदे में रहनेवाली) स्त्री से हो, और जिन्हें अमूढ़ (जो मूढ़ या पागल न हों) व्यक्तियों ने किया हो, ऐसे व्यवहार यदि किसी घर में गुप्त रूप से भी किये गये हों, वे मान्य होंगे। सार्थों (काफिलों) में सम्मिलित व्यापारियों, चरागाहों में रहनेवालों, आश्रमवासियों, व्याधों (बहेलियों) और चारों (गुप्तचरों) ने तथा जंगल में निवास करने-वाले लोगों ने जो व्यवहार निर्धारित किये हों, वे मान्य होंगे चाहे उन्हें जंगल में भी निर्धारित किया गया हो। छलपूर्वक किये गये केवल वही व्यवहार मान्य होंगे, जो गूढ़ाजीवियों (गुप्त-चरों) द्वारा किये गये हों। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक अपवाद कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं, जिन्हें यहाँ उद्धृत करने का विशेष उपयोग नहीं है। सामान्य नियम यही था, कि न्यायालय उन्हीं व्यवहारों को मान्य समझे, जो अतिरोहित (प्रगट) रूप से और सोच-समझकर किये गये हों। क्रुद्ध, आर्त, मत्त, उन्मत्त आदि दशा में किये गये व्यवहार मान्य नहीं समझे जाते थे, क्योंकि ऐसे व्यक्ति होशहवाश में न होने के कारण विवेक को खोये हुए होते थे। व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले वादों का निर्णय साक्षियों के आधार पर किया जाता था।

(२) **स्त्रीधन कल्प** : (कौ. अर्थ. ३।२)––स्त्री-धन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का निर्णय भी धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा किया जाता था। स्त्रीधन के दो रूप थे–– वृत्ति और आवध्य। दो सहस्र से अधिक (पण) या इतने मूल्य की सम्पत्ति स्त्री की वृत्ति (निर्वाह) चलाने के लिये उसके नाम कर दी जाती थी। इसी को 'वृत्ति' कहते थे। आभूषण आदि की संज्ञा 'आवध्य' थी। विवाह के समय प्रदान किये गये आभूषण व अन्य कीमती पदार्थ भी स्त्रीधन माने जाते थे। आभूषणों (आवन्ध) की मात्रा कितनी हो, इसके लिये कोई सीमा निर्धारित नहीं थी। इस स्त्रीधन को स्त्री अपनी सन्तान और पुत्रवधू के भरण-पोषण में व्यय कर सकती थी। यदि पति कहीं प्रवास पर गया हुआ हो, और पत्नी के भरण-पोषण का प्रबन्ध न कर गया हो,उस दशा में भी स्त्री इस धन को खर्च कर सकती थी। कतिपय परिस्थितियों में पति को भी अपनी पत्नी के स्त्रीधन को खर्च करने का अधिकार था, जैसे आकस्मिक विपत्ति आ जाने पर, बीमारी में, दुर्भिक्ष पड़ जाने पर और धर्म कार्य में। ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव––ये चार प्रकार के विवाह धर्म्य (धर्मानुकूल) माने जाते थे। इनके अनुसार जिन पति-पत्नी का विवाह हुआ हो और ऐसे विवाह को हुए यदि तीन साल बीत चुके हों, तो पति-पत्नी परस्पर सहमति से

स्त्रीधन को खर्च कर सकते थे। पर गान्धर्व और आसुर विधियों से विवाह होने की दशा में पति-पत्नी को यह अधिकार नहीं था, कि वे परस्पर सहमति से भी स्त्रीधन को खर्च कर सकें। इन विधियों से विवाहित पति-पत्नी यदि स्त्री धन को खर्च कर दें, तो उनके लिये यह आवश्यक था, कि स्त्रीधन को सूदसहित वापस किया जाए। राक्षस और पैशाच विधि से विवाहित पति-पत्नी यदि स्त्रीधन को खर्च करें, तो इस कार्य को चोरी माना जाता था।

पति की मृत्यु हो जाने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह न करने और धार्मिक जीवन बिताने का निश्चय करे, तो सम्पूर्ण स्त्रीधन (चाहे वह आभूषणों के रूप में हो या अन्य रूप में) तुरन्त उसके सुपुर्द कर दिया जाता था। यदि यह धन उसे तुरन्त प्रदान न किया जा सके, तो उसे यह धन ब्याज के साथ देना आवश्यक था। इसी प्रकार के अन्य बहुत-से नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में स्त्रीधन के सम्बन्ध में उल्लिखित हैं। यह स्वाभाविक था कि इनके विषय में वाद प्रस्तुत हों। इन वादों का निर्णय धर्मस्थीय न्यायालय ही करते थे।

(३) **विवाह सम्बन्धी विवाद** (कौ. अर्थ. ३।३)––मौर्य युग में कतिपय दशाओं में तलाक (मोक्ष) और पुर्नविवाह की भी अनुमति थी। यदि स्त्री बन्ध्या हो, या वह केवल ऐसी सन्तान को ही जन्म देती हो जो जन्म के पश्चात् शीघ्र ही मर जाए, तो ऐसी स्त्री का पति पुर्नविवाह कर सकता था। पर ऐसा करते हुए उसे आठ वर्ष प्रतीक्षा करनी होती थी। यदि किसी स्त्री से केवल कन्याएँ ही उत्पन्न होती हों, तो उसका पति बारह साल के पश्चात् पुर्नविवाह का अधिकारी हो जाता था। इस नियम का उल्लंघन करने पर २४ पण या अधिक दण्ड की व्यवस्था थी। साथ ही, यह भी आवश्यक था कि इस दशा में सारा स्त्रीधन स्त्री को सौंप दिया जाए और उसे हरजाना (आधिवेदनिक) भी प्रदान किया जाए। यदि कोई पति दुष्चरित्र या नीच हो, या चिरकाल से विदेश गया हुआ हो, या राजद्रोही हो, या प्राणाभिहन्ता (कातिल) हो, या पतित हो, या नपुंसक हो, तो स्त्री को ऐसे पति को त्याग देने का अधिकार था। पत्नी का यह अधिकार स्वीकृत किया जाता था, कि पति उसका भरण-पोषण करे। यदि उपर्युक्त नियमों के अधीन किसी पुरुष ने पुर्नविवाह कर लिया हो, तो उसकी पहली पत्नी उससे भरण-पोषण के लिये उपर्युक्त धन प्राप्त कर सकती थी। इस धन की मात्रा कितनी हो, यह पति की आमदनी व स्थिति पर निर्भर था। पर यदि इस दशा में स्त्री श्वसुर कुल की संरक्षा में रहने लगे या पति से पृथक् हो जाए, तो उसे पति से भरण-पोषण का व्यय (भर्म) प्राप्त करने का अधिकार नहीं रह जाता था। यदि पति पत्नी के प्रति या पत्नी पति के प्रति ईर्ष्यावश पारुष्य (कठोरता या क्रूरता) का बरताव करे, तो वह दण्डनीय हो। यदि पत्नी पति के प्रति द्वेष भावना रखती हो, पर पति तलाक (मोक्ष) से सहमत न हो, तो स्त्री विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकती। इसी प्रकार यदि पति पत्नी के प्रति विद्वेष रखता हो, पर पत्नी तलाक से सहमत न हो, तो पति विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकता। परस्पर

द्वेष के आधार पर ही तलाक (मोक्ष) सम्भव था। यदि पति के मना करने पर भी स्त्री मद्यपान में व्यापृत रहे और दर्प (घमण्ड) क्रीड़ाएँ करे, तो उस पर तीन पण जुरमाना किया जाए। पति के मना करने पर यदि स्त्री दिन के समय स्त्रियों की प्रेक्षा देखने के लिये या विहार (उत्सव) में सम्मिलित होने के लिये जाए, तो उसे छः पण जुरमाने का दण्ड दिया जाए। यदि पुरुषों की प्रेक्षा व उत्सव देखने के लिये वह जाए, तो उसपर बारह पण जुरमाना किया जाए। यही कार्य यदि वह रात के समय करे, तो जुरमाने की मात्रा दुगनी कर दी जाए। यदि कोई स्त्री और पुरुष (जो पति-पत्नी न हों) कोई ऐसी चेष्टा करें या ऐसे इशारे करें जिनका प्रयोजन कामवासना की तृप्ति हो या इसी उद्देश्य से एकान्त में बात-चीत करें, तो स्त्री पर २४ पण और पुरुष पर ४८ पण जुरमाना किया जाए। यदि किसी शङ्कित स्थान पर ऐसे कार्य किये जाएँ, तो जुरमाने के स्थान पर कोड़े लगाने का दण्ड दिया जाए। आपत्ति के अतिरिक्त अन्य दशा में यदि कोई स्त्री अपने पति के परिवार को छोड़ कर चली जाए, तो उस पर छः पण जुरमाना किया जाए। यदि पति द्वारा मना किया जाने पर भी वह बाहर जाए, तो जुरमाने की मात्रा बारह पण हो जायगी। पति-पत्नी के सम्बन्ध में, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में और वैवाहिक जीवन के विषय में ये और इसी प्रकार के जो अन्य विवाद प्रस्तुत होते थे, न्याय के लिये वे धर्मस्थीय न्यायालय में ही भेजे जाते थे।

(४) दाय भाग और दायक्रम (कौ. अर्थ. ३।५)—जिस सन्तान के माता-पिता जीवित हों, पैतृक सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं माना जाता था। माता-पिता की मृत्यु के अनन्तर ही पैतृक सम्पत्ति के पुत्रों में विभाजन का प्रश्न उपस्थित होता था। पर यदि पुत्र ने कोई सम्पत्ति स्वयं उपार्जित की हो, तो उसका विभाजन नहीं किया जाता था, वह उसकी अपनी सम्पत्ति मानी जाती थी, बशर्ते कि उसने यह उपार्जन पैतृक सम्पत्ति द्वारा न किया हो। पिता द्वारा उपार्जित सम्पत्ति को उसके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र (चौथी पीढ़ी तक) उत्तराधिकार में उसी अंश में प्राप्त करते थे, जो उनके लिये निश्चित किया गया हो। चौथी पीढ़ी के अनन्तर सब वंशजों का पितृपैतामह से चली आ रही सम्पत्ति पर समान अधिकार माना जाता था। स्वयं उपार्जित सम्पत्ति को पिता यदि अपने जीवन-काल में पुत्रों में विभक्त करे, तो वह किसी को विशिष्ट अंश प्रदान न करे, और न विशेष कारण के बिना किसी को सम्पत्ति के भाग से वञ्चित रखे। पिता की मृत्यु हो जाने पर ज्येष्ठ पुत्र कनिष्ठों के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित करे, बशर्ते कि उनका चरित्र खराब न हो। नाबालिगों को जो सम्पत्ति विरासत में मिले, उसकी देख-रेख या तो उनके मामा करें और या ग्रामवृद्ध। जो विदेश गये हुए हैं, उनके लिये भी यह व्यवस्था थी। जिन भाइयों का अभी विवाह न हुआ हो, उन्हें उतनी सम्पत्ति (उनके विवाह-व्यय के रूप में) अतिरिक्त प्रदान की जाए, जितना धन कि उनके विवाहित भाइयों के विवाहों में खर्च हुआ था। जिस सम्पत्ति का कोई वारिस न हो, उस पर राज्य का स्वत्त्व स्थापित हो जाए। यद्यपि पैतृक सम्पत्ति में सब पुत्रों के अंश एक समान होते थे, पर क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र को पिता की

और्ध्वदैहिक क्रियाएँ भी करनी होती थीं, अतः उसे पैतृक सम्पत्ति में विशेष अंश प्रदान करने की व्यवस्था थी। पिता की मृत्यु हो जाने पर परिवार के भरण-पोषण और छोटे भाइयों व बहनों की उत्तरदायिता ज्येष्ठ पुत्र पर आ जाती थी, अतः वह पैतृक सम्पत्ति में विशेष अंश प्राप्त करने का अधिकारी होता था। पर यह विशेष अंश उसे अविकल रूप से तभी प्रदान किया जाता था, जबकि वह सुयोग्य हो। यदि ज्येष्ठ पुत्र मानवोचित गुणों से हीन हो, तो वह ज्येष्ठांश (ज्येष्ठ पुत्र को दिये जाने वाले विशेष अंश) का केवल तृतीय भाग प्राप्त करे। यदि वह अन्याय पूर्वक जीविका चलाता हो, तो उसे ज्येष्ठांश का केवल चौथा भाग दिया जाए। पर यदि वह धर्म-कार्यों से विमुख हो या कामाचारी (अपने इच्छा से अमर्यादित कार्य करनेवाला) हो, तो उसे ज्येष्ठांश के रूप में कुछ भी न दिया जाए।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार और विभाजन के सम्बन्ध में बहुत-से नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। स्वाभाविक रूप से इनको लेकर अनेकविध विवाद उत्पन्न हो जाते थे, जिन्हें धर्मस्थीय न्यायालयों के सम्मुख निर्णय के लिये प्रस्तुत किया जाता था।

(५) गृहवास्तुकम् (कौ. अर्थ ३।८)—गृह, क्षेत्र (खेत) आराम (बाग), पुल और बाँध, तटाक (तालाब) और जलाशय की 'वास्तु' संज्ञा थी। इनके सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न हों, उनका निर्णय साक्षी के आधार पर किया जाता था। इमारतों के विषय में दो प्रकार के विवाद उपस्थित हो सकते थे, मकान के मालिक और किरायेदार के बीच में और मकान की बनावट के बारे में। यदि मकान मालिक किसी किरायेदार से मकान खाली करने को कहे और वह खाली न करे, तो उसके लिये बारह पण जुरमाने की व्यवस्था थी। पर यदि किरायेदार मकान का किराया दे चुका हो, और तब भी मकान मालिक उसे मकान खाली करने के लिये कहे, तो यही जुरमाना मकानमालिक को देना पड़ता था। पर यदि किरायेदार पारुष्य, चोरी, साहस (डकैती), भगा ले जाने (संग्रहण) या मिथ्याभोग (जो स्वयं न हो, वह होने का दावा करना) का दोषी हो, तो किराया दे चुकने पर भी मकान मालिक उससे मकान खाली करा सकता था। यदि कोई किरायेदार स्वेच्छापूर्वक मकान खाली कर दे, तो उसे सालाना किराये का शेष भाग देना पड़ता था।

यह आवश्यक था कि मकान इस ढंग से बनाये जाएँ कि उनसे गन्दा पानी उदक मार्ग में ही जाए। जिस मकान में यह व्यवस्था न हो, उसके मालिक पर ५४ पण जुरमाना किया जाए। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हैं, जिनका उल्लंघन करने पर विविध जुरमानों व अन्य दण्डों की व्यवस्था की गई है। ये सब विवाद भी धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा ही निर्णीत होते थे।

(६) वास्तु विक्रय (कौ. अर्थ. ३।९)—गृह, क्षेत्र, तटाक आदि 'वास्तु' के क्रय-विक्रय के लिये सुनिश्चित नियम निर्धारित थे। जब किसी वास्तु का विक्रय करना हो, तो उसके स्वामी के लिये आवश्यक था कि वह उसकी सीमाओं, विस्तार आदि की सही-सही सूचना ग्राम-वृद्धों और पड़ोसियों को दे दे। साथ ही, वह मूल्य भी सूचित कर दिया जाए, जिस पर

कि स्वामी अपनी भूसम्पत्ति को बेचना चाहता हो। यदि क्रेताओं के मूल्य के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा हो जाए और इस कारण कीमत बढ़ जाए, तो बढ़ी हुई अतिरिक्त कीमत विक्रेता को प्राप्त न होकर राज्यकोश में भेज दी जायगी। भू-सम्पत्ति की विक्री पर विक्रेता को राजकीय शुल्क भी प्रदान करना होगा। जिसने ऊँची बोली बोलकर भू-सम्पत्ति क्रय की हो, उसे न बेचकर किसी अन्य को उसे बेच देने की दशा में विक्रेता पर २०० पण जुरमाना किया जाए। वास्तु के क्रय-विक्रय से सम्बन्ध रखनेवाले वाद जहाँ धर्मस्थीय न्यायालयों में निर्णय के लिये प्रस्तुत किये जाते थे, वहाँ साथ ही वास्तु की सीमाओं और भू-सम्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य वाद भी इन्हीं न्यायालयों में भेजे जाते थे। इन अन्य वादों के विषय निम्नलिखित थे—सिंचाई के प्रयोजन के जल को अवरुद्ध करने, दूसरों की भूमि पर पुण्यस्थान, चैत्य, देवायतन (मन्दिर) आदि बना लेना, रहन (आधान) रखी हुई भूमि सम्पत्ति को बेच देना, सड़कों व पथों में रुकावट डालना, और दूसरों के खेतों का कोई अंश अधिकृत कर लेना।

(७) **समयस्यानपाकर्म** (कौ. अर्थ. ३।१०)—स्वामी भृत्य, कृषक, कर्मकर आदि के साथ जो 'समय' (संविदा या अनुबन्ध) करे, उसका अतिक्रमण स्वामी भी कर सकता था, और भृत्य व कर्मकर आदि भी। अन्य लोग भी परस्पर व्यवहार करते हुए जो अनुबन्ध करें, उनके पालन व अतिक्रमण के विषय में अनेक प्रकार के विवाद हो सकते थे, जिनका निर्णय करना धर्मस्थीय न्यायालयों का ही कार्य था।

(८) **ऋणादानम्** (कौ. अर्थ. ३।११)—धनिक (महाजन) और धारणिक (कर्जदार) ऋण देने लेने के विषय में जो अनुबन्ध करते थे, वे भी राज्य द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल ही किये जा सकते थे। महाजन किस दर से सूद ले सके, यह कानून द्वारा नियन्त्रित था। यदि कोई महाजन उस समय सूद की माँग करने लगे जबकि वह प्रदेय न हो या सूद को मूल में मिलाकर उसे मूल बताने लगे, तो उस पर विवादग्रस्त राशि का चार गुना जुरमाना किया जाए। यदि कोई अधमर्ण (कर्जदार) सूद देने के लिये आए, और महाजन उसे लेने से इन्कार करे, तब उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। यदि कोई महाजन दस साल तक ऋण की उपेक्षा करे, तो उसे ऋण की राशि पर कोई अधिकार नहीं रह जायगा। पर यदि महाजन नाबालिग हो, वृद्ध हो, रोगी हो, विपद्ग्रस्त हो, परदेश गया हुआ हो, और या राज्य में अव्यवस्था (विभ्रम) होने के कारण कहीं अन्यत्र गया हुआ हो, तो दस वर्ष की अवधि के बीत जाने पर भी वह ऋण को वसूल कर सकता है। कर्जदार की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्र, और यदि पुत्र न हों तो दामाद लोग कर्ज और सूद के लिये उत्तरदायी होंगे। ऋण-सम्बन्धी सब विवाद धर्मस्थीय न्यायालयों में ही प्रस्तुत किये जाते थे, जहाँ उनका निर्णय साक्षियों के आधार पर किया जाता था।

(९) **औपनिधिकम्** (कौ. अर्थ. ३।१२)—धन को अमानत के रूप में रखने पर जो विवाद उत्पन्न होते थे, उनका निर्णय भी धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा किया जाता था। जो

सम्पत्ति किसी के पास अमानत के रूप में रखी गई हो, उसे वापस करना उसका कर्तव्य था। पर कतिपय परिस्थितियों में अमानत रखी हुई सम्पत्ति को वापस लौटाना सम्भव नहीं रहता था। यदि शत्रु सेना या आटविकों द्वारा दुर्ग (पुर) और राष्ट्र (जनपद) का ध्वंस हो गया हो, या आक्रान्ताओं ने ग्रामों, सार्थों (काफिलों) और व्रज (चरागाह और उनमें चरनेवाले पशुओं) को विनष्ट कर दिया हो, या बाढ़ अथवा अग्नि से भू-सम्पत्ति का नाश हो गया हो, या माल से लदा हुआ जहाज पानी में डूब गया हो अथवा उसे डाकुओं ने लूट लिया हो, तो इन दशाओं में अमानत की राशि को वापस करने की उत्तरदायिता उस व्यक्ति पर नहीं रह जायगी, जिसके पास वह अमानत रखी गई थी। अमानत रखी हुई सम्पत्ति का यदि उपयोग कर लिया जाए, तो ऐसा करनेवाले व्यक्ति को न केवल देश और काल की परिस्थिति के अनुसार हरजाना देना होगा, अपितु उस पर बारह पण दण्ड भी पड़ेगा। अमानत रखी हुई सम्पत्ति यदि नष्ट हो जाए या खराब होने के कारण उसका मूल्य कम हो जाए, तो उसकी क्षतिपूर्ति तो करनी ही होगी, साथ ही २४ पण जुरमाना भी देना होगा। पर जिसके पास अमानत रखी गई थी, यदि उसकी मृत्यु हो जाए या वह किसी विपत्ति में फँस जाए, तो अमानत के लिये अभियोग नहीं किया जा सकेगा। अमानत रखी हुई सम्पत्ति को यदि रहन रख दिया जाए या बेच दिया जाए, तो उसके बदले में चार गुने मूल्य की सम्पत्ति वापस लौटानी होगी। रहन रखी हुई सम्पत्ति के लिये भी ये ही नियम थे।

(१०) **दासकल्प** :—कौटलीय अर्थशास्त्र में दासों के विषय में भी अनेक नियम उल्लिखित हैं। मौर्य युग में दास प्रथा का क्या स्वरूप था और उसके सम्बन्ध में कौन-से कानून थे, इस पर पृथक् रूप से यथास्थान विवेचन किया जायगा। दास विषयक वादों का निर्णय भी धर्मस्थीय न्यायालय ही करते थे।

(११) **कर्मकरकल्प** :—भृत्यों और कर्मकरों के प्रति उनके स्वामी क्या व्यवहार करें, किन दशाओं में उनके वेतन में कटौती की जाए और किन दशाओं में स्वामी दण्ड का भागी हो, इन सब विषयों पर भी कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। इनके सम्बन्ध में जो विवाद उपस्थित हों, उनके निर्णय भी धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा किये जाते थे।

(१२) **सम्भूय समुत्थानम्** (कौ. अर्थ. ३।१४)—"वणिक् प्रभृति जब मिलकर कार्य करें, तब उन्हें सम्भूयसमुत्थान कहा जाता है। मुनाफे (फल) को दृष्टि में रख कर जब सामूहिक रूप से कार्य किया जाए, तो उसका आधार वह धन (प्रक्षेप) होता है, जिसे समूह में सम्मिलित वणिक् अपनी ओर से लगाएँ (प्रक्षेप करें)। सम्भूयसमुत्थान से जो लाभ हो, उसका विभाजन इसी प्रक्षेप के अनुसार किया जाना चाहिये।" नारद स्मृति का यह कथन सम्भूयसमुत्थान के स्वरूप को भली भाँति स्पष्ट कर देता है। व्यापारी लोग जहाँ व्यापार के लिये परस्पर मिलकर कार्य करते थे, वहाँ कर्मकर, कृषक आदि भी अपने समूह

बनाकर हाथ में लिये हुए कार्यों को सम्पादित करते थे। कर्मकर, कृषक आदि जब संघ-रूप से कार्य करें, तो अपनी आमदनी को या तो वे समान रूप से आपस में विभक्त कर लें और या जिस ढंग से उन्होंने तय किया हो। जब कोई माल तैयार किया जा रहा हो, तो जिसने जितना कार्य किया हो उसे उसी के अनुसार अंश प्रदान किया जाए, तैयार माल जिस कीमत पर विकेगा उसके आधार पर नहीं, क्योंकि मूल्य के विषय में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों स्थितियाँ हो सकती हैं। सामूहिक रूप से प्रारम्भ किये गये कार्यों में सम्मिलित कोई मनुष्य यदि स्वस्थ होते हुए भी काम को बीच में छोड़ कर चला जाए, तो उसे १२ पण जुरमाने की सजा दी जाए। यदि कोई कामचोर हो तो पहली वार उसे माफ कर दिया जाए, और काम के अनुरूप अंश प्रदान करने का वचन देकर उसे पुनः कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाए। यदि वह पुनः कार्य में प्रमाद करे, तो उसे समूह से निकाल दिया जाए। जो कोई गम्भीर अपराध करे, तो उसके प्रति अपराधियों का-सा व्यवहार किया जाए। याजक (यज्ञ कराने वाले) भी परस्पर मिलकर सामूहिक रूप से कार्य करते थे। प्राप्त हुए धन का उनमें किस प्रकार विभाजन किया जाए, इस विषय में भी अनेक नियम चाणक्य ने दिये हैं। इन सब विषयों के विवाद भी धर्मस्थीय न्यायालय में प्रस्तुत किये जाते थे।

(१३) **विक्रीतक्रीतानुशयः** (कौ. अर्थ. ३।१५)——क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में अनेकविध नियम मौर्य युग में विद्यमान थे। विके हुए पण्य को यदि विक्रेता क्रेता के सुपुर्द करने से इन्कार करे, तो उसपर १२ पण जुरमाना किया जाता था। पर यदि इसका कारण दोष, उपनिपात या अविषह्य हो, तो विक्रेता दण्ड का भागी नहीं होता था। 'दोष' का अभिप्राय पण्य में कोई दोष होने से है। 'उपनिपात' से ऐसी बाधा अभिप्रेत थी, जो राजा, चोर, अग्नि या जल द्वारा उत्पन्न हुई हो। 'अविषह्य' का अभिप्राय ऐसे पण्य से है, जो गुणहीन हो या जिसे किसी रुग्ण व्यक्ति के तैयार किया हो। यदि खरीदार खरीदे हुए पण्य को लेने से इन्कार करे, तो उसके लिये भी १२ पण जुरमाने की सजा थी। पर यदि इसका कारण दोष, उपनिपात या अविषह्य हो, तो उसे जुरमाना नहीं देना पड़ता था। पशुओं और जीवजन्तुओं के क्रय-विक्रय के विषय में भी अनेकविध नियम थे। यदि कुण्ठ व अन्य व्याधि से पीड़ित या अशुचि पशु को स्वस्थ और शुचि बताकर बेचा जाए, तो विक्रेता पर जुरमाना किया जाता था। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत-से नियमों का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है।

(१४) **दत्तस्यानपाकर्म** (कौ. अर्थ. ३।१६)——प्रतिज्ञात दान को न देने या दिये हुए दान को वापस ले लेने के मामलों के कारण भी अनेकविध वाद उत्पन्न हो जाते थे। ऋण के विषय में जो नियम थे, वे ही इनके लिये भी लागू समझे जाते थे।

(१५) **अस्वामिविक्रय :** (कौ. अर्थ. ३।१६)——यदि कोई किसी ऐसी सम्पत्ति को बेचने का प्रयत्न करे जिस पर उसका स्वामित्व न हो, तो उसे दण्ड दिया जाता था।

यह मालूम होने पर कि चोरी हुई सम्पत्ति किसी के पास है, तो उसका स्वामी धर्मस्थ (धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश) द्वारा उसे गिरफ्तार कराए। पर यदि देश और काल की दृष्टि से धर्मस्थ द्वारा ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार करा सकना सम्भव न हो, तो उसे स्वयं गिरफ्तार करके धर्मस्थ के समक्ष पेश किया जाए। धर्मस्थ उससे प्रश्न करे—"यह सम्पत्ति तुमने कहाँ से प्राप्त की ?" यदि वह सम्पत्ति को प्राप्त करने की प्रक्रिया को संतोषजनक ढंग से न बता दे, पर जिस व्यक्ति ने उस सम्पत्ति को उसे बेचा था उसे पेश कर सके, तो उसे छोड़ दिया जाए, पर उस सम्पत्ति को उससे ले लिया जाए। यदि उस विक्रेता का भी पता लग जाए, जिसने कि उस सम्पत्ति को बेचा था, तो उससे न केवल उसका मूल्य वसूल किया जाए, अपितु उसे वह दण्ड भी दिया जाए जो चोर को दिया जाता है। चोरी हुई सम्पत्ति जिसके कब्जे में हो, यदि वह कहीं भाग जाए या तब तक छिपा रहे जब तक कि सम्पत्ति को वह खर्च न कर ले, तो उससे न केवल उस सम्पत्ति की पूरी कीमत वसूल की जाए, अपितु उसे चोर की सजा भी दी जाए। जो व्यक्ति किसी सम्पत्ति के विषय में यह दावा करे कि यह उसकी वह सम्पत्ति है जो चोरी हो गई थी, पर वह उस सम्पत्ति पर अपने स्वत्व को सिद्ध न कर सके, तो उस पर उस सम्पत्ति के मूल्य का पाँच गुना जुरमाना किया जाए। यदि वह उस सम्पत्ति पर अपने स्वत्व को सिद्ध कर दे, तो वह उसके सुपुर्द कर दी जाए। चोरी हुई सम्पत्ति को उसका स्वामी तभी अपने स्वत्व में ले सकता था, जबकि वह ऐसा करने के लिये राज्य की अनुमति प्राप्त कर ले। अन्यथा, उसे 'पूर्वस्साहस दण्ड' दिया जाता था। चोरी हुई या खो गई सम्पत्ति को 'शुक्ल स्थान' पर रखा जाए। यदि तीन पखवाड़े (डेढ़ मास) तक कोई उस पर दावा करने वाला न आए, तो उसे राज्यकोश में भेज दिया जाए। खो गई या चोरी हुई सम्पत्ति-विषयक वादों का निर्णय भी धर्मस्थीय न्यायालय ही करते थे।

(१६) **स्वस्वामि सम्बन्ध :** (कौ. अर्थ. ३।१६)——सम्पत्ति पर किसी का स्वामित्त्व किन अवस्थाओं में कायम नहीं रह पाता, इस प्रश्न को लेकर भी अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो जाते थे जिनका निर्णय धर्मस्थीय न्यायालयों को करना होता था। यदि कोई स्वामी दस वर्ष तक निरन्तर अपनी सम्पत्ति की उपेक्षा करता रहे और इस अवधि में अन्य व्यक्ति उस सम्पत्ति का उपभोग करते रहें; तो स्वामी का ऐसी सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नहीं रह जाता था। पर इसके कुछ अपवाद भी थे, जैसे स्वामी का नाबालिग होना, वृद्ध होना, रोगी होगा, विपद्ग्रस्त होना, प्रवासी होना और राजकीय अव्यवस्था के कारण देश का त्याग कर अन्यत्र चले जाना। यदि स्वामी २० साल तक निरन्तर अपनी इमारत की उपेक्षा करे और वह दूसरों के कब्जे में रहे, तो स्वामी फिर उस पर दावा नहीं कर सकता था। पर क्योंकि कोई सम्पत्ति किसी अन्य के कब्जे में है, इसी आधार पर स्वामी का उस पर स्वत्व न रह जाए, यह नियम नहीं था। जो सिद्धान्त भू सम्पत्ति (वास्तु) के लिये था, वही अन्य प्रकार की सम्पत्ति के लिये भी स्वीकार्य समझा जाता था।

(१७) **साहसम्** (कौ. अर्थ. ३।१७)—–चोरी, डाके और लूट के मामले भी धर्मस्थीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। डकैती के लिये क्या सजा दी जाए, इस सम्बन्ध में मानव सम्प्रदाय का यह मत था कि रत्न आदि जिस सम्पत्ति को लूटा जाए उसकी कीमत के बरावर जुरमाना उचित दण्ड होगा; पर औशनस सम्प्रदाय के मत में लूट के माल की कीमत से दुगना दण्ड दिया जाना चाहिये। पर कौटल्य का यह मत था, कि अपराध के अनुरूप ही दण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिए। जो किसी स्त्री या पुरुष को पकड़कर जबर्दस्ती बन्धन में रखे या रखने में सहायता करे, और गिरफ्तार व्यक्ति को जर्बदस्ती छुड़वाए या छुड़वाने में सहायता करे, उस पर ५०० पण से १००० पण तक जुरमाना किया जाए। इसी को 'उत्तम साहस दण्ड' कहा जाता था। जो व्यक्ति किसी अन्य द्वारा चोरी या डकैती कराए, और इसके वदले में उसे सुवर्ण आदि सम्पत्ति देने की प्रतिज्ञा करे, उससे यथोक्त (जितना देने को उसने कहा था) सुवर्ण वसूल किया जाए, और उसे दण्ड भी दिया जाए। इसी प्रकार के अन्य भी नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हैं।

(१८) **वाक्पारुष्यम्** (कौ. अर्थ. ३।१८)—–गाली देने, कुवचन कहने और मानहानि के मुकदमे भी धर्मस्थीय न्यायालय द्वारा निर्णीत होते थे। बदनामी करना (अपवादः), निन्दा करना (कुत्सवं) और भर्त्सना करना (अभिभर्त्सनम्) वाक्पारुष्य के विभिन्न रूप माने जाते थे। यदि किसी के शरीर, स्वभाव (प्रकृति), योग्यता, पेशे और जनपद की निन्दा की जाए, पर वह निन्दा सच हो, तो तीन पण जुरमाने की सजा दी जाए। यदि वह निन्दा झूठी हो, तो छः पण दण्ड दिया जाए। जिनकी बदनामी की गई हो, उसकी स्थिति के अनुसार दण्ड की मात्रा दुगनी या आधी की जाए। दूसरों की स्त्रियों की निन्दा करने पर दुगना जुरमाना किया जाए। पर यदि वदनामी प्रमाद (असावधानता), मद, मोह आदि के कारण की जाए, तो दण्ड की मात्रा आधी ली जाए। वाक्पारुष्य के सम्बन्ध में ऐसे ही अनेक नियम अर्थशास्त्र में दिये गये हैं।

(१९) **दण्डपारुष्यम्** (कौ. अर्थ. ३।१९)—दण्डपारुष्य के अनेक प्रकार हैं, जैसे छूना (स्पर्शनं), पीटना (अवगूर्ण) और चोट मारना (प्रहतं)। नाभि के नीचे के अंगों को यदि हाथ, कीचड़, राख (भस्म) या धूल से छुआ जाए (कीचड़ आदि अंगों पर फेंके जाएँ), तो तीन पण की सजा थी। यदि इन (नाभि के नीचे के) अंगों को पैर, विष्टा आदि अमेध्य (अपवित्र) वस्तुओं से स्पर्श किया जाए, तो ६ पण जुरमाना हो। नाभि के ऊपर के अंगों पर इसी प्रकार के स्पर्श से जुरमाने की मात्रा दुगनी ली जाए, और सिर को स्पर्श करने पर चार गुनी। यदि किसी को हाथ से मारा जाए, तो ३ पण से १२ पण तक जुरमाना किया जाए, पैर से मारने पर इससे दुगना दण्ड दिया जाए। यदि किसी ऐसी वस्तु से मारा जाए, जिस के कारण घाव वन जाए, तो पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। यदि इतनी अधिक मार मारी जाए कि प्राण संकट में आ जाएँ, तो मध्यम साहसदण्ड दिया जाए। लाठी, ढेले, पत्थर, लोहे के डण्डे या रस्से से आघात करने पर यदि ऐसा घाव हो जाए जिससे खून न

निकले, तो २४ पण जुरमाने की सजा दी जाए। यदि खून बहने लगे, तो दण्ड की मात्रा दुगनी कर दी जाए। यदि किसी पर इतने अधिक आघात किये जाएँ कि वह मृतप्राय हो जाए, चाहे आघातों के परिणामस्वरूप खून न भी बहे, या हाथ-पैर टूट जाएँ, तो पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। यदि आघातों के कारण हाथ, पैर और दाँत भंग हो जाएँ या नाक-कान टूट जाएँ और प्राणबाधा उपस्थित हो जाए, तो भी पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। जाँघ और गरदन को तोड़ देने पर और आँख पर आघात करने पर या इस तरह की शारीरिक क्षति पहुँचाने पर जिसके कारण कि बोलने, भोजन करने और शारीरिक चेष्टाओं में बाधा उपस्थित हो जाए, न केवल मध्यमसाहस दण्ड दिया जाए, अपितु आघात करने-वाले से इतनी धनराशि भी वसूल की जाये जिससे चोट खाए व्यक्ति को समुचित हरजाना दिया जा सके। यदि देश और काल की परिस्थितियों के कारण अपराधी को तुरन्त गिरफ्तार न किया जा सके, तो उसके मामले को कण्टकशोधन न्यायालय के सुपुर्द कर दिया जाए। यदि बहुत-से व्यक्ति मिलकर किसी पर आघात करें, तो उनमें से प्रत्येक को सामान्य से दुगना दण्ड दिया जाए। पुराने आचार्यों का यह मन्तव्य था, कि आघात आदि के जो मामले पुराने हो चुके हों उनके लिये अपराधी पर अभियोग न चलाया जाए, पर कौटल्य इससे सहमत नहीं थे। उनका मत था कि अपकारी (अपराधी) को किसी भी दशा में छोड़ा न जाए। यह प्रयत्न किया जाता था, कि आघात के मुकदमों का उसी दिन फैसला कर दिया जाए, जिस दिन कि उन्हें न्यायालय में प्रस्तुत किया गया हो। पर यदि अभियुक्त अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये सफाई देना चाहे तो निर्णय में विलम्ब भी अभिमत था। वस्त्र, आभूषण, सुवर्ण, पण्य, मकान आदि को क्षति पहुँचाने पर भी दण्ड की व्यवस्था थी। किसी के घर में दुःखोत्पक वस्तु के फेंकने पर १२ पण दण्ड का विधान था। पर यदि किसी के घर में ऐसी वस्तु फेंकी जाए, जिससे कि वहाँ रहनेवालों के प्राण संकट में पड़ने सम्भावना हो, तो पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाता था। छोटे पशुओं (भेड़, बकरी आदि) को लाठी आदि के आघात से कष्ट पहुँचाने पर एक या दो पण दण्ड का विधान था। पर यदि आघात ऐसा हो जिससे पशु के खून निकल आए, तो दुगना जुरमाना किया जाता था। बड़े पशुओं (गाय, बैल, घोड़ा आदि) को इसी प्रकार के आघात करने पर दुगना जुरमाना देना पड़ता था, और साथ ही क्षतिपूर्ति भी करनी होती थी। नगर के समीप के छायादार वृक्षों, फूल वाले और फल वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों की डाल को तोड़ने पर ६ पण, शाखाएँ तोड़ने पर १२ पण और तना तोड़ने पर पूर्वस्साहस दण्ड का विधान था। यदि सीमासूचक वृक्षों, मन्दिरों के वृक्षों या राजकीय वनों के वृक्षों, वनस्पति आदि को क्षति पहुँचायी जाए, तो दण्ड की द्विगुण मात्रा का विधान था। दण्ड-पारुष्य के ये सब मामले धर्मस्थीय न्यायालयों में ही पेश किये जाते थे।

(२०) **द्यूतसमाह्वयम्** (कौ. अर्थ. ३।२०)–प्राचीन भारत में द्यूतक्रीड़ा का बहुत अधिक प्रचार था। उसके विषय में जो अनेकविध वाद उत्पन्न होते रहते थे, उनके निर्णय भी

धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा किये जाते थे। द्यूत के सम्बन्ध में यह व्यवस्था थी, कि जुआ केवल उन्हीं स्थानों पर खेला जा सके जो कि इसके लिये नियत हों। द्यूताध्यक्ष संज्ञा के राजकर्मचारी का यह कार्य था, कि वह द्यूत को केवल निश्चित स्थानों पर केन्द्रित करे। अन्यत्र जुआ खेलने पर १२ पण जुरमाने का विधान था। द्यूत क्रीड़ा के लिये जिन पासों (अक्ष) और काकणियों की आवश्यकता होती है, उन्हें निर्दोष रूप में प्रस्तुत कराना भी द्यूताध्यक्षों का कार्य था। यदि कोई कितव (जुआ खेलने वाला) इन्हें होशियारी से वदल दे, तो उस पर १२ पण जुरमाना किया जाता था। जुआ खेलते हुए 'कूटकर्म' करने पर पूर्वस्साहसदण्ड की व्यवस्था थी। साथ ही, उसने जो कुछ जीता हो उसे भी जव्त कर लिया जाता था, और उसे वह दण्ड दिया जाता था जो कि चोर को दिया जाता है। जुए में जो राशि या द्रव्य जीता जाए, उसका ५ प्रतिशत राज्य प्राप्त कर लेता था। इसके अतिरिक्त अक्ष आदि उपकरणों का किराया, द्यूतस्थान का किराया और पेय आदि का मूल्य भी कितवों को प्रदान करना होता था।

(२१) प्रकीर्णकानि (विविध) (कौ. अर्थ. ३।२०)—कतिपय अन्य भी ऐसे विषय थे, जिनके सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद धर्मस्थीय न्यायालयों के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। ये विषय निम्नलिखित थे—(१) माँगी हुई, किराये पर ली हुई, अमानत के रूप में रखी हुई या सुरक्षा के लिये रखी हुई सम्पत्ति को यदि निर्धारित स्थान और समय पर वापस न किया जाए। (२) छायादार स्थानों का यदि निर्धारित अवधि से अधिक समय तक उपयोग किया जाए। (३) सैनिक मार्गों और नदियों को (नाव आदि द्वारा) पार करते हुए जो शुल्क प्रदेय हो, यदि उसे न दिया जाए। (४) यदि किसी को अपने पड़ोसियों के विरुद्ध लड़ने के लिये निमन्त्रित किया जाए। (५) यदि किसी को कोई सम्पत्ति किसी अन्य व्यक्ति को प्रदान करने के लिये सुपुर्द की गई हो, और वह उस सम्पत्ति को उसे प्रदान न करे। (५) यदि कोई अपने भाई की पत्नी को हाथ से खींचे। (६) किसी अन्य द्वारा रखी हुई रूपाजीवा (वेश्या) के पास जाने का यदि कोई यत्न करे। (७) यदि कोई किसी ऐसे व्यक्ति से पण्य खरीदे, जिसे वेचने का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति का हो। (८) जिस मकान के द्वार पर मुद्रा (Seal) लगी हो, यदि उसे तोड़ने का यत्न किया जाए। (९) यदि कोई अपने पड़ोसियों को क्षति पहुँचाए। (१०) गृहस्वामी की ओर से भू-सम्पत्ति का किराया वसूल कर यदि कोई उसे अपने प्रयोग में ले आए। (११) स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करती हुई विधवा स्त्री से यदि कोई जवर्दस्ती अनाचार करे। (१२) यदि कोई चाण्डाल किसी आर्य स्त्री का स्पर्श करे। (१३) किसी व्यक्ति के विपद्ग्रस्त होने पर यदि उसकी सहायता के लिये न जाया जाए। (१४) विना कारण यदि किसी को भागता हुआ पाया जाए। (१३) देव और पितृ-कार्यों (श्राद्ध आदि) में यदि कोई वौद्ध, आजीवक या शूद्र-प्रव्रजित को भोजन कराए। (१६) शासन द्वारा अनधिकृत व्यक्ति यदि किसी अपराधी से शपथपूर्वक गवाही ले। (१७) जो राजकीय सेवा में न हो, यदि वह राजकीय कार्य करने का प्रयत्न करे। (१८)

यदि कोई क्षुद्र पशुओं को वधिया करे। (१९) यदि कोई औषध द्वारा दासी का गर्भ गिराए। (२०) यदि पिता और पुत्र, पति और पत्नी, भाई और वहन, मामा और भानजा या भानजी, और आचार्य और शिष्य अपने में से किसी का (उसके पतित न होते हुए भी) परित्याग कर दें। (२१) यदि अपने साथ लाये हुए किसी व्यक्ति को ग्राम के वीच में या जंगल में छोड़ दिया जाए। (२२) जो लोग एक साथ यात्रा के लिये चले हों, उनमें से किसी को यदि यात्रा के पूरा होने से पूर्व ही छोड़ दिया जाए। (२३) अवन्धनीय पुरुष का यदि बन्धन किया जाए या वन्धन में सहायता की जाए, और यदि किसी कैदी को वन्धन से मुक्त कर दिया जाए या वन्धनयुक्त होने में सहायता की जाए। (२४) यदि किसी नावालिग व्यक्ति को वन्धन में रखा जाए। यहाँ जिन विषयों का उल्लेख किया गया है, उनके सम्वन्ध में भी अनेक वाद उपस्थित हो सकते थे, जिनका निर्णय धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीशों को करना होता था। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि धर्मस्थीय न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में कतिपय ऐसे विषय भी थे, जिनके निर्णय आधुनिक समय में फौजदारी (Criminal) न्यायालयों द्वारा किये जाते हैं। अतः धर्मस्थीय न्यायालयों को अविकल रूप से दीवानी (Civil) न्यायालयों के सदृश समझना समुचित नहीं होगा। पर इस प्रकरण में हमने जिन विषयों का संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया है, उनसे धर्मस्थीय न्याया-लयों के क्षेत्राधिकार को समुचित रूप समझा जा सकता है।

धर्मस्थों (धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीशों) के कतिपय अन्य कार्य भी थे। देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, वाल, वृद्ध, रोगी, अनाथ आदि के हितों को उन्हें दृष्टि में रखना चाहिये, चाहे ये मामले उनके न्यायालय में वाद (मुकदमे) के रूप में प्रस्तुत न भी किये गये हों। विद्या, बुद्धि, पौरुष आदि की दृष्टि से जो व्यक्ति विशेषताएँ रखते हों, उनका यथोचित सम्मान करना भी धर्मस्थों का कार्य था। धर्मस्थों के लिये कौटल्य का यह आदर्श था——धर्मस्थों की सवके प्रति समदृष्टि होनी चाहिये, सबका विश्वास उन्हें प्राप्त होना चाहिये, जनता में वे लोकप्रिय होने चाहियें, और विना किसी छल-छिद्र के उन्हें अपने कार्यों को सम्पादित करना चाहिए।

(३) कण्टक शोधन न्यायालय

कण्टक शोधन न्यायालय के न्यायाधीशों को 'प्रदेष्टा' कहते थे। जिन विषयों के साथ सम्बन्ध रखने वाले विवाद इन न्यायालयों में प्रस्तुत किये जाते थे, उनमें मुख्य निम्न-लिखित थे——

(१) **कारुकरक्षणम्** (कौ. अर्थ. ४।१)——(शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा)——मौर्य युग में शिल्पियों व कारीगरों के हितों की रक्षा के लिये अनेकविध कानूनों की सत्ता थी। साथ ही, इस प्रकार की व्यवस्थाएँ भी इस युग में विद्यमान थीं, जिन द्वारा शिल्पियों को कर्तव्यपालन के लिये विवश किया जा सकता था। इनसे

सम्बन्ध रखने वाले वादों का निर्णय कण्टक शोधन न्यायालय द्वारा किया जाता था। शिल्पी जिस कार्य को जहाँ और जितनी अवधि तक सम्पन्न करने का जिम्मा लें, वहीं और उतने ही समय में उसे पूरा करें। यदि वे यह कह कर कि कोई स्थान व समय निर्धारित नहीं हुआ था, कार्य को पूरा न करें, तो उनका चौथाई पारिश्रमिक जब्त कर लिया जाए, और कुल पारिश्रमिक का दुगना उन पर जुरमाना किया जाए। पर यदि कार्य को नियत अवधि में पूर्ण न कर सकने का कारण कोई आपत्कालीन दशा हो, तो शिल्पियों का न वेतन काटा जाए और न उन्हें दण्ड ही दिया जाए। यदि शिल्पी माल को नष्ट कर दें या खराब कर दें, तो उनसे नुकसान की क्षतिपूर्ति करायी जाए। यदि वे कार्य को ठीक प्रकार से न करें, जिस ढंग से कार्य करना उन्होंने स्वीकार किया था वैसा न करें, तो उन्हें न केवल वेतन न दिया जाए, अपितु उससे दुगना दण्ड भी दिया जाए। धोबियों के लिये यह व्यवस्था थी कि वे स्वयं केवल ऐसे ही वस्त्रों को पहन सकें, जिनपर मुद्गर का चिन्ह अंकित हो। धोने के लिये आये हुए वस्त्र को यदि वे बेच दें, रेहन रख दें या किराये पर दे दें, तो उन्हें १२ पण जुरमाना देना होता था। यदि वस्त्र को बदलकर लाएँ, तो भी दण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई सुनार किसी चोर से सुवर्ण क्रय करें, तो उन्हें ४८ पण जुरमाने की सजा दी जाती थी। यदि वे किसी आभूषण को (पिघला लेने के कारण) प्रच्छन्न या विरूप दशा में क्रय करें, तो उन्हें वह दण्ड दिया जाए जो चोरों के लिये निर्धारित है। चाँदी के आभूषण बनाने के लिये एक रूप्यधरण पर एक माषक के हिसाब से मजदूरी देने की व्यवस्था थी, और सोने के आभूषणों के लिये सुवर्ण के आठवें भाग की। साधारणतया, आभूषण में जितने मूल्य की चाँदी या सोना प्रयुक्त हुआ हो, उसके आठवें भाग के मूल्य के बराबर सुनार का वेतन निर्धारित था। पर यदि आभूषण अधिक कलात्मक हो या सुवर्णशिल्पी अधिक होशियार हो, तो उसे दुगना पारिश्रमिक दिया जाता था। भिषजों (चिकित्सकों) के लिये यह आवश्यक था कि यदि कोई प्राणबाधिक (गम्भीर) रोग से ग्रस्त रोगी उनके पास चिकित्सा के लिये आए, तो वे तुरन्त उसकी सूचना शासन को प्रदान करें, अन्यथा उन्हें पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। यदि चिकित्सक की लापरवाही से किसी रोगी की मृत्यु हो जाए, तो चिकित्सक को मध्यम साहस दण्ड दिया जाए। यदि चिकित्सक रोगी की उपेक्षा करे या उसका उलटा इलाज करे, तो ऐसा करने को 'पारुष्य' मानकर तदनुरूप दण्ड उसे दिया जाए। अन्य प्रकार के शिल्पियों के विषय में भी इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में भी बहुत-से शिल्पी जनता के पीड़न के लिये तत्पर रहते थे, और चोर होते हुए भी इस ढंग से आचरण करते थे मानो वे चोर न हों। इसीलिये चाणक्य ने यह व्यवस्था की थी, कि "वणिकों, कारुओं, कुशीलवों, भिक्षुकों और कुहकों तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों को जो वस्तुतः चोर हों पर 'अचोर' के समान आचरण कर रहे हों, जनता का पीड़न न करने दिया जाए।"

(२) **वैदेहक रक्षणम्** (कौ. अर्थ. ४।२)—(व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा)—व्यापारी सही बाटों और मापों का ही प्रयोग करें, इसका विशेष ध्यान रखा जाता

था। संस्थाध्यक्ष संज्ञा के राजकर्मचारी का यह कर्तव्य था कि वह इन मापों का निरीक्षण करता रहे। वही यह भी देखता था कि व्यापारी पण्य को तोलने के लिये जिस तुला का प्रयोग करते हैं, वह ठीक तोलती है या नहीं। यदि कोई व्यापारी माल खरीदने के लिये ऐसी तुला का प्रयोग करते हों जो अधिक तोलती हो और बेचने के लिये कम तोलने वाला तुला को प्रयुक्त करें, तो उनके लिये दण्ड की व्यवस्था थी। यदि व्यापारी आपस में मिलकर पण्य को रोक लें और महँगी कीमत पर बेचने का प्रयत्न करें, तो क्रेता और विक्रेता दोनों को सहस्र पण जुरमाने की सजा दी जाए। धान्य, स्नेह (तेल और घृत), क्षार, लवण, सुगन्ध और औषधि में समान रूप रंग की वस्तु की मिलावट करने पर बारह पण जुरमाने करने की व्यवस्था थी। धान्य सदृश पण्य को बेचने वाले व्यापारियों के लिये यह आवश्यक था, कि वे जनता के हित को सदा दृष्टि में रखें। व्यापारी कितना मुनाफा ले सकें, यह भी निर्धारित था। स्वदेशी पण्य पर मुनाफे की मात्रा ५ प्रतिशत निश्चित की गई थी, और विदेशी पण्य पर दस प्रतिशत।

(३) **उपनिपात प्रतीकारः** (कौ. अर्थ. ४।३) (प्राकृतिक विपत्तियों का निवारण)— प्राकृतिक विपत्तियाँ आठ प्रकार की होती हैं, अग्नि, जल, महामारी, दुर्भिक्ष, चूहे, सिंह, सर्प और राक्षस। अग्नि, जल, महामारी आदि के कारण जो विपत्तियाँ राज्य पर आती हैं, वे ही यहाँ अभिप्रेत हैं। अग्नि की विपत्ति से राज्य व उसकी जनता को बचाने के लिये अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं, जैसे ग्रीष्म ऋतु में ग्रामों के निवासी भोजन घर के बाहर बनाएँ और उन सब नियमों का पालन करें जिनका प्रतिपादन कौटलीय अर्थशास्त्र के 'नागरिकप्रणिधिः' अध्याय में किया गया है। इन नियमों पर हम एक अन्य प्रकरण में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। जो इन नियमों का पालन न करे, उसके विरुद्ध मुकदमा चलाया जाता था, और उसके लिये दण्ड की व्यवस्था थी। ये मुकदमे कण्टकशोधन न्यायालय के सम्मुख ही पेश किये जाते थे। जल का भय प्रधानतया बाढ़ के रूप में था। उस से बचने के लिये यह व्यवस्था की गई थी कि नदियों के किनारे पर बसे हुए ग्रामों के लोग वर्षा ऋतु में ऐसे स्थानों पर चले जाएँ, जो ऊँचे हों और जहाँ बाढ़ का पानी आने की आशंका न हो। साथ ही, काष्ठ के बेड़े, बाँस के बेड़े और नौकाएँ तैयार रखी जाएँ। यदि किसी व्यक्ति को डूबता हुआ पाया जाए, तो अलाबु (तुम्बों), दृति (पशु की खाल जिसमें हवा भरी हुई हो), प्लव (लकड़ी का तख्ता), गण्डिका (छोटी नौका) आदि द्वारा उसकी रक्षा की जाए। यदि कोई इस कार्य में प्रमाद करे, तो उसे १२ पण जुरमाने की सजा दी जाए। पर यदि किसी के पास प्लव आदि न हों, तो उसे दण्ड न दिया जाए। महामारियों से रक्षा करने के लिये जहाँ औपनिषदिक उपाय प्रयुक्त किये जाएँ, वहाँ साथ ही चिकित्सक औषधि द्वारा उनका प्रतिकार करें और सिद्ध तापस लोग शान्ति-प्रायश्चित्त के अनुष्ठान करें। दुर्भिक्ष पड़ने पर सरकार की ओर से बीजों और भोजन का वितरण कर जनता के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित किया जाए; ऐसे निर्माण-कार्य प्रारम्भ किये जाएँ, जिनसे दुर्भिक्ष-

पीड़ित लोगों को काम मिल सके; सञ्चित अन्न आदि को वितरित किया जाए; देश में जो अन्न हो, खाद्य सामग्री हो उसका सम व न्याय्य रीति से विभाजन किया जाए; मित्र-राज्यों से सहायता प्राप्त की जाए और धनिक लोगों को अपने धन को उगल देने के लिये विवश किया जाए। चूहों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि को भी प्राकृतिक विपत्ति माना जाता था। इसके निवारण के लिये विषैली वनस्पति को धान्य में मिलाकर उन स्थानों पर रख दिया जाता था, जहाँ चूहों का प्रकोप हो। टिड्डी दल, पक्षियों के झुण्ड और कृमियों के भय का निराकरण करने के लिये भी इसी प्रकार के उपाय प्रयोग में लाये जाते थे। सिंहों के विनाश के लिये मदन रस से सिंचित पशु-शवों को जंगल में रखने का विधान था। लुब्धकों (शिकारियों) और श्वगणिकों (शिकारी कुत्ते पालनेवालों) को यह आदेश दिया जाता था, कि वे कूट पिञ्जरों द्वारा सिंहों को पकड़ने का प्रयत्न करें। कवच धारण किये हुए शस्त्रधारी भी सिंहों को मारने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। सिंह की पकड़ में आये हुए व्यक्ति को बचाने का यत्न न करने पर बारह पण जुरमाने का विधान था। शेर का शिकार करने वालों को यही राशि इनाम में दी जाती थी। साँपों के विनाश के लिये भी अनेकविध व्यवस्थाएँ की गई थीं। राक्षसों के भय का निवारण करने के लिये आथर्वण क्रियाओं का विधान था। सिद्ध तापसों और मायायोग में प्रवीणों से रक्षों (भूत प्रेत आदि) की बाधा को शान्त कराया जाता था। चाणक्य ने लिखा है कि माया योग में निष्णात सिद्ध तापसों को राजा की ओर से अपने देश में बसाया जाए, और उनका सम्मान किया जाए, क्योंकि दैवी विपत्तियों का वे प्रतिकार कर सकते हैं।

(४) **गूढ़ाजीविनां रक्षा (कौ. अर्थ. ४।४)**—(गैरकानूनी उपायों से आजीविका चलाने वालों से रक्षा)—कौन व्यक्ति गैर कानूनी ढंग से काम कर रहे हैं, इसका परिज्ञान प्राप्त करने के लिये सत्रियों (गुप्तचरों) की नियुक्ति की जाती थी, जो सिद्ध, तापस, परिव्राजक, कार्तान्तिक (ज्योतिषी), चिकित्सक, उन्मत्त (पागल), मूक, बधिर, अन्ध, वैदेहक, कारु, शिल्पी, पाक्वमांसिक आदि के भेस बना कर जनता तथा राजकीय कर्मचारियों के शौच (शुचिता) और अशौच (अशुचिता) का पता करते थे। उन्हें यदि किसी पर गूढ़ाजीवी (गैर कानूनी ढंग से काम करने वाला) होने की आशंका हो, तो उसके पीछे एक ऐसे गुप्तचर को लगा दिया जाता था जिसने गूढ़ाजीवी के सदृश कार्य करनेवाला होने का ढोंग किया हुआ हो। संदिग्ध व्यक्तियों की गूढ़ाजीविता का इसी ढंग से पता किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि तेरह प्रकार के गूढ़ाजीवी होते हैं जो देश के विनाश के कारण बनते हैं। उन्हें या तो देश से बहिष्कृत कर दिया जाए और या दोष के अनुरूप उन्हें दण्ड दिया जाए। गूढ़ाजीवियों को देश से निकालने और दण्ड देने का कार्य कण्टकशोधन न्यायालय द्वारा किया जाता था।

(५) **सिद्धव्यञ्जनैर्माणवप्रकाशनम् (कौ. अर्थ. ४।५)**—(दूषित प्रवृत्तियों वाले युवकों को सिद्धों का भेस धरे हुए गुप्तचरों द्वारा पकड़वाना)—राज्य में कौन-से

व्यक्ति दूषित प्रवृत्तियों वाले हैं, और वे किन गैर-कानूनी कार्यों में व्यापृत हैं, इसे पता लगाने के लिये गुप्तचरों का प्रयोग किया जाता था। पहले साधारण गुप्तचर यह मालूम करते थे, कि किन व्यक्तियों की गतिविधि शंकाजनक है। फिर सन्दिग्ध व्यक्तियों के अपराधों का पता करने और उनके अपराधी होने की बात की पुष्टि के लिये विशिष्ट गुप्तचरों की सहायता ली जाती थी। इसके लिये जो ढंग प्रयोग में लाये जाते थे, कौटलीय अर्थ-शास्त्र में उनका विशद रूप से वर्णन किया गया है। सिद्ध का भेस बनाए हुए गुप्तचर संदिग्ध युवकों के पास जाकर यह कहें, कि हम ऐसी विद्या जानते हैं जिससे मनुष्य अन्तर्धान हो जाता है। दूसरा कोई उसे देख नहीं सकता। हम बन्द हुए द्वार को मन्त्रशक्ति द्वारा खोल भी सकते हैं। किसी भी स्त्री को वश में करने की विद्या में भी हम प्रवीण हैं। जब संदिग्ध युवकों को उन पर विश्वास हो जाए, तो वे उन्हें एक ऐसे ग्राम में ले जाएँ जहाँ पहले से ही राजकीय गुप्तचर गये हुए हों। एक मकान के पास जाकर वे सिद्ध युवकों से कहें—हमारे मन्त्र के प्रभाव की यहीं परीक्षा कर लो। बन्द द्वार के सामने खड़े होकर सिद्ध कहें—द्वार खुल जाए। मकान में विद्यमान गुप्तचर चुपचाप द्वार खोल दें, और इस ढंग से लेट जाएँ मानो वे सोए हुए हों। अब सिद्ध युवकों से कहें—हमारी मन्त्रशक्ति के प्रभाव से तुम्हें कोई देख नहीं सकता। तुम इस मकान से जो चाहो सामान उठा लो। इस मकान के सब निवासी हमारी मन्त्रशक्ति के कारण सोये रहेंगे, न तुम्हें कोई देख सकेगा और न कोई जाग ही पाएगा। यहाँ जो स्त्रियाँ हैं (जो वस्तुतः गुप्तचर स्त्रियाँ हों), उनके प्रति भी तुम यथेष्ट बरताव कर सकते हो, क्योंकि वे भी हमारी मन्त्रशक्ति के प्रभाव में हैं। जब दूषित प्रवृत्ति के युवकों को उस मकान में चोरी करके और वहाँ विद्यमान स्त्रियों से यथेष्ट कामाचार करके सिद्धों के प्रति विश्वास हो जाए, तो सिद्ध उनसे कहें—अब तुम हमसे यह विद्या सीख लो और जहाँ चाहे जाकर इसका प्रयोग करो। जब दूषित प्रवृत्तियों वाले युवक सिद्धों के प्रति विश्वास कर और उनसे मन्त्र विद्या सीखकर किसी ग्राम में चोरी करें या कामाचार के लिये प्रवृत्त हों, उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जाए। फिर उनसे यह पता किया जाए कि उनके अन्य साथी कौन-कौन हैं और वे पहले किस प्रकार के गैर-कानूनी कार्य करते रहे हैं। चोरों और डाकुओं को पकड़ने के लिये भी इसी उपाय को प्रयुक्त किया जाए। कतिपय सत्री पुराने चोरों का भेस बनाकर उन व्यक्तियों से मेलजोल करें, जिनपर चोर होने का सन्देह हो। जब सत्रियों द्वारा उत्साहित होकर वे चोरी के लिये प्रवृत्त हों, उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाए। समाहर्ता गिरफ्तार हुए व्यक्तियों को पुर और जनपद के निवासियों को दिखाकर यह कहे—राजा को चोर पकड़ने की विद्या आती है। इसी विद्या द्वारा ये चोर पकड़े गये हैं। अभी हमें अन्य चोरों को भी गिरफ्तार करना है। यदि आपके स्वजनों (आत्मीयों) में कोई 'पापाचार' (चोरी आदि गैर-कानूनी काम करने वाले) हों, तो उन्हें ऐसा आचरण करने से रोक दो। चोर, डाकू आदि अपराधियों का पता करने के लिये ग्वाले, शिकारी, व्याध (बहेलिया) आदि के भेस धरे हुए गुप्तचर

उन लोगों में मिल-जुल जाते थे, जिन पर चोरी, डकैती आदि में व्यापृत रहने का सन्देह हो। मौका पाकर उनके भोजन में मादक द्रव्य मिलाकर वे उनसे उनके पाप कर्मों का पता करते थे। इस प्रकार जब अपराधी गिरफ्तार कर लिये जाते थे, तो उन्हें कण्टक-शोधन न्यायालयों में न्याय के लिये पेश किया जाता था।

(६) **शंकारूपकर्माभिग्रहः (कौ. अर्थ. ४।६)**--(आशंका होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर अपराधियों की गिरफ्तारी)--कतिपय प्रकार के व्यक्ति ऐसे थे, स्वाभाविक रूप से जिन पर सन्देह किया जा सकता था। ये व्यक्ति निम्नलिखित प्रकार के थे--जिनको विरासत में बहुत कम सम्पत्ति प्राप्त हुई हो और जिनकी आय का कोई प्रत्यक्ष साधन न हो; जो बहुधा अपने देश, जाति, गोत्र, नाम और पेशे को बदलते रहते हों; जो अपने पेशे व व्यवसाय को छिपाते हों; जो मांसभक्षण, सुरापान, उत्कृष्ट भोजन, सुगन्ध, माल्य (मालाएँ), वस्त्र और आभूषणों पर बहुत अधिक व्यय करते हुए अत्यधिक खर्च कर रहे हों; जो चरित्रहीन स्त्रियों, द्यूत और मद्य बेचने वालों से संसर्ग रखें; जो बार-बार अपना निवासस्थान बदलते रहते हों; जिनके विषय में यह पता करना कठिन हो कि वे कहाँ रहते हैं, कहाँ जाते हैं और क्या कारोबार करते हैं; जो जंगलों और पार्वत्य स्थानों पर अकेले आते-जाते रहते हों; जो अपने निवासस्थान के समीप या दूर गुप्तरूप से मन्त्रणाएँ करते पाये जाएँ; जो हाल में ही लगी हुई चोट या व्रण की गूढ़रूप से चिकित्सा कराएँ; जो अपने मकान के तहखाने या अन्दरूनी कक्ष में नित्य आते-जाते दिखायी दें; जो स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त हों; जो परस्त्रियों, दूसरों की सम्पत्ति और दूसरों के घरों के विषय में बार-बार पूछताछ करते हों; जिनका कुत्सित कर्म करने वालों और कुत्सित शास्त्र के ज्ञाताओं से संसर्ग हो; जिन्हें अन्धकार के समय दीवारों के पीछे या छाया में घूमता हुआ पाया जाए; जो देश और काल को ध्यान में न रख संदिग्ध द्रव्यों का क्रय-विक्रय करें; जिनका व्यवहार वैरयुक्त हो; जिनकी जाति और पेशा हीन (नीच) हो; जो विभिन्न लिङ्गों (चिह्नों) द्वारा अपने रूप को बदलते रहते हों; जो अपने पूर्व पुरुषों की प्रथाओं को अकारण ही छोड़ दें; जो किसी महामात्र (राज्य के उच्च कर्मचारी) को देखकर छिप जाएँ या कहीं अन्यत्र चले जाएँ; जो बैठे हुए ही गहरी साँसें लेने लगें; जिनका चेहरापीला पड़ा हुआ हो या सूख रहा हो; जिनकी आवाज लड़खड़ाती हो; जो सदा किसी शस्त्रधारी व्यक्ति को साथ लेकर चलते हों; और जिनकी शकल भयंकर हो। कौटल्य के अनुसार जिन व्यक्तियों में ये लक्षण पाये जाएँ, उन पर हत्यारे, चोर और राजकीय कोश व धरोहर रखी हुई राशि का दुरुपयोग करने वाले होने का सन्देह कर सकना सर्वथा सवाभाविक है।

कण्टक शोधन न्यायालयों के समक्ष केवल संदिग्ध अपराधियों के मामले ही प्रस्तुत नहीं किये जाते थे। चोरी, डकैती आदि के अभियोगों पर भी ये न्यायालय विचार करते थे। यदि कोई वस्तु खोयी गई हो या चोरी हो गई हो, तो उसकी सूचना पहले उन व्यापारियों

को भेज देनी चाहिये जो उस वस्तु में व्यवहार करते हों। यदि ये व्यापारी सूचना प्राप्त हो जाने पर भी उस (खो गई या चोरी गई) वस्तु को छिपाएँ, तो उन्हें साचिव्यकर दोष (चोरी में शामिल होने या सहयोग देने) का दोषी समझा जाए। पर यदि उन्हें चोरी की सूचना न मिली हो, चाहे वह (चोरी गई) वस्तु उनके पास हो, तो उसे वापस लौटा देने पर उन्हें साचिव्यकर दोष का भागी नहीं माना जायगा। यदि कोई मनुष्य किसी पुराण भाण्ड (पुराने माल) को बेचना चाहे या रहन रखना चाहे, तो उसे इसकी सूचना संस्थाध्यक्ष को देनी होगी। सूचना प्राप्त होने पर संस्थाध्यक्ष यह मालूम करेगा कि यह (पुराण भाण्ड) उसे किस प्रकार प्राप्त हुआ है। यदि संस्थाध्यक्ष को संतोष हो जाए, तो वह उसे बेचने या रहन रखने की अनुमति दे देगा। पर यदि संस्थाध्यक्ष इस परिणाम पर पहुँचे कि यह खोया हुआ (या चोरी गया) माल है, तो उसे उसके असली स्वामी को सौंप दिया जाए। पुराण भाण्ड के स्वामित्त्व का निर्णय करने के लिये किन साधनों का आश्रय लिया जाए, इसका कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। यदि यह साबित हो जाए कि पुराण भाण्ड ऐसा है जो कि उसके वास्तविक स्वामी से कहीं खो गया था, कहीं गिर गया था या चोरी गया था, तो जिसके पास से वह मिला हो उसे यह बताना होगा कि वह भाण्ड उसे कहाँ मिला, कब मिला और किस प्रकार मिला। यदि वह इनको संतोष-जनक रीति से बता सके, तब तो ठीक है। अन्यथा उससे न केवल वह भाण्ड ले लिया जायगा, अपितु उसके मूल्य के बराबर उससे जुरमाना भी लिया जायगा, या उसे चोरी के अपराध में दण्ड दिया जायगा। चोर, डाकू, व्यभिचारी, दरवाजा व खिड़की तोड़कर मकान में घुसनेवाले और इसी प्रकार के अन्य अपराधियों का पता करने के सम्बन्ध में विस्तार के साथ निरूपण करके कौटल्य ने यह लिखा है—"प्रदेष्टा गोपों और स्थानिकों की सहायता से उन चोरों का पता करे जो पुर से बाहर के हों। दुर्ग (पुर) के अन्दर के चोरों का पता नागरक की सहायता से लगाया जाए, उन साधनों से जिनका निर्देश यहाँ किया गया है।" निस्सन्देह, चोर आदि अपराधियों को दण्ड देना प्रदेष्टा का ही कार्य था।

(७) **आशुमृतक परीक्षा (कौ. अर्थ. ४।७)** (मृतदेह की परीक्षा द्वारा मृत्यु के कारण का पता लगाना)—यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु सन्देहास्पद परिस्थिति में हुई हो, तो उसकी शवपरीक्षा द्वारा मृत्यु के कारण और मारनेवाले का पता लगाया जाता था। शव सड़ने न पाए, इस प्रयोजन से उसपर तेल मला जाता था। शव के बाह्य चिन्हों को देखकर किस प्रकार मृत्यु के कारण को जाना जाए, इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक पहचानें लिखी गयी हैं। यदि मूत्र और पुरीष (विष्टा) निकल कर शरीर पर लग गये हों,पेट में वायु भरी हो, हाथ-पैर सूजे हुए हों,आँखें खुली हुई हों,गरदन पर निशान हों, तो यह समझना चाहिये कि मृत्यु गला घोंटने के कारण हुई है। यदि हाथ, पैर, दाँत, और नाखून काले पड़ गये हों, मांस ढीला हो गया हो, बाल गिर गये हों, चमड़ी सुकड़ गयी हो और मुँह में झाग आ गई हो, तो यह समझना चाहिये कि मृत्यु विष के कारण हुई है।

इसी प्रकार की अनेक पहचानों का निर्देश कर कौटल्य ने लिखा है, कि बहुधा ऐसी भी होता है कि किसी की हत्या करके उसे इस ढंग से लटका दिया जाता है, जिससे उसे आत्महत्या का मामला समझ लिया जाए। यह मालूम करके कि मृत्यु किस प्रकार हुई है, उन कारणों का पता लगाया जाता था जिनसे हत्या की गई हो। मृत व्यक्ति के परिचारक जनों (नौकरों) से पूछताछ की जाती थी। आवश्यकता के अनुसार उनके प्रति कठोरता का व्यवहार भी किया जाता था, ताकि वे सही-सही बात बता दें। मृत व्यक्ति के परिवार की स्त्रियों के विषय में यह जानकारी प्राप्त की जाती थी, कि उनमें से कौन दुःखोपहत (दुःख की मारी हुई) है, किस का किसी अन्य के प्रति स्नेह है, कोई ऐसी स्त्री तो नहीं है जिसे मृत व्यक्ति ने विरासत से वञ्चित किया हो और जिसका कोई अन्य पुरुष पक्ष ले रहा हो। कौटल्य के अनुसार हत्या के प्रायः निम्नलिखित कारण होते हैं—स्त्रियों और कुटुम्बियों के दोष, पेशे के बारे में प्रतिस्पर्धा, प्रतिपक्षियों के प्रति द्वेष भाव, पण्यसंस्था (व्यापार, व्यवसाय आदि) विषयक झगड़े और मुकदमेबाजी। इन कारणों से रोष उत्पन्न होता है, और फिर रोष से हत्या कर दी जाती है। जिस स्थान पर किसी की हत्या हुई हो, वहाँ आसपास के लोगों को बुलाकर उनसे ये प्रश्न किये जाते थे—इसे यहाँ कौन लाया था, कौन इसके साथ था, क्या उन्होंने यहाँ किसी सशस्त्र मनुष्य को देखा था, या किसी ऐसे मनुष्य को जो उद्विग्न प्रतीत हो रहा हो। ये लोग जैसी सूचना दें, उसके अनुसार जाँच की जाती थी। इस प्रकार हत्या के कारणों और हत्यारे का पता करके मुकदमा कण्टक शोधन न्यायालय में भेज दिया जाता था।

(८) **वाक्यकर्मानुयोगः (कौ. अर्थ. ४।८)**—(अपराध का पता करने के लिये विविध भाँति के प्रश्नों को पूछना और शारीरिक कष्ट देना)—चोरी आदि अपराधों के सन्देह में जिस व्यक्ति को गिरफ्तार किया जाता था, उससे पहले यह पूछा जाता था, कि वारदात से पहले के दिन वह कहाँ था, किस काम में लगा था और रात उसने कहाँ बितायी थी। गिरफ्तारी के समय तक उसकी सब गतिविधि के विषय में उससे प्रश्न किये जाते थे। यदि साक्षियों द्वारा उसके उत्तरों की सत्यता प्रमाणित हो जाए, तो उसे निर्दोष मान लिया जाता था। अन्यथा उसे शारीरिक कष्ट प्रदान कर सचाई का पता लगाया जाता था।

शारीरिक कष्ट के अनेक ढंग थे, बेंत मारना, लटका देना, उँगलियों के जोड़ों को जलाना, तेल पिलाकर शरीर को गरमी पहुँचाना, ठण्ड की रात में मकान के बाहर हरी घास पर लिटाना, मुँह नीचे करके पैरों के बल लटकाना आदि। अपराध जितना गम्भीर हो, उसी के अनुरूप शारीरिक कष्ट दिया जाता था। पर मामूली अपराध से अभियुक्त व्यक्ति के लिये शारीरिक कष्ट की व्यवस्था नहीं थी। बाल, वृद्ध, रोगी, मत्त, पागल, भूख-प्यास या सफर के कारण थके हुए और दुर्बल व्यक्ति को शारीरिक कष्ट देना निषिद्ध था। जो अपने अपराध को स्वयं स्वीकार कर लें, उन्हें भी शारीरिक कष्ट नहीं
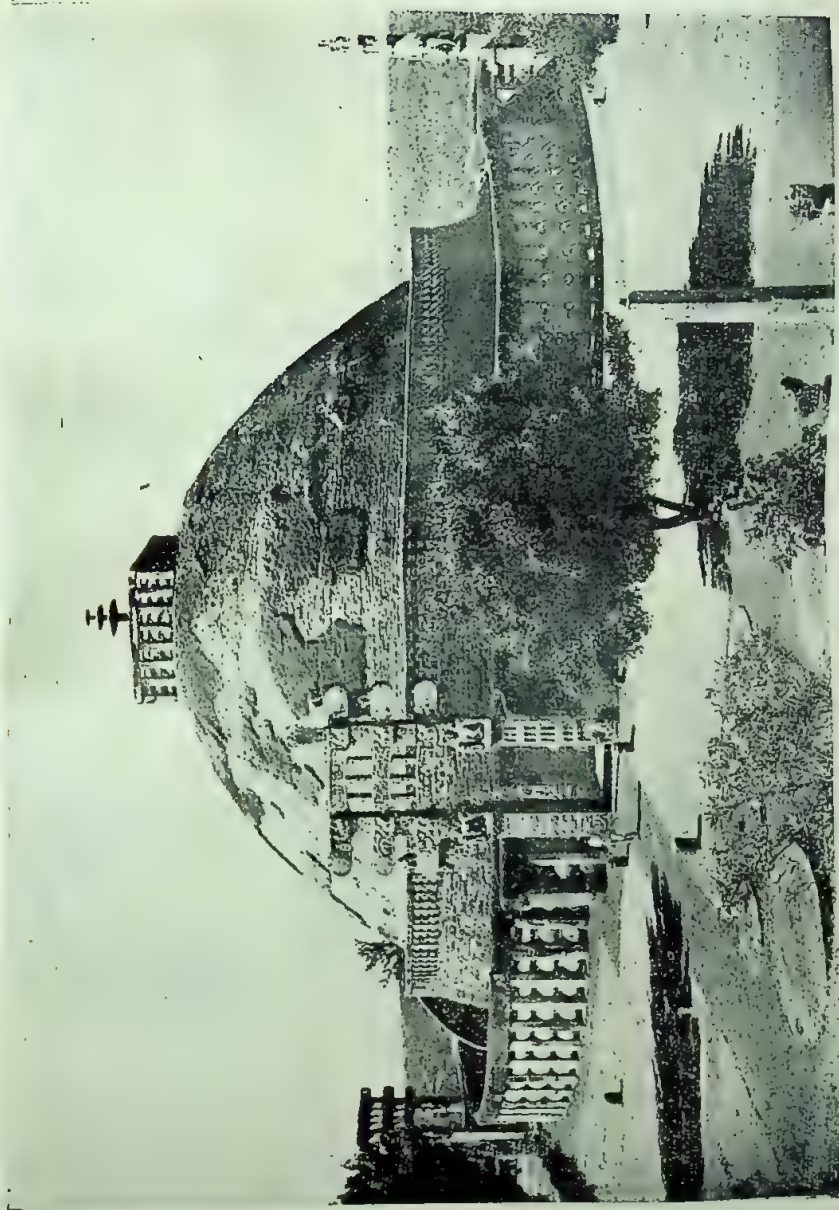
साँची का स्तूप

दिया जाता था। शारीरिक कष्ट देकर अपराध को स्वीकृत कराने की आवश्यकता उन्हीं व्यक्तियों के लिये होती थी, जो स्वयं या पूछताछ द्वारा अपने अपराध को स्वीकार न कर लें, और जिनको अपराधी समझने के पर्याप्त कारण विद्यमान हों। स्त्रियों से अपराध स्वीकृत कराने के लिये यह व्यवस्था थी, कि या तो उन्हें शारीरिक कष्ट दिया ही न जाए और केवल पूछताछ द्वारा ही काम लिया जाए, और या उनके लिये शारीरिक कष्ट की मात्रा आधी रखी जाए। परं जो स्त्री गर्भिणी हो या जिसे बच्चा हुए एक मास से कम समय हुआ हो, उसे शारीरिक कष्ट कदापि न दिया जाए।

कोई अभियुक्त वस्तुतः अपराधी है या नहीं, इसका निर्णय साक्षियों के आधार पर किया जाता था। केवल इस कारण कि अभियुक्त वारदात की जगह पर उपस्थित था, या इस कारण कि उसकी शकल अपराधी से मिलती है, या उसने वैसे ही वस्त्र पहने हुए हैं जैसे वस्त्रों में अपराधी को देखा गया था, या उसके पास ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जो कि चोरी गई वस्तुओं से मिलती-जुलती हैं, या उसने शारीरिक कष्ट के भय से अपने को अपराधी स्वीकार कर लिया है, किसी को अपराधी नहीं मान लिया जाता था। जब साक्षियों द्वारा किसी का अपराध सिद्ध हो जाए, तभी उसे अपराधी माना जाता था।

(९) **सर्वाधिकरणरक्षणम्** (कौ. अर्थ. ४।९) (शासन के सब अधिकरणों या विभागों की रक्षा और उनसे जनता की रक्षा)——राजकीय सेवा में नियुक्त अध्यक्ष और उनके अधीन कार्य करनेवाले राजपुरुष (राजकर्मचारी) राजशक्ति का दुरुपयोग भी कर सकते थे। अतः यह आवश्यक था, कि उन पर भी नियन्त्रण रखा जाए। क्योंकि बहुत-से उद्योग व व्यवसाय राज्य द्वारा सञ्चालित थे, अतः यह भय बना रहता था कि उनमें कार्य करने वाले व्यक्ति द्रव्य की चोरी न कर लें। ऐसा करनेवाले राजकर्मचारियों के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। खानों और कारखानों (कर्मान्तों) से रत्न सदृश बहुमूल्य पदार्थों का अपहरण करनेवालों के लिये मृत्युदण्ड का विधान था। साधारण पदार्थ तैयार करने वाले कारखानों से साधारण वस्तुओं की चोरी करने पर पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाता था। पण्य-स्थानों से राजकीय पण्य की चोरी करने पर यदि चोरी की गई वस्तु का मूल्य १।१६ पण से १।४ पण तक हो, तो १२ पण जुरमाना किया जाता था। यदि अपहृत (चोरी की गई) वस्तु का मूल्य १।४ पण से १।२ पण तक हो, तो जुरमाने की मात्रा २४ पण निर्धारित थी। १।२ पण से ३।४ पण मूल्य की वस्तु के चोरी करने पर ३६ पण और ३।४ से १ पण तक के मूल्य की वस्तु के चुराने पर ४८ पण जुरमाने का विधान था। इससे अधिक मूल्य की वस्तु के चोरी करने पर जुरमाने की मात्रा अधिक-अधिक होती जाती थी, और ८ पण से अधिक मूल्य का माल चुराने पर मृत्युदण्ड दिया जाता था। कोष्ठागार, पण्यागार, कुप्यागार, आयुधागार आदि से चोरी करने पर भी इसी प्रकार के कठोर दण्डों की व्यवस्था थी। निस्सन्देह, राजकीय कर्मचारियों के लिये जो दण्ड-विधान कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित है, वह अत्यन्त कठोर है। जो लोग राजकीय सेवा में न हों, यदि

वे चोरी करें, तो उनकें दण्ड की मात्रा कम होती थी। राजपुरुष यदि १ पण के मूल्य की वस्तु को चुराता था, तो इस अपराध के लिये उस पर ४८ पण जुरमाना किया जाता था। पर अन्य व्यक्ति यदि इतने ही मूल्य की वस्तु को चुराए, तो उससे केवल १२ पण जुरमाना वसूल किया जाता था।

अन्य भी अनेक ऐसे अपराध थे, जिनके लिये राजपुरुषों को दण्ड देने का विधान था। यदि कोई अध्यक्ष या अन्य राजपुरुष ऐसा आदेश दे जिसे देने का उसे अधिकार न हो, या ऐसी राजकीय मुद्रा (Seal) का प्रयोग करे जो जाली हो या जिसे प्रयुक्त करने का उसे अधिकार न हो, तो इस अपराध के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। कतिपय दशाओं में उसे मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता था। धर्मस्थ (धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश) तक भी दण्ड से ऊपर नहीं थे। यदि धर्मस्थ वादी या प्रतिवादी को डाँटे, उसकी भर्त्सना करे, उसे न्यायालय से बाहर निकाल दे या बोलने न दो, तो उस के लिये पूर्वस्साहस दण्ड का विधान था। यदि कोई धर्मस्थ जो पृच्छ्य (पूछने योग्य) हो उसे न पूछे, जो अपृच्छ्य हो उसे पूछें, पूछ कर उपेक्षा कर दे, साक्षी को सिखाए, याद दिलाए, या पहले दिये हुए वक्तव्य का निर्देश करे, तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाए। इसी प्रकार न्यायालय के लेखकों व अन्य कर्मचारियों के लिये भी दण्ड की व्यवस्था थी। प्रदेष्टा (कण्टकशोधन न्यायालय के न्यायाधीश) भी दण्ड से ऊपर नहीं थे। यदि वे किसी को विहित दण्ड से अधिक दण्ड दें, तो उनके लिये भी दण्ड का विधान कियाग या था। यदि बन्धनागार (जेल) के कर्मचारी कैदियों के विश्राम, भोजन और शौचादि नित्यकर्मों में बाधा डालें, तो उनपर ३ पण या अधिक जुरमाना किया जाए। यदि कोई राजकर्मचारी बन्धनागार से कैदियों को मुक्त कर दे, तो न केवल उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली जाए अपितु उसको प्राणदण्ड भी दिया जाए। यदि बन्धनागार का अध्यक्ष किसी कैदी को शारीरिक कष्ट (torture) दे, तो उस पर ४८ पण जुरमाना किया जाए, और यदि वह कैदी को भोजन और जल देना बन्द कर दे, तो जुरमाने की मात्रा ९८ पण हो। यदि कैदी को क्लेश दिया जाए या उससे रिश्वत ली जाए, तो मध्यम साहस दण्दड की व्यवस्था थी। कैदी को मारने पीटने पर १००० पण दण्ड का विधान था। बन्धनागार का कोई कर्मचारी यदि किसी कैदी स्त्री से बलात्कार करे, तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। कैदी दासी-स्त्री से बलात्कार करने पर पूर्वस्साहस दण्ड का, चोर स्त्री (कैदी) से बलात्कार करने पर मध्यम साहस दण्ड का और आर्या स्त्री (कैदी) से बलात्कार करने पर मृत्युदण्ड का विधान था। इसी प्रकार से अन्य अनेकविध राजकर्मचारियों से जनता की रक्षा की व्यवस्था कर चाणक्य ने लिखा है—'राजा को चाहिये कि समुचित दण्ड की व्यवस्था कर पहले वेतनभोगी (राजकर्मचारियों) की शुचिता को स्थापित करे, और फिर ये शुचि (शुद्ध) राजकर्मचारी पौर जानपदों के व्यवहारों को शुद्ध करें।"

(१०) एकाङ्गवधनिष्क्रयः (कौ. अर्थ. ४।१०) (अंग काटने का दण्ड मिलने पर

उसके बदले में जुरमाना देने के आवेदन-पत्र)—मौर्य युग में अनेकविध अपराधों के लिये अंग काटने के दण्ड का भी विधान था। पर इस दण्ड को जुरमाने के रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता था। इस विषय के वादों का निर्णय कण्टकशोधन न्यायालयों द्वारा ही किया जाता था। यदि कोई अर्थचर (वेतन ग्रहण कर राजकीय सेवा करने वाला राजपुरुष) तीर्थघात (राजकीय अधिकरण के नियमों का उल्लंघन) या ग्रन्थिभेद (राजकीय धन के अपहरण) का अपराधी हो, तो प्रथम अपराध की दशा में उसकी तर्जनी उंगली काट दी जाती थी। पर इस दण्ड को ५४ पण जुरमाने के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। दूसरी बार यही अपराध करने पर अंग-छेदन या १०० पण जुरमाने का विधान था। यदि तीसरी बार यही अपराध किया जाए, तो दायाँ हाथ काट दिया जाता था या ४०० पण जुरमाना किया जाता था। यदि राजपुरुष चौथी बार इसी प्रकार का अपराध करे, तो उसके लिये मृत्युदण्ड का विधान था। २५ पण से कम मूल्य के कुक्कुट, नकुल, मार्जार (बिल्ली), श्व (कुत्ता) और सूकर (सुअर) की चोरी या हत्या करने पर नाक का अगला भाग काट लिया जाता था, या इस दण्ड को ५४ पण जुरमाने में परिवर्तित किया जा सकता था। अनुमति के बिना दुर्ग में प्रवेश करने पर और दुर्ग की प्राचीर के छेद से धन बाहर ले जाने पर मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी, पर इस दण्ड को २०० पण जुरमाने में बदलवाया जा सकता था। यदि कोई चोरी या व्यभिचार में सहयोग दे, तो उस व्यक्ति और सम्बद्ध स्त्री को नाक कान काटने का दण्ड दिया जाता था, या उसके बदले में ५०० पण जुरमाने का। इसी प्रकार के अन्य अनेक दण्डों का विधान कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है।

(११) शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः (कौ. अर्थ. ४।११) (शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्युदण्ड)—यदि कलह में किसी की हत्या कर दी जाए, तो हत्यारे के लिये चित्र (शारीरिक कष्ट के साथ) घात (मृत्युदण्ड) का विधान था। पर यदि विहत व्यक्ति की मृत्यु तुरन्त न होकर सात दिन की अवधि में हो, तो हत्यारे को शुद्ध (शारीरिक कष्ट के बिना) घात की सजा दी जाती थी। यदि विहत व्यक्ति की मृत्यु में १५ दिन लग जाएं, तो मृत्युदण्ड के बजाय उत्तम साहस दण्ड की व्यवस्था थी। पर यदि मृत्यु एक मास के पश्चात् हो, तो केवल ५०० पण जुरमाना किया जाता था, यद्यपि इसके अतिरिक्त मृत व्यक्ति के आत्मीयों के भरण-पोषण के लिये समुत्थान-व्यय भी हत्यारे को देना होता था।

कतिपय अन्य भी ऐसे अपराध थे जिनके लिये चित्र या शुद्ध मृत्युदण्ड का विधान था। इन अपराधों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—राज्य की कामना करना (राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र कर स्वयं राजसिंहासन को प्राप्त करने की इच्छा करना), राजा के अन्तःपुर में बलात् प्रवेश करना, आटविकों या मित्र-राज्यों को राजा के विरुद्ध भड़काना, दुर्ग (पुर) और राष्ट्र (जनपद) के निवासियों में राजा के विरुद्ध कोप को उत्पन्न करना, सेना को राजा के विरुद्ध भड़काना (इन अपराधों के लिये जीते जी आग में जला कर मृत्युदण्ड की व्यवस्था

थी); माता, पिता, पुत्र, भाई, आचार्य और तपस्वी की हत्या करना, जलाशय के बांध को तोड़ डालना (इन अपराधों में पानी में डुबोकर मृत्यु का दण्ड दिया जाता था); खेत, खलियान, चरागार, जंगल आदि में आग लगाना, राजा का अपमान करना, और राजकीय मन्त्र का भेद करना आदि।

(१२) **कन्याप्रकर्म (कौ. अर्थ. ४।१२)** (कन्या पर बलात्कार)––कन्याओं से बलात्कार करने वाले के लिये कठोर दण्ड का विधान था। यदि कोई पुरुष किसी अप्राप्त फल (जो अभी ऋतुमती न हुई हो) कन्या से बलात्कार करे और इस कारण उसकी मृत्यु हो जाए, तो उस पुरुष को मृत्युदण्ड दिया जाता था। मृत्यु न होने पर ४०० पण जुरमाने या हाथ काट देने की सजा थी। प्राप्तफल कन्या से बलात्कार करने पर २०० पण जुरमाना या बीच की उंगली काट देने का दण्ड दिया जाता था। साथ ही, कन्या के पिता को हरजाना भी देना होता था। कोई पुरुष किसी कन्या (अविवाहित या कुमारी) से उसकी इच्छा के विरुद्ध कदापि सहवास नहीं कर सकता था। पर यदि कन्या की इच्छा हो, तब भी उससे सहवास कानून के अनुसार दण्डनीय था। सकांक्षा (इच्छा रखती हुई) कन्या से सहवास करने पर पुरुष को ५४ पण दण्ड दिया जाता था, और कन्या को २८। यदि किसी कन्या को ऋतुमती हुए तीन साल बीत चुके हों और उसका विवाह न हुआ हो, तो ऐसी कन्या से यदि कोई तुल्यवर्ण का पुरुष सहवास करे, तो उसे अपराध नहीं माना जाता था। पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अन्य भी अनेक व्यवस्थाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई हैं। इनके विषय में उत्पन्न विवाद कण्टक शोधन न्यायालय में ही प्रस्तुत किये जाते थे।

(१३) **अतिचारदण्डः (कौ. अर्थ. ४।१३)** (मर्यादा का अतिक्रमण करने पर दण्ड की व्यवस्था)––कतिपय ऐसी मर्यादाएँ थीं, जिनका अतिक्रमण करने पर दण्ड का विधान था। यदि कोई ब्राह्मण को अपेय और अभक्ष्य (जो ब्राह्मणों की मर्यादा के अनुसार अपेय व अभक्ष्य हो) पीने और खाने के लिये प्रदान करे, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाए। क्षत्रिय को अपेय और अभक्ष्य देने पर मध्यम साहस दण्ड, वैश्य को देने पर पूर्वस्साहस दण्ड और शूद्र को देने पर ५४ पण जुरमाने की व्यवस्था थी। जो कोई स्वयं अपेय और अभक्ष्य का सेवन करें, उन्हें निर्वासित कर दिया जाए। विना अनुमति के दिन के समय किसी के घर में घुसने पर पूर्वस्साहस दण्ड और रात्रि के समय घुसने पर मध्यम साहस दण्ड दिया जाए। चाहे दिन हो या रात, यदि शस्त्र लेकर किसी के घर में प्रवेश किया जाए, तो उत्तम साहस दण्ड प्रदान किया जाए। जब कोई सार्थ (व्यापारियों का काफला) किसी ग्राम में रुकना चाहे, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि अपने पण्य और उसके मूल्य की सूचना (ग्रामिक को) दे दे। जो पण्य वहाँ विक न गया हो, उसमें से यदि किसी अंश की चोरी हो जाए या उसमें कमी आ जाए, तो ग्राम-स्वामी (ग्रामिक) को उसके लिये उत्तरदायी माना जायगा। यदि सार्थ के पण्य की चोरी ग्रामों के बीच की भूमि में हुई हो, तो उसकी क्षतिपूर्ति

विवीताध्यक्ष से करवायी जाए। यदि कोई किसी के विरुद्ध अभिचार क्रिया करे, तो उस व्यक्ति पर भी उसी प्रकार की क्रिया का प्रयोग किया जाए। पर कतिपय दशाओं में अभिचार क्रिया कानून द्वारा अभिमत भी होती थी। यदि पति अपनी अनिच्छुक पत्नी के प्रति, विवाह का इच्छुक प्रेमी कन्या के प्रति और पति पत्नी के प्रति अभिचार क्रिया करे, तो उसे अपराध नहीं माना जाता था। पर यदि इस क्रिया द्वारा दूसरे को क्षति पहुँच जाए, तो उसके लिये मध्यम साहस दण्ड का विधान था। व्यभिचार के अपराध में अत्यन्त कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। अगुप्त (असावधान या सुरक्षाविरहित) ब्राह्मण स्त्री से यदि कोई क्षत्रिय व्यभिचार करे, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था। यदि वैश्य ब्राह्मण स्त्री से व्यभिचार करे, तो उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। यदि शूद्र यह अपराध करे, तो उसे जला दिया जाता था। राजकीय महिषी से जो कोई भी व्यभिचार करे, उसे एक कुम्भ में बन्द करके भस्म कर देने का विधान था। प्रव्रजिता स्त्री से व्यभिचार करने पर केवल २४ पण जुरमाने की सजा थी। यदि यह कार्य प्रव्रजिता की रजामन्दी से किया गया हो, तो उसके लिये भी यही दण्ड था। यदि रूपाजीवा (वेश्या) से जबर्दस्ती व्यभिचार किया जाए, तो १२ पण जुरमाना किया जाता था। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत-से नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। इन व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करने पर कण्टकशोधन न्यायालयों में मुकदमे चलाये जाते थे, और अपराधियों को दण्ड दिया जाता था।

हमने इस अध्याय में धर्मस्थीय और कण्टक शोधन न्यायालयों के जिस अधिकार-क्षेत्र का निरूपण किया है, उससे मौर्य युग के बहुत-से महत्त्वपूर्ण कानूनों और दण्ड व्यवस्था का भी सुचारु रूप से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसे इतने विशद रूप से यहाँ उल्लिखित करने का यही प्रयोजन है।

(४) विधि (कानून) के विविध अंग

मौर्य युग के न्यायालय किस कानून के अनुसार न्याय-कार्य सम्पादित करते थे, इस विषय पर भी कौटलीय अर्थशास्त्र से परिचय प्राप्त होता है। कौटल्य के अनुसार कानून के चार अंग होते हैं, धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इनका क्या अभिप्राय है, इसे कौटल्य ने स्वयं इस प्रकार स्पष्ट किया है—'धर्म का आधार सत्य है, व्यवहार साक्षियों पर आश्रित होता है, मनुष्यों में परम्परागत रूप से चले आए नियम चरित्र कहाते हैं, और राजा द्वारा प्रचारित आज्ञाओं को राजशासन या शासन कहा जाता है'[1], जिसे आधुनिक समय में औचित्य या 'इक्विटी (Equity) कहते हैं, उसी को कौटल्य ने 'धर्म' कहा है। स्वाभाविक रूप से इस प्रकार का कानून सत्य पर आश्रित होता है। औचित्य का विचार प्रायः

१. **'धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।**
अत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्।।' कौ. अर्थ. ३।१

सभी जनसमुदायों में विद्यमान होता है, और अनेक विवादग्रस्त मामलों का निर्णय इसीके आधार पर किया जाता है, विशेषतया उस दशा में जबकि उस विषय पर कोई अन्य स्पष्ट कानून न हो। दो व्यक्ति या व्यक्ति समूह परस्पर मिलकर एक दूसरे की सहमति से जो निर्धारित करें, उसे 'व्यवहार' कहते थे। पर यदि पारस्परिक सहमति से भी कोई ऐसा व्यवहार तय किया जाए जो धर्म के विरुद्ध हो, तो उसे स्वीकार्य नहीं माना जाता था।[1] जिसे आजकल परम्परागत कानून (Customary Law) कहते हैं, उसी को कौटल्य ने 'चरित्र' कहा है। विविध जातियों, जनपदों, श्रेणियों (Guilds), कुलों और निगम (Corporations) आदि में इस प्रकार के परम्परागत 'चरित्र' की सत्ता थी, जिसे मौर्य युग के न्यायालयों में मान्य समझा जाता था। राजा द्वारा जो आज्ञाएँ या आदेश जारी किये जाएँ, उन्हें 'शासन' कहते थे। जब कोई वाद (मुकदमा) न्यायालय में प्रस्तुत हो, तो उसका निर्णय इन चार प्रकार के कानूनों के अनुसार ही किया जाता था। इन्हीं को विवाद (मुकदमे) के निमित्त चतुष्पाद (चार पाद वाला) कानून कहा गया है। यदि धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन में विरोध पाया जाए, तो 'पश्चिम' को 'पूर्व' का बाधक माना जाता था।[2] इस का अभिप्राय यह है, कि शासन (राजकीय आज्ञा) का न्यायालय की दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्व था। यदि राजा की ओर से कोई ऐसी आज्ञा प्रचारित की जाए, जो परम्परागत कानून (चरित्र) या व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के विरुद्ध हो, तो राजकीय आज्ञा ही मान्य समझी जायगी, चरित्र या व्यवहार नहीं। धर्म (Equity) के आधार पर निर्णय करने की आवश्यकता तभी होती थी, जबकि मुकदमे के विषय के सम्बन्ध में न कोई राजकीय आदेश हो, और न कोई व्यवहार या चरित्र हो। 'विवादार्थ चतुष्पाद' में अन्यतम पाद के रूप में जिस 'धर्म' का उल्लेख किया गया है, वह सत्य (Equity) को ही सूचित कहता है। जहाँ यह कहा गया है, कि धर्मविरुद्ध व्यवहार को मान्य न समझा जाए, वहाँ 'धर्म' का अभिप्राय शास्त्रसम्मत धर्म से है। विवादार्थ चतुष्पाद के अन्तर्गत 'धर्म' का निर्णय सत्य या औचित्य के आधार पर किया जाता था, शास्त्र के आधार पर नही। कौटल्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यदि शास्त्र और धर्म-न्याय (Law based on Equity) में विरोध हो, तो धर्म-न्याय को ही प्रमाण माना जाए, शास्त्र को नहीं। ऐसी दशा में शास्त्र का पाठ नष्ट हुआ समझ लिया जाए।[3]

---

१. 'संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुद्ध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्॥' कौ. अर्थ. ३।१

२. 'धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थं चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥' कौ. अर्थ. ३।१

३. 'शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात् तत्र पाठो हि नश्यति॥' कौ. अर्थ. ३।१

कौटलीय अर्थशास्त्र में वहुत-से ऐसे कानून दिये गये हैं, जो निःसन्देह 'शासन' हैं। ऐसे अनेक कानूनों का उल्लेख ऊपर के प्रकरणों में किया जा चुका है। सम्राट् अशोक ने भी अपने शिलालेखों में अनेक राजकीय आज्ञाएँ उत्कीर्ण करायी थीं। कूटस्थानीय 'एकराजों' के शासन में राजकीय आज्ञाओं (राजशासन) के महत्त्व में वृद्धि होना सर्वथा स्वाभाविक था। पर जाति, जनपद, श्रेणि, कुल आदि के संग्रहों या संघों में जो परम्परागत कानून (चरित्र) चले आ रहे थे, राजा उनका अतिक्रमण या उपेक्षा नहीं कर सकता था। उसका यही यत्न रहता था, कि इस चरित्र के न केवल 'विरुद्ध' न जाए, अपितु उन्हें स्वीकार्य माने।

(५) न्यायालयों की कार्यप्रक्रिया

न्यायालयों में मुकदमों का निर्णय करते हुए किस कार्य प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता था, इस विषय पर भी कौटलीय अर्थशास्त्र (३।१) द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। जब निर्णय के लिये कोई मुकदमा प्रस्तुत किया जाता था, तो निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं——(१) तिथि——जिससे कि वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष और दिन का सही-सही पता लग सके। (२) करण——मुकदमे के विषय का स्वरूप। (३) अधिकरण–घटना-स्थल या वह स्थान जिसके साथ विवाद के विषय का सम्बन्ध हो। (४) ऋण——यदि ऋण का मुकदमा हो, तो ऋण की मात्रा। (५) वादी और प्रतिवादी का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा। (६) दोनों पक्षों की युक्तियों और प्रत्युक्तियों का पूरा-पूरा विवरण।

विवाद करते हुए 'परोक्त दोष' से वचने का यत्न किया जाता था। परोक्त दोष से ग्रस्त हो जाने से अपना पक्ष कमजोर पड़ जाता था। परोक्त दोष इन दशाओं में उपस्थित हो जाता था——

(१) जिरह करते हुए प्रसंग की बात को छोड़ कर अन्य वात कहने लग जाना।
(२) पहले कही गई बातों का पीछे स्वयं खण्डन करने लगना।
(३) वार-वार अन्य व्यक्ति से सम्मति लेने का आग्रह करना।
(४) प्रश्न का उत्तर देते हुए न्यायालय के 'निर्दिश' कहने पर निर्दिष्ट न कर सकना।
(५) जो प्रश्न पूछा जा रहा हो उसका उत्तर न देकर अन्य बातें कहने लगना।
(६) पहले कोई बात कह देना और फिर स्वयं उसके विपरीत 'ऐसा नहीं है' यह कहने लगना।
(७) अपने साथियों द्वारा कही गई बातों का स्वीकार न करना।
(८) साक्षियों के साथ ऐसे समय बातें करना जबकि उनसे बातचीत नहीं करनी चाहिये।

ये आठ बातें परोक्त दोष समझी जाती थीं। इन दोषों के कारण न केवल वादी व प्रतिवादी का पक्ष निर्बल हो जाता था, अपितु इनके लिये दण्ड का भी विधान था। परोक्त

दोष के लिये पाँच गुना जुरमाने का विधान था। मुकदमा जितनी राशि का हो, उससे पाँच गुना राशि तक इन दोषों के करने पर जुरमाना किया जा सकता था। (साक्षी के अभाव में) स्वयमेव किसी बात की सत्यता का आग्रह करने पर जुरमाने की मात्रा दस गुने तक हो सकती थी। मुकदमों का निर्णय साक्षियों द्वारा दी गई साक्षी के आधार पर ही किया जाता था। जो पुरुष साक्षी के लिये बुलाये जाएँ, उन्हें "भृति" भी दी जाती थी। इसकी मात्रा मुकदमे की राशि का आठवाँ भाग होती थी। भृति के अतिरिक्त यात्रा व्यय भी साक्षियों को प्रदान किया जाता था, जो मुकदमे की राशि व व्यय के अनुसार निर्धारित किया जाता था। जो पक्ष मुकदमा हार जाए, ये खर्च उसी पर पड़ते थे। जिसके विरुद्ध अभियोग चलाया जाए, उसे प्रत्यभियोग (जवाब दावा) प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं होती थी। पर जिन अभियोगों का सम्बन्ध कलह, साहस (डकैती), सार्थ (व्यापारियों के काफिले) और समवायों (शिल्पियों, व्यापारियों आदि के संगठन) के साथ हो, उनमें प्रत्यभियोग प्रस्तुत किया जाता था।

यह समझा जाता था कि जिस वादी ने मुकदमा दायर किया है, उसका केस पूरी तरह से तैयार है। अतः जिस दिन प्रतिवादी वादी द्वारा लगाये गये आरोप (अभियोग) का उत्तर देता था, उसी दिन वादी को प्रतिवादी के उत्तर का प्रत्युत्तर भी देना होता था। उसी दिन प्रत्युत्तर न दे सकने पर वह परोक्त दोष से दूषित हो जाता था। अभिनियोक्ता (वादी) को अपने द्वारा प्रस्तुत मुकदमे की सब बातों का पूरा-पूरा विनिश्चय होना ही चाहिये, पर अभियुक्त (प्रतिवादी) से यह आशा नहीं की जा सकती थी, अतः उसे अपना केस तैयार करने के लिये सात दिन तक का समय दिया जाता था। यदि अभियुक्त इससे अधिक समय लेना चाहे, तो उसे ३ से १२ पण तक प्रतिदिन के हिसाब से दण्ड देना पड़ता था। पर इस प्रकार ४५ दिन से अधिक समय नहीं दिया जा सकता था। यदि तीन पखवाड़े बीत जाने पर भी अभियुक्त अभियोग का प्रत्युत्तर न उसके, तो उसे परोक्त दोष से दूषित मान लिया जाता था, और अभिनियोक्ता (वादी) को अभियुक्त (प्रतिवादी) की सम्पत्ति, में से वह राशि प्राप्त करने की अनुमति प्रदान कर दी जाती थी जिसके लिये उसने मुकदमा दायर किया हो। यदि अभियुक्त मुकदमा हार जाए, तो भी अभिनियोक्ता को यही अधिकार मिल जाता था। यदि मुकदमे का निर्णय अभिनियोक्ता के विरुद्ध हो, तो वह परोक्त दोष का भागी हो जाता था, और अभियुक्त उससे अपना खर्च वसूल कर सकता था।

मौर्य युग के न्यायालयों में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की ओर से अपने मत की सुपुष्टि के लिये किन बातों को उपयोगी माना जाता था, इस सम्बन्ध में कौटल्य के कुछ निर्देश महत्त्व के हैं। उन्होंने लिखा है—पक्ष और परपक्ष (प्रतिपक्ष) की ओर से यदि स्वयंवाद (अपनी बात पर स्वयमेव जोर देना) का आश्रय लिया जाए, तो यह दृष्ट दोष (मुकदमे की कमजोरी) ही होगा। मुकदमे की सफलता के लिये अनुयोग (विपरीत पक्ष के कथनों का विवेचन), आर्जव (अपनी बात का मृदुता के साथ प्रतिपादन), हेतु (साथियों के द्वारा

स्वपक्ष को पुष्ट करना) और शपथ (शपथ पूर्वक अपनी वात कहना) ही उत्तम उपाय हैं। साक्षियों के वक्तव्य के आधार पर यदि किसी पक्ष द्वारा कही गई बातें असत्य पायी जाएँ, या गुतचरों द्वारा किसी पक्ष की वातों को निराधार पाया जाए, तो उस पक्ष की पराजय सुनिश्चित है। मौर्य युग के न्यायाधीश मुकदमों का निर्णय करते हुए केवल साक्षियों पर ही निर्भर नहीं करते थे, वे अपने चारों (गुप्तचरों) द्वारा भी मुकदमे की सत्यता का पता करने का प्रयत्न किया करते थे।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि न्यायालयों की दृष्टि में साक्षियों का वहुत महत्त्व था। मुकदमे का निर्णय प्रायः साक्षियों के आधार पर ही किया जाता था। कैसे साक्षियों को विश्वसनीय समझना चाहिये, कौटलीय अर्थशास्त्र (३।११) में इसका भी विशद रूप से विवेचन किया गया है। साक्षियों को प्रात्ययिक (विश्वास के योग्य), शुचि (सच्चा या ईमानदार) और अनुमत (प्रतिष्ठित) होना चाहिये। प्रायः तीन साक्षियों का होना आवश्यक माना जाता था। उनमें से कम से कम दो ऐसे होने चाहियें, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हों। ऋण-सम्वन्धी मुकदमों में एक साक्षी से किसी दशा में काम नहीं चल सकता था। जिन साक्षियों पर पक्षपात का जरा भी सन्देह किया जा सके, उनकी साक्षी को प्रमाण नहीं माना जाता था। कौटल्य के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के व्यक्तियों की साक्षी नहीं ली जा सकती थी——(१) स्याल–पत्नी का भाई। (२) सहाय–जिसके पक्ष में गवाही देनी हो उसके व्यक्तियों की जो नौकरी में हो। (३) आवद्ध–कैदी या जो किसी ढंग से किसी के वशवर्ती हों। (४) धनिक–जिसने साक्षी दिलाने वाले या साक्षी देने वाले को रुपया उधार दिया हुआ हो। (५) धारणिक–जिसने ऋण लिया हुआ हो। (६) वैरी–शत्रु। (७) न्यङ्ग–जो किसी का आश्रित हो। (८) घृतदण्ड–जो सजायाफ्ता हो।

निम्नलिखित प्रकार के व्यक्तियों की साक्षी केवल उसी अवस्था में ग्राह्य मानी जायगी, जवकि मुकदमे का सम्बन्ध उनके अपने वर्ग के व्यक्तियों के साथ हो——(१) राजा, (२) श्रोत्रिय, (३) ग्राम-भृतक—ग्राम की सेवा में नियुक्त व्यक्ति, (४) कुष्ठी—कोढ़ी, (५) व्रणी–जिसका शरीर व्रणों से आवृत हो, (६) पतित, (७) चाण्डाल, (८) कुत्सित कर्मा——जो कुत्सित कर्मों (पेशों) में लगे हों, (९) अन्धे, (१०) बहरे, (११) अहंकारी व्यक्ति, (१२) स्त्रियाँ, और (१३) राजपुरुष। यदि कोई हमला करने, चोरी करने या भगा ले जाने का मुकदमा हो, तो उसके लिये शत्रु, स्याल और सहाय (आश्रित व भृत) के अतिरिक्त अन्य सव प्रकार के व्यक्तियों की साक्षियाँ ग्राह्य होंगी। गुप्त रूप से किये गये व्यवहारों के साथ सम्वन्ध रखने वाले मुकदमों में ऐसी स्त्री व पुरुष भी साक्षी दे सकते हैं, जिन्होंने गुप्त व्यवहार को चोरी से देखा या सुना हो। पर ऐसे मुकदमों में भी राजा और तापस की साक्षी मान्य नहीं होगी।

साक्षी देने से पूर्व गवाह को सत्य बोलने की शपथ लेनी होती थी। इस विषय में कौटलीय अर्थशास्त्र की यह व्यवस्था उल्लेखनीय है——'साथी को ब्राह्मण, पानी से भरे कुम्भ और

अग्नि के सम्मुख ले जाया जाए। यदि साक्षी ब्राह्मण वर्ण का हो, तो उससे कहा जाए-- "सत्य सत्य कहो।" यदि साक्षी क्षत्रिय या वैश्य वर्ण का हो, तो उससे कहा जाए-- "(यदि तुम असत्य भाषण करोगे तो) यज्ञ और पुण्य कार्यों के फल तुम्हें प्राप्त नहीं होंगे, और शत्रु सेना को जीत लेने पर भी तुम्हें हाथ में खप्पर लिये हुए भीख माँगनी पड़ेगी।" यदि साक्षी शूद्र हो, तो उससे कहा जाए-- "(यदि तुम झूठ बोलोगे तो) तुम्हारा जो कुछ भी पुण्यफल है मरने के बाद वह सब राजा को प्राप्त हो जायगा, और राजा के सब पाप तुम्हें प्राप्त हो जाएँगे। झूठ बोलने पर तुम्हें दण्ड भी दिया जायगा। जो भी तथ्य हैं, वे जैसे भी सुने या देखे जाएँगे, हमें ज्ञात हो ही जायेंगे।" यदि साक्षी आपस में मिलकर एक हो जाएँ, और सात दिन बीत जाने के पश्चात् भी झूठी गवाही पर डटे रहें, तो उन्हें १२ पण दण्ड दिया जाए। यदि तीन पक्ष (डेढ़ मास) तक भी वे परस्पर एक होकर झूठी साक्षी पर कायम रहें, तो उनसे वह राशि वसूल की जाए जिसके लिये मुकदमा दायर हुआ हो।

यदि साक्षियों में मतभेद हो, तो निर्णय इस आधार पर किया जाए कि बहुसंख्यक गवाहों ने क्या साक्षी दी है, या शुचि (सच्चे) और अनुमत (प्रतिष्ठित) गवाहों की साक्षी को दृष्टि में रखकर निर्णय किया जाए।

वादी और प्रतिवादी का ही यह कर्तव्य समझा जाता था कि वे अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिये साक्षियों को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें, चाहे साक्षी किसी दूर देश में भी क्यों न रहते हों और चाहे वाद की घटना को हुए कितना ही समय क्यों न बीत गया हो। जो साक्षी बहुत दूर रहते हों या साक्षी देने के लिये आना न चाहते हों, उन्हें न्यायालय की आज्ञा से उपस्थित होने के लिये विवश किया जाता था।

न्यायाधीशों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे न्याय-कार्य करते हुए किसी का पक्ष न लें, अपने ऊपर संयम रखें और किसी के प्रति अनुचित व्यवहार न करें। यदि वे ऐसे प्रश्न पूछें जो उन्हें नहीं पूछने चाहियें, ऐसे प्रश्न न पूछें जो उन्हें पूछने चाहियें, साक्षी को सिखायें, स्मरण दिलायें, डाँटें डपटें, छल करें, या इसी प्रकार के कार्य करें, तो उन्हें भी दण्ड दिया जाए। न्यायाधीशों की बदली करने की प्रथा भी मौर्य युग में विद्यमान थी। ऊपर लिखे अनुचित कार्यों को करने पर उन्हें स्थानान्तरित भी किया जा सकता था।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में न्याय विभाग बहुत व्यवस्थित व सुसंगठित दशा में था। धर्मस्थ और प्रदेष्टा जहाँ पाटलिपुत्र के धर्मस्थीय और कण्टक शोधन न्यायालयों में न्यायकार्य के लिये नियुक्त थे, वहाँ साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों में भी इन्हीं दो प्रकार के न्यायाधीशों की सत्ता थी। उस युग के न्यायालयों में वकील भी होते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। पर न्याय विभाग जब इतना सुव्यवस्थित हो, तो वादी (अभियोक्ता) और प्रतिवादी (अभियुक्त) की सहायता के लिये यदि कतिपय विशेषज्ञ भी विद्यमान हों, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

आठवाँ अध्याय

राजकीय आय-व्यय

(१) राज्य की आय के साधन

मौर्य युग में राज्य की आय के क्या साधन थे, इस विषय पर कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से विचार किया गया है। कौटल्य ने राजकीय आय के साधनों को सात विभागों में विभक्त किया है, जिन्हें उन्होंने दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक्पथ की संज्ञा दी है।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र में दुर्ग, राष्ट्र आदि शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है, और राजकीय आय-व्यय के प्रसंग में वे पारिभाषिक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन सात के भी अन्य अनेक विभाग थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है।

(१) दुर्ग—प्राचीन भारत में पुरों को दुर्ग भी कहते थे, क्योंकि उनका निर्माण प्रायः दुर्गों के रूप में ही किया जाता था। पुरों के चारों ओर प्राकार (प्राचीर या दीवार) बनाया जाता था, जो खाई से घिरा रहता था। इन दुर्गरूप पुरों से राज्य को जो आमदनी होती थी, उसकी संज्ञा भी 'दुर्ग' थी। दुर्ग (पुर से प्राप्त होनेवाली आमदनी) के निम्नलिखित विभाग थे—(१) शुल्क–पण्य (बिक्री के माल को) पुर में लाने पर उस पर शुल्क (चुंगी) लिया जाता था। यह शुल्क 'दुर्ग' का अन्यतम अंग था। (२) पौतव–तोल और माप के साधनों या मानों को प्रमाणित करने के लिये राज्य द्वारा जो कर लिया जाता था, उसे 'पौतव' कहते थे। (३) दण्ड (जुरमाना)—अनेकविध अपराधों के लिये दण्ड रूप से जुरमाने की व्यवस्था थी। ये जुरमाने भी राजकीय आय के साधन थे। (४) नागरक—पुर के शासक को नागरक कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे जुरमानों का उल्लेख है, जिन्हें नागरक पुर के निवासियों पर कर सकता था। इनसे प्राप्त होनेवाली आमदनी की संज्ञा 'नागरक' थी। (५) लक्षणाध्यक्ष—मुद्रापद्धति (Currency) से प्राप्त होने वाली आय। मौर्य युग में मुद्रापद्धति का सञ्चालन राज्य की ओर से होता था। इससे भी राज्य को आमदनी होती थी। (६) मुद्राध्यक्ष–पुर में प्रवेश के लिये और समुद्र-मार्ग द्वारा देश से बाहर जाने के लिये मुद्रा (Pass) प्राप्त करना आवश्यक था। मुद्राध्यक्ष द्वारा मुद्राएँ प्रदान की जाती थीं, जिनसे राज्य को आमदनी होती थी। (७) सुरा–शराब का व्यवसाय राज्य द्वारा सञ्चालित था। साथ ही, शराब की बिक्री के लिये राज्य की ओर से ठेके दिये जाते थे। इनसे भी राज्य को आमदनी होती थी। (८) सूना–बूचड़-

---

१. 'समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत्।' कौ. अर्थ. २।६

खानों से होनेवाली आमदनी। (९) सूत्र–राज्य की ओर से अनाथ, विकलांग, रोगी, विधवा आदि असहाय व्यक्तियों के भरण-पोषण के लिये अनेकविध कार्यों की व्यवस्था थी, जिनमें सूत कातने और वस्त्र बुनने के कार्य प्रमुख थे। इनसे प्राप्त होनेवाली आमदनी को 'सूत्र' कहते थे। (१०) तैल–तेल के व्यवसाय पर भी राज्य कर ग्रहण करता था। (११) घृत–घी के कारोबार से वसूल किया जाने वाला कर। (१२) क्षार–नमक का व्यवसाय राज्य द्वारा सञ्चालित था। उससे भी राज्य को आमदनी होती थी। (१३) सौवर्णिक–सुवर्ण, रजत आदि के आभूषण व पात्र आदि बनाने वाले शिल्पियों से प्राप्त हुआ कर। (१४) पण्यसंस्था–राजकीय पण्य के विक्रय से होनेवाली आय। (१५) वेश्या–राजकीय सेवा में नियुक्त वेश्याओं द्वारा आय और स्वतन्त्र पेशा करनेवाली वेश्याओं से कर। (१६) द्यूत–जुआ-घरों से प्राप्त होनेवाला आमदनी। (१७) वास्तुक–अचल सम्पत्ति से वसूल किया जाने वाला कर, और जायदाद की बिक्री के समय लिया जानेवाला शुल्क। (१८) कारुशिल्पिगण–कारुओं (कारीगरों) और शिल्पियों की श्रेणियों (Guilds) से वसूल किया जाने वाला कर। (१९) देवताध्यक्ष–देवमन्दिरों की आमदनी पर कर। (२१) वाहिरिकादेय–अत्यधिक धनी लोगों से लिया जानेवाला अतिरिक्त कर।[1]

ये २१ प्रकार के कर 'दुर्ग' के अन्तर्गत माने जाते थे।

(२) **राष्ट्र**––जनपद के क्षेत्र से राज्य को जो विविध प्रकार की आमदनी होती थी, उसकी संज्ञा 'राष्ट्र' थी। राष्ट्र में निम्नलिखित आमदनियाँ सम्मिलित थीं––(१) सीता–जो कृषियोग्य भूमि राज्य के स्वामित्त्व में हो, उसपर खेती द्वारा प्राप्त आमदनी को 'सीता' कहते थे। (२) भाग–जिस भूमि पर राज्य का स्वत्त्व न हो और जिसके स्वामी स्वयं या कृषक-कर्मकरों द्वारा उस पर खेती करें या कराएँ, उनसे उपज का एक निश्चित अंश वसूल किया जाता था, जिसकी संज्ञा 'भाग' थी। (३) बलि–देवमन्दिरों और तीर्थस्थानों आदि पर लगाये गये कर से आमदनी। (४) कर–जनपद के क्षेत्र से वसूल किये जानेवाले अन्य कर, जैसे सिंचाई के साधनों पर लगाये गये कर। (५) वणिक्–जनपद के वणिकों से वाणिज्य पदार्थों के क्रय-विक्रय पर वसूल होने वाला कर। (६) नदीपालस्तर–नदियों पर बने हुए पुलों पर से पार उतरने पर लिया जानेवाला कर। (७) नाव–नौका द्वारा नदी को पार करने पर लिया जानेवाला कर। (८) पत्तनं–जनपद में विद्यमान विविध पत्तनों (कसबों) से वसूल किया जानेवाला कर। (९) विवीतम्–चरागाहों से प्राप्त होनेवाले कर। (१०) वर्त्तनी–सड़कों के उपयोग के लिये प्रदेय कर। (११) रज्जू–रज्जुक या

---

१. **'शुल्कं दण्डः पौतवं नागरको लक्षणाध्यक्षो मुद्राऽध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं घृतं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारवाहिरिकादेयं च दुर्गम्।' कौ. अर्थ. २।६**

राजुक संज्ञक राजकर्मचारियों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले कर। (१२) चोर-रज्जू–चोरों की गिरफ्तारी के साथ सम्बन्ध रखनेवाली राजकीय आमदनी।[1]

(३) **खनि**––मौर्य युग में खानों पर राज्य का स्वत्त्व होता था। खानें अनेक प्रकार की होती थीं, सुवर्ण (सोना), रजत (चाँदी), वज्र (हीरा), मणि, मुक्ता (मोती), प्रवाल, शंख, लोह, लवण, भूमि-प्रस्तर (शिलाएँ) और विभिन्न धातुओं को खानों (भूखनि और समुद्रखनि) से ही प्राप्त किया जाता था। इनसे राज्य को जो आय प्राप्त होती थी,उसकी संज्ञा 'खनि' थी।[2]

(४) **सेतु**––फूलों के उद्यान, फलों के उद्यान, शाक सब्जी के वगीचे, नम खेत और मूलवाय (ऐसी फसल के खेत जिनमें जड़ें बोयी जाएँ, जैसे ईख) के लिये 'सेतु' संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। इनसे राज्य को जो आमदनी हो, उसे भी 'सेतु' कहते थे।[3]

(५) **वन**––पशुवन, मृगवन (जिन्हें शिकार के लिये सुरक्षित रखा गया हो, और जिन से चर्म आदि प्राप्त होते हों), द्रव्य वन (जहाँ से इमारती लकड़ी और ईंधन आदि प्राप्त किये जाते हों) और हस्तिवन 'वन' के अन्तर्गत थे। इनसे जो आमदनी प्राप्त होती हो, उसे भी 'वन' कहा जाता था।[4]

(६) **व्रज**––गाय, भैंस, वकरी, भेड़, गधे, ऊँट,घोड़े और खच्चर 'व्रज' कहलाते थे। इनसे प्राप्त होनेवाली आमदनी की भी 'व्रज' संज्ञा थी।[5]

(७) **वणिक्पथ**––वणिक्पथ दो प्रकार के होते थे, स्थलपथ और वारिपथ (जल-मार्ग)। इनसे होनेवाली आमदनी की 'वणिक्पथ' संज्ञा थी।[6]

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के ये सात स्रोत या साधन प्रतिपादित हैं। कौटल्य ने इन्हीं को 'आय-शरीर' कहा है। इनसे किस प्रकार राज्य आमदनी प्राप्त करता था, इस सम्वन्ध में भी कतिपय निर्देश अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। पर मौर्य युग की राजकीय आय का विवेचन करते हुए यह अधिक उपयोगी होगा, कि वित्त (Finance) के आधुनिक साधनों को दृष्टि में रखकर इस काल की राजकीय आय का निरूपण किया जाए। अतः हम यहाँ राजकीय आय के स्रोतों को निम्नलिखित भागों में विभक्त कर उनपर प्रकाश

---

१. 'सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पत्तनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्।' कौ. अर्थ. २।६

२. 'सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालशंखलोहलवणभूमिप्रस्तररसधातवः खनिः।' कौ. अर्थ. २।६

३. 'पुष्पफलवाटषण्डकेदारमलवापास्सेतुः।' कौ. अर्थ. २।६

४. 'पशु मृगद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम्।' कौ. अर्थ. २।६

५. 'गोमहिषमजाविकं खरोष्ट्रमश्वाश्वतराश्च व्रजः।' कौ. अर्थ. २।६

६. 'स्थलपथो वारिपथश्च वणिक्पथः।' कौ. अर्थ. २।६

डालेंगे—(१) भूमि-कर व भूमि से प्राप्त होनेवाली आय, (२) आयात-कर और निर्यात-कर, (३) प्रत्यक्ष-कर (Direct Taxes); (४) राज्य द्वारा अधिकृत उद्योगों व व्यवसायों से आय, (५) राज्य द्वारा सञ्चालित व्यापार से आय, (६) क्रय-विक्रय पर कर से आय, (७) दण्ड या जुरमानों से आय, (८) आपत्काल में सम्पत्ति पर विविध प्रकार के कर, और (९) विविध ।

(२) भूमि-कर और भूमि से प्राप्त होने वाली आय

मौर्य युग में राज्य को भूमि से दो प्रकार की आय होती थी, सीता और भाग । जो भूमि राज्य की अपनी सम्पत्ति हो और जिस पर राज्य की ओर से ही खेती की जाती हो, उसकी आय को 'सीता' कहते थे । जिस भूमि पर कृषक स्वतन्त्र रूप से खेती करें, उससे 'भाग' (उपज का भाग) प्राप्त किया जाता था । राजकीय भूमि (Crown Lands) पर खेती कराने के लिये एक पृथक् अमात्य की नियुक्ति की जाती थी, जिसे 'सीताध्यक्ष' कहते थे । सीताध्यक्ष ऐसे ही व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था, जो कृषि-विद्या और वनस्पति-चिकित्सा में प्रवीण हो । यदि कोई ऐसा व्यक्ति अमात्य पद के लिये उपयुक्त न पाया जाए, तो 'सीताध्यक्ष' का सहायक कृषि-विद्या और वनस्पति-चिकित्सा में प्रवीण होना ही चाहिये ।[१] सीताध्यक्ष के प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे---(१) धान्य, पुष्प, फल, शाक, कन्द, मूल, कपास आदि के बीजों को यथासमय एकत्र करके रखाना ।[२] (२) खेती की जमीन पर बार-बार हल चलवा कर दासों, कर्मकरों (मजदूरों) और दण्डप्रतिकर्तृओं (सजायाफ्ता कैदियों) से बीज बुआना ।[३] (३) यह ध्यान में रखना, कि खेती के लिये आवश्यक कर्षणयन्त्रों (हल आदि), उपकरणों (औजारों) और बलीवर्दों (बैलों) की कमी न होने पाए ।[४] (४) यह ध्यान में रखना कि कारुओं (कारीगरों), बढ़इयों, लुहारों, रस्सी बनाने वालों, कुआँ खोदने वालों और साँप आदि को पकड़ने वालों की सेवाएँ कृषि से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों के लिये तुरन्त उपलब्ध हो सकें ।[५] (५) राजकीय भूमि पर तीन फसलें बुआना ।[६] (६) जब फसलें तैयार हो जाएँ, तो उनको कटवा कर सञ्चित कराना । यह ध्यान में रखना

---

१. 'सीताऽध्यक्षः कृषितन्त्रवृक्षायुर्वेदज्ञस्तत्सखो वा ।' कौ. अर्थ. २।२४

२. 'सर्वधान्य पुष्पफल शाक कन्दमूलपाल्लीक्य क्षौमकार्पासबीजानि यथाकालं गृह्णीयात् ।' कौ. अर्थ. २।२४

३. 'बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत् ।' कौ. अर्थ. २।४

४. 'कर्षणयन्त्रोपकरणबलीवर्दैश्चैषामसङ्गं कारयेत् ।' कौ. अर्थ. २।२४

५. 'कारुभिश्च कर्मारकुट्टाकमेदकरज्जुवर्तकसर्वग्राहादिभिश्च ।' कौ. अर्थ. २।२४

६. 'कर्मोदक प्रमाणेन केदार हैमनं ग्रैष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत् ।' कौ. अर्थ. २।२४

कि पैदावार का कोई भी अंश खेत में न रह जाए, भूसे तक को खेत में न छोड़ने देना।[1] (७) यह ध्यान में रखना कि परिकर्मी लोग (दास, कर्मकर और कैदी) खेत में आग न लाने पाएँ, यद्यपि पानी को वे अपने साथ रख सकें।[2]

सीताध्यक्ष जिन तीन फसलों को राजकीय भूमि में तैयार कराता था, वे निम्नलिखित थीं—(१) हैमन–शीत ऋतु की फसल, जिसे वर्तमान समय में रबी की फसल कहते हैं। (२) ग्रैष्मिक–ग्रीष्म ऋतु की फसल जिसे आजकल खरीफ कहा जाता है। (३) केदार—बीच के काल की अतिरिक्त फसल जिसे जायद कहते हैं।[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र में इस विषय पर विशद रूप से विचार किया गया है, कि किस प्रदेश में कितनी वर्षा होती है, और मेघों के रंग रूप आदि से किस प्रकार वर्षा की कमी या अधिकता का अनुमान किया जा सकता है। वायु की गति, नक्षत्रों की स्थिति और मेघों के रंग रूप आदि को दृष्टि में रखकर सीताध्यक्ष वर्षा का अनुमान करता था, और उसी के अनुसार खेतों की सिंचाई की व्यवस्था करता था, यद्यपि नहर, कूप आदि द्वारा भी सिंचाई का प्रवन्ध किया जाता था।[4]

सीताध्यक्ष को यह भी ध्यान में रखना होता था कि कौन-सी भूमि किस फसल के लिये उपयुक्त है। बीज बोने से पहले उन्हें ऐसी दशाओं में रखा जाता था, जिससे अंकुर और पौदे उत्कृष्ट प्रकार के उत्पन्न हो सकें। धान्य के बीजों को सात रात ओस में रखा जाता था, और उन्हें गरमाई भी पहुँचायी जाती थी। ईख की गाँठों पर मधु, घृत, सुअर की चरबी और गोबर को मिलाकर लगाया जाता था।[5] खादके लिये गोबर और हड्डी का चूरा प्रयुक्त किये जाते थे।[6] खेतों में काम करनेवाले दासों, ग्वालों और कर्मकरों (मजदूरों) को क्या पारिश्रमिक दिया जाए, इस सम्वन्ध में भी एक निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है। वहाँ लिखा है—खेतों, वगीचों और गौशालाओं में काम करनेवाले दासों और कर्मकरों को उनकी आवश्यकता के अनुसार भोजन दिया जाए और साथ ही सवा पण मासिक

---

१. 'यथाकालं च सस्यादि जातं जातं प्रवेशयेत्।
न क्षेत्रे स्थपयेत् किञ्चित्पलालमपि पण्डितः॥' कौ. अर्थ. २।२४
२. 'अनग्निकास्सोदकाश्च खले स्युः परिकर्मिणः।' कौ. अर्थ. २।२४
३. कौ. अर्थ. २।२४
४. 'षोडशद्रोणं जाङ्गलानां वर्षप्रमाणमध्यर्धमानूपानां देशवापानां···ततः प्रभूतोदकमल्पोदकं वा सस्यं वापयेत्।' कौ. अर्थ. २।२४
५. 'तुषारपायनमुष्णशोषणं चासप्तरात्रादिति धान्यबीजानां···मधुघृतसूकरवसाभिश्शकृद्युक्ताभिः काण्डबीजानाम्।' कौ. अर्थ. २।२४
६. 'गोस्थिशकृद्भिः काले दौहृदं च।' कौ. अर्थ. २।२४

वेतन भी।[1] जो कारीगर वहाँ काम करें, उन्हें भोजन और वेतन दोनों दिये जाएँ।[2] पर उन्हें कितना वेतन दिया जाए, यह कौटल्य ने नहीं लिखा है।

इसमें सन्देह नहीं, कि राजकीय भूमि से राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। राजकीय आय का यह 'सीता' एक महत्त्वपूर्ण साधन था। पर मौर्य युग में सभी भूमि राजकीय नहीं थी। ऐसी भी भूमि थी, जिस पर 'स्ववीर्योपजीवि' (अपने श्रम से स्वतन्त्र रूप से खेती करने वाले) किसान खेती किया करते थे। ये राज्य की सेवा में न होने के कारण कोई वेतन आदि प्राप्त नहीं करते थे, अपितु अपने हानि-लाभ के लिये स्वयं उत्तरदायी होते थे। राज्य इनसे 'भाग' वसूल करता था। भूमि-कर के रूप में उपज का एक निश्चित भाग राज्य द्वारा प्राप्त किया जाता था, जिसकी मात्रा दो आधारों पर निर्धारित होती थी, जमीन की उपज-शक्ति और सिंचाई के साधन। जो किसान पूर्णतया स्वतन्त्ररूप से खेती करते थे और जो सिंचाई की व्यवस्था भी स्वयं करते थे, उनसे जमीन के उत्कृष्ट या निकृष्ट होने के अनुसार पैदावार का १।४ या १।५ भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था।[3] जो किसान सिंचाई के लिये सरकार से जल लेते थे, उनसे भूमि-कर की दर अन्य थी। जिन जमीनों की सिंचाई कूप आदि से हाथ द्वारा पानी खींच कर की जाती थी, उनसे उपज का १।५ भाग लिया जाता था। जो रहट, चरस आदि द्वारा पानी खींच कर सिंचाई करते थे, उन्हें उपज का १।४ भाग प्रदान करना होता था। जहाँ पम्प, वात-यन्त्र सदृश स्रोत-यन्त्रों से सिंचाई की जाए, उनके लिये भूमि-कर की दर १।३ होती थी। नदी, नहर, तटाक आदि से सिंचाई करने की अवस्था में उपज का १।४ भाग भूमि-कर के रूप में निर्धारित था।[4] यदि कोई किसान नया तालाब बनाए या बाँध बँधाए, तो उसे पाँच साल के लिये भूमि-कर से छूट दे दी जाती थी। भग्न हुए तालाब या बाँध की जो मरम्मत कराए, उसे चार साल के लिये भूमि-कर से छूट की व्यवस्था थी।[5]

'स्ववीर्योपजीवि' किसानों का भूमि पर अविकल स्वत्त्व स्वीकृत नहीं किया जाता था। जो किसान स्वयं खेती न करें, उनसे जमीन लेकर ऐसे व्यक्तियों को दे दी जाती थी जो

---

१. 'षण्डवाट गोपालक दास कर्मकरेभ्यो यथापुरुषपरिवापं भक्तं कुर्यात्। सपादपणिकं वेतनं च।' कौ. अर्थ. २।२४
२. 'कर्मानुरूपं कारुभ्यो भक्तवेतनम्।' कौ. अर्थ. २।२४
३. 'स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकाः यथेष्टमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः स्वसेतुभ्यः।' कौ. अर्थ. २।२४
४. 'हस्तप्रावर्तितमुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्तिमं चतुर्थम्। स्रोतोयन्त्रप्रावर्तिमं च तृतीयम्। चतुर्थं नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्।' कौ. अर्थ. २।२४
५. 'तटाकसेतुबन्धानां नवप्रवर्तने पाञ्चवार्षिकः परिहारः। भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वार्षिकः।' कौ. अर्थ. ३।९

उस पर स्वयं खेती करें।[1] जमीन पर किसानों का स्वत्त्व किस अंश तक माना जाता था, इस प्रश्न पर हम अन्यत्र विचार करेंगे।

राजकीय भूमि में से कुछ भूमि ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि को इस प्रयोजन से प्रदान की जाती थी, जिससे कि वे अपना निर्वाह कर सकें। इन भूमियों को 'ब्रह्मदेय' कहते थे। इनसे न भूमि-कर लिया जाता था और न कोई जुरमाने।[2] अध्यक्ष, संख्यापक आदि राजकर्मचारियों को भी इसी प्रकार जमीन दी जाती थी, यद्यपि उन्हें अपनी इन जमीनों को बेचने या रहन रखने का अधिकार नहीं होता था।[3] किसानों को राज्य की ओर से धान्य, पशु और हिरण्य भी उधार दिया जाता था, ताकि वे खेती के लिये आवश्यक साधनों को प्राप्त कर सकें। यह ऋण के रूप में दिया जाता था, जिसे वापस लौटाने की शर्तें सुखकर रखी जाती थीं।[4]

श्रोत्रिय और आचार्य आदि ब्रह्मदेय भूमि को बेच भी सकते थे और रहन भी रख सकते थे, पर यह करते हुए उन्हें यह ध्यान में रखना होता था कि ब्रह्मदेय भूमि उन्हीं व्यक्तियों के हाथ बेचें या रहन रखें जिन्हें इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने का अधिकार हो।

(३) तट-कर (आयात और निर्यात पर कर)

कौटलीय अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के माल का उल्लेख किया गया है, जिन पर राज्य द्वारा शुल्क लिया जाता था। ये तीन प्रकार हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और आतिथ्य।[5] सम्भवतः, 'आतिथ्य' उस माल को कहते थे, जो विदेशों से आए। देश से बाहर भेजे जाने-वाले और विदेश से स्वदेश में आनेवाले—दोनों प्रकार के माल पर कर लिया जाता था, जिन्हें क्रमशः निष्क्राम्य (निर्यात) और प्रवेश्य (आयात) शुल्क कहते थे।[6] प्रवेश्य (आयात) माल पर कर की मात्रा मूल्य का २० प्रतिशत थी।[7] पर इसके कुछ अपवाद भी थे। पुष्प, फल, शाक, मूल, कन्द, बीज, सूखी मछली और मांस के आयात पर छठा भाग (१६⅔ प्रतिशत) कर के रूप में लिया जाता था।[8]

---

१. 'अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्।' कौ. अर्थ. २।१
२. कौ. अर्थ. २।१
३. कौ. अर्थ. २।१
४. 'धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्। तान्यनुसुखेन दद्युः।' कौ. अर्थ. २।१
५. 'शुल्क व्यवहारः बाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम्।' कौ. अर्थ. २।२२
६. 'निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम्।' कौ. अर्थ. २।२
७. 'प्रवेश्यानां मूल्यपञ्चभागः।' कौ. अर्थ. २।२२
८. 'पुष्पफलशाकमूलकन्द पल्लिक्यबीज शुष्कमत्स्यमांसानां षद्भागं गृह्णीयात्। कौ. अर्थ. २।२२

शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल और हारों के आयात पर प्रवेश्य-कर लगाते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि वे किस कोटि के हैं और उनकी प्राप्ति व निर्माण में कितना समय लगा है, कितना खर्च हुआ है, कितना वेतन देना पड़ा है, और उनका क्या अन्तिम रूप है। इन वातों को दृष्टि में रखकर विशेषज्ञ व्यक्ति इनके आयात पर शुल्क का निर्धारण करते थे।[1] क्षौम, दुकल, रेशम, कवच, हरिताल, मनःशिल, हिंगुल, लोह और अन्य धातु, चन्दन, अगुरु, कटुक, किण्व (ferments), आवरण (ओढ़ने या पहनने के वस्त्र), सुरा, हाथी दाँत, खाल, क्षौम और दुकूल बनाने के लिये कच्चा माल, आस्तरण (गलीचे), प्रावरण (पड़दे) और कृमिज व ऊनी माल के आयात पर प्रवेश्य-शुल्क की मात्रा उनके मूल्य पर १० से १५ प्रतिशत तक ली जाती थी।[2] वस्त्र, चतुष्पद (चौपाये), द्विपद (दो पैरवाले पक्षी या जन्तु), सूत, कपास, सुगन्ध, औषधि, काष्ठ, वेणु (बाँस), वल्कल, चर्म, मिट्टी के बरतन, धान्य, स्नेह (तेल), क्षार, लवण, मद्य, पक्वान्न (पकवान या मिठाई) आदि पर प्रवेश्य-शुल्क की दर ४ प्रतिशत से ५ प्रतिशत तक थी।[3]

प्रवेश्य-शुल्क के अतिरिक्त एक अन्य कर भी था, जिसे 'द्वारदेय' कहते थे। इसकी दर शुल्क की २० प्रतिशत थी। सम्भवतः, यह द्वारदेय-कर माल के नगर में प्रवेश करने के समय लिया जाता था। भिन्न-भिन्न देशों से आने वाले माल के सम्बन्ध में इस कर में रियायत भी की जा सकती थी। ऐसी रियायत को 'देशोपकार' और 'आनुग्रहिक' कहते थे। यदि कोई देश अपने देश के माल पर अनुग्रह या उपकार करे, तो उसके बदले में अपने देश में भी उस परदेश के माल के प्रति अनुग्रह किया जाता था।[4] इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं, कि जो देश मौर्य साम्राज्य के साथ रियायत करते थे, उनसे आने वाले माल पर मौर्य साम्राज्य द्वारा रियायत की जाती थी। यदि कोई विदेश अपने देश के माल पर अधिक शुल्क ले, तो मौर्यों द्वारा भी उसके माल पर साधारण शुल्क के अतिरिक्त 'अत्यय' वसूल किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है—'देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने पण्य पर शुल्क नियत किया जाए। अन्य देशों के अपकार करने पर उनसे अत्यय भी लिया जाए।[5]'

जिन व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार था, उनके माल को बाहर से मँगाने पर एक अन्य

---

१. **'शंखवज्रमणिमुक्ताप्रवालहाराणां तज्जातपुरुषैः कारयेत् कृतकर्मप्रमाणकाल-वेतन फलनिष्पत्तिभिः।' कौ. अर्थ. २।२२**

२. **कौ. अर्थ. २।२२**

३. **कौ. अर्थ. २।२२**

४. **'द्वारादेयं शुल्क पञ्चभागं आनुग्राहिकं वा यथादेशोपकारं स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।२२**

५. **'अतो नवपुराणानां देशजातिचरित्रतः।**
पण्यानां स्थापयेच्छुल्कमत्ययं चापकारतः॥' कौ. अर्थ. २।२२

अतिरिक्त कर भी लिया जाता था जिसे 'वैधरण' कहते थे। उदाहरण के लिये लवण (नमक) के व्यवसाय को लिया जा सकता है। इस पर राज्य का एकाधिकार स्थापित था। विदेशी नमक के स्वदेश में आने पर प्रवेश्य-शुल्क की दर १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत थी। पर इसके अतिरिक्त उतना 'वैधरण' (अतिरिक्त कर या हरजाना) भी देना पड़ता था, जितना कि विदेशी नमक के आने से नमक के राजकीय व्यवसाय को हानि पहुँची हो।[1] यही व्यवस्था शराब आदि अन्य पण्य के आयात के सम्बन्ध में भी थी। इनके व्यवसाय पर भी राज्य का एकाधिकार विद्यमान था।

प्रवेश्य-कर का उद्देश्य राजकीय आमदनी को बढ़ाना ही था। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में चाणक्य की नीति यह थी—'विदेशी पण्य का अनुग्रह से स्वदेश में प्रवेश कराया जाए। जो नाविक और सार्थवाह विदेशी पण्य को लाएँ, उन्हें कर में ऐसी छूट दी जाएँ जिससे उनको अपने व्यापार में लाभ हो सके।[2]' विदेशों से आये हुए व्यापारियों के विरुद्ध मुकदमे भी नहीं चलाये जाते थे, बशर्ते कि वे देश के किसी व्यापारी के हिस्सेदार न हों या किसी समूह में संगठित न हों।[3] संरक्षण-नीति का प्रयोग कर विदेशी पण्य पर अधिक मात्रा में कर वसूल करना कौटल्य को अभिप्रेत नहीं था। प्रवेश्य-शुल्क सदृश करों को लगाने का वह यही प्रयोजन समझते थे कि उनसे राजकीय आमदनी में वृद्धि हो सके। राजकीय कोश को वह बहुत महत्त्व देते थे। उनका कथन था, कि कोश और सेना से ही राज्य की प्राप्ति होती है।[4]

निष्क्राम्य (निर्यात) पण्य पर भी शुल्क लिया जाता था। पण्याध्यक्ष का एक कार्य यह भी था, कि वह अपने देश में उत्पन्न माल को अन्य देशों में बिकवाने का प्रयत्न करे। इस सम्बन्ध में कौटल्य ने लिखा है—'परविषय (परदेश) में व्यापार के लिये पण्य एवं प्रतिपण्य (निर्यात माल के बदले में आनेवाला माल) के मूल्य में से शुल्क, वर्तनी (सड़क-कर), माल ढोने का खर्च, छावनी का कर, नौका के भाड़े आदि का खर्च घटा कर शुद्ध उदय (मुनाफे) का अनुमान करे। यदि यह पाया जाए कि लाभ नहीं है, तो यह मालूम करे कि स्वदेशी पण्य के बदले में कोई ऐसा विदेशी पण्य प्राप्त किया जा सकता है कि नहीं, जिससे लाभ हो सके।[5] ये सब बातें मालूम करके अपने देश का पण्य स्थल-मार्ग द्वारा

---

१. 'आगन्तुलवणं षड्भागं दद्यात्' · 'क्रेता शुल्कं राजपण्यच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।१२

२. 'परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविकसार्थवाहेभ्यश्च परिहारमायतिक्षमं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।१६

३. 'अनभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्यः।' कौ. अर्थ. २।१६

४. 'पृथिवी कोशदण्डाभ्यां प्राप्यते कोशभूषणा।' कौ. अर्थ. २।१२

५. कौ. अर्थ. २।१६

भेजा जाए (क्योंकि जल-मार्ग में खतरे अधिक रहते हैं, अतः स्थल-मार्ग द्वारा पण्य भेजे जाने को अधिक अच्छा माना गया है), और माल ले जाने वाला व्यापारी विदेशी राज्य के आटविकों, अन्तपालों, पुरमुख्यों और राष्ट्र-(जनपद) मुख्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करे, ताकि उनका अनुग्रह (सद्भावना) प्राप्त हो सके।[1] यदि मार्ग में किसी विपत्ति का सामना करना पड़े, तो बहुमूल्य पण्य और अपनी रक्षा की व्यवस्था की जाय। यदि विदेश पहुँच सकना सम्भव न हो, तो जहाँ कहीं भी माल को ऐसी कीमत पर बेच दिया जाए जिससे कि सब दातव्य व्यय वसूल हो जाए।[2]

जल मार्ग से अपने देश के पण्य को विदेश भेजने के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र का यह कथन उल्लेखनीय है—"जल मार्ग द्वारा माल भेजने से पूर्व माल की ढुलाई का खर्च (यानभागक), मार्ग में अपने ऊपर आने वाला खर्च (पथ्यदन), विनिमय में प्राप्त होने वाले प्रतिपण्य की कीमत तथा मात्रा, यात्रा का समय, भयप्रतीकार में हुआ व्यय, और बन्दरगाहों के रिवाज (पत्तन चारित्र्य) व नियमों आदि का पता लगाए। नदी पथ के सब व्यवहारों और चरित्र को जान कर जहाँ पण्य भेजने से लाभ हो वहाँ भेजा जाए, जहाँ हानि की सम्भावना हो उस से दूर रहे।[3]" यहाँ कौटल्य ने 'भयप्रतीकार व्यय' का भी उल्लेख किया है, जिससे सूचित होता है कि मौर्य युग में पण्य के बीमा कराने की प्रथा भी विद्यमान थी।

निष्क्राम्य (निर्यात) पण्य पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से सूचित होता है, पर इस कर की क्या दर थी, इस सम्बन्ध में कोई सूचना कौटल्य ने नहीं दी है।

(४) बिक्री पर कर और चुंगी से आय

मौर्य युग में बिक्री पर शुल्क लेने की भी व्यवस्था थी। इसी को वर्तमान समय में 'सेल्स टैक्स' कहते हैं। कौटल्य ने लिखा है, कि उत्पादन-स्थान पर कोई भी पण्य नहीं बेचा जा सकता।[4] कोई भी वस्तु विक्रय-शुल्क से न बच सके, इसीलिये यह व्यवस्था की गई थी। जो इस नियम का उल्लंघन करें, उनके लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। खानों से खनिज

---

१. 'ततस्सारपादेन स्थलव्यवहारमध्वना क्षेमेण प्रयोजयेत्।
अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेदनुग्रहार्थम्।' कौ. अर्थ. २।१६

२. 'आपदि सारमात्मानं वा मोक्षयेत्। आत्मनो वा भूमिमप्राप्तः सर्वदेयविशुद्धं व्यवहरेत्।' कौ. अर्थ. २।१६

३. 'वारिपथे च यानभागकपथ्यदनपण्यप्रतिपण्यार्घप्रमाणयात्राकालभयप्रतीकारपण्यपत्तनचारित्र्याण्युपलभेत।'
नदीपथे च विज्ञाय व्यवहारं चरित्रतः।
यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत्॥' कौ. अर्थ. २।१६

४. 'जाति भूमिषु पण्यानामविक्रयः।' कौ. अर्थ. २।२२

पदार्थ बेचने पर ६०० पण और खेतों से अनाज बेचने पर ५३ पण जुरमाने का नियम था।[१] पुष्पों और फलों के उद्यानों से फूल व फल बेचने पर ५४ पण और बगीचों से शाक मूल-कन्द आदि बेचने पर ५१$\frac{3}{4}$ पण जुरमाना किया जाता था।[२] उत्पादन-स्थान पर माल बेच देने से राजकीय आय में कमी पड़ सकती थी, इसी कारण ये नियम बनाये गये थे। यह आवश्यक था, कि सब पण्य पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाए। जब उस पर शुल्क दे दिया जाता था, तब उस पर अभिज्ञान-मुद्रा लगा दी जाती थी। इसके बाद ही पण्य का विक्रय किया जा सकता था।

शुल्कशाला और वहाँ लिये जानेवाले शुल्क के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से विवरण दिया गया है। 'शुल्काध्यक्ष नगर के मुख्य द्वार (महा द्वार) के निकट शुल्कशाला बनवाए, जिस पर शुल्क का ध्वज फहरा रहा हो। शुल्कशाला का मुख पूर्व दिशा की ओर हो, या उत्तर दिशा की ओर। शुल्क वसूल करनेवाले चार या पाँच व्यक्ति सार्थ (काफिले) में आये हुए व्यापारियों से ये प्रश्न पूछ कर उनके उत्तर लिखें—आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? आपके पास कितना और क्या पण्य है? आपने अभिज्ञान-मुद्रा कहाँ से प्राप्त की थीं? यदि पण्य पर मुद्रा न लगी हो, तो प्रदेय शुल्क का दुगना वसूल किया जाए। यदि मुद्रा को झूठा या नकली पाया जाए, तो प्रदेय शुल्क का आठ गुना लिया जाए। यदि मुद्रा टूट गई हो, तो व्यापारी को घटिकास्थान में रोक रखा जाए।'[३] सम्भवतः, यह अभिज्ञान-मुद्रा तभी लगायी जाती थी, जब कि उत्पादन-स्थान से माल को बाहर ले जाने की अनुमति प्राप्त कर ली जाती थी, और उसके लिये आवश्यक शुल्क प्रदान कर दिया जाता था। यह शुल्क एक प्रकार का उत्पादन-कर (Excise Duty) होता था। पर जब किसी पण्य को विक्रय के लिये उत्पादन-स्थान से अन्यत्र नगर आदि में ले जाया जाता था, तो वहाँ पर राजकीय शुल्क देना पड़ता था, जिसका स्वरूप विक्रय-कर (Sales Tax) या चुंगी के सदृश होता था। इस शुल्क की दर के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र का यह निर्देश उल्लेखनीय है—'नाप कर बेचेजाने वाले पण्य पर ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत, तोल कर बेचे जाने वाले पण्य पर ५ प्रतिशत और गिन कर बेचे जाने वाले पण्य पर ९$\frac{1}{11}$ प्रतिशत शुल्क लिया जाए।'[४] यह शुल्क पण्य के मूल्य के अनुसार ही लगाया जाता था।

---

१. 'खनिभ्यो धातुपण्यादानेषु षट्छतमत्ययः।'
   क्षेत्रेभ्यः सर्वसस्यादाने त्रिपञ्चाशत्पणः।' कौ. अर्थ. २।२२
२. 'पुष्पफलवाटेभ्यः पुष्पफलादाने चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः।' कौ. अर्थ. २।२२
३. कौ. अर्थ. २।२१
४. 'षोडषभागो मानव्याजी। विंशतिभागस्तुलामानम्। गण्यपण्यानामेकादशभागः।'
   कौ. अर्थ. २।१६

कोई व्यापारी इस शुल्क से वच न सके, इस सम्वन्ध में कौटल्य ने अनेक व्यवस्थाएँ की थीं। 'यदि कोई शुल्क के भय से पण्य के प्रमाण (मात्रा) को कम बताए या उसके मूल्य को कम वताए, तो जितना पण्य अधिक निकले या उसका जो मूल्य अधिक प्राप्त हो, उसे राजा ले ले (उसे राजकोश में भेज दिया जाए)। साथ ही, उस पण्य पर शुल्क की मात्रा आठ गुनी वसूल की जाए। यही दण्ड उस दशा में भी दिया जाए, जव व्यापारी ने वन्द पेटी में ऊपर हीन पण्य रखा हो और नीचे उत्कृष्ट, या वहुमूल्य पण्य को कम मूल्य वाले पण्य से छिपा दिया गया हो।[1]' 'यदि कोई व्यापारी शुल्क दिये विना शुल्कशाला के ध्वज से आगे चले जाएँ, तो उन पर उस राशि से आठ गुना जुरमाना किया जाए जो उन्हें शुल्क के रूप में प्रदेय थी।'[2] 'जो (नगर) के अन्दर आएँ या (नगर से) वाहर जाएँ, उनसे यह जाना जाए कि उन्होंने शुल्क प्रदान कर दिया है या नहीं।[3] यदि कोई शुल्क दिये हुए पण्य के साथ ऐसे पण्य को भी ले जाना चाहे जिस पर शुल्क न दिया गया हो, या मुद्रा को तोड़ कर उसमें अमुद्रित पण्य भर कर और फिर पुनः मुद्रा लगाकर पण्य को निकाल ले जाने का यत्न करें, ऐसे व्यापारियों को उत्तम साहस दण्ड दिया जाए।[4]'

विशेष प्रयोजनों से जो माल वाहर से लाया जाता था, उस पर शुल्क नहीं देना होता था। ये प्रयोजन निम्नलिखित थे---विवाह, दहेज का सामान, उपनयन संस्कार, यज्ञ-कृत्य, सन्तान का प्रसव, देव मन्दिर, मुण्डन, व्रत, दीक्षा और अन्य विशिष्ट कर्मकाण्ड।[5] शुल्क के अतिरिक्त एक अन्य कर भी था, जिसे शुल्काध्यक्ष वसूल कराता था। इसे 'वर्तनी' कहते थे। इसकी सामान्य दर सवा पण प्रति पण्य-वहन (माल का वोझ) थी। इसे अन्तपाल सड़क को प्रयुक्त करने पर वसूल करता था।[6] जो सार्थ (काफिले) पण्य लेकर सड़कों से आते-जाते थे, उन्हें यह कर देना पड़ता था। इस कर के वदले में अन्तपाल की यह उत्तरदायिता हो जाती थी, कि मार्ग पर सार्थों का माल न लुटने पाए और न चोरी जाए। यदि कोई माल इस ढंग से नष्ट या अपहृत हो जाए, तो राज्य उसकी क्षतिपूर्ति

---

१. 'शुल्कभयात्पण्यप्रमाणं मूल्यं वा हीनं ब्रुवतस्तदरिक्तं राजा हरेत्। शुल्कमष्टगुणं वा दद्यात्। तदेव निविष्टपण्यस्य भाण्डस्य हीनप्रतिवर्णकेनार्घापकर्षेण सारभाण्डस्य फल्गुभाण्डेन प्रतिच्छादने कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।२१

२. 'ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः।' कौ. अर्थ. २।२१

३. 'पथिकोत्पथिकास्तद्विद्युः।' कौ. अर्थ. २।२

४. 'कृतशुल्केनाकृतशुल्कं निर्वाहयतो द्वितीयमेकमुद्रया भित्वा पुटमपहरतो वैदेहकस्य तच्च तावच्च दण्डः।' कौ. अर्थ. २।२१

५. 'वैवाहिकमन्वायनमौपयानिकं यज्ञकृत्यप्रसव नैमित्तिकं देवेज्याचौलोपनयनगोदान-व्रत दीक्षणादिषु क्रियाविशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत्।' कौ. अर्थ. २।२१

६. 'अन्तपालः सपादपणिकां वर्तनीं गृह्णीयात्।' अ. अर्थ. २।२१

करता था।[1] वर्तनी की दर एक खुर के पशुओं (घोड़ा, खच्चर, गधा आदि) पर लदे पण्य पर एक पण, पशुओं (बैल आदि) पर आधा पण, छोटे पशुओं (भेड़, बकरी आदि) पर चौथाई पण और मनुष्य के सिर पर लदे माल पर एक मापक थी।[2]

कौटलीय अर्थशास्त्र में 'शुल्क' के सम्बन्ध में जो निर्देश दिये गये हैं, वे चुंगी को सूचित करते हैं। यह कर माल के क्रय-विक्रय पर लिया जाता था, और राजकीय आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन था।

(५) राजकीय आय के अन्य साधन

प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes)--मौर्य युग में अनेक ऐसे कर भी थे, जिन्हें प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि ये व्यवसायियों आदि से प्रत्यक्ष (सीधे) रूप से वसूल किये जाते थे। पहला प्रत्यक्ष कर तोल और माप के वाटों और मानों पर था। ये वाट और मान राज्य द्वारा प्रमाणित किये जाते थे, जिसके लिये ४ माषक कर लिया जाता था। व्यापारियों को चार मापक उस समय प्रदान करने होते थे, जब वे अपने वाटों और मानों को राज्य द्वारा प्रमाणित कराते थे। इसके अतिरिक्त इन प्रमाणित वाटों व मानों के प्रयोग के लिये उन्हें एक काकणी प्रतिदिन भी देनी होती थी। यह कर पौतवाध्यक्ष वसूल करता था।[3] जिस व्यापारी के बाट और मान राज्य द्वारा प्रमाणित न हों, उस पर ३७¼ पण जुरमाना किया जाता था।[4]

दूसरा प्रत्यक्ष कर द्यूत पर था। जुआरी लोग निर्दिष्ट स्थान पर ही जुआ खेल सकते थे। द्यूत में जो धन जीता जाए, उसकी ५ प्रतिशत राशि राज्य को प्रदान करनी होती थी। निर्दिष्ट स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान पर जुआ खेलने, द्यूत-क्रीड़ा के लिये आवश्यक उपकरणों का दुरुपयोग करने और द्यूत में अनियमितता करने के लिये जिन विविध जुरमानों की व्यवस्था थी,[5] उनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

रूप से आजीविका चलाने वाली वेश्याओं, गणिकाओं आदि से दैनिक आमदनी का दुगना प्रति मास कर के रूप में लिया जाता था।[6] इसी प्रकार नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (वाणी द्वारा लोगों का मनोरञ्जन करने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्से पर

१. 'नष्टापहृतं च प्रतिविदध्यात्।' कौ. अर्थ. २।२१
२. 'पण्यवहनस्य पणिकामेकखुरस्य, पशूनामर्धपणिकां क्षुद्रपशूनां पादिकां, असभारस्य माषिकाम्।' कौ. अर्थ. २।२१
३. 'चतुर्माषिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्।'··'प्रातिवेधनिकं काकणीकमहरहः पौतवाध्यक्षाय दद्युः।' कौ. अर्थ. २।१९
४. 'अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः।' कौ. अर्थ. २।१९
५. कौ. अर्थ. ३।२०
६. 'रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः।' कौ. अर्थ. २।२७

नाचने वाले), सौभिक (जादूगर) और चारणों से भी उनकी दैनिक आमदनी का दुगुना प्रतिमास कर लेने का नियम था ।[१] यदि नट, नर्तक, गायक आदि कहीं बाहर से आकर तमाशे दिखाएँ, तो उन्हें पाँच पण 'प्रेक्षा वेतन' (तमाशा दिखाने के लिये अनुमति प्राप्त करने की फीस) देना होता था।[२]

विविध प्रकार के कारुओं (कारीगरों या व्यवसायियों) को भी अपने धन्धे करने के लिये राज्य को कर प्रदान करने होते थे। धोबी, सुनार, तन्तुवाय, चिकित्सक, कुशीलव आदि से लिये जाने वाले इन शुल्कों और नियमानुकूल कार्य न करने पर उनसे वसूल किये जाने वाले जुरमानों का कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से उल्लेख किया गया है।

राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय––अनेक व्यवसाय ऐसे थे जिन पर राज्य का पूर्ण आधिपत्य स्थापित था, और जिनका संचालन राज्य द्वारा ही किया जाता था। इनमें खानें, जंगल, नमक और अस्त्र-शस्त्र के व्यवसाय मुख्य थे। खानों पर राज्य का एकाधिकार था। उनकी व्यवस्था के लिये एक पृथक् अमात्य नियुक्त किया जाता था, जिसे 'आकराध्यक्ष' कहते थे। कौटल्य ने लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को आकराध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये जो शुल्वधातुशास्त्र (ताम्र और अन्य खनिज धातुओं की विद्या), रसपाक (पारा निकालने की विद्या) और मणिराग (मणि आदि की पहचान की कला) में प्रवीण हो, या इनमें प्रवीण जिसका सहायक हो।[३] यह आकराध्यक्ष कुशल कर्मकरों और आवश्यक उपकरणों का प्रबन्ध कर खानों का पता करे, और खानों से खनिज पदार्थों को निकालने की व्यवस्था करे। कहाँ कौन-सी धातु मिल सकती है, विविध धातुओं की कच्ची धात किस प्रकार की होती है, कच्ची धात को किस विधि से साफ किया जाता है, इन सब बातों का कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से निरूपण किया गया है। कच्ची धात को खानों से निकाल कर उसे कर्मान्तों (कारखानों) में भेज दिया जाता था।[४] जब वहाँ धातु तैयार हो जाती थी, तो उसके विक्रय का प्रबन्ध भी आकराध्यक्ष द्वारा ही कराया जाता था। धातुओं के व्यवसाय से राज्य को अच्छी आमदनी थी। कौटल्य ने दो प्रकार की खानों का उल्लेख किया है—स्थल की खानें और जल की खानें। स्थल-खनियों से लोहा, तांबा, नमक आदि प्राप्त किये जाते थे, और जल की खानों से मुक्ता, शुक्ति, शंख आदि। इन दोनों प्रकार की खानों का प्रबन्ध आकराध्यक्ष के ही अधीन था।

---

१. 'एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणानां .... व्याख्याताः।' कौ. अर्थ. २।२७

२. 'तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।२७

३. 'आकराध्यक्षः शुल्वधातुशास्त्ररसपाकमणिरागज्ञस्तज्ज्ञसखो वा तत् ज्ञातकर्मोपकरण-सम्पन्नः।' कौ. अर्थ. २।१२

४. 'धातुसमुत्थितं तत् ज्ञातकर्मान्तेषु प्रयोजयेत्।' कौ. अर्थ. २।१२

मौर्य युग में खानों (आकरों) के व्यवसाय का बहुत अधिक महत्त्व था। राजकीय आय का यह एक प्रधान साधन था। कौटल्य ने खानों से होने वाली आय के १० विभिन्न प्रकार निरूपित किये हैं[1]—(१) मूल्य—खानों से प्राप्त होने वाली कच्ची धात आदि का मूल्य। (२) विभाग—जिन खानों से माल निकालने का कार्य ठेके पर दिया गया हो, उनसे प्राप्त होने वाला अंश। (३) व्याजी—तोल के बाटों और मापने के मापों के दो प्रकार थे—सरकारी और सर्वसाधारण जनताद्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले। इनमें ५ प्रतिशत का अन्तर होता था। सरकारी बाट और माप अधिक बड़े होते थे। इस कारण जो लाभ होता था, उसे व्याजी कहते थे। (४) परिघ—कच्ची धात को धातु के रूप में तैयार करने से होने वाला लाभ। (५) अत्यय—तैयार माल क्रेताओं की प्रतिस्पर्धा के कारण जब निश्चित मूल्य से अधिक कीमत पर बिक जाए, तो इस प्रकार प्राप्त होने वाली आय। (६) शुल्क—उत्पादन-स्थान और विक्रय-स्थान पर वसूल किया जाने वाला शुल्क। (७) वैधरण—किसी प्रकार की क्षति हो जाने पर क्षतिपूर्ति के रूप में प्राप्त की गई राशि। (८) दण्ड—अनेकविध जुरमाने, जिनकी व्यवस्था कौटल्य ने विशद रूप से की है। (९) रूप—सोना, चाँदी, ताम्र आदि से निर्मित सिक्कों से प्राप्त होने वाली आय। (१०) रूपिक—सिक्कों को राजकीय कोश में प्रदान करते समय प्रदेय राशि, जिसकी दर ८ प्रतिशत होती थी। विविध प्रकार की यह आमदनी खानों पर राज्य के एकाधिकार के कारण ही प्राप्त होती थी। इसीलिये कौटल्य का यह कथन था, कि कोश खानों पर ही आश्रित है। निस्सन्देह, खानों का व्यवसाय राज्य की आमदनी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन था।

नमक के व्यवसाय पर भी राज्य का एकाधिपत्य था। इसकी व्यवस्था और सञ्चालन के लिये लवणाध्यक्ष की नियुक्ति की जाती थी। नमक की खानें (व नमक के अन्य साधन) या तो राज्य द्वारा सञ्चालित की जाती थीं, और या उन्हें ठेके पर दे दिया जाता था। नमक स्थल की खानों से भी प्राप्त होता था, और समुद्र व झीलों से भी। ठेके पर दिये हुए लवण के व्यवसाय से राज्य निम्नलिखित आय प्राप्त करता था[2]—(१) लवण भाग—तैयार नमक का एक निश्चित अंश। (२) प्रक्रय—नमक की खान या निर्माण-स्थान का किराया। (३) उत्पादन-शुल्क। (४) विक्रय-शुल्क। (५) व्याजी—तोल के बाटों में अन्तर होने से आय, जिसकी दर ५ प्रतिशत थी। (६) रूप—नमक के मूल्य आदि को राजकोश में जमा करते हुए ८ प्रतिशत की दर से प्रदेय अतिरिक्त राशि। जो नमक कहीं बाहर से अपने देश में आता था, उस पर १६$\frac{२}{३}$ शुल्क देना होता था, और साथ ही विक्रय-शुल्क, व्याजी और

---

१. 'एवं मूल्यं विभागं च व्याजीं परिघमत्ययम्।
शुल्कं वैधरणं दण्डं रूपं रूपिकमेव च॥' कौ. अर्थ. २।१२

२. 'लवणाध्यक्षः पाकमुक्तं लवणभागं प्रक्रयं च यथाकालं संगृह्णीयात् -विक्रयाच्च मूल्यं रूपं व्याजीम्। कौ० अर्थ. २।१२

रूप भी। इनके अतिरिक्त नमक के राजकीय व्यवसाय को बाह्य नमक के कारण जो क्षति हुई हो, उसकी पूर्ति के लिये वैधरण भी वसूल किया जाता था।[1] यदि कोई नमक में मिलावट करके बेचे, तो उसके लिये उत्तम साहस दण्ड की व्यवस्था थी। लायसेन्स लिये विना नमक बनाने पर भी यही दण्ड दिया जाता था। पर वानप्रस्थ इसके अपवाद थे।[2] वे अपने प्रयोग के लिये नमक बना सकते थे, उन्हें लाइसेन्स की आवश्यकता नहीं होती थी। श्रोत्रिय, तपस्वी और लवण बनाने के कारखानों में काम करने वाले मजदूर भी अपने प्रयोग के लिये नमक ले जा सकते थे।[3]

अन्य भी अनेक व्यवसायों पर राज्य का एकाधिपत्य था। जंगल राज्य की सम्पत्ति होते थे। उनसे काष्ठ, ईंधन और अन्य जांगल पदार्थों को प्राप्त कराने के लिये एक पृथक् अमात्य की नियुक्ति की जाती थी, जिसे कुप्याध्यक्ष कहते थे। यह अध्यक्ष जहाँ कुप्य द्रव्यों को जंगलों से प्राप्त कराता था, वहाँ साथ ही उन्हें कर्मान्तों (कारखानों) में भेजकर उनसे विविध प्रकार के पण्यों को भी तैयार कराता था। जो कोई किसी भी प्रकार से जंगलों को क्षति पहुँचाएँ, उन्हें यथोचित दण्ड देना और उनसे क्षतिपूर्ति कराना भी कुप्याध्यक्ष का कार्य था।[4] अनेक प्रकार की सारदारू (इमारती काम में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी), वेणु (बाँस), बल्ली (वेंत आदि), वल्क (सन आदि), रज्जु भाण्ड (रस्सी बनाने के काम में आनेवाली भावड़ आदि), पत्र (विविध प्रकार के पत्ते), पुष्प, औषधियाँ, विष, विषैले जन्तु, विविध प्रकार के चर्म, हड्डी, हाथी दाँत, सींग, शेर, हाथी आदि वन्य पशु, कोयला, ईंधन, छाल और बरतन आदि बनाने के काम में आने वाली मिट्टी और चारा आदि पदार्थ कुप्य के अन्तर्गत थे।[5] जंगलों से इन्हें एकत्र करा के और इन्हें विभिन्न तैयार माल के रूप में परिवर्तित कराके कुप्याध्यक्ष राज्य की आमदनी में पर्याप्त वृद्धि करता होगा, यह सुगमता से समझा जा सकता है।

अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी राज्य के ही अधिकार-क्षेत्र में था। यह कार्य आयुधागाराध्यक्ष के अधीन था, जो अनेकविध हथियारों को तैयार कराता था। ये आयुध निम्नलिखित प्रकार के होते थे—(१) सांग्रामिक–युद्ध में प्रयुक्त होने वाले, (२) दौर्गकर्मिक–

---

१. 'आगन्तुलवणं षड्भागं दद्यात्—दत्तभाग विभागस्य विक्रयः पञ्चकं शतं व्याजीं रूपं रूपिकं च। क्रेता शुल्कं राजपण्यच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।१२

२. 'विलवणमुत्तमं दण्डं दद्यात्, अनिसृष्टोपजीवी च अन्यत्र वानप्रस्थेभ्यः।' कौ. अर्थ. २।१२

३. 'श्रोत्रियास्तपस्विनो विष्टयश्च भक्तलवणं हरेयुः।' कौ. अर्थ. २।१२

४. 'कुप्याध्यक्षो द्रव्यवनपालैः कुप्यमानाययेत्। द्रव्यवनकर्मान्तांश्च प्रयोजयत्। द्रव्यवनच्छिदां च देयमत्ययं च स्थापयेत् अन्यत्रापद्भ्यः।' कौ. अर्थ. २।१७

५. कौ. अर्थ. २।१७

दुर्ग की रक्षा के लिये काम में आने वाले, और (३) परपुराभिघातिक—शत्रु के पुरों (दुर्गों) को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त होने वाले।[1] इनके अनेक भेद थे, जैसे चक्र, यन्त्र, आयुध, आवरण (कवच), उपकरण आदि। आयुधागाराध्यक्ष कारुओं और शिल्पियों को अपनी सेवा में नियुक्त कर उनसे इन सबको तैयार कराता था। इन्हें तैयार करने वाले कर्मान्त राज्य की 'स्वभूमि' में ही स्थापित किये जाते थे।[2] आयुधागाराध्यक्ष को सदा यह ध्यान में रखना होता था कि आयुधों की कितनी माँग है, कितनी उपलब्धि है, और कितना क्षय-व्यय है। अस्त्र-शस्त्र निर्माण के व्यवसाय पर भी राज्य का ही एकाधिपत्य था।

शराब आदि अन्य भी अनेक व्यवसाय राज्य के एकाधिकार में थे, जिनसे उसे अच्छी आमदनी होती थी।

राज्य द्वारा अधिकृत व्यापार और व्यापार-साधनों से आय—अनेकविध व्यापारों का सञ्चालन भी मौर्य युग में राज्य द्वारा किया जाता था, जिसके लिये पण्याध्यक्ष की नियुक्ति की जाती थी। जिस पण्य का उत्पादन राजकीय कर्मान्तों में होता था, उसका विक्रय भी राज्य ही करता था। सब वस्तुओं की कीमत निश्चित रहती थी। कीमतें निर्धारित करते हुए प्रजा के हित को दृष्टि में रखा जाता था। कौटल्य ने लिखा है—'सब प्रकार के माल को प्रजा के प्रति अनुग्रह की दृष्टि से बिकवाया जाए। जिससे प्रजा को नुकसान पहुँचे, ऐसा लाभ न ले चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न हो।[3]' पण्याध्यक्ष के कार्य निम्नलिखित थे—स्थल और जल में उत्पन्न और स्थल तथा जल दोनों प्रकार के मार्गों से लाये हुए नानाविध पण्य के गुण, अवगुण (बढ़िया व घटिया किस्म), प्रियता और अप्रियता तथा उनके मूल्य में वृद्धि और कमी का पता करता रहे। साथ ही, वह यह भी मालूम करे कि नानाविध पण्य के क्रय, विक्रय, सञ्चय, वितरण और प्रयोग के लिये कौन-सा समय और क्षेत्र उपयुक्त हैं।[4]"

यदि किसी पण्य की प्रचुरता हो (वह प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हो), तो उसे एक स्थान पर एकत्र कर कीमत बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार जब कीमत बढ़

---

१. 'आयुधागाराध्यक्षः सांग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघातिकं चक्रयन्त्रमायुधमावरण-मुपकरणं च तज्जातकारुशिल्पिभिः कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१८

२. 'स्वभूमौ च स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।१८

३. 'उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्। स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१६

४. 'पण्याध्यक्षः स्थलजलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थलपथवारिपथोपयातानां सारफल्वर्घान्तरं प्रियाप्रियतां च विद्यात्। तथा विक्षेपसंक्षेपक्रयविक्रयप्रयोग-कालान्।' कौ. अर्थ. २।१६

जाए, तो कीमत में यथेष्ट परिवर्तन कर सकना भी सम्भव हो जाता था।[१] स्वदेश में उत्पन्न राजकीय पण्य का विक्रय एक ही केन्द्र से किया जाता था। पर जो पण्य विदेशों से आया हो, उसे अनेक स्थानों से बेचा जा सकता था।[२] राजकीय पण्य को एक केन्द्र से बेचने का यह अभिप्राय नहीं था, कि उसकी बिक्री केवल एक स्थान से ही की जा सके। राजकीय पण्य को वैदेहक (व्यापारी) भी बेच सकते थे, पर राज्य द्वारा निर्धारित कीमत पर ही। वैदेहकों द्वारा राजकीय पण्य के विक्रय के कारण राज्य को जो क्षति पहुँचती थी, उसकी क्षतिपूर्ति उन्हें करनी पड़ती थी।[३] जिस पण्य की व्यापक माँग हो, उसके विक्रय के लिये काल (समय) को कम नहीं किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है, कि इस प्रकार के पण्य में संकुल दोष (केन्द्रीकरण के कारण उत्पन्न दोष) न आने दिये जाएँ।[४]

राजकीय पण्य के विक्रय के लिये पण्याध्यक्ष के अधीन बहुत-से राजकर्मचारी होते थे, जिन्हें 'पण्याधिष्ठाता' कहते थे। इनके लिये यह आवश्यक था, कि विक्रय से प्राप्त धन को एक ऐसी काठ की बनी संदूकड़ी में डालते जाएँ, जिसमें केवल एक छिद्र हो और जो एक स्थान पर रखी हुई हो। दिन के आठवें भाग में इस धन को पण्याध्यक्ष के सुपुर्द कर दिया जाता था, और साथ ही बिना बिका पण्य भी। तुला और तोलने के बाट और मापने के माप भी वापस लौटा दिये जाते थे।[५] निस्सन्देह, राजकीय पण्य के विक्रय से भी राज्य को अच्छी आमदनी होती थी।

व्यापार-साधनों से नौका, गाड़ी, जहाज़ आदि ढुलाई के साधन अभिप्रेत हैं। स्थल-मार्ग से व्यापार के लिये आने-जाने वाले सार्थ (काफिले) अपनी ही गाड़ियों या पशु आदि पर माल ले जाया करते थे। पर जल-मार्गों से माल ढोने वाली नौकाओं और जहाजों की व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती थी। इसके लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे नावध्यक्ष कहते थे। यह समुद्र, नदीमुख (नदियों के मुहाने), झील, नदी आदि में माल की ढुलाई

---

१. 'यच्च पण्यं प्रचुरं स्यात्तदेकीकृत्यार्घमारोपयेत्। प्राप्तेऽर्घेवाऽर्घान्तरं कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।१६

२. 'स्वभूमिजानां राजपण्यानामेकमुखं व्यवहारं स्थापयेत्। पर भूमिजानामनेकमुखम्।' कौ. अर्थ. २।१६

३. 'बहुमुखं व राजपण्यं वैदेहकाः कृतार्घं विक्रीणीरन्। छेदानुरूपं च वैधरणं दद्युः।' कौ. अर्थ. २।१६

४. 'अजस्रपण्यानां कालोपरोधं सङ्कुलदोषं वा नोत्पादयेत्।' कौ. अर्थ. २।१६

५. 'पण्याधिष्ठातारः पण्यमूल्यमेकमुखं काष्ठद्रोण्यामेकच्छिद्रापिधानायां निदध्युः अह्नश्चाष्टमे भागे पण्याध्यक्षस्यार्पयेयुः। 'इदं विक्रीतमिदं शेषमिति।' तुलामान-भाण्डकं चार्पयेयुः।' कौ. अर्थ. २।१६

और यात्रा के लिये नौकाओं की व्यवस्था करता था।[1] नावध्यक्ष द्वारा जो राजकीय आमदनी प्राप्त की जाती थी, वह अनेक प्रकार की थी--(१) समुद्र-तट और नदी-तट पर स्थित ग्रामों से 'कूलृप्त' या निर्धारित कर वसूल करना। (२) मछियारे जो मछली पकड़ें, उसका छठा भाग प्राप्त करना। (३) वणिकों से बन्दरगाह पर शुल्क ग्रहण करना। (४) जो लोग राजकीय नौकाओं से यात्रा करें, उनसे यात्रा-वेतन (यात्रा का भाड़ा) वसूल करना। (५) समुद्र से शंख, मुक्ता आदि निकालने के लिये जो लोग राजकीय नौकाओं का प्रयोग करें, उनसे उनका भाड़ा लेना। (६) जो जहाज किसी बन्दरगाह पर आकर रुकें, उनसे शुल्क वसूल करना। (७) नियमों का उल्लंघन करने पर अनेकविध जुरमाने वसूल करना।[2] (८) नदी पार करने के लिये पुलों और नौकाओं का प्रयोग करने पर महसूल प्राप्त करना, जिसकी मात्रा बोझ लिये हुए मनुष्य के लिये १ मापक, भार से लदे हुए छोटे पशु के लिये १ माषक, बैल गौ और घोड़े के लिये २ मापक, ऊँट और भैंस के लिये ४ मापक, छोटी गाड़ी के लिये ५ माषक, बैलगाड़ी के लिये ६ मापक, शकट के लिये ७ मापक, और पण्य से लदी हुई गाड़ी के लिये चौथाई पण निर्धारित थी। बड़ी नदियों के पार उतरने के लिये इस महसूल की मात्रा दुगनी ली जाती थी।[3]

गाय, बैल, भैंस, हाथी आदि के पालन और संवर्धनका कार्य भी राज्य की ओर से किया जाता था, जिस के लिये गोऽध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष आदि राजकर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। राज्य की आमदनी के ये भी महत्त्वपूर्ण साधन थे।

जुरमानों से आय--मौर्य युग में अनेक अपराधों के लिये दण्ड के रूप में जुरमानों की व्यवस्था थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस बात का विशद रूपसे निरूपण किया गया है, कि किस अपराध के लिये कितना जुरमाना किया जाए। इस ग्रन्थ में प्रसंगवश अनेक जुरमानों का उल्लेख ऊपर किया भी जा चुका है। हाथ, पैर काट डालने सदृश कठोर शारीरिक दण्ड को भी जुरमानों के रूप में परिवर्तित कराया जा सकता था। अतः यह अनुमान किया

---

१. 'नावध्यक्षस्समुद्रसंयाननदीमुखतरप्रचारान् देवसरो विसरोनदीतरांश्च स्थानीयादिष्ववेक्षेत।' कौ. अर्थ. २।१८

२. 'तद्वेलाकूलग्रामाः कूलृप्तं दद्युः। मत्स्यबन्धका नौकहाटकं षड्भागं दद्युः। पत्तनानुवृत्तं शुल्क भागं वणिजो दद्युः। यात्रावेतनं राजनौभिस्सम्पतन्तः। शंखमुक्ताग्राहिणो नौहाटकान् दद्युः। पत्तनाध्यक्षनिबन्धं पण्यपत्तनचारित्रं च नावध्यक्षः पालयेत्। संयातीर्नावः क्षेत्रानुगताः शुल्कं याचेत।' कौ. अर्थ .२।१८

३. 'क्षुद्रपशुर्मनुष्यश्च सभारो माषकं दद्यात्। शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ। उष्ट्रमहिषं चतुरः। पञ्च लघुयानम्। षट् गोलिङ्गम्। सप्त शकटम्। पण्यभारः पादम्। द्विगुणो महानदीसु तरः।' कौ. अर्थ. २।१८

जा सकता है, कि मौर्ययुग में जुरमाने भी राजकीय आय के एक महत्त्वपूर्ण साधन थे। इस आमदनी की मात्रा अपराधों के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी।

आपत्काल में सम्पत्ति पर विविध प्रकार के कर--किसी प्राकृतिक या मनुष्यकृत आकस्मिक विपत्ति के उपस्थित हो जाने की दशा में राज्य अनेकविध उपायों से धन सञ्चय करने का प्रयत्न करता था। जब कोश की कमी हो जाए, अर्थकृच्छ्रता (अर्थ संकट) उपस्थित हो जाए, तब राजा जनता से विशिष्ट धन की माँग कर सकता था। जनपद चाहे विशाल हो या छोटा, चाहे वहाँ की भूमि देवमातृका (सिंचाई के लिये केवल वर्षा पर निर्भर) हो, पर यदि वहाँ अन्न प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होता हो, तो राजा उत्पादन के तृतीय या चतुर्थ अंश की याचना करे।[1] ऐसे अवसर पर यदि कोई अपने धान्य को छिपाने का प्रयत्न करे, तो, उस पर (छिपाये हुए अन्न का) आठ गुना जुरमाना किया जाए।[2] संकट-काल में केवल कृषकों पर ही विशिष्ट कर नहीं लगाया जाता था, अपितु व्यापारियों से भी विशेष कर वसूल किया जाता था। सुवर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, प्रवाल, अश्व और हाथी सदृश बहुमूल्य पण के विक्रेताओं से २ प्रतिशत; सूत, वस्त्र, ताम्र, पीतल, सुगन्धि, भैषज्य, और शराब के विक्रेताओं से २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत; धान्य, रस (द्रव पदार्थ) और लौह बेचने वालों तथा शकट (गाड़ी) का व्यवहार करने वालों से ३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत; काँच के व्यापारियों और महा-कारुओं (बड़े कारीगरों) से ५ प्रतिशत; क्षुद्र कारुओं (छोटे कारीगरों) और वेश्यावृत्ति कराने वालों से १० प्रतिशत; काष्ठ, वेणु, पाषाण, मिट्टी के बरतन, पक्वान्न और शाक सब्जी बेचने वालों से २० प्रतिशत; और कुशीलवों तथा रूपाजीवाओं से ५० प्रतिशत विशिष्ट कर लेने की व्यवस्था थी।[3] पशुपालकों पर भी विपत्ति काल में विशेष कर लगाया जाता था, जिसकी दर मुरगी और सुअर पालने वालों से ५० प्रतिशत, छोटे पशु (भेड़, बकरी आदि) पालनेवालों से १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत और गाय भैंस खच्चर गधे तथा ऊँट पालने-वालों से १० प्रतिशत होती थी।[4] पर ये अतिरिक्त कर केवल एक बार ही लिये जा सकते

---

१. 'कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रः संगृह्णीयात् । जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देव-मातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत।' कौ. अर्थ. ५।२

२. 'स्वसस्यापहारिणः प्रतिपात्रोऽष्टगुणः।' कौ. अर्थ. ५।२

३. 'सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालाश्वहस्तिपण्याः पञ्चाशत्कराः । सूत्रवस्त्रताम्र-वृत्तकंसगन्धभैषज्यसीधुपण्याश्चत्वारिंशत्कराः। धान्यरसलोहपण्याः शकट व्यव-हारिणश्च त्रिंशत्कराः। काचव्यवहारिणो महाकारवश्च विंशति कराः। क्षुद्रकार-वो वर्धकिपोषकाश्च दशकराः। काष्ठवेणुपाषाणमृद्भाण्डपक्वान्नहरितपण्याः पञ्चकराः। कुशीलवा रूपाजीवाश्च वेतनार्धं दद्युः।' कौ. अर्थ. ५।२

४. 'कुक्कुटसूकरमर्धं दद्यात् । क्षुद्रपशवष्षड्भागम् । गोमहिषाश्वतरखरोष्ट्राश्च दशभागम्।' कौ. अर्थ. ५:।२

थे, दो बार नहीं।[1] पर राजकोश की पूर्ति के लिये या अर्थसंकट के निवारण के लिये केवल विशिष्ट करों को ही पर्याप्त नहीं समझा जाता था। पौर जानपदों से विशिष्ट कार्य या प्रयोजन बताकर धन प्रदान के लिये भिक्षा भी माँगी जाती थी, (चन्दा एकत्र किया जाता था)[2] सबसे पूर्व राजा के विश्वस्त या राजा से मिले हुए व्यक्ति बड़ी मात्रा में धन प्रदान करते थे, फिर उनका उदाहरण अन्य लोगों के सम्मुख रख कर उन्हें भी धन प्रदान के लिये प्रेरित किया जाता था। कापटिक (कपट भेस बनाये हुए) गुप्तचर नागरिक के रूप में अपने को प्रस्तुत कर उन व्यक्तियों की भर्त्सना करते थे जिन्होंने धन की स्वल्प राशि प्रदान की हो।[3] सम्पन्न लोगों से यह कहा जाता था, कि वे अधिक से अधिक हिरण्य राजा को प्रदान करें। जो कोई स्वेच्छापूर्वक राज्यकोश में धन प्रदान करें, उन्हें स्थान (राजदरबार में ऊँचा स्थान या ऊँचा पद), छत्र, वेष्टन (सम्मानसूचक पगड़ी या पोशाक) और विभूषा (पदक आदि) देकर उनका सम्मान किया जाता था।[4] पर कतिपय दशाओं में ये सब उपाय भी राज्य के अर्थसंकट का निवारण करने के लिये पर्याप्त नहीं होते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में कतिपय ऐसे उपायों का भी प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें सामान्य दशा में कभी समुचित नहीं माना जा सकता। ऐसे कुछ उपाय निम्नलिखित हैं—दुर्ग (पुर) और राष्ट्र (जनपद) के देवताओं (देवमन्दिरों) की सम्पत्ति को देवताध्यक्ष द्वारा एक स्थान पर एकत्र करा के उसे राजकोश के लिये ले लेना,[5] पाषण्डों (धार्मिक सम्प्रदायों) और संघों (भिक्षुसंघ) के द्रव्य को प्राप्त कर लेना,[6] अनेक प्रकार से जनता के अन्धविश्वासों से लाभ उठाकर धन ग्रहण करना, और वैदेहक (व्यापारी) का भेष बनाकर किसी गुप्तचर द्वारा लोगों से ऋण आदि के रूप में प्रभूत धन ग्रहण कर लेना और फिर यह घोषित कर देना कि रात के समय यह सब धन लूट लिया गया है।[7]

संकट काल में इस प्रकार के अनेकविध उपायों से कोश की वृद्धि का प्रयत्न किया जाता था।

---

१. 'सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः।' कौ. अर्थ. ५।२

२. 'तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत।' कौ. अर्थ. ५।२

३. 'योगपुरुषाश्च पूर्वमतिमात्रं दद्युः। एतेन प्रदेशेन राजा पौरजानपदान् भिक्षेत। कापटिकाश्चैनानल्पं प्रयच्छतः कुत्सयेयुः। कौ. अर्थ. ५।२

४. 'यथोपकारं वा स्ववशा वा यदुपहरेयुस्थानछत्रवेष्टनविभूषाश्चैषां हिरण्येन प्रयच्छेत्। कौ. अर्थ. ५।२

५. 'देवताध्यक्षो दुर्गराष्ट्रदेवतानां यथास्वमेकस्थं कोशं कुर्यात्। तथैव चाहरेत्।' कौ. अर्थ. ५।२

६. 'पाषण्डसंघद्रव्यमश्रोत्रियभोग्यं देवद्रव्यं वा कृत्यकराः' • •इत्युपहरेयुः।' कौ. अर्थ .५।२

७. कौ. अर्थ. ५।२

राजकीय आय के अन्य विविध साधन--राजकीय आय के अन्य भी अनेक साधन थे। मुद्रा पद्धति का सञ्चालन राज्य द्वारा किया जाता था। रूप्य, पण, मापक आदि अनेकविध सिक्कों को ढालने के लिये टकसाल की व्यवस्था थी, जो 'लक्षणाध्यक्ष' के अधीन होती थी। सिक्के दो प्रकार के होते थे, कोशप्रवेश्य (Legal Tendor) और व्यावहारिक (Token Money)। प्रमुख सिक्का पण था, जिसे रूप्य-रूपक भी कहते थे। यह चाँदी का बना होता था, पर चाँदी के अतिरिक्त इसमें चार भाग ताम्बा और सोलहवाँ भाग त्रपु व सीसे जैसी घटिया धातुओं का भी रहता था।[१] पण के अतिरिक्त अर्धपण, पाद पण, अष्टभाग-पण भी बनाये जाते थे। पण कोशप्रवेश्य सिक्का था। व्यावहारिक सिक्के मापक, अर्धमापक, काकणी और अर्धकाकणी होते थे, जो ताम्बे के बने होते थे। टकसाल सब के लिये खुली हुई थी, जो चाहे धातु ले जाकर सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिये १३$\frac{१}{८}$ प्रतिशत प्रीमियम देना पड़ता था, जिसमें से ८ प्रतिशत रूपिक, ५ प्रतिशत व्याजी, और $\frac{१}{८}$ प्रतिशत पारीक्षिक होता था। जो कोई सरकारी टकसाल से सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाए, उस पर २५ पण जुरमाना किया जाता था।[२] निःसन्देह, मुद्रापद्धति का सञ्चालन व नियन्त्रण भी राजकीय आय के महत्त्वपूर्ण साधन थे।

निर्बल, विकलांग, रोगी, वृद्ध आदि का राज्य न केवल भरण-पोषण करता था, अपितु उनसे अनेकविध ऐसे कार्य भी लेता था, जिन्हें वे सुगमता से कर सकें। जो स्त्रियाँ घर से न निकलती हों, जिनके पति विदेश गये हुए हों, जो विकलाङ्ग हों, जो नाबालिग कन्याएँ हों, इन सबके कार्य करने के लिये विवश होने पर इन्हें राज्य की ओर से काम दिया जाता था। इसके लिये इन्हें राज्य द्वारा संचालित कर्मान्तों में आने की आवश्यकता नहीं होती थी। सूत्राध्यक्ष अपनी दासियों (नौकरानियों) द्वारा सूत कातने आदि का काम कराके इनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता था।[३] विधवा, विकलाङ्ग स्त्रियाँ, कन्याएँ, प्रव्रजिता (भीख माँगनेवाली या भिक्षुणियाँ), दण्ड के बदले में काम करना स्वीकार कर लेने वाली स्त्रियाँ, रूपाजीवाओं की माताएँ, वृद्ध राजदासियां और देवदासियाँ भी सूत कातने सदृश कार्यों से अपना निर्वाह करती थीं, जिसकी व्यवस्था सूत्राध्यक्ष द्वारा की जाती थी।[४] ऐसा

१. 'लक्षणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१२

२. 'रूपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकीं कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत्--रूपिकमष्टकं शतं च, पञ्चकं शतं व्याजीं, पारीक्षिकमष्टभागिकं शतं, पञ्चविंशपणमत्ययं च।' कौ. अर्थ. २।१२

३. 'याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषितविधवा न्यङ्गा कन्यका वाऽऽत्मानं विभृयुस्ताः स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः।' कौ. अर्थ. २।२३

४. 'विधवान्यङ्गाकन्या प्रव्रजितादण्डाप्रतिकारिणीभी रूपाजीवामातृकाभिर्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत्।' कौ. अर्थ. २।२३

प्रतीत होता है, कि मौर्य काल में निर्धन-गृहों (Poor Houses) की भी सत्ता थी, जहाँ कार्य करके निर्धन व अशक्त व्यक्ति अपना निर्वाह कर सकते थे। राज्य को भी इनसे कुछ आमदनी हो जाती थी।

सम्पत्ति की जब्ती से भी राज्य आमदनी प्राप्त करता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक ऐसी परिस्थितियों का निरूपण किया गया हैं, जिनमें राज्य सम्पत्ति को जब्त कर लेता था।

(६) राजकीय व्यय

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय व्यय को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया गया है—(१) देवपूजा—श्रोत्रिय, आचार्य आदि विद्वानों की आजीविका के लिये किया जाने वाला व्यय, (२) पितृपूजा—राज्य के पुराने सेवकों और वृद्धों आदि के भरण-पोषण के लिये किया जाने वाला व्यय, (३) दान, (४) स्वस्तिवाचन–धार्मिक कृत्यों में मन्त्र पाठ आदि पर होने वाला व्यय, (५) अन्तःपुर, (६) महानस–राजकीय महानस पर होने वाला व्यय, (७) दूतप्रावर्तिमम्–विदेशों में भेजे गये राजदूतों पर व्यय, (८) कोष्ठागार, (९) आयुधागार, (१०) पण्यगृह, (११) कुप्यगृह, (१२) कर्मान्त–कारखाने, (१३) विष्टि–बेगार लेने पर बेगारी व्यक्तियों पर किया जाने वाला व्यय, (१४) पत्ति–पदाति सेना, (१५) अश्वपरिग्रह–घुड़सवार सेना, (१६) द्विपपरिग्रह–हस्ति-सेना, (१७) गोमण्डल–सेना के माल को ढोने के प्रयोजन से बैलों आदि पर किया जाने वाला व्यय, (१८) पशुवाट–पशुओं के अजायबघर, (१९) पक्षिवाट–पक्षियों के अजायबघर, (२०) व्यालवाट–साँपों के अजायबघर, (२१) काष्ठवाट–काष्ठ का संग्रह, (२२) तृणवाट–तृण का भण्डार। कौटल्य ने इन सबको 'व्यय शरीर' की संज्ञा दी है।[1]

मौर्य युग के राजकीय व्यय का निरूपण करते हुए यह अधिक अच्छा होगा कि इस व्यय-शरीर का उपयोग न कर सुविधा की दृष्टि से व्यय के अन्य वर्गों का आश्रय लिया जाए।

राजकर्मचारियों के वेतन—राजकीय व्यय का बड़ा भाग स्वाभाविक रूप से राजकर्मचारियों के वेतनों पर खर्च होता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकर्मचारियों के जो वेतन दिये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

ऋत्विक्, आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, राजमहिषी (पटरानी)–इन्हें ४८ हजार पण वार्षिक वेतन की व्यवस्था थी। कौटल्य ने लिखा है कि इतना

---

१. **'देवपितृपूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमन्तःपुरमहानसं दूतप्रावर्तिमं कोष्ठागारामायुधागारं पण्यगृहं कुप्यगृहं कर्मान्तो विष्टिः पत्त्यश्वरथद्विपपरिग्रहो गोमण्डलं पशुमृगपक्षिव्यालवाटाः काष्ठतृणवाटाश्चेति व्ययशरीरम्।' कौ. अर्थ. २।६**

वेतन प्राप्त करने पर न ये लोभ के वशीभूत होंगे और न कुपित ही हो पायेंगे।[१]

दौवारिक, आन्तर्वंशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता और सन्निधाता के लिये वेतन की दर २४ हजार पण वार्षिक थी। कौटल्य के अनुसार इतना वेतन प्राप्त कर इनसे 'कर्मण्य' होने की आशा की जा सकती है।[२]

कुमार, कुमारमाता, नायक, पौर, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, राष्ट्रपाल और अन्तपाल के लिये १२ हजार पण वार्षिक वेतन की व्यवस्था थी। कौटल्य के अनुसार इस दर से वेतन प्राप्त कर ये राजा के प्रति अनुरक्त और उसके प्रबल सहायक हो सकते हैं।[३]

श्रेणीमुख्य, हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य और प्रदेष्टाओं के लिये ८ हजार पण वार्षिक वेतन निर्धारित था। कौटल्य के अनुसार इस वेतन द्वारा अपने-अपने वर्ग में ये पर्याप्त आनुकूल्य प्राप्त कर सकते हैं।[४]

पत्त्यध्यक्ष (पदाति सेना का अध्यक्ष), अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, द्रव्यपाल, हस्तिपाल और वनपाल के लिये ४ हजार पण वार्षिक वेतन नियत था।

रथिकों (युद्ध के काम में आने वाले रथों का सञ्चालन करने वालों), अनीक चिकित्सकों (सेना के चिकित्सकों), अश्वदमकों (घोड़ों का प्रशिक्षण करने वालों), वर्धकि (बढ़ई) और योनिपोषकों (पशुओं को पालने और प्रशिक्षित करने वालों) के लिये २ हजार पण वार्षिक वेतन नियत था।

कार्तान्तिकों (ज्योतिषियों), नैमित्तिकों (शुभ अशुभ फल बताने वालों), मौहूर्तिकों (मुहूर्त बताने वालों), पौराणिकों (पुराणवृत्त बताने वालों), सूतों (पुरातन अनुश्रुति के प्रवचकों), मागधों (पुरातन गीतों को कहने वालों), और पुरोहित-पुरुषों (पुरोहित के अधीन कार्य करने वाले व्यक्तियों) और अन्य सब अध्यक्षों (अध्यक्ष-पद पर नियुक्त राज-कर्मचारियों) के वार्षिक वेतन की दर १००० पण थी।

---

१. 'ऋत्विगाचार्य मन्त्रिपुरोहितसेनापति युवराजराजमातृराजमहिष्योऽष्टचत्वारिंशत्साहस्राः। एतावता भरणेनानास्वद्यत्वमकोपकं चैषां भवति।' कौ. अर्थ. ५।३

२. 'दौवारिकान्तर्वंशिक प्रशास्तृ समाहर्तृ सन्निधातारश्चतुर्विंशतिसाहस्राः। एतावता कर्मण्या भवन्ति।' कौ. अर्थ. ५।३

३. 'कुमारकुमारमातृनायकाः पौरव्यावहारिककार्मान्तिकमन्त्रिपरिषद्राष्ट्रान्तपालाश्च द्वादशसाहस्राः। स्वामिपरिबन्धबलसहाया ह्येतावता भवन्ति।' कौ. अर्थ. ५।३

४. 'श्रेणीमुख्या हस्त्यश्वरथमुख्याः प्रदेष्टारश्च अष्टसाहस्राः। स्ववर्गानुकर्षिणो ह्येतावता भवन्ति।' कौ. अर्थ. ५।३

शिल्पवन्त (प्रशिक्षित) पदाति-सैनिकों, संख्यायकों (हिसाव रखने वालों), और लेखकों आदि को ५०० पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। यही वेतन तूर्यकरों (तुरही बजाने वालों) का भी था। कुशीलवों के वेतन की दर २५० पण वार्षिक और कारुओं तथा शिल्पियों के वेतन की दर १२० पण वार्षिक थी। चतुष्पदों (चौपाओं) और द्विपदों (दोपाओं) के परिचारकों, पारिकर्मिकों (विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले कर्मकरों), उपस्थायिकों (राजकीय पुरुषों के साथ रहने वाले अर्दलियों), पालकों (सेवकों) और विष्टिवन्धकों (वेगारियों को जुटाने वालों) को ६० पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। कार्ययुक्तों (विभिन्न कार्यों में नियुक्त किये गये व्यक्तियों), आरोहकों (हाथी चलाने वाले पीलवानों), शैलखनकों (पहाड़ खोदने या काटने वालों) और सब प्रकार के उपस्थायियों (राजपुरुषों के सहायकों) के वेतन की दर ५०० से १००० पण वार्षिक तक थी। आचार्यों और विद्वानों को भी इसी दर से पूजा वेतन (Honorarium) दिया जाता था। कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस आदि के भेस में काम करने वाले गुप्तचरों को १००० पण वार्षिक देने का विधान था। जो गुप्तचर ग्रामभृतक, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी के रूप में कार्य कर रहे हों, उनका वेतन ५०० पण वार्षिक था। गुप्तचरों के सन्देशों को यथास्थान पहुँचाने वाले व्यक्तियों को ३०० पण वार्षिक दिये जाते थे, यद्यपि कार्य के अनुसार उनका पारिश्रमिक इससे अधिक भी हो सकता था।

राज्य के विविध राजकर्मचारियों के लिये जो वेतन नियत थे, उनके अतिरिक्त भी कतिपय सुविधाएँ उन्हें प्रदान की जाती थीं। यदि किसी राजकर्मचारी की मृत्यु राजकीय सेवा करते हुए हो जाए, तो उसकी पत्नी और सन्तान के भरण-पोषण के लिये वेतन दिया जाता रहता था। साथ ही, उसके ऐसे पारिवारिक जनों के प्रति भी अनुग्रह प्रदर्शित किया जाता था, जो वाल, वृद्ध या रोगी हों। यदि किसी राजकर्मचारी के परिवार में कोई मृत्यु हो जाए, कोई बीमार पड़ जाए, या सन्तान उत्पन्न हो, तो ऐसे अवसरों पर भी राज्य की ओर से उसे आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी।[१]

यदि राजकीय कोश में मुद्राओं की कमी हो, तो यह आवश्यक नहीं था कि राजकर्मचारियों को निर्धारित दर से वेतन दिया ही जाए। उस दशा में राज्य को अधिकार था कि वह अपने कर्मचारियों को मुद्राएँ कम दे सके, पर कुप्य (जंगल में उत्पन्न होने वाले द्रव्य), पशु और क्षेत्र आदि प्रदान कर मुद्राओं की कमी की क्षतिपूर्ति कर सके।[२]

राजकर्मचारी अपने-अपने कार्यों का सम्पादन सुचारु रूप से करते रहें, इस प्रयोजन

---

१. 'कर्मसु मृतानां पुत्रदारा भक्तवेतनं लभेरन्। बालवृद्धव्याधिताश्चैषामनुग्राह्याः। प्रेतव्याधितसूतिकाकृत्येषु चैषामर्थमानकर्म कुर्यात्।' कौ. अर्थ. ५।३

२. 'अल्पकोशः कुप्यपशु क्षेत्राणि दद्यात्, अल्पं च हिरण्यम्।' कौ. अर्थ. ५।३

से यह व्यवस्था भी की गई थी कि योग्यता और कार्य के अनुसार उन्हें विशेष वेतन व भत्ते भी दिये जा सकें।[1]

जब किसी दूत को कोई विशेष कार्य देकर कहीं बाहर भेजा जाता था, तो उसे १० पण प्रति योजन के हिसाब से पारिश्रमिक प्रदान किया जाता था। यदि उसे १० योजन से १०० योजन तक की यात्रा पर जाना हो, तो इस पारिश्रमिक की मात्रा दुगनी हो जाती थी।[2]

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकर्मचारियों और राज्य की सेवा में कार्य करनेवाले कारु, शिल्पी, कर्मकर आदि के वेतनों की जो दरें दी गई हैं, वे ४८ हजार से ६० पण वार्षिक तक हैं। इससे यह सूचित होता है, कि मौर्य युग में अधिकतम और न्यूनतम वेतनों में बहुत अधिक अन्तर था। जहाँ मन्त्री और सेनापति जैसे राजपुरुष ४००० पण प्रतिमास प्राप्त करते थे, वहाँ ऐसे भी बहुत-से कर्मचारी थे जिन्हें ५ पण मासिक पर ही संतोष करना पड़ता था। पर इस युग में वस्तुओं के मूल्य इतने कम थे, कि ५ पण मासिक प्राप्त करने वाला कर्मचारी भी अपना निर्वाह कर सकता था। काकणी और अर्ध-काकणी जैसे बहुत छोटे सिक्कों का प्रचलन जहाँ कीमतों के सस्ते होने का परिचायक है, वहाँ कौटलीय अर्थशास्त्र में एक अन्य भी ऐसा निर्देश विद्यमान है, जिससे जीवन-निर्वाह और वेतन के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है। ग्वालों, बगीचों के रखवालों और खेती के कर्मकरों (मजदूरों) के लिये सवा पण मासिक वेतन देने का विधान उल्लिखित है।[3] यदि खेती मजदूर सवा पण मासिक पर अपना निर्वाह कर सकता था, तो सबसे निम्न स्तर के सरकारी नौकरों के लिये ५ पण मासिक वेतन को कम नहीं समझा जा सकता। यद्यपि मौर्य युग में राजकर्मचारियों के वेतन प्रायः सिक्कों में ही दिये जाते थे, पर कौटल्य ने विविध अध्यक्षों, गोपों, अनीक-चिकित्सक आदि कर्मचारियों को भूमि प्रदान करने की भी व्यवस्था की है, यद्यपि इस भूमि को न वे बेच सकते थे और न रहन रख सकते थे।[5] राजकर्मचारियों को वेतन के अतिरिक्त भत्ता भी दिया जाता था। भत्ते की दर ६० पण वार्षिक वेतन वाले कर्मचारी के लिये एक आढक (वजन के अन्न) की थी।[6] आढक ३२०० माप के बराबर होता था। यदि माप को वर्तमान समय के मासे के तुल्य माना जाए, तो आढक तीन सेर के लगभग बैठता है।

---

१. 'एतेन भृतानां च विद्याकर्मभ्यां भक्तवेतन विशेषं च कुर्यात्।' कौ. अर्थ. ५।३

२. 'दशपणिको योजने दूतः मध्यमः, दशोत्तरे द्विगुणवेतनं आयोजनशतादिति।' कौ. अर्थ. ५।३

३. कौ. अर्थ. २।१२

४. 'षण्डवाटगोपालकदासकर्मकरेभ्यो यथापुरुषपरिवापं भक्तं कुर्यात्। सपादपणिकं मासं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।२८

५. कौ. अर्थ. २।१

६. 'षष्ठिवेतनस्याढकं कृत्वा हिरण्यानुरूपं भक्तं कुर्यात्।' कौ. अर्थ. ५।३

सैनिक व्यय—कौटलीय अर्थशास्त्र ने राजकीय व्यय को जिन वर्गों में विभक्त किया है उनकी कुल संख्या २२ है। इनमें से पाँच का सम्बन्ध सेना के साथ है। ये वर्ग निम्नलिखित हैं—आयुधागार, पत्ति, अश्वपरिग्रह, द्विपपरिग्रह और गोमण्डल। इससे स्पष्ट है कि मौर्य-युग में राजकीय आमदनी का बड़ा भाग सेना पर खर्च किया जाता था। शासन के अठारह प्रधान अधिकरणों में सेनापति, नायक, दण्डपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल, आन्तर्वंशिक और आटविक के अधिकरणों का सम्बन्ध भी सेना के ही साथ था। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में सैनिकों की कुल संख्या कितनी थी, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। पर ग्रीक लेखकों के आधार पर श्री. वी. ए. स्मिथ ने यह प्रतिपादित किया है, कि चन्द्रगुप्त की सेना में ६,००,००० पदाति, ३०,००० अश्वारोही, ९,००० हाथी और ८,००० रथ थे।[1] यदि इस संख्या को सही मान लिया जाए, तो इनके वेतनों पर खर्च होने वाली धनराशि का अनुमान किया जा सकता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रशिक्षित (शिल्पवन्त) पदाति का वेतन ५०० पण वार्षिक, रथिक या रथारोही का वेतन २००० पण वार्षिक और आरोहक (हाथी व घोड़े पर चढ़कर युद्ध करने वाले) का वेतन ५०० से १००० पण वार्षिक तक लिखा गया है। सुविधा के लिये आरोहक के वेतन को हम ७५० पण वार्षिक मान सकते हैं। इस हिसाब से विविध प्रकार के सैनिकों पर व्यय की जानेवाली धनराशि का अनुमान निम्नलिखित है—

पदाति सैनिक	६,००,००० × ५०० =	३०,००,००,००० पण वार्षिक
अश्वारोहक सैनिक	३०,००० × ७५० =	२,२५,००,००० पण वार्षिक
गजारोहक सैनिक	९,००० × ७५० =	६७,५०,००० पण वार्षिक
रथिक सैनिक	८,००० × १००० =	८०,००,००० पण वार्षिक
		३३,७२,५०,००० पण वार्षिक

साधारण सैनिकों के अतिरिक्त सेना के विभिन्न पदाधिकारियों के वेतन भी कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं। सेनापति का वेतन ४८ हजार पण वार्षिक था, आन्तर्वंशिक का २४ हजार पण वार्षिक, नायक का १२ हजार पण वार्षिक, अन्तपाल का १२ हजार पण वार्षिक, हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य और रथमुख्य का ८ हजार पण वार्षिक, पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष और हस्तिपाल का ४ हजार पण वार्षिक वेतन निर्धारित था। इन विभिन्न सैनिक पदाधिकारियों की संख्या कितनी थी, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर इन सबके वेतनों को मिलाकर सेना के वेतनों पर खर्च होनेवाली धनराशि ४० करोड़ वार्षिक के लगभग अवश्य होती होगी, यह अनुमान सुगमता से किया जा सकता है। वेतनों के अतिरिक्त आयुधों (हथियारों), रथों, घोड़ों, हाथियों और सामान ढोने वाली गाड़ियों पर भी बहुत खर्च होता ही होगा।

१. Smith V. A.—Early History of India. pp. 131—132.

राजा का व्यक्तिगत व्यय—विशाल मौर्य साम्राज्य में राजा की स्थिति 'कूटस्थानीय' थी। उसका प्रासाद अत्यन्त विशाल था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजधानी के नौवें भाग पर राजकीय अन्तःपुर होना चाहिये।[1] पाटलिपुत्रजैसीविशाल नगरी के कुल क्षेत्रफल के नौवें भाग पर जो अन्तःपुर विद्यमान हो, वह कितना विशाल होगा इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि राजकीय आमदनी का वहुत वड़ा अंश राजा और उसके प्रासाद पर व्यय होता था। इसीलिये कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित २२ 'व्ययशरीरों' में से दो (अन्तःपुर और महानस) का सम्बन्ध राजा के व्यक्तिगत खर्चों से है। राजप्रासाद और अन्तःपुर की रक्षा का मौर्य युग में बहुत अधिक महत्त्व था। आन्तर्वंशिक के अधीन वहाँ एक पृथक् सेना रहती थी, जो राजा, राजपुत्र आदि की रक्षा के लिये उत्तरदायी होती थी। बहुत-से गुप्तचर वहाँ नियुक्त रहते थे, जो सबकी गतिविधि पर निगाह रखते थे। राजा का महानस (रसोईघर) भी अत्यन्त विशालहोता था। इन सब पर राज्य का जो खर्च होता था, उसका अनुमान सुगमता से किया जा सकता है। राजा के अतिरिक्त राजपरिवार के अन्य व्यक्तियों पर भी राज्यकोश से भरपूर धन व्यय किया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में युवराज, राजमाता व राजमहिषी के लिये ४८ हजार पण और कुमार तथा कुमारमाता के लिये १२ हजार पण वेतन की व्यवस्था की गई है। राजकुल के इन व्यक्तियों को जहाँ इतना अधिक वेतन दिया जाता था, वहाँ साथ ही उनके प्रासादों, अन्तःपुरों आदि पर और उनकी सेवा में नियुक्त राजपुरुषों पर भी वहुत अधिक खर्च होता था।

शिक्षा पर व्यय—मौर्य युग की शिक्षापद्धति के सम्वन्ध में पर्याप्त निर्देश उपलब्ध नहीं हैं। पर इस काल में तक्षशिला जैसे विद्या-केन्द्र विद्यमान थे, जिनमें हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। आचार्य चाणक्य तक्षशिला में ही अध्यापन का कार्य करते थे, और वहीं पर चन्द्रगुप्त मौर्य से उनकी भेंट हुई थी। पर सामान्यतया शिक्षा का कार्य उन आचार्यों और श्रोत्रियों के अधीन था, जिनके निर्वाह के लिये राज्य की ओर से भूमि प्रदान कर दी जाती थी। इस भूमि को 'ब्रह्मदेय' कहा जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रियों को ऐसी ब्रह्मदेय भूमि प्रदान कर दी जाए, 'अभिरूप' आमदनी जिससे प्राप्त होती हो, और उससे कोई राजकीय कर न लिया जाए।[2] इस भूमि की सब आय अध्यापक वर्ग के जीवन निर्वाह के काम आती थी। इस ब्रह्मदेय भूमि के कारण आचार्य, श्रोत्रिय आदि आजीविका की समस्या से निश्चिन्त होकर अध्ययन-अध्यापन में व्यापृत रह सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय शिक्षणालय ऐसे भी थे, जिनके

१. 'चातुर्वर्ण्यसमाजीवे वास्तु हृदयादुत्तरे नवभागे यथोक्तविधानमन्तःपुरं प्राङमुखमुदङमुखं वा कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३

२. कौ. अर्थ. २।१

शिक्षकों को राज्य की ओर से वेतन प्रदान किया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इसे 'पूजावेतन' की संज्ञा दी गई है, और इसकी मात्रा के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि इसे यथायोग्य मात्रा में प्रदान किया जाया करे। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय व्यय के 'व्यय शरीर' का निरूपण करते हुए सबसे पूर्व 'देवपूजा' का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः, यह देवपूजा आचार्य, श्रोत्रिय आदि अध्यापक वर्ग को प्रदान किये जाने वाले पूजावेतन को ही सूचित करता है, जो निःसन्देह राजकीय व्यय का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता था।

सार्वजनिक हित के कार्य––मौर्य युग में राज्य की ओर से अनेकविध सार्वजनिक हित के कार्यों की भी व्यवस्था की जाती थी। इनमें सिंचाई का प्रबन्ध, राजमार्गों का निर्माण, प्राकृतिक विपत्तियों का निवारण और पेय जल की व्यवस्था प्रधान थे। सार्वजनिक हित के इन कार्यों के सम्बन्ध में हम एक पृथक् अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

दान––कौटल्य ने जिन व्यय-शरीरों का उल्लेख किया है, उनमें एक दान भी है। दान में कौन-कौन से व्यय अन्तर्गत थे, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, बाल, वृद्ध, व्याधि-पीड़ित और विपद्ग्रस्त व्यक्तियों के भरण-पोषण के लिये जो धनराशि राज्य की ओर से खर्च की जाती थी, उसे 'दान' कहा जाता था। कौटल्य के अनुसार बाल, वृद्ध, व्याधित (रोगी), व्यसनी (विपद्ग्रस्त) और अनाथों का भरण-पोषण करना राजा का कर्तव्य है।[1] यद्यपि इनसे सूत कातने आदि का कार्य भी लिया जाता था, जिससे राज्य को कुछ आमदनी प्राप्त हो जाती थी, पर वह पर्याप्त नहीं हो सकती थी। राज्य को अपनी आमदनी में से भी उनके पालन-पोषण के लिये खर्च करना होता था। इसी प्रकार असहाय गर्भवती स्त्रियों और उनकी सन्तान का भरण-पोषण भी राजा का कर्तव्य माना जाता था।[2] इन पर जो व्यय होता था, उसे भी 'दान' के अन्तर्गत समझा जा सकता है। पुण्य-स्थानों (देवमन्दिर, तीर्थस्थान आदि) के निर्माण में न केवल राजा सहायता करता था, अपितु उन्हें अपनी ओर से भी बनवाता था।[3] धर्मस्थानों के निर्माण में व्यय की गई धनराशि भी दान के अन्तर्गत थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर राजा द्वारा 'अनुग्रह किये जाने' का उल्लेख किया गया है। यह अनुग्रह न केवल राजकीय करों में कमी के रूप में किया जाता था, अपितु सेतु (बाँध) आदि सार्वजनिक हित के कार्यों में सहायता प्रदान करने के रूप में भी होता था।[4] यह सहायता भी एक प्रकार से 'दान' ही होती थी। कतिपय दशाओं

---

१. **'बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथांश्च राजा बिभृयात्।' कौ. अर्थ. २।१**

२. **'स्त्रियमप्रजातां प्रजातायाश्च पुत्रान्।' कौ. अर्थ. २।१**

३. **'पुण्यस्थानारामाणां च।' कौ. अर्थ. २।१**

४. **'सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा बध्नतां भूमिमार्गवृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।१**

में कृषकों को धान्य, पशु, हिरण्य आदि के रूप में आर्थिक सहायता भी दी जाती थी।[1] सार्वजनिक हित के कार्यों को सम्पादित करने वाले व्यक्तियों तथा समूहों को भी राज्य सहायता प्रदान करता था। कौटल्य ने लिखा है कि जो देश के लिये हितकर सेतु (बाँध) और मार्ग बनवाएँ और ग्राम की शोभा तथा रक्षा की व्यवस्था करें, राजा उनका प्रिय-हित सम्पादित करे।[2] राजा यह प्रियहित इसी रूप में सम्पादित कर सकता था कि उनकी अपनी ओर से भी सहायता करे। राजकीय सहायता केवल कृपकों को ही उपलब्ध नहीं थी, अपितु कारुओं और शिल्पियों को भी राजा द्वारा सहायता दी जाती थी। इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज़ का यह कथन उल्लेखनीय है--'यह शिल्पियों का वर्ग न केवल कर देने से ही मुक्त है, अपितु राज्यकोश से आर्थिक सहायता भी प्राप्त करता है।[3]'

सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के साधन--कौटल्य द्वारा उल्लिखित व्यय-शरीरों में पशुवाट, पक्षिवाट और व्याल-वाट को भी अन्तर्गत किया गया है। इनमें नानाविध पशुओं, पक्षियों, और सर्पों को एकत्र किया जाता था। जनता इन्हें देखकर न केवल अपना मनोरञ्जन कर सकती थी, अपितु इनसे उस के ज्ञान में भी वृद्धि होती थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में इन चिड़िया-घरों का बहुत अधिक महत्त्व था। कौटल्य ने 'सर्वा-तिथि मृग' (जहाँ सब प्रकार के पशु अतिथि रूप से निवास करते हों) और 'मृगवनों' के निर्माण का उल्लेख किया है।[4] ये मृगवन जनता के मनोरञ्जन के साधन थे। चिड़िया-घरों के अतिरिक्त राज्य की ओर से पुष्पवाट, फलवाट आदि की व्यवस्था भी की जाती थी,[5] और साथ ही आरामों (उद्यानों या पार्कों) की भी।[6] ये सब जनता के लिये बहुत उपयोगी होते थे।

कोष्ठागार आदि--कौटल्य ने जिन व्यय-शरीरों का निरूपण किया है, उनमें कोष्ठा-गार, पण्यगृह, कुप्यगृह, कर्मान्त और तृणवाट का भी उल्लेख है। इन सबका सम्बन्ध राज्य द्वारा सञ्चालित व्यापार और व्यवसायों के साथ है। ये जहाँ राजकीय आमदनी के महत्त्व-पूर्ण साधन थे, वहाँ पूंजी के रूप में राज्य द्वारा इन पर व्यय भी किया जाता था। कोष्ठागार और कुप्यगृह में ऐसे द्रव्य भी सञ्चित किये जाते थे, दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी सदृश प्राकृतिक

---

१. 'धान्यपशुहिरण्यैश्चैनानुगृह्णीयात्तान्यनुसुखेन दद्युः।' कौ. अर्थ. २।१

२. 'राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि संक्रमात्।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत्॥' कौ. अर्थ. ३।१०

३. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण पृ० ९

४. 'सर्वातिथिमृगं प्रत्यन्ते चान्यन्मृगवनं भूमिवशेन वा निवेशयेत्।' कौ. अर्थ. २।२

५. कौ. अर्थ. २।६

६. कौ. अर्थ. २।१

विपत्तियों के समय जिन्हें जनता के हित और भरण-पोषण के लिये व्यय किया जाता था। इसी कारण इन्हें व्यय-शरीर के अन्तर्गत किया गया है।

पितृपूजा––कौटल्य ने व्यय-शरीरों में जिस पितृपूजा को अन्तर्गत किया है, उसका अभिप्राय ऐसे व्यय से है, जो कि अवकाश-प्राप्त राजकीय कर्मचारियों के भरण-पोषण या पैंशिन पर किया जाता था। हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं, कि राजकीय कर्मचारी की मृत्यु यदि सेवाकाल में हो जाए, तो उसके परिवार का भरण-पोपण राज्य द्वारा किया जाता था, और उसे वेतन आदि भी दिया जाता था। पितृपूजा इसी को कहते थे। वृद्धजनों पर खर्च हुए धन को भी पितृपूजा कहा जा सकता है।

स्वस्तिवाचन––मौर्य युग में प्राकृतिक विपत्तियों का निराकरण करने के लिये अनेकविध अनुष्ठानों का भी प्रयोग किया जाता था। कौटल्य ने इन प्राकृतिक विपत्तियों को 'दैव-महाभयों' की संज्ञा दी है, और इनके आठ प्रकार वताये हैं––अग्नि (आग लगना), उदक (वाढ़ या अतिवृष्टि), व्याधि (महामारी), दुर्भिक्ष, मूषिका (चूहों का प्रकोप), व्याल (हिंस्र पशु), सर्प और रक्ष (अदृश्य शक्तियों से उत्पन्न भय)। इन दैवी महाभयों से जनपद की किस प्रकार रक्षा की जाए, इसके लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में जहाँ अनेकविध ऐसी व्यवस्थाएँ की गई हैं जिन्हें नियमों या कानूनों द्वारा सवके लिये मानना अनिवार्य था, वहाँ कतिपय धार्मिक अनुष्ठानों और औपनिषिदिक प्रयोगों का भी विधान किया गया है। वाढ़ से वचने के लिये पर्वों के अवसर पर नदियों की पूजा का विधान था, और अनावृष्टि के निवारण के लिये इन्द्र (शचीनाथ), गंगा, पर्वत और महाकच्छप की पूजा का। महामारी के फैलने पर सिद्ध तापस लोग व्याधि की शान्ति के लिये अनेक प्रकार के अनुष्ठान करते थे। इन अनुष्ठानों में श्मशान में गाय का दोहन और कबन्ध का दाह उल्लेखनीय हैं। चूहों का उत्पात होने पर उसकी शान्ति के लिये पर्वों पर मूषिकों की पूजा की जाती थी। इसी प्रकार अन्य दैवी महाभयों के निवारण के लिये अनेकविध अनुष्ठानों का प्रतिपादन अर्थशास्त्र में किया गया है। ये सव प्रयोग राज्य की ओर से कराये जाते थे, और इन पर हुए व्यय को ही सम्भवतः 'स्वस्तिवाचन' कहते थे।

दूतप्रावर्तिमम्––विदेशों में अपने दूत भेजने पर जो व्यय होता था, उसकी संज्ञा 'दूत-प्रावर्तिमम्' थी। मौर्य साम्राज्य का पड़ौस के अनेक राज्यों के साथ सम्वन्ध था। हिन्दूकुश पर्वतमाला के पश्चिम में जो अनेक यवन राज्य इस युग में विद्यमान थे, उनके राजदूत जहाँ पाटलिपुत्र में निवास करते थे, वहाँ मौर्यों के राजदूत भी इन पश्चिमी यवन राज्यों की राजधानियों में नियुक्त थे। राजा अशोक ने तो धर्ममहामात्र और स्त्री-महामात्र नाम के वहुत-से अमात्य धर्म विजय के प्रयोजन से भी विदेशों में नियुक्त किये थे। विदेशों में नियुक्त इन विविध अमात्यों पर स्वाभाविक रूप से राज्य को वहुत व्यय करना होता था। पड़ौस के राज्यों के प्रति किस नीति का अनुसरण किया जाए और विजिगीषु राजा किस प्रकार अपने 'मण्डल' का निर्माण करे, इसका वड़े विशद रूप से प्रतिपादन कौटल्य

ने अर्थशास्त्र में किया है। मौर्य युग की विदेशी राजनीति का विवेचन करते हुए हम इस विषय पर विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे। पर यह निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जाता है, कि विदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हुए मौर्य शासनतन्त्र को राजकीय आय का अच्छा बड़ा अंश व्यय करना होता था।

विष्टि (बेगार)--कौटल्य द्वारा प्रतिपादित 'व्यय-शरीर' में विष्टि भी अन्यतम है। जिन कर्मकरों, कारुओं या कृषक आदि से राजकीय कार्यों के लिये बेगार ली जाती थी, उन्हें भी पारिश्रमिक दिया जाता था। इसे भी राजकीय व्यय के अन्तर्गत किया गया है।

नवाँ अध्याय

सार्वजनिक हित के कार्य

(१) सिंचाई और जल-व्यवस्था

राजकीय व्यय का निरूपण करते हुए गत अध्याय में सार्वजनिक हित के कार्यों का भी उल्लेख किया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग के राजा सड़कों, नहरों, तालावों, वांधों, स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि पर भी राजकीय आमदनी का एक अंश खर्च किया करते थे। पर यह व्यय प्रधानतया सहायता के रूप में होता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में किसी ऐसे राजकीय अधिकरण (विभाग) का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया गया है, जिसका कार्य ही सार्वजनिक हित के इन विविध कार्यों का सम्पादन करना हो।

भारत को कृषि प्रधान देश कहा जाता है। मौर्य युग में भी भारत के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार खेती ही थी। पर उस काल के भारतीय कृषक खेतों की सिंचाई के लिये केवल वर्षा पर ही निर्भर नहीं रहते थे। सिंचाई के अन्य भी अनेक साधन तब भारत में विद्यमान थे। इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज के ये कथन उल्लेखनीय हैं—"कृषियोग्य भूमि का बड़ा भाग जल से सींचा जाता है। उसके लिये सिंचाई का समुचित प्रवन्ध है।" "कुछ (कर्मचारी) नदियों का निरीक्षण करते हैं। वे मिस्र की तरह भूमियों को नापते भी हैं। उन मार्गों पर विशेष रूप से दृष्टि रखते हैं, जिनमें जल बड़ी धारा से पृथक् हो छोटी नालियों में विभक्त होता है।"

मैगस्थनीज़ के इन कथनों की पुष्टि कौटलीय अर्थशास्त्र से भी होती है। उसमें अनेक ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है कि मौर्य युग के किसान नदी आदि के जल का भी सिंचाई के लिए प्रयोग करते थे। कौटल्य के अनुसार सस्य आदि अन्न का आधार सेतुबन्ध (बांध बांध कर बनाये गये सिंचाई के साधन) ही हैं। इस प्रकार सिंचाई वाले खेतों में वे सब लाभ प्राप्त हो जाते हैं, जो कि वर्षा से नित्य सिञ्चित खेतों में होते हैं।[1] कौटल्य ने सिंचाई के अनेक साधनों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं[2] :—

---

१. 'सेतुबन्धस्सस्यानां योनिः, नित्यानुषक्तो हि वर्षगुणलाभः सेतुवापेषु।' कौ. अर्थ. ७।१४

२. 'हस्तप्रावर्त्तिममुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्त्तिमं चतुर्थम्। स्रोतोयन्त्रप्रावर्त्तिमं च तृतीयम्। चतुर्थं नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्।' कौ. अर्थ. २।२४

(१) **हस्तप्रावर्तिमम्**—हाथ से पानी निकाल कर सिंचाई करना। हाथ से पानी निकालने के अनेक ढंग अब तक भी भारत में प्रचलित हैं। रस्सी और डोल द्वारा कुओं से पानी निकाला जाता है। गड्ढों में एकत्र हुए पानी को भी दो व्यक्ति मिलकर टोकरे आदि की सहायता से सिंचाई के लिये प्रयुक्त करते हैं। पशुओं और वातयन्त्र आदि को प्रयुक्त किये विना जब मनुष्य केवल अपने हाथों द्वारा पानी निकालें, तो उसे 'हस्तप्रावर्त्तिमम्' कहते थे। इस ढंग से जिन खेतों की सिंचाई की जाए, उनसे उदक-भाग की दर २० प्रतिशत थी।

(२) **स्कन्धप्रावर्तिमम्**—कन्धे का प्रयोग कर सिंचाई करना। चरस द्वारा जब कुओं से पानी निकाला जाता है, तो उसके लिये मनुष्यों या पशुओं के कन्धों का सहारा लिया जाता है। इसी को कौटल्य ने 'स्कन्ध प्रावर्त्तिमम्' कहा है। इस ढंग से सींचे जानेवाले खेतों से २५ प्रतिशत उदक-भाग लिया जाता था।

(३) **स्रोतयन्त्रप्रावर्तिमम्**—स्रोतयन्त्र द्वारा सिंचाई करना। रहट एक ढंग का स्रोत-यन्त्र होता है, जिसे बैल चलाते हैं, और जिससे पानी का एक सोता बहने लगता है। रहट के अतिरिक्त वायु द्वारा भी पानी निकालने की पद्धति प्राचीन भारत में विद्यमान थी। जैसे पनचक्की वायु से चलती है, वैसे ही रहट भी वायु की शक्ति से चलता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसे रहट को ही 'वातप्रावर्त्तिमम्' भी कहा गया है।[१] स्रोत यन्त्र का अभिप्राय ऐसे ही रहटों से है, जो या तो बैल आदि पशुओं से चलाये जाएँ और या वायुशक्ति द्वारा। स्रोतयन्त्र से जिन खेतों की सिंचाई की जाती हो, उनसे एक तिहाई उदक-भाग लिया जाता था।

(४) **नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्**—नदी, तालाब, सर (झील) और कूप द्वारा सिंचाई करना। मौर्य युग में नदियों पर बाँध बाँध कर नहरें निकालने की भी प्रथा थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सौराष्ट्र में गिरनार नदी पर बाँध बँधवा कर एक झील का निर्माण कराया था, जिसे 'सुदर्शन' झील कहते थे। यह झील सदियों तक कायम रही थी, और बाद के अनेक राजाओं ने इसकी मुरम्मत भी करायी थी। नदियों पर बनाये गये बाँधों को कौटलीय अर्थशास्त्र में 'सेतुबन्ध' कहा गया है। कौटल्य ने लिखा है—"यदि कोई सेतु के निश्चित मार्ग के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान से पानी निकालने का प्रयत्न करे, तो उसपर छः पण जुरमाना किया जाए। जुरमाना ऐसे व्यक्तियों से वसूल किया जाए, जो सेतु के जलमार्ग को रोकने का प्रयत्न करें।[२]" इससे स्पष्ट है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र में सेतु या सेतुबन्ध का अभिप्राय ऐसे बाँध से ही है, जो नदियों, सरों और तटाकों पर जल को रोकने के

१. कौ. अर्थ. ३।९

२. 'सेतुभ्यो मुञ्चतस्तोयमपारे षट्पणो दमः ।
पारे वा तोयमन्येषां प्रमादेनोपरुन्धतः ॥' कौ. अर्थ. ३।९

लिये बनाया जाता था, और जिससे जल निकालने के लिये सुनिश्चित द्वारों का निर्माण किया जाता था। मैगस्थनीज़ के यात्रा-विवरण से जो उद्धरण इसी अध्याय में ऊपर दिये गये हैं, वे भी मौर्य युग में नदियों पर बनाये गये बाँधों या डामों को सूचित करते हैं। कौटल्य ने 'वास्तु' के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए गृह, तटाक और सर के साथ 'सेतुबन्ध' का भी उल्लेख किया है, जिससे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सेतुबन्ध ऐसे डामों या बाँधों की ही संज्ञा थी, जिनका कृत्रिम रूप से निर्माण किया गया हो। यदि कोई व्यक्ति अपनी ओर से 'सेतुबन्ध' बनवाता था, तो पाँच वर्ष तक उससे कोई राजकीय कर (भूमिकर और उदक भाग) नहीं लिया जाता था। भग्न हुए सेतुबन्ध की मरम्मत कराने पर चार साल के लिये करों से छूट दी जाती थी।[1] ये सब निर्देश यह प्रमाणित करने के लिये प्रर्याप्त हैं, कि मौर्य युग में नदियों और सरों पर बाँध बाँध कर सिंचाई करने की प्रथा विद्यमान थी। नदियों, सरों और तटाकों पर बाँध बाँधकर सिंचाई के लिये जो रजवाहे बनाये जाते थे, कौटल्य ने उनके लिये 'कुल्या' शब्द का प्रयोग किया है।[2] 'सर' झील को कहते थे, और 'तटाक' तालाब को। सिंचाई के लिये तटाकों का उपयोग बहुत अधिक था। बाँध द्वारा उनके जल को रोक कर कुल्याओं से उसे खेतों में ले जाया जाता था। इस विषय में कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित कतिपय व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं—'ऊंचे बने हुए तटाक के पानी से जो खेत सिंचित हों, वे नीचे बने हुए तटाक के पानी से डूबने न पाएँ। नीचे के तटाक में जहाँ से पानी आता हो, उसके जलमार्ग को रोका न जाए, सिवाय उस दशा के जब कि तीन साल से उस तटाक का प्रयोग ही न हुआ हो। इस नियम का अतिक्रमण करने पर पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। यदि किसी तटाक को कोई पानी से खाली कर दे, तब भी यही दण्ड दिया जाए। यदि किसी सेतुबन्ध (बाँध या डाम) का पाँच साल तक कोई उपयोग न किया जाए, तो उस पर उसके स्वामी का स्वत्त्व नहीं रह सकेगा, बशर्ते कि इसका कारण कोई आपत्ति न हो।'[3] इसमें सन्देह नहीं, कि नदियों और सरों के समान तटाक (तालाब) भी सिंचाई के महत्त्वपूर्ण साधन थे, और इन पर उन्हीं व्यक्तियों का स्वत्त्व हुआ करता था, जिनकी भूमि पर ये स्थित हों। तटाकों के ये स्वामी स्वयं ही अपने-अपने तटाकों से कुल्याएँ निकाल कर खेतों की सिंचाई किया करते थे। पर राज्य इस तथ्य को अनुभव

---

१. 'तटाकसेतुबन्धानां नवप्रवर्त्तने पाञ्चवार्षिकः परिहारः। भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वार्षिकः।' कौ. अर्थ. ३।९

२. 'कुल्यावापानां च कालतः।' कौ. अर्थ. २।२४

३. 'पश्चान्निविष्टमधरतटाकं नोपरितटाकस्य केदारमुदकेनाप्लावयेत्। उपरिनिविष्टं नाधरतटाकस्य पूरास्रावं वारयेत् अन्यत्र त्रिवर्षोपरतकर्मणः। तस्यातिक्रमे पूर्वस्साहसदण्डः तटाकवामनं च। पञ्चवर्षोपरतकर्मणः सेतुबन्धस्य स्वाम्यं लुप्येतान्यत्रापद्भ्यः।' कौ. अर्थ. ३।९

करता था, कि खेती के लिये सिंचाई का बहुत महत्त्व है और जो व्यक्ति अपनी भूमि पर स्थित तटाकों पर बाँध बाँध कर सिंचाई की व्यवस्था करते हैं, वे राजकीय सहायता के अधिकारी हैं। इसी कारण यह व्यवस्था की गई थी, कि जो कोई तटाक पर नया सेतुबन्ध (बाँध) बनवाए, उसे पाँच वर्ष के लिये टैक्सों से छूट दी जाए, जो भग्न हुए बाँधों की मुरम्मत कराए उसे चार साल के लिये टैक्सों से छूट दी जाए, जो बाँध को बढ़ाए या उन्नत करे उसे तीन साल के लिये टैक्सों से छूट दी जाए, और जो खरीद कर या रहन द्वारा किसी बाँध के स्थल पर स्वत्त्व प्राप्त करे, उसे दो साल के लिये टैक्सों से छूट दी जाए।[1] जिन व्यक्तियों की भूमि में कोई तटाक स्थित हो, उनके लिये यह आवश्यक था, कि वे अपने तटाक को अच्छी दशा में रखें, वे उनकी भली भाँति मरम्मत कराते रहें। ऐसा न करने पर उन्हें इतना दण्ड दिया जाए, जो उन द्वारा की गई उपेक्षा के कारण हुई हानि के दुगने मूल्य के बराबर हो।[2] इस प्रकार स्पष्ट है, कि तटाक द्वारा सिंचाई की व्यवस्था करने पर जहाँ राज्य टैक्सों की छूट के रूप में अनुग्रह प्रदर्शित करता था, वहाँ साथ ही सिंचाई के इस महत्त्वपूर्ण साधन की उपेक्षा करने या उसे किसी प्रकार से हानि पहुँचाने पर दण्ड भी देता था।

नदी, सर, तटाक और कूप द्वारा सिंचाई करने पर जो उदक-भाग राज्य वसूल करता था, उसकी मात्रा २५ प्रतिशत थी। मौर्य युग में सिंचाई के विभिन्न साधन क्या थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा सर्वथा स्पष्ट है। पर इन साधनों की व्यवस्था में राज्य का क्या कर्तृत्त्व था, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र से कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होते। तटाक प्रायः व्यक्तियों के ही स्वत्त्व में थे, और वे ही उन पर सेतुबन्धों का निर्माण कर सिंचाई की व्यवस्था किया करते थे, यही अभी ऊपर लिखा गया है। राज्य का उनके सम्बन्ध में केवल यही कर्तृत्त्व था, कि नये बाँध बनवाने पर, पुराने बाँधों की मरम्मत कराने पर, और बाँधों को बढ़ाने व उन्नत करने पर टैक्सों में छूट देकर उनके स्वामियों को प्रोत्साहित करे, और साथ ही तटाकों और बाँधों की उपेक्षा करने पर उनके स्वामियों को दण्ड दे। यही बात कूपों के विषय में भी समझी जा सकती है। पर नदियों पर बाँध बँधवाने और उनसे सिंचाई के लिये कुल्याएँ बनवाने का कार्य राज्य की ओर से ही किया जाता था। चन्द्रगुप्त द्वारा गिरनार नदी पर बाँध बँधवाने और उससे सिंचाई के लिये नहरें निकलवाने का पहले उल्लेख किया जा चुका है। नदियों पर बाँध बाँधने के विषय में एक निर्देश कौटलीय अर्थ-शास्त्र में भी विद्यमान है,[3] पर यह कार्य राज्य की ओर से किया जाता था, यह इस निर्देश से सूचित नहीं होता।

---

१. कौ. अर्थ. ३।९

२. 'अप्रतीकारे हीनद्विगुणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ३।९

३. 'नदी निबन्धायतनतटाक...' कौ. अर्थ. ३।९

राज्य की ओर से पेय जल की व्यवस्था भी की जाती थी। कौटल्य ने लिखा है, कि जहाँ जल का अभाव हो, वहाँ कुएँ, सेतुवन्ध और उत्स (उदक स्थान) वनवाये जाएँ।[1]

(६) चिकित्सालय और स्वास्थ्यरक्षा

प्राचीन भारत में चिकित्साशास्त्र अच्छी उन्नत दशा में था। तक्षशिला और काशी चिकित्साशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इस विषय में हार्नले ने लिखा है कि "बौद्ध जातकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बौद्ध युग में विद्या के दो बड़े केन्द्र थे जहाँ विश्वविख्यात अध्यापकों द्वारा सव विज्ञान, जिनमें आयुर्वेद भी सम्मिलित था, पढ़ाये जाते थे। पूर्व में काशी का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था, और पश्चिम में और भी अधिक विख्यात तक्षशिला का विश्वविद्यालय था। महात्मा बुद्ध के समय में या उससे कुछ पूर्व तक्षशिला में चिकित्साशास्त्र का प्रधान अध्यापक आत्रेय था।[2] राकहिल के अनुसार बुद्ध के समकालीन वैद्य जीवक ने तक्षशिला में रहकर ही आयुर्वेद का अध्ययन किया था।[3] जातक-ग्रन्थों में जीवक और अनेक अन्य चिकित्सकों के आश्चर्यजनक कार्यों का वर्णन है। इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग से पूर्व ही चिकित्साशास्त्र भारत में वहुत अधिक उन्नति कर चुका था। यह उन्नति मौर्य काल में भी कायम रही थी। ग्रीक लेखकों के विवरणों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। मुखोपाध्याय ने इस का विशद रूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार "मैगस्थनीज़ के लेखों द्वारा हमें ज्ञात होता है कि श्रमणों में हाईलोबिओई (जंगलों या अरण्यों के निवासी) श्रमणों को सवसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। उनके पश्चात् चिकित्सकों की प्रतिष्ठा है। ये श्रमण चिकित्सा भी करते हैं, और संन्यासी भी हैं। स्ट्रैबो ने लिखा है कि ये चिकित्सक औषधि की अपेक्षा भोजन द्वारा रोगों की चिकित्सा पसन्द करते हैं।[4]" इसी ग्रन्थ में आगे चलकर ग्रीक विवरणों द्वारा प्राप्त चिकित्सा-सम्वन्धी कतिपय सूचनाएँ संकलित की गई हैं, जो महत्त्व की हैं—"हमें ज्ञात है, कि दो ग्रीक चिकित्सक क्टेसियस (४०० ई० पू०) और मैगस्थनीज़ (३०० ई० पू०) उत्तरी भारत में आये थे। क्टेसियस ने अपनी 'इन्डिका' में कोचिनल पौदे, उसके कीड़ों और रंग तथा बन्दर, हाथी और तोते का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि भारतीयों को सिर दर्द, दन्तशूल, अक्षि-शोथ और मुखपाक के रोग तथा व्रण नहीं होते। नियार्कस के अनुसार सिकन्दर (३२६ ई० पू०) भारत में अपने साथ हिन्दू वैद्यों को रखता था, और इन वैद्यों से सर्पदंश तथा अन्य भयानक रोगों के विषय में परामर्श लेता था। मैगस्थनीज़ ने बंगाल में पैदा होने वाले

---

१. 'अनुदके कूपसेतुबन्धोत्सान्स्थापयेत्। कौ. अर्थ. २।३४

२. Hornle—Studies in the Medicine of Ancient India.

३. Rockhill—Life of the Buddha.

४. Mukhopadhyaya, G.—Surgical Instruments in Ancient India.

आबनूस और साथ ही सिंह, बन्दर और हाथियों का वर्णन किया है।...डीट्स ने सिद्ध किया है, कि ग्रीक चिकित्सकों को भारत के वैद्यक ग्रन्थों से अच्छा परिचय था, और वे उस भारतीय औषध विज्ञान से अपने को धन्य तथा सफल समझते थे, जो उन्हें प्राप्त हुआ था।"

ग्रीक लेखकों के विवरणों पर आधारित ये तथ्य यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि मौर्य युग में भी चिकित्साशास्त्र अच्छी उन्नत दशा में था। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे मौर्य काल के चिकित्सालयों, चिकित्सकों और स्वाथ्य-रक्षा के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कौटल्य ने लिखा है कि नगर के उत्तर-पश्चिम भाग में पण्य भैपज्य गृह (जहाँ औषधियों की पण्य रूप से बिक्री की जाती हो) स्थापित किये जाएं।[1] इन्हीं भैपज्यगृहों को अन्यत्र 'भैषज्यागार' भी कहा गया है। वहाँ लिखा है, कि 'भिषक् भैषज्यागार से अच्छे स्वाद वाली और सर्वथा शुद्ध औषधि को लाए, और फिर पाचक तथा पोषक को चखा कर और स्वयं भी चख कर राजा के लिये प्रदान करे।[2]' ये पण्य भेपज्य गृह या भैपज्यागार राज्य द्वारा ही स्थापित किये जाते थे। इनकी औषधियां केवल राजा के लिये ही नहीं होती थीं, अपितु सर्वसाधारण जनता को भी ये 'पण्य' के रूप में उपलब्ध रहती थीं।

कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेकविध चिकित्सकों का उल्लेख किया गया है। राजा की रक्षा के लिये जहाँ आन्तर्वंशिक सेना के सैनिक सदा उसके साथ रहते थे, वहाँ जाङ्गलीविद् और भिषक् भी सदा उसकी सेवा में तत्पर रहा करते थे।[3] जाङ्गलीविद् उन चिकित्सकों को कहते थे, जो विविध प्रकार के विषों के विशेषज्ञ और उनकी चिकित्सा में प्रवीण हों। प्राचीन काल के एकतन्त्र शासन वाले राज्यों में सदा यह भय बना रहता था कि कोई शत्रु विष द्वारा राजा की हत्या न कर दे। इसी कारण महानसिक (महानस या रसोईघर का प्रधान अधिकारी) ऐसे स्थान पर ही राजा के लिये भोजन तैयार कराता था जो सर्वथा गुप्त हो। राजा के सम्मुख भोजन परोसने से पूर्व पहले उसे आग में डाला जाता था, और पक्षियों को खिलाया जाता था।[4] यदि भोजन से आग और धुएँ के रंग नीले हो जाएं या अग्नि में चिड़चिड़ होने लगे, तो यह इस बात का प्रमाण था कि उसमें विष मिला हुआ है। यदि भोजन खाने से पक्षी की मृत्यु हो जाए, तो यह भी उसके विषयुक्त होने का प्रमाण

---

१. 'उत्तरपश्चिमं भागं पण्यभैषज्यगृहम्।' कौ. अर्थ. २।४

२. 'भिष भैषज्यागारादास्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत्।' कौ. अर्थ. १।२१

३. 'तस्मादस्यक् जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नास्स्युः।' कौ. अर्थ. १।२१

४. 'गुप्ते देशे महानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्। तद्राजा तथैव प्रतिभुञ्जीत पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।' कौ. अर्थ. १।२१

था।[1] भोजन में विष मिला है या नहीं, इसकी परीक्षा के लिये अन्य भी अनेक ढंग कौटल्य ने लिखे हैं। यह सब परीक्षा जांगलीविद् द्वारा ही की जाती थी। सब सावधानी बरतने के बाद भी यदि राजा विषयुक्त भोजन का सेवन कर ले, तो उसकी चिकित्सा की उत्तरदायिता भी जांगलीविद् पर ही रहती थी। भिषक् औषधियों का विशेषज्ञ होता था, और उन्हें तैयार कराना तथा सेवन के लिये निर्धारित करना उसी के कार्य थे। औषध का निर्माण करने वाले को 'पाचक' कहते थे और उसकी शुद्धता को प्रमाणित करने वाले की 'पोषक' संज्ञा थी। ये कर्मचारी भिषक् के निरीक्षण में ही औषधियों का निर्माण किया करते थे।

भिषक् और जाङ्गलीविद् के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के चिकित्सकों का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है। इनमें से दो का सम्बन्ध गर्भ और सन्तानोत्पादन के साथ है। इन्हें 'गर्भव्याधिवैद्य' (गर्भ के रोगों की चिकित्सा करने वाला) और 'सूतिका-चिकित्सक' कहा गया है। गर्भव्याधि वैद्य के विषय में कौटल्य ने यह लिखा है, कि अन्तःपुर के पीछे के भाग में ऐसी कक्ष्याएँ बनायी जाएँ जिनमें स्त्रियाँ निवास करें, और साथ ही गर्भ-व्याधि वैद्य द्वारा प्रख्यात (कही गई) संस्थाएँ स्थापित की जाएँ।[2] गर्भव्याधि वैद्य की सहायता के लिये ही ऐसी स्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी, जिन्हें 'गर्भव्याधि-संस्था' कहते थे। यद्यपि सामान्यतया कोई भी बाहर की स्त्री, चाहे वह दासी हो और या कुल्य (कुलीन) हो, अन्तःपुर की स्त्रियों से नहीं मिल सकती थी, पर गर्भव्याधि-संस्थाएँ (Midwives) इस नियम की अपवाद थीं।[3] सूतिका-चिकित्सिक सूतिका-सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा करते थे। वे उन स्थानों पर व ऐसे समयों पर भी किसी दण्ड के भय के बिना निस्संकोच आ-जा सकते थे, जहाँ साधारण नागरिकों का आना-जाना निषिद्ध था। इसी प्रसंग में कौटल्य ने उनका उल्लेख किया है।[4]

शल्य-क्रिया करनेवाले चिकित्सकों की संज्ञा सम्भवतः 'चिकित्सक' थी। युद्ध के प्रसंग में कौटलीय अर्थशास्त्र में यह लिखा गया है कि शस्त्र, यन्त्र, अगद, स्नेह और वस्त्र (पट्टी आदि) लिये हुए चिकित्सिक सेना के साथ रहें, और उनके साथ ऐसी स्त्रियाँ (परिचारिकाएँ)

---

१. 'अग्नेर्ज्वालाधूमनीलताशब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य–वयसां विपत्तिश्च।' कौ. अर्थ. १।२१

२. 'पृष्ठतः कक्ष्याविभागे स्त्रीनिवेशो गर्भव्याधिवैद्यप्रख्यातसंस्था वृक्षोदकस्थानं च। कौ. अर्थ. १।२०

३. 'न चैनाः कुल्याः पश्येयुरन्यत्र गर्भव्याधिसंस्थाभ्यः।' कौ. अर्थ. १।२०

४. 'सूतिकाचिकित्सकं प्रेत प्रदीपायननागरक तूर्यप्रेक्षाग्निनिमित्तमुद्राभिश्चाग्राह्याः।' कौ. अर्थ. २।३६

भी, जो (घायलों के लिये आवश्यक) अन्न (भोजन) और पान (पेय द्रव्य) आदि की व्यवस्था करें।[1]

मनुष्यों की चिकित्सा करनेवाले भिषक्, जांगलीविद् आदि विभिन्न प्रकार के चिकित्सकों के अतिरिक्त पशु-चिकित्सकों का उल्लेख भी कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है। वहाँ लिखा है--'घोड़ों के चिकित्सक (घोड़ों के) शरीर के ह्रास और (असाधारण) वृद्धि का प्रतीकार करें और ऋतु के अनुसार उनके भोजन में परिवर्तन की व्यवस्था करें।'[2] इससे स्पष्ट है कि मौर्य युग में ऐसे भी चिकित्सक होते थे, जो घोड़ों की चिकित्सा के विशेषज्ञ थे। अश्वों के जाङ्गलीविदों का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है, जो विष द्वारा उत्पन्न व्याधि का प्रतीकार करते थे।[3] सम्भवतः, ये अश्वचिकित्सक राजकीय सेवा में होते थे। इसीलिये कौटल्य ने लिखा है--'यदि चिकित्सा कार्य में असावधानी के कारण या औषधि के दूषित होने के कारण रोग बढ़ जाए, तो उसके प्रतीकार में जो व्यय हो उसका दुगना दण्ड दिया जाए।'[4] गौओं, भैंसों, गधों, ऊँटों और बकरियों की चिकित्सा के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था थी।[5] इससे सूचित होता है, कि इन पशुओं के चिकित्सक भी मौर्य युग में हुआ करते थे। घोड़ों के चिकित्सकों के समान हस्ति-चिकित्सकों का भी कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख आया है। वहाँ लिखा है, कि यात्रा में जो हाथी व्याधिग्रस्त हो जाएँ या अत्यधिक परिश्रम से थक जाए या जरा पीड़ित हों, चिकित्सक उनके रोग का प्रतीकार करें।[6] ये सब पशु-चिकित्सक प्रायः राजकीय सेवा में रहते हुए अपने-अपने कार्यों का सम्पादन करते थे। इसीलिये गोऽध्यक्ष अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष संज्ञक सरकारी अमात्यों द्वारा नियन्त्रित रूप में ही अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख किया गया है।

विभिन्न प्रकार की औषधियों और चिकित्सा के कार्य में आनेवाली वनस्पतियों के उत्पादन के लिये भी राज्य की ओर से व्यवस्था की जाती थी। इसीलिये कौटल्य ने लिखा है, कि ऐसी भूमि पर औषधियों को बुआया जाए जो उनके लिये उपयुक्त हों, और साथ ही

---

१. 'चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः, स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः।' कौ. अर्थ. १०।३

२. 'अश्वानां चिकित्सकाः शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारं ऋतुविभक्तं चाहारम्।' कौ. अर्थ. २।३०

३. 'जाङ्गलीविदश्च स्वकर्मभिरश्वानाराधयेयुः।' कौ. अर्थ. २।३०

४. 'क्रियाभैषज्यसङ्गेन व्याधिवृद्धौ प्रतीकारद्विगुणो दण्डः।' कौ. अर्थ. २।३०

५. 'तेन गोमण्डलखरोष्ट्रमहिषजाविकं च व्याख्यातम्।' कौ. अर्थ. २।३०

६. 'पथि व्याधिकर्ममदजराऽभितप्तानां चिकित्सकाः प्रतिकुर्युः।' कौ. अर्थ. २।३२

गमलों (स्थाली) में भी।[1] राज्य द्वारा औषधि के काम में आने वाली जो वनस्पतियाँ बुआयी जाती थीं और जो औषधियाँ तैयार करायी जाती थीं, उन्हें विक्रय के लिये भैषज्यागारों में भेज दिया जाता था।

सैनिक सेवा में नियुक्त चिकित्सकों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था, यह कौटलीय अर्थशास्त्र से स्पष्ट है। राजकीय कर्मचारियों के वेतनों की दर का उल्लेख करते हुए कौटल्य ने अनीक-चिकित्सकों (सैनिक चिकित्सकों) के वेतन की दर २,००० पण लिखी है, जो अश्वदमक और वर्धकि सदृश कारुओं के वेतन के समान है।[2] इससे यह आभास मिलता है, कि राजकर्मचारियों में चिकित्सकों का स्थान अधिक सम्मानित नहीं था। सर्व-साधारण जनता की चिकित्सा के लिये जो भिषक्, जांगलीविद् आदि कार्य करते थे, उन्हें राज्य की ओर से कोई वेतन मिलने का उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं किया गया है। सम्भवतः, मौर्य युग में दो प्रकार के चिकित्सक होते थे, एक वे जो स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा का कार्य करते थे, और दूसरे वे जो सरकार की सेवा में होते थे। इन राजकीय चिकित्सकों को अध्यक्ष, संख्यायक, गोप, स्थानिक आदि राजकीय कर्मचारियों के समान ऐसी भूमि प्रदान कर दी जाती थी, जिसे ये न बेच सकते थे और न रहन रखकर रुपया ले सकते थे, पर जो इनके निर्वाह के लिये पर्याप्त होती थी।[3] स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा करने वाले भिषक् आदि के सम्बन्ध में अनेकविध नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं। वहाँ लिखा है, कि यदि भिषक् (सरकार को) सूचित किये बिना ही किसी ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करे जिसकी मृत्यु की सम्भावना हो, और वह व्यक्ति मर जाए तो भिषक् को पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। यदि रोगी की मृत्यु भिषक् की असावधानी के कारण हो, तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाए। यदि चिकित्सा के प्रति उपेक्षा के कारण या भिषक् की (रोगों के प्रति) उदासीनता के कारण रोग बढ़ जाए, तो भिषक् को दण्डपारुष्य का अपराधी माना जाए।[4]

रोगियों की चिकित्सा के लिये भिषक् आदि चिकित्सकों की उपयोगिता को स्वीकार किया जाता था, पर महामारी के फैलने पर जहाँ चिकित्सक औषधियों द्वारा उनके निवारण का प्रयत्न करते थे, वहाँ साथ ही 'औपनिषदिक' उपायों द्वारा भी उनका प्रतीकार कराया

---

१. 'गन्धभैषज्योशीरह्रीबेरपिण्डालुकादीनां यथास्वं भूमिषु च स्थाल्यां च अनूप्याश्चौषधीस्स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।२४

२. कौ. अर्थ. ५।३

३. कौ. अर्थ. २।१

४. 'भिषजः प्राणाबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वस्साहसदण्डः। कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यमः। कर्मवधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्यं विद्यात्।' कौ. अर्थ. ४।१

जाता था। महामारियों के लिये कौटल्य ने 'मरक' शब्द का प्रयोग किया है।[१] इन मरकों के निवारण के लिये सिद्ध तापसों द्वारा शान्ति-प्रायश्चित्तीय उपायों को भी लाभकर माना जाता था।[२] राज्य इन पर जो व्यय करता था, उसे ही अर्थशास्त्र में 'स्वस्तिवाचन' कहा गया है।

इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में जनता की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध था। पर साथ ही, स्वास्थ्य-रक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था। राज्य की ओर से यह प्रयत्न किया जाता था, कि रोग होने ही न पाएँ। इसके लिये जो उपाय प्रयोग में लाये जाते थे, उनका निर्देश करना उपयोगी होगा। भोज्य पदार्थों और औषधि में मिलावट करने पर दण्ड की व्यवस्था थी। कौटल्य ने लिखा है कि धान्य (विविध प्रकार के अन्न), स्नेह (घृत, तैल आदि), क्षार (खार), लवण (नमक), गन्ध और भैषज्य-द्रव्यों में मिलावट करने पर बारह पण दण्ड दिया जाए।[३] विक्रेय अन्न आदि पर कठोर नियन्त्रण का यह परिणाम था, कि स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली वस्तुएँ बाजार में नहीं बिक सकती थीं, और इससे जनता की स्वास्थ्य-रक्षा में बहुत सहायता मिलती थी। साथ ही, नगरों की सफाई पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। इस प्रयोजन से कौटलीय अर्थशास्त्र में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं—'रथ्या (गली) में कूड़ा फेंकने पर १।८ पण जुरमाना किया जाए। गली में कीचड़ करने पर या पानी के प्रवाह को रोकने पर १।४ पण जुरमाना किया जाए। यदि यही अपराध राजमार्ग पर किये जाएँ, तो जुरमाने की मात्रा दुगनी हो। पुण्यस्थान (तीर्थ-स्थान), उदक स्थान (जल सञ्चित करने के स्थान), देवगृह (देवमन्दिर) और राजपरिग्रह (राजप्रासाद आदि राजकीय इमारतें) के समीप विष्टा करने पर एक पण या अधिक जुरमाना किया जाए, और मूत्र विसर्जन करने पर आधा पण। पर यदि ये कृत्य व्याधि, दवाई या भय के कारण हो गये हों, तो कोई दण्ड न दिया जाए। मार्जार (बिल्ली), श्व (कुत्ता), नकुल (नेवला) और साँप के शव को नगर में फेंक देने पर तीन पण जुरमाना किया जाए। मरे हुए गधे, ऊँट, खच्चर, घोड़े तथा अन्य पशु को नगर में फेंकने पर छः पण और मनुष्य के शव को नगर में डालने पर ५० पण जुरमाना किया जाए।[४]' केवल यही नहीं,

---

१. 'तेन मरको व्याख्यातः।' कौ. अर्थ. ४।३

२. 'औषधैश्चिकित्सकाः; शान्तिप्रायश्चित्तैर्वा सिद्धतापसाः।' कौ. अर्थ. ४।१

३. 'धान्यस्नेहक्षारलवणगन्धभैषज्यद्रव्याणां समवर्णोपधाने द्वादशपणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।२

४. 'पांसुन्यासे रथ्यायामष्टभागो दण्डः। पङ्कोदकसन्निरोधे पादाः। राजमार्गे द्विगुणः। पुण्यस्थानोदकस्थानदेवगृहराजपरिग्रहेषु पणोत्तरा विष्टादण्डाः मूत्रेष्वर्धदण्डाः। भैषज्यव्याधिनिमित्तमदण्डयाः। मार्जारश्वनकुलसर्पप्रेतानां नगरस्यान्तरुत्सर्गे त्रिपणो दण्डः। खरोष्ट्राश्वतराश्वपशुप्रेतानां षट्पणाः। मनुष्यप्रेतानां पञ्चाशत्पणः।' कौ. अर्थ. २।३६

यदि शव को निश्चित मार्ग और निर्धारित द्वार के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग या द्वार से श्मशान ले जाया जाए, तो पूर्वस्साहस दण्ड की व्यवस्था थी, और द्वार पर नियुक्त राज-कर्मचारियों को २०० पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था।[1] श्मशान के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर शव का दाह करने या न्यास करने पर १२ पण जुरमाना किया जाता था।[2]

नागरक (नगर का शासक) का यह कर्तव्य था, कि वह जहाँ नगर की प्राचीर और परिखा की सुरक्षा का ध्यान रखे, वहाँ साथ ही उदक-स्थानों का भी निरीक्षण करता रहे।[3] इस निरीक्षण का प्रयोजन यह भी था, कि जनता को शुद्ध जल उपलब्ध हो सके।

निस्सन्देह, जनता की स्वास्थ्य रक्षा के लिये ये सब उपाय अत्यन्त महत्त्व के थे।

(३) सार्वजनिक संकटों का निवारण

कौटलीय अर्थशास्त्र में आठ 'दैव महाभयों' का उल्लेख किया गया है—अग्नि, उदक् व्याधि, दुर्भिक्ष, मूषिका, व्याल, सर्प और रक्ष। इन महाभयों से जनपदों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य माना जाता था।[4] इनके सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में की गई हैं, वे महत्त्व की हैं।

अग्नि से रक्षा—अग्नि के भय का किस प्रकार प्रतीकार किया जाए, इसके सम्बन्ध में कौटल्य ने अनेकविध उपायों का प्रतिपादन किया है। ग्रामवासियों के लिये यह आदेश था, कि ग्रीष्म ऋतु में वे भोजन पकाने का कार्य मकान के बाहर किया करें। पर यदि उनके पास 'दशमूली संग्रह' हो, तो वे घर के अन्दर भी भोजन बना सकते थे।[5] दशमूली-संग्रह के अन्तर्गत वस्तुएँ निम्नलिखित थीं—पाँच घट (घड़े), कुम्भ, द्रोण (लकड़ी से बना हुआ जल भरने का एक बड़ा बरतन), निश्रेणी (सीढ़ी), परशु (कुल्हाड़ा), शूर्प (छाज), अंकुश (जलती हुई लकड़ियों को गिराने के लिये प्रयुक्त होने वाला अंकुश), कच (रस्सी), ग्रहणी (मकान से वस्तुएँ बाहर निकालने के लिये टोकरा), और दृति (चमड़े का थैला)।[6] निःसन्देह, इन दस वस्तुओं का आग बुझाने के लिये बहुत उपयोग

१. 'मार्गविपर्यासे शवद्वारादन्यतश्शवनिर्णयने पूर्वस्साहसदण्डः। द्वास्थानां द्विशतम्।' कौ. अर्थ. २।३६
२. 'श्मशानादन्यत्रन्यासे दहने च द्वादशपणो दण्डः।' कौ. अर्थ. २।३६
३. 'नित्यमुदकस्थानमार्गभूमिच्छन्नपथवप्राकाररक्षोवेक्षणं. . .चरक्षणम्।' कौ. अर्थ। २।३६
४. कौ. अर्थ. ४।३
५. 'ग्रीष्मे बहिरधिश्रयणं ग्रामाः कुर्युः। दशमूलीसंग्रहेणाधिष्ठिता वा।' कौ. अर्थ. ४।३
६. 'पादः पञ्चघटीनां कुम्भद्रोणीनिश्रेणीपरशुशूर्पाङ्कुशकच ग्रहणी दृतीनां च अकरणे।' कौ. अर्थ. २।३६

था। इसी कारण जिस गृहस्थ के पास ये सब वस्तुएँ विद्यमान हों, वह घर के अन्दर भी भोजन बना सकता था। ग्रीष्म ऋतु में केवल ग्रामवासियों के लिये ही यह नियम नहीं था, कि वे मकान के बाहर भोजन बनाया करें, अपितु नगर निवासियों के लिये भी यही व्यवस्था थी। वे दिन के मध्याह्न भाग में घर में आग नहीं जला सकते थे। यह नियम ग्रीष्म ऋतु के लिये ही था।[1] मौर्य युग में मकानों के निर्माण में काष्ठ का बहुत अधिक प्रयोग होता था, इसी कारण नगरनिवासियों के लिये भी इस नियम की आवश्यकता अनुभव की गई थी। जिन मकानों पर फूस की छत हो, या जिन मकानों में चटाई का प्रयोग हुआ हो, उनके स्वामियों को यह आदेश दिया जाता था, कि वे अपनी छतों पर से फूस को हटा लें।[2] कतिपय शिल्पी ऐसे होते हैं, जिन्हें आग से निरन्तर काम लेना पड़ता है। लुहार का कारोबार आग के बिना नहीं चल सकता। ऐसे 'अग्नि जीवि' शिल्पियों के लिये यह व्यवस्था की गई थी, कि वे सब नगर में एक पृथक् स्थान पर रहते हुए अपने कार्यों को सम्पादित करें।[3] यदि ऐसे किसी शिल्पी के मकान में आग लग जाए, तो इस व्यवस्था के कारण वह नगर में नहीं फैल सकती थी। सब रथ्याओं (गलियों या मार्गों), चतुष्पथ-द्वारों (चौराहों) और राजपरिग्रहों (राजप्रासाद आदि राजकीय इमारतों) के समीप पानी से भरे हुए हजारों बरतन रखे जाते थे,[4] ताकि आग लगने पर उनका उपयोग किया जा सके। आग लग जाने पर उसे बुझाने के लिये सब कोई को सहयोग देना पड़ता था। यदि कोई गृहस्वामी आग बुझाने में सहयोग न दे, तो उसे १२ पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। ऐसा व्यक्ति, जो किरायेदार के रूप में किसी मकान में निवास कर रहा हो, आग बुझाने में सहायता न करे, छः पण जुरमाने से दण्डित किया जाता था। यदि प्रमादवश किसी व्यक्ति से आग लग जाए, तो उसके लिये ५४ पण जुरमाने के दण्ड की व्यवस्था थी। पर यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर आग लगाए, तो उसके लिये मृत्युदण्ड का विधान था।[5]

अग्नि-रूपी दैवी महाभय से रक्षा के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में कतिपय औपनिषदिक क्रियाओं का भी प्रतिपादन किया गया है। अन्तःपुर की विविध भयों से रक्षा के उपायों का निरूपण करते हुए वहाँ लिखा है, कि यदि मानुष अग्नि को दायें से बायें और तीन बार अन्तःपुर के चारों ओर घुमाया जाए, तो उसे कोई अन्य अग्नि नहीं जला सकती, और

---

१. 'बहिरधिश्रयणं वा कुर्युः।' कौ. अर्थ. २।३६
२. 'तृणकटच्छन्नान्यपनयेत्।' कौ. अर्थ. २।३६
३. 'अग्निजीविन एकस्थाने वासयेत्।' कौ. अर्थ. २।३६
४. 'असंपातिनो रात्रौ रथ्यासु कटव्रजास्सहस्रं तिष्ठेयुः। चतुष्पथद्वारे राजपरिग्रहेषु च।' कौ. अर्थ. २।३६
५. 'प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादशपणो दण्डः। षट्पणोविक्रमिणः। प्रमादाद्दीप्तेषु चतुष्पञ्चाषत्पणो दण्डः। प्रादीपिकोऽग्निना वध्यः।' कौ. अर्थ. २।३६

न वहाँ कोई अन्य अग्नि जल सकती है। यदि बिजली से जले हुए पदार्थ की राख को मिट्टी में मिलाकर ओले के पानी से गारा बनाया जाए, और उससे दीवारों को लेप दिया जाए, तो आग लगने का डर नहीं रहता।[1] ये क्रियाएँ कहाँ तक सफल होती थीं, यह कह सकना कठिन है।

इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में अग्नि के भय से नगरों और ग्रामों की रक्षा करना बहुत आवश्यक था। उस युग में बहुत-से मकान लकड़ी के ही बने होते थे, जिन्हें आग का सदा भय रहता था। इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज़ का यह कथन उल्लेखनीय है—'वे नगर जो कि समुद्र या नदी के तट पर स्थित हैं, ईंटों और पत्थरों के बजाय लकड़ी से बनाये जाते हैं, क्योंकि वे सदा के लिये न बनाये जाकर सामयिक रूप से ही बनाये जाते हैं।' पाटलिपुत्र में मौर्य युग के राज प्रासादों के जो अवशेष पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाश में आये हैं, उनमें भी लकड़ी का बहुत उपयोग हुआ है।

उदक् (बाढ़) से रक्षा—बाढ़ें न आने पाएँ, इसके लिये कौटल्य ने यह विधान किया है कि पर्वों के अवसर पर नदियों की पूजा की जाए, और मायायोगविद् तथा वेदविद् व्यक्ति अतिवृष्टि के निवारण के लिये अभिचार क्रियाएँ करें।[2] पर कौटल्य यह भलीभाँति जानते थे कि केवल पूजा और अभिचार क्रियाओं पर ही दैवी उदक्भय के निवारण के लिये निर्भर नहीं रहा जा सकता। अतः उन्होंने ऐसी व्यवस्थाओं का भी प्रतिपादन किया है, जिनसे बाढ़ आने पर जनता की धन-सम्पत्ति और प्राणों की रक्षा सम्भव हो सकती है। ये व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं—जो ग्राम नदियों के तट पर नीची जगह पर बसे हुए हों, वर्षा ऋतु के आने पर उनके निवासियों को यह आदेश दिया जाता था, कि वे पूरवेला (बाढ़ द्वारा आक्रान्त स्थान) का परित्याग कर अन्यत्र चले जायँ। साथ ही, वे काष्ठ (लकड़ी के बेड़े), वेणु (बांसों के बेड़े) और नौकाओं को सदा तैयार रखें। यदि किसी को नदी में डूबता हुआ पाया जाए, तो अलावु (तुम्बों), दृति (फुलायी हुई पशु की खाल), प्लव (छोटी नौका) और गण्डिका (नौका) द्वारा उसको डूबने से बचाया जाए।[3] जो कोई इस कार्य के लिये प्रवृत्त न हो, उसे १२ पण के जुरमाने का दण्ड दिया जाए। पर जिसके पास प्लव आदि न हो, उसे इस दण्ड से मुक्त रखा जायगा।[4]

१. 'मानुषेणाग्निना त्रिरपसव्यं परिगतमन्तःपुरमग्निरन्यो न दहति। न चात्रान्योऽग्निर्ज्वलति। वैद्युतेन भस्मना मृत्संयुक्तेन करकवारिणाऽवलिप्तं च।' कौ. र्थ. १।१७

२. 'पर्वसु च नदीपूजाः कारयेत्। मायायोगविदो वेदविदो वर्षमभिचरेयुः।' कौ. अर्थ. ४।३

३. 'वर्षारात्रमनूपग्रामा पूरवेलामुत्सृज्य वसेयुः। काष्ठवेणुनावश्चापगृहणीयुः। ऊह्यमानमलावुदृतिप्लवगण्डिकावेणिकाभिस्तारयेयुः।' कौ. अर्थ. ४।३

४. 'अनभिसरतां द्वादशपणो दण्डः अन्यत्र प्लवहीनेभ्यः।' कौ. अर्थ. ४।३

वर्षा की कमी होने और अनावृष्टि की दशा में देवताओं के राजा शचीनाथ, इन्द्र, गङ्गा, पर्वत और महाकच्छप की पूजा की जाती थी।[1] यह समझा जाता था, कि इस अभिचार-पूजा द्वारा वर्षा की कमी को दूर किया जा सकता है।

महामारियों और बीमारियों से रक्षा--इसी अध्याय में चिकित्सा और स्वास्थ्य रक्षा के सम्बन्ध में लिखते हुए उन उपायों का भी निर्देश किया जा चुका है, जिन द्वारा मौर्य युग में मरकों (महामारियों) का निवारण किया जाता था। व्याधि भय को दूर करने के लिए जहाँ भिषक् आदि चिकित्सिक औषधियों का प्रयोग करते थे, वहाँ औपनिषिदिक क्रियाओं द्वारा भी उनके प्रतीकार का प्रयत्न किया जाता था। सिद्ध तापस लोग जिन शान्ति-प्रायश्चित्तीय क्रियाओं का अनुष्ठान कर महामारियों का प्रतीकार करते थे, उनका भी निर्देश कौटल्य ने किया है। ये क्रियाएं निम्नलिखित थीं--तीर्थाभिषेचन (तीर्थों में स्नान), महाकच्छवर्धन (महाकच्छ की पूजा), गवां श्मशासानवदोहन (श्मशान में गौओं से दूध दोहना), कबन्धदहन (शव के धड़ को जलाना) और देवरात्रि (देवताओं की उपासना में रात्रि को व्यतीत करना)।[2]

पशुओं में जो मरक व्याधियाँ (महामारियाँ) फैलें, उनके प्रतीकार के लिये भी अभिचार-क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता था। ऐसी दो क्रियाओं का उल्लेख कौटल्य ने किया है, गौएँ बाँधने के स्थान पर दीपकों को हिलाना और स्वदैवतों (स्वकीय देवताओं) का पूजन।[3]

दुर्भिक्ष का निवारण--कौटलीय अर्थशास्त्र में उन उपायों का विशद रूप से निरूपण किया गया है, जिनका प्रयोग दुर्भिक्ष के निवारण के लिये किया जाना चाहिये। ये उपाय निम्नलिखित थे--(१) दुर्गत कर्म--दुर्भिक्ष के कारण बेकार हुए लोगों से अनेकविध कार्य लिये जाते थे, जिनका प्रयोजन उन्हें आजीविका प्रदान करना होता था। इन कार्यों को सम्पादित कर दुर्भिक्षपीड़ित व्यक्ति इतनी वृत्ति प्राप्त कर लेते थे, जो उनके निर्वाह के लिये पर्याप्त हो। वर्तमान समय में भी राज्य द्वारा इस प्रकार के कार्यों को प्रारम्भ करने की प्रथा है, जिसे 'टेस्ट वर्क' (Test Work) कहा जाता है। (२) भक्तसंविभाग--भोज्य पदार्थों का दुर्भिक्ष-पीड़ितों में वितरण करना। राज्य के कोष्ठागार में सञ्चित अन्न आदि भोजन-सामग्री को ऐसे अवसर पर जनता में वितरित किया जाता था। (३) भक्तानुग्रह--राज्य की ओर से अनुग्रहपूर्वक या कम कीमत पर भोजन-पदार्थ जनता को बेचे जाते थे। (४) देशनिक्षेप--देश की अमानत पर ऋण लेकर उसका उपयोग दुर्भिक्ष के निवा-

१. 'वर्षावग्रहे शचीनाथगङ्गापर्वतमहाकच्छपूजाः कारयेत्।' कौ. अर्थ. ४।३

२. 'तीर्थाभिषेचनं महाकच्छवर्धनं गवां श्मशानदोहनं कबन्धदहनं देवरात्रिं च कारयेत्।' कौ. अर्थ. ४।३

३. 'पशुव्याधिमरके स्थानान्यर्धनीराजनं स्वदैवतपूजनं च कारयेत्।' कौ. अर्थ. ४।३

रण के लिये करना। (५) मित्रों का व्यपाश्रय—दुर्भिक्ष के निवारण के लिये मित्र-राज्यों से सहायता प्राप्त करना। (६) कर्षण—सम्पन्न नागरिकों से धन की प्राप्ति या जिनके पास अन्न आदि भोजन सामग्री सञ्चित हो, उनसे उसे प्राप्त करना। (७) वमन—राज्य के पास जो धन सञ्चित हो, दुर्भिक्ष के अवसर पर उसे प्रयुक्त करना।[1]

दुर्भिक्ष के निवारण का कौटल्य के अनुसार प्रमुख उपाय यही था, कि कृषकों में बीजों का और दुर्भिक्ष पीड़ितों में भोजन का वितरण कर उनके प्रति अनुग्रह प्रदर्शित किया जाए।[2]

कौटल्य द्वारा प्रतिपादित दुर्भिक्ष-निवारण के ये सब उपाय सभी राज्योंके लिये उपयुक्त हैं। पर अर्थशास्त्र में कतिपय ऐसे उपायों का भी निर्देश किया गया है, जो छोटे जनपदों के लिये ही उपयुक्त हो सकते हैं। मागध साम्राज्य के विकाससे पूर्व भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, यह पहले लिखा जा चुका है। इन जनपदों का स्वरूप नगर-राज्यों (City States) के सदृश था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन जनपद-राज्यों की नीति का भी प्रतिपादन है। ऐसे जनपदों में दुर्भिक्ष पड़ने पर कौटल्य ने कतिपय अन्य उपायों का भी निरूपण किया है। 'सम्पूर्ण जनपद के साथ ऐसे देश में चला जाए, जहाँ सस्य की प्रचुरता हो, या समुद्र, सर और तटाक का आश्रय ग्रहण करे, और वहाँ धान्य, शाक, मूल और फलों का उत्पादन करे, या मृग, पशु, पक्षी, व्याल और मत्स्यों द्वारा निर्वाह करे,[3] दैवी आपत्तियों से विवश होकर छोटे जनपदों के लिये अपने पुराने अभिजन का परित्याग कर देना और कहीं अन्यत्र जा बसना अस्वाभाविक नहीं है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। टिड्डी दल के आक्रमणके कारण कुरु जन अपने पुराने निवास-स्थान को छोड़कर अन्यत्र जा बसा था। शत्रुओं के निरन्तर आक्रमणों से परेशान होकर अन्धक-वृष्णि, मालव, शिवि आदि जो गण अपने पुराने प्रदेशों को छोड़ कर नये स्थानों पर बसने को विवश हुए थे, उनका उल्लेख इतिहास में उपलब्ध है। दुर्भिक्ष के निवारण के लिये भी कौटल्य ने जनपदों के लिये इसी उपाय का प्रतिपादन किया है।

मूषिकभय का निवारण——मौर्य युग में चूहों को भी दैवी विपत्ति माना जाता था। उन्हें नष्ट करने के लिये कौटल्य ने यह साधन प्रतिपादित किया है, कि स्नुहि (आक) के दूध से धान्य को लिप्त कर उसे ऐसे स्थानों पर रख दिया जाए, जहाँ चूहों की प्रचुरता हो।[4] विषयुक्त अन्न से चूहों का विनाश ही कौटल्य को अभिप्रेत था। टिड्डी दल, पक्षी,

---

१. **'दुर्गतकर्म वा भक्तानुग्रहेण भक्तसंविभागं वा देशनिक्षेपं वा। मित्राणि वा व्यपाश्रयेत। कर्शनं वमनं वा कुर्यात्।' कौ. अर्थ. ४।३**

२. **'दुर्भिक्षे राजा बीजभक्तोपग्रहं कृत्वानुग्रहं कुर्यात्।' कौ. अर्थ. ४।३**

३. **'निष्पन्नसस्यमन्यविषयं वा सजनपदो यायात्। समुद्रसरस्तटाकानि वा संश्रयेत। धान्यशाकमूलफलवापात् सेतुषु कुर्यात्। मृगपशुपक्षिव्यालमत्स्यारम्भान् वा।' कौ. अर्थ. ४।३**

४. **'स्नुहिक्षीरलिप्तानि धान्यानि विसृजेत्।' कौ. अर्थ. ४।३**

कृमि आदि जो अन्य जीवजन्तु खेती को नुकसान पहुँचाते हैं, उनके विनाश का भी यही साधन था।[1] इनके अतिरिक्त, कतिपय औपनिषिदिक क्रियाओं का भी मूषक आदि के भय के प्रतीकार के लिये कौटल्य ने प्रतिपादन किया है।

व्यालभय का प्रतीकार--सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं के भय का निवारण करने के लिये कौटल्य ने यह उपाय निरूपित किया है, कि पशुओं के शवों में मदन रस (विष) डालकर उन्हें ऐसे स्थानों पर रख दिया जाए, जहाँ हिंस्र पशु रहते हों।[2] साथ ही, लुब्धक (जंगली पशुओं को पकड़नेवाले) और श्वगणी (शिकारी कुत्ते पालने वाले) उन्हें कूट-पिञ्जरों (जालों और पिंजरों) में पकड़ें[3], और कवच धारण किये हुए शस्त्रधारी व्यक्ति शस्त्रों द्वारा उनका घात करें।

सर्पभय का निवारण--सर्प के भय को जाङ्गलीविद् चिकित्सक औषधि और मन्त्र के प्रयोग से दूर करते थे। इनका कार्य साँप के काटे हुए व्यक्ति की रक्षा करना था। पर साँपों को नष्ट करने का भी प्रयत्न किया जाता था। अनेकविध आथर्वण उपायों और अभिचार क्रियाओं द्वारा भी सर्प-भय का प्रतीकार किया जाता था।[4]

रक्षोभय का निवारण--भूत, प्रेत, राक्षस आदि जो अदृश्य रूप से जनता के लिये भय के हेतु होते हैं, उनसे रक्षा के लिये आथर्वण उपायों के विशेषज्ञ मायायोगविदों द्वारा की जानेवाली क्रियाओं का आश्रय लिया जाता था। ये मायायोगविद् पर्वों पर चैत्यों की पूजा कर और अनेकविध अनुष्ठान कर रक्षोभय का निवारण करते थे। इसीलिये कौटल्य ने लिखा है, कि मायायोगविद् सिद्ध और तापस राजा द्वारा पूजित होकर देश में निवास करें, क्योंकि दैवी आपत्तियों का निवारण उन्हीं के द्वारा किया जाता है।[5]

इसी अध्याय में अग्नि के भय का निवारण करने के लिये जिस 'मानुष अग्नि' का उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय क्या है यह स्पष्ट नहीं है। एक अन्य स्थान पर कौटल्य ने लिखा है, कि शस्त्र द्वारा वध किये गये या शूली पर चढ़ाये गये पुरुष की वाम पार्श्व की हड्डी को कल्माष (श्वेत और काले रंग) के बाँस से रगड़कर जो अग्नि पैदा की जाती है, या स्त्री व पुरुष की हड्डी को मनुष्य या पशु की हड्डी से रगड़ कर जो आग

---

१. 'तेन शलभपक्षिकृमिभयप्रतीकारा व्याख्याताः।' कौ. अर्थ. ४।३

२. 'व्यालभये मदनरसयुक्तानि पशुशवानि प्रसृजेत्।' कौ. अर्थ. ४।३

३. 'लुब्धकाः श्वगणिनो वा कूटपिञ्जरावपातैश्चरेयुः। आवरणिनः शस्त्रपाणयो व्यालान् अभिहन्युः।' कौ. अर्थ. ४।३

४. 'सर्पभये मन्त्रैरौषधिभिश्च जाङ्गलीविदश्चरेयुः। सम्भूय वोपसर्पान् हन्युः। अथर्वविदो वाभिचरेयुः।' कौ. अर्थ. ४।३

५. 'मायायोगविदस्तस्माद्विषये सिद्धतापसाः।
वसेयुः पूजिता राज्ञा दैवापत्प्रतिकारिणः।' कौ. अर्थ. ४।३

उत्पन्न की जाती है, यदि उसे दायें से बायें ओर तीन बार घुमाया जाए, तो अन्य अग्नि वहाँ नहीं जल पाती।[1] सम्भवतः, मानुष अग्नि का यही अभिप्राय है, जो औपनिषदिक क्रियाओं में प्रयुक्त होती थी।

दैवी महाभयों के अतिरिक्त कौटल्य ने पाँच 'दैवपीड़नों' का भी उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं––अग्नि, उदक, व्याधि, दुर्भिक्ष और मरक (महामारी)। इनमें से चार दैवी महाभयों के भी अन्तर्गत हैं। इनमें जनता और देश के लिये कौन अधिक हानिकारक है, इसका भी कौटल्य ने विवेचन किया है। पुराने आचार्यों का मत था, कि अग्नि और उदक (वाढ़) में अग्नि पीड़न ऐसा होता है जिसका कि प्रतीकार नहीं किया जा सकता। अन्य सबका उपशमन कर सकना सम्भव होता है, पर आग का नहीं। वाढ़ की पीड़ा का भी उपाय किया जा सकता है। पर कौटल्य इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि अग्नि तो एक ग्राम या आधे ग्राम को ही भस्म करती है, जबकि वाढ़ में सैकड़ों ग्राम वह जाते हैं।[2] इसी प्रकार पुराने आचार्यों का यह मत था, कि व्याधि और दुर्भिक्ष में व्याधि का पीड़न अधिक गम्भीर होता है, क्योंकि व्याधिके कारण कितने ही मनुष्य बीमार पड़ जाते हैं, कितनों की ही मृत्यु हो जाती है, परिचारक (नौकर, कर्मकर आदि) काम छोड़ देने को विवश हो जाते हैं, और सब कार्य बन्द हो जाते हैं। इसके विपरीत दुर्भिक्ष से कार्य बन्द नहीं होने पाते, और उनसे हिरण्य, पशु और करों की भी प्राप्ति होती है।[3] दुर्भिक्ष के निवारण के लिये राज्य जनता का कर्षण किया करता था, विशेष कर लगाता था और धनिक वर्ग से अतिरिक्त हिरण्य आदि सम्पत्ति भी प्राप्त करता था। ऐसे अवसर पर राज्य की आमदनी में वृद्धि ही होती थी। पर कौटल्य इससे भी सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि व्याधि से तो किसी एक प्रदेश का ही पीड़न होता है, और उसका प्रतीकार कर सकना भी सम्भव है। पर दुर्भिक्ष से सर्वदेश (बहुत अधिक व्यापक प्रदेश) का पीड़न

---

१. 'शस्त्रहतस्य शूलप्रोतस्य वा पुरुषस्य वामपार्श्वपर्शुकास्थिषु कल्माषवेणुना निर्मथितोऽग्निः स्त्रियाः पुरुषस्य वाऽस्थिषु मनुष्यपर्शुकया निर्मथितोऽग्निर्यत्र त्रिरपसव्यं गच्छति, न चात्रान्योऽग्निर्ज्वलति।" कौ. अर्थ. १४।२

२. 'अग्न्युदकयोरग्निपीडनमप्रतिकार्यं; सर्वं हि च शक्योपशमनं तार्याबाधकमुक्तं उदकपीडनमित्याचार्याः। नेति कौटल्यः––अग्निर्ग्राममर्धग्रामं वा दहति; उदक-वेगस्तु ग्रामशतप्रवाहीति।' कौ. अर्थ. ८।४

३. 'व्याधिदुर्भिक्षयोर्व्याधिः प्रेतव्याधितापसृष्टपरिचारकव्यायामोपरोधेन कर्माण्युप-हन्ति। "दुर्भिक्षं पुनरकर्मोपघाति हिरण्यपशुकरदायि च" इत्याचार्याः।' कौ. अर्थ. ८।४

होता है, और प्राणियों के लिये अपना निर्वाह कर सकना भी सम्भव नहीं रहता।[१] महामारी (मरक) द्वारा भी ऐसे ही परिणाम उत्पन्न होते हैं।[२]

कौटल्य की सम्मति में दुर्भिक्ष और मरक ही सबसे भयंकर "दैव पीड़न" होते हैं। इसीलिये उन्होंने इनके प्रतीकार के लिये उपायों का विशद रूप से प्रतिपादन किया है।

(४) सार्वजनिक हित के अन्य कार्य

मौर्य युग में सार्वजनिक हित के अन्य भी अनेक कार्यों का सम्पादन राज्य की ओर से किया जाता था। इनमें विविध प्रकार के मार्गों को बनवाना मुख्य है। मार्गों के सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में पृथक् रूप से विशद विवेचन करेंगे।

सार्वजनिक हित के अन्य कार्यों में कतिपय उल्लेखनीय हैं। जनता के उपयोग के लिये तालाब आदि बनवाना इनमें एक था। कौटल्य ने लिखा है—ऐसे सेतु (जलाशय आदि) बनवाये जाएँ, जिनमें सदा स्वाभाविक रूप से जल रहता हो, या जिनमें कहीं अन्यत्र से जल लाया जाता हो। या जो व्यक्ति अपनी ओर से ऐसे सेतु बनाएँ, उन्हें भूमि, मार्ग, वृक्ष और उपकरण प्रदान कर उनके प्रति अनुग्रह प्रदर्शित किया जाए।[३] इसी प्रकार पुण्य-स्थानों (तीर्थों और धर्ममन्दिरों आदि) और आरामों (उद्यान, पार्क आदि) का भी निर्माण कराया जाए।[४] बाल, वृद्ध, व्याधित (रोगी), व्यसनी (विपत्तिग्रस्त) और अनाथों का राजा द्वारा भरण-पोषण किया जाए।[५] सम्भवतः, इन सबके लिये मौर्य युग में राज्य की ओर से अनाथालय आदि की स्थापना की जाती थी, जिनका सब खर्च राज्य उठाता था। गर्भवती असहाय स्त्रियों और उनकी सन्तान के भरण-पोषण की व्यवस्था भी राज्य की ओर से की जाती थी,[६] जिनके लिये उपयुक्त संस्थाएँ तब अवश्य विद्यमान होंगी। इसीलिये राजा की दिनचर्या का विवरण देते हुए कौटल्य ने लिखा है, कि वह बाल, वृद्ध, व्याधित, व्यसनी, अनाथ और (असहाय) स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों के लिये भी समय प्रदान करे।[७] चरागाहों की रक्षा भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। स्तेन (चोर),

---

१. 'नेति कौटल्यः—एकदेशपीडनो व्याधिः शक्यप्रतीकारश्च; सर्वदेशपीडनं दुर्भिक्षं प्राणिनामपजीवनायेति।' कौ. अर्थ. ८।४

२. 'तेन मरको व्याख्यातः।' कौ. अर्थ. ८।४

३. 'सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां च बध्नतां भूमिमार्गवृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।१

४. 'पुण्यस्थानारामाणां च।' कौ. अर्थ. २।१

५. 'बालवृद्धव्याधितव्यसन्यानाथांश्च राजा बिभृयात्।' कौ. अर्थ. २।१

६. 'स्त्रियमप्रजातां प्रजातायाश्च पुत्रान्।' कौ. अर्थ. २।१

७. 'बालवृद्ध व्याधित व्यसन्यनाथानां स्त्रीणां च क्रमेण कार्याणि पश्येत्।' कौ. अर्थ. १।१९

व्याल (सिंह आदि हिंस्र पशु), विषग्राह (साँप आदि विषैले जन्तु) और व्याधियों से पशु व्रजों (चरागाहों) की रक्षा करना राज्य की ही उत्तरदायिता थी।[1] ब्राह्मण लोग अध्ययन-अध्यापन और तपस्या के कार्य में निश्चिन्त होकर व्यापृत रह सकें, इस प्रयोजन से उन्हें ऐसे अरण्य (आरण्यक आश्रम) प्रदान किये जाते थे, जिनमें स्थावर (अचेतन) और जंगम (चेतन) किसी भी प्रकार का भय न हो।[2] जो भूमि कृषि के योग्य न हो, उसे चरागाह के रूप में प्रयुक्त करने की व्यवस्था भी राज्य की ओर से की जाती थी।[3] जो भूमि-कृषि योग्य हो, उसे खेतों के रूप में परिवर्तित कराके खेती के लिये कृषकों को प्रदान करना भी राज्य का कार्य था।[4]

डाक लाने ले जाने के लिये भी कोई व्यवस्था मौर्य युग में थी या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई भी निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं है। पर गृहकपोतों (पाले हुए कबूतरों) से पत्र भेजने का कार्य इस युग में भी लिया जाता था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कौटल्य ने लिखा है कि शत्रुओं की गतिविधि की सूचना गृहकपोतों द्वारा दी जाए।[5] सम्भवतः, इन कपोतों का प्रयोग पत्रप्रेषण के लिये भी किया जाता था।

---

१. 'स्तेन व्यालविषग्राहैः व्याधिभिश्च पशु व्रजान्।' कौ. अर्थ. २।१

२. 'प्रदिष्टाभयस्थावरजङ्गमानि च ब्राह्मणेभ्यो ब्रह्मसोमारण्यानि तपोवनानि च तपस्विभ्यां गोत्रपराणि प्रयच्छेत्।' कौ. अर्थ. २।२

३. 'अकृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्।' कौ. अर्थ. २।२

४. कौ. अर्थ. २।१

५. 'अमित्राटवीसञ्चारं च राज्ञो गृहकपोतैर्मुद्रायुक्तैर्हारयेयुः।' कौ. अर्थ. २।३४

दसवाँ अध्याय

विभिन्न प्रकार के मार्ग और आने-जाने के साधन

(१) जल मार्ग

चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। अतः उसके सुशासन के लिये मार्गों का बहुत अधिक महत्त्व था। साम्राज्य की सुरक्षा और सैनिक दृष्टि से भी यह आवश्यक था, कि मार्गों की समुचित व्यवस्था हो। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के विविध मार्गों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

मार्ग दो प्रकार के होते थे, वारिपथ (जलमार्ग) और स्थलपथ (स्थल मार्ग)। कौटल्य ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि इन दोनों प्रकार के मार्गों में कौन-से अधिक उत्तम होते हैं। 'पुराने आचार्यों का मत है, कि जलमार्ग और स्थलमार्ग में जलमार्ग अधिक उत्तम हैं, क्योंकि उनमें श्रम कम पड़ता है और खर्च भी कम होता है। साथ ही, उनसे प्रभूत पण्य की भी प्राप्ति होती है।' पर कौटल्य का मत इससे विपरीत था। उनका कथन था, कि जलमार्ग में अनेकविध संकट रहते हैं, उनका उपयोग भी सदा नहीं किया जा सकता, उनमें कई प्रकार के भयों की आशंका भी रहती है, और उनमें सुरक्षा का साधन भी नहीं होता। स्थलमार्ग इनसे विपरीत प्रकार का होता है।[1] एक अन्य स्थान पर कौटल्य ने लिखा है—वारिपथ का भोग (उपयोग) सदा नहीं किया जा सकता, जबकि स्थलपथ सदा काम में लाये जा सकते हैं।[2] जलमार्गों की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कौटल्य का मत चाहे कुछ भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग में उनका सुचारु रूप से उपयोग किया जाता था। इसीलिये कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेकविध जलमार्गों के पारस्परिक गुणदोषों और उत्कृष्टता आदि का भी निरूपण किया गया है। वहाँ तीन प्रकार के मुख्य जलमार्गों का उल्लेख किया गया है—कूल पथ (समुद्र-तट के साथ-साथ का जल मार्ग), संयान-पथ (महा-समुद्र का मार्ग) और नदी पथ। कूलपथ और संयानपथ में कूलपथ अधिक उत्कृष्ट होता है, क्योंकि उस पर पण्यपट्टणों (व्यापारिक नगरों) का बाहुल्य होता है, और अनेक

---

१. 'तत्रापि—"वारिस्थलपथयोर्वारिपथः श्रेयान्, अल्प व्यय व्यायामः प्रभूतपण्योदयश्च" इत्याचार्याः। नेति कौटल्यः—संरुद्धगतिरसार्वकालिकः प्रकृष्टभययोर्निष्प्रतिकारश्च वारिपथः। विपरीतः स्थलपथः।' कौ. अर्थ. ७।१२

२. 'वारिस्थलपथभोगयोरनित्यो वारिपथभोगो नित्यस्स्थलपथभोग इति।' कौ. अर्थ. ७।११

बन्दरगाह भी उस पर पड़ते हैं। नदीपथ भी श्रेष्ठ होता है, क्योंकि उसका सदा प्रयोग किया जा सकता है, और उसमें बाधाएँ व खतरे भी नहीं होते।[1] यद्यपि मौर्य युग में समुद्र का जल-मार्ग के रूप में प्रयोग होता था, पर कौटलीय अर्थशास्त्र के इस कथन से सूचित होता है कि उसे निष्कण्टक या आशंकाओं से शून्य नहीं समझा जाता था। नदियों के अतिरिक्त नहरों (कुल्याओं) का भी जलमार्ग के रूप में प्रयोग होता था। नहर सदृश कृत्रिम (मनुष्यकृत) जलमार्गों के लिये कौटल्य ने 'कुल्या' शब्द का प्रयोग किया है। व्यापारी लोग माल लाने ले जाने के लिये उनका भी उपयोग किया करते थे। ऐसी कुल्याओं को 'भाण्डवाहिनी' (जिनसे माल लाया ले जाया जा सके) कहते थे।[2]

यद्यपि कौटल्य के अनुसार जलमार्गों में अनेकविध संकटों का सामना करना पड़ता है, और मौर्य युग में उन्हें निरापद नहीं समझा जाता था, तथापि आने-जाने और माल ढोने के लिये उनका बहुत उपयोग किया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की नौकाओं का उल्लेख किया गया है—

(१) **संयातीः नाव**:—ये बड़े जहाज होते थे, जिनका उपयोग संयान-पथों (महासमुद्र के जलमार्गों) पर किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है, कि जब कोई संयाती नाव क्षेत्र (बन्दरगाह) पर पहुँचे, तो उससे शुल्क वसूल किया जाए।[3] इसके अतिरिक्त इन संयाती नौकाओं के सम्बन्ध में कौटल्य ने यह व्यवस्था भी की है, कि यदि कोई नाव शत्रुदेश को जा रही हो या जिसने (पण्य-चरित्र पण्य के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में निर्धारित व्यवहार) और पत्तन-चरित्र (समुद्र-तट पर स्थित बन्दरगाहों के सम्बन्ध में निर्धारित व्यवहार) का उपघात किया हो, तो उसे नष्ट कर दिया जाए।[4]

(२) **प्रवहण**:—यह भी समुद्र में आने-जाने वाले जहाज की संज्ञा थी। सम्भवतः, व्यापारी जहाजों को प्रवहण कहा जाता था। उत्तराध्ययनसूत्र टीका में लिखा है कि सामुद्रिक व्यापारी प्रवहणों द्वारा महासमुद्रों को पार करते हैं।[5] मौर्य युग में भी इस प्रकार के जहाजों की सत्ता थी। विविध प्रकार की उपधाओं (परखों) द्वारा अमात्यों की किस ढंग से परीक्षा ली जाए, इसका निरूपण करते हुए कौटल्य ने लिखा है कि प्रवहण द्वारा यात्रा करने की इच्छा से एक अमात्य अन्य अमात्यों को अपने साथ चलने के लिये प्रेरित करे।

---

१. 'वारिपथे तु कूलसंयानपथयोः कूलपथः पण्यपट्टणबाहुल्याच्छ्रेयान्नदीपथो वा सातत्याद्विषह्याबाधत्वाच्च।' कौ. अर्थ. ७।१२
२. "भाण्डवाहिनीः कुल्याः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३
३. 'संयातीर्नावः क्षेत्रानुगताः शुल्कं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।२८
४. 'अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च।' कौ. अर्थ. २।२८
५. 'सामुद्रिकाः व्यापारिणः महासमुद्रं प्रवहणैस्तरन्ति।' उत्तराध्ययनसूत्र टीका।

इस प्रकार सम्भावित उद्वेग की आशंका से उन सबका अवरोध कर लिया जाए।[१] निस्सन्देह, प्रवहण ऐसे जहाज़ों की ही संज्ञा थी, जिनका उपयोग समुद्रों में किया जाता था।

(३) **महानाव**:—महानदियों (बड़ी नदियों) में बड़ी-बड़ी नौकाएँ प्रयुक्त होती थी। इनका उपयोग नावध्यक्ष के अधीन होता था। जो नदियाँ इतनी बड़ी हों कि ग्रीष्म और हेमन्त ऋतुओं में (जबकि नदियों में जल की कमी हो जाती है) भी उन्हें अन्य प्रकार से पार न किया जा सके, उनको पार करने के लिये नावध्यक्ष की ओर से ऐसी महानावें प्रयुक्त करायी जाती थीं, जिनमें शासक (कैप्टिन), नियामक (ऐसे कर्मचारी जो उन्हें ठीक दिशा में ले जाएँ या उनके मार्ग पर नियन्त्रण रखें), दात्ररश्मिग्राहक (पाल और रस्सों को संभालने वाले), और उत्सेचक (पानी बाहर निकालनेवाले) कर्मचारी नियत हों।[२] पाटलिपुत्र के समीप गंगा नदी अब भी इतनी अधिक विशाल है, कि उसमें जहाज चलते हैं। मौर्य युग में भी गंगा और अन्य अनेक नदियाँ अवश्य ही इतनी अधिक बड़ी थीं, कि उनमें ऐसी महानावें चलती थीं, जिन पर शासक, नियामक आदि बहुत-से कर्मचारी कार्य करते थे। इन नौकाओं के स्वरूप का कुछ आभास कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात किया जा सकता है।

(४) **शंखमुक्ताग्राहिणः नावः**——समुद्र से शंख और मोती निकालने के लिये विशेष प्रकार की नौकाएँ होती थीं, जिन्हें 'शंखमुक्ताग्राहिणः नावः' कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में खानों (आकरों) का वर्णन करते हुए लिखा गया है, कि खन्यध्यक्ष शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल और क्षार (समुद्री नमक) के कर्मान्त (कारखाने) स्थापित कराए, और इनके विपणन-व्यवहार (विक्रय) की भी व्यवस्था करे।[३] मौर्य युग में खानों का बहुत महत्त्व था, क्योंकि कोश उन्हीं पर निर्भर होता था। जहाँ स्थल की खानों से लोहा, ताम्बा, सोना, त्रपु आदि धातुएँ निकाली जाती थीं, वहाँ समुद्ररूपी खान से मुक्ता, प्रवाल आदि बहुमूल्य पदार्थ प्राप्त किये जाते थे। यह सब कार्य खन्यध्यक्ष के अधीन था, जो 'आकराध्यक्ष' के अधीन रहते हुए अपने कार्यों का सम्पादन करता था। जहाँ शंख मुक्ता आदि के लिये राज्य की ओर से नौकाएँ रहती थीं, जिन्हें अन्य व्यक्तियों को भी किराये पर दिया जाता था, वहाँ साथ ही लोगों के पास अपनी भी इस प्रकार की नौकाएँ होती थीं जिनसे वे शंख, मुक्ता आदि निकाल सकते थे।[४] कौन-सी खानें अधिक अच्छी होती हैं, इस विषय पर भी कौटल्य ने

---

१. **'प्रवहणनिमित्तमेकोऽमात्यः सर्वानमात्यानावहयेत्। तेनोद्वेगेन राजा तानवरुन्ध्यात्।' कौ. अर्थ. १।६**

२. **'शासकनियामकदात्ररश्मिग्राहकोत्सेचकाधिष्ठिताश्च महानावो हेमन्तग्रीष्मातर्यासु महानदीषु प्रयोजयेत्।' कौ. अर्थ. २।२८**

३. **'खन्यध्यक्षः शंखवज्रमणिमुक्ताप्रवालक्षारकर्मान्तान् कारयेत् पण्यव्यवहारं च।' कौ. अर्थ. २।१२**

४. **'शंखमुक्ताग्राहिणो नौकहाटकं दद्युः स्वनौकाभिर्वा तरेयुः।' कौ. अर्थ. २।२८**

दीदार गंज की यक्षी की मूर्ति

विचार किया है। खानें दो प्रकार की हो सकती हैं, एक वे जिनसे माल तो कम निकलने पर उसकी कीमत बहुत अधिक हो, दूसरी ऐसी जिन से माल तो बहुत निकलता हो पर उसकी कीमत कम हो। समुद्र रूपी खान को कौटल्य ने पहले प्रकार की खानों के अन्तर्गत किया है, क्योंकि उससे प्राप्त होनेवाले शंख, मुक्ता, प्रवाल आदि की कीमत अधिक होती है। पुराने आचार्यों के मत में पहले वर्ग की खानें अधिक उत्कृष्ट थीं, पर कौटल्य इससे सहमत नहीं थे।[१] कौटल्य जलमार्ग की तुलना में भी स्थलमार्गों को अधिक उत्तम समझते थे, और स्थल की खानों को भी मुक्ता, मणि आदि प्रादुर्भूत करने वाली समुद्र-खानों से। पर इसमें सन्देह नहीं, कि सामुद्रिक खानों का भी मौर्य युग में बहुत महत्त्व था, और 'शंखामुक्ताग्राहिणः नावः' उनसे मुक्ता आदि को निकालने का कार्य किया करती थीं। सामुद्रिक खानों से मुक्ता आदि निकलवाने का कार्य खन्यध्यक्ष के ही अधीन था।[२]

(५) **आप्तनाविकाधिष्ठिता नौ :**—राजा कैसे यानों और वाहनों का प्रयोग करे, इसका निरूपण करते हुए कौटल्य ने लिखा है, कि जिस नाव पर आप्त (नौकानयन में पारंगत) नाविक अधिष्ठित हों, और जिसके साथ एक अन्य नौका भी बँधी हुई हो, राजा उसी का प्रयोग करे; जो नौका वायु के वेग के वश में आ सके उसका उपयोग न करे।[३] ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में राजकीय उपयोग के लिये विशेष प्रकार की नौकाएँ होती थीं, जिन्हें पूर्णतया सुरक्षित रूप से बनाया जाता था।

(६) **हिंस्रिका : नावः**—मौर्य युग में भी सामुद्रिक डाकुओं की सत्ता थी, जो तेज चलनेवाली नौकाओं पर चढ़कर व्यापारी जहाजों को लूटने में तत्पर रहा करते थे। इनकी नौकाओं को ही 'हिंस्रिका' कहते थे। कौटल्य ने नावध्यक्ष को आदेश दिया है, कि हिंस्रिका नौकाओं को नष्ट कर दिया जाए।[४]

(७) **क्षुद्रका : नाव :**—ये छोटी नौकाएँ छोटी नदियों में काम आती थीं। कौटल्य ने दो प्रकार की नदियों का उल्लेख किया है, हेमन्तग्रीष्मतार्या (हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में भी जिनमें प्रचुर मात्रा में जल रहे) और वर्षास्राविणी (जिनमें केवल वर्षाऋतु में ही

---

१. 'तत्रापि—"महासारमल्पसारं वा प्रभूतमिति ? महासारमल्पं श्रेयः वज्रमणिमुक्ताप्रवालहेमरूप्यधातुर्हि प्रभूतमल्पसारमत्यर्घेण ग्रसते" इत्याचार्याः। नेति कौटल्यः—चिरादल्पो महासारस्य क्रेता विद्यते। प्रभूतस्सातत्यादल्पसारस्य।' कौ. अर्थ. ७।१२

२. 'अध्यक्षश्चैषां खन्यध्यक्षेण व्याख्यातः।' कौ. अर्थ. २।२८

३. 'नावं चाप्तनाविकाधिष्ठितामन्यनौप्रतिबद्धां, वातवेगवशां च नोपेयात्।' कौ. अर्थ. १।२१

४. 'हिंस्रिका निर्घातयेत्।' कौ. अर्थ. २।२८

प्रभूत जल रहे)। हेमन्तग्रीष्मतार्या महानदियाँ होती थीं, और वर्षास्राविणी क्षुद्र नदियाँ। क्षुद्रक नौकाओं का प्रयोग इन क्षुद्रिका नदियों में ही किया जाता था।[1]

(८) **राजानौ: या राजकीय नौकाएँ**--नदियों के पार उतरने के लिये राज्य की ओर से जिन नौकाओं की व्यवस्था की जाती थी, या जलमार्गों से यात्रा करने और माल ले जाने के लिये राज्य जो नौकाएँ रखता था, उन्हें 'राजानौ:' कहते थे। यात्रा आदि के लिये इनका उपयोग करने पर वेतन (पारिश्रमिक) प्रदान करना होता था।[2]

(९) **स्वतरणानि**--राजकीय नौकाओं के अतिरिक्त ऐसी नौकाएँ भी होती थीं, जिन पर व्यक्तियों का स्वत्व होता था। इन्हें 'स्वतरणानि' कहते थे।[3]

नदियों को पार करने के लिये जहाँ महानाव: और क्षुद्रका: नाव: प्रयुक्त की जाती थीं, वहाँ साथ ही कतिपय अन्य साधन भी थे जिनका कौटल्य ने उल्लेख किया है। ये साधन निम्नलिखित थे--काष्ठ संघात (लक्कड़ों या स्लीपरों को बाँध कर बनाया हुआ बेड़ा), वेणुसंघात (बाँसों को आपस में बाँध कर बनाया हुआ बेड़ा), अलाबु (तुम्बों का जोड़ा), चर्मकरण्ड (खाल से मढ़ा हुआ टोकरा), दृति (पशु की पूरी खाल को चारों ओर से सी कर बनाया गया तर, जिसमें हवा भरी जाती थी), प्लव (छोटी डोंगी), गण्डिका (छोटी नौका) और वेणिका (कानों का वेड़ा)। इनके अतिरिक्त हाथियों, खम्बों (स्तम्भों) पर फैलाये हुए फलकों और सेतुओं (पुलों) का भी नदी पार करने के लिये प्रयोग किया जाता था।[4] काष्ठसंघात आदि जिन साधनों का कौटल्य ने उल्लेख किया है, गंगा आदि नदियों में वे वर्तमान समय में भी प्रयुक्त किये जाते हैं। कौटल्य ने इनका उल्लेख 'स्कन्धावार प्रयाण' के प्रकरण में किया है। सेनाएँ जब किसी शत्रु राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रयाण करती थीं, तो नदियों के पार उतरने के लिये इन साधनों का प्रयोग किया ही जाता था। पर अन्य दशाओं में भी ये प्रयुक्त होते होंगे, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

कौटलीय अर्थशास्त्र (२।२८) से जलमार्गों और उनमें प्रयुक्त होनेवाले जहाजों तथा नौकाओं के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। नौकानयन विभाग के अध्यक्ष को 'नावध्यक्ष' कहते थे। राज्य के इस अमात्य का कार्य यह था, कि वह समुद्र, संयान (महासमुद्र) और नदीमुख (नदियों के मुहाने, जहाँ नदियाँ समुद्र में गिरती हैं) में प्रयुक्त होने वाले तरों (जहाज, नौका आदि) और (जनपद के) स्थानीय आदि (क्षेत्रों) में विद्यमान झीलों, सरों और नदियों में प्रयुक्त होने वाले तरों की व्यवस्था करे।

---

१. 'क्षुद्रका: क्षुद्रिकासु वर्षास्राविणीषु।' कौ. अर्थ. २।२८
२. 'यात्रावेतनं राजानौभिस्सम्पतन्त:।' कौ. अर्थ. २।२८
३. 'स्वतरणैस्तरताम्।' कौ. अर्थ. २।२८
४. कौ. अर्थ. १०।२

समुद्र तट और नदियों के तट पर स्थित ग्रामों से एक विशेष कर लिया जाता था, जिसे 'क्लृप्त' कहते थे। समुद्र और नदियों से जो लोग मछली पकड़ें, नावध्यक्ष उनसे छठा भाग (जो मछलियाँ उन्होंने पकड़ी हों, उनका छठाँ भाग) प्राप्त करता था। जो व्यापारी बन्दरगाहों पर नौकाओं द्वारा माल लाएँ, उनसे बन्दरगाह के व्यवहार के अनुसार शुल्क लिया जाता था। बन्दरगाहों के अपने चरित्र व व्यवहार होते थे, जो पत्तनाध्यक्ष द्वारा 'निबन्ध' (रजिस्टर्ड)किये जाते थे। नावध्यक्ष के लिये आवश्यक था कि वह उनका पालन करे, और उन्हीं के अनुसार शुल्क आदि वसूल करे। जब कोई जहाज मूढ़ वात (तेज आँधी) से आहत होकर बन्दरगाह पर आए, तो उसके प्रति ऐसा बरताव किया जाए जैसा कि पिता पुत्र के प्रति करता है। यदि किसी जहाज का माल पानी से खराब हो जाए, तो उससे या तो शुल्क लिया ही न जाए या आधा शुल्क लिया जाए। नौकाओं को केवल ऐसे स्थानों से ही नदियों को पार करने दिया जाए, जो पार उतरने के लिये नियत हों। अन्यथा यह भय बना रहता है, कि कहीं राजद्विष्टकारी (राजद्रोही) लोग नदी के पार न उतर जाएँ। यदि कोई व्यक्ति अतीर्थ (जो स्थान नौकाओं से पार उतरने के लिये नियत न हो) से या अकाल (असमय) पर नदी के पार जाए, तो उसे पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। यदि कोई व्यक्ति बिना अनुमति के तीर्थ से और निर्धारित समय पर भी नदी को पार करे, तो उस पर २६$\frac{3}{4}$ पण जुरमाना किया जाए। (कौ० अर्थ० २।२८)

समुद्र मार्ग से अपने राज्य के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले लोगों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी। पर ऐसे विदेशी व्यापारियों को अपने राज्य में आने दिया जाता था, जो पहले भी आते रहे हों और जिन्हें सार्थों (काफिलों) के व्यापारी भली भाँति जानते हों। नौकाओं द्वारा यात्रा करनेवाले या नदियों के पार उतरनेवाले व्यक्तियों का ध्यान पूर्वक निरीक्षण किया जाता था। यदि किन्हीं व्यक्तियों पर निम्नलिखित प्रकार के अपराधी होने का सन्देह हो, तो उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जाता था––दूसरे की स्त्री, कन्या या धन का अपहरण करने वाला; शंकित (सन्देहास्पद गतिविधि वाला); आविग्न (जो उद्विग्न प्रतीत हो), उद्भाण्डीकृत (जिसके पास कोई भी माल-असबाब न हो); जो अपने सामान को छिपाने का प्रयत्न कर रहा हो, जिसने भेस बदला हुआ हो, जो अभी प्रव्रजित हुआ हो, जो रोगी होने का बहाना कर रहा हो, जो भयभीत प्रतीत होता हो, जो छिपा कर कीमती माल, शस्त्र और अग्नियोग (विस्फोटक पदार्थ) ले जा रहा हो, जो कोई गुप्त संदेश ले जा रहा हो, जिसके हाथ में विष हो, और जो बिना मुद्रा (अनुमति की सूचक मुद्रा) के यात्रा कर रहा हो। (कौ० अर्थ० २।२८)

राज्य की सीमा पर स्थित नदियों को पार करते समय सामान्य शुल्क के अतिरिक्त आतिवाहिक और वर्तनी नामक दो अन्य कर भी नावध्यक्ष द्वारा वसूल किये जाते थे। आतिवाहिक नौका पर अतिरिक्त-कर था, और वर्तनी मार्ग के कर को कहते थे। सीमावर्ती नदियों के पार उतरने के लिये मुद्रा (अनुमति-पत्र या पास) प्राप्त कर लेना आवश्यक

था। यदि कोई व्यक्ति मुद्रा प्राप्त किये विना नदी को पार करे, तो उसका सब भाण्ड (पण्य-द्रव्य) जब्त कर लिया जाता था।

जव नौकानयन पर राज्य इतने कर वसूल करता था, तो उसकी अनेक उत्तरदायिताएँ भी होती थीं। यदि भार के अधिक होने के कारण या असमय पर नाव चलाने के कारण या समुचित स्थान (तीर्थ) के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान से नाव ले जाने के कारण, कर्मचारियों की कमी के कारण, या उपकरणों के न होने के कारण और या ठीक मरम्मत न होने के कारण नाव डूब जाए, तो नावध्यक्ष का कर्तव्य था कि वह व्यापारी व यात्रियों की क्षतिपूर्ति करे। (कौ० अर्थ० २।२८)

वर्षाऋतु में केवल वे ही नौकाएँ प्रयोग में लायी जा सकती थीं जो पूर्णतया विश्वसनीय हों। इसके लिये कार्मिक (नाविक कर्म के विशेषज्ञ) से नौका को प्रमाणित कराना आवश्यक होता था। कौटल्य ने लिखा है--आपाढ़ मास के प्रथम सप्ताह की समाप्ति से शुरू कर कार्तिक मास के अन्त तक के वीच के काल में कार्मिक से प्रमाण-पत्र प्राप्त की हुई नौकाएँ ही प्रयोग में लायी जाएँ और उनकी प्रतिदिन देख-भाल की जाए। आषाढ़ से कार्तिक तक ही वर्षाकाल होता है, जवकि नदियों में वाढ़ आ जाती है और वर्षा की अधिकता के कारण नौकानयन सुरक्षित नहीं रहता। इसीलिये यह व्यवस्था की गई थी।

ग्रीक लेखकों के विवरणों से भी यह ज्ञात होता है कि मौर्य युग में नौकानयन अच्छी विकसित दशा में था। वहुत-से भारतीय शिल्पी नौकाओं और जहाजों के निर्माण में व्यापृत थे। जव सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसने भारतीय नौकाओं द्वारा ही सिन्ध और जेहलम आदि नदियों को पार किया था। भारत से लौटते समय उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया था। वह स्वयं उस सेना के साथ गया था, जो कि स्थलमार्ग से मकरान होती हुई मैसिडोन गई थी। दूसरी सेता नियार्कस के सेनापतित्त्व में जल मार्ग से सिन्ध नदी होती हुई अरव सागर में पहुँची थी, और वहाँ से लाल सागर होती हुई पश्चिमी एशिया गई थी। नियार्कस की सेना ने इस यात्रा में भारतीय जहाजों का ही प्रयोग किया था। एरियन के अनुसार इस जहाजी वेड़े में ८०० जहाज थे। पर कर्टियस और डायोडोरस ने इस जहाजी वेड़े के जहाज़ों की संख्या १००० लिखी है, और टाल्मी ने २०००। नियार्कस के जहाजी वेड़े में चाहे कितने ही जहाज क्यों न हों, पर यह निश्चित है कि मौर्य युग के प्रारम्भ काल में भारत नौकानयन के क्षेत्र में वहुत उन्नति कर चुका था। यही कारण है, जो सिकन्दर अपनी सेना के लिये इतने जहाज एकत्र कर सका था। मैगस्थनीज़ ने लिखा है, कि हथियार वनाने वालों और जहाज के निर्माताओं को राज्य की ओर से वेतन मिलता है। ये लोग केवल राज्य के लिये ही काम करते हैं। स्ट्रैवो का कथन है, कि राज्य की ओर से यात्रा और व्यापार के लिये नौकाएँ किराये पर दी जाती हैं।

नदियों को नौका द्वारा पार करते हुए क्या शुल्क लिया जाता था, इस सम्वन्ध में भी कौटलीय अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। भार से लदे हुए छोटे पशु (भेड़, वकरी आदि)

और बोझ लिये हुए मनुष्य के लिये शुल्क की मात्रा एक मापक थी। जिस मनुष्य ने सिर पर बोझ उठाया हुआ हो, या पीठ पर बोझ लिया हुआ हो, उससे दो माषक शुल्क लिया जाता था। यही शुल्क गाय और घोड़े के लिये भी था। ऊँट और भैंस के लिये शुल्क की मात्रा चार माषक थी। छोटी गाड़ी से पाँच माषक, बैलगाड़ी से छः माषक और शकट (बड़ी गाड़ी) से सात माषक शुल्क लिया जाता था। पर यदि पण्य (बिक्री का माल) ले जाया जा रहा हो, तो शुल्क की दर साधारण दर से एक चौथाई होती थी। बड़ी नदियों को पार करने के लिये शुल्क की मात्रा साधारण दर से दुगुनी होती थी। अन्य प्रकार की सवारियों के लिये भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी।

(२) स्थल मार्ग

मौर्य साम्राज्य बहुत विस्तृत था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वतमाला तक और उत्तर में हिमालय से लगाकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक मौर्यों की शक्ति का विस्तार हो चुका था। इस विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिये सड़कों की सत्ता अनिवार्य थी। कौटलीय अर्थशास्त्र (७।१२) में इन स्थलपथों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश विद्यमान हैं। वहाँ लिखा है—स्थल-पथों में हैमवत-पथ दक्षिण-पथ की तुलना में अधिक श्रेय (लाभकर या उत्तम) है, क्योंकि हाथी, घोड़े, सुगन्धियाँ, हाथी दाँत, चमड़ा, चाँदी और सोना आदि बहुमूल्य पण्य इसी मार्ग से प्राप्त होता है—यह पुराने आचार्यों का मत था। पर कौटल्य इससे सहमत नहीं थे। उनके मत में हैमवत पथ की तुलना में दक्षिण-पथ अधिक श्रेष्ठ था, क्योंकि कम्बल, चमड़े और घोड़ों के अतिरिक्त शंख, वज्र, मणि, मुक्ता और सुवर्ण का पण्य दक्षिण पथ में ही प्रभूत मात्रा में प्राप्य था। दक्षिण-पथों में भी वह वणिक् पथ अधिक श्रेष्ठ था, जिस पर बहुत-सी खानें पड़ती थीं और जिस पर से बहुत-सा कीमती पण्य प्राप्त किया जाता था। इस मार्ग पर आना-जाना अधिक रहता था, और इस पर परिश्रम भी कम पड़ता था। कौटल्य ने पूर्व की ओर और पश्चिम की ओर जानेवाले मार्गों का भी उल्लेख किया है, पर उनमें कौन-सा श्रेष्ठ है इसका निरूपण नहीं किया। मार्गों की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कौटल्य ने यह मत प्रतिपादित किया है, कि जिससे बहुत प्रकार का और बहुमूल्य पण्य प्राप्त हो, वही मार्ग श्रेष्ठ है।

इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग में चार राजमार्ग प्रधान थे, जो पाटलिपुत्र से उत्तर (हिमालय) की ओर, दक्षिण की ओर, पूर्व की ओर और पश्चिम की ओर जाते थे। ये चारों मार्ग जहाँ व्यापार के काम में आते थे, वहाँ सैनिक दृष्टि से भी इनका बहुत महत्त्व था। कौटल्य ने लिखा है, कि 'शत्रु पर आक्रमण करने का आधार वणिक् पथ (व्यापारी मार्ग) ही है। वणिक्पथ से ही सेना और गुप्तचरों का आना-जाना होता है, और शस्त्र, कवच, यान और वाहन का क्रय भी उन्हीं से किया जाता है; (राज्य में) प्रवेश और बाहर

जाना भी उन्हीं के द्वारा होता है।' निस्सन्देह, मौर्य युग में इन राजमार्गों या वणिक्पथों, का वहुत अधिक उपयोग था। जहाँ ये व्यापारी सार्थों और यात्रियों के काम में आते थे, वहाँ साथ ही सेनाओं का आना-जाना भी इन्हीं के द्वारा होता था। सम्भवतः, इसीलिये कौटल्य ने जलमार्गों की तुलना में स्थलमार्गों को अधिक श्रेष्ठ माना है। हिमालय से समुद्र-पर्यन्त विस्तीर्ण मौर्य साम्राज्य के सुशासन की व्यवस्था इन स्थल-पथों पर ही आधारित थी। राजा अशोक के शिलालेखों से सूचित होता है, कि इस मौर्य समाट् ने अपने राज्य के क्षेत्र में और पड़ोस के चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी आदि राज्यों में पशुओं और मनुष्यों की सुख-सुविधा के लिये वृक्ष लगवाये थे और कुएँ खुदवाये थे। यह प्रथा पहले-पहल अशोक ने ही प्रारम्भ की थी, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। उससे पूर्व भी मौर्य साम्राज्य के चारों प्रधान स्थल-पथों के साथ-साथ छाया के लिये वृक्षों और जल के लिये कुओं की व्यवस्था थी, यह कल्पना सुगमता से की जा सकती है।

मौर्य युग के इन स्थल-पथों के सम्बन्ध में ग्रीक यात्रियों के विवरणों से भी अनेक महत्त्व-पूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन यात्रियों ने उस मार्ग का वर्णन किया है, जो पाटलिपुत्र से पश्चिम की ओर सिन्ध नदी या उससे भी परे तक जाता था, और जो पाटलिपुत्र से पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी तक चला गया था। मैगस्थनीज़ ने इसी मार्ग से यात्रा की थी, और वह इससे वहुत अधिक प्रभावित हुआ था। प्लिनी ने इस मार्ग का विवरण देते हुए लिखा है, कि इस पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मार्गसूचक और दूरी के परिचायक चिन्ह (Mile Stones) लगे हुए थे। प्लिनी के अनुसार यह मार्ग सिन्ध नदी के तट से शुरू होकर उस स्थान से सतलज को पार करता था, जहाँ कि यह नदी व्यास नदी से जा मिलती है, वहाँ से यह पूर्व-उत्तर की ओर मुड़ जाता था और हस्तिनापुर के समीप से गंगा को पार करता था। इसके वाद यह कन्नौज और प्रयाग होता हुआ पाटलिपुत्र जा पहुँचता था।[१] ग्रीक विवरणों के अनुसार यह मार्ग लम्वाई में १०,००० स्टेडिया (११५६ मील के लगभग) था।[२]

जातक ग्रन्थों से भी प्राचीन काल के स्थल मार्गों के विषय में अनेक वातें ज्ञात होती हैं। जातकों की रचना मौर्य युग से कुछ समय पूर्व ही हुई थी। एक जातक कथा के अनुसार एक मार्ग राजगृह (मगध की पुरानी राजधानी) से गंगा के उत्तर में वैशाली होता हुआ कुशीनारा और फिर हिमालय की तराई से गुजर कर श्रावस्ती पहुँचता था। सम्भवतः, यही वह मार्ग था जिसे कौटल्य ने पाटलिपुत्र से उत्तर की ओर जाने वाले स्थल-पथ के रूप

१. K. A. Nilakanta Sastri—A Comprehensive History of India, Vol. II. pp. 70-71.

२. R. C. Majumdar—The Age of Imperial Unity (Bharatiya Vidya Bhavan) p. 606.

में उल्लिखित किया है। जातक-कथाओं में एक अन्य मार्ग का भी उल्लेख है, जो श्रावस्ती से दक्षिण-पश्चिम की ओर जाता था, और जो कौशम्बी तथा विदिशा होता हुआ गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान जा पहुँचता था। बंगाल की खाड़ी पर स्थित ताम्रलिप्ति और पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित भरुकच्छ और शूर्पारक (सोपारा) के बन्दरगाहों का स्थल-मार्गों द्वारा श्रावस्ती और पाटलिपुत्र के साथ सम्बन्ध विद्यमान था। एक अन्य मार्ग राजस्थान के मरुस्थल से होकर सिन्ध जाता था। मरुस्थल में दिन के समय यात्रा कर सकना सम्भव नहीं था, अतः यात्री और व्यापारियों के सार्थ (काफिले) रात्रि के समय इस सुविस्तृत मरुस्थल को पार करते थे, और दिशा के ज्ञान के लिये नक्षत्रों की स्थिति और 'थलनियामकों' (मरुस्थल में मार्ग प्रदर्शित करने वालों) की सहायता लेते थे।[१]

वणिक् पथों का निर्माण राज्य द्वारा ही कराया जाता था, और वही मरम्मत आदि कराके उन्हें अच्छी दशा में रखता था, इस सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। वहाँ लिखा है कि राजा आकर (खान), कर्मान्त (कारखाने), द्रव्यवन (लकड़ी आदि के जंगल), हस्तिवन, व्रज (चरागाह) और वणिक् पथों का निर्माण कराये और वारि-पथों तथा स्थल-पथों पर पण्यपत्तन (व्यापारिक मण्डयाँ) स्थापित कराए।[२] कौटल्य ने जहाँ क्षीण हुए राजकोश को पूर्ण करने के उपायों का प्रतिपादन करते हुए सम्पन्न व्यक्तियों पर विशेष कर लगाने का विधान किया है, वहाँ कतिपय ऐसे अपवादों का भी उल्लेख किया है जिन पर ऐसे अवसरों पर भी अतिरिक्त कर नहीं लगाने चाहियें। इनमें ऐसे व्यक्तियों को भी अन्तर्गत किया गया है, जो कि वणिक्पथों के निर्माण में सहायक हों।[३] निस्सन्देह, मौर्य युग में इन वणिक्पथों का बहुत महत्त्व था, क्योंकि राज्य को इनसे बहुत आमदनी होती थी। इसीलिये कौटल्य ने 'आय-शरीर' (आय के साधनों) में वणिक्पथ का भी उल्लेख किया है।[४]

मौर्य साम्राज्य में चार बड़े वणिक् पथों की सत्ता थी, जो पाटलिपुत्र से उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम की ओर जाते थे। पर इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से स्थल-मार्ग उस युग में विद्यमान थे। ये मार्ग दो प्रकार के थे—जनपदों के मार्ग और पुरों या दुर्गों के मार्ग। मौर्य युग के भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, यह पहले लिखा जा चुका है। बड़े वणिक् पथ इन्हें आपस में मिलाते थे, और उनके द्वारा एक जनपद से दूसरे जनपद में

---

१. K. A. Nilakanta Sastri—A Comprehenstive History of India, Vol. II. p. 71.

२. **'आकर कर्मान्त द्रव्य हस्तिवन व्रजवणिक्पथप्रचारान् वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्।' कौ. अर्थ. २।१**

३. **'दुर्गसेतुकर्मवणिक्पथ...उपकारिणं प्रत्यन्तमल्पप्राणं वा याचेत।' कौ. अर्थ. ५।२**

४. **कौ. अर्थ. २।६**

आया-जाया जा सकता था। पर प्रत्येक जनपद में अनेक आन्तरिक पथों या मार्गों की भी सत्ता थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में जनपदों के निम्नलिखित मार्गों का उल्लेख किया गया है[1]—(१) राष्ट्रपथ–जनपद की राजधानी (पुर या दुर्ग) से जो अनेक मार्ग जनपद के विविध क्षेत्रों में जाते थे, उन्हें राष्ट्रपथ कहते थे। (२) स्थानीय पथ—प्रत्येक जनपद अनेक स्थानीयों में विभक्त होता था। एक 'स्थानीय' में प्रायः ८०० ग्राम हुआ करते थे। स्थानीय के मध्य में एक स्थानीय-पुर या दुर्ग होता था। जनपद की राजधानी (पुर) से स्थानीय-दुर्गों को जो मार्ग मिलाते थे, उन्हें 'स्थानीय-पथ' कहते थे। (३) द्रोणमुख-पथ–जनपद का एक अन्य विभाग 'द्रोणमुख' कहाता था, जिसमें प्रायः ४०० ग्राम हुआ करते थे। सम्भवतः, छोटे आकार के स्थानीय को ही द्रोणमुख कहा जाता था। स्थानीय के समान द्रोणमुख का भी एक केन्द्र होता था, जिसे द्रोणमुख-दुर्ग कहते थे। जनपद की राजधानी से द्रोणमुख-दुर्ग को मिलाने वाले मार्ग की द्रोणमुख-पथ संज्ञा थी। (४) विवीत-पथ–जनपद में अनेक चरागाह (विवीत) हुआ करते थे, जिनका उस युग में बहुत महत्त्व था। विवीतों को जानेवाले मार्गों को 'विवीत पथ' कहते थे। (५) सेतुपथ–जनपद में जो सेतुबन्ध (नदी, सर, तटाक आदि पर बाँधे गये बाँध या डाम) हों, उन तक जानेवाले मार्ग को सेतुपथ कहा जाता था। (६) वनपथ-जंगल के मार्गों की वनपथ संज्ञा थी। (७) हस्तिक्षेत्र-पथ–मौर्य युग में सेना के लिये हाथियों का बहुत महत्त्व था। कौटल्य ने हस्तिसेना को ही शत्रुओं की विजय का प्रधान आधार प्रतिपादित किया है। अतः अनेक जनपदों में हाथी पालने के लिये पृथक् हस्ति-क्षेत्र सुरक्षित रखे जाते थे। उनको जाने वाले मार्गों को हस्ति-क्षेत्र पथ कहते थे। (८) महापशु पथ–गाय, भैंस, घोड़ा और ऊँट आदि बड़े पशुओं के प्रयोग के लिये निर्मित मार्गों की संज्ञा महापशु-पथ थी। (९) क्षुद्र-पशु पथ–भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं के मार्ग क्षुद्र-पशु पथ कहलाते थे। (१०) मनुष्य-पथ–पैदल चलने वाले मनुष्यों की पगडण्डी को मनुष्य-पथ कहते थे (११) श्मशान पथ, (१२) ग्रामपथ—ग्रामों को परस्पर मिलानेवाले मार्ग। (१३) सयोनीय पथ[2]—ऐसे मार्ग जो एक स्थान से पृथक् होकर पुनः एक स्थान पर मिल जाएँ। (१४) रथ पथ[3]—रथ आदि गाड़ियों के लिये प्रयुक्त होने वाले मार्ग।

ये विविध प्रकार के मार्ग चौड़ाई में कितने होते थे, इस विषय पर भी कौटलीय अर्थ-शास्त्र में कतिपय निर्देश विद्यमान हैं। सेतुपथों और वनपथों की चौड़ाई चार दण्ड (एक दण्ड=दो गज) होती थी, और हस्तिक्षेत्र पथ की दो दण्ड। रथ-पथ चौड़ाई में पाँच अरत्नि (एक दण्ड =चार अरत्नि) होता था, और पशुपथ चार अरत्नि चौड़ा। क्षुद्र पशु-

१. कौ. अर्थ. ३।१०
२. कौ. अर्थ. २।४
३. कौ. अर्थ. २।४

पथ और मनुष्यपथ की चौड़ाई २ अरत्नि होती थी। राष्ट्रपथों, स्थानीय पथों, द्रोणमुख पथों और विवीतपथों की चौड़ाई चार दण्ड होती थी।[१] निस्सन्देह, मौर्य युग के जनपदों के ये मार्ग पर्याप्त चौड़े हुआ करते थे।

जनपद के सुशासन और पण्य के लाने-ले जाने के लिये इन मार्गों का इतना अधिक महत्त्व था, कि इन्हें किसी प्रकार से क्षति पहुँचाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। कौटल्य ने इस दण्ड की व्यवस्था इस प्रकार की है—क्षुद्र पथ पशु, पथ और मनुष्य पथ को क्षति पहुँचानेपर १२ पण, महापशु पथ को क्षति पहुँचाने पर २४ पण, हस्तिक्षेत्र पथ को क्षति पहुँचाने पर ५४ पण, सेतु पथ और वनपथ को क्षति पहुँचाने पर ६०० पण, श्मशान पथ और ग्राम पथ को क्षति पहुँचाने पर २०० पण, द्रोणमुखपथ को क्षति पहुँचाने पर ५०० पण और स्थानीय पथ, राष्ट्रपथ और विवीतपथ को क्षति पहुँचाने पर १००० पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था।[२]

जनपदों के विविध मार्गों के अतिरिक्त कौटलीय अर्थशास्त्र में उन मार्गों का भी उल्लेख किया गया है, जो नगरों (पुरों या दुर्गों) में बनाये जाते थे। मौर्य युग में पुरों को दुर्गों के रूप में बनाया जाता था, जो प्राचीर और परिखा से घिरे हुए रहते थे। सुरक्षा के लिये पुरों का दुर्गों के रूप में निर्माण आवश्यक था। कौटल्य ने जिस आदर्श नगर या दुर्ग का निरूपण किया है, उसमें छः राजमार्ग होने चाहियें, जिनमें से तीन पूर्व से पश्चिम की ओर जाएँ और तीन उत्तर से दक्षिण की ओर।[३] इस प्रकार नगर में १२ द्वार हो जाएँगे, तीन पूर्व दिशा में, तीन पश्चिम दिशा में, तीन दक्षिण में और तीन उत्तर में। राजा अपने आने-जाने के लिये इन राजमार्गों का ही प्रयोग करता था। राजा के राजमार्ग से जाते समय उसके दोनों ओर दण्डधारी (पुलिस के सिपाही) खड़े रहते थे, और उस समय किसी भी ऐसे व्यक्ति को राजमार्ग पर नहीं आने दिया जाता था, जिसके हाथ में कोई शस्त्र हो, या जो प्रवजित अथवा विकलाङ्ग हो। लोगों की भीड़ भी तब राजमार्ग पर नहीं होने दी दी जाती थी।[४] राजमार्ग की चौड़ाई चार दण्ड होती थी।

राजमार्ग के अतिरिक्त नगर में एक अन्य प्रकार का मार्ग भी होता था, जिसे 'रथ्या' कहते थे। इसकी चौड़ाई भी चार दण्ड होती थी।[५] यह मार्ग सम्भवतः नगरवासियों की रथों के लिये प्रयुक्त होता था। नगरों में अन्य भी अनेक मार्ग होते थे, जैसे सयोनीय पथ,

---

१. कौ. अर्थ. २।४

२. कौ. अर्थ. ३।१ङ

३. **'त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः। स द्वादशद्वारो युक्तोदक भूमिच्छिन्नपथः।'** कौ. अर्थ. २।४

४. कौ. अर्थ. १।२१

५. **'चतुर्दण्डान्तरा रथ्या।'** कौ. अर्थ. २।४

व्यूहपथ (सैनिक छावनी को जाने वाला मार्ग), श्मशानपथ, रथपथ, पशुपथ आदि ।[१] कौटल्य ने कतिपय अन्य भी मार्गों का उल्लेख किया है, जिन्हें दुर्गों में बनाया जाता था। ये रथचर्या-सञ्चार, प्रतोली, देवपथ और चार्या कहते थे। रथचर्या सञ्चार एक विशेष प्रकार का मार्ग होता था, जिसे प्रायः शिलाओं द्वारा निर्मित किया जाता था। इसके निर्माण के लिये काष्ठ का प्रयोग निषिद्ध था, क्योंकि अग्नि काष्ठ में छिपी रहती है।[२] अट्टालकों या बुर्जों के मार्ग को प्रतोली कहते थे। चार्या भी एक ऐसी सड़क को कहा जाता था, जो दुर्ग में बनायी जाती थी।[३] देवमन्दिर को जाने वाले मार्ग को देवपथ कहते थे। पुरों या नगरों में अनेक देवमन्दिर होते थे, जिनमें नगरनिवासी देवदर्शन और पूजा के लिये आया-जाया करते थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेकविध यानों का भी उल्लेख किया गया है, जिनका प्रयोग स्थल-मार्गों पर किया जाता था। ये यान पारियाणिक रथ (यात्रा के लिये प्रयुक्त होने वाला रथ), सांग्रामिक रथ (युद्ध के उपयोग में आनेवाला रथ), परपुराभियानिक रथ (शत्रुओं के दुर्गों पर आक्रमण के लिये प्रयुक्त होने वाला रथ), वैनयिक रथ (जिनका उपयोग सैनिक शिक्षा के लिये किया जाए), देवरथ (देवमूर्तियों की यात्रा के लिये प्रयुक्त होने वाला रथ), पुष्प रथ[४] (उत्सवों में काम आनेवाले रथ), लघु यान (छोटी गाड़ी), गोलिङ्ग यान (बैलगाड़ी), शकट[५] (माल ढोनेवाली गाड़ी), शिविका (पालकी) और पीठिका (डोली) होते थे। इनके अतिरिक्त हस्ति, अश्व और उष्ट्र का सवारी और माल ढोने के लिये वाहन के रूप में प्रयोग किया जाता था। यानों को खींचने के लिये भी घोड़े, बैल और ऊँट काम में आते थे।

रथों के निर्माण के लिये राज्य की ओर से कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किये जाते थे, जो 'रथाध्यक्ष' के अधीन होते थे।[६] इन कर्मान्तों में स्थायी रूप से भृत (वेतन पर रखे हुए) और अभृत (सामयिक रूप से रखे हुए) कर्मचारियों को समुचित रूप से पारिश्रमिक और पुरस्कार आदि देकर संतुष्ट रखना रथाध्यक्ष का ही कार्य था। अध्वमान कर्म (मार्गों की मपाई करने का कार्य) भी इसी अमात्य को करना होता था। रथ चलाने के लिये सारथि,

---

१. कौ. अर्थ. २।४

२. 'रथचर्यासञ्चारं...शिलासहितं शैलं वा कारयेत् । न त्वेव काष्ठमयमग्निरवहितो हि तस्मिन् भवति।' कौ. अर्थ. २।३

३. 'दण्डान्तरा द्विदण्डान्तरा वा चार्याः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३

४. 'देवरथपुष्परथसांग्रामिकपारियाणिकपरपुराभियानिकवैनयिकांश्च रथान् कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३३

५. कौ. अर्थ. २।२८

६. 'स रथकर्मान्तान् कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।३३

रथिक आदि अनेक कर्मचारी कार्य करते थे। रथों का युद्ध के लिये बहुत उपयोग था। अपनी सेना की रक्षा, शत्रु के चतुरंग बल को पराभूत करना, युद्ध के समय सैन्य-स्थिति को छोड़ देना या प्राप्त कर लेना, छिन्न-भिन्न हुई अपनी सेना को संगृहीत करना और शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न करना, शत्रुसेना का त्रासन करना और उसके प्रति उदारता प्रदर्शित करना, और भीम घोष करना रथ सेना के कार्य थे।[१] सामान्यतया, रथों में घोड़े जोते जाते थे, पर घोड़ों की कमी होने पर बैल भी उनमें जोते जा सकते थे। शकटों को चलाने के लिये खरों (गधों) और उष्ट्रों (ऊँटों) का प्रयोग किया जाता था। जब हाथियों की कमी हो, तो खर-शकटों और उष्ट्र-शकटों से भी सेना के लिये माल ढोने का काम लिया जाता था।[२]

ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में विविध प्रकार के स्थल मार्गों की सत्ता थी और उनसे आने-जाने के लिये अनेकविध यान भी उस समय प्रयोग में लाये जाते थे। वर्तमान समय में जिन स्थल-मार्गों को 'ग्रान्ड ट्रंक रोड' कहा जाता है, उनका पूर्वरूप उस समय में भी विद्यमान था। बाद के भारतीय राजा इन्हीं मार्गों को विकसित करते रहे।

---

१. कौ. अर्थ. १०।४

२. कौ. अर्थ. १०।४

ग्यारहवाँ अध्याय

आर्थिक दशा

(१) कृषि

वर्तमान समय के समान मौर्य युग में भी भारत के आर्थिक जीवन में खेती का स्थान सर्वप्रधान था। मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीयों की "दूसरी जाति में किसान लोग हैं जो दूसरों से संख्या में कहीं अधिक जान पड़ते हैं, पर युद्ध करने तथा अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में ही लगाते हैं।[१] " एरियन के अनुसार "भारत में बहुत-से लोग किसान हैं जो कि अन्न से अपना निर्वाह करते हैं[२]।" यद्यपि मौर्य युग में भी कृषि ही भारत का मुख्य व्यवसाय था, पर आजकल के समान उस समय कृषकों की दशा हीन और असंतोषजनक नहीं थी। इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज के भारत-वर्णन से कतिपय उद्धरण महत्त्व के हैं—

"भूमि का अधिक भाग सिंचाई में है। अतः उसमें एक वर्ष में दो फसलें तैयार होती हैं।[३]"

"यहाँ के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डील डौल से अधिक होते हैं, और अपनी गर्वीली चेष्टा के लिये प्रसिद्ध हैं।[४] "

"भूमि पशुओं के निर्वाह-योग्य तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारत में अकाल कभी नहीं पड़ा है, और खाने की वस्तुओं की महँगाई साधारणतया कभी नहीं हुई है। चूँकि यहाँ वर्ष में दो बार वर्षा होती है—एक जाड़े में जबकि गेहूँ की बुआई होती है, और दूसरी गरमी के टिकाव के समय जो कि तिल और ज्वार बोने के लिये उपयुक्त ऋतु है, अतएव भारतवर्ष में दो फसलें काटते हैं, और यदि इनमें से एक फसल बिगड़ भी जाती है तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त एक साथ होने वाले फल और मूल जो दलदलों में उपजते हैं और भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों को प्रचुर निर्वाह-सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है, कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी सीलन रहती है जो समभाव से उपजाऊ होती है, चाहे यह सीलन नदियों द्वारा प्राप्त हुई हो और चाहे गरमी की वर्षा के जल द्वारा—जो

---

१. McCrindle : Magasthenes p. 39.

२. Ibid. p. 216.

३. Ibid. p. 30.

४. Ibid. p. 30

कि प्रत्येक वर्ष एक नियत समय पर आश्चर्यजनक क्रम के साथ वरसा करता है। कड़ी गरमी मूलों को और विशेपतया कसेरू को पकाती है।[१]"

दुर्भिक्ष की सम्भावना न होने का कारण केवल यही नहीं था कि इस देश में वर्षा नियमित रूप से होती थी, पर भूमि की सिंचाई का अन्य भी प्रवन्ध था। इस विषय में मैगस्थनीज़ ने लिखा है—"परन्तु इतने पर भी भारतवासियों में वहुत-सी ऐसी प्रथाएँ हैं जो उनके वीच अकाल पड़ने की सम्भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की चाल है, पर इसके विपरीत भारतवासियों में,जो कृषक समाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने-वाले चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विच-लित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुए हैं उन्हें सर्वतोभाव से निर्विघ्न पड़ा रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उनके पेड़ काटते हैं।[२]"

भारत में कृषक समाज को पवित्र और अवध्य माना जाता था, इस बात को मैगस्थनीज़ ने अनेक वार दोहराया है। एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है—"शत्रु निज भूमि पर काम करते हुए किसी किसान को हानि नहीं पहुँचाता, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसाधारण जनता द्वारा हितकारी माने जाने के कारण सब हानियों से वचाये जाते हैं।[३]"

मौर्य युग में किन वस्तुओं की खेती होती थी, इस विषय में मैगस्थनीज़ का यह कथन उल्लेखनीय है—"अनाज के अतिरिक्त सारे भारतवर्ष में, जो नदी नालों की वहुतायत के कारण भले प्रकार सींचा हुआ रहता है, जुआर इत्यादि भी वहुत पैदा होता है। अन्य अनेक प्रकार की दालें, चावल और वास्फोरम कहलाने वाला एक पदार्थ तथा और बहुत-से खाद्योपयोगी पौदे उत्पन्न होते हैं, जिनमें से बहुतेरे तो एक साथ होते हैं"[४]।

मैगस्थनीज़ के ये उद्धरण मौर्य युग में खेती की दशा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्देश प्रदान करते हैं। पर कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा खेती के विषय में जो निर्देश मिलते हैं, वे अधिक उपयोगी हैं। मौर्य युग में भारत में किन वस्तुओं की खेती की जाती थी, इस सम्बन्ध में कौटल्य ने लिखा है—"वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में शालि (एक प्रकार का धान), व्रीहि (चावल), कोद्रव (कोदों का धान), तिल, प्रियङ्गु (कंगनी का चावल),दारक (सम्भवतः, दाल) और वरक (मोठ) बोये जाएँ। वर्षा के मध्य में मुद्ग (मूंग), माष (उड़द) और शैब्य (?) बोये जाएँ। वर्षा ऋतु की समाप्ति हो जाने पर कुसुम्भ (कुसुंवा), मसूर, कुलत्थ

---

१. McCrindle : Magasthenes. p. 31

२. Ibid. p. 31-32

३. Ibid, p. 39

४. Ibid. p. 53

(कुल्थी), यव (जौं), गोधूम (गेहूँ), कलाय (चना), अतसी (अलसी) और सर्षप (सरसों) को वोया जाए ।[1]" कौटलीय अर्थशास्त्र में जो ये विभिन्न अन्न आदि उल्लिखित हैं, वे अब भी भारत में खरीफ और रवी की फसलों में वोये जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक फसलों का उल्लेख कौटल्य ने किया है, जिनमें इक्षु (ईख) और कार्पास (कपास)[2] प्रमुख हैं। ईख की खेती को कौटल्य ने 'अवर' (निकृष्ट) कहा है, क्योंकि उसमें वहुत-सी वाधाएँ उपस्थित होती हैं, और उसमें परिश्रम और खर्च भी वहुत पड़ता है।[3]

शालि, व्रीहि आदि की फसलें कौटल्य की सम्मति में सर्वश्रेष्ठ थीं, और षण्ड (साक-सब्जी) की मध्यम प्रकार की।[4] ईख की फसल को वह निकृष्ट मानते थे। मौर्य युग में साल में तीन फसलें पैदा की जाती थीं, हैमन (रवी), ग्रैष्मिक (खरीफ) और केदार (जायद)। कर्मकरों और सिंचाई के पानी की उपलब्धि के अनुसार ये तीनों फसलें पैदा करने का प्रयत्न किया जाता था।[5] कैसी भूमि में कौन-सी फसल बोयी जाए, इस विषय का भी कौटल्य ने निरूपण किया है। जो भूमि फेनाघात (नदी के जल से जो आप्लावित हो जाती हो) हो, उस पर वल्लीफल (खरवूजा, तरवूज, लौकी आदि) बोयी जाएँ; जो भूमि परिवाहान्त (जिस पर सिंचाई होती हो) हो, उस पर पिप्पली, मृद्वीका (अंगूर) और ईख वोया जाए; जो भूमि कूपपर्यन्त (कुओं के समीप स्थित) हो, उस पर शाक और मूल (मूली आदि) वोये जाएँ; जो भूमि हरणीपर्यन्त (जहाँ पहले तालाब रहे हों और जो उनके सूख जाने पर भी गीली रहती हो) हो, उसपर हरी फसलें वोयी जाएँ, और क्यारियों की मेड़ों पर सुगन्धि, भैषज्य आदि के पौदे लगाये जाएँ।[6] अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक अन्न, शाक, कन्द-मूल-फल आदि का उल्लेख किया गया है। इनमें मरीच (मिर्च), शृङ्गि (अदरक), गौर सर्षप (श्वेत सरसों), धनिया, जीरा, निम्बू, आम, आँवला, वेर, झरवेरी, फालसा, जामुन, कटहल और अनार उल्लेखनीय हैं।[7] इस प्रसंग में अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे भी शब्द आये हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है। निस्सन्देह, मौर्य युग में वहुत प्रकार के अन्नों, फलों और शाक-कन्द-मूल आदि की खेती की जाती थी। यद्यपि कौटल्य ने

१. कौ. अर्थ. २।२४
२. 'कार्पाससारं निर्मोकं सर्पस्य च समाहरेत्।' कौ. अर्थ. २।२४
३. 'इक्षुः प्रत्यवरः। इक्षवो हि बह्वाबाधा व्ययग्राहिणश्च।" कौ. अर्थ. २।२४
४. शाल्यादि ज्येष्ठम्। षण्डो मध्यमः।' कौ. अर्थ. २।२४
५. 'कर्मोदकप्रमाणेन केदारं हैमनं ग्रैष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।२४
६. 'फेनाघातो वल्लीफलानां, परिवाहान्ताः पिप्पलीमृद्वीकेक्षूणां, कूपपर्यन्ताः शाकमूलानां हरणीपर्यन्ताः हरितकानां, पाल्योलपानां गन्धभैषज्योशीरह्रीरबेरपिण्डालुकादीनाम्।' कौ. अर्थ. २।२४
७. कौ. अर्थ. २।१५

ईख को खेती के लिये निकृष्ट माना है, पर उसकी पैदावार कम नहीं थी। ईख के रस से गुड़, मत्स्यण्डिका (दानेदार चीनी), खण्ड (खाँड) और शर्करा (शक्कर) तैयार किये जाते थे।[1] उनसे अनेक प्रकार के शरवत भी वनाये जाते थे। कौटल्य ने निम्बू, आम आदि फलों के रसों को इक्षु-रस से वने गुड आदि को मिला कर ऐसे शरवत वनाने का उल्लेख किया है, जो एक मास, छः मास या एक साल तक कायम रह सकें।[2]

फसल की उत्कृष्टता के लिये वीजों को कैसे तैयार किया जाए और खेतों में किस फसल के लिये कौन-सी खाद डाली जाए, इसका भी कौटलीय अर्थशास्त्र में निरूपण किया गया है। धान्य के बीजों को सात रात ओस में रखा जाता था, और दिन में उन्हें सुखाया जाता था। कोशीधान्यों के लिये यही क्रिया तीन दिन तक की जाती थी। ईख आदि की आँखों को खेत में गाड़ने से पूर्व ईख के टुकड़ों के कटे हुए भागों पर मधु, घृत, सुअर की चरबी और गोवर को मिलाकर लगाया जाता था। कन्दों को वोने से पहले उनके छेदों पर मधु और घृत का लेप किया जाता था, और विनौलों को वोने से पूर्व उन्हें गोवर से मल लिया जाता था।[3] खाद के लिये गोवर और हड्डी के चूरे का प्रयोग किया जाता था। जब अंकुर निकल आएँ, तो उन पर मछलियों की खाद और आक का दूध डाला जाता था।[4] मौर्य युग के लोग अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये देवपूजा पर विश्वास रखते थे और अनेक प्रकार के अनुष्ठान भी किया करते थे। इसीलिये कौटल्य ने लिखा है, कि जब बीजों को वोना प्रारम्भ किया जाए, तो कुछ बीजों को पानी में भिगो कर और बीच में सुवर्ण रख कर यह मन्त्र पढ़ा जाए—प्रजापति और काश्यप देवताओं को सदा नमस्कार है। हमारी कृषि में सदा वृद्धि हो, और हमारे बीजों और धन में देवी का निवास हो।[5]

यद्यपि मौर्य युग में नदी, सर, तटाक, कूप आदि द्वारा खेतों की सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी, पर फसल के लिये वर्षा की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। किस ऋतु में, किन दशाओं में और किन प्रदेशों में कितनी वर्षा होती है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर खेती के लिये उसका उपयोग किया जाता था। वर्षा को मापने के लिये विशेष प्रकार के कुण्ड वनाये जाते थे, जिनका मुख एक अरत्नि चौड़ा होता था। इन्हें कोष्ठागार

---

१. 'फाणितगुडमत्स्यण्डिका खण्डशर्करा.।' कौ. अर्थ. २।१५

२. 'इक्षुरसगुडमधुफाणितजाम्बवपनसानामन्यतमो· · ·मासिकष्षाण्मासिकस्सांवत्सरिको वा। आम्रफलामलकावसुतः शुद्धो वा' कौ. अर्थ. २।१५

३. कौ. अर्थ. २।२४

४. 'पुरूडांश्चाशुष्ककटुमत्स्यांश्च स्नुहिक्षीरेण वापयेत्।' कौ. अर्थ. २।२४

५. 'सर्वबीजानां तु प्रथमवापे सुवर्णोदक संप्लुतां पूर्वमुष्टिं वापयेत् अमुं च मन्त्रं ब्रूयात्—
प्रजापतये काश्यपाय देवाय च नमः सदा।
सीता मे ऋद्ध्यतां देवी बीजे च धनेषु च॥" कौ. अर्थ. २।२४

के सम्मुख वर्षा को मापने के लिये रखा जाता था।[1] इसी ढंग से कुण्डों द्वारा वर्षा को माप कर जो परिणाम निकाला गया था, कौटल्य ने उसका उल्लेख इस प्रकार किया है—जाङ्गल प्रदेशों में १६ द्रोण, अनूप (खादर) प्रदेशों में २४ द्रोण, अश्मक देश में १३।। द्रोण, अवन्ति देश में २३ द्रोण, और अपरान्त (पश्चिमी सीमान्त) तथा हिमालय के प्रदेश में अपरिमित वर्षा होती है।[2] यहाँ 'अपरान्त' से कोंकण सदृश पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों का ग्रहण समझना चाहिये। द्रोण भार का अन्यतम मान होता था, जो २०० पल (एक पल=६४ मापक) के वरावर होता था। एक निश्चित आकार के वने हुए (एक अरत्नि चौड़े) कुण्ड में जितना पानी एकत्र हो जाता था, उसके भार के आधार पर ही विभिन्न प्रदेशों में वर्षा की मात्रा को कौटल्य ने सूचित किया है।

वर्ष के किस भाग में कितनी वर्षा होनी चाहिये, और कव कितनी वर्षा का होना खेती के लिये लाभकर है, इसका विवेचन भी कौटल्य ने किया है। वर्षाऋतु के चार मासों में पहले और चौथे मास में कुल वर्षा का एक तिहाई भाग और बीच के दो मासों में शेष दो तिहाई भाग पड़ना ठीक माना जाता था।[3] ज्योतिष के आधार पर यह भी जानने का प्रयत्न किया जाता था, कि वर्षा कव होगी और कम या अधिक होगी। बृहस्पति के स्थान (स्थिति), गमन (गति) और गर्भाधान से, शुक्र के उदय और अस्त से, और सूर्य के स्वरूप और विकार से वर्षा के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता था। वर्षा के सम्बन्ध में अनुमान करने के लिये शुक्र की गतिविधि को विशेष महत्त्व दिया जाता था।[4]

वर्तमान समय के समान मौर्य युग में भी खेती के लिये प्रधानतया हलों और वैलों का ही प्रयोग किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि राजकीय भूमि पर वार-वार हल चलवा कर पहले उसे तैयार कराया जाए, और फिर दासों, कर्मकरों (श्रमिकों) और दण्ड-प्रतिकर्ताओं (कैदियों) द्वारा उस पर वीज वुआये जाएँ।[5] कर्षण-यन्त्र (हल आदि), उप-करण (खेती के लिये आवश्यक अन्य औजार) और वलीवर्दों (वैलों) की कमी के कारण खेतीके काम में वाधा न पड़ने पाए।[6] कृषिकार्य में सहायता के लिये कर्मार, कुट्टाक (कुट्टी काटनेवाले), मेदक (कुआँ खोदने वाले), रज्जुवर्तक (रस्सी वटने वाले) और

---

१. 'कोष्ठागारे वर्षमानमरत्निमुखं कुण्डं स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।५

२. कौ. अर्थ. २।२४

३. 'वर्षात्रिभागः पूर्वपश्चिममासयोः, द्वौ त्रिभागौ मध्यमयो : सुषमानुरूपम्।' कौ. अर्थ. २।२४

४. 'तस्योपलब्धिर्वृहस्पतेस्स्थानगमनगर्भाधानेभ्यः शुक्रोदयास्तमयचारेभ्यः सूर्यस्य प्रकृतिवैकृताच्च। ...शुक्राद्वृष्टिरिति।' कौ. अर्थ. २।२४

५. 'बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत्।' कौ. अर्थ. २।२४

६. 'कर्षणयन्त्रोपकरणबलीवर्दैश्चैषामसङ्गं कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२४

सर्पग्राहि (साँप पकड़ने वाले) लोगों का भी बहुत उपयोग था, अतः उनकी कमी के कारण भी खेती को हानि नहीं पहुँचने दी जाती थी[१] राजकीय भूमि पर खेती करने वाले कर्मकरों को उनके कार्य के अनुसार जहाँ भोजन आदि दिया जाता था, वहाँ साथ ही सवा पण मासिक वेतन भी दिया जाता था।[२] लुहार, बढ़ई आदि शिल्पियों को भी उनके कार्य के अनुरूप भोजन और वेतन प्रदान किया जाता था।[३] यह सब कार्य सीताध्यक्ष के अधीन था।

पर ऐसी भूमि भी होती थी, जिस पर सीताध्यक्ष द्वारा खेती नहीं करायी जाती थी। ऐसी भूमि पर 'करद' (भाग देने वाले) कृषक खेती करते थे। कृषि के योग्य तैयार खेतों को किसानों को खेतों के लिये दे दिया जाता था, पर इन किसानों का भूमि पर अधिकार केवल अपने जीवन-काल के लिये ही होता था। जो भूमि कृषियोग्य न हो, उसे जो लोग खेती के लिये तैयार करें, वह उनसे वापस नहीं ली जाती थी।[४] खेती के लिये जो कृषियोग्य भूमि किसी किसान को दी गई हो, यदि वह स्वयं उस पर खेती न करे, तो उसे उससे लेकर अन्य किसानों को दे दिया जाता था, या उस पर ग्राम भृतकों (ग्राम की सेवा में नियुक्त कर्मकरों) और वैदेहकों (व्यापारियों) द्वारा खेती करायी जाती थी। इस व्यवस्था का प्रयोजन यह था, कि राजकीय आमदनी में कमी न होने पाए, क्योंकि जो व्यक्ति कृषियोग्य भूमि पर खेती नहीं करेगा, वह कर की समुचित मात्रा राज्य को नहीं दे सकेगा।[५] धान्य, पशु, हिरण्य आदि प्रदान कर किसानों के प्रति अनुग्रह भी प्रदर्शित किया जाता था, जिसे कि वे अनुसुख रूप (सुहूलियत) से वापस लौटा सकते थे।[६] यहाँ राज्य द्वारा किसानों को दी जानेवाली तकावी का निर्देश है।

(२) व्यवसाय और उद्योग

मौर्य युग में खेती भारत की जनता का प्रधान व्यवसाय था। पर साथ ही, अनेक अन्य व्यवसाय और उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में थे। मैगस्थनीज़ ने अपने भारत वर्णन में अनेकविध शिल्पियों और उद्योगों का उल्लेख किया है। उसने लिखा है—

---

१. 'कारुभिश्च कर्मारकुट्टाकमेदकरज्जुवर्तकसर्पग्राहादिभिश्च।' कौ. अर्थ. २।२४

२. 'षण्डवाटगोपालकदासकर्मकरेभ्यो यथापुरुषपरिवापं भक्तं कुर्यात्। सपादपणिकं मासं वेतनम्।' कौ. अर्थ. २।२४

३. 'कर्मानुरूपं कारुभ्यो भक्तवेतनम्।' कौ. अर्थ. २।२४

४. करदेभ्यः कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्तृभ्यो नादेयात्।' कौ. अर्थ. २।१

५. 'अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्; ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः। अकृषन्तोऽपहीनं दद्युः।' कौ. अर्थ. २।१

६. 'धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्तान्यनुसुखेन दद्युः।' कौ. अर्थ. २।१

"वे कला कौशल में भी बड़े निपुण पाये जाते हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है जो कि स्वच्छ वायु में साँस लेते हैं और अत्यन्त उत्तम जल का पान करते हैं।[१]"

"अधिक सुसभ्य भारतीय सभाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत-से व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। कई भूमि को जोतते हैं, कई सिपाही हैं, कई व्यापारी हैं। अत्यन्त उच्च और धनाढ्य लोग राजकाज के प्रबन्ध में सम्मिलित होते हैं, न्याय विचारते हैं और राजाओं के साथ सभा में बैठते हैं।[२]"

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के विविध उद्योगों के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मैगस्थनीज के भारत-वर्णन में भी इन उद्योगों के सम्बन्ध में उपयोगी निर्देश उपलब्ध हैं। मौर्य युग के प्रधान उद्योग निम्नलिखित थे—

(१) **वस्त्र-उद्योग**—मौर्य युग का प्रधान उद्योग सूत कातने और बुनने का था। ऊर्णा (ऊन), वल्क (रेशे), कार्पास (कपास), तूल (रेशेदार पौदा), शण (सन) और क्षौम (रेशम) सूत कातने के लिये प्रयुक्त होते थे।[३] सूत कातने के लिये किस उपकरण का प्रयोग किया जाता था, इसका उल्लेख कौटल्य ने नहीं किया है। पर क्योंकि राज्य की ओर से विधवा, विकलाङ्ग, कन्या, प्रव्रजिता, राजदण्डित, वेश्याओं की बूढ़ी माता और वृद्ध राजदासी से सूत कातने का काम लिया जाता था,[४] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि चरखे के सदृश कोई सरल उपकरण ही सूत कातने के लिये प्रयुक्त किया जाता होगा। सूत मोटा है, महीन है या बीच का है, इसकी परीक्षा करके ही उसकी कताई दी जाती थी।[५] सूत कातने का कार्य केवल विधवा आदि से ही नहीं लिया जाता था, अपितु ऐसे शिल्पियों (कारुओं) से भी यह कार्य कराया जाता था, जो कि सुनिर्धारित समय, कार्य और वेतन के अनुसार यह कार्य करना स्वीकार करते थे।[६] इससे यह सूचित होता है, कि अनेक शिल्पी सूत कातने का ही धन्धा किया करते थे।

सूत को बुनाई के लिये बुनने के कारखानों (कर्मान्तों) में भेज दिया जाता था, जहाँ उससे अनेक प्रकार के कपड़े तैयार किये जाते थे। रेशम, ऊन, रूई, सन, रेशे आदि सबके सूत को वस्त्र बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाता था।[७] कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेकविध वस्त्रों का उल्लेख किया गया है। ऊन से अनेक प्रकार के कम्बल और अन्य कपड़े बनाये

१. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, पृष्ठ ३
२. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, पृष्ठ ८
३. 'ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणक्षौमाणि च।' कौ. अर्थ. २।२३
४. कौ. अर्थ. २।२३
५. 'श्लक्षणस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्।' कौ. अर्थ. २।२३
६. 'कृत कर्म प्रमाण काल वेतन फल निष्पत्तिभिः कारुभिश्च कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२३
७. कौ. अर्थ. २।२३

जाते थे। कम्बल तीन प्रकार के होते थे, शुद्ध (ऊन के असली रंग के), शुद्धरक्त (हलके लाल रंग के) और पद्मरक्त (लाल कमल के रंग के)। इन्हें चार प्रकार से बनाया जाता था, खचित (वटी हुई ऊन से), वानचित्र (रंग-विरंगी ऊन से), खण्डसंघात्य (पट्टियों को जोड़ कर) और तन्तुविच्छिन्न (ताने-वाने से वुन के)।[1] ऊनी कपड़े की निम्नलिखित किस्में कौटल्य ने लिखी हैं—कौचपक (ग्वालों द्वारा ओढ़ा जाने वाला मोटा कम्वल), कुलमितिका (सिर पर ओढ़े जानेवाला शाल), सौमितिका (वैलों के ऊपर ओढ़ाया जाने वाला कम्वल), तुरगास्तरण (घोड़ों की झूल), वर्णक (रंगीन), तलिच्छक (विस्तर पर विछाया जाने वाला आवरण), वारवाण (जिससे पहनने के कोट आदि वनाये जाएँ), परिस्तोम (ओढ़ने का कम्वल या लोई), और समन्तभद्रक (हाथी पर डाले जानी वाली झूल)।[2] जो ऊनी वस्त्र चिकना, आर्द्र (सम सतह वाला), सूक्ष्म (महीन) और मृदु (नरम) हो, उसे श्रेष्ठ माना जाता था।[3]

भेड़ की ऊन गरम कपड़ों के निर्माण के लिये मुख्य साधन थी। जब भेड़ बकरी पर ऊन छः मास की हो जाए, तब उसे काट लिया जाता था और उसे कताई के लिये भेज दिया जाता था। ऊन के अतिरिक्त अन्य पशुओं के वाल भी वस्त्र बनाने के लिये प्रयोग में लाये जाते थे। इन्हें कौटल्य ने 'मृगरोम' कहा है। इनसे सम्पुटिका (जङ्घत्राण का जाँघिया), चतुरश्रिका (आयताकार वस्त्र), लम्वरा (महीन परदा), कटवानक (मोटा परदा), प्रावरक (परदा) और सत्तलिका (गलीचा) का निर्माण किया जाता था।[4]

सन के अतिरिक्त जिन अन्य पौदों और वृक्षों के रेशों से कपड़े वनाये जाते थे, उनके नाम भी कौटल्य ने लिखे हैं, नागवृक्ष, लिकुच, वकुल और वट। नागवृक्ष के रेशे पीले रंग के होते हैं, लिकुच के गेहुँए रंग के, वकुल के श्वेत रंग के और वट के मक्खन के रंग के।[5] इन विभिन्न वृक्षों के रेशों द्वारा भी उत्कृष्ट प्रकार के वस्त्रों का निर्माण किया जाता था।

---

१. 'शुद्धं शुद्धरक्तं पद्मरक्तं च आविकं; खचितं वानचित्रं खण्डसंघात्यं तन्तुविच्छिन्नं च कम्बलः।' कौ. अर्थ. २।११

२. "कौपचकः कुलमितिका सौमितिका तुरगास्तरणं वर्णकं तलिच्छकं वारवाणः परिस्तोमः समन्तभद्रकं चाविकम्।" कौ. अर्थ. २।११

३. "पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्मं मृदु च श्रेष्ठम्।" कौ. अर्थ. २।११

४. "सम्पुटिका, चतुरश्रिका, लम्बरा, कटवानकं, प्रावरकः सत्तलिकेति मृगरोम।" कौ. अर्थ. २।११

५. "नागवृक्षो लिकुचो वकुलो वटश्च योनयः। पीतिका नागवृक्षिका, गोधूमवर्णा लैकुची, श्वेता वाकली, शेषा नवनीतवर्णा।' कौ. अर्थ. २।११

मौर्य साम्राज्य के विविध प्रदेशों में किस-किस प्रकार के वस्त्र बनते थे, और उनमें से किन्हें श्रेष्ठ माना जाता था, इसका परिचय भी कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है। वहाँ लिखा है—वंग देश का कपड़ा श्वेत, चिकना और महीन होता है; पुण्ड्र देश का कपड़ा काला और मणि के समान चिकना होता है; और सुवर्णकुड्य देश का कपड़ा सूर्य के रंग का और मणि के समान चिकना होता है। उसे जल से भिगो कर बुना जाता है, और वह चतुरश्रवान (सीधे ताने-बाने से बुना हुआ) और व्यामिश्रवान (उलटा टेढ़ा बुना हुआ) दोनों प्रकार का होता है। ये एक तह, आधी तह, दो तह, तीन तह और चार तह के बनाये जाते हैं। काशी और पुण्ड्र देशों में रेशमी कपड़े भी बनाये जाते हैं। मगध, पुण्ड्र और सुवर्णकुड्य में रेशों के वस्त्र भी बनते हैं। सुवर्णकुडच के रेशों से बने कपड़े श्रेष्ठ होते हैं, और काशी तथा चीन-भूमि (चीन देश) के बने हुए रेशमी कपड़े। सूती कपड़े मधुरा (मदुरा), अपरान्त (कोंकण), कलिङ्ग (उड़ीसा), काशी, वङ्ग (बंगाल), वत्स (राजधानी-कौशाम्बी) और माहिष्मती के श्रेष्ठ होते हैं।[१]

ब्रिटिश शासन से पूर्व तक वंग देश की मलमल (श्वेत, महीन और चिकनी) विश्व-विख्यात थी, काशी का रेशम अबतक श्रेष्ठ माना जाता है, और सुदूर दक्षिण के सूती कपड़े आज भी भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। चीन के रेशमी कपड़े मौर्य युग में भी श्रेष्ठता के लिये प्रसिद्ध थे, और वे विक्रय के लिये अवश्य ही भारत में आया करते होंगे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से यह भलीभाँति प्रगट है कि मौर्य युग में वस्त्र-उद्योग बहुत उन्नत दशा में था। इस बात की पुष्टि मैगस्थनीज़ के भारत-वर्णन द्वारा भी होती है। उसने लिखा है, कि "अपनी चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे भारतीय बारीकी और सजावट के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। ये वस्त्र मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं, और (भारतीय) लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाते लगाये चलते हैं। क्योंकि वे अपने सौन्दर्य का बहुत ध्यान रखते हैं, और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।[२]"

---

१. "वाङ्गकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं, पौण्ड्रकं श्यामं मणिस्निग्धं, सौवर्णकुडयकं सूर्यवर्णंमणिस्निग्धोदकवानं चतुरश्रवानं व्यमिश्रवानं च। एतेषामेकांशुकमर्धद्वित्रिचतुरंशुकमिति। तेन काशिकं पौण्ड्रकं च क्षौमं व्याख्यातम्। मागधिका पौण्ड्रिका सौवर्णकुड्यका च पत्रोर्णाः।...तासां सौवर्णकुडचका श्रेष्ठा। तया काशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः। माधुरमपरान्तकं कालिङ्गकं काशिकं वाङ्गिकं वात्सकं माहिषकं च कार्पासिकं श्रेष्ठमिति।" कौ. अर्थ.. २।११

२. McCrindle : Magasthenes, p. 69

"जैसे वे मलमल पहनते हैं, पगड़ी देते हैं, सुगन्धित द्रव्यों का व्यवहार करते हैं, और चमकीले रंगों में रंगे हुए पहरावों को धारण करते हैं।[१]"

वस्त्र-उद्योग के साथ सम्वन्ध रखने वाले कतिपय अन्य उद्योग या व्यवसाय भी थे, जिनका इसी प्रकरण में उल्लेख करना उपयोगी होगा। ये उद्योग निम्नलिखित थे---(१) रस्सी वनाना---कौटल्य ने तन्तुवायों (जुलाहों) के साथ ही रस्सी वनाने वालों का भी उल्लेख किया है,जो सूत्राध्यक्ष के अधीन व नियन्त्रण में रहते हुए कार्य करते थे।[२] रस्सी और रस्सों को वनाने के लिये सूत, रेशे, वेंत और वाँस का प्रयोग किया जाता था। सूत और रेशों से वनी रस्सी को 'रज्जू' कहते थे, और वेंत और वाँस से वनी रस्सी को 'वस्त्रा'।[३] (२) कवच वनाना--युद्ध के लिये कवचों का वहुत उपयोग था। उनके निर्माण के लिये पृथक् कर्मान्त (कारखाने) होते थे, जिनमें इस शिल्प के विशेषज्ञ कारु और शिल्पी कवचों को वनाते थे।[४] (३) रँगने का उद्योग---सूती, ऊनी आदि वस्त्रों को रँगना भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। रंगरेजों को 'रक्तक' कहते थे। धुलाई के लिये जो दर नियत थी; उससे दुगनी दरसे रक्तकों को कपड़े रँगने की मजदूरी दी जाती थी।[५] (४) धोवी का व्यवसाय-रजक (धोवी) को भी अर्थशास्त्र में 'कारु' कहा गया है। धोवी काठ के पटरे और चिकनी शिला पर ही कपड़े फटक सकते थे। अन्यत्र फटकने पर उनसे न केवल वस्त्र को हुई हानि की क्षति पूर्ति करायी जाती थी, अपितु छः पण जुरमाना भी वसूल किया जाता था।[६] धोवियों के अपने पहनने के कपड़ों पर मुद्गर का निशान अंकित कर दिया जाता था। इसका प्रयोजन यह था, कि वे किसी ग्राहक के कपड़ों को स्वयं पहन लेने के काम में न ला सकें। यदि किसी धोवी को कोई ऐसा वस्त्र पहने हुए पाया जाए, जो कि मुद्गर के चिन्ह से अंकित न हो, तो उस पर तीन पण जुरमाना किया जाता था। यदि धोवी ग्राहक के वस्त्र को वेच दे या किसी अन्य धोवी से क्रय करे या गिरवी रख दे, तो उसे वारह पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। यदि धोवी ग्राहक के कपड़े वदल दे, तो उसे असली वस्त्र वापस करना होता था, अन्यथा उसपर वस्त्र की कीमत का दुगना दण्ड पड़ता था।[७] धोवी वहुत

---

१. Mc Crindle. : Magasthenes p. 97

२. सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मवस्त्ररज्जूव्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२३

३. 'सूत्र वल्कमयी रज्जूः वस्त्रा वेत्रवैणवीः।' कौ. अर्थ. २।२३

४. 'कङ्कटकर्मान्तांश्च तज्जातकारु शिल्पिभिः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२३

५. 'द्विगुणं रक्तकानाम्।' कौ. अर्थ. ४।१

६. 'रजकाः काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु वस्त्राणि नेनिज्युः। अन्यत्र नेनिजन्तोवस्त्रोपपघातं षट्पणं च दण्डं दद्युः।' कौ. अर्थ. ४।१

७. 'मुद्गराङ्कादन्यद्वासः परिदधानास्त्रिपणं दण्डं दद्युः। परवस्त्रविक्रयावक्रयावधानेषु च द्वादशपणो दण्डः। परिवर्तने मूल्य द्विगुणो वस्त्रदानं च।' कौ. अर्थ. ४।१

शीघ्र कपड़े धोकर वापस लौटा देते थे। जिन कपड़ों को केवल धोकर श्वेत कर देना हो या जिनका असली रंग ही धोकर निखार देना हो, उनके लिये एक रात (एक अहोरात्र) का समय पर्याप्त समझा जाता था। इससे अधिक देर करने पर धोबी को दण्ड दिया जाता था। पर यदि कपड़े को धोने के अतिरिक्त रँगना भी हो, तो अधिक समय दिया जाता था। हलके रंग में रँगने के लिये पाँच दिन, नीले रंग में रँगने के लिये छः दिन, और पुष्प, लाक्षा, मञ्जिष्ठ व आरक्त (गाढ़ा लाल) रंगों में रँगने के लिये सात दिन का समय अपेक्षित समझा जाता था। जिन कपड़ों को धोने और रँगने में विशेष परिश्रम और ध्यान की आवश्यकता हो, उनके लिये भी सात दिन का समय दिया जाता था। इससे अधिक देर करने पर रजक को धुलाई और रँगाई की धनराशि नहीं दी जाती थी।[1] यदि धुलाई के सम्बन्ध में कोई विवाद उपस्थित हो जाए, तो उसका निर्णय कुशलों (विशेषज्ञों) द्वारा किया जाता था।[2] मौर्य युग में धुलाई की दर बहुत पर्याप्त थी। उत्कृष्ट वस्त्रों की धुलाई एक पण थी, मध्यम प्रकार के वस्त्रों की आधा पण, और घटिया कपड़ों की धुलाई चौथाई पण नियत थी। मोटे कपड़ों की धुलाई के लिये एक माषक और दो माषक दिये जाते थे।[3] (५) दर्जी (तुन्नवाय) का व्यवसाय–कौटलीय अर्थशास्त्र तुन्नवायों (दर्जियों) का उल्लेख भी आया है,[4] जिससे सूचित होता है कि मौर्य युग के दर्जी अनेक प्रकार के वस्त्र भी सिया करते थे। पर इन वस्त्रों के विषय में कोई विशद सूचना अर्थशास्त्र से उपलब्ध नहीं होती। मौर्य युग के स्त्री-पुरुष किस प्रकार के सिले हुए वस्त्र पहना करते थे, यह ज्ञात नहीं है। मैगस्थनीज़ के विवरण से केवल यही ज्ञात होता है, कि इस युग के भारतीय कीमती रत्नों से विभूषित और फूलदार मलमल के कपड़े पहना करते थे।

(२) **धातु-उद्योग**—खानों से कच्ची धात निकालने, उसे धातुओं के रूप में परिवर्तित करने और धातुओं से अस्त्र-शस्त्र, उपकरण, आभूषण आदि वनाने का उद्योग भी मौर्य-युग में वहुत उन्नत दशा में था। कौटल्य ने कोश (राज्यकोश) को 'आकर-प्रभव' (खानों से उत्पन्न या खानों पर आधारित) कहा है।[5] साथ ही, संग्राम के सब उपकरण (अस्त्र-

---

१. 'मुकुलावदातं...एकरात्रोत्तरं दद्युः। पञ्चरात्रिकं तनुरागं, षड्रात्रिकं नीलं, पुष्पलाक्षामञ्जिष्ठारक्तं गुरुपरिकर्मयत्नोपचार्यं जात्यं वासः सप्तरात्रिकं, ततः परं वेतनहानिं प्राप्नुयुः।' कौ. अर्थ. ४–।१

२. 'श्रद्धेया रागविवादेषु वेतनं कुशलाः कल्पयेयुः।' कौ. अर्थ. ४।१

३. परार्ध्यानां पणो वेतनं, मध्यमानामर्धपणः, प्रत्यवराणां पादः, स्थूलकानां माष। द्विमाषिकम्।' कौ. अर्थ. ४।१

४. 'रजकैस्तुन्नवायाः व्याख्याताः' कौ. अर्थ. ४।१

५. 'आकरप्रभवो कोशः।' कौ. अर्थ. २।१२

शस्त्र, कवच आदि) भी खानों से ही प्राप्त होते हैं।[1] इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मौर्य युग के राजा खानों और धातु-उद्योग पर विशेष ध्यान देते। ऐसी खानें अच्छी समझी जाती थीं, जो प्रभूतसार (जिनसे वहुमूल्य द्रव्य प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हों), अदुर्ग मार्ग (जिन तक पहुँचने का मार्ग कठिन न हो), अल्पव्यय (जिन पर खर्च अधिक न पड़ता हो) और अल्प-आरम्भ (जिनसे धातु निकालने में अधिक परिश्रम न पड़े) हों।[2] खानों का विभाग एक पृथक् अमात्य के अधीन होता था, जिसे 'आकराध्यक्ष' कहते थे। उसके अधीन 'खन्यध्यक्ष', 'लोहाध्यक्ष', 'लक्षणाध्यक्ष', 'लवणाध्यक्ष' आदि वहुत-से अमात्य कार्य करते थे। आकराध्यक्ष के लिये यह आवश्यक था, कि वह शुल्व-धातुशास्त्र (ताम्र आदि धातुओं की विद्या), रसपाक (पारे आदि के निर्माण की विद्या) और मणियों की पहचानमें प्रवीण हो, और उसके अधीन ऐसे कर्मकर भी कार्य करने के लिये हों, जो कि धातु-सम्वन्धी कार्यों में निपुण हों। साथ ही, उसके पास ऐसे उपकरण भी होने चाहियें, जो खानों से धातुएँ निकालने के लिये आवश्यक हों।[3] आकराध्यक्ष के कर्मचारी मैदानों और पहाड़ों में स्थित खानों का पता लगाते थे। कच्ची धात की परीक्षा भार, रङ्ग, गन्ध, स्वाद आदि द्वारा की जाती थी। यह भी देखा जाता था, कि खान का पहले उपयोग हुआ है या नहीं। किसी खान का पहले उपयोग किया जा चुका है, इसका परिज्ञान वहाँ उपलब्ध कोयले, राख, धातु पिघलानेके वर्तनों के टूटे हुए टुकड़ों आदि से किया जा सकता था।[4] किस खान में कौन-सी धातु विद्यमान है, इसका पता करने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक पहचानें लिखी गई हैं। यदि पहाड़ के गड्ढों, गुहाओं, उपत्यकाओं, दरारों और खोदे गये स्थानों से जम्वू (जामुन), चूत (आम), तालफल (ताड़), पक्वहरिद्रा (हलदी), हड़ताल, मनः शिला (मनसिल), शहद, हिंगुलुक (सिंगरफ), तोते, कमल और मोर के पंखों के रंग के द्रव वहते हों और इन द्रवों में काई के समान चिकनाहट हो, और ये पारदर्शक तथा भारी भी हों, तो समझना चाहिये कि वहाँ सोने की कच्ची धात विद्यमान है, और ये द्रव उसी से मिलकर निकल रहे हैं।[5] यदि द्रव को पानी में डालने पर वह तेल की तरह सारी सतह पर

---

१. 'खनिस्संग्रामोपकरणानां योनिः।' कौ. अर्थ. ७।१४

२. 'खन्योरपि यः प्रभूतसारामदुर्गमार्गामल्प व्ययारम्भां खनिं खानयति, सोतिसंधत्ते।' कौ. अर्थ. ७।१२

३. कौ. अर्थ. २।१२

४. 'किट्टमूषाङ्गारभस्म लिङ्गं वाऽऽकरं भूतपूर्वमभूत पूर्वं वा. . .परीक्षेत।' कौ. अर्थ. २।१२

५. 'पर्वतानामभिज्ञातोद्देशानां बिलगुहोपत्यकाऽऽलयनिगूढ़खातेऽवन्तः प्रस्यन्दिनो जम्बूचूततालफलपक्वहरिद्राभेदहरितालक्षौद्रहिङ्गुलकपुण्डरीकशुकमयूरपत्रवर्णास्सवर्णोदकौषधीपर्यन्ताश्चिक्कणा विशदा भारिकाश्च रसाः काञ्चनिकाः। कौ. अर्थ. २।१२

फैल जाए और सब मैल तथा गर्द को इकट्ठा कर ले, तो वहाँ ताँबे और चाँदी का मिश्रण समझना चाहिये। यदि ऐसा द्रव निकल रहा हो, जो देखने में तो इसी प्रकार का हो, पर उसकी गन्ध और स्वाद बहुत तेज हों, तो वहाँ शिलाजतु की सत्ता होगी।[1]

कहाँ कौन-सी धातु है, और कच्ची धातों की किस प्रकार पहचान की जा सकती है, इस विषय पर कौटल्य ने पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा है। उस सब को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी नहीं है। पर अर्थशास्त्र के इस विवरण को पढ़कर यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है, कि मौर्य युग में धातुविद्या भलीभाँति उन्नत थी, और 'आकराध्यक्ष' के कर्मचारी पर्वतों और मैदानों में विद्यमान खानों की तलाश में निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे।

कच्ची धात को खान से ले जाकर उसे शुद्ध धातु के रूप में परिवर्तित किया जाता था। इसके लिये बहुत-से कर्मान्त (कारखाने) विद्यमान थे।[2] यह कार्य किस प्रकार किया जाता था, इस पर भी अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। धातु में मिले हुए अशुद्ध द्रव्यों के शुद्ध धातु से पृथक् करने के लिये कच्ची धात को तीक्ष्ण मूत्र और क्षार में डालकर भावना देनी चाहिये, फिर राजवृक्ष, वट, पेलु और गोपित्त के साथ मिला कर उसे तपाना चाहिये। साथ ही, भैंसे, गधे और हाथी के मूत्र तथा गोबर व लीद को बीच में डाल देना चाहिये। इस प्रकार तपाने पर शुद्ध धातु कच्ची धातु से पृथक् हो जायगी।[3]

धातुओं को नरम और लचकदार बनाने की विधियाँ भी कौटल्य ने लिखी हैं। कन्दली और वज्रकन्द के चूरे, और यव, माष, तिल, पलाश और पीलु की राख और गाय व बकरी के दूध को मिलाकर उनसे मलने पर धातुएँ नरम हो जाती हैं। ऐसी ही अन्य भी अनेक विधियाँ अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं। नानाविध विधियों द्वारा शुद्ध धातुओं को तैयार करना और धातुओं को नरम, चमकीला व कठोर बनाना एक ऐसा शिल्प था, जो मौर्य युग में अच्छी तरह विकसित हो चुका था। खनिज पदार्थों में कौटल्य ने सोना, चाँदी, ताम्बा, सीसा, लोहा, टिन, वैकृन्तक, पीतल, वृत्त (?), कंस (कांसी), हड़ताल, मनसिल, शिलाजीत, सिंगरफ, नमक, मणि और शिला-प्रस्तरों का उल्लेख किया है। निस्सन्देह, इन सबके कारखाने मौर्य युग में विद्यमान थे। खानों और कर्मान्तों से धातु आदि की चोरी न हो सके, इसके लिये समुचित व्यवस्था की गई थी। खान में काम करनेवाला कोई व्यक्ति यदि धातु आदि की चोरी करे, तो चोरी किये गये द्रव्य की कीमत का आठ गुना उस पर जुरमाना किया जाता था। पर रत्नों की चोरी के लिये सम्भवतः मृत्युदण्ड का विधान था। यदि कोई अन्य व्यक्ति (जो खान या कर्मान्त में कार्य न करता हो) धातु आदि की चोरी करे या राज्य से अनुमति प्राप्त किये बिना धातुएँ तैयार करे, तो उसे गिरफ्तार कर कैदी के

---

१. कौ. अर्थ. २।१२

२. 'धातु समुत्थितं तज्जात कर्मान्तेषु प्रयोजयेत्।' कौ. अर्थ. २।१२

३. कौ. अर्थ. २।१२

रूप में खान में कार्य करने के लिये विवश किया जाता था।[1] यद्यपि धातुओं के कारखानों और खानों का सञ्चालन राज्य की ओर से होता था, पर जिन कारखानों और खानों में बहुत अधिक धनराशि लगाने की आवश्यकता हो, उन्हें राज्य की ओर से अन्य व्यक्तियों के भी सुपुर्द कर दिया जाता था, जिसके बदले में राज्य या तो निर्धारित किराया लेता था और या पैदावार का निश्चित भाग।[2] इस प्रकार मौर्य युग में धातु-उद्योग के निजी क्षेत्र (प्राइवेट सेक्टर) की भी सत्ता थी। उस युग में भी यह स्वीकार किया जाता था, कि उद्योगों के लिये पूँजीपतियों का उपयोग है।

आकराध्यक्ष के अधीन सबसे महत्त्वपूर्ण अमात्य 'लोहाध्यक्ष' था, जो ताम्र, सीस (सीसा), त्रपु, वैकृन्तक आदि धातुओं के कारखानों का सञ्चालन करता था।[3] एक अन्य अमात्य 'खन्यध्यक्ष' था, जो सामुद्रिक आकरों से शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि निकलवाने की व्यवस्था करता था। नमक की गिनती भी खनिज पदार्थों में की जाती थी, जिसके लिये 'लवणाध्यक्ष' की नियुक्ति की जाती थी।[4] लोहे का मुख्य उपयोग अस्त्र-शस्त्रों, और कृषि व उद्योगों के उपकरणों के निर्माण के लिये था, और ताम्बे, पीतल आदि का बरतनों के निर्माण के लिये। सोना और चाँदी जहाँ आभूषण बनाने के लिये प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही सिक्के बनाने के लिये भी प्रधानतया उन्हीं को प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि माषक, अर्धमाषक सदृश छोटे सिक्के ताँबे से भी बनाये जाते थे। मुद्रापद्धति का संचालन लक्षणाध्यक्ष के अधीन था, जो आकराध्यक्ष के नियन्त्रण में अपने कार्य का सम्पादन करता था।

खानों और धातुओं के कर्मान्तों (कारखानों) से जो माल उपलब्ध होता था, उसकी बिक्री की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती थी। लोहा, ताँबा, त्रपु आदि धातुओं का विक्रय लोहाध्यक्ष के अधीन था, शंख मुक्ता आदि का विक्रय खन्यध्यक्ष के और नमक का लवणाध्यक्ष के। चाँदी और सोने को शुद्ध रूप से तैयार करने और उन द्वारा विविध प्रकार के आभूषणों को बनवाने का कार्य एक पृथक् विभाग द्वारा किया जाता था, जिसके अध्यक्ष को 'सुवर्णाध्यक्ष' कहते थे।[5]

खानों और धातु-उद्योग के विषय में मैगस्थनीज़ ने भी अपने भारत-वर्णन में लिखा है। उसके अनुसार "भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल, जो कृषि द्वारा उत्पन्न होते

---

१. 'आकरिकमपहरन्तमष्टगुणं दापयेदन्यत्र रत्नेभ्यः। स्तेनमनिसृष्टोपजीविनं च बद्धं कर्म कारयेत्।' २।१२

२. 'व्ययक्रियाभारिकमाकरं भागेन प्रक्रयेण वा दद्यात्। लाघविकमात्मना कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१२

३. लोहाध्यक्षः ताम्रसीसत्रपुवैकृन्तकारकूटवृत्तकंसताललोध्रकर्मान्तान्कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१२

४. कौ. अर्थ. २।१२

५. कौ. अर्थ. २।१२

हैं, उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। उनमें सोना, चाँदी बहुत होता है, और ताँबा तथा लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और दूसरी धातुएँ भी होती हैं। इनका प्रयोग आभूषण की वस्तुओं और लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।"[१]

(३) **नमक-उद्योग**—नमक बनाने का व्यवसाय राज्य द्वारा अधिकृत था, और आकराध्यक्ष के अधीन 'लवणाध्यक्ष' नाम का अमात्य उसका सञ्चालन करता था। नमक बनाने के लिये राज्य से लाइसेन्स लेना होता था। लाइसेन्स प्राप्त करके जो व्यक्ति नमक बनाने का कार्य करते थे, वे पाकमुक्त (तैयार हुए शुद्ध) नमक का निर्धारित लवण भाग और प्रक्रय (नमक के कर्मान्त का किराया) लवणाध्यक्ष को प्रदान करते थे। इस प्रकार जो नमक लवणाध्यक्ष के पास संगृहीत हो जाता था, उसकी बिक्री राज्य द्वारा करायी जाती थी। राज्य की अनुमति के बिना नमक का क्रय-विक्रय कर सकना निषिद्ध था। विदेशों से जो नमक बिकने के लिये आता था, उस पर भी अनेक कर लिये जाते थे, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है।

(४) **रत्न, मुक्ता आदि का उद्योग**—समुद्ररूपी खान से शंख, मुक्ता आदि बहुमूल्य वस्तुओं को निकालने का कार्य 'खन्यध्यक्ष' के अधीन था, जो आकराध्यक्ष की अधीनता में अपने विभाग का सञ्चालन करता था। समुद्र से प्राप्त होनेवाले शंख, मुक्ता, प्रवाल आदि को साफ करने और उनसे विविध वस्तुएँ बनवाने के लिये अनेक कर्मान्त भी स्थापित थे। मणि-मुक्ता का व्यवसाय मौर्यकाल में बहुत उन्नत था। कौटल्य ने मुक्ताओं (मोतियों) के बहुत-से भेद लिखे हैं—ताम्रपर्णिक (ताम्रपर्णी या लंका में प्राप्त होने वाले मोती), पाण्डचकवाटक (पाण्डच देश के मोती), पाशिक्य (पाश नामक नदी से प्राप्त होने वाले), कौलेय (सिंहलद्वीप की 'कुल' 'नामक नदी के मोती), चौर्णेय (केरल देश की चूर्ण नदी के मोती), माहेन्द्र (महेन्द्र पर्वत से उपलब्ध मोती), कार्दमिक (पारसीक देश की कर्दम नदी के मोती), स्रौतसीय (वर्बर-संज्ञक समुद्र में गिरनेवाली स्रोतसी नदी से उपलब्ध मोती), ह्रादीय (वर्बर समुद्र के समीप श्रीघण्ट नामक ह्रद से प्राप्त मोती) और हैमवत (हिमालय के क्षेत्र से उपलब्ध मोती)। विभिन्न प्रकार के ये सब मोती समुद्रों और सरों से ही प्राप्त किये जाते थे।[२] कौटल्य ने शुक्ति (सीपी) और शंख आदि को मोतियों की योनि (मूल या प्राप्तिस्थान) कहा है।[३] मोती प्रशस्त भी होते थे और अप्रशस्त भी। स्थूल (मोटे), वृत्त (गोल), निस्तल (तल से विहीन या सब ओर से

---

१. McCrindle : Magasthenese, p. 30

२. कौ. अर्थ. २।११

३. 'शुक्तिः शङ्खः प्रकीर्णकं च योनयः ।।' कौ. अर्थ. २।११

एक समान), भ्राजिष्णु (चमकीले), श्वेत, गुरु (भारी), स्निग्ध (चिकने) और देश-विद्ध (ठीक स्थान पर जिनमें छेद किया जा सके) मोतियों को कौटल्य ने प्रशस्त माना है।[१]

मोतियों का प्रयोग प्रधानतया हार वनाने के लिये किया जाता था। अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की मुक्ता-यष्टियों (मोती की मालाओं) का उल्लेख किया गया है––शीर्षक (एक समान आकार के मोतियों की ऐसी माला जिसके मध्य में एक वड़ा मोती हो), उप-शीर्षक (एक समान आकार के मोतियों की ऐसी माला जिसके मध्य में पाँच वड़े मोती हों), प्रकाण्ड (वीच में एक वड़ा मोती रखकर उसके दोनों ओर जो मोती पिरोये जाएँ, उनका आकार क्रमानुसार घटता जाए), अवघाटक (जिसके सव मोती एक समान आकार के हों), तरल प्रतिवन्ध (ऐसी माला जिसके मध्य में एक अत्यन्त चमकीला मोती लगाया गया हो)[२]।

मोतियों की बहुत-सी लड़ियों से वड़े-वड़े हार वनाये जाते थे, जिन्हें अत्यन्त समृद्ध व्यक्ति ही प्रयुक्त कर सकते थे। इन्द्रच्छन्द हार में १००८ मुक्ता-यष्टियाँ होती थीं, विजयच्छन्द हार में ५०४, अर्धहार में ६४, रश्मिकलाप में ५४, गुच्छाहार में ३२, नक्षत्र-माला हार में २७, अर्धगुच्छहार में २४, माणवक हार में २०, और अर्धमाणवक हार में १२। इसी प्रकार के अन्य भी वहुत-से हारों का उल्लेख कौटल्य ने किया है, जिनमें कोई मणि भी मोतियों की लड़ियों के बीच में लगायी जाती थी। अर्थशास्त्र के इस विवरण को पढ़ कर इस वात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग में मोतियों के हार वनाने का शिल्प वहुत उन्नत था।[३]

मोतियों की लड़ियाँ और हार गले में पहनने के लिये वनाये जाते थे, और साथ ही सिर, हाथ, पैर और कटि (कमर) आदि के लिये भी।[४] इन विविध प्रकार के हारों के लिये पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ थीं, और इनके निर्माण के लिये सुवर्ण-सूत्र का भी प्रयोग किया जाता था।

मोतियों के अतिरिक्त अनेकविध मणियों को प्राप्त करना भी खन्यध्यक्ष का कार्य था। मणियों के तीन मुख्य भेद थे––कौट (कूट-पर्वत से प्राप्तव्य), मालेयक (मलय पर्वत से प्राप्तव्य) और पारसमुद्रक (समुद्र पार से प्राप्तव्य)। स्थान भेद के सिवाय रूप-भेद से भी मणियों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जाता था––सौगन्धिक (जो रक्त पद्म या पारिजात पुष्प के समान निर्दोष लाल रंग की हो, और जिसमें वाल सूर्य के समान चमक हो), वैडूर्य (जो नील कमल या शिरीष पुष्प या जल या कच्चे वाँस या सूखे पत्ते के रंग की हो), पुष्पराग, गोमूत्रक, गोमेदक, नीलावलीयक, इन्द्रनील, कलायपुष्पक, महानील, जाम्ब-वाभ, जीमूतप्रभ, नन्दक, स्रवन्मध्य, शीतवृष्टि और सूर्यकान्त आदि।[५] वे मणियाँ उत्कृष्ट

---

१. 'स्थूलं वृत्तं निस्तलं भ्राजिष्णु श्वेतं गुरु स्निग्धं देशविद्धं च प्रशस्तम्।' कौ. अर्थ. २।११

२. कौ. अर्थ. २।११

३. कौ. अर्थ. २।११

४. 'तेन शिरोहस्तपादकटीकलापजालकविकल्पा व्याख्याताः।' कौ. अर्थ. ५।११

५. कौ. अर्थ. २।११

मानी जाती थीं, जो आकार में षट्कोन, चौकोन या गोल हों, जिनका रंग गाढ़ा और चमकीला हो, जो चिकनी और भारी हों, जिनसे किरणें फूटती हों और जो पारदर्शक हो।[1] सौगन्धिक आदि जिन मणियों का ऊपर परिगणन किया गया है, उन सबको उत्कृष्ट माना जाता था। कतिपय मणियाँ घटिया किस्म की भी थीं। इनके नाम भी कौटलीय अर्थशास्त्र में दिये गये हैं।

मुक्ता और मणि के अतिरिक्त वज्र (हीरे) भी खन्यध्यक्ष द्वारा एकत्र कराये जाते थे। इन्हें खानों और स्रोतों से प्राप्त किया जाता था। हीरों के भी अनेक भेद थे—सभाराष्ट्रक (विदर्भ देश के सभाराष्ट्र नामक प्रदेश से प्राप्त), मध्यमराष्ट्रक (मध्य देश के कौशल जनपद से प्राप्त), काश्मकराष्ट्रक (काश्मक देश से प्राप्त), श्रीकटनक (इस नाम के पर्वत से प्राप्त), मणिमन्तक (इस नाम के पर्वत से प्राप्त) और इन्द्रवानक (कलिङ्ग देश से प्राप्त)। असली हीरे की क्या पहचान है, और कौन-से हीरे उत्कृष्ट या निकृष्ट होते हैं, इस विषय का भी अर्थशास्त्र में निरूपण किया गया है। जो हीरा स्थूल (बड़ा), गुरु (भारी), प्रहारसह (जो आघात को सह सके), समकोटिक (जिसके किनारे एक समान हों), भाजनलेखित (जिससे बरतनों पर लेखन या अंकन किया जा सके), कुभ्रामि (जो किरणें प्रतिक्षिप्त करता हो) और भ्राजिष्णु (चमकदार) हो, वह प्रशस्त होता है।[2]

मोती, मणि और हीरे आदि से विविध प्रकार के आभूषणों को बनाने और मणि तथा हीरे को काटकर निश्चित आकार प्रदान करने का कार्य 'मणिकारुओं' द्वारा किया जाता था।[3] इसमें सन्देह नहीं, कि मणिमुक्ता आदि का व्यवसाय मौर्य युग में बहुत उन्नत था।

(५) **शराब का उद्योग**—सुरा (शराब) का उद्योग 'सुराध्यक्ष' के अधीन था, जो शराब बनवाने और उसकी विक्री की सब व्यवस्था कराता था। इसके लिये सुरा-निर्माण में दक्ष व्यक्तियों को राजकीय सेवा में रखा जाता था। शराब की विक्री का प्रबन्ध नगरों, देहातों और छावनियों में सर्वत्र किया जाता था।[4] सुरा छः प्रकार की होती थी, मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु। एक द्रोण जल, आधा आढ़क चावल और तीन प्रस्थ किण्व (fermant) मिलाकर मेदक सुरा तैयार की जाती थी। मेदक के निर्माण में जल और चावल का अनुपात ८ और १ का होता था, और खमीर उठाने के लिये उसमें

---

१. **'षडश्रचतुरश्रो वृत्तो वा तीव्रराग संस्थानवानच्छ स्स्निग्धो गुरुरर्चिष्मानन्तर्गतप्रभः प्रभानुलेपी चेति मणिगुणाः।' कौ. अर्थ. २।११**

२. **'स्थूलं, गुरु, प्रहारसहं समकोटिकं भाजनलेखितं कुभ्रामिभ्राजिष्णु च प्रशस्तम्।' कौ. अर्थ. २।११**

३. **'ततः परं नगरराजदेवतालोहमणिकारवो. . .अधिवसेयुः।' कौ. अर्थ. २।४**

४. **'सुराध्यक्षस्सुराकिण्वव्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्वव्यवहारिभिः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२५**

किण्व डाला जाता था। प्रसन्न सुरा को बनाने के लिये अन्न (चावल, जौ आदि) की पीठी के अतिरिक्त दालचीनी आदि मसाले भी पानी में मिलाये जाते थे।[1] कौटल्य ने अन्य प्रकार की सुराओं के निर्माण की विधियाँ भी दी है, जिन्हें यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

सुरा के सेवन पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण विद्यमान थे। उसके क्रय-विक्रय के स्थान नियत थे, जिनके अतिरिक्त अन्य कहीं शराब नहीं बेची जा सकती थी। इस नियम का उल्लंघन करने पर ६०० पण जुरमाने का विधान था। नियत स्थान से शराब को बाहर ले जाना निषिद्ध था।[2] यह ध्यान में रखा जाता था, कि शराबखाने एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर हों। सुरा का सेवन केवल ऐसे व्यक्तियों को ही करने दिया जाता था, जो 'वेदित-ज्ञात-शौच' (जिनकी शुचिता या तो ज्ञात हो और या ज्ञात करा दी गई हो) हों। उन्हें भी केवल आधा प्रस्थ, आधा कुडुम्ब, चौथाई कुडुम्ब या एक कुडुम्ब की मात्रा में ही शराब दी जाती थी। कौटल्य ने लिखा है, कि कर्मचारी और कर्मकर निर्दिष्ट कार्य में प्रमाद न करने लग जाएँ, आर्य जन कहीं मर्यादा का अतिक्रमण न करने लगें, और तीक्ष्ण प्रकृति के व्यक्तियों की उत्साह-शक्ति में क्षीणता न आ जाए, अतः केवल निर्धारित मात्रा में ही शराब दी जाया करे।[3] इसीलिये मैगस्थनीज़ ने यह लिखा है कि 'वे (भारतवासी) यज्ञों के सिवाय कभी मदिरा नहीं पीते। उनका पेय जौ के स्थान पर चावल द्वारा निर्मित एक रस है।'[4] क्योंकि सुरा का सेवन राज्य द्वारा नियन्त्रित था, इसी कारण मैगस्थनीज़ ने भारत में यह अनुभव किया था, कि यहाँ के लोग मदिरा का पान नहीं करते हैं।

यद्यपि शराब का व्यवसाय राज्य के हाथों में था, पर कतिपय अवसरों पर अन्य लोग भी स्वतन्त्रता के साथ शराब का निर्माण कर सकते थे। कौटल्य ने लिखा है कि विशेष कृत्यों के अवसरों पर कुटुम्बी (गृहस्थ) लोग श्वेत सुरा का स्वयं निर्माण कर सकते हैं और औषधि के प्रयोजन से अरिष्टों का भी। इसी प्रकार उत्सव, समाज (सामूहिक समारोह) और यात्राओं के अवसर पर चार दिन के लिये सब कोई को सुरा-निर्माण की स्वतन्त्रता थी।[5]

---

१. कौ. अर्थ. २।२५

२. 'एकमुखमनेकमुखं वा विक्रयक्रयवशेन वा षट्छतमत्ययमन्यत्र कर्तृविक्रेतृणां स्थापयेत्; ग्रामादनिर्णयनमसम्पातं च।' कौ. अर्थ. २।२५

३. 'सुरायाः प्रमादभयात्कर्मसु निर्दिष्टानां, मर्यादातिक्रमभयादार्याणां उत्साहभयाच्च तीक्ष्णानां लक्षितमल्पं वा चतुर्थभागमर्धकुटुम्बमर्धप्रस्थं वेदितज्ञातशौचा निर्हरेयुः।' कौ. अर्थ. २।२५

४. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, पृष्ठ ३३

५. 'कुटुम्बिनः कृत्येषु श्वेतसुरामौषधार्थं वारिष्टमन्यद्वा कर्तुं लभेरन्। उत्सवसमाजयात्रासु चतुरहस्सौरिको देयः।' कौ. अर्थ. २।२५

(६) **चमड़े का उद्योग**—मौर्य युग में चमड़े का उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में था। कौटल्य ने अनेक प्रकार की खालों का उल्लेख किया है—कान्तनावक (इस खाल का रंग मोर की गरदन के सदृश होता था), प्रैयक (इस खाल पर नीले, श्वेत और पीले रंग के विन्दु पड़े होते थे), उत्तरपर्वतक (यह उत्तरी पर्वतों से प्राप्त होने वाली विशेष प्रकार की खाल होती थी), विसी (इस खाल पर वड़े-वड़े बाल होते थे, और इसका कोई विशेष रंग नहीं होता था), महाविसी (यह श्वेत रंग की सख्त खाल होती थी), श्यामिका (यह खाल कपिल रंग की होती थी और इस पर विन्दु पड़े होते थे), कालिका (यह खाल कपिल और कपोत के रंग की होती थी), कदली (यह एक सख्त खाल होती थी), चन्द्रोत्तरा (यदि कदली खाल पर चाँद की तरह के चकत्ते हों, तो उसे चन्द्रोत्तरा कहते थे), शाकुला (इस खाल पर कोढ़ के ढंग के या मृग की खाल के समान चकत्ते होते थे), सामूर (यह अंजन के रंग की काली खाल होती थी) चीनसी (यह खाल लाल-काले रंग की या पाण्डु-काले रंग की होती थी), सामूली (यह गेहुंए रंग की होती थी), सातिना (काले रंग की खाल), नलतूला (नल घास के रंग की एक खाल), कपिला (कपिल रंग की खाल) और वृत्तपुच्छा (भूरे रंग की एक विशेष प्रकार की खाल)।[१]

इन विविध प्रकार की खालों के सम्बन्ध में कुछ अन्य विवरण भी अर्थशास्त्र में उपलब्ध है। कान्तनावक और प्रैयक खालों की चौड़ाई ८ अंगुल होती थी। विसी और महाविसी चौड़ाई में १२ अंगुल होती थीं। श्यामिका और कालिका चौड़ाई में ८ अंगुल, कदली लम्बाई में १ हाथ, चन्द्रोतरा लम्बाई में ८ अंगुल, और सामूर लम्बाई में ३६ अंगुल होती थी। ये सब खालें जंगली जन्तुओं की होती थी, सम्भवतः, जिनका शिकार उनकी कीमती खालों के लिये ही किया जाता था। इनमें से वहुत-सी खालें हिमालय या उसकी तराई के जंगलों से ही प्राप्त की जाती थीं। विसी और महाविसी खालें 'द्वादश ग्राम' में उपलब्ध थीं; श्यामिका, कालिका, कदली, चन्द्रोत्तरा और शाकुला को 'आरोह' से प्राप्त किया जाता था; और सामूर, चीनसी तथा सामूली को वाह्लव से। ये द्वादशग्राम, आरोह और वाह्लव हिमालय के क्षेत्र में ही स्थित थे।[२]

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य-युग में अनेक प्रकार की खालों को एकत्र करने का व्यवसाय वहुत उन्नत था। आधुनिक समय में भी विविध प्रकार की फरें जंगली जन्तुओं को मार कर प्राप्त की जाती हैं, और वे वहुत अधिक कीमत पर विकती हैं। कौटल्य ने इन चर्मों को 'रत्नों' में गिना है, और इनका उल्लेख मणि, मुक्ता, चन्दन आदि वहुमूल्य पदार्थों के साथ किया है। कोशाध्यक्ष जिन कीमती रत्न, सार, कुप्य आदि का कोशागार में संग्रह करता था, ये चर्म भी उन्हीं में

१. कौ. अर्थ. २।११
२. कौ. अर्थ. २।११

थे। कौटल्य ने उन चर्मों को श्रेष्ठ कहा है, जो नरम, चिकने और प्रभूत वालों वाले हों। चर्म का यह रूप आधुनिक समय की फरों को ही सूचित करता है। कान्तनावक आदि विविध प्रकार की फरों की ही संज्ञा थी।

वहुमूल्य चर्मों (खालों) के अतिरिक्त गाय, वैल, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं की खालें भी अनेकविध कार्यों के लिये प्रयुक्त की जाती थीं। जो पशु स्वयं मर जाते थे या जिनका सूनाओं (बूचड़खानों) में वध किया जाता था, उनकी खालें जूते आदि वनाने के प्रयोग में लायी जाती थीं। मैगस्थनीज़ ने चमड़े के श्वेत जूतों का वर्णन किया है। नियार्कस के अनुसार भारतीय लोग श्वेत रंग के चमड़े के जूतों को पहना करते थे। ये जते वहुत वढ़िया होते थे। इनकी एड़ियाँ कुछ ऊँची बनायी जाती थीं, और इन्हें पहनने वाला कुछ अधिक ऊंचा प्रतीत होने लगता था।[१]

(७) **वरतनों का उद्योग**—मौर्य युग में वरतन वनाने का उद्योग भी वहुत उन्नत था। लोहाध्यक्ष जहाँ ताम्र, सीसा, टिन, पीतल, काँसा, लोहा आदि धातुओं को तैयार कराता था, वहाँ उसका यह कार्य भी था कि इन विभिन्न धातुओं से नानाविध उपयोगी पण्यों (विक्रेय वस्तुओं) को तैयार कराए।[२] इस उपयोगी 'भाण्ड' में वरतन भी अवश्य होते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। पर वरतन वनाने के लिये केवल धातुओं का ही उपयोग नहीं किया जाता था। वेंत, छाल और मिट्टी के भी वरतन वनाये जाते थे।[३] कौटल्य ने वरतनों की गणना 'कुप्य' में की है।

(८) **काष्ठ का उद्योग**—मौर्य युग में जङ्गलों का वहुत महत्त्व था, और आर्थिक दृष्टि से उन्हें वहुत उपयोगी माना जाता था। जंगलों की रक्षा और वृद्धि का विभाग एक पृथक् अमात्य के अधीन रहता था, जिसे 'कुप्याध्यक्ष' कहते थे। उसके अधीन द्रव्यपाल और वनपाल आदि अन्य राजकर्मचारी होते थे, जिनकी सहायता से वह जंगलों से कुप्य पदार्थों को एकत्र करता था, और साथ ही काष्ठ आदि कुप्य पदार्थों को तैयार भाण्ड के रूप में परिवर्तित कराने के लिये कर्मान्तों (कारखानों) का सञ्चालन करता था।[४] विपत्ति के अतिरिक्त यदि साधारण दशा में कोई व्यक्ति जंगल को किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाए, तो उसे न केवल क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी, पर साथ ही उसे जुरमाने आदि के रूप में दण्ड भी दिया जाता था।[५]

---

१. S. K. Das : Economic History of Ancient India. p 155
२. **'लोहभाण्डव्यवहारं च।' कौ. अर्थ. २।१२**
३. **'विदलमृत्तिकामयं भाण्डम्।' कौ. अर्थ. २।१७**
४. **'कुप्याध्यक्षो द्रव्यवनपालैः कुप्यमानयेत्। द्रव्यवनकर्मान्तांश्च कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१७**
५. **'द्रव्यवनच्छिदां च देयमत्ययं च स्थापयेदन्यात्रपद्भयः।' कौ. अर्थ. २।१७**

कुप्य पदार्थों में निम्नलिखित को अन्तर्गत किया जाता था—शाक (सागौन), तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिशुप, अरिमेद, राजादन, शिरीष, खदिर (खैर), सरल, तालसर्ज, अश्वकर्ण, सोमवल्क, कशाम्र, प्रियक, धव आदि सारदारु[१]। ये ऐसे वृक्ष हैं, जिनके काष्ठ ठोस और कड़े होते हैं और जिनका प्रयोग इमारत और आसन्दी आदि बनाने के लिये किया जाता है।

सारदारु के अतिरिक्त अनेक प्रकार के बाँसों, वल्लियों (लताओं), वल्कों (रेशेदार वृक्षों और पौदों), रज्जुभाण्डों (मूँज, भावड़ आदि ऐसी घासें जिनसे रस्सियाँ बनायी जाती हैं), पत्र, पुष्प, औषधि, विष, विषैले जन्तु, जंगली पशुओं और जन्तुओं के चमड़े, हड्डी, दाँत, सींग, खुर, पूँछ आदि, फूँस, सरकण्डे, ईंधन और कोयले आदि भी कुप्य थे, क्योंकि ये सब उपयोगी पण्य-द्रव्य भी जंगलों से ही प्राप्त किये जाते थे।[२] जंगलों से इन सबको एकत्र कराके कुप्याध्यक्ष इन्हें इनके विभिन्न कर्मान्तों में भिजवा देता था, जहाँ इनसे विविध प्रकार का माल तैयार कराया जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि "द्रव्यवन (सारदारु आदि द्रव्य के जंगल) दुर्ग, यान और रथ की योनि (मूल) होते हैं।[३]" पुरों में मकान बनवाने और रथ तथा अन्य यान बनवाने में सारदारु (ठोस काष्ठ) का ही प्रयोग होता है। अतः मौर्य युग में जंगलों का बहुत महत्त्व था, और उनसे प्राप्तव्य द्रव्य को ऐसे कार्यों के लिये प्रयुक्त किया जाता था, जो कि मनुष्यों की आजीविका और पुरों की रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक थे।[४]

कुप्य द्रव्यों के उद्योगों में अनेकविध कारु कार्य करते थे। मैगस्थनीज ने विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख करते हुए लकड़हारों और बढ़इयों का भी जिक्र किया है, जो वृक्ष काटने और काष्ठ से विविध प्रकार का सामान बनाने में व्यापृत रहते थे।[५]

(९) हथियार बनाने का उद्योग—मौर्य साम्राज्य की स्थिति उसकी सैनिक शक्ति पर ही निर्भर थी, और सेना का कार्य अस्त्र-शस्त्रों के बिना नहीं चल सकता था। अतः स्वाभाविक रूप से हथियार बनाने के उद्योग का मौर्य युग में बहुत महत्त्व था। इसके लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'आयुधागाराध्यक्ष' कहते थे। वह अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण

---

१. **'शाकतिनिशधन्वार्जुनमधूकतिलकसालशिंशुपारिमेदराजादनशिरीषखदिरसरलताल-सर्जाश्वकर्णसोमवल्ककशाम्रप्रियकधवादिस्सारदारुवर्गः।'**
कौ..अर्थ. २।१७

२. **कौ. अर्थ. २।१७**

३. **द्रव्यवनं दुर्गकर्मणां, यानरथयोश्च (योनिः)। कौ. अर्थ. ७।१४**

४. **'बहिरन्तश्च कर्मान्ता विभक्तास्सर्वभाण्डिकाः।**
आजीवपुररक्षार्थाः कार्याः कुप्योपजीविना।"। कौ. अर्थ. २।१७

५. **मैगस्थनीज का भारवर्षीय वर्णन, पृष्ठ ४९**

में कुशल कारु-शिल्पियों से सांग्रामिक (युद्ध में काम आनेवाले), दौर्गकर्मिक (किलों की रक्षा के लिये प्रयुक्त होने वाले) और परपुराभिघातिक (शत्रुओं के नगरों को आक्रान्त व नष्ट करने के लिये उपयोगी), चक्र, यन्त्र, आयुध, कवच और अन्य उपकरणों को तैयार कराता था।[१] विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के विषय में कौटल्य ने विशदरूप से लिखा है। मौर्य-युग की युद्ध नीति का प्रतिपादन करते हुए हम पृथक् रूप से इन पर प्रकाश डालेंगे। पर यह निस्सन्दिग्ध है, कि मौर्यों के काल में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में था।

(१०) सुवर्णकार (सुनार) का व्यवसाय—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य सुवर्णकारों द्वारा किया जाता था। मौर्य युग के लोग नानाविध आभूषणों और अलंकरणों द्वारा अपने को सुशोभित किया करते थे, अतः यह व्यवसाय उस काल में बहुत विकसित दशा में था। इसके लिये राज्य का एक पृथक् विभाग था, जिसके अध्यक्ष को 'सुवर्णाध्यक्ष' कहते थे। इसकी अधीनता में सुवर्ण और रजत से आभूषण आदि तैयार करने के लिये पृथक्-पृथक् कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किये जाते थे, और उन पर नियन्त्रण रखने के लिये एक 'अक्षशाला' बनवायी जाती थी जिसमें चार शालाएँ और केवल एक द्वार रहता था।[२] सोने-चाँदी के व्यवसाय को सुवर्णाध्यक्ष नियन्त्रित करता था।

कौटलीय अर्थशास्त्र में सुवर्ण के अनेक भेद निरूपित किये गये हैं—जाम्बूनद (जम्बू नदी से प्राप्त अत्यन्त उत्कृष्ट सोना), शातकुम्भ (शतकुम्भ पर्वत से प्राप्तव्य कमल के रंग का सोना), हाटक, वैणव (वेणु पर्वत से प्राप्तव्य कर्णिकर पुष्प के रंग का सोना) और शृंगशुक्तिज (लाल संखिया के रंग का साना)। कौटल्य के अनुसार सोना विशुद्ध रूप से भी प्राप्त होता है,और अन्य धातुओं आदि से मिला हुआ भी। सोने की कच्ची धात से किस प्रकार शुद्ध सोना प्राप्त किया जाए, इसकी विधि भी अर्थशास्त्र में लिखी गयी है। वह सुवर्ण उत्कृष्ट समझा जाता था, जो कमल के रंग का, चमकदार और स्निग्ध हो। रक्त-पीत रंग के सोने को मध्यम और लाल रंग के सोने को घटिया माना जाता था।[३]

चाँदी के भी अनेक भेद थे—तुत्थोद्गत, गौडिक, काममल, कवक और चाक्रवालिक। चमकीली श्वेत रंग की चाँदी को श्रेष्ठ समझा जाता था। सोने-चाँदी की पहचान के लिये

---

१. 'आयुधागाराध्यक्षः सांग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघातिकं चक्रयन्त्रमायुधमावरण-मुपकरणं च तज्जातकारुशिल्पिभिः कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१५

२. 'सुवर्णाध्यक्षः सुवर्णरजतकर्मान्तामसम्बन्धावेशनचतुश्शालामेकद्वारामक्षशालां कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१३

३. कौ. अर्थ. २।१३

जहाँ निकष (कसौटी) प्रयुक्त की जाती थी, वहाँ अग्नि में डाल कर भी उनकी शुद्धता आदि को परखा जाता था।[१]

सोने और चाँदी से जो वहुत-से आभूषण वनाये जाते थे, उसकी कला (कर्म) को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता था, क्षेपण, गुण और क्षुद्र। काँच के मनकों और मणि आदि को सुवर्ण में जड़ने को 'क्षेपण' कहते थे। सोने, चाँदी आदि से सूत्र और जंजीर वनाने की संज्ञा 'गुण' थी। सोने-चाँदी के घन (ठोस) तथा सुषिर (खोखले) गहने वनाने और मनके आदि वनाने को 'क्षुद्र' कहते थे।[२] इन विविध प्रकार के कार्यों को करनेवाले शिल्पियों को 'त्वष्ट्र' और सौवर्णिक आदि कहा जाता था। सुवर्णाध्यक्ष के 'अक्षपटल' में केवल ऐसे ही व्यक्ति प्रविष्ट हो सकते थे, जो 'आयुक्त' (सेवा में नियुक्त) हों। यदि कोई अनायुक्त वहाँ प्रवेश करे, तो उसे मत्युदण्ड दिया जाता था। यदि कोई कर्मचारी (आयुक्त) सोना या चाँदी साथ लेकर अक्षशाला में प्रवेश करे, तो उस सोने-चाँदी को जव्त कर लिया जाता था।[३] इस नियम का प्रयोजन यह था, कि कहीं सौवर्णिक आदि कर्मचारी अपना निजी (प्राइवेट) काम अक्षशाला में न ले जाएँ। जब कोई कर्मचारी अक्षशाला में प्रवेश करता था, तो उसके वस्त्र, हाथ आदि की भली भाँति तलाशी ली जाती थी, और अक्षशाला से वाहर निकलने पर भी।[४] कर्मचारियों को गहने आदि वनाने के लिये जो सोना-चाँदी दी जाती थी, वे उसे तोल कर ग्रहण करते थे और सायंकाल के समय जब वे अक्षशाला से वाहर जाते थे, तो उसे अक्षशाला में ही छोड़ जाते थे। जो आभूषण आदि तैयार हो जाएँ, उन्हें ताले में वन्द कर दिया जाता था, और उस पर कर्ता (आभूषण बनानेवाले कारु) और कारयिता (सुवर्णाध्यक्ष) दोनों अपनी-अपनी मुहरें (मुद्राएँ) लगा देते थे।[५] सुवर्णाध्यक्ष के अधीन अक्षशाला में जो विविध कर्मचारी कार्य करते थे, उनमें से कुछ की संज्ञा सौवर्णिक (सुनार), त्वष्टा या त्वष्ट्र, पृषितकारु, काचकारु, तपनीयकारु, ध्मायक, चरक, पांसुयावक और काञ्चनकारु थी।

(११) धातु-उद्योग के शिल्पी—लोह, ताम्र, त्रपु आदि धातुओं से बरतन और हथियार वनाये जाते थे, और सोना-चाँदी से आभूषण तथा सिक्के। इन व्यवसायों में लगे हुए

---

१. कौ. अर्थ. २।१३

२. 'क्षेपणो गुणः क्षुद्रमिति कर्माणि। क्षेपणः काचार्पणादीनि। गुणस्सूत्रवानादीनि। घनं सुषिरं पृषितादियुक्तं क्षुद्रकमिति।' कौ. अर्थ. २।१३

३. 'अक्षशालायामनायुक्तो नोपगच्छेत्। अभिगच्छन् उच्छेद्यः। आयुक्तो वा सरूप्यस्वर्णस्तेनैव जीयेत।' कौ. अर्थ. २।१३

४. 'विचित वस्त्रहस्तगुह्याः··· प्रविशेयुः निष्कसेयुश्च।' कौ. अर्थ. २।१३

५. 'गृहीते सुवर्णं धृतं च प्रयोगं करणमध्ये दद्यात्। सायं प्रातश्च लक्षितं कर्तृकारयितृमुद्राभ्यां निदध्यात्।' कौ. अर्थ. २।१३

अनेकविध शिल्पियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इनके अतिरिक्त भी कतिपय कारु और शिल्पी धातु-शिल्प का अनुसरण किया करते थे। इनमें लुहार प्रधान थे। लोहे द्वारा निर्मित खनित्र (फावड़ा), कुद्दाल (कुदाल), काण्डच्छेदन (कुल्हाड़ा) आदि कितने ही उपकरणों का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है, जिनका निर्माण लुहारों द्वारा ही किया जाता था। लुहार के लिये कौटल्य ने 'लोहकारु' शब्द का प्रयोग किया है। लोह-कारु जहाँ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते थे, वहाँ साथ ही फावड़ा, कुदाल, कुल्हाड़ा आदि भी बनाते थे। मैगस्थनीज ने भी लुहारों का उल्लेख किया है।[२]

(१२) **भोजन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसाय**--कौटलीय अर्थशास्त्र में पाक्वमांसिक[३] (पका हुआ मांस बेचने वाले), औदनिक (भात व कच्ची रसोई बनाने वाले)[४], आपूपिक (पुए व पूरी आदि बनाने वाले)[५], पक्वान्नपण्य[६] (पक्कान्न या पकवान बेचने-वाले) आदि का भी उल्लेख किया है। निस्सन्देह, ये सब ऐसे व्यवसायी थे, जो कि विविध प्रकार के पके हुए भोजन को बेचने का कारोबार किया करते थे।

(१३) **नर्तक, गायक आदि**--मौर्य युग में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जो नट, नर्तक, वादक, गायक, कुशीलव, तालापचार (बाजा बजाने वाले) आदि का कारोबार करके अपना निर्वाह करते थे। कौटल्य को ये व्यवसायी पसन्द नहीं थे। वे समझते थे, कि इनसे जनपद-निवासियों के दैनिक कार्य में विघ्न पड़ता है। इसी कारण उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि नट, नर्तक, वादक आदि जनपदों में 'कर्मविघ्न' न करने पाएँ, क्योंकि इनसे कृषिकार्य में लगे हुए ग्रामवासियों के कार्य में बाधा पड़ती है।[७] पर इस व्यवस्था के होते हुए भी मौर्य युग के भारत में इन विभिन्न कारोबारियों की सत्ता थी, और उन्हें अपना शिल्प दिखाने का अवसर भी प्राप्त होता था। पर ऐसा करते हुए वे स्वेच्छापूर्वक कार्य नहीं कर सकते थे, और न ही बहुत अधिक संख्या में प्रेक्षाएँ प्रदर्शित कर सकते थे।[८] विभिन्न प्रकार की रूपाजीवाओं (रूप द्वारा आजीविका कमाने वाली वेश्याओं) की भी मौर्य युग

---

१. 'परशु कुठारपट्टसखनित्रकुद्दालचक्रकाण्डच्छेदनाः क्षुरकल्पाः।' कौ. अर्थ. २।१८
२. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, पृष्ठ ४९
३. कौ. अर्थ. २।३६
४. कौ. अर्थ. २।३६
५. कौ. अर्थ. २।४
६. कौ. अर्थ. २।४
७. 'नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः, निराश्रयत्वात् ग्रामाणां क्षेत्राभिरतत्त्वाच्च पुरुषाणाम्।' कौ. अर्थ. २।१
८. 'कामदानमतिमात्रमेकस्थातिपातं च वर्जयेयुः। तस्यातिक्रमणे द्वादश गुणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।१

में सत्ता थी, जो राजकीय सेवा में रहते हुए या स्वतंत्र रूप से पेशा करके अपना निर्वाह करती थीं। उनके कार्य को नियन्त्रित करने के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'गणिकाध्यक्ष' कहते थे।[१]

(१४) **अन्य व्यवसाय**—कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी वहुत-से व्यवसायियों का उल्लेख है, जिनमें देवताकारु (देवताओं की मूर्तियाँ वनाने वाले)[२] मणिकारु (मणियों से आभूषण बनाने वाले)[३] माल्यपण्य (मालाएँ वनाकर वेचने वाले)[४], गन्धपण्य (सुगन्धियाँ बनाकर वेचनेवाले)[५], और भिषक् आदि मुख्य हैं। ये सव व्यवसाय भी मौर्य युग में अच्छी उन्नत दशा में थे।

(३) व्यापार

मौर्य युग में कृषि और उद्योगों के समान व्यापार भी वहुत उन्नत और विकसित था। ग्रामों के छोटे-छोटे सौदागरों से लगाकर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ तक उस युग में विद्यमान थीं। गाँवों के छोटे दूकानदार जहाँ पण्य की विक्री का धन्धा करते थे, वहाँ साथ ही खेती भी किया करते थे।[६] गाँवों में जहाँ छोटी-छोटी दूकानों की सत्ता थी, वहाँ साथ ही जल और स्थल के मार्गों पर मण्डियाँ भी लगा करती थीं।[७] इनका प्रवन्ध राज्य की ओर से किया जाता था। इन मण्डियों द्वारा कर्मान्तों में तैयार हुआ माल ग्रामवासियों को भी उपलब्ध हो जाता था। शहरों और ग्रामों में सम्वन्ध कायम रखने के लिये इनकी बहुत उपयोगिता थी।

व्यापार के नियन्त्रण के लिये राज्य का एक पृथक् विभाग था, जो वैदेहकों (व्यापारियों व दूकानदारों) के कार्यों की देख भाल करता था। इस विभाग के अध्यक्ष को 'संस्थाध्यक्ष' कहते थे, जो 'पण्याध्यक्ष' की अधीनता में अपने कार्यों का सम्पादन करता था। व्यापारी माल को ठीक तोलते हैं, और उनकी तराजू तथा वाट सही हैं, इसे देखना संस्थाध्यक्ष का ही कार्य था। माल में कोई मिलावट तो नहीं की गई है, पुराने माल को नया वता कर तो नहीं वेचा जा रहा है, जो माल जिस स्थान का वना हुआ न हो, उसे वहाँ का वना वताकर तो नहीं बेचा जा रहा है, और व्यापारी विके हुए माल को वदल तो नहीं रहा है—इन सब वातों पर ध्यान रखना और अपराधियों को दण्ड देना 'संस्थाध्यक्ष' के ही कार्य थे।[८]

---

१. कौ. अर्थ. २।२७

२. कौ. अर्थ. २।४

३. कौ. अर्थ. २।४

४. कौ. अर्थ. २।४

५. कौ. अर्थ. २।४

६. 'ग्राम भृतकवैदेहकाः वा कृषेयुः। कौ. अर्थ. २।१

७. 'वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्।' कौ. अर्थ. २।१

८. कौ. अर्थ. ४।२

यदि कोई व्यापारी माल खरीदते हुए ऐसी तराजू का प्रयोग करे जिससे माल अधिक तुलता हो, और माल बेचते हुए ऐसी तराजू प्रयोग में लाए जो कम तोलती हो, तो उसे दण्ड दिया जाता था।[1] पर यदि तोल में अन्तर अधिक न हो, तो उसकी उपेक्षा कर दी जाती थी। यदि एक आढ़क माल तोलते हुए केवल आधे कर्ष का अन्तर पड़े, तो उसे अपराध नहीं समझा जाता था। एक आढ़क ४ प्रस्थ या १६ कुडुम्ब के बराबर होता था, और १ कुडुम्ब में १२½ कर्ष होते थे। इस प्रकार एक आढ़क २०० कर्ष के बराबर होता था। यदि २०० कर्ष तोलते हुए केवल आधे कर्ष का अन्तर पड़ जाए, तो उसकी उपेक्षा कर देना अनुचित नहीं था। यह अन्तर नाममात्र का ही था। पर यदि एक आढ़क तोलने पर एक कर्ष का अन्तर (½ प्रतिशत के लगभग) पड़ जाए, तो दूकानदार पर ३ पण जुरमाना किया जाता था। यदि कमी एक कर्ष से भी अधिक हो, तो जुरमाने की मात्रा इसी अनुपात (एक कर्ष के अन्तर पर ३ पण) से बढ़ती जाती थी।[2] माल का विक्रय करते हुए खरीदारों को धोखा देने पर कड़ा दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यापारी काष्ठ (विविध प्रकार की सारदारु), लोह (लोहा, ताँबा आदि धातुएँ), मणि, रज्जु, चर्म (विविध प्रकार की खालें), मिट्टी के बने हुए बरतन, सूती ऊनी या रेशों के बने हुए वस्त्र आदि को घटिया होने पर बढ़िया बता कर बेचे, तो उसे बेची गई वस्तु के मूल्य का आठ गुना दण्ड के रूप में देना होता था।[3] यदि व्यापारी परस्पर एक होकर यह प्रयत्न करें कि कारुओं और शिल्पियों द्वारा तैयार किये गये माल को घटिया बताया जाए, और इस प्रकार उन्हें कम पारिश्रमिक मिले, उन द्वारा तैयार किया गया माल कम कीमत पर बिके या उसका क्रय-विक्रय ही न हो सके, तो उन व्यापारियों पर एक हजार पण जुरमाना किया जाए।[4] यदि व्यापारी एक साथ मिलकर पण्य (विक्रेय माल) को रोक लें, और इस ढंग से उसकी कीमत को बढ़ाने का यत्न करें, या आपस में मिलकर किसी पण्य की कीमत को गिराने को प्रयत्न करें, तो भी उन्हें एक हजार पण जुरमाने का दण्ड दिया जाए।[5] जो दूकानदार बाटों या मापों को बदल

---

१. 'तुलामानाभ्यामतिरिक्ताभ्यां क्रीत्वा हीनाभ्यां विक्रीयाणस्य त एव द्विगुणा दण्डाः।' कौ. अर्थ. ४।२

२. 'आढ़कस्यार्धकर्षहीनातिरिक्तमदोषः, कर्षहीनातिरिक्ते त्रिपणो दण्डः। तेन कर्षोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।' कौ. अर्थ. ४।२

३. 'काष्ठलोहमणिमयं रज्जुचर्ममृण्मयं सूत्रवल्करोममयं वा जात्यमित्यजात्यं विक्रयाधानं नयतो मूल्यादष्टगुणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।२

४. 'कारुशिल्पिनां कर्मगुणाय कर्षमाजीवं विक्रयं क्रयोपघातं वा सम्भूय समुत्थापयतां सहस्रं दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।२

५. 'वैदेहकानां वा सम्भूय पण्यमवरुन्धतामनर्घेण विक्रीणतां क्रीणतां वा सहस्रं दण्डः' कौ. अर्थ. ४।२

कर तोलने या मापने में अन्तर (कमी) कर दें, और इस प्रकार अन्तर आ जाने के कारण माल में आठवें हिस्से की कमी पड़ जाए, तो दूकानदार पर २०० पण जुरमाना किया जाए। यदि कमी आठवें हिस्से से अधिक हो, तो इसी हिसाब ($\frac{१}{८}$ कमी पर २०० पण) से जुरमाने की मात्रा भी बढ़ा दी जाए।[१] धान्य (विविध अन्न), स्नेह (घी, तेल आदि), क्षार[२] (शर्करा, दानेदार चीनी, गुड़ आदि), गन्ध (सुगन्धियों) और भैषज्य (औषधि) में मिलावट करने पर १२ पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था।[३] विविध प्रकार के अन्न का (विक्रय के लिये) सञ्चय केवल ऐसे व्यापारी ही कर सकते थे, जो राज्य द्वारा इस कार्य के लिये अनुज्ञात (अधिकृत) हों। यदि कोई अन्य व्यक्ति अपने पास अन्न का सञ्चय करे, तो पण्याध्यक्ष को अधिकार था कि वह उसे जब्त कर ले।[४] इस व्यवस्था का प्रयोजन यह था, कि धान्य-पण्य की बिक्री जनता के लाभ को दृष्टि में रख कर की जा सके।[५] व्यापारी लोग कितना मुनाफा ले सकें, यह भी राज्य द्वारा निर्धारित किया जाता था। माल खरीदने की जो कीमत राज्य द्वारा निश्चित की गई हो, दूकानदार अपने देश के माल को उससे ५ प्रतिशत अधिक मूल्य पर बेच सकता था। इस प्रकार वह पाँच प्रतिशत मुनाफे का अधिकारी था। विदेशी माल पर दस प्रतिशत मुनाफा लिया जा सकता था। यदि कोई व्यापारी इससे अधिक मुनाफा ले, तो ५ प्रतिशत अतिरिक्त मुनाफे पर २०० पण के हिसाब से उस पर जुरमाना किया जाए। इससे अधिक मुनाफे पर जुरमाने की मात्रा इसी हिसाब से बढ़ती जाए।[६] यदि पण्य की मात्रा बहुत हो और माल की अधिकता के कारण उसका निर्धारित कीमत पर बिक सकना सम्भव न रहे, तो पण्याध्यक्ष सारे पण्य को एक स्थान से बिक्री कराए,[७] ताकि उसे निर्धारित मूल्य पर बेचा जा सके।

कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित व्यापार-सम्बन्धी ये नियम अत्यन्त महत्त्व के हैं।

---

१. 'तुलामानान्तरमर्घवर्णान्तरं वा धरकस्य मापकस्य वा पणमूल्यादष्ट भागं हस्तदोषेणाचरतो द्विशतं दण्डः। तेन द्विशतोत्तरा वृद्धिर्व्याख्याता।' कौ. अर्थ. ४।२

२. 'फाणितगुडमत्स्यखण्डिकाखण्डशर्कराः क्षारवर्गः।' कौ. अर्थ. २।१५

३. 'धान्यस्नेहक्षारलवणगन्धभैषज्यद्रव्याणां समवर्णोपधाने द्वादशपणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।२

४. 'तेन धान्यपण्यनिचयांश्चानुज्ञाताः कुर्युः, अन्यथा निचितमेषां पण्याध्यक्षो गृह्णीयात्।' कौ. अर्थ. ४।२

५. 'तेन धान्यपण्य विक्रये व्यवहरेतानुग्रहेण प्रजानाम्।' कौ. अर्थ. ४।२

६. 'अनुज्ञातक्रयापुपरि चैषां स्वदेशीयां पण्यानां पञ्चकं शतमाजीवं स्थापयेत्। परदेशीयानां दशकम्। ततः परमर्घं वर्धयतां क्रये विक्रये वा भावयतां पणशते पञ्चपणाद्विशतो दण्डः। तेनार्घवृद्धौ दण्ड वृद्धिर्व्याख्याता।' कौ. अर्थ. ४।२

७. 'पण्यबाहुल्यात्पण्याध्यक्षः सर्वपण्यान्येकमुखानि विक्रीणीत।' कौ. अर्थ. ४।२

इनके अनुशीलन से मौर्य युग के व्यापार का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में व्यापार पर राज्य का कठोर नियन्त्रण विद्यमान था। व्यापारी न माल में मिलावट कर सकते थे, न उसे कम तोल सकते थे, न अधिक मुनाफा ले सकते थे, और न परस्पर मिलकर किसी पण्य की कीमत ही बढ़ा सकते थे। अन्न-सदृश लोकोपयोगी पण्य को केवल वे व्यापारी ही बेच सकते थे, जो राज्य द्वारा अधिकृत हों। इनके क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में कौटल्य ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, कि इनकी विक्री जनता के लाभ को दृष्टि में रख कर की जाए।

तुलाओं और बाटों तथा मापों (मापने के साधन) पर राज्य का नियन्त्रण था। इनका निर्माण राज्य द्वारा ही कराया जाता था, जिसके लिये पौतवाध्यक्ष-संज्ञक अमात्य की अधीनता में कर्मान्त स्थापित किये जाते थे।[१] तुलाएँ अनेक प्रकार की होती थीं—तुला, आयमानी, व्यावहारिकी, संवृत्ता, भाजिनीया, अन्तःपुरभाजनीया और काष्ठतुला।[२] ये विभिन्न प्रकार के भारों को तोलने के लिये प्रयुक्त की जाती थीं। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनकी बनावट आदि के सम्बन्ध में भी विवरण विद्यमान है, पर उसे यहाँ उद्धृत करने का विशेष उपयोग नहीं है।

मैगस्थनीज़ के यात्रा विवरण से भी इन व्यवस्थाओं की पुष्टि होती है। उसने लिखा है, कि "चौथा वर्ग व्यापार और व्यवसाय का निरीक्षण करता है। इसके कर्मचारी नाप और तोल की निगरानी रखते हैं। पाँचवाँ वर्ग तैयार माल की देखभाल करता है···नई वस्तुएँ पुरानी वस्तुओं से अलग बेची जाती हैं। दोनों को एक साथ मिला देने पर जुरमाना किया जाता है।[३]"

पण्य को तोलने या मापने के लिये कौन-से बाट या माप प्रयुक्त होते थे, इस पर भी कौटलीय अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। सबसे छोटा बाट 'सुवर्ण-माषक' कहलाता था, जो तोल में दस धान्यमाष या पाँच गुञ्जा (रत्ती) के बराबर होता था। वर्तमान समय का मासा वजन में आठ रत्ती होता है। मौर्य युग का मापक आजकल के मासे से हलका होता था। सोलह सुवर्ण माषक से एक 'कर्ष' बनता था, और चार कर्ष से एक 'पल'। कर्ष तोल में ८० रत्तियों के बराबर होता था। वर्तमान समय का तोला ९६ रत्तियों के बराबर होता है। इस प्रकार कर्ष का वजन तोले से कुछ कम होता था। इन बाटों का प्रयोग प्रायः सोने जैसे बहुमूल्य पदार्थों को तोलने के लिये किया जाता था, अतः अर्धमाषक, द्विमाषक जैसे छोटे-छोटे बाट भी हुआ करते थे।

---

१. 'पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान्कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१९

२. कौ. अर्थ. २।१ङ

३. McCrindle : Magasthenes, pp. 87-88.

सुवर्ण माषक के समान रूप्यमाषक का वाट भी होता था, जो वजन में ८८ गौर-सर्षप के बराबर था। १६ रूप्य माषकों के बराबर 'धरण' संज्ञा का वाट होता था।

अर्धमाषक, माषक, द्विमाषक, चार-माषक, आठ माषक, दश माषक, बीस माषक, तीस माषक, चालीस माषक और सौ माषक के वट्टे बनाये जाते थे। इसी प्रकार रूप्य माषकों और धरणों के भी अनेकविध बाट होते थे।

कर्ष ८० रत्ती या १६ माषक के बराबर होता था, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। पल चार कर्षों के बराबर होता था, और पलों के भी एक पल, दो पल, चार पल आदि के सौ पलों तक के बाट होते थे। १०० पल आजकल के चार सेर से कुछ बड़ा होता था। १०० पल के बाट को 'आयमानी' कहते थे, और २०० पल या २ आयमानी के बाट को द्रोण।

जिस प्रकार द्रोण के छोटे बाट आयमानी, पल, कर्ष और माषक होते थे, वैसे ही द्रोण के एक अन्य ढंग के भी छोटे बाट थे, जिन्हें आढक, प्रस्थ और कुडुम्ब कहा जाता था। कुडुम्ब वजन में २०० माषक या १२½ कर्ष के बराबर होता था। ४ कुडुम्ब से १ प्रस्थ बनता था, और ४ प्रस्थ से १ आढक और ४ आढक से १ द्रोण। दोनों पद्धतियों में द्रोण का वजन एक-सदृश था। द्रोण वजन में आजकल के ८ सेर या १७ पौंड के लगभग होता था। अधिक वजन के द्रव्य को तोलने के लिये 'वारी' और 'वह' प्रयुक्त होते थे। 'वारी' १६ द्रोण के बराबर होता था, और 'वह' १० द्रोण के। २० द्रोण के बाट की संज्ञा 'कुम्भ' थी।[1]

बाटों के निर्माण के लिये या तो धातुओं का प्रयोग किया जाता था, या पत्थरों का, और या ऐसे द्रव्यों का जिन पर जल या अग्नि का कोई असर न पड़े (जो जल के सम्पर्क से भारी न हो जाएँ, और अग्नि के सम्पर्क से ह्रास को प्राप्त न हो सकें)। धातुओं में लोहे को बाटों के लिये उपयुक्त समझा जाता था, और पत्थरों में उन पत्थरों को जो मगध और मेकल में मिलते थे।[2]

मौर्य युग में वस्तुओं और भूमि आदि को नापने के लिये भी अनेकविध 'माप' प्रचलित थे। सबसे छोटा माप परमाणु था। आठ परमाणुओं से एक रथचक्रविपुट् बनता था, आठ रथचक्र-विपुटों से एक लिक्षा, आठ लिक्षाओं से एक यूकामध्य, आठ यूकामध्यों से एक यवमध्य और आठ यवमध्यों से एक अंगुल। यह अंगुल औसत दर्जे के पुरुष की बीच की उँगली के बीच के पोर के बराबर चौड़ाई का होता था। वर्तमान समय के इञ्च का यह तीन-चौथाई के लगभग था। इस प्रकार एक अंगुल की लम्बाई ३४,४०८ परमाणुओं के बराबर होती थी। मौर्य युग के लोग कितनी स्वल्प लम्बाई को मापने के लिये भी 'मापों' का निर्माण किया करते थे, यह इससे भली भाँति समझा जा सकता है। ४ अंगुलों से १ धनु-

---

१. कौ. अर्थ. २।१९

२. 'प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि, यानि वा नोदकप्रदोहाभ्यां वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्।' कौ. अर्थ. २।१९

ग्रह बनता था, ८ अंगुलों से १ धनुर्मुष्टि और १२ अंगुलों से १ वितस्ति। धनुर्मुष्टि की लम्बाई आजकल के ६ इन्चों या आधे फुट के बराबर होती थी। २ वितस्ति १ अरत्नि के बराबर थी, और ४ अरत्नि १ दण्ड के। दण्ड की लम्बाई प्रायः २ गज या ६ फुट के बराबर थी। १० दण्ड से एक रज्जु बनती थी, और १००० धनु (जो दण्ड का ही अन्य नाम था) से १ गोरुत। ४ गोरुतों से एक योजन बनता था। इस प्रकार योजन लम्बाई में ४००० दण्ड या ८००० गज होता था। वर्तमान समय का मील लम्बाई में १७६० गज होता है। इस प्रकार योजन लगभग ४½ मील के बराबर था। कौटल्य ने लम्बाई नापने के अन्य भी अनेक माप दिये हैं, पर प्रधानतया उपरिलिखित माप ही नापने के लिये मौर्य युग में प्रयुक्त हुआ करते थे।[1]

माप के मानों को भी राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, और यह कार्य 'माना-ध्यक्ष' नामक अमात्य के सुपुर्द रहता था,[2] जो सम्भवतः पौतवाध्यक्ष की अधीनता में कार्य करता था। वस्त्र, रज्जु आदि जिन पण्यों का विक्रय नाप कर किया जाता था, उनके लिये ये मान ही प्रयुक्त होते थे। भूमि आदि को नापने के लिये भी इनका प्रयोग किया जाता था। नगरों में विभिन्न पण्य की बिक्री के लिये पृथक्-पृथक् बाजार होते थे। कौटल्य ने जिस आदर्श नगर का चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें नगर के दक्षिण-पश्चिम में पक्वान्न, सुरा और मांस की दूकानों की व्यवस्था की गई है, उत्तर-पश्चिम भाग में औषधियों की दूकानों की, और पूर्व-दक्षिण भाग में गन्ध, माल्य, धान्य आदि की दूकानों की।[3]

मौर्य युग में स्वदेशीय (आन्तरिक) और परदेशीय (बाह्य)—दोनों प्रकार का व्यापार बहुत उन्नत दशा में था। भारत का आन्तरिक व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा होता था। इन मार्गों के विषय में पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। क्योंकि विविध प्रदेशों और स्थानों की विभिन्न वस्तुएँ प्रसिद्ध थीं, अतः व्यापारी उन्हें अन्यत्र ले जाकर बेचा करते थे। जिन प्रदेशों की खालें, मणियाँ, कम्बल, सूती मलमल, रेशम आदि बहुत प्रसिद्ध थे, उनका उल्लेख भी इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। व्यापारी इन्हें वहाँ से खरीद कर विक्रय के लिये सुदूरवर्ती प्रदेशों में ले जाया करते थे। ये व्यापारी सार्थों (काफिलों) में संगठित होकर यात्रा किया करते थे, और इनके मुखिया को 'सार्थवाह' कहते थे। सार्थों की रक्षा का उत्तरदायित्त्व राज्य पर था, अतः वह 'सार्थोपयात' (सार्थ में संगठित होकर आये हुए) व्यापारियों से कर भी ग्रहण करता था।[4]

---

१. कौ. अर्थ. २।२०

२. 'मानाध्यक्षो देशकालमानं विद्यात्।' कौ. अर्थ. २।२०

३. कौ. अर्थ. २।४

४. कौ. अर्थ. २।२१

प्रत्येक व्यापारी से सवा पण वर्तनी (मार्ग-कर) लिया जाता था।[1] सार्थ के माल को ढोने के लिये जितने पशु हों, उन पर भी कर लगता था। एक खुर (घोड़ा, खच्चर आदि) वाले पशुओं पर कर की मात्रा १ पण, बैल आदि पशुओं पर १/२ पण, छोटे पशुओं (भेड़ आदि) पर १/४ पण और सिर पर उठाये हुए बोझ पर कर की मात्रा १ माषक थी। इस वर्तनी-कर को वसूल करने के कारण सरकार का यह कर्तव्य हो जाता था, कि यदि मार्ग में व्यापारियों को कोई नुकसान हो जाए, तो उसकी क्षतिपूर्ति करे। वर्तनी-कर 'अन्तपाल' द्वारा वसूल किया जाता था।

वैदेश्य (परदेसी) सार्थ भी व्यापार के लिये मौर्य साम्राज्य में आया करते थे। जब कोई विदेशी सार्थ सीमा को पार कर साम्राज्य में प्रवेश करता था, तो उसके माल की सावधानी के साथ जाँच की जाती थी। यह देखा जाता था, कि उसकी मात्रा कितनी है, और वह बढ़िया किस्म का है या घटिया किस्म का। यह जाँचने के अनन्तर उस पर मुद्रा लगा दी जाती थी, और इस प्रकार मुद्रित हुए पण्य को शुल्क के लिये शुल्काध्यक्ष के विभाग के पास भेज दिया जाता था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में सार्थ में संगठित व्यापारी शुल्क से बचने के लिये माल को छिपाने का भी प्रयत्न किया करते थे। इसी कारण उन पर देख-रेख रखने के लिये गुप्तचर भी नियुक्त किये जाते थे, जो वैदेहकों (व्यापारियों) का भेस बनाकर सार्थ द्वारा लाये हुए माल की मात्रा और किस्म का परिचय प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार प्राप्त की गई सूचना को वे सरकार के पास भेज देते थे। फिर शुल्काध्यक्ष (या उसका कर्मचारी) सार्थ के व्यापारियों के पास जाकर कहता था—'इस-इस व्यापारी के पास इतना-इतना माल है और इस-इस किस्म का माल है। माल को छिपाना व्यर्थ है। देखो, राजा का कितना प्रभाव है।' ऐसे माल को अपने राष्ट्र में नहीं बिकने दिया जाता था, जो 'राष्ट्र-पीड़ाकर' (देश को नुकसान पहुँचानेवाला) या अफल (बेकार) हो। ऐसे माल को स्वदेश में प्रविष्ट होने से रोक दिया जाता था। इसके विपरीत जो माल 'महोपकार' (अत्यन्त लाभकर) और दुर्लभ हो, उसे स्वदेश में लाने के लिये प्रोत्साहित करने के प्रयोजन से उस पर शुल्क भी माफ कर दिया जाता था।[3]

मौर्य युग में अनेक विदेशी राज्यों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, इस विषय की कतिपय सूचनाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में पायी जाती हैं। रेशम के विविध प्रकारों का उल्लेख करते हुए कौटल्य ने 'चीनपट्ट' को श्रेष्ठ रेशम कहा है। चीन का रेशम

---

१. 'अन्तपालः सपादपणिकां वर्तनीं गृह्णीयात्।' कौ. अर्थ. २।२१

२. 'वैदेश्यं सार्थं कृतसारफल्गुभाण्डविचयमभिज्ञानं मुद्रां च दत्त्वा प्रेषयेदध्यक्षस्य।' कौ. अर्थ. २।२१

३. 'राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्यात् बीजं तु दुर्लभम्॥' कौ. अर्थ. २।२१

इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है, और आजकल भी उसे श्रेष्ठ समझा जाता है। प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में भी चीनी रेशम बहुत विख्यात था, और वह भारत में भी बिकने के लिये आया करता था। इसी प्रकार मुक्ताओं का विवरण देते हुए 'कार्दमिक' मुक्ता का भी उल्लेख किया गया है, जो पारसीक (ईरान) देश की कर्दम नदी से प्राप्त होते थे। कौटल्य ने मणियों के तीन मुख्य भेद लिखे हैं, जिनमें एक 'पारसमुद्रक' (समुद्र पार की) भी है। इस वर्ग की मणियाँ समुद्र पार से विक्रय के लिये भारत में आया करती थीं। ताम्रपर्णी (श्रीलंका) से आनेवाले मोतियों और नैपाल से आनेवाले चर्मों (फरों) का भी कौटल्य ने उल्लेख किया है।[1]

पश्चिमी देशों के साथ जलमार्ग द्वारा व्यापार के लिये भारत के समुद्र-पट पर 'मुजिरिस' नाम का बन्दरगाह था, जहाँ बहुत-से रोमन व्यापारी निवास करते थे। व्यापार की रक्षा के प्रयोजन से वहाँ १२०० सैनिक भी नियुक्त थे। मुजिरिस से भारतीय व्यापारी फारस (ईरान) की खाड़ी जाया करते थे, जहाँ मस्कत का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यह भारतीय माल का सर्वप्रधान केन्द्र था, और यहीं से भारत का पण्य असीरिया आदि पश्चिमी देशों में भेजा जाता था।[2] ईजिप्ट (मिस्र) के साथ व्यापार के लिये जल-मार्ग लाल सागर होकर जाता था, और यह मार्ग भी बहुत महत्त्व का था। सिकन्दर ने मिस्र को भी जीतकर अपने अधीन किया था, और वहाँ का शासन करने के लिए अपने अन्यतम सेनापति टाल्मी को नियुक्त किया था। टाल्मी की राजधानी एलेग्ज़ेण्ड्रिया नगरी थी, जिसे सिकन्दर (एलेग्जेण्डर) ने ही अपने नाम पर बसाया था। शीघ्र ही यह व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र बन गई। क्योंकि एलेग्ज़ेण्ड्रिया की स्थिति समुद्र-तट पर थी, अतः सामुद्रिक व्यापार की दृष्टि से उसका बहुत उत्कर्ष हुआ। मिस्र के शासकों की इच्छा थी, कि एलेग्ज़ेण्ड्रिया भारतीय माल के क्रय-विक्रय का प्रसिद्ध केन्द्र बन जाए, और भारत का जो पण्य ईरान की खाड़ी से होकर मस्कत के रास्ते से टायर आदि पश्चिमी (भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित) बन्दरगाहों पर पहुँचता है, वह लाल सागर होकर एलेग्ज़ेण्ड्रिया आने लगे, और वहीं से उसे पाश्चात्य देशों के व्यापारी क्रय किया करें। इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर टाल्मी प्रथम के पुत्र टाल्मी फिलेडेल्फस ने आर्सिओने (Arsionoe) से लाल सागर तक एक नहर बनवाने का विचार किया। योजना यह थी, कि यह नहर १५० फीट के लगभग चौड़ी और ४५ फीट के लगभग गहरी हो। यह नहर प्रायः उसी क्षेत्र में बनायी जानी थी, जहाँ आधुनिक युग में स्वेज की नहर का निर्माण किया गया है। इसका प्रयोजन भी यही था, कि भारत आदि प्राच्य देशों के पण्य को एलेग्ज़ेण्ड्रिया सदृश बन्दरगाहों तक पहुँचने के लिये स्थल-मार्ग से ले जाने की आवश्यकता न रहे, और वह सीधा ही समुद्र-मार्ग से मिस्र की राजधानी तक पहुँच सके। पर यह नहर पूर्ण नहीं हो सकी। परन्तु टाल्मी फिलेडेल्फस

१. कौ. अर्थ. २।१५

२. S. K. Das—Economic History of Ancient India, pp, 160–161,

इससे निराश नहीं हुआ। उसने भारत के साथ व्यापार पर अपना अधिकार कायम रखने के लिये लाल सागर के पश्चिमी तट पर बेरेनिस (Berenice) नाम का एक नवीन नगर बसाया। शीघ्र ही यह भारतीय व्यापार का सर्वप्रधान केन्द्र बन गया। भारत से जो माल विक्री के लिये पश्चिमी देशों को जाता था, उसे पहले समुद्र-मार्ग द्वारा लाल सागर से बेरेनिस ले जाया जाता था। वहाँ से उसे स्थल के मार्ग से काप्टस नामक नगर तक पहुँचाया जाता था। यह नगर नील नदी से तीन मील की दूरी पर स्थित था, और नील नदी से इस नगर तक एक नहर का निर्माण किया गया था। काप्टस से भारतीय माल जलमार्ग द्वारा (नहर और नील नदी होते हुए) एलेग्जेण्ड्रिया भेज दिया जाता था। इस प्रकार मिस्र आदि पाश्चात्य देशों से व्यापार के लिये भारत आने वाले व्यापारी काप्टस और बेरेनिस से चलकर लाल सागर होते हुए अरब सागर से सिन्ध नदी के मुहाने पर आ जाया करते थे, जहाँ पाटल या पाट्टल नामक बन्दरगाह स्थित था। पाटल को केन्द्र बनाकर भारत के अन्य बहुत-से बन्दरगाहों में भी आया-जाया जाता था। ये बन्दरगाह भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित थे।[१]

फारस की खाड़ी और लाल सागर के जलमार्गों के अतिरिक्त तीन अन्य मार्ग थे, जिनसे भारत का माल पश्चिमी देशों में भेजा जाता था। ये तीनों स्थल-मार्ग थे। एक मार्ग काबुल नदी के साथ-साथ पश्चिम की ओर जाता था, और हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे आक्सस नदी तक जा पहुँचता था। वहाँ से यह कैस्पियन सागर जाकर फिर काला सागर पहुँच जाता था। दूसरा स्थल-मार्ग कन्धार से हीरात होता हुआ फारस (ईरान) जाता था, और ईरान से होता हुआ एशिया माइनर तक चला जाता था। तीसरा मार्ग मकरान के रास्ते से पश्चिमी देशों को जाता था।[२] निस्सन्देह, मौर्य युग में भी इन सब मार्गों का व्यापार के लिये प्रयोग किया जाता था, जिससे भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत हो गया था। कौटल्य की नीति भी विदेशी व्यापार के अनुकूल थी। उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि 'परभूमिज' (विदेशों में उत्पन्न) माल को अनुग्रह द्वारा स्वदेश में आने दिया जाए।[३]

(४) कृषकों, शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन

मौर्य युग के कृषक, शिल्पी और व्यापारी अपने-अपने संगठनों में संगठित थे। कुम्हार, लुहार, वर्धकि आदि शिल्पियों के संगठनों को 'श्रेणि' (Guild) कहते थे। प्राचीन

---

१. William Robertson : An Historical Disquisition of Ancient India pp. 30–32.

२. S. K. Das—Economic History of Ancient India p. 162,

३. 'परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्।' कौ. अर्थ. २।१६

साहित्य के अनुशीलन से इन श्रेणियों के स्वरूप, संगठन, नियम आदि के विषय में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन श्रेणियों के सम्बन्ध में विशद-रूप से विवेचन नहीं किया गया है, पर इनकी सत्ता अवश्य सूचित होती है। अक्षपटल-मध्यक्ष का एक कार्य यह भी था, कि वह देश-संघातों, ग्राम-संघातों, जाति-संघातों और कुल-संघातों के धर्म, व्यवहार और चरित्र आदि को निबन्ध-पुस्तकस्थ करे।[1] यद्यपि इस प्रसंग में श्रेणिरूपी संघात का उल्लेख नहीं किया गया है, पर इससे यह अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि मौर्य युग में अनेकविध संघातों (समुदायों) की सत्ता थी, और उनके अपने-अपने पृथक् धर्म (कानून), व्यवहार और चरित्र होते थे। शिल्पी भी संघातों (जिनकी संज्ञा श्रेणि थी) में संगठित थे, इसका निर्देश अर्थशास्त्र में अन्यत्र मिलता है। वहाँ लिखा है, कि श्रेणियाँ ऐसे व्यक्तियों के पास अपने धन को अमानत रूप से रखें जिनपर उनका विश्वास हो, और विपत्ति के समय (आवश्यकता पड़ने पर) इस धन को वापस ले लें।[2] श्रेणियों की सत्ता में इससे कोई सन्देह नहीं रह जाता। स्मृति ग्रन्थों में शिल्पियों और कारीगरों के संगठनों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है, और उन्हें 'श्रेणि' की संज्ञा दी गई है। कौटलीय अर्थशास्त्र का यह वाक्य भी इन्हीं श्रेणियों को सूचित करता है। कौटल्य ने नगर में विभिन्न वर्गों के लिये जहाँ पृथक्-पृथक् रूप से निवास की व्यवस्था की है, वहाँ श्रेणियों के लिये भी पृथक्-स्थान सुरक्षित रखा है।[3] राजकीय आमदनी के साधनों का निरूपण करते हुए भी कारुओं और शिल्पियों के 'गणों' (संगठनों) को आय का एक साधन बताया गया है।[4] इन सब निर्देशों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग के कारु और शिल्पी संगठनों में संगठित थे, और इन संगठनों को 'श्रेणि' और 'गण' कहते थे।

केवल कारु और शिल्पी ही नहीं, अपितु कर्मकर (मजदूर) भी संगठित रूप से कार्य करते थे। इनके संगठनों के लिये अर्थशास्त्र में 'संघ' शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्मकर लोग संगठित होकर काम का ठेका ले लेते थे, और निर्धारित समय पर उसे पूरा करते थे। यदि वे समय पर कार्य पूरा न कर सकें, तो उन्हें सात दिन की मोहलत दी जाती थी। यदि सात दिन बीत जाने पर भी वे कार्य को पूरा न करें, तो उसे दूसरों को दिया जा सकता था।[5] संघभृत (संघ में संगठित कर्मकर) जो पारिश्रमिक या वेतन प्राप्त करें, उसे या तो आपस में

---

१. कौ. अर्थ. २।७

२. 'अर्थ्य प्रतीकाराः कारुशासितारः सन्निक्षेप्तारः स्वचित्तकारवः श्रेणी प्रमाणा निक्षेपं गृह्णीयुः। विपत्तौ श्रेणी निक्षेपं भजेत।' कौ. अर्थ. ४।१

३. कौ. अर्थ. २।४

४. कौ. अर्थ. २।६

५. कौ. अर्थ. ३।१४

एक बराबर बाँट लेते थे, या जैसा उन्होंने फैसला किया हुआ हो। जो व्यक्ति संघभृत रूप से संघ में सम्मिलित हुए हों, यदि स्वस्थ होते हुए भी उनमें से कोई पृथक् हो जाए, तो उसे १२ पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। यह किसी के लिये सम्भव नहीं था, कि कार्य के प्रारम्भ हो जाने पर वह संघ से पृथक् हो सके। संघ में सम्मिलित कोई कर्मकर जब पहली बार कार्य में प्रमाद करे, तो उसे क्षमा कर दिया जाता था। दूसरी बार पुन: प्रमाद करने पर उसे संघ से बहिष्कृत कर देने का नियम था।[1]

कारुओं, शिल्पियों और कर्मकरों के समान कृषकों के संगठन भी मौर्य युग में विद्यमान थे। ये संघ परस्पर मिलकर बाँध बाँधने जैसे कार्यों के लिये संगठित किये जाते थे। कृषक लोग 'सम्भूय' (परस्पर संहत होकर) सेतुवन्ध वनाने सदृश कार्यों का सम्पादन करते थे।[2]

कौटल्य ने व्यापारियों के संगठनों का 'सम्भूय समुत्थान', 'सांव्यवहारिक' आदि संज्ञाओं से प्रतिपादन किया है।[3] नारदस्मृति ने 'सम्भूय समुत्थान' के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'वणिक् प्रभृति जहाँ परस्पर मिलकर कार्य करते हों, उसे सम्भूय-समुत्थान कहते हैं। यह भी 'व्यवहार' का एक आधार होता है। फल (मुनाफे) को सम्मुख रखकर जब सम्मिलित रूप से कार्य किया जाता है, तो उसका आधार प्रक्षेप (लगाया हुआ धन) होता है, और इस 'प्रक्षेप' में जिसका जितना अंश हो, उसी के अनुसार उसे लाभ या हानि का अंश मिलना चाहिये। कारोबार में जो भी क्षय (नुकसान), व्यय तथा वृद्धि हो, वह उसी हिसाव से प्राप्त हो, जिसमें कि प्रक्षेप में किसी का कम या अधिक अंश हो।" निस्सन्देह, सम्भूय समुत्थान एक प्रकार की ज्वायन्ट स्टाक कम्पनियाँ होते थे, जिनमें बहुत-से हिस्सेदार सम्मिलित होकर कारोबार करते थे, और प्रत्येक अपने हिस्से के अनुसार लाभ या हानि को प्राप्त करता था। मौर्य युग में भी व्यापारियों के इस प्रकार के 'सम्भूय-समुत्थान' विद्यमान थे, जिनमें सम्मिलित व्यापारी पण्य को रोक कर उसे ऊँची कीमत पर बेचने का प्रयत्न करते थे। पर कौटल्य को यह पसन्द नहीं था। इसी कारण उन्होंने ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया है, जिनसे व्यापारी मनमानी कीमत नहीं प्राप्त कर सकते थे। इन व्यवस्थाओं का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है।

(५) दास-प्रथा

मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि "भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य वात है कि समस्त भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उनमें कोई भी दास नहीं है। लेकिडिमोनिन और भारतीय यहाँ तक तो एक दूसरे से मिलते हैं। पर लेकिडिमोनिन लोग हेलट लोगों को

१. कौ. अर्थ. ३।१४
२. कौ. अर्थ. ३।१४
३. कौ. अर्थ. ३।१४ और ४।२

दासों की तरह रखते हैं। ये हेलट निम्न प्रकार का श्रम करते हैं। परन्तु भारतीय विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है!" स्ट्रेबो के अनुसार 'वही मैगस्थनीज लिखता है, कि भारतीयों में कोई भी दास नहीं रखता।'

यद्यपि ग्रीक विवरणों के अनुसार भारत में दास प्रथा की सत्ता नहीं थी, पर कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्य युग में भारत में भी दास-प्रथा विद्यमान थी। सम्भवतः, जिस ढंग की दास-प्रथा प्राचीन काल के ग्रीस और रोम में थी, वैसी भारत में नहीं थी। यहाँ दासों के प्रति वैसा कड़ा तथा अमानुषिक व्यवहार नहीं किया जाता था, जैसा कि ग्रीस में होता था। ग्रीक लेखकों में भी आनिसिक्रिटस के अनुसार यह बात (दासप्रथा के न होने की) उसी प्रदेश के सम्बन्ध में सही थी, जहाँ कि मूसिकेन (मुचुकर्ण) का शासन था। भारत के प्राच्य प्रदेशों में, जहाँ आर्यभिन्न लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था, दास-प्रथा की सत्ता अवश्य थी, यद्यपि पाश्चात्य भारत के आर्य-प्रधान जनपदों में उसका अभाव था।

कौटलीय अर्थशास्त्र (३।१३) के अनुशीलन से मौर्य युग की दासप्रथा के सम्बन्ध में विशद रूप से परिचय प्राप्त होता है। इस काल में कुछ लोग जन्म से ही दास (उदर-दास) हुआ करते थे, जिन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था। म्लेच्छ लोग अपने बच्चों और अन्य सम्बन्धियों को दास के रूप में बेच सकते थे। पर आर्यों में यह प्रथा नहीं थी। उन्हें अपने बच्चों और कुटुम्बी-जनों को बेचने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। यदि आर्यजाति में उत्पन्न अप्राप्त-व्यवहार (नाबालिग) शूद्र को कोई बेचे या रहन रखे, तो उसे १२ पण जुरमाने का दण्ड मिलता था। वैश्य को इस ढंग से बेचने या रहन रखने पर २४ पण दण्ड था, क्षत्रिय को बेचने या रहन रखने पर ३६ पण, और ब्राह्मण को बेचने या रहन रखने पर ४८ पण जुरमाना किया जाता था। यह दण्ड उस दशा के लिये था, जब कि नाबालिग का कोई स्वजन उसे बेचे या रहन रखे। पर यदि कोई परजन (गैर आदमी) ऐसा कार्य करे, तो उसे न केवल पूर्वस्साहस दण्ड, मध्यम साहस दण्ड और उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था, अपितु प्राणदण्ड भी दिया जा सकता था। म्लेच्छ लोग अपनी सन्तान का क्रय-विक्रय अवश्य कर सकते थे, पर आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता था।

पर कतिपय दशाओं में आर्य भी सामयिक रूप से दास बनाये जा सकते थे। परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिये, जुरमानों का दण्ड अदा करने के लिये और न्यायालय की आज्ञा के अनुसार परिवार की सम्पत्ति के जब्त कर लिये जाने पर आर्य को भी दास के रूप में रहन रखा जा सकता था। पर ऐसी दशा में उसके स्वजनों का यह कर्तव्य था कि वे शीघ्र से शीघ्र रुपया अदा कर उसे दासत्व से मुक्ति दिला दें, विशेषतया उस अवस्था में जब कि वह बालक हो, या सहाय-कार्य में समर्थ वयस्क हो। आर्थिक संकट में फँसकर कोई आर्य स्वयं भी अपने को रहन रख सकता था। यदि वह दासत्व का मूल्य चुका दे, तो पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता था। पर यदि आत्मधाता (जिसने स्वयं अपने को रहन रखा हो) एक बार किसी अपराध के कारण निष्पतित हो जाए, तो उसे जन्मभर दास रहना पड़ता

था। जिसे दूसरों ने रहन रखा हो, दो वार अपराध करने पर उसका दासत्त्व जन्म भर के लिये हो जाता था। यदि इस प्रकार दास बना हुआ कोई व्यक्ति कहीं भागने का प्रयत्न करे, तो फिर वह स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं कर सकता था।

दासों के प्रति बुरा व्यवहार नहीं किया जा सकता था। उनसे मुरदा उठवाना, विष्टा और मूत्र उठवाना, जूठ उठवाना, उसे नंगा रखना, पीटना और गाली निकालना निषिद्ध था। दास-स्त्री से अनाचार करना भी कानून के विरुद्ध था। जो दास-स्त्रियाँ धात्री (दाई), परिचारिका आदि का कार्य कर रही हों, यदि उनके प्रति अनाचार किया जाए, तो इसी आधार पर उनका दासीत्त्व समाप्त हो जाता था, और वे स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती थीं। उच्च कुल में उत्पन्न हुए दास के प्रति दुर्व्यवहार करने पर उसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता था। यदि कोई स्वामी दास-धात्री (दाई) या रहन रखी हुई स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने वश में लाए, तो उसे पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाता था। यदि यही कार्य कोई अन्य व्यक्ति (जो दासी-स्त्री का स्वामी न हो) करे, तो उसके लिये मध्यम साहस दण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई मनुष्य किसी दासी-कन्या या रहन रखी हुई स्त्री से व्यभिचार करे या दूसरे से कराए, तो जिस धन को देकर उसने उसे रहन रखा था, न केवल वह नष्ट हुआ मान लिया जाता था, अपितु उसे उससे दुगना दण्ड भी देना पड़ता था। दासों को अधिकार था कि स्वामी के काय को नुकसान न पहुँचा कर अपनी पृथक् कमाई कर सकें। इस कमाई पर उनका अपना स्वत्त्व होता था। वे पैतृक सम्पत्ति को भी उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकते थे। इस प्रकार जो सम्पत्ति वे प्राप्त करते थे, उसका उपयोग वे पुनः आर्यत्त्व को प्राप्त करने के लिये कर सकते थे। जिस धनराशि को प्राप्त कर उन्होंने अपने को बेचा हो या रहन रखा हो, उसे चुका देने पर वे दास न रह कर स्वतन्त्र हो जाते थे, और इसके लिये वे उस सम्पत्ति का भी उपयोग कर सकते थे, जो उन्होंने स्वामी के कार्य को क्षति न पहुँचा कर कमायी हो या विरासत में प्राप्त की हो। अपने को स्वतन्त्र कराने के लिये दास या आहितक (रहन रखे हुए व्यक्ति) को केवल वही राशि अदा करनी होती थी, जो उसे बेचते हुए या रहन रखते हुए प्राप्त की गई हो। यदि कोई व्यक्ति जुरमाना अदा न कर सकने के कारण दास बना हो, तो वह कमाई करके जुरमाने की रकम अदा कर सकता था और इस प्रकार दासत्व से मुक्ति पा सकता था। यदि युद्ध में पराजित हो जाने पर किसी आर्य को दास बनाया गया हो, तो वह भी निर्धारित कर्म कर चुकने के अनन्तर और नियत अवधि तक दास रह कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता था, या उतनी धनराशि प्रदान करके जो इस अवधि में उससे जो कार्य लिया जाना हो, उसके पारिश्रमिक के आधे के बराबर हो।

जिस मनुष्य ने स्वयं अपने को बेच कर दासत्व स्वीकार किया हो, उसकी सन्तान आर्य (स्वतन्त्र) ही रहती थी, दास नहीं। यदि कोई दास आठ वर्ष से कम आयु का हो, वह चाहे स्वामी के घर में उत्पन्न हुआ हो, या उसे विरासत में मिला हो, या उसे उसने

क्रय किया हो या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त किया हो, यदि उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी हीन कार्य में लगाया जाए, या उसे विदेश में बेच दिया जाए या रहन रख दिया जाए, तो न केवल ऐसा करने वाले स्वामी को पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाता था, अपितु उसके खरीदार और साथियों के लिये भी इसी दण्ड का विधान था। यही दण्ड उस दशा में भी विहित था, जबकि किसी गर्भवती स्त्री को उसकी सूतिका की समुचित व्यवस्था किये बिना ही बेच दिया जाए या रहन रख दिया जाए। समुचित धनराशि को प्राप्त कर लेने के बाद भी यदि दास को स्वतन्त्र न कर दिया जाए, तो बारह पण जुरमाने की सजा दी जाती थी।

निजी कमाई करके जो धन दासों के पास एकत्र हो जाता था, दास्य की दशा में ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके निकट सम्बन्धी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करते थे। पर यदि ऐसे दास का कोई निकट सम्बन्धी न हो, तो उसके स्वामी का उसकी सम्पत्ति पर स्वत्त्व हो जाता था।

यदि स्वामी से किसी दासी के सन्तान उत्पन्न हो जाए, तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों दासत्व से छुटकारा पा जाती थीं। पर यदि दासी अपने और अपनी सन्तान के हित की दृष्टि से स्वामी के पास ही रहना चाहे, तो उसके भाई-बहन दास्यत्व से मुक्त कर दिये जाते थे। जब कोई दास या दासी एक बार दास्यत्व से स्वतन्त्र हो जाएँ, तो उन्हें फिर से बेचने और रहन रखने पर १२ पण जुरमाना किया जाता था, बशर्ते कि उन्होंने स्वयं ही ऐसा करने के लिये स्वीकृति न दे दी।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से मौर्य युग की दास-प्रथा का स्पष्ट रूप हमें ज्ञात हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के ये दास ग्रीस और रोम के दासों से बहुत भिन्न प्रकार के थे। ये अपनी पृथक् कमाई कर सकते थे, और रुपया चुका कर दास्यत्व से मुक्ति भी पा सकते थे। इन्हें सम्पत्ति अर्जित करने और उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करने का भी अधिकार था। दासों के स्वामी दासों को न पीट सकते थे, न उनसे नीच कार्य करा सकते थे, और न उनके प्रति कोई दुर्व्यवहार ही कर सकते थे। ऐसी दशा में यदि मैगस्थनीज़ जैसे ग्रीक यात्री ने यह अनुभव किया हो, कि भारत में दास-प्रथा का अभाव है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

(६) मुद्रापद्धति

मौर्य युग के बहुत-से सिक्के इस समय उपलब्ध हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र (२।१२) से भी उस काल की मुद्रापद्धति के सम्बन्ध में विशद परिचय प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रापद्धति के सञ्चालन के लिये एक पृथक् विभाग था, जिसके अमात्य को 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। यह दो प्रकार के सिक्कों को प्रचलित कराता था—कोशप्रवेश्य (Legal Tender) और व्यावहारिक (Token Money)। राजकीय कर और क्रय-विक्रय आदि

२४

के लिये कोश-प्रवेश्य सिक्के ही मान्य होते थे। व्यावहारिक सिक्के कम मूल्य के होते थे, और उनका प्रयोग साधारण व्यवहार के लिये किया जाता था।

सिक्के अनेक प्रकार के होते थे। मौर्य युग का प्रधान सिक्का पण था, जिसे 'रूप्य रूप' भी कहते थे। यह चाँदी का बना होता था। पर यह शुद्ध चाँदी का न होकर ताँबे और सीसे आदि को मिलाकर बनाया जाता था। कौटल्य के अनुसार रूप्य-रूप में चार भाग ताँबे और एक माषक (पाँच रत्ती) त्रपु, सीसा, तीक्ष्ण या अञ्जन की मिलावट की जाती थी। सम्भवतः, यह रूप्य-रूप पण वर्तमान समय के चाँदी के रुपये के सदृश ही होता था, जिसमें चाँदी के अतिरिक्त मिलावट भी रहती है।

रूप्य-रूप पण के अतिरिक्त अर्धपण, पाद (पण) और अष्टभाग (पण) के भी सिक्के जारी किये जाते थे, जो वर्तमान (दशमलव की पद्धति पर आधारित पैसों के प्रचलन से पूर्व के) समय की अठन्नियों, चवन्नियों और दुवन्नियों के समकक्ष होते थे। सम्भवतः, ये सिक्के भी चाँदी में ताम्र आदि को मिलाकर ही बनाये जाते थे। क्योंकि मौर्य युग में वस्तुओं की कीमतें बहुत कम थीं, और पण की क्रय शक्ति बहुत अधिक थी, अतः कम मूल्य की वस्तुओं के विनिमय के लिये ताँबे के सिक्के भी जारी किये गये थे, जिन्हें 'ताम्ररूप' या माषक कहते थे। माषक के छोटे भाग अर्धमाषक, काकणी और अर्धकाकणी थे। एक रूप्य-रूप पण में कितने माषक होते थे, कौटलीय अर्थशास्त्र से इस विषय में कोई निर्देश नहीं मिलता। सम्भवतः, माषक पैसे के बराबर होता था, और एक पण में ६४ पैसे होते थे, क्योंकि अर्थ-शास्त्र में इन दोनों प्रकार के सिक्कों के भागों को उसी ढंग से प्रतिपादित किया गया है, जैसे कि ब्रिटिश युग के भारत में रुपये और उसके विभाग प्रचलित थे। सिक्के नकली तो नहीं है, इसकी जाँच करने के लिये भी एक राजकर्मचारी होता था, जिसे 'रूपदर्शक' कहते थे। सिक्कों को जाँचते समय यह शुल्क भी लेता था, जिसकी दर $\frac{1}{8}$ प्रतिशत थी। यदि किसी के सिक्कों को नकली पाया जाए, तो उस पर २५ पण जुरमाना किया जाता था। पर यह जुरमाना केवल ऐसे व्यक्तियों के लिये था, जो नकली सिक्कों का प्रयोग कर रहे हों। नकली सिक्कों को बनाने वालों, उन्हें बेचने या खरीदने वालों के लिये जुरमाना इससे बहुत अधिक था। सिक्के केवल राज्य द्वारा ही बनवाये जा सकते थे। इसके लिये एक पृथक् विभाग था, जिसके अध्यक्ष को 'सौवर्णिक' कहते थे। उसकी अधीनता में ऐसे कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किये जाते थे, जिनमें कि पौर (पुरनिवासी) और जानपद (जनपद-निवासी) लोगों के सोने-चाँदी को सिक्कों के रूप में परिवर्तित किया जाता था। जनता को यह अधिकार था कि वह अपना सोना चाँदी देकर जितने सिक्के चाहें बनवा सकें। चाँदी और ताम्बे के सिक्कों के अतिरिक्त सोने के भी सिक्के बनाये जाते थे, जिन्हें 'सुवर्ण' कहते थे। सिक्के बनवाते समय एक काकणी (चौथाई माषक) के बराबर धातु (सोना चाँदी) सिक्के की बनवाई में 'क्षय' (घिसाई) के रूप में अतिरिक्त ली जाती थी। पुराने सिक्कों के बदले में भी नये सिक्के बनवाये जा सकते थे। पुराने सिक्कों के बदले में

नये सिक्के दे दिये जाते थे, बशर्ते कि पुराने सिक्के जीर्ण और शीर्ण न हों। राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति सिक्के नहीं बना सकता था। स्वयं सिक्के बनाने पर कड़ा दण्ड दिया जाता था। नकली सिक्के बनाने वाले के लिये २०० पण जुरमाने का विधान था।

भारत में अनेक स्थानों पर चाँदी के 'आहत' सिक्के पाये गये हैं, जिनका काल छठी सदी ई० पू० से दूसरी सदी ई० पू० तक का माना जाता है। इनमें से कुछ सिक्के मौर्य युग के हैं, और कुछ उस समय के जब कि भारत में बहुत-से जनपदों एवं महाजनपदों की सत्ता थी और मगध के सम्राटों द्वारा इन जनपदों की स्वतंत्र सत्ता का अन्त नहीं किया गया था। उत्तर प्रदेश के लखीमपुर-खीरी जिले के पैला नामक स्थान पर ऐसे सिक्के मिले हैं, जिन्हें मौर्य युग से पूर्ववर्ती जनपद युग के कोशल महाजनपद का माना जाता है। ये सिक्के उस समय के हैं, जब कि कोशल मगध के अधीन नहीं हुआ था। सामान्यतया, आहत सिक्कों पर पाँच चिह्न होते हैं, पर कोशल जनपद के इन सिक्कों पर केवल चार चिह्न ही हैं। वजन में ये ३० रत्ती हैं। इसी प्रकार के बहुत-से सिक्के अन्य जनपदों के भी मिले हैं, जो मौर्य युग से पहले के हैं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने आहत सिक्कों की रचना और प्रकार के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, कि कौन-से सिक्के जनपद युग के हैं और कौन-से मौर्य युग के। उनके अनुसार मौर्य युग से पूर्ववर्ती जनपद युग के आहत सिक्के आकार में बड़े और मोटाई में बहुत पतले हैं। इसके विपरीत मौर्य युग के सिक्के आकार में छोटे और मोटाई में अधिक हैं। चौड़ाई में वे प्रायः ०.४ इञ्च है, और मोटाई में वे $\frac{1}{?}$ इञ्च के लगभग हैं। उन पर पहाड़ी, अर्धचन्द्र और मयूर के चिह्न अंकित हैं, और मौर्य युग के सिक्कों की यही मुख्य पहचान है। मौर्यों से पूर्ववर्ती जनपद युग के सिक्कों पर वृषभ, हाथी, मृग, शश, मत्स्य, नक्र (मगरमच्छ), कच्छप (कछुआ) आदि पशुओं और सूर्य, चक्र आदि विभिन्न प्रकार के चिह्न अंकित हैं। सम्भवतः, ये सिक्के उन विविध जनपदों के हैं, जो मौर्य साम्राज्य के विकास से पूर्व भारत में विद्यमान थे। सिक्कों पर विद्यमान विविध चिह्नों की संख्या ३०० के लगभग है। जिन सिक्कों पर केवल पहाड़ी का चिह्न हैं, उन्हें नन्दवंश का प्रतिपादित किया गया है।[१] नन्दवंश के शक्तिशाली राजाओं ने मागध साम्राज्य का बहुत विस्तार किया था, और कोशल, काशी, वृजि आदि जनपदों को अपने आधिपत्य में ले लिया था। मौर्यों के सिक्कों पर पहाड़ी का चिह्न भी कायम रखा गया, पर उसके साथ अर्धचन्द्र तथा मयूर के चिह्नों को जोड़ दिया गया। मौर्य वंश के राजाओं का मोरिय गण के साथ सम्बन्ध था, जिसकी राजधानी मयूरनगर थी। अतः मयूर को अपने राजकीय चिह्न के रूप में यदि उन्होंने स्वीकार किया हो, तो यह अस्वा-

१. P. L. Gupta : Journal of Numismatic Society of India, xi, pp. 4-46

भाविक नहीं है। अर्ध-चन्द्र के चिह्न को सम्भवतः, मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के नाम से ही लिया गया था।

मौर्य युग के चाँदी के जो आहत सिक्के इस समय अच्छी वड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, कौटलीय अर्थशास्त्र में उन्हीं को 'पण' कहा गया है, यह कल्पना असंगत नहीं है। ये सिक्के वजन में ५० से ५२ ग्रेन तक के हैं। कुछ स्थानों पर पूरे सिक्के को काट कर बनाये गये ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जो आकार में आधे या चौथाई सिक्के के लगभग हैं। सम्भवतः, ये ही कौटल्य के अर्धपण और पादपण हैं। कतिपय बहुत छोटे भी चाँदी के सिक्के मिले हैं, जो वजन में केवल दो या तीन ग्रेन हैं। ये चाँदी की पतली चादर को काट कर बनाये गये हैं, और इन पर भी वही चिह्न अंकित हैं, जो पणों पर पाये जाते हैं। सम्भवतः, ये 'माषक' हैं, जिनका उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है। सामान्यतया, माषक ताम्बे का सिक्का होता था, जिसे 'ताम्ररूप' भी कहते थे। पर सम्भवतः, चाँदी से भी माषकों का निर्माण किया जाता था।

चाँदी के आहत सिक्कों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के प्राचीन सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं, जो मुड़ी हुई चाँदी की शलाकाओं के रूप में हैं। इनके एक ओर छः हाथों वाला चिह्न अंकित है। वजन में ये १६६ से १७३ ग्रेन तक के हैं। इन्हें 'शलाका-मुद्रा' कहते हैं। इनका काल भी मौर्य युग के समीप का ही माना जाता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में वर्णित 'मापक' सिक्का ताँबे का वना होता था। वर्तमान समय में ताँबे के बने हुए कुछ प्राचीन सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जो आहत न होकर ढाल कर बनाये गये हैं। इन पर पहाड़ी और अर्धचन्द्र के चिह्न भी अंकित हैं, जिसके कारण इन्हें मौर्य राजाओं का माना जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं, कि ये सिक्के ही 'माषक' कहाते थे।

गत वर्षों में तक्षशिला के भग्नावशेषों में चाँदी के वहुत-से आहत सिक्कों के कुछ ढेर मिले हैं, जिनमें सिकन्दर और फिलिप एरिडियस के सिक्के भी अन्तर्गत हैं। सिकन्दर के सिक्कों के एक ओर शेर की खाल पहने सिकन्दर का सिर अंकित है, और दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान द्यौः (Zeus) है। इनके साथ जो आहत मुद्राएँ मिली हैं, वे स्पष्टतया चौथी सदी ई० पू० की व उससे कुछ समय पश्चात् की हैं। इन्हें मौर्य युग का माना जा सकता है। इनमें से कुछ पर मौर्य राजाओं के पहाड़ी और अर्धचन्द्र चिह्न भी अंकित हैं। तक्षशिला में उपलब्ध सिक्कों के ढेर में कुछ मुद्राएँ ऐसी भी हैं, जिनमें मिलावट वहुत अधिक है। इन्हें ७५ प्रतिशत तक ताँबा मिला कर वनाया गया है। हमें ज्ञात है, कि चन्द्रगुप्त के जीवनकाल के अन्तिम भाग में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण मौर्यों को विकट आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ा था। सम्भवतः, ये मुद्राएँ उसी के परिणामस्वरूप जारी की गयी थीं।

कतिपय सिक्कों पर जो चिह्न या लेख अंकित हैं, श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने उन्हें

पढ़ कर यह प्रतिपादित किया है, कि ये सिक्के शतधर्मन, सम्प्रति, देववर्मन और शालिशुक के हैं—जो मौर्य वंश के राजा थे।[1] पर सब विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं।

सिक्कों के अतिरिक्त कीमत चुकाने के अन्य भी कोई साधन थे या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। धनराशि को किसी के पास जमा करने के सम्बन्ध में नियमों का निरूपण करते हुए कौटल्य ने 'आदेश' का भी उल्लेख किया है। अनेक विद्वानों की सम्मति में यह 'आदेश' हुण्डी (Bill of Exchange) को सूचित करता है। शब्दार्थ की दृष्टि से कीमत चुकाने के लिये किसी अन्य व्यक्ति को आज्ञा देने को 'आदेश' कहा जा सकता है। सम्भवतः, हुण्डी जैसे कीमत चुकाने के साधन भी मौर्य युग में प्रचलित थे।

(७) सूद पर उधार देना

मौर्य युग में सूद पर रुपया लेने और देने का कारोबार बहुत उन्नत था। कौटल्य (३।११) की सम्मति में राज्य और शासन का योग-क्षेम धनिक (महाजन या रुपया उधार देनेवाला) और धारणिक (रुपया उधार लेने वाला) के व्यवहार पर आश्रित है, अतः उन दोनों के चरित्र पर राज्य को दृष्टि रखनी चाहिये। इसीलिये महाजनी के कारोबार को राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। पर राज्य ने सूद की जो दरें निर्धारित की हुई थीं, वे बहुत अधिक थीं। कौटल्य की सम्मति में एक सौ पण उधार देने पर सवा पण मासिक (१५ प्रतिशत वार्षिक) सूद लेना धर्म्य या न्याय्य था। पर व्यवहार में इससे बहुत अधिक सूद लिया जाता था। साधारणतया, व्यवहार (रुपये का लेन-देन करते हुए) में ५ प्रतिशत मासिक (६० प्रतिशत वार्षिक) पर रुपया उधार मिलता था। जहाँ खतरा अधिक हो, वहाँ सूद की दर और भी अधिक थी। व्यापार के लिये जंगलों (जंगल के मार्गों) में जाने-वाले व्यापारी १० प्रतिशत मासिक सूद देते थे। समुद्र में आने-जाने वाले व्यापारियों के लिये सूद की दर २० प्रतिशत मासिक या २४० प्रतिशत वार्षिक थी। जंगल और समुद्र के मार्गों से सुदूर प्रदेशों में आने-जाने वाले व्यापारियों को अपने व्यापार से मुनाफा भी बहुत अधिक होता था। इसी कारण वे इस ऊँची दर से सूद दे सकते थे। सूद की ये दरें व्यवहार में स्वीकृत थीं। पर इससे अधिक सूद लेना कानून द्वारा निषिद्ध था। कौटल्य ने लिखा है, कि जो व्यक्ति इससे अधिक दर पर सूद दें या दिलाएँ, उन्हें पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए। जो इस प्रकार के व्यवहार में साक्षी हों, वे भी अर्ध-दण्ड के भागी हों।

ऋणी या धारणिक की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्र ऋण की अदायगी के लिये उत्तर-दायी होते थे। यदि मृत धारणिक की कोई सन्तान न हो, तो जो भी उसका उत्तराधिकारी हो, उसे ऋण का देनदार माना जाता था। यदि ऋण लेते हुए किसी से जमानत दिलायी गई

---

1. K. P. Jāyaswal : Journal of Bihar and crissa Research Society, xx, pp 279-308

हो, तो वह जमानती भी ऋण की अदायगी के लिये उत्तरदायी होता था। धनिक (महाजन) के लिये आवश्यक था, कि सूद को तुरन्त ग्रहण कर ले। सूद को इकट्ठा होने देना उचित नहीं समझा जाता था। यदि कोई धनिक उस समय सूद का दावा करने लगे, जबकि वह प्रदेय न हो, या सूद को ऋण की राशि में जोड़ कर उसे प्राप्तव्य ऋण की राशि होने का दावा करने लगे, तो उस पर विवादग्रस्त राशि का चार गुना जुरमाना किया जाता था।

यदि धनिक (महाजन) दस साल तक ऋण की उपेक्षा करता रहे और उसे वापस लेने के लिये समुचित प्रयत्न न करे, तो उस ऋण को अप्रतिग्राह्य (जिसे वापस लौटाने की आवश्यकता न रह जाए) माना जाता था। पर यदि ऋण की वसूली में देरी का कारण धनिक का बाल (नाबालिग) वृद्ध, व्याधित (बीमार), व्यसनी (विपत्तिग्रस्त), प्रोषित (प्रवासी) होना, या देश को त्याग देना और या राज्य-विभ्रम (देश में राजकीय अव्यवस्था) हो, तो यह नियम लागू नहीं होता था।

कतिपय व्यक्ति सूद से मुक्त भी होते थे। इन्होंने जो ऋण लिये हों, उन पर सूद नहीं लगता था। ये व्यक्ति निम्नलिखित होते थे—जो किसी दीर्घ सत्र (बड़े अनुष्ठान या चिरकाल तक चलने वाले यज्ञ आदि) में लगे हों, जो व्याधिपीड़ित हों, जो गुरुकुल (शिक्षणा-लय) में रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहे हों, जो बाल (नाबालिग) हों, और जो असार (अत्यन्त निर्धन) हों।

यदि किसी धारणिक (ऋणी) ने एक से अधिक धनिकों से ऋण लिया हुआ हो, तो वे सब एक समय में ही ऋण की वसूली के लिये मुकदमा नहीं कर सकते थे। जिसने पहले ऋण दिया हो, उसे यह अधिकार था कि वह अपने ऋण को पहले वसूल कर सके। पर यदि धारणिक ने राज्य और श्रोत्रियों से भी ऋण लिया हुआ हो, तो उन्हें ऋण की अदायगी में प्राथमिकता दी जाती थी।

यदि पति ने पत्नी से या पत्नी ने पति से, पिता ने पुत्र से या पुत्र ने पिता से और अवि-भक्त परिवार के भाइयों ने एक दूसरे से ऋण लिया हो, तो उसकी वसूली के लिये न्यायालय में मुकदमा नहीं किया जा सकता था। किसानों और राजपुरुषों को, उस अवधि में जब कि वे अपने कार्यों में व्यापृत हों, ऋण की वसूली के प्रयोजन से गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। पति द्वारा जो ऋण लिया गया हो, उसकी वसूली के लिये उसकी पत्नी को नहीं पकड़ा जा सकता था, चाहे पत्नी उस ऋण की साक्षी भी क्यों न हो। पर यह नियम ग्वालों और बँटवारे पर खेती करने वालों पर लागू नहीं होता था। पर यदि पत्नी ने कोई ऋण लिया हो, तो उसकी वसूली के लिये उसके पति को गिरफ्तार किया जा सकता था। पत्नी द्वारा लिये हुए ऋण की अदायगी की व्यवस्था किये बिना ही यदि उसका पति कहीं विदेश चला जाए, तो उसके लिये उत्तम साहस दण्ड का विधान था।

ऋण-सम्बन्धी मुकदमों का फैसला करते हुए ऐसे तीन साक्षियों की साक्षी लेना आवश्यक था, जो कि प्रात्ययिक, शुचि और प्रतिष्ठित हों। पर यदि साक्षी दोनों पक्षों

को स्वीकार्य हो, तो दो साक्षियों से भी काम चल सकता था। ऋण-सम्बन्धी मामलों में एक साक्षी कदापि पर्याप्त नहीं समझा जाता था।

ऋण के विषय में जिन व्यवस्थाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे ही 'उपनिधि' (Deposits) पर भी लागू होती थीं। लोग अपने धन को सुरक्षा के लिये सम्पन्न व्यक्तियों, श्रेणियों, व्यापारियों के समूहों आदि के पास रखवा दिया करते थे। जिनके पास कोई धनराशि या सम्पत्ति अमानत के रूप में रखी गई हो, वे उसकी सुरक्षा के लिये उत्तरदायी होते थे। वे उसे न खर्च कर सकते थे, न उसका भोग कर सकते थे, न उसे वेच सकते थे और न उसे रहन रख सकते थे। ऐसा करने पर वे दण्ड के भागी होते थे।

ऋण का आदान-प्रदान और सम्पत्ति को अमानत पर रखना मौर्य युग के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। इसी कारण कौटल्य ने इनके सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले नियमों का विशद रूप से उल्लेख किया है।

(८) नगर और ग्राम

ग्रीक विवरणों से मौर्य युग के नगरों के विषय में अच्छी जानकारी उपलब्ध होती है। मैगस्थनीज़ के अनुसार पोरु (पोरस) के राज्य में २००० नगर थे, और आन्ध्र में ३०।[1] सम्भवतः, पोरस के राज्य की जिन २००० वस्तियों को ग्रीक यात्री ने नगर कहा है, वे ग्राम थे, नगर नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग में भारत में वहुत-से नगरों की सत्ता थी। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र एक विशाल नगरी थी, और साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों में भी वहुत-से नगर विद्यमान थे। मैगस्थनीज सैल्युकस के राजदूत के रूप में चिरकाल तक पाटलिपुत्र में रहा था। उसने इस नगरी का जो वर्णन किया है, वह वस्तुतः प्रामाणिक और विश्वसनीय है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र नगरी गंगा और सोन (सोण) नदियों के संगम पर स्थित थी। इसका निर्माण एक समानान्तर चतुर्भुज के रूप में किया गया था। लम्वाई में यह ८० स्टेडिया (९$\frac{१}{५}$ मील) थी, और चौड़ाई में १५ स्टेडिया (१ मील और १२७० गज)। नगरी के चारों ओर लकड़ी की एक दीवार वनी हुई थी, जिसके वीच-वीच में तीर छोड़ने के लिये वहुत-से छेद वने हुए थे। दीवार के चारों ओर एक खाई थी, जो ६० फीट गहरी और ६०० फीट चौड़ी थी। यह खाई नगर की रक्षा और गन्दगी को वहाने के काम में आती थी। लकड़ी की दीवार में नगर में आने-जाने के लिये ६४ द्वार थे। दीवार पर वहुत-से वुर्ज भी बने हुए थे, जिनकी संख्या ५७० थी।[2] इसमें सन्देह नहीं, कि पाटलिपुत्र एक अत्यन्त विशाल नगरी थी, जिसका निर्माण एक सुदृढ़ दुर्ग के रूप में किया गया था।

मौर्य युग के नगरों के सम्बन्ध में एरियन की यह सूचना भी उल्लेखनीय है—'परन्तु

१. McCrindle ; Magasthenes. p. 136.
२. Ibid, pp. 66-68.

उन (भारतीयों) के नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि ठीक-ठीक नहीं बतायी जा सकती। जो नगर नदियों के किनारे और समुद्र-तट पर स्थित हैं, वे ईंटों के बजाय लकड़ी के बने हुए हैं, क्योंकि उन्हें स्वल्पकाल के प्रयोग के लिये ही बनाया जाता है। वहाँ वर्षा बहुत जोर से पड़ती है, और नदियाँ अपने किनारों के ऊपर चढ़कर मैदानों में बाढ़ ले आती हैं। पर ऐसे नगर जो खुली जगह पर और ऊँचे टीलों पर बसे हैं, ईंटों और गारे से निर्मित हैं।'

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के नगरों की रचना के सम्बन्ध में सुस्पष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अर्थशास्त्र के 'दुर्गविधानम्' और 'दुर्गनिवेशः' प्रकरणों में एक ऐसे नगर का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसका निर्माण दुर्ग के रूप में किया गया हो। निस्सन्देह, पाटलिपुत्र इसी प्रकार का नगर था। कौटल्य के अनुसार नगर के चारों ओर एक-एक दण्ड (छः फीट) के फासले पर तीन परिखाएँ (खाइयाँ) होनी चाहियें, जो चौड़ाई में क्रमशः १४ दण्ड (८४ फीट), १२ दण्ड (७२ फीट) और १० दण्ड (६० फीट) हों। इनकी गहराई चौड़ाई की तुलना में या तो तीन चौथाई रखी जाए और या आधी। इस प्रकार ये खाइयाँ गहराई में क्रमशः ६३, ५४ और ४५ फीट या ४२, ३६ और ३० फीट हों। खाई का फर्श सतह से तिहाई होना चाहिए। खाइयों की दीवारें पत्थरों या ईंटों से पक्की बनायी जाएँ, और उन्हें सदा पानी से भर कर रखा जाए। यह पानी ऐसा होना चाहिये कि किसी अन्य स्रोत से निरन्तर आता रहे और उसका प्रवाह कभी रुके नहीं। खाइयों में मगरमच्छ आदि जन्तु भी रहने चाहियें। सबसे भीतर की खाई से २४ फीट की दूरी पर वप्र (प्राचीर या शहरपनाह) बनाया जाए, जो ३६ फीट ऊँचा और ७२ फीट चौड़ा हो। इस वप्र के ऊपर प्राकारों का निर्माण किया जाए, और उनके भी ऊपर अट्टालिकाओं का। वप्र और प्राकार पर सैनिकों और सवारियों के आने-जाने के लिये मार्ग हों, और अट्टालिकाओं के बीच में धनुर्धरों के लिये स्थान बनाये जाएँ।[1] दुर्ग की रक्षा के प्रयोजन से अनेकविध अस्त्र-शस्त्र भी वहाँ स्थापित किये जाएँ। कौटल्य ने इन सबका बड़े विशद रूप से वर्णन किया है, पर उसे यहाँ उद्धृत करने का विशेष उपयोग नहीं है।

परिखा, वप्र और प्राकार आदि से सुरक्षित नगर में किस-किस प्रकार के मार्ग हों, और जनता के विभिन्न वर्गों के निवास की किस ढंग से व्यवस्था की जाए, इसका भी कौटल्य ने विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। नगर में बारह मुख्य द्वार होने चाहियें। जिनसे तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाले और तीन राजमार्ग उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले बनाये जाएँ। राजमार्गों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के मार्ग नगर में बनाये जाते थे, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। नगर में विभिन्न वर्गों के निवास के विषय में कौटलीय अर्थशास्त्र का विवरण महत्त्व का है। नगर का कुल मिलाकर जितना क्षेत्र हो, उसके नौवें भाग में राजप्रासाद और अन्तःपुर का निर्माण किया जाए।

---

१. कौ. अर्थ. २।३

राजकीय इमारतों के लिये नगर के मध्य भाग से उत्तर की ओर का प्रदेश सुरक्षित रखा जाए। राजप्रासाद के पूर्व-उत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित और मन्त्रियों का निवास हो, और इज्या-स्थान (यज्ञमण्डप) तथा तोय-स्थान (जहाँ पेय उदक सञ्चित हो) बनवाये जाएँ। पूर्व-दक्षिण भाग में महानस (राजकीय पाकशाला), हस्तिशाला और कोष्ठागार रहें। उनके परे पूर्व की ओर गन्ध, माल्य और रस (द्रव पदार्थ) की पण्य-शालाएँ हों, और प्रधान शिल्पी तथा क्षत्रियों के निवासस्थान रहें। दक्षिण-पूर्व भाग में भाण्डागार, अक्षपटल और विविध कर्मनिषद्य (कर्मान्त या कारखाने) बनवाये जाएँ। दक्षिण-पश्चिम भाग में कुप्यगृह और आयुधागार रहें। उनके परे दक्षिण दिशा की ओर नगर-अध्यक्ष (नागरक), धान्य-अध्यक्ष (पण्याध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, सीताध्यक्ष आदि), व्यावहारिक, कार्मान्तिक और विविध बलाध्यक्षों (सैनिक अध्यक्षों) के निवास हों, और पक्वान्नपण्यों (पकवान बेचने वालों), सुरापण्यों (शराब बेचनेवालों), मांसपण्यों (मांस बेचनेवालों), रूपाजीवाओं (वेश्याओं), तालापचारों (नट, नर्तक, वादक आदि) और वैश्यों के कारोबार के स्थान रहें। पश्चिम-दक्षिण भाग में गधों, ऊँटों आदि पशुओं की शालाएँ तथा कर्मगृह बनवाये जाएँ, और पश्चिम-उत्तर भाग में यानों और रथों की शालाएँ। उनके परे पश्चिम की ओर ऊन और रूई के सूत को कातने तथा बुनने वाले शिल्पी, वेणु (बाँस) तथा चर्म (खाल, फर आदि) के शिल्पी, शस्त्र और कवच बनाने वाले शिल्पी और शूद्र आबाद किये जाएँ। उत्तर-पश्चिम भाग में पण्य-भैषज्यगृह (जहाँ औषधियाँ बेची जाती हों) बनवाये जाएँ। उत्तर-पूर्व भाग में कोशागार और गौशालाएँ तथा अश्वशालाएँ रहें। उनसे परे उत्तर की ओर नगर-कारु, राज-कारु, देवता-कारु, लोहकारु और मणिकारु वर्ग के लिये तथा ब्राह्मणों के लिये स्थान सुरक्षित रखे जाएँ। बीच के विभिन्न कोनों में शिल्पियों की श्रेणियों और अन्य समूहों के लिये स्थान रहें। नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त और वैजयन्त देवताओं के कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्विन्, श्री और मदिरा के गृह निर्मित कराये जाएँ, और उनके कोष्ठकालयों (गर्भगृहों) में वास्तु देवताओं (मूर्तियों) की स्थापना की जाए। परिखा से १०० धनु (१०० दण्ड या ६०० फीट) की दूरी पर पुण्यस्थान बनवाये जाएँ, और सब दिशाओं में यथास्थान दिग्देवता स्थापित किये जाएँ। नगर के उत्तर-पूर्व में श्मशान के लिये स्थान सुरक्षित रखा जाए। दक्षिण में एक पृथक् श्मशान हो, जिसका प्रयोग केवल उत्कृष्ट वर्णों के व्यक्ति ही कर सकें। पाषण्डों (ऐसे सम्प्रदाय जो परम्परागत धर्म के प्रति आस्था नहीं रखते थे) और चाण्डालों के लिये श्मशान से परे का स्थान रहे। नगर में कुएँ इतनी अधिक संख्या में बनवाये जाएँ, कि दस परिवारों के लिये एक कुआँ रहे। नगर में धान्य, चीनी, तेल, नमक, ईंधन आदि को इतनी अधिक मात्रा में सञ्चित करके रखा जाए कि वह अनेक वर्षों के लिये पर्याप्त हो।[1]

---

१. कौ. अर्थ. २।४

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से मौर्य युग के नगरों के स्वरूप और रचना का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। निस्सन्देह, पाटलिपुत्र की रचना इसी ढंग से की गई थी। ग्रीक लेखकों के विवरणों से भी इसकी पुष्टि होती है। काशी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, चम्पा आदि मौर्य युग के अन्य नगरों का निर्माण भी प्रायः इसी ढंग से किया गया होगा, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। पाटलिपुत्र की जो खुदाई गत वर्षों में हुई है, उसमें मौर्य युग के भी कुछ अवशेष उपलब्ध हुए हैं। उनके विषय में हम इस ग्रन्थ में आगे चल कर यथास्थान लिखेंगे। वे भी अनेक अंशों में अर्थशास्त्र के इस विवरण की पुष्टि करते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग के नगरों का निर्माण एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार किया जाता था। उनमें विभिन्न व्यवसायियों के लिये पृथक् स्थान सुरक्षित रहते थे, और जनता के विविध वर्ग पृथक् रूप से निवास करते थे।

यहाँ जिस दुर्ग (दुर्ग के रूप में निर्मित नगर) के स्वरूप का निरूपण किया गया है, वह पुर के लोगों के निवास के लिये था। पर बहुत-से दुर्ग ऐसे भी थे, जिनका निर्माण युद्ध के प्रयोजन से किया जाता था। ये दुर्ग साम्परायिक (युद्ध या राष्ट्र की रक्षा के लिये निर्मित), औदक (जल-दुर्ग), पार्वत (पर्वत-दुर्ग), धान्वन (जल से विरहित मरुस्थल आदि में स्थित) और वनदुर्ग आदि अनेक प्रकार के होते थे।[1] इनके सम्बन्ध में मौर्य युग की युद्धनीति का विवेचन करते हुए विचार किया जायगा।

जनपदों के स्वरूप का निरूपण करते हुए ग्रामों के सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में लिखा जा चुका है। प्रत्येक जनपद में बहुत-से ग्राम होते थे, जिनकी सीमा एक क्रोश (कोस) से दो क्रोश तक हुआ करती थी। ग्रामों की सीमा को सूचित करने के लिये नदी, पहाड़, वन, गुफा, सेतुबन्ध (बांध), शाल्मली (सिम्बल), शमी (शीशम) और क्षीरवृक्ष (बड़) आदि का आश्रय लिया जाता था।[2] वर्तमान समय में भी सर्वसाधारण ग्रामवासी अपने ग्राम की सीमा का बोध कराने के लिये इन्हीं का प्रयोग करते हैं। एक ग्राम में प्रायः १००से५०० तक परिवार निवास करते थे। ग्रामोंकी जनता अपनी आजीविका के लिये प्रायः कृषि पर निर्भर करती थी। खेती के सम्बन्ध में जो नियम मौर्य युग में प्रचलित थे, उनका उल्लेख भी पहले किया जा चुका है। कृषियोग्य भूमि पर व्यक्तियों का अपरिमित स्वत्व नहीं माना जाता था। यदि कोई कृषक खेती न करे, तो उसकी भूमि दूसरों को दी जा सकती थी। खेती का कार्य प्रायः शूद्रों द्वारा करवाया जाता था। कृषियोग्य भूमि के अतिरिक्त ऐसी भूमि भी ग्राम के क्षेत्र में रहती थी, जिसका उपयोग चरागाह के रूप में किया जाता था। इस पर ग्राम के पशु स्वच्छन्द रूप से चर सकते थे। कृषकों के अतिरिक्त

१. कौ. अर्थ. २।३

२. 'नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबन्धशाल्मलीशमीक्षीरवृक्षानन्तरेषु सीम्नां स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।१

गाँवों में गड़रिये, ग्वाले, शिल्पी और वैदेहक (सौदागर) भी निवास करते थे, और साथही ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित आदि भी। राज्यद्वारा ग्रामों में कुओं, तटाकों (तालावों), मार्गों और उद्यानों आदि का निर्माण कराया जाता था, या जो ये वनवाएँ उन्हें सहायता प्रदान की जाती थी। गाँव के क्षेत्र में जो नदियाँ और तालाब हों, उन पर राज्य का अधिकार माना जाता था। इसीलिये उनसे जो मछलियाँ पकड़ी जाएँ, या जो हरितपण्य (सिंघाड़े आदि) एकत्र किये जाएँ, उन पर राज्य का स्वत्त्व होता था,[1] किसी व्यक्ति का नहीं। नदियों के पार उतरने के लिये प्लवों (नौकाओं) की व्यवस्था भी राज्य की ओर से की जाती थी। सम्भवतः, ये सव राज्य द्वारा ठेके पर दे दिये जाते थे। वालक, वृद्ध, विपत्तिग्रस्त और अनाथ आदि के पालन-पोषण की व्यवस्था भी राज्य की ओर से की जाती थी।

ग्रामों में निवास करने वाले लोगों का मनोरञ्जन करने के लिये नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (विभिन्न प्रकार की वोलियाँ वोल कर मनोरञ्जन करने वाले) और कुशीलव भी कभी-कभी वहाँ आ जाया करते थे। पर भोले-भाले ग्रामीणों के धन को ये कहीं लूट न लें और इनके कारण कहीं ग्रामवासियों के कार्यों में विघ्न न पड़े, इस दृष्टि से इन पर अनेकविध प्रतिवन्ध लगाये जाते थे। कौटल्य ग्रामों में मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद के प्रयोजन से शालाएँ बनाने के विरुद्ध थे।[2]

ग्रामों में पुण्यस्थान (धार्मिक प्रयोजनों से निर्मित स्थान), आराम (उद्यान) और देवमन्दिर भी होते थे। मन्दिरों में भेंट पूजा में जो द्रव्य अर्पित किया जाता था, उसकी (देव-द्रव्य की) व्यवस्था ग्रामवृद्धों द्वारा की जाती थी। ग्रामों को वहुधा महामारियों और दुर्भिक्षों का भी सामना करना पड़ता रहता था। शत्रुओं और आटविकों (जंगलों में निवास करनेवाली जातियों) के भी उन पर आक्रमण होते रहते थे।[3] इनसे ग्रामों की रक्षा करना भी राज्य का कर्तव्य माना जाता था। कैसा जनपद उत्कृष्ट होता है, इसका विवेचन करते हुए कौटल्य ने लिखा है कि जहाँ पङ्क (दलदल), पापाण (पथरीली भूमि), उपर (ऊसर जमीन), विपम (ऊँची-नीची भूमि), कण्टक श्रेणी (काँटों की झाड़ियाँ), व्याल (हिंस्र-पशु), मृग (जंगली पशु) और अटवि (विकट जंगल) का अभाव हो; कृषियोग्य उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, द्रव्यवन (सारदारु के जंगल) और हस्तिवन जहाँ हों, गौ आदि पशुओं के लिये जहाँ सुरक्षित गोचर-भूमि हो, सिंचाई के लिये जो केवल वर्षा पर निर्भर न करे, कर्मशील कृपकों का जहाँ निवास हो और जहाँ के निवासी शुचि आचरण-वाले हों, वह जनपद प्रशस्त होता है।[4] कौटलीय अर्थशास्त्र के इस वर्णन से उत्तरी भारत

१. 'मत्स्यप्लवहरितपण्यानां सेतुषु राजा स्वाम्यं गच्छेत्।' कौ. अर्थ. २।१
२. कौ. अर्थ २।१
३. 'परचक्राटवीग्रस्तं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम्।' कौ. अर्थ. २।१
४. कौ. अर्थ. ६।१

के देहातों का एक भव्य चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। निस्सन्देह, मौर्य युग के बहु-संख्यक ग्राम इसी प्रकार के देहात में बसे हुए थे, जहाँ दलदल, पथरीली ऊँची-नीची भूमि और काँटेदार झाड़ियों का अभाव था, जहाँ की भूमि उपजाऊ और नहरों, कुओं आदि से सिंचित थी, और जहाँ के निवासी कर्मठ और सच्चरित्र थे।

मौर्य युग के ग्रामों की रचना के सम्बन्ध में कोई सूचना कौटलीय अर्थशास्त्र से प्राप्त नहीं होती, पर यह अनुमान कर सकना असंगत नहीं होगा कि वर्तमान समय के समान मौर्य युग के गाँवों के मकान भी प्रायः मिट्टी और फूंस आदि से ही बनाये जाते थे। इसी कारण कौटल्य ने यह व्यवस्था की थी, कि ग्रीष्म ऋतु में ग्रामों के निवासी घरों से बाहर भोजन बनाया करें। अग्नि से ग्रामों की रक्षा के लिये जिन नियमों का अनुसरण किया जाता था, उनका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। उनसे यही निर्देश मिलता है, कि ग्रामों के मकान प्रायः कच्चे और तृण आदि से निर्मित होते थे।

बारहवाँ अध्याय

समाजिक दशा

(१) समाज के विभिन्न वर्ग

कौटलीय अर्थशास्त्र में समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण के 'स्वधर्म' (कार्य) अध्ययन, अध्यापन, यजन (यज्ञ करना) याजन (यज्ञ कराना), दान करना और प्रतिग्रह (दान ग्रहण करना) कहे गये हैं। क्षत्रिय का 'स्वधर्म' अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव (शस्त्र द्वारा आजीविका प्राप्त करना या सैनिक सेवा) और भूतरक्षण (प्राणियों की रक्षा) है। वैश्य का स्वधर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य (व्यापार) है। शूद्र का स्वधर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना, वार्ता (कृषि, पशुपालन और वणिज्या), कारुकर्म (शिल्पी या कारीगार का कार्य) और कुशीलव कर्म (नट आदि के कार्य) है।[1] विविध वर्णों के ये कार्य प्रायः वही हैं, जो मनुस्मृति आदि स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित हैं पर कौटल्य ने शूद्र के स्वधर्म का निरूपण करते हुए कृषि, पशुपालन और वणिज्या को भी शूद्रों के कार्यों में अन्तर्गत किया है, जो स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों से भिन्न है। सम्भवतः, कौटल्य द्वारा प्रतिपादित शूद्रों के स्वधर्म वास्तविकता के अधिक अनुकूल हैं। वैश्यों के सहायक रूप में या स्वतन्त्र रूप से शूद्र भी कृषि, पशुपालन और व्यापार किया करते थे, यद्यपि शिल्पको शूद्रों का ही कार्य माना जाता था।

कौटल्य ने चारों वर्णों के जो स्वधर्म प्रतिपादित किये हैं, वे भारत की प्राचीन परम्परा और सामाजिक मर्यादा के अनुसार हैं। पर क्रियात्मक दृष्टि से विभिन्न वर्णों के लोग केवल इन्हीं कार्यों का अनुसरण करते हों, और मौर्य युग के समाज में विविध वर्गों के कार्य पूर्ण रूप से निर्धारित हों, यह बात नहीं थी। सैनिक सेवा यद्यपि क्षत्रियों का कार्य माना जाता था, पर ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की भी सेनाएँ होती थीं।' इन वर्णों के व्यक्तियों को भी सेना में भरती किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है—"आचार्यों का मत था, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सेनाओं में क्रमशः पूर्व उल्लिखित सेनाएं अधिक श्रेष्ठ होती हैं, क्योंकि उनमें तेज की प्रधानता रहती है। पर कौटल्य का मत इससे भिन्न है। ब्राह्मण सेना को शत्रु प्रणिपात (विनय व सम्मान का प्रदर्शन) द्वारा अपने पक्ष में कर

---

१. 'स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च। वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च। शूद्रस्य द्विजाति शुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलवकर्म च।' कौ. अर्थ. १।३

सकता है। अतः ऐसी क्षत्रिय सेना को श्रेष्ठ समझना चाहिये, जो कि प्रहरण विद्या (शस्त्र सञ्चालन) से सुशिक्षित हो। या ऐसी वैश्य सेना और शूद्र सेना भी श्रेष्ठ है, जिनके सैनिक संख्या में बहुत अधिक हों।"[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि मौर्य युग में केवल क्षत्रिय ही सैनिक सेवा का कार्य नहीं करते थे, अपितु ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की भी सेना होती थीं, और आवश्यकतानुसार इन वर्णोंके लोगों को भी बड़ी संख्या में सेना में भरती किया जाता था।

यद्यपि शूद्र के स्वधर्म में यजन और अध्ययन को अन्तर्गत नहीं किया गया है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय दशाओं में वे भी यज्ञ कर सकते थे और उन्हें भी वेदादि की शिक्षा दी जाती थी। इसीलिये कौटल्य ने लिखा है—कि यदि किसी पुरोहित को इस कार्य के लिये आदेश दिया जाए कि वह अयाज्य (शूद्र आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें यज्ञ का अधिकार न हो) को यज्ञ कराए या उसे पढ़ाए, और वह इस आदेश का पालन न करे, तो उसे पदच्युत कर दिया जाए।[२]

ये निर्देश इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि मौर्य युग में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप ऐसा नहीं था, कि विविध वर्णों के व्यक्ति केवल उन्हीं कार्यों को सम्पादित करें जिनका विधान शास्त्रों द्वारा उनके लिये किया गया है। फिर भी कौटल्य ने इस बात पर बहुत जोर दिया है, कि सब वर्णों को अपने-अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिये और राज्यसंस्था का एक प्रमुख कार्य यही है कि वह सबको अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। कौटल्य के अनुसार 'स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष के लिये होता है। यदि स्वधर्म का अतिक्रमण किया जाए, तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी और लोक (समाज) नष्ट हो जायगा। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह मनुष्यों को स्वधर्म का अतिक्रमण न करने दे। जो राजा स्वधर्म को कायम रखता है, वह इहलोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त करता है। आर्यमर्यादा के व्यवस्थित होने पर और वर्णों तथा आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थित कर देने पर त्रयी (वेद) द्वारा रक्षित यह लोक सदा उन्नति ही करता है, अवनति नहीं।'[३] इसमें सन्देह नहीं, कि चातुर्वर्ण्य में समाज का विभाग और प्रत्येक वर्ण के

---

१. "ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रसैन्यानां तेजःप्राधान्यात् पूर्वं पूर्वं श्रेयस्संनाहयितुम्" इत्याचार्याः। नेति कौटल्यः—प्रणिपातेन ब्राह्मबलं परोऽभिहारयेत्। प्रहरणविद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयः, बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति। कौ. अर्थ. ९।२

२. 'पुरोहितमयाज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममृष्यमाणं राजा अवक्षिपेत्।' कौ. अर्थ. १।१०

३. 'स्वधर्मस्स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकस्सङ्करादुच्छिद्येत—
तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥
व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥' कौ. अर्थ. १।३

लिये अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रहना एक आदर्श के रूप में मौर्य काल में भी विद्यमान था, यद्यपि क्रिया में विविध वर्णों के व्यक्ति केवल अपने-अपने धर्म का ही पालन नहीं करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों के लोग आर्य जनता के अंग माने जाते थे। आर्य-भिन्न लोगों को 'म्लेच्छ' कहते थे। शूद्रों की गणना भी आर्यों में ही की जाती थी। दासों के सम्बन्ध में व्यवस्था करते हुए कौटल्य ने लिखा है, कि यदि कोई शूद्र को दासरूप से विक्रय के लिये ले जाए, तो उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। इसी प्रकार की व्यवस्था अन्य वर्णों के व्यक्तियों के लिये करके कौटल्य ने यह कहा है कि आर्य को कभी दास नहीं बनाया जा सकता, यद्यपि म्लेच्छों में सन्तान को दासरूप से बेचना व खरीदना दोष नहीं है।[1]

ब्राह्मण आदि चार वर्णों के लोगों के अतिरिक्त कौटल्य ने अनेक वर्णसंकर लोगों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के लोगों में अम्बष्ठ, निषाद, पारशव, उग्र, मागध, वैदेहक, सूत, कुटक, पुल्कस, वैण, चण्डाल, श्वपाक आदि उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण पिता और वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान को अम्बष्ठ कहते थे। ब्राह्मण पिता और शूद्र माता की सन्तान की संज्ञा निषाद और पारशव थी। क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की सन्तान को उग्र कहा जाता था। वैश्य पिता की क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान को मागध और ब्राह्मण माता से उत्पन्न सन्तान को वैदेहक कहते थे। शूद्र पिता की वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान को आयोगव कहा जाता था। यदि शूद्र पिता की ब्राह्मण स्त्री से कोई सन्तान हो, तो वह चण्डाल कहाती थी, और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान क्षत्त कही जाती थी। इसी प्रकार से कौटल्य ने अनेक अन्य वर्णसंकर जातियों का भी विवरण दिया है।[2] निषाद, चण्डाल, क्षत्त आदि जातियों की उत्पत्ति का यह विवरण कहाँ तक संगत है, यह कह सकना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग के भारतीय समाज में अनेक ऐसे वर्गों की भी सत्ता थी, जिन्हें परम्परागत चार वर्णों के अन्तर्गत कर सकना सम्भव नहीं था। कौटल्य ने इन विविध वर्णसंकर जातियों को 'शूद्रसधर्मा' कहा है, जिससे सूचित होता है कि इनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष मानी जाती थी। पर चण्डालों की स्थिति इनसे भी हीन रखी गई है।[3] निस्सन्देह, चण्डाल एक ऐसे वर्ग के व्यक्ति थे, जिसे समाज में अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता था। इसीलिये

---

१. 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतातुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।'
कौ. अर्थ. ३।१३

२. 'ब्राह्मणस्य वैश्यायामम्बष्ठः। शूद्रायां निषादः पारशवो वा। क्षत्रियस्य शूद्रायामुग्रः।...शूद्रादायोगवक्षत्तचण्डालाः। वैश्यान्मागधवैदेहकौ। क्षत्रियात्सूतः।... उग्रान्नैषद्यां कुटकः। विपर्यये पुल्कसः। वैदेहिकायामम्बष्ठाद्वैणः।" कौ. अर्थ. ३।७

३. 'शूद्रधर्माणो वा अन्यत्र चण्डालेभ्यः।' कौ. अर्थ. ३।७

उनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई थी कि वे नगरों में श्मशान के समीप निवास किया करें।[१]

अम्बष्ठ, निषाद, वैण्य आदि की उत्पत्ति चाहे किसी भी प्रकार क्यों न हुई हो, पर मौर्य युग में उन्होंने पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया था, और क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में उनका समावेश कर सकना सम्भव नहीं था, अतः उन्हें शूद्रों के अन्तर्गत माना जाने लगा था। उनका स्वरूप पृथक् जातियों के सदृश था, यह कौटल्य की इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि उनके वैवाहिक सम्बन्ध उन्हीं में हो सकें, और अपने वृत्तों (कार्यों या पेशों) तथा परम्पराओं में वे अपने पूर्ववर्ती पूर्वजों का अनुसरण किया करें।[२] इन विविध वर्गों के लोगों के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में 'जाति' संज्ञा का ही प्रयोग किया गया है, और राज्यसंस्था के लिये यह भी आदेश दिया गया है, कि वह देश-संघों, ग्रामसंघों और श्रेणियों के समान जातियों के परम्परागत धर्मों को भी कायम रखे।[३]

मौर्य युग में अनेक ऐसी जातियों का भी विकास हो चुका था, जिनका आधार कोई विशेष शिल्प या पेशा था। तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (धोबी), तुन्नवाय (दर्जी), सुवर्णकार (सुनार), चर्मकार (चमार), कर्मार (लुहार), लोहकारु, कुट्टाक (बढ़ई) आदि इसी प्रकार की जातियाँ थीं। इन सबका समावेश शूद्र वर्ण में किया जाता था, और इन्हें आर्य जनता का अंग माना जाता था।

मौर्य युग में भारत की जनता किन विविध वर्गों में विभक्त थी, इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज़ के यात्रा वृत्तान्त से भी महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। इस विषय में मैगस्थनीज़ के यात्रावृत्तान्त के निम्नलिखित सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं।[४]

"भारत की सम्पूर्ण आबादी सात जातियों में विभक्त है। पहली जाति दार्शनिकों (Philosophers) के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की तुलना में कम है, तथापि प्रतिष्ठा में उन सबसे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सब सार्वजनिक कर्तव्यों से मुक्त हैं, अतः न वे अन्यों के दास हैं और न अन्यों के स्वामी हैं। गृहस्थों द्वारा ये बलिप्रदान करने और मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि ये देवताओं को अत्यन्त प्रिय हैं और परलोक-सम्बन्धी बातों में विशेष निपुण हैं। इन अनुष्ठानों के बदले में ये बहुमूल्य दान प्राप्त करते हैं। भारत की जनता को इनसे बहुत लाभ पहुँचता है। वर्ष के प्रारम्भ में जब ये लोग एकत्र होते हैं, तो अनावृष्टि

---

१. 'चण्डालानां श्मशानान्ते वासः।' कौ. अर्थ. २।४

२. 'तेषां स्वयोनौ विवाहः। पूर्वापरगामित्वं वृत्तानुवृत्तं च स्वधर्मान् स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. ३।७

३. 'देशस्य जात्या संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः।' कौ. अर्थ. ३।७

४. McCrindle : Magasthenes pp 42-48

लोमश ऋषि की गुफा

शीत, आँधी, रोग आदि के विषय में पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी प्रकार की अन्य भी बहुत-सी बातों को ये पहले ही बता देते हैं, जिससे सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुँचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनों भविष्य को पहले से ही जान कर उसके विषय में व्यवस्था कर सकते हैं। जो वस्तुएँ आवश्यकता के समय काम आयेंगी, उनका पहले से ही प्रबन्ध करने में वे कभी नहीं चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसे निन्दा के अतिरिक्त अन्य कोई दण्ड नहीं दिया जाता। भविष्यवाणी के अशुद्ध होने पर दार्शनिक फिर जीवन भर के लिये मौन ग्रहण कर लेता है।

"दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों की तुलना में संख्या में बहुत अधिक जान पड़ते हैं। वे राजा को भूमि-कर प्रदान करते हैं। किसान लोग अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ देहात में निवास करते हैं, और नगरों में जाने से बचते हैं।

"तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गडरिये तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं जो न नगरों में रहते हैं और न ग्रामों में, अपितु डेरों में रहते हैं। शिकार द्वारा तथा पशुओं को जाल आदि में फंसा कर वे देश को हानिकर पक्षियों तथा जङ्गली पशुओं से शून्य करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसीलिये वे भारत को उन विविध विपत्तियों से मुक्त करते हैं, जोकि इस देश में बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं, यथा सब प्रकार के जङ्गली जन्तु और किसानों द्वारा बोये हुए बीजों को खा जानेवाले पक्षी।

"चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें से कुछ कवच बनाने वाले हैं, और कुछ उन विविध उपकरणों को बनाते हैं जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी प्रयोग करते हैं।

"पाँचवीं जाति सैनिकों की है। यह भलीभाँति सुसंगठित है, और युद्ध के लिये सदा सुसज्जित तथा समुद्यत रहती है। संख्या में इसका दूसरा स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य तथा आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहती है। सम्पूर्ण सेना, योद्धा सैनिक, युद्ध के घोड़े और हाथी—इन सबका राजकीय खर्च से पालन होता है।

"छठी जाति में निरीक्षक लोग हैं। इनका कार्य यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में हो रहा हो, उसकी खोज तथा देख भाल करते रहें, और राजा को—जहाँ राजा न हो वहाँ किसी अन्य राजकीय शासक को—इसकी सूचना देते रहें।

"सातवीं जाति सभासदों और अन्य शासकवर्ग की है। ये लोग राज्यकार्य की देख-भाल तथा शासन का सञ्चालन करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने ऊँचे चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मन्त्री-गण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता लिये जाते हैं। सेना के नायक तथा प्रधान शासक भी प्रायः इसी श्रेणी के होते हैं।"

मैगस्थनीज़ तथा अन्य ग्रीक लेखकों के विवरणों द्वारा यह सूचित होता है, कि भार-तीय समाज के इन वर्गों ने जातियों का रूप प्राप्त कर लिया था। डायोडोरस के अनुसार "किसी को यह अनुमति नहीं है कि वह अपनी जाति से बाहर विवाह कर सके, या किसी

ऐसे पेशे व शिल्प का अनुसरण कर सके जोकि उसका अपना न हो। उदाहरण के लिये कोई सिपाही किसान का धन्धा नहीं कर सकता, और कोई शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता।[1]"

मैगस्थनीज़ ने कहीं भी चातुर्वर्ण्य का उल्लेख नहीं किया है। स्वाभाविक रूप से वह अपने देश ग्रीस और अपने पड़ौसी देश ईजिप्ट की सामाजिक रचना से परिचित था। जिस ढंग से इन देशों के समाज अनेक वर्गों या जातियों में विभक्त थे, उन्हें ही दृष्टि में रखकर मगस्थनीज़ ने भारत की जनता को भी सात वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया था। इन सातों प्रकार के लोग भारत की जनता में विद्यमान थे, यह सर्वथा असंदिग्ध है। जिन्हें मगस्थनीज़ ने दार्शनिक कहा है, भारत में उन्हें ही ब्राह्मण—श्रमण संज्ञा से सूचित किया जाता था। यद्यपि ये संख्या में बहुत कम थे, पर समाज में इनकी स्थिति अत्यन्त उच्च थी। कृषक समुदाय में वे वैश्य और शूद्र अन्तर्गत थे, जो खेती द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे। मगस्थनीज़ द्वारा प्रतिपादित तीसरी जाति में जिन गडरियों आदि को अन्तर्गत किया गया है, कौटलीय अर्थशास्त्र में उनसे वे वैश्य और शूद्र सूचित होते हैं, पशुपालन जिनका व्यवसाय था। कारीगर वर्ग को भारत में शूद्र वर्ण के अन्तर्गत किया जाता था। सैनिक का पेशा प्रधानतया क्षत्रिय वर्ण का माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में मंत्रियों, गुप्तचरों और गूढ़पुरुषों का विशद रूप से वर्णन है, जिनका शासन की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था। मैगस्थनीज़ ने इन्हें ही छठी जाति के रूप में उल्लिखित किया है। शासक वर्ग को ग्रीक लेखकों ने एक पृथक् वर्ग के रूप में लिखा है। इनके व्यक्ति प्रायः ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के ही हुआ करते थे। मैगस्थनीज़ द्वारा वर्णित भारतीय समाज का कौटलीय अर्थ-शास्त्र में प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य से कोई विरोध नहीं है। दोनों के दृष्टिकोण में ही अन्तर है।

वर्तमान काल में भी हिन्दू समाज को चार वर्णों में विभक्त समझा जाता है। पर बहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं, जिन्हें सुनिश्चित रूप से किसी वर्ण के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। नाई, सुनार, बढ़ई आदि जातियों के लोग अपने को शूद्र नहीं मानते, और उच्च वर्ण के लोग उन्हें ब्राह्मण या वैश्य वर्ग में सम्मिलित नहीं करते। पर ये सब पृथक् जातियों के रूप में अपनी सत्ता रखते हैं, और ऐसे परम्परागत नियमों का पालन करते हैं, जो इनमें चिरकाल से चले आ रहे हैं। विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में इनके अपने नियम हैं, जो परम्परा पर आश्रित हैं। सम्भवतः, ठीक यही दशा मौर्य युग के भारत में भी थी। उस समय में भी तन्तुवाय, रजक आदि पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर चुके थे, और उनमें ऐसे परम्परागत नियमों का भी विकास हो गया था, जिन्हें राज्यसंस्था द्वारा भी स्वीकार किया जाता था। कौटल्य ने इन जातियों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत किया है। पर

१. Mc Crindle : Magasthenes p. 44.

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि मौर्य युग में शूद्रों की सामाजिक स्थिति हीन नहीं मानी जाती थी। उन्हें भी 'आर्य' समझा जाता था, और वे उन म्लेच्छों, चण्डालों, श्वपचों आदि से भिन्न स्थिति रखते थे, जो कि आर्य जनता के अंग नहीं थे। मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थों में शूद्रों का केवल यह कार्य माना गया है कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की सेवा में निरत रहें और यह सेवा वे 'असूया' के बिना किया करें।[1] पर कौटल्य ने कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और शिल्प को भी शूद्र वर्ण के 'स्वधर्म' के अन्तर्गत किया है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में विविध प्रकार के शिल्पियों और कारीगरों के साथ-साथ कृषकों, कुशीलवों और पशु पालकों को भी शूद्र माना जाता था। तन्तुवाय, रजक, लोहकारु, कर्मार आदि शिल्पियों ने इस काल में पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया था, और इन सबको शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माना जाता था, यद्यपि समाज में इनकी स्थिति सम्मानित थी, और इनके लोग ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों की सेवा में ही निरत न रहकर स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने कारोबार किया करते थे।

आर्य जनता के चार वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग भी मौर्य युग में विद्यमान था जिसकी स्थिति शूद्रों की तुलना में भी हीन थी। इस वर्ग को 'अन्तावसायी' कहते थे[2], और चण्डाल और श्वपाक सदृश लोग इस वर्ग के अन्तर्गत थे। वर्तमान समय के भारतीय समाज में जिन लोगों को अछूत या अस्पृश्य समझा जाता है, सम्भवतः वे इन्हीं अन्तावसायियों के उत्तराधिकारी हैं।

यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णों के लोग आर्य जनता के अंग थे, पर समाज में उनकी स्थिति एक समान नहीं थी। न्यायालयों द्वारा अपराधियों को दण्ड देते हुए या वाद के सम्बन्ध में साक्षी लेते हुए वर्ण को दृष्टि में रखा जाता था। यदि निचले वर्ण का कोई व्यक्ति उच्च वर्ण के व्यक्ति के प्रति 'वाक्पारुष्य' का प्रयोग करे, तो उसे अधिक दण्ड मिलता था, उस दण्ड की तुलना में जो कि उच्च वर्ण के व्यक्ति द्वारा नीचे वर्ण के व्यक्ति के प्रति वाक्पारुष्य को प्रयुक्त करने पर देय था। यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को कुवचन कहे, तो उसके लिये तीन पण जुरमाने की व्यवस्था थी। पर यदि यही अपराध वैश्य द्वारा किया जाए, तो उसे छः पण दण्ड दिया जाता था। शूद्र द्वारा यही अपराध किये जाने पर नौ पण जुरमाना किया जाता था। इसके विपरीत यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को कुवचन कहे, तो उसे केवल दो पण जुरमाना देना होता था। वैश्य को ब्राह्मण द्वारा कुवचन कहने पर चार पण और क्षत्रिय को कुवचन कहने पर छः पण जुरमाने की व्यवस्था थी।[3]

---

१. 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। सर्वेषामेव वर्णानां सुश्रूषामनसूयया।'

२. कौ. अर्थ. ३।१८

३. 'प्रकृत्योपवादे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्तावसायिनामपरेण पूर्वस्य त्रिपणोत्तरः दण्डाः। पूर्वेणापरस्य द्विपणाधराः।' कौ. अर्थ. ३।१८

कतिपय अपराध ऐसे भी थे, जिनके लिये उच्च वर्ण के व्यक्तियों को अधिक कठोर दण्ड प्रदान किये जाते थे। यदि कोई शूद्र अपने किसी 'अप्राप्त व्यवहार' (अवयस्क या नाबालिग) स्वजन को दास के रूप में विक्रय करे या रहन रखे, तो उसके लिये बारह पण दण्ड का विधान था। पर यही अपराध यदि वैश्य द्वारा किया जाए, तो उसपर चौबीस पण जुरमाना किया जाता था। क्षत्रिय और ब्राह्मण द्वारा यही अपराध किये जाने पर उनके लिये दण्ड की मात्रा क्रमशः अड़तालीस और छियानवे पण निर्धारित थी।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक ऐसे अपराध उल्लिखित हैं, जिनमें विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिये विभिन्न दण्ड की व्यवस्था की गई है।

न्यायालय के संमक्ष जब कोई ब्राह्मण साक्षी देने के लिये उपस्थित होता था, तो उसे सत्य बोलने की शपथ दिलाते हुए 'सत्य-सत्य कहो' इतना कहना ही पर्याप्त समझा जाता था। पर अन्य वर्णों के व्यक्तियों के लिये अधिक कठोर शपथ की व्यवस्था थी।[2]

इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में भारत के समाज का मुख्य आधार 'चातुर्वर्ण्य' था। समाज के चारों वर्णों के 'स्वधर्म' नियत थे, और प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक और उपयोगी माना जाता था कि वह अपने स्वधर्म में स्थिर रहे। समाज में ब्राह्मणों की स्थिति सबसे ऊँची और सम्मानित थी, और राज्य के शासन पर भी उनका बहुत प्रभाव था। पुरोहित, मन्त्री आदि प्रमुख राजकीय पदाधिकारी प्रायः ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति ही हुआ करते थे, और वे राजा को मर्यादा में रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया करते थे।

(२) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

मौर्य युग में बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज़ के अनुसार भारतीय लोग बहुत-सी स्त्रियों से विवाह करते थे। कुछ को वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह करके लाते थे, और कुछ को केवल आनन्द के प्रयोजन से और घर को सन्तान से भर देने के लिये।[3] कौटलीय अर्थशास्त्र से भी मैगस्थनीज़ के इस कथन की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है कि समुचित वृत्ति प्रदान करके पुरुष बहुत-सी स्त्रियों से भी विवाह कर सकता है। स्त्रियाँ पुत्रों के लिये ही होती हैं।[4] पुनर्विवाह की प्रथा तो मौर्य युग में थी ही, पर पुरुष एक समय में एक से अधिक स्त्रियों से भी विवाह कर सकता था।

---

१. 'अप्राप्तव्यवहारं शूद्रं विक्रयाधानं नयतस्वजनस्य द्वादश पणो दण्डः। वैश्यं द्विगुणः। क्षत्रियं त्रिगुणः। ब्राह्मणं चतुर्गुणः।' कौ. अर्थ. ३।१३

२. कौ. अर्थ. ३।११

३. Mc Crindle : Magasthenes p. 34

४. 'अनुरूपां च वृत्तिं दत्वा बह्वीरपि विन्देत। पुत्रार्था हि स्त्रियः।' कौ. अर्थ. ३।२

कौटलीय अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है—(१) ब्राह्म विवाह–कन्या को अलंकृत (आभूषण आदि से सजा कर) कर जब कन्या-दान द्वारा विवाह हो, तो ऐसे विवाह को 'ब्राह्म' कहते थे। (२) प्राजापत्य विवाह—जब पुरुष और स्त्री परस्पर मिलकर धर्मचर्या का पालन करके विवाह सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो ऐसा विवाह 'प्राजापत्य' कहाता था। (३) आर्ष विवाह–कन्या-पक्ष द्वारा गौओं का एक जोड़ा वर पक्ष को प्रदान कर जो विवाह किया जाता था, उसकी 'आर्ष' संज्ञा थी। (४) दैव विवाह–यज्ञवेदी के समक्ष ऋत्विज की स्वीकृति से जो कन्यादान किया जाता था, उसे 'दैव' कहते थे। (५) गान्धर्व विवाह–कन्या और वर परस्पर प्रेम के कारण स्वयं जो विवाह करते थे, वह गान्धर्व विवाह कहाता था। (६) आसुर विवाह–शुल्क (दहेज) देकर जो विवाह किया जाता था, उसे 'आसुर' कहते थे। (७) राक्षस विवाह–कन्या को बलपूर्वक ले जाकर विवाह करने पर राक्षस विवाह माना जाता था। (८) पैशाच–सोयी हुई या बेसुध स्त्री को ले जाकर उससे जो विवाह किया जाता था, उसे पैशाच विवाह कहा जाता था।"[1]

मौर्य युग में ये आठों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। दहेज (शुल्क) देकर विवाह की प्रथा उस काल में बहुत लोकप्रिय नहीं थी। कौटल्य द्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों में केवल 'आसुर' ही ऐसा विवाह है, जिसमें शुल्क प्रदान किया जाता था। इस सम्बन्ध में नियार्कस का यह कथन उल्लेखनीय है–भारतीय लोग दहेज लिये या दिये बिना ही विवाह करते हैं। जब कोई स्त्री विवाह-योग्य आयु की हो जाती है, तो उसके पिता उसे समाज के सम्मुख ले आते हैं, ताकि ऐसे पुरुष उसे अपनी सहधर्मिणी के रूप में वर सकें, जो कि मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध, दौड़ आदि में विजयी हुए हों, या जिन्होंने किसी अन्य पौरुष युक्त साम्मुख्य में अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित की हो।[2] नियार्कस का यह कथन एक प्रकार के स्वयंवर को सूचित करता है, जो प्राचीन भारत में बहुत लोकप्रिय था।

कौटल्य के अनुसार पहले चार प्रकार के विवाह (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव) 'धर्म्य' (धर्म के अनुकूल) होते हैं, और साथ ही 'पितृप्रमाण' भी। पितृप्रमाण का अभिप्राय यह है, कि उनके लिये पिता की स्वीकृति या अनुमति ही पर्याप्त होती है। पिछले चार प्रकार के विवाहों के लिये पिता और माता दोनों की अनुमति आवश्यक मानी गई है।[3] विवाह के सम्बन्ध में कौटल्य का यह मत था, कि वे सब प्रकार के विवाह नियमानुकूल तथा स्वी-

---

१. **'कन्यादानं कन्यामलङ्कृत्य ब्राह्मो विवाहः। सहधर्मचर्या प्राजापत्यः। गोमिथुनदानादार्षः। अन्तर्वेद्यामृत्विजे दानात् दैवः। मिथस्समवायात् गान्धर्वः। शुल्कदानादार्षः। प्रसह्यादानाद्राक्षसः। सुप्तादानात्पैशाचः।' कौ. अर्थ. ३।२**

२. The Age of Imperial Unity (Bharatiya Vidya Bhavan) p 564

३. **'पितृप्रमाणाश्चत्वारः पूर्वे धर्म्याः। मातापितृप्रमाणाः शेषाः।' कौ. अर्थ. ३।२**

कार्य हैं, जिनसे सब सम्बद्ध व्यक्ति संतोष अनुभव करें। विवाह का आधार पारस्परिक प्रीति ही थी, और इस आधार पर निर्धारित हुए विवाह कानून द्वारा रोके नहीं जाते थे।[१]

यद्यपि 'आसुर' ही एकमात्र इस प्रकार का विवाह था, जिसमें शुल्क की मात्रा पहले से ही निर्धारित कर ली जाती थी, पर अन्य प्रकार के विवाहों में भी कुछ शुल्क प्रदान करने की प्रथा विद्यमान थी। इस धन पर स्त्री का अधिकार माना जाता था, और कौटलीय अर्थशास्त्र में इसी को 'स्त्रीधन' की संज्ञा दी गई है, और उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। स्त्रीधन प्रधानतया दो प्रकार का होता था, वृत्ति और आवध्य। कौटल्य के अनुसार स्त्री के लिये निर्धारित वृत्ति की मात्रा दो सहस्र (पण) से अधिक होनी चाहिये। आवध्य (आभूषण आदि) की मात्रा कितनी हो, इस विषय में कोई नियम नहीं था।[२] सामान्य दशा में इस स्त्रीधन को खर्च नहीं किया जा सकता था। पर यदि पति कहीं विदेश गया हुआ हो, और उसने अपने परिवार के भरण-पोषण का कोई प्रबन्ध न किया हो, तो पत्नी इस धन से अपने पुत्र, पुत्रवधू और अपना निर्वाह कर सकती थी। बीमारी, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय पति भी इस स्त्रीधन को व्यय कर सकता था।[३] पहले चार प्रकार के 'धर्म्य' विवाहों में पति और पत्नी पारस्परिक सहमति द्वारा साधारण दशा में भी स्त्रीधन को खर्च कर सकने का अधिकार रखते थे। पर गान्धर्व और आसुर विवाहों में यदि स्त्रीधन को खर्च कर लिया जाए, तो उसे प्रयुक्त करने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक था, कि वह उसे सूद के साथ वापस कर दे। राक्षस और पैशाच विवाहों में स्त्री-धन का व्यय किया जाना निषिद्ध था।[४] इन पद्धतियों के अनुसार विवाहित पति-पत्नी या उनके कोई कुटुम्बीजन यदि स्त्रीधन को खर्च करें तो उसे 'स्तेय' (चोरी) माना जाता था।

पति की मृत्यु हो जाने पर यदि स्त्री धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहे, तो यह आवश्यक था कि स्त्रीधन उसके सुपुर्द कर दिया जाए। इसी प्रकार यदि स्त्री पुनर्विवाह करना चाहे, तो भी उसका स्त्रीधन उसे प्रदान कर दिया जाता था।[५]

पुनर्विवाह की प्रथा भी मौर्य काल में प्रचलित थी। पुरुष और स्त्री–दोनों को ही पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के विषय में कौटल्य ने निम्नलिखित

---

१. **'सर्वेषां प्रीत्यारोपणमप्रतिषिद्धम्।' कौ. अर्थ. ३।२**

२. **'वृत्तिराबध्यं च स्त्रीधनम्। परद्विसहस्रा स्थाप्या वृत्तिः। आबध्यानियमः।' कौ. अर्थ. ३।२**

३. **'तदात्मपुत्र स्नुषाभर्मणि प्रावासाप्रतिविधाने च भार्याया भोक्तुमदोषः। प्रतिरोधक-व्याधि दुर्भिक्षभय प्रतीकारे धर्मकार्ये च पत्युः।' कौ. अर्थ. ३।२**

४. **कौ. अर्थ. ३।२**

५. **कौ. अर्थ. ३।२**

नियम प्रतिपादित किये हैं—यदि किसी स्त्री के आठ साल तक सन्तान उत्पन्न न हो या यदि स्त्री वन्ध्या हो, तो उसका पति आठ साल तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के सन्तान उत्पन्न तो होती हो, पर वह मरी हुई पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा की जाए। यदि स्त्री के केवल कन्याएँ ही उत्पन्न होती हों, तो बारह साल तक प्रतीक्षा की जाए। इस अवधि के अनन्तर पुत्र की इच्छा से पति दूसरा विवाह कर सकता है। यदि इस नियम का अतिक्रमण कर कोई पुरुष पुनर्विवाह करे, तो उसके लिए यह आवश्यक होगा कि विवाह के समय प्राप्त शुल्क, और स्त्रीधन के साथ-साथ समुचित 'आधिवेदनिक' (क्षतिपूर्ति का धन) भी अपनी पत्नी को प्रदान करे और साथ ही कम-से-कम चौवीस पण दण्ड भी[1]।

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी पुनर्विवाह कर सकती थीं। पति की मृत्यु हो जाने पर तो स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर ही सकती थीं। पर अनेक दशाओं में वे पति के जीवित होते हुए भी दूसरा विवाह करने का अधिकार रखती थीं। यदि स्त्री के कोई सन्तान न हो, और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो उसके लिये कम-से-कम एक वर्ष प्रतीक्षा करना आवश्यक था। पर यदि स्त्री के सन्तान हो, तो उसे अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी होती थी। यदि स्त्री के निर्वाह की व्यवस्था कर दी गई हो, तो उसके लिये दुगने समय तक प्रतीक्षा करना आवश्यक था। यदि परदेश गये हुए पति ने अपनी पत्नी के भरण-पोषण की कोई व्यवस्था न की हो, तो उसके निकट सम्बन्धियों से यह आशा की जाती थी, कि वे स्त्री का चार से आठ साल तक भरण-पोषण करेंगे। यह अवधि वीत जाने पर स्त्री को पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी।[2] पर इन नियमों के कतिपय अपवाद भी थे। यदि कोई ब्राह्मण विद्या के अध्ययन के लिये कहीं अन्यत्र गया हुआ हो, तो उसकी पत्नी के लिये यह नियम था कि सन्तान-विहीन होने की दशा में वह दस साल तक प्रतीक्षा करे और सन्तान होने पर बारह साल। इस अवधि के वीत जाने पर भी यदि पति वापस न लौट आए, तो स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। यदि राजपुरुष कहीं बाहर गया हुआ हो, तो उसकी पत्नी के लिये यह आवश्यक माना जाता था कि वह उसकी मृत्यु तक पुनर्विवाह न कर सके। पर पति के चिरकाल तक प्रवसित रहने की दशा में पत्नी को इस बात की अनुमति थी कि वह अपने पति के सवर्ण किसी अन्य व्यक्ति से सन्तान प्राप्त कर सके। ऐसा करना मौर्य युग में बदनामी (अपवाद) की बात नहीं समझी जाती थी।[3] इसी प्रकार के अन्य भी अनेक नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हैं। कम आयु की विवाहित स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह कर सकना बहुत सुगम था, उस दशा में जब कि पति विदेश चला गया हुआ हो। पति

---

१. कौ. अर्थ. ३।२

२. कौ. अर्थ. ३।४

३. 'ब्राह्मणमधीयमानं दशवर्षाण्यप्रजाताः, द्वादश प्रजाताः। राजपुरुषमायुः क्षयादाकाङ्क्षेत। सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभेत।' कौ. अर्थ. ३।४

यदि विदेश गया हुआ हो और उसका कोई भी समाचार प्राप्त न हो रहा हो, तो पत्नी के लिये केवल पाँच मास तक प्रतीक्षा करना पर्याप्त था। इस अवधि तक पति के वापस लौटने या उसका समाचार प्राप्त करने की प्रतीक्षा करके स्त्री धर्मस्थ की अनुमति से पुनर्विवाह कर सकती थी।[1] यदि पति चिरकाल के लिये विदेश चला गया हो, या उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो, और या उसकी मृत्यु हो गई हो, तो स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त हो जाता था। पुनर्विवाह के लिये यह अच्छा माना जाता था, कि स्त्री अपने पति के भाई या निकट सम्बन्धी या सगोत्र पुरुष को अपने पति के रूप में वरण कर ले। अन्य पुरुष से विवाह कौटल्य को अभिमत नहीं था।[2]

मौर्य युग में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। स्त्री और पुरुष दोनों को ही तलाक का अधिकार प्राप्त था। इस विषय में कौटल्य की निम्नलिखित व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं—

"यदि पति का चरित्र अच्छा न हो, यदि वह परदेश चला गया हो, यदि वह राजद्वेषी हो, यदि स्त्री को उससे प्राणों का भय हो, यदि वह पतित हो गया हो और या यदि वह नपुंसक हो, तो पत्नी उसका परित्याग कर सकती है।[3]"

"यदि स्त्री पति के प्रति विद्वेष (घृणा) रखती हो, तो वह उस (पति) की इच्छा के विरुद्ध तलाक नहीं कर सकती। इसी प्रकार स्त्री से द्वेष (घृणा) करता हुआ पति उस (स्त्री) की इच्छा के विरुद्ध तलाक नहीं कर सकता। पर पारस्परिक द्वेष (घृणा) से मोक्ष (तलाक) हो सकता है।[4]"

"यदि स्त्री से तंग आकर पुरुष उससे छुटकारा पाना चाहे, तो जो धन स्त्री पक्ष से उसे प्राप्त हुआ हो, वह उसे वापस लौटा देना होगा। परन्तु यदि स्त्री पति से तंग आकर उससे छुटकारा पाना चाहे, तो उसका धन उसे नहीं लौटाया जायगा।[5]"

पर इस प्रसङ्ग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि तलाक की अनुमति पिछले चार प्रकार के विवाहों (गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच) में ही दी जा सकती थी। पहले

---

१. 'अन्ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टाः यथेष्टं विन्देत' कौ० अर्थ ३।४

२. 'दीर्घप्रवासिनः प्रव्रजितस्य प्रेतस्य वा भार्या सप्ततीर्थान्याकाङ्क्षेत। संवत्सरं प्रजाता। ततः पतिसोदर्यं गच्छेत्। कौ. अर्थ. ३।४

३. 'नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीवोऽपि वा पतिः।' कौ. अर्थ. ३।२

४. 'अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या। भार्यायाश्च भर्ता। परस्परं द्वेषान्मोक्षः।' कौ. अर्थ. ३।३

५. 'स्त्रीविप्रकाराद्वा स्त्री चेन्मोक्षमिच्छेत् यथागृहीतमस्यै दद्यात् पुरुषविप्रकाराद्वा पुरुषश्चेन्मोक्षमिच्छेत नास्यै यथागृहीतं दद्यात्।' कौ. अर्थ. ३।३

चार प्रकार के 'धर्म्य' विवाहों में तलाक की अनुमति नहीं थी,[1] यद्यपि उनमें भी विशेष अवस्थाओं (यथा पति के चिरकाल तक प्रवासित रहने या उसके नपुंसक होने आदि) में स्त्री को पुनर्विवाह कर लेने या नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकने का अवसर था।

यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र में स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान की गई है, और पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी का पुनर्विवाह कर लेना सर्वथा समुचित माना गया है, पर फिर भी मौर्य युग में ऐसी विधवाओं की सत्ता थी, जो पुनर्विवाह न करके स्वतन्त्र रूप से जीवन बिताया करती थीं। कौटल्य ने ऐसी स्त्रियों को 'छन्दवासिनी (स्वतन्त्र रूप से रहनेवाली) विधवा' कहा है।[2] सम्भवतः, ऐसी स्त्रियाँ पुनर्विवाह न कर स्वतन्त्र जीवन बिताना पसन्द करती थीं, जो कि सम्पन्न हों। कौटल्य ने इनके लिये 'आढ्यविधवा' संज्ञा का प्रयोग किया है।[3] विशेष परिस्थितियों में राज्य को जब धन की असाधारण रूप से आवश्यकता होती थी तो अनेकविध उपायों से इन आढ्य विधवाओं से भी धन की प्राप्ति की जाती थी। गुप्तचर इनसे धन प्राप्ति के ऐसे उपायों का भी प्रयोग करते थे, जिन्हें सामान्य दशा में समुचित नहीं समझा जा सकता।[4]

स्त्रियों का जीवन केवल विवाह करके सन्तानोत्पत्ति ही नहीं था। कौटलीय अर्थशास्त्र में परिव्राजिकाओं का भी उल्लेख किया गया है, जिन्हें समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था। कौटल्य ने इनके साथ 'कृतसत्कारा' विशेषण का प्रयोग किया है।[5] परिव्राजिकाओं का उपयोग गुप्तचर विभाग में भी किया जाता था, और कौटल्य ने इसी प्रसंग में उन्हें निर्दिष्ट किया है।

वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में जो चित्र कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह स्मृतिग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में निरूपित जीवन से बहुत भिन्न है। तलाक, नियोग और पुनर्विवाह के सम्बन्ध में जो विस्तृत परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य युग में पुनर्विवाह बहुत प्रचलित था, और विवाह-सम्बन्ध का उच्छेद कर सकना भी कठिन नहीं था। परिवार में स्त्री की स्थिति पर्याप्त रूप से सुरक्षित थी, क्योंकि स्त्रीधन पर उसका पूर्णरूप से स्वत्व माना जाता था, और उसका उपयोग स्त्री अपने और अपनी सन्तान के भरण-पोषण के लिये कर सकती थी। पतिकुल के अन्य व्यक्तियों का उस पर अधिकार नहीं माना जाता था।

मौर्य युग में स्त्रियों की स्थिति को उन्नत नहीं कहा जा सकता। विवाहित स्त्रियों को घर से बाहर जाने-आने की स्वतन्त्रता उस काल में प्राप्त नहीं थी। उन्हें प्रायः घर में

१. 'अमोक्षो धर्मविवाहानामिति।' कौ. अर्थ. ३।३
२. कौ. अर्थ. ३।२०
३. कौ. अर्थ. १।१८
४. कौ. अर्थ. १३।२
५. कौ. अर्थ. १।१२

ही रहना होता था, और पति की इच्छा के विरुद्ध वे कार्य नहीं कर सकती थीं। कौटल्य ने लिखा है—यदि कोई स्त्री अपने पति के कुल (घर) से बाहर जाए, तो उसे छः पण दण्ड दिया जाए। पर यदि पतिकुल से बाहर जाने का कारण विप्रकार (पति से विद्वेष या विरोध) हो, तो स्त्री इस दण्ड की भागी नहीं होगी। यदि पति ने स्त्री को कहीं बाहर जाने से रोका हुआ हो, और वह फिर भी (पति के आदेश के विरोध में) घर से बाहर जाए, तो उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। यदि स्त्री पड़ोसी घर से परे चली जाए, तो उसे छः पण का दण्ड दिया जाए।[1] इस व्यवस्था से सूचित होता है, कि स्त्रियाँ घर में बन्द होकर ही रहा करती थीं, और पति या अन्य स्वजनों की अनुमति के बिना वे पड़ोसी घर से परे तक भी नहीं आ-जा सकती थीं। इतना ही नहीं, स्त्रियों को यह भी अनुमति नहीं थी, कि वे अपने पड़ोसी, भिक्षुक या सौदागर को भी अपने घर के भीतर आने दें। कौटल्य ने लिखा है, कि यदि कोई स्त्री पड़ोसी को अपने घर में आने दे, या किसी भिक्षुक को घर बुलाकर भिक्षा प्रदान करे, या किसी सौदागर से घर के भीतर सौदा ग्रहण करे, तो उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। यदि पति ने स्त्री को ऐसा करने से रोका हुआ हो, और वह फिर भी ऐसा करे, तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाय।[2] केवल स्त्री का अपने घर से बाहर जाना ही निषिद्ध नहीं था, अपितु वह किसी स्त्री तक को (विपत्ति की दशा के अतिरिक्त) अपने घर में आने नहीं दे सकती थी। दूसरे की पत्नी को अपने घर में आने देने पर उसके लिये १०० पण दण्ड का विधान था।[3]

स्त्रियों को किस अंश तक स्वतन्त्रता प्राप्त रहे, इस प्रश्न पर कौटलीय अर्थशास्त्र में विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में कौटल्य ने पुराने आचार्यों का यह मत उद्धृत किया है—यदि कोई स्त्री अपने पति के निकट सम्बन्धी, सुखावस्थ (सुख समृद्धि से युक्त व्यक्ति), गामिक (ग्राम के मुखिया), अन्वाधि (संरक्षक), भिक्षुकी कुल (भिक्षुणी स्त्री के परिवार से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष) या ज्ञाति (अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले परिवार का पुरुष) के पास जाए, तो इसमें कोई दोष नहीं है। पर कौटल्य पुराने आचार्यों के इस मत से सहमत नहीं थे। उनका कथन था, कि यह जान सकना सुगम नहीं है, कि अपने ज्ञातियों तक के परिवार में कौन-से पुरुष सन्देह से ऊपर हैं या विश्वास के योग्य हैं। कौटल्य को केवल यह स्वीकार्य था, कि स्त्रियाँ अपने ज्ञातियों के कुल में भी केवल उस दशा में जा सकती हैं, जब कि वहाँ कोई मृत्यु हो गई हो, या कोई रोगी हो, या उस पर कोई

---

१. 'पतिकुलान्निष्पतितायाः स्त्रियाष्षट्पणो दण्डोऽन्यत्र विप्रकारात्।
प्रतिषिद्धायां द्वादशपणः। प्रतिवेशगृहातिगतायाष्षट्पणः।' कौ. अर्थ. ३।४

२. 'प्रातिवेशिकभिक्षुकवैदेहकानामवकाशभिक्षापण्यादाने द्वादशपणो दण्डः। प्रतिषिद्धानां पूर्वः साहसदण्डः।' कौ. अर्थ. ३।४

३. 'परभार्यावकाशदाने शत्यो दण्डोऽन्यत्रापद्भ्यः।' कौ. अर्थ. ३।४

विपत्ति आ गई हो, या वहाँ कोई बच्चा होने वाला हो।[1] ऐसे अवसरों पर स्त्री को अपने ज्ञातिकुल में जाने से नहीं रोका जाता था। यदि कोई रोके, तो उसे बारह पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। तीर्थ यात्रा आदि के प्रयोजन से स्त्रियों को घर से बाहर जाने की अनुमति प्राप्त थी।[2]

कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित ये तथा इसी प्रकार के अन्य नियम यह प्रगट करने के लिये पर्याप्त हैं, कि मौर्य युग में विवाहित स्त्रियों को अनेकविध बन्धनों में रहना पड़ता था। परदे की प्रथा इस काल में थी या नहीं, यह निश्चित कर सकना कठिन है। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक स्थान पर स्त्रियों के लिए 'अनिष्कासिनीनां' (न निकलने वाली) विशेषण का प्रयोग किया गया है।[3] इससे यह सूचित होता है, कि मौर्य युग में स्त्रियाँ प्रायः घर के अन्दर ही रहा करती थीं। पर-पुरुषों से मिलना-जुलना भी उनके लिये निषिद्ध था। पर वे परदे में भी रहती थीं, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में नहीं मिलता।

मौर्य युग में विवाह के लिए कौन-सी आयु उपयुक्त समझी जाती थी, इस सम्बन्ध में भी कुछ सूचनाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। कौटल्य ने लिखा है, कि स्त्री बारह साल की आयु में 'प्राप्तव्यवहार' (वयस्क या बालिग) हो जाती है, और पुरुष सोलह साल की आयु में।[4] सम्भवतः, इस आयु से पूर्व स्त्री या पुरुष को विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

कौटल्य की सम्मति में स्त्रियों का मुख्य प्रयोजन सन्तान की उत्पत्ति ही था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। अतः यह कल्पना कर सकना असंगत नहीं है, कि मौर्य युग में स्त्रियाँ प्रायः विवाह करके परिवार में ही जीवन व्यतीत किया करती थीं। पर इस काल में ऐसी स्त्रियों की भी सत्ता थी, जो गणिका, रूपाजीवा, दासी आदि के रूप में जीवन निर्वाह किया करती थीं, और जिनसे राज्य का गुप्तचर विभाग अनेकविध कार्य लिया करता था। राज्य के गुप्तचर विभाग में इन स्त्रियों का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था। स्वतन्त्र रूप से इस प्रकार के धन्धे करनेवाली स्त्रियों पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

---

१. "पतिज्ञातिसुखावस्थग्रामिकान्वाधिभिक्षुकीज्ञातिकुलानामन्यतमं पुरुषं गन्तुमदोषः" इत्याचार्याः। सपुरुषं वा ज्ञातिकुलं कुतो हि साध्वीजनस्य छलं सुखमेतदवबोद्धुम्" इति कौटल्यः। प्रेतव्याधिव्यसनगर्भनिमित्तमप्रतिषिद्धमेव ज्ञातिकुलगमनम्। कौ. अर्थ. ३।४

२. कौ. अर्थ. ३।४

३. कौ. अर्थ. ३।१

४. 'द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति। षोडशवर्षः पुमान्।' कौ. अर्थ. ३।२

सती की प्रथा भारत में चिरकाल से रही है। मौर्य युग में यह प्रथा थी या नहीं, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। पर ग्रीक विवरणों द्वारा इस काल में इस प्रथा की सत्ता सूचित होती है। डायोडोरस के अनुसार ३१६ ई० पू० में जब ईरान के एक युद्ध में एक भारतीय सेनापति की मृत्यु हो गई, तो उसकी दोनों पत्नियों ने सती होने की इच्छा प्रगट की। वड़ी पत्नी के सन्तान थी, अतः ग्रीक सेनापतियों ने उसे अपने पति के शव के साथ सती नहीं होने दिया। पर उन्होंने दूसरी पत्नी को सती हो जाने की अनुमति प्रदान कर दी। इस स्त्री को उस ढंग से वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत किया गया, जैसे कि विवाह के समय किया जाता है। जब वह पति की चिता के समीप पहुँची, तो उसने अपने सब आभूषण उतार दिये, और उन्हें अपने परिजनों में बाँट दिया। इसके पश्चात् उसने अपने सब सम्बन्धियों और परिजनों से विदा ली, और वह चिता पर चढ़ कर अपने पति की बगल में लेट गई। सारी सेना ने तीन बार चिता की परिक्रमा की, और उसके बाद चिता को आग लगा दी गई। जब अग्नि उस स्त्री के पास पहुँची, तो उसने जरा भी निर्बलता या कष्ट प्रदर्शित नहीं किया, और वह प्रसन्नतापूर्वक अपने पति के साथ भस्म हो गई।[1]

महाभारत के अनुसार माद्री अपने पति पाण्डु के साथ सती हुई थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि भारतीय जनता के कतिपय वर्गों में यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल में भी प्रचलित थी। अतः यह सर्वथा सम्भव है, कि मौर्य युग में भी सती प्रथा भारत के कतिपय प्रदेशों तथा वर्गों में विद्यमान हो।

(३) चार आश्रम

कौटलीय अर्थशास्त्र में जैसे मानव समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है, वैसे ही मानव जीवन के चार विभाग किये गये हैं, जिनकी संज्ञा 'आश्रम' थी। ये आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक (संन्यास) हैं। कौटल्य ने इन चार आश्रमों के कार्य या 'स्वधर्म' इस प्रकार निरूपित किये हैं—ब्रह्मचारी के स्वधर्म स्वाध्याय, अग्निकार्य (यज्ञ), अभिषेक, भैक्षव्रत (भिक्षा द्वारा निर्वाह), आचार्य (गुरु) के प्रति प्राणान्तिकी (चाहे उसमें प्राण तक क्यों न चले जाएँ) वृत्ति (सेवा या भक्ति) हैं। आचार्य के अभाव में ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक समझा जाता था, कि वह गुरुपुत्र या अपने सब्रह्मचारी (सहपाठी) के प्रति यही वृत्ति रखे। गृहस्थ के स्वधर्म अपने कर्म (पेशे या धन्धे) द्वारा आजीविका कमाना, तुल्य स्थिति के ऐसे परिवार में विवाह करना जिसका ऋषि (गोत्र) अपने परिवार के ऋषि से भिन्न हो, ऋतुगामित्व (पत्नी के साथ मासिक धर्म के पश्चात्

---

१. The Age of Imperial Unity (Bharatiya Vidya Bhawan) pp 567-568

सहवास) और देवता, पितर, अतिथि तथा भृत्यों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने में अपनी आमदनी का व्यय करना, और इसके पश्चात् जो शेष बचे उससे अपना निर्वाह करना है। वानप्रस्थ के स्वधर्म ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना, भूमि पर शयन करना, जटा धारण करना, अजिन (मृगचर्म) ओढ़ना, अग्निहोत्र तथा अभिषेक करना, देवता, पितर तथा अतिथियों की पूजा करना और वन्य आहार (जंगल से प्राप्त होने वाले भोज्य पदार्थों) द्वारा निर्वाह करना है। परिव्राजक के स्वधर्म इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना, अनारम्भ (कोई भी पेशा या धन्धा न करना), निष्किञ्चनत्व (कोई भी सम्पत्ति न रखना), सङ्गत्याग (किसी की भी संगति न करना या अन्य लोगों के साथ मिलकर न रहना), अनेक स्थानों से भिक्षा ग्रहण कर निर्वाह करना, जंगल में निवास करना तथा बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता रखना हैं।[1] कौटल्य ने जिस ढंग से चारों आश्रमों के कार्यों या स्वधर्म का निरूपण किया है, वह स्मृतिग्रन्थों से अनेक अंशों में भिन्न है। कौटल्य की दृष्टि में गृहस्थ आश्रम का महत्त्व बहुत अधिक था। इसीलिये उन्होंने सबसे पूर्व गृहस्थ के स्वधर्म का ही प्रतिपादन किया है। उनकी सम्मति में जैसे प्रत्येक मनुष्य को अपने वर्ण के स्वधर्म में स्थिर रहना चाहिये,वैसे ही यह भी आवश्यक है कि सब कोई अपने-अपने आश्रम-धर्म का भी अविकल रूप से पालन करें। स्वधर्म का पालन करना कौटल्य की सम्मति में बहुत उपयोगी है, और राज्यसंस्था का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है, कि वह सबको वर्णधर्म और आश्रम धर्म में स्थित रखे। प्रत्येक मनुष्य के लिये यह आवश्यक समझा जाता था, कि वह सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन में व्यापृत रहे, और इस प्रकार अपने शरीर मन तथा बुद्धि को भली भाँति विकसित कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे।[2] गृहस्थ की अनेकविध उत्तरदायिताएं होती थी। न केवल अपनी पत्नी और सन्तान का पालन करना ही उसका कर्तव्य था,पर उसके लिये यह भी आवश्यक था कि वह अपनी माता, पिता, नाबालिग भाई बहन और अपने परिवार की विधवा स्त्रियों का भी भरण-पोषण करे। जो ऐसा न करे,उसके लिये बारह पण दण्ड का विधान था।[3]

कौटल्य ने इस बात पर बहुत जोर दिया है, कि कोई भी मनुष्य अपने इन कर्तव्यों की उपेक्षा न कर सके। इसी कारण उन्होंने यह व्यवस्था की है, कि यदि कोई मनुष्य अपनी पत्नी और सन्तान के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था किये बिना ही प्रव्रज्या ग्रहण करे (परिव्राजक बने), तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाए। यही दण्ड उस व्यक्ति के लिये भी है, जो किसी स्त्री को प्रव्रज्या दे।[4] केवल ऐसे मनुष्य ही परिव्राजक बन सकें, जिनकी सन्तान

---

१. कौ. अर्थ. १।३
२. 'ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात् । अतो गोदानं दारकर्म च ।' कौ. अर्थ. १।४
३. 'अपत्यदारं मातापितरौ भ्रातॄनप्राप्तव्यवहारान् भगिनीः कन्या विधवाश्चाबिभ्रतः शक्तिमतो द्वादशपणो दण्डः।' कौ. अर्थ. २।१
४. 'पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वस्साहस दण्डः, स्त्रियं च प्रव्राजयतः।' कौ. अर्थ. २।१

उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई हो, और जिन्होंने धर्मस्थों (धर्मस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों) से परिव्राजक होने की अनुमति प्राप्त कर ली हो। जो ऐसा न करे, उसे दण्ड दिया जाए।[1] साथ ही, कौटल्य ने यह भी व्यवस्था की है, कि कोई ऐसे परिव्राजक जनपदों में न आने दिये जाएँ, जिन्होंने कि वानप्रस्थ हुए बिना प्रव्रज्या ग्रहण की हो।[2] मौर्य-युग से कुछ समय पूर्व छठी सदी ई०पू० में भारत में अनेक नये धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनमें बौद्ध, जैन और आजीवक प्रधान थे। इन धर्मों के अनुयायी प्राचीन आश्रम-मर्यादा का पालन नहीं करते थे। आर्य शास्त्रों के अनुसार चार आश्रम मानव जीवन की चार सीढ़ियों के समान हैं। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के अनन्तर ही युवक और युवतियाँ गृहस्थ होने के अधिकार प्राप्त करते हैं। पर मनुष्य को अपना सारा जीवन गृहस्थ आश्रम में ही नहीं बिता देना चाहिये। परिवार के प्रति कर्तव्यों का पालन कर चुकने के पश्चात् मनुष्य को वानप्रस्थी भी बनना चाहिये और अन्त में संन्यास लेकर अकिंचन वृत्ति स्वीकार करनी चाहिये। पर बौद्ध सदृश सम्प्रदायों के अनुयायी इस आश्रम मर्यादा का पालन नहीं करते थे। बौद्ध लोग किसी भी आयु में प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु बन सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि हजारों लाखों किशोर वय के व्यक्ति भिक्षु बनकर जीवन व्यतीत करने लगे, और उन्होंने गृहस्थ धर्म की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। प्राचीन सनातन पौराणिक धर्म के अनुयायियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा, और धर्मसूत्रों के आचार्यों ने भी यह व्यवस्था कर दी, कि जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाए, मनुष्य परिव्राजक बन जाए, चाहे वह ब्रह्मचर्य आश्रम में हो और चाहे गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम में।[3] पर यह बात कौटल्य को पसन्द नहीं थी। इसी कारण उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि केवल ऐसे मनुष्य ही परिव्राजक बन सकें, जिन्होंने कि अपनी सन्तान, पत्नी और अपने सब कुटुम्बी जनों के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था कर दी हो, जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो चुकी हो, और जिन्होंने प्रव्रज्या लेने के लिए धर्मस्थ से अनुमति प्राप्त कर ली हो।

कौटल्य को स्त्रियों का परिव्राजिका बनना भी पसन्द नहीं था। मौर्ययुग से पूर्व बहुत-सी स्त्रियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बनना प्रारम्भ कर दिया था, और भिक्षुणिओं के पृथक् संघ स्थापित हो गये थे। इस दशा में कौटल्य को यह व्यवस्था करने की आवश्यकता हुई थी, कि यदि कोई स्त्रियों को परिव्राजिका बनाए, तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाए। पर इस व्यवस्था के होते हुए भी मौर्ययुग में परिव्राजिकाओं का सर्वथा अभाव नहीं था।

---

१. 'लुप्तव्यवायः प्रव्रजेदापृच्छ्य धर्मस्थान्। अन्यथा नियम्येत।' कौ. अर्थ. २।१

२. 'वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजितभावः. . .नास्य जनपदमुपनिवेशेत।' कौ. अर्थ. २।१

३. 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव वा परिव्रजेत्।' आपस्तम्ब धर्मसूत्र

कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसी परिव्राजिकाओं का उल्लेख आया है, जिनका उपयोग गूढ़-पुरुष या गुप्तचर के रूप में किया जाता था।[१]

(४) गणिकाएँ और रूपाजीवाएँ

मौर्ययुग में बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी भी होती थीं, जो विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिता कर गणिका, वेश्या या रूपाजीवा के रूप में स्वतन्त्र रूप से जीवन-यापन किया करती थीं। इन स्त्रियों को मुख्यतया तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, राजकीय सेवा में कार्य करनेवाली स्त्रियाँ जिन्हें 'गणिका' कहते थे, रूपाजीवाएँ जो स्वतन्त्ररूप से पेशा करती थीं, और ऐसी स्त्रियाँ जो गुप्तचर के रूप में कार्य करती थीं। इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा परिचय प्राप्त होता है।

मौर्य राजाओं के राजप्रासाद अत्यन्त विशाल होते थे। उनमें हजारों स्त्री-पुरुष निवास करते थे, जो राजा और उसके परिजनों की विविध प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करते थे। राजा के मनोरञ्जन के लिये बहुत-सी गणिकाएँ भी वहाँ निवास करती थीं। गणिकाध्यक्ष संज्ञक राजपदाधिकारी द्वारा एक प्रधान गणिका की नियुक्ति की जाती थी, जो रूपवती, युवती और शिल्प-सम्पन्ना (नृत्य, संगीत, वादन आदि शिल्पों में निपुण) होती थी। यह आवश्यक नहीं था, कि यह गणिका-परिवार में ही उत्पन्न हुई हो। ऐसी स्त्री को भी प्रधान गणिका के पद पर नियुक्त किया जा सकता था, जो गणिका-परिवार में उत्पन्न न हुई हो। इसे एक हजार पण वार्षिक वेतन प्रदान किया जाता था।[२] प्रधान गणिका के अतिरिक्त एक प्रतिगणिका की भी नियुक्ति की जाती थी, जिसका वेतन ५०० पण वार्षिक होता था।[३] इन दो प्रमुख गणिकाओं के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी गणिकाएँ राजा की सेवा के लिये रहती थीं, जिन्हें उत्तम, मध्य और कनिष्ठ वर्गों में विभक्त किया जाता था। गणिकाओं का यह वर्गीकरण उनके रूप, यौवन और अलङ्करण आदि को दृष्टि में रख कर किया जाता था। इन सबको भरपूर वेतन मिलता था, और ये राजा के छत्र, भृङ्गार (सुवर्ण कलश) और व्यजन (पंखा) को धारण करती थीं, और राजा की शिविका (पालकी), रथ तथा पीठिका (गद्दी) के साथ-साथ रहती थीं।[४] आठ साल की आयु से

---

१. कौ. अर्थ. १।१२

२. 'गणिकाध्यक्षः गणिकान्वयामगणिकान्वयां वा रूपयौवनशिल्पसम्पन्नां सहस्रेण गणिकां कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२७

३. 'कुडुम्बार्धेन प्रतिगणिकाम्।' कौ. अर्थ. २।२७

४. 'सौभाग्यालङ्कारवृद्ध्या सहस्रेण वारं कनिष्ठं मध्यमुत्तमं वाऽऽरोपयेत्। छत्र-भृङ्गारव्यजनशिविकापीठिकारथेषु च विशेषार्थम्।' कौ. अर्थ. २।२७

ही इन्हें राजकीय सेवा में नियुक्त कर दिया जाता था, और तभी से ये राजदरबार में नृत्य, गायन आदि के कार्य प्रारम्भ कर देती थीं।[१]

जब कोई गणिका अपना रूप यौवन खो देती थी, तो उसे कोष्ठागार या महानस (रसोईघर) में कार्य करने के लिये भेज दिया जाता था, या उससे मातृका (परिचारिका) का कार्य लिया जाने लगता था।[२] गणिकाओं की रक्षा पर राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी गणिका की माता, दुहिता या रूपदासी को क्षति पहुँचाए, तो उसके लिए उत्तम साहस दण्ड का विधान था।[३] यह अपराध बार-बार करने पर दण्ड की मात्रा अधिक कर दी जाती थी।

राजा द्वारा गणिकाओं को अन्य पुरुषों के साथ भोग करने का भी आदेश दिया जा सकता था। यदि कोई गणिका राजाज्ञा से किसी पुरुष के पास जाने से इन्कार करे, तो उसके लिये अत्यन्त कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। यह दण्ड या तो एक सहस्र शिफा (कोड़ों) का होता था, और या पाँच हजार पण जुरमाने का।[४]

जो स्त्रियाँ राजकीय सेवा में न रहती हुई स्वतन्त्र रूप से पेशा करती थीं, उन्हें रूपाजीवा (रूप द्वारा आजीविका कमाने वाली) कहते थे। उन्हें अपनी दैनिक आमदनी का दुगना मासिक रूप से राज्य को प्रदान करना होता था।[५] राज्य की ओर से एक पृथक् पुरुष (राज-पुरुष) इस कार्य के लिये नियुक्त किया जाता था, कि वह इन रूपाजीवाओं की आमदनी, स्थिति आदि का परिज्ञान रखे। रूपाजीवाओं का यह कर्तव्य माना जाता था, कि वे अपनी आमदनी आदि के सम्बन्ध में इस राजपुरुष को सूचना देती रहें।[६]

रूपाजीवाओं के लिये यह आवश्यक समझा जाता था, कि वे गीत (गायन), वाद्य (वादन), पाठ्य (पढ़ने), नृत्य, नाट्य, अक्षर (लिखने), चित्र (चित्रकारी करने), वीणा, वेणु और मृदङ्ग को बजाने, पर-चित्त-ज्ञान (दूसरों के मनोभावों को समझने), गन्ध और माल्य (विविध प्रकार की सुगन्धियों का प्रयोग करने और मालाएँ बनाने), केशविन्यास, दूसरों को आकृष्ट करने और उनके मन को अपने में केन्द्रित करने की कलाओं में प्रवीण

---

१. 'अष्टवर्षात्प्रभृति राज्ञः कुशीलवकर्म कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।२७

२. 'गणिका दासी भग्नभोगा कोष्ठागारे महानसे वा कर्म कुर्यात्। सौभाग्यभङ्गे मातृकां कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।२७

३. 'मातृकादुहितृकारूपदासीनां घात उत्तमस्साहस दण्डः।' कौ. अर्थ. २।२७

४. 'राज्ञाज्ञया पुरुषमनभिगच्छन्ती गणिका शिफासहस्रं लभेत, पञ्चसहस्रं वा दण्डः।' कौ. अर्थ. २।२७

५. 'रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः।' कौ. अर्थ. २।२७

६. 'गणिका भोगमायतिं पुरुषं च निवेदयेत्।' कौ. अर्थ. २।२७

हों।[1] उनका प्रधान कार्य नृत्य, नाट्य, संगीत आदि द्वारा लोगों का मनोरञ्जन करना होता था, यद्यपि वे भोग के लिये अपने शरीर को भी उनके अर्पित किया करती थीं।

रूपाजीवाएं अपना पेशा करती हुईं किन व्यवस्थाओं की अधीन रहती थीं, इस विषय में भी कतिपय निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। जब कोई रूपाजीवा किसी पुरुष से भोग–शुल्क प्राप्त कर ले, पर उसके प्रति विरोध भाव प्रदर्शित करे, तो उस पर उस धनराशि से दुगना जुरमाना किया जाता था, जोकि उसने भोगशुल्क के रूप में प्राप्त की हो। यदि रूपाजीवा पुरुष से भोगशुल्क प्राप्त कर लेने पर और उसके घर आजाने पर उसे भोग न करने दे, तो उसे भोगशुल्क का आठ गुना जुरमाना देना होता था। पर यदि रूपाजीवा पुरुष के रुग्ण होने के कारण या उसमें पौरुष का अभाव होने के कारण उससे भोग करने से इन्कार करे, तो वह दण्डनीय नहीं होती थी।[2] यदि कोई पुरुष रूपाजीवा को निर्धारित भोगशुल्क प्रदान न करे, या रूपाजीवा के पास आकर उसके आभूषणों या धन की चोरी करे, तो उसे भी दण्ड दिया जाता था, और इस दण्ड की मात्रा भोगशुल्क या चोरी किये गये द्रव्य से आठ गुणा होती थी।[3] रूपाजीवा की इच्छा के विरुद्ध उससे भोग करने का प्रयत्न करने पर और उसे किसी प्रकार से क्षति पहुँचाने पर भी पुरुष के लिये अनेकविध दण्डों का विधान था।

मौर्य युग के नगरों में रूपाजीवाओं के लिये पृथक् रूप से स्थान सुरक्षित रखा जाता था। कौटल्य ने लिखा है, कि रूपाजीवाएँ, नाचने गाने वाले और वेश्याएँ नगर के दक्षिणी भाग में निवास करें। नगर के इसी भाग में पक्वान्न, सुरा (शराब) और मांस की दूकानों के लिये भी स्थान रखा गया है।[4] सेना के स्कन्धावारों (छावनियों) तक में रूपाजीवाओं को स्थान दिया जाता था।[5] रूपाजीवाएँ अकेली रह कर ही अपना पेशा नहीं करती थीं, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में उस प्रकार के संगठन भी विद्यमान थे, जिन्हें वर्तमान समय में चकला कहते हैं। इनके सञ्चालकों को 'बन्धकिपोषक' कहा जाता था। कोश के क्षीण हो जाने पर राजा किन विविध उपायों द्वारा कोश की वृद्धि करे, इसका निरूपण करते

---

१. 'गीतवाद्यपाठयनृत्तनाट्याक्षर चित्र वीणावेणु मृदङ्ग परचित्तज्ञान गन्ध माल्य संमूहन-संपादन संवाहन वैशिक कलाज्ञानानि गणिका दासी...ग्राहयतो राजमण्डलादाजीवं कुर्यात्।' कौ. अर्थ. २।२७

२. 'भोगं गृहीत्वा द्विषत्या भोग द्विगुणो दण्डः। वसति भोगापहारे भोगमष्टगुणं दद्यात् अन्यत्र व्याधिपुरुषदोषेभ्यः।' कौ. अर्थ. २।२७

३. 'गणिकाऽऽभरणार्थं भोगं वाऽपहरतोऽष्टगुणोदण्डः।' कौ. अर्थ. २।२७

४. 'पक्वान्नसुरामांसपण्याः रूपाजीवास्तालापचारा वेश्याश्च दक्षिणां दिशमधिवसेमुः।' कौ. अर्थ. २।४

५. 'रूपाजीवाश्चानुमहापथम्।' कौ. अर्थ. १०।१

हुए कौटल्य ने लिखा है कि बन्धकिपोषक राजप्रेष्या (जो राजा की सेवा के लिये भेजी जाने योग्य हों), परमरूप यौवना (अत्यन्त रूपवती और यौवन सम्पन्न) रूपाजीवाओं द्वारा कोश एकत्र कराएँ।[1] इसी प्रकार संघ-जनपदों के संघ-मुख्यों में किस प्रकार भेद उत्पन्न किए जाएँ, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कौटलीय अर्थशास्त्र में यह कहा गया है, कि बन्धकिपोषक परमरूप यौवना स्त्रियों द्वारा संघ-मुख्यों को उन्मत्त करें।[2] इससे यह सूचित होता है, कि बन्धकिपोषक संज्ञक व्यक्ति बहुत-सी रूपाजीवाओं को अपने पास रखा करते थे, और उनसे पेशा कराया करते थे।

राज्य की सेवा में जो गणिकाएँ होती थीं, उनकी स्थिति प्रायः दासियों के सदृश हुआ करती थी। उन्हें जीवनपर्यन्त राज्य की सेवा में ही रहना पड़ता था। पर धन देकर उनके लिये स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकना भी सम्भव था। गणिका चौबीस हजार पण देकर अपनी स्वतन्त्रता खरीद सकती थी।[3] गणिकाओं की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जो इतनी अधिक कीमत निर्धारित की गई है, उससे यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है, कि उनकी आमदनी बहुत अधिक होती थी।

मौर्य युग में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग भी था, जिसे मदिरा के व्यापारी अपने पानागारों में आगन्तुकों की सेवा के लिये रखा करते थे। कौटल्य ने इन्हें 'पेशलरूपा दासी' की संज्ञा दी है। सम्भवतः, ये भी एक प्रकार की रूपाजीवाएँ ही होती थीं, जो मद्यपान के लिये आये हुए पुरुषों की सेवा और मनोरञ्जन का कार्य करती थीं। इनसे गुप्तचर का कार्य भी लिया जाता था। जब मद्यपान करने वाले लोग सुरा के प्रभाव से बेसुध हो जाते थे, तो ये उनके मनोभावों का पता लगाया करती थीं।[4]

मौर्यों के शासन में गुप्तचरों (गूढ़ पुरुषों) का स्थान बड़े महत्त्व का था। इनके सम्बन्ध में हमने अन्यत्र विशद रूप से विचार किया है। बहुत-सी स्त्रियाँ भी परिव्राजिका, दासी, भिक्षुणी, नर्तकी आदि के वेश बनाकर गुप्तचर विभाग में कार्य करती थीं। हमें यहाँ इन पर पृथक् रूप से प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है।

(५) तमाशे तथा आमोद-प्रमोद

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्य युग में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जिनका कार्य जनता का मनोरंजन करना और तमाशे दिखाना था। इनके वर्ग निम्न

---

१. 'बन्धकिपोषका राजप्रेष्याभिः परमरूपयौवनाभिः कोशं संहरेयुः।' कौ. अर्थ. ५।२

२. 'बन्धकिपोषकाः...स्त्रीभिः परमरूपयौवनाभिस्सङ्घमुख्यानुन्मादयेयुः।' कौ. अर्थ. ११।१

३. 'निष्क्रयश्चतुर्विंशतिसाहस्रो गणिकायाः।' कौ. अर्थ. २।२७

४. 'वणिजस्तु संवृत्तेषु कक्ष्याविभागेषु स्वदासीभिः पेशलरूपाभिरागन्तूनामवास्तव्यानां च आर्यरूपाणां मत्तसुप्तानां भावं विद्युः।' कौ. अर्थ. २।२५

लिखित थे--(१) नट-नाटक करनेवाले, (२) नर्तक-नाचने वाले, (३) गायक-गाने-वाले, (४) वादक-वाजा वजाने वाले, (५) वाग्जीवन-विविध प्रकार की वोलियाँ वोल कर अपनी वाणी द्वारा लोगों का मनोरञ्जन करने वाले, (६) कुशीलव-तमाशा दिखाने वाले, (७) प्लवक-रस्से पर नाचने वाले, (८) सौभिक-मदारी, और (९) चारण।[1]

ये सब गाँवों और नगरों में जाकर अपने-अपने शिल्प का प्रदर्शन किया करते थे। तमाशा (प्रेक्षा) दिखाने के लिये इन्हें पाँच पण प्रेक्षावेतन (तमाशे का शुल्क) देना होता था।[2] बहुधा प्रेक्षाओं की व्यवस्था लोगों द्वारा सामूहिक रूप से की जाती थी। इस दशा में प्रेक्षा के खर्च को पूरा करने के लिये सब कोई अंश प्रदान किया करते थे। जो प्रेक्षा के खर्च का अंश प्रदान नहीं करता था, वह न स्वयं प्रेक्षा देख सकता था, और न उसके स्वजन ही प्रेक्षा को देखने के लिये उपस्थित हो सकते थे। यदि कोई प्रच्छन्न रूप से (छिपकर) प्रेक्षा को देखने या सुनने का यत्न करता था, उसे अपने अंश का दुगना प्रदान करना पड़ता था।[3] कौटल्य की सम्मति में ये नट, नर्तक, वादक आदि जनता के कार्य में विघ्न डालने वाले होते हैं, अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे कि ये 'कर्मविघ्न' न कर सकें। क्योंकि ग्राम प्रायः निराश्रय होते हैं, और उनके निवासी खेती पर ही अपनी आजीविका के लिये आश्रित रहते हैं, अतः नट, नर्तक आदि को ग्रामों में जाकर लोगों के कार्य में विघ्न नहीं डालने देना चाहिये।[4] कौटल्य को तो यह भी अभिमत नहीं था, कि ग्रामों में आमोद-प्रमोद और विहार के लिये शालाओं तक का निर्माण किया जाए।[5] ऐसी क्रीड़ाएँ (खेल) नहीं होनी चाहियें, जिनमें अधिक व्यय होता हो।[6]

यद्यपि कौटल्य आमोद-प्रमोद के निमित्त निर्मित शालाओं और जनपदों में नट, नर्तक आदि द्वारा प्रदर्शित प्रेक्षाओं को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग में जनता के मनोरञ्जन के लिये अनेकविध साधन विद्यमान थे। उस युग में प्रेक्षाएँ बहुत लोकप्रिय थीं। कुछ प्रेक्षाएँ ऐसी होती थीं, जिनमें केवल पुरुष कलाकार कार्य करते थे, और कुछ में केवल स्त्रियाँ। इन्हें क्रमशः पुरुषप्रेक्षा और स्त्रीप्रेक्षा कहा जाता

---

१. 'एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणानां स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढाजीवाश्च व्याख्याताः।' कौ. अर्थ. २।२७
२. 'तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्।' कौ. अर्थ. २।२७
३. 'प्रेक्षायामनंशदः स्वस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्न श्रवणेक्षणे च द्विगुणमंशं दद्यात्।' कौ. अर्थ. ३।१०
४. 'नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः, निराश्रयत्वात् ग्रामाणां क्षेत्राभिरतत्वाच्च पुरुषाणाम्।' कौ. अर्थ. २।१
५. 'न च तत्राराम विहारार्थाः शालास्स्युः।' कौ. अर्थ. २।१
६. 'व्ययक्रीडाश्च वारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१

था। कौटल्य ने विधान किया है, कि यदि कोई स्त्री पति की अनुमति के विना दिन के समय स्त्रीप्रेक्षा देखने के लिये जाए, तो उस पर छः पण जुरमाना किया जाए, और यदि पुरुष प्रेक्षा देखने जाए, तो बारह पण। रात्रि के समय इन प्रेक्षाओं को देखने जाने पर दण्ड की मात्रा दुगनी कर दी जाए।[1] जो व्यक्ति रङ्गमञ्च पर नाट्य करके आजीविका कमाते थे, उन्हें "रङ्गोपजीवि" कहा जाता था। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही रङ्गोपजीवि होते थे, इसीलिये कौटल्य ने 'रङ्गोपजीवि' और 'रङ्गोपजीविनी' दोनों शब्द प्रयुक्त किये हैं।[2] वर्षाऋतु में विविध प्रकार के कुशीलवों को यह अनुमति नहीं थी, कि वे घूम-घूमकर प्रेक्षाएँ प्रदर्शित कर सकें।[3] उन्हें एक स्थान पर रहने के लिये विवश किया जाता था।[4] पर अन्य समय पर वे देश, परिवार (गोत्र), जाति, पेशे आदि की प्रथाओं के अनुसार अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते थे। पर कौटल्य इन सब को 'चोर' समझते थे, यद्यपि वे 'अचोर' माने जाते हुए अपने कार्यों का सम्पादन किया करते थे। इनके सम्बन्ध में कौटल्य का यही विधान है कि इन्हें देश-पीडन (जनता को क्षति पहुँचाने) से रोका जाए।[5]

नट, नर्तक, वादक आदि के अतिरिक्त अन्य भी अनेकविध व्यक्ति मौर्य युग में जनता का मनोरञ्जन किया करते थे। ऐसे लोगों का एक वर्ग 'कुहक' कहाता था,[6] और एक 'अदिति-कौशिक'। कुहक सम्भवतः जादूगरों को कहते थे। अदिति-कौशिक ऐसे भिक्षुकों की संज्ञा थी, जो देवताओं और सर्पों के चित्रपट प्रदर्शित कर भिक्षा माँगा करते थे।[7] विशाखदत्त के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस में निपुणक नामक एक गुप्तचर का उल्लेख है, जो साधु के भेष में घूमता हुआ लोगों को यमराज का चित्रपट दिखाता था, और इस प्रकार जनता के गुप्त भेदों का पता लगाता था। इसी प्रकार के भिक्षुओं को कौटल्य ने 'अदिति-कौशिक' कहा है।

जनता के सामूहिक मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद के लिये जहाँ नट, नर्तक, कुशीलव आदि प्रेक्षाएँ किया करते थे, वहाँ कतिपय अन्य भी ऐसे साधन थे जिनसे

---

१. 'दिवा स्त्रीप्रेक्षाविहारगमने षट्पणो दण्डः। पुरुषप्रेक्षाविहारगमने द्वादशपणः। रात्रौ द्विगुणः।' कौ. अर्थ. ३।३

२. कौ. अर्थ. २।२७

३. 'कुशीलवा वर्षारात्रमेकस्था वसेयुः।' कौ. अर्थ. ४।१

४. 'कामं देशजातिगोत्र चरण मैथुनावभासेन नर्मयेयुः।' कौ. अर्थ. ४।१

५. 'एवं चोरानचोराख्यान् वणिक्कारुकुशीलवान्।
भिक्षुकान् कुहकांश्चान्यान् वारयेद्देशपीडनात्।" कौ. अर्थ. ४।१

६. कौ. अर्थ. ४।१

७. 'तेन हि ध्वजेनादितिकौशिकवदस्य मातृबान्धवा भिक्षेरन्।' कौ. अर्थ. १।१७

जनता सामूहिक रूप से अपना मनोरञ्जन कर सकती थी। ये साधन विहार, समाज और प्रहवण के रूप में थे। कौटल्य ने विहारशालाओं का उल्लेख किया है, जिनकी सत्ता उन्हें पसन्द नहीं थी। समाज ऐसे समारोहों को कहा जाता था, जिनमें लोग यथेष्ट सुरापान किया करते थे और साथ ही अन्य अनेक प्रकार से भी मनोविनोद करते थे। समाजों के अवसर पर चार दिन के लिये सब कोई न केवल स्वतन्त्रता के साथ सुरा का निर्माण ही कर सकते थे, अपितु उन्हें यथेष्ट सुरापान की अनुमति भी दे दी जाती थी।[1] राजा अशोक को ये समाज पसन्द नहीं थे, और उन्होंने एक नये ढंग के समाजों का प्रारम्भ कराया था, जिन पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे। प्रहवण भी एक प्रकार के सामूहिक समारोह होते थे, जिनमें भोज्य और पेय पदार्थों का प्रचुरता से उपयोग किया जाता था। इनमें सम्मिलित होने वाले व्यक्ति व्यय का अपना अंश प्रदान करते थे, और जो अपना भाग न दे, उसे दुगना अंश जुरमाना देना पड़ता था।[2] कौटलीय अर्थशास्त्र में 'समाज' के साथ 'यात्रा' शब्द भी आया है। सम्भवतः, सामूहिक मनोरञ्जन के लिये यात्राएँ भी आयोजित की जाती थीं। अर्थशास्त्र से इनका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। अशोक ने पुराने ढंग की यात्राओं के स्थान पर 'धर्मयात्राओं' की परम्परा का प्रारम्भ किया था, जिनका हम इस ग्रन्थ में आगे चल कर उल्लेख करेंगे। जिस प्रकार अशोक ने पुराने ढंग के समाजों के स्थान पर नये धार्मिक समाजों का सूत्रपात किया, वैसे ही धर्म-यात्राओं का भी।

राजा तथा अन्य सम्पन्न लोगों के आमोद-प्रमोद का एक साधन शिकार भी था। मैग-स्थनीज ने लिखा है—तीसरा प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोड़ता है, शिकार खेलने जाना है। इस प्रयोजन से वह बेक्चेलियन रीति के अनुसार प्रस्थान करता है। स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है, और स्त्रियों के घेरे के बाहर बरछे वाले रखे जाते हैं। मार्ग का चिन्ह रस्सों से डाला जाता है, और इन रस्सों के भीतर से होकर जाना पुरुष और स्त्री दोनों के लिये समान रूप से मृत्यु है। ढोल और झाँझ लिये हुए लोग इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरे के भीतर से शिकार खेलता है, और एक चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खड़ी रहती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ पर से तीर चलाता है। स्त्रियों में कुछ रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर और कुछ हाथियों पर। वे सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होती हैं, मानो वे किसी चढ़ाई पर जा रही हों।[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसे वन का उल्लेख किया गया है, जो राजा के विहार के लिये सुरक्षित होता था। ऐसे वन के चारों ओर गहरी खाई होनी चाहिये, और उसमें

---

१. 'उत्सवसमाजयात्रासु चतुरहस्सौरिको देयः।' कौ. अर्थ. २।२५
२. 'भक्ष्यपेयदाने च प्रहवणेषु द्विगुणमंशं दद्यात्।' कौ. अर्थ. ३।१०
३. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण पृ. ३५

प्रवेश के लिये केवल एक द्वार बनाया जाना चाहिये। वन में नानाविध सुस्वादु फलों के वृक्ष, निकुञ्ज, झाड़ियाँ और काँटों से विहीन वृक्ष होने चाहियें, और साथ ही एक सुविस्तृत जलाशय भी, जो कि अनेकविध जीव जन्तुओं से परिपूर्ण हो। इस वन में सिखाये हुए विविध चौपाये और ऐसे सिंह और अन्य जंगली पशु भी होने चाहियें जिनके नख और दाँत निकाल दिये गये हों। इनके अतिरिक्त हाथी, हथिनी, हाथी के बच्चे और विविध प्रकार के मृग भी इस वन में होने चाहियें।[१] निस्सन्देह, इस प्रकार के वन को राजा विहार के लिये प्रयुक्त कर सकता था, क्योंकि वहाँ उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता था।

सर्वसाधारण जनता के मनोरञ्जन के लिये मौर्य युग में चिड़ियाघरों, मृगवनों और सर्पघरों की भी सत्ता थी। इनके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

(६) सुरा, पानगृह और द्यूतशालाएँ

मैगस्थनीज़ ने लिखा है, कि भारतीय यज्ञों के अतिरिक्त और कभी मदिरा नहीं पीते,[२] पर कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्य युग में सुरापान का पर्याप्त प्रचार था। सुरा-व्यवसाय के सम्बन्ध में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस काल में अनेक प्रकार की सुराएँ बनायी जाती थीं, और उनके निर्माण तथा क्रय-विक्रय पर राज्य का नियन्त्रण था। नगरों, ग्रामों और स्कन्धावारों में सर्वत्र सुरा के विक्रय की व्यवस्था थी।[३] पर सुरा के सेवन को नियन्त्रण में रखने के लिये यह उपयोगी समझा जाता था, कि किसी एक स्थान पर शराब की बहुत-सी दूकानें न हों।[४] सुरापान के लिये ऐसे पानगृह बनाये जाते थे, जिनमें अनेक कक्ष्याएँ (कमरे या कक्ष) हुआ करते थे। प्रत्येक कक्ष्या में पृथक् शय्याएँ और आसन होते थे, और इन कक्ष्याओं को ऋतु के अनुसार सुगन्ध, फूलमाला, जल तथा अन्य सुखकर वस्तुओं से सुसज्जित किया जाता था।[५] पानगृहों के स्वामी वणिक् केवल सुरा ही अपने ग्राहकों को नहीं देते थे, अपितु उनकी सेवा तथा भोग के लिये रूपवती दासियों को भी नियुक्त करते थे। कौटल्य ने इनका

---

१. 'तावन्मात्रमेकद्वारं खातगुप्तं स्वादुफलगुल्मगुच्छमकण्टकिद्रुममुत्तानतोयाशयं दान्तमृगचतुष्पदं भग्ननखदंष्ट्रव्यालमार्गायुक हस्तिहस्तिनी कलभमृगवनं विहारार्थं राज्ञः कार्ययेत्:' कौ. अर्थ. २।२

२. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण पृ. ३४

३. 'सुराध्यक्षस्सुरा किण्व व्यवहाकारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जात सुराकिण्व-व्यवहारिभिः कारयेत्।' कौ. अर्थ अर्थ. २।२५

४. 'ग्रामादनिर्णयनमसम्पातं च।' कौ. अर्थ. २।२५

५. 'पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्योदक-वन्त्यृतुसुखानि कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।२५

उल्लेख इस प्रसङ्ग में किया है, कि वणिक् लोग इन दासियों द्वारा पानगृह में आये हुए ग्राहकों के मनोभावों का भी पता किया करें। सुरापान कर चुकने पर जब ग्राहक उसके प्रभाव से मदमस्त या बेसुध हो जाते थे, तो दासियों के लिये उनके मनोभावों का परिज्ञान प्राप्त कर सकना कठिन नहीं रहता था। पानगृह की ये कक्षाएँ सर्वथा एकान्त या संवृत रूप से बनवायी जाती थीं। सुरापान के लिये आये हुए लोगों के अलङ्कार (आभूषण), आच्छादन (पोशाक) और हिरण्य आदि की रक्षा की उत्तरदायिता पानगृह के स्वामी की मानी जाती थी। यदि किसी ग्राहक की ये वस्तुएँ चोरी हो जाएँ, तो पानगृह के स्वामी को न केवल उनकी कीमत ही चुकानी पड़ती थी, अपितु उनकी कीमत के बराबर जुरमाना भी देना पड़ता था।[1]

कौटल्य सुरापान की हानियों से भली भाँति परिचित थे। उनकी सम्मति में सुरापान से यह आशंका बनी रहती है कि कार्य में लगे हुए लोग प्रमाद न करने लगें, आर्यों की मर्यादा का भंग न हो जाए, और तीक्ष्ण (उग्र) प्रकृति के व्यक्तियों के उत्साह में कमी न आ जाए, अतः यह आवश्यक है कि सुरापान को नियन्त्रित किया जाए, और इसी प्रयोजन से लोगों के चरित्र तथा शुचिता को दृष्टि में रख कर उन्हें आधा कुडुम्ब, चौथाई कुडुम्ब, एक कुडुम्ब, आधा प्रस्थ या एक प्रस्थ सुरा प्रदान की जाए।[2]

यद्यपि सामान्य दशा में सुरा के सेवन पर राज्य की ओर से नियन्त्रण था, पर उत्सव, समाज, यात्रा, प्रहवण आदि के अवसरों पर सब कोई यथेष्ट सुरापान कर सकते थे। सम्भवतः, मैगस्थनीज का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट हुआ था, और उसने यज्ञ के अतिरिक्त सामान्य दशा में भारतीयों को सुरापान करते हुए नहीं पाया था।

मौर्य युग में द्यूत (जुए) क्रीड़ा भी बहुत लोकप्रिय थी। द्यूत के ऊपर राज्य का नियन्त्रण था, और इसके लिये एक पृथक् अमात्य की नियुक्ति की जाती थी जिसे 'द्यूताध्यक्ष' कहते थे। द्यूत राजकीय आमदनी का एक महत्त्वपूर्ण साधन था, और इसी प्रसङ्ग में इसका उल्लेख पहले किया भी जा चुका है। द्यूताध्यक्ष की ओर से ऐसे द्यूतगृह बनवाये जाते थे, जिनमें जुआ खेलने के सब साधन प्रस्तुत रहते थे।[3]

(७) वस्त्र, प्रसाधन और भोजन

मौर्य युग में वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत था। ऊन, रेशम, सन, कपास और विविध वृक्षों व वनस्पतियों के रेशों से नानाविध वस्त्र उस युग में तैयार किये जाते थे। मौर्य युग

---

१. 'क्रेतॄणां मत्तसुप्तानामलङ्काराच्छादन हिरण्यानि च विद्युः। तन्नाशे वणिजस्तच्च तावच्च दण्डं दद्युः।' कौ. अर्थ. २।२५

२. कौ. अर्थ. २।२५

३. कौ. अर्थ. ३।२०

की आर्थिक दशा का निरूपण करते हुए इन विविध प्रकार के वस्त्रों पर प्रकाश डाला जा चुका है। ऊनी, रेशमी और सूती आदि वस्त्रों से पहनने के लिये किस ढंग के कपड़े मौर्य युग में तैयार किए जाते थे, इस सम्बन्ध में कोई भी निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि वहां तुन्नवाय (दर्जी) का उल्लेख अवश्य है।[1] दर्जी कैसे कपड़े सीते थे, और मौर्यों के शासनकाल में सम्पन्न व सर्वसाधारण लोग किस ढंग के कपड़े पहनते थे, इसे जानने का अभी हमारे पास कोई साधन नहीं है। हमें मैगस्थनीज़ के उस विवरण से ही संतोष करना पड़ता है, जिसमें कि उसने सिर पर धारण की जाने वाली पगड़ी और मलमल के महीन वस्त्रों का जिक्र किया है। यह विवरण हम पिछले एक अध्याय में मौर्य युग की आर्थिक दशा का निरूपण करते हुए उद्धृत कर चुके हैं। मौर्य युग की बहुत-सी मृण्मूर्तियाँ पाटिलपुत्र के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुई हैं, जिनमें कतिपय को वस्त्र पहने हुए भी दिखाया गया है। इनसे मौर्य युग के पहरावे का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। ऐसी एक मृण्मूर्ति में एक बालिका को चौड़ा लंहगा पहने हुए दिखाया गया है। पाटिलपुत्र में ही मौर्य युग की यक्षी की जो मूर्ति मिली है, उसे साड़ी या धोती पहने हुए दिखाया गया है। मौर्य युग में स्त्रियाँ साड़ी और लहंगा दोनों का प्रयोग करती थीं, यह इससे सूचित होता है।

मौर्य युग के लोग आभूषणों द्वारा अपने को अलंकृत करने पर बहुत ध्यान देते थे। मणि, मुक्ता, सुवर्ण आदि द्वारा जो अनेकविध आभूषण इस काल में तैयार किये जाते थे, उन पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पर मौर्य युग में केवल आभूषणों द्वारा अलंकृत होना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता था। अपने शरीर को नानाविध उपायों से सुन्दर बनाने और उसका परिष्कार तथा शृंगार करने पर इस काल में बहुत ध्यान दिया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र से राजा के प्रसाधन तथा शृंगार पर विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। इस कार्य के लिये जो कर्मचारी नियत थे, उन्हें कल्पक, प्रसाधक, स्नापक और संवाहक कहते थे। स्नान के अनन्तर राजा को ऐसे वस्त्र पहनने के लिये दिये जाते थे, जो पूर्णतया शुद्ध हों और जिनकी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिये उन पर मुद्रा (सील) भी लगी हुई हो। प्रसावन के लिये सुगन्धि, चूर्ण (पाउडर), अनुलेपन (मलनेवाली क्रीम) आदि का प्रयोग किया जाता था।[2] राजा के अतिरिक्त अन्य सम्पन्न व्यक्ति भी अपने प्रसाधन तथा शृङ्गार के लिये नानाविध सुगन्धियों, चूर्णों और अनुलेपनों का प्रयोग किया करते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है।

---

१. कौ० अर्थ० ४।१

२. 'कल्पकप्रसाधकास्स्नानशुद्धवस्त्रहस्तास्समुद्रमुपकरणमन्तर्वंशिकहस्तादादाय परिचरेयुः। स्नापकसंवाहकास्तरकरजक मालाकारकर्म दास्यः कुर्युः।. . .स्नानानुलेपनप्रघर्षचूर्णवासस्नायीनानि स्ववक्षोबाहुषु।' क. अर्थ. १।२१

मौर्य युग में भोजन क्या होता था और उसे किस प्रकार खाया जाता था, इस सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ ग्रीक यात्रियों के यात्रा विवरणों और कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। मैगस्थनीज़ के अनुसार 'जब भारतीय लोग भोजन के लिये बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख एक-एक मेज रखी जाती है जो तिपाई की आकृति की होती है। तिपाई पर सोने का एक प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पूर्व चावल परोसे जाते हैं। चावलों को वैसे ही उबाला जाता है, जैसे जौ को। चावलों के पश्चात् अन्य अनेकविध व्यञ्जन परोसे जाते हैं, जिन्हें भारतीय पाकविधि के अनुसार तैयार किया जाता है।[1]' एक अन्य स्थान पर मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीय सदा अकेले भोजन करते हैं। वे कभी इकट्ठे बैठकर भोजन नहीं करते। जब जिसकी इच्छा हो, वह भोजन कर लेता है।[2]

मौर्य युग में भारतीयों का मुख्य भोजन चावल था, इस बात की पुष्टि कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा भी होती है। कौटल्य ने इस बात का निरूपण किया है, कि आर्य, अवर (आर्यों की तुलना में कम स्थिति रखने वाले), स्त्री तथा बालक के लिये एक दिन के भोजन के प्रयोजन से कितनी-कितनी भोज्य सामग्री अपेक्षित है। यह सामग्री आर्य के लिये एक प्रस्थ (१ प्रस्थ=$\frac{1}{2}$ किलो के लगभग) तण्डुल (धान), चौथाई प्रस्थ सूप, और सूप का चौथाई भाग घी या तेल है। अवर के लिये तण्डुल की मात्रा तो एक प्रस्थ ही है, पर सूप की मात्रा चौथाई प्रस्थ न होकर प्रस्थ का छठा भाग है। इसी प्रकार स्नेह (चिकनाई) की मात्रा भी उसके लिये कम रखी गई है। स्त्रियों के लिये ऊपर लिखी मात्राओं (जो आर्य और अवर के लिये निर्धारित हैं) से चौथाई कम मात्रा पर्याप्त है, और बालकों के लिये आधी।[3] इस प्रसङ्ग में कौटल्य ने गेहूँ, चना या किसी अन्य अन्न का उल्लेख न कर केवल चावल ही लिखा है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में भारतीयों का मुख्य भोजन चावल ही था। सूप सम्भवतः मांस, सब्जी और दाल से बनाया जाता था, जिसके साथ मिलाकर चावल खाये जाते थे।

यद्यपि सामान्य रूप से भारतीय चावल और सूप का भोजन के लिये उपयोग करते थे। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक अन्नों, सब्जियों और मांसों आदि का भोजन के रूप में उल्लेख है। बीस पल मांस के लिये आधा कुडुम्ब स्नेह (घी या तेल), एक पल नमक, एक पल चीनी, दो धरण मसाला और आधा प्रस्थ दही की आवश्यकता होती है। सब्जी बनाने के लिये यही सब सामग्री आधी मात्रा में पर्याप्त रहती है। 'शुष्क' (सुखाये

---

१. McCrindle : Magasthenes p. 74

२. Ibid p. 70

३. 'अखण्डपरिशुद्धानां वा तण्डुलानां प्रस्थं चतुर्भागस्सूपः सूपषोडशो लवणस्यांशः चतुर्भागस्सर्पिषः तैलस्य वा एकमार्यभक्तम्। पुंसः षड्भागस्सूपः अर्धस्नेहमवराणाम्। पादोनं स्त्रीणाम्। अर्धं बालानाम्।' कौ. अर्थ. २।१५

हुए मांस, मछली आदि) के लिये इस सामग्री को दुगनी मात्रा में प्रयुक्त करना होता है।[१] मौर्य युग में कौन-कौन से अनाज बोये जाते थे, इस विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। कौटलीय अर्थशास्त्र में कोद्रव, व्रीहि, शाली, वरक, प्रियङ्गु, चमसी (जौं), मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), शैव्य, मसूर, कुल्माष, यावक आदि कितने ही खाद्यान्नों का उल्लेख है,[२] जिन सबको भोजन के लिये अनेकविध ढंगों से प्रयोग में लाया जाता था। भोजन के लिये इनको पीसा भी जाता था, भूना भी जाता था, इनकी पीठी भी बनायी जाती थी, इन्हें तला भी जाता था, इन्हें पानी में भिगोया भी जाता था और इन्हें पकाया भी जाता था।[३] इन विविध विधियों से इन खाद्यान्नों द्वारा कौन-से भोज्य पदार्थ तैयार किये जाते थे, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के पाचकों और भोज्य पदार्थों के विक्रेताओं का उल्लेख किया गया है, जिनसे मौर्य युग के भोजन का कुछ अनुमान कर सकना सम्भव है।[४] ये निम्नलिखित थे—(१) पक्वान्नपण्या :—पक्वान्न या पकवान बेचने वाले। (२) मांसपण्या :—मांस बेचनेवाले। (३) पाक्वमांसिका :—पका हुआ मांस बेचनेवाले। (४) औदनिका :—पका हुआ चावल बेचने वाले। (५) आपूपिका :—रोटी, पुआ आदि के विक्रेता।

भोजन पकाने के लिये जो 'स्नेह' प्रयुक्त किया जाता था, वह केवल घी ही नहीं होता था। घी के अतिरिक्त तेल, वसा (चर्बी) और मज्जा भी 'स्नेह' माने जाते थे,[५] और भोजन के लिये इनका भी प्रयोग किया जाता था। मसाले के लिये पिप्पली, मिर्च, अदरक आदि प्रयुक्त होते थे।

यद्यपि मौर्य युग में मांस, मछली, पक्षी आदि को भी भोज्य माना जाता था, पर सब कोई इनका सेवन नहीं करते थे। अनेक भोज्य पदार्थ विविध वर्गों के लोगों के लिये 'अभक्ष्य' समझे जाते थे। इसीलिये कौटल्य ने यह विधान किया है, कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण को कोई 'अपेय' पदार्थ पिलाए या 'अभक्ष्य' वस्तु खिलाए, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाए[६]।

---

१. 'मांसपलविंशत्या स्नेहार्धकुडुम्बः, पलिको लवणस्यांशः, क्षारपलयोगः, द्विधरणिकः कटुकयोगः, दध्नश्चार्धप्रस्थः। शाकानामध्यर्धगुणः। शुष्कानां द्विगुणस्स चैव योगः।' कौ. अर्थ. २।१५

२. कौ. अर्थ. २।१५

३. 'क्षुण्ण घृष्ट पिष्ट भृष्टानामार्द्र शुष्क सिद्धानां च धान्यानां वृद्धिक्षय प्रमाणानि प्रत्यक्षी कुर्वीत।' कौ. अर्थ. २।१५

४. कौ. अर्थ. २।४

५. 'सर्पिस्तैलवसामज्जानस्स्नेहाः।' कौ. अर्थ. २।१५

६. 'ब्राह्मणमपेयमभक्ष्यं वा संग्रासयत उत्तमो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।१३

तेरहवाँ अध्याय

धार्मिक सम्प्रदाय और विश्वास

(१) नये धार्मिक सम्प्रदाय

कौटल्य ने भारत के प्राचीन धर्म को 'त्रयी धर्म' कहा है। उनके अनुसार यह धर्म जनता के लिये अत्यन्त उपकारक है, क्योंकि यह सब वर्णों और आश्रमों के लोगों को अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रखता है।[1] सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद की 'त्रयी' संज्ञा थी[2], और इनमें प्रतिपादित धर्म ही 'त्रयी धर्म' था। त्रयी धर्म के अनुयायी ईश्वर में विश्वास रखते थे और ईश्वर को एक मानते हुए भी विविध देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे। प्रकृति की विविध शक्तियों में ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना कर वे उन्हें देवता के रूप में मानते थे, और उनकी पूजा के लिये अनेकविध अनुष्ठानों का अनुसरण करते थे। यज्ञ इन देवताओं की पूजा का क्रियात्मक रूप था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर आर्य लोग देवताओं का आवाहन करते थे, और हवि प्रदान कर उन्हें संतुष्ट करते थे। धीरे-धीरे याज्ञिक कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। विधि-विधानों और कर्मकाण्ड को ही याज्ञिक लोग स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानने लगे। यज्ञों में पशुबलि की प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया। बलि ग्रहण कर अग्नि तथा अन्य देवता प्रसन्न तथा संतुष्ट होते हैं, और याज्ञिक अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है, यह विश्वास सुदृढ़ हो गया। यह स्वाभाविक था, कि अनेक विचार इसके विरुद्ध आवाज उठाएँ। 'यज्ञ एक ऐसी नौका के समान है जो अदृढ़ है और जिस पर भरोसा नहीं किया जा सकता, यह विचार जोर पकड़ने लगा। शूरसेन जनपद के सत्वत लोगों में जो भागवत सम्प्रदाय महाभारत युद्धके समय में प्रादुर्भूत हुआ था, वह यज्ञों को विशेष महत्त्व नहीं देता था। वासुदेव कृष्ण इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य थे। भागवत लोग प्राचीन वैदिक मर्यादाओं का पालन करते थे, और यज्ञों को भी सर्वथा हेय नहीं समझते थे। पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का जो विकृत व जटिल रूप भारत के बहुसंख्यक जनपदों में प्रचलित था, उसके विरुद्ध अधिक उग्र आन्दोलनों का प्रारम्भ सर्वथा स्वाभाविक था। आर्यों में स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति विद्यमान थी, और इसीका यह परिणाम हुआ कि छठी सदी ई० पू० में उत्तरी बिहार के गणराज्यों में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने

---

१. 'एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।'
कौ. अर्थ. १।३

२. 'सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी।' कौ. अर्थ. १।३

यज्ञप्रधान वैदिक या त्रयी धर्म के विरुद्ध प्रवल रूप से आन्दोलन प्रारम्भ किये, और धर्म का एक नया स्वरूप जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। इन सुधारकों ने केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध ही आवाज नहीं उठाई, अपितु वर्णभेद, जातिभेद और सामाजिक ऊँच नीच की भावना का भी विरोध किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया, कि कोई मनुष्य अपने गुणों और कर्मों के कारण ही ऊँचा तथा सम्मान के योग्य होता है, किसी कुल विशेष में उत्पन्न होने के कारण नहीं। वर्धमान महावीर ज्ञातृक गण में उपत्न्न हुए थे, और बुद्ध शाक्यगण में। ये दोनों गणराज्य उत्तरी विहार में स्थित थे। वर्धमान महावीर और महात्मा बुद्ध ने जिन नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ किया था, वे धीरे-धीरे भारत के वड़े भाग में फैल गये। मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व ये धर्म अच्छी उन्नति कर चुके थे।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध में था। वे अनेक वार मगध आये, और उन्होंने सर्वत्र घूम-घूम कर अपने अष्टाङ्गिक आर्य धर्म का उपदेश किया। मगध के राजा विम्बिसार और अजातशत्रु बुद्ध के समकालीन थे। उनके हृदय में वुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा थी। मगध के वाहर बुद्ध ने काशी, कोशल और वज्जि जनपदों का भी भ्रमण किया था, और वहाँ के बहुत-से निवासी उनके शिष्य भी वन गये थे। मध्यदेश के अन्य जनपदों में वे स्वयं तो नहीं जा सके, पर उन के शिष्य वत्स, अवन्ति आदि जनपदों में भी गये थे, और वुद्ध के जीवन काल में ही उनका धर्म-संदेश उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गया था। वुद्ध के समान वर्धमान महावीर ने भी अनेक जनपदों में भ्रमण कर अपने धार्मिक मन्तव्यों का प्रचार किया था। उनके शिष्य गौतम इन्द्रभूति ने अपने गुरु की शिक्षाओं का प्रसार करने में विशेष कर्तृत्त्व प्रदर्शित किया, और महावीर स्वयं भी ज्ञातृक, लिच्छवि, विदेह, मल्ल आदि अनेक जनपदों का भ्रमण करते हुए मगध की राजधानी राजगृह में गये थे। मगध के राजाओं ने उनके उपदेशों का श्रद्धापूर्वक श्रवण किया था, और वहुत-से लोगों ने वहाँ जैन धर्म की दीक्षा भी ग्रहण की थी।

छठी सदी ई. पू. में प्रारम्भ होकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना तक के सुदीर्घ काल में ये दोनों धर्म निरन्तर उन्नति करते रहे। इस बीच में इन धर्मों में अनेक सम्प्रदायों का भी विकास हुआ, और इनके प्रचार का क्षेत्र भी निरन्तर विस्तृत होता गया। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि मौर्य युग में इन धर्मों की न केवल सत्ता ही हो, अपितु भारत में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान भी हो। यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र एक राजनीतिपरक ग्रन्थ है, पर प्रसङ्गवश उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की धार्मिक दशा के सम्वन्ध में भी कतिपय निर्देश आ गये हैं, जिनसे इस काल में ऐसे धार्मिक सम्प्रदायों की सत्ता भी सूचित होती है जो पुराने वैदिक या त्रयी धर्म से भिन्न थे। इन (वेद-विरुद्ध) सम्प्रदायों के लिये कौटिल्य ने 'वृपल' और 'पाषण्ड' शब्दों का प्रयोग किया है। ये 'वृपल' सम्प्रदाय कौन-से थे, इस सम्बन्ध में केवल एक निर्देश अर्थशास्त्र में विद्यमान है। कौटल्य ने यह व्यवस्था की है कि यदि कोई मनुष्य देवकार्यों और पितृकार्यों में शाक्य, आजीवक आदि वृपल प्रव्रजितों (ऐसे परिव्राजक

जो कि वैदिक धर्म के अनुयायी न होकर किसी वेदविरुद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी हों) को भोजन कराये, तो उसे १०० पण जुरमाने का दण्ड दिया जाए।[१] शाक्य प्रव्रजित से स्पष्टतया बौद्ध भिक्षु अभिप्रेत हैं। आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक मक्खलिपुत्र गोसाल था, जो वर्धमान महावीर का समकालीन था। मौर्य वंशी राजा अशोक और राजा दशरथ के उत्कीर्ण लेखों में आजीवक सम्प्रदाय का उल्लेख आया है। यद्यपि वर्तमान समय में इस सम्प्रदाय का कोई अनुयायी नहीं है, और न ही इसका कोई साहित्य ही उपलब्ध है, पर जैन साहित्य के अध्ययन से मक्खलिपुत्र गोसाल और उसके मन्तव्यों के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं। कौटल्य और चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भी यह सम्प्रदाय भारत में विद्यमान था, और इसके अनुयायी भिक्षु या प्रव्रजित बौद्ध भिक्षुओं के समान ही महत्त्व रखते थे। कौटलीय अर्थ शास्त्र में कहीं भी जैनधर्म और उसके मुनियों या साधुओं का उल्लेख नहीं है। शाक्य और आजीवक के साथ 'आदि' लगाकर कौटल्य ने जिन अन्य अवैदिक या वृषल सम्प्रदायों का निर्देश किया है, सम्भवतः जैन भी उनके अन्तर्गत थे।

कौटल्य त्रयी धर्म के अनुयायी थे और उसके अनुसरण में ही राजा और प्रजा का हित मानते थे। पर उन्होंने अन्य 'पाषण्डों' (सम्प्रदायों) के प्रति विरोध भाव प्रदर्शित नहीं किया। राजा अशोक के समान उनका भी यह मत था, कि 'आश्रमियों' और 'पाषण्डों' को परस्पर 'अबाधमान' रूप से (एक दूसरे के कार्य में बाधा न डालते हुए) साथ-साथ निवास करना चाहिये।[२] 'आश्रमी' उन वानप्रस्थों और परिव्राजकोंको कहते थे, जो कि वैदिक धर्म के अनुयायी थे और प्राचीन मर्यादा का पालन करते हुए आश्रमों में निवास करते थे। कौटल्य द्वारा विहित यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्व की है, कि आश्रमी और पाषण्ड एक दूसरे के प्रति 'अबाधमान' भाव से एक साथ निवास करें, और इस कारण यदि उन्हें कुछ बाधा भी अनुभव होती हो, तो उसे सहन करें।[३] नगरोंमें इस प्रकार के 'आवास' भी विद्यमान थे, जहाँपाषण्डिपथिक' (पाषण्डों से सम्बन्ध रखनेवाले यात्री) निवास प्राप्त कर सकते थे।[४] इन धर्मार्थ आवासों में वेदविरुद्ध पाषण्डों के लोगों को निवास का पूरा-पूरा अवसर था। नगरों में पाषण्डों के अनुयायियों के निवास के लिये पृथक् शालाओं की भी सत्ता थी, जिन्हें 'पाषाण्डावास' कहते थे।[५] राजा की दैनिक दिनचर्या का विधान करते हुए कौटल्य ने 'पाषण्डों' के कार्यों के लिये समय देने की भी व्यवस्था की है। विविध प्रकार के व्यक्तियों

---

१. 'शाक्याजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतश्शत्यो दण्डः।" कौ. अर्थ. ३।२०

२. 'आश्रमिणः पाषण्डा वा महत्यवकाशे परस्परमबाधमाना वसेयुः। 'कौ. अर्थ. ३।१६

३. 'अल्पां बाधां सहेरन्।' कौ. अर्थ. ३।१६

४. 'धर्मावसथिनः पाषण्डि पथिकानावेद्य वासयेयुः।' कौ. अर्थ. २।३६

५. 'एवमभ्यन्तरे शून्यनिवेशावसनशौण्डिकौदनिकपाक्वमांसिकद्यूतपाषाण्डावासेषु विचयं कुर्युः।' कौ. अर्थ. २।३६

के साथ सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को किस क्रम से राजा सम्पन्न करे, इसका उल्लेख करते हुए कौटल्य ने लिखा है कि देवता, आश्रम, पाषण्ड, श्रोत्रिय, पशुस्थान, पुण्यस्थान, बाल, वृद्ध, व्याधित, व्यसनी, अनाथ और स्त्रियों के कार्यों को कार्य के महत्त्व की दृष्टि से सम्पादित किया जाए।[1] पाषण्डों के कार्यों का आश्रम, देवता और श्रोत्रियों के कार्यों के साथ उल्लिखित करना इस बात को सूचित करता है, कि कौटल्य की दृष्टि में पाषण्डों का महत्त्व भी कम नहीं था। मौर्य युग के सार्वजनिक जीवन में वेदविरुद्ध पाषण्डों का भी बहुत महत्त्व था। इसी कारण राजा को अपने दैनिक कार्यक्रम में उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों के लिये भी पृथक् समय देने की व्यवस्था की गई थी।

शाक्य, आजीवक आदि पाषण्डों के साधुओं के पास न सुवर्ण होता था, और न सुवर्ण आदि की मुद्राएँ। इस कारण यदि वे कोई ऐसा अपराध करें, जिसके लिये जुरमाने का दण्ड दिया जाता हो, तो उनसे जुरमाना वसूल कर सकना सम्भव नहीं था। अतः कौटल्य ने यह व्यवस्था की है, कि ये साधु जुरमाने के स्थान पर उपवास, व्रत आदि द्वारा अपने अपराध का प्रायश्चित्त किया करें। पर यदि इन्होंने पारुष्य (वाक्पारुष्य और दण्डपारुष्य), स्तेय (चोरी), साहस (किसी पर हमला) और संग्रहण (स्त्रियों को भगाना) का अपराध किया हो, तो उन्हें वही दण्ड दिया जाए जिसका विधान अन्य लोगों के लिये किया गया है।[2] इस दशा में इनसे भी जुरमाना वसूल किया जाता था, जो सम्भवतः इनके पाषण्ड-संघों को प्रदान करना होता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में पाषण्ड-संघों का भी उल्लेख आया है, और इससे यह भी सूचित होता है कि इन पाषण्ड-संघों के पास अपना द्रव्य (सम्पत्ति) भी हुआ करता था। इस द्रव्य को कौटल्य ने 'अश्रोत्रियभोग्य' (जो श्रोत्रिय के भोग करने के योग्य न हो) कहा है। आर्थिक संकट के समय राजा इस 'अश्रोत्रिय योग्य पाषण्डद्रव्य' को अपने प्रयोग में ला सकता था।[3] जब किसी पाषण्ड का कोई साधु (भिक्षु) पारुष्य, स्तेय आदि घोर अपराध के कारण जुरमाने के दण्ड से दण्डित हुआ हो, तो उस जुरमाने को इस पाषण्ड-संघ द्रव्य से ही प्राप्त किया जाता था।

यद्यपि कौटल्य ने नगरों में 'पाषाण्डावासों' (पाषण्डों के निवास स्थानों) की सत्ता को स्वीकार किया है, पर वह इन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इसलिये उन्होंने अन्यत्र यह भी व्यवस्था की है कि पाषण्डों और चण्डालों के लिये श्मशान के समीप स्थान दिया जाए।[4]

---

१. 'तस्माद्देवताश्रमपाषण्डश्रोत्रियपशुपुण्यस्थानानां बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथानां स्त्रीणां च क्रमेण कार्यंणि पश्येत्। कार्यगौरवादात्ययिकवशेन वा।' कौ. अर्थ. १।१९

२. 'अहिरण्यसुवर्णाः पाषण्डास्साधवस्ते यथास्वमुपवासव्रतैराराधायेयुः अन्यत्र पारुष्य-स्तेयसाहससंग्रहणेभ्यः। तेषु यथोक्ता दण्डाः कार्याः। कौ. अर्थ. ३।१६

३. 'पाषण्डसंघद्रव्यमश्रोत्रियभोग्यं...अतिसन्धाय अपहरेत्।' कौ. अर्थ. ११।१८

४. 'पाषण्डचण्डालानां श्मशानान्ते निवासः।' कौ. अर्थ. २।४

पाषण्डों के प्रति इसी भावना का परिणाम सम्भवतः यह हुआ, कि बाद में पाषण्ड या पाखण्ड शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त होने लगा, यद्यपि मौर्य युग में यह संज्ञा उन सम्प्रदायों के लिये थी, जो कि वेदविरुद्ध थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में केवल शाक्य और आजीवक प्रव्रजितों का उल्लेख है, पर बौद्ध साहित्य से सूचित होता है, कि अन्य भी बहुत-से पाषण्ड मौर्य युग से पूर्व भारत में प्रादुर्भूत हो चुके थे। अङ्गुत्तर निकाय में आजीवक, निर्ग्रन्थ (जैन), मुण्डश्रावक, जटिलक, परिव्राजक, मागन्द्रिक, त्रैदण्डिक, अविरुद्धक, गौतमक और देवधर्मिक आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार महानिद्देस में आजीविक, निर्ग्रन्थ, जटिल, परिव्राजक और अविरुद्धक के अतिरिक्त ऐसे सम्प्रदायों का भी उल्लेख है, जो कि हस्ति, अश्व, गौ, श्वान, काक, वासुदेव, बलदेव, पूर्णभद्र, मणिभद्र, अग्नि, नाग, यक्ष, असुर, गान्धर्व, महाराज, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, देव और दिक् (दिशा) के उपासक थे।[1] बौद्ध साहित्य के ये ग्रन्थ मौर्य युग से पूर्व की दशा के सूचक हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग से पूर्व ही भारत में बहुत-से धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे, जिनमें अनेक ऐसे भी थे जो वैदिक धर्म के अनुरूप नहीं थे। इनमें प्रमुख स्थान गौतमक (बौद्ध), निर्ग्रन्थ (जैन) और आजीवक सम्प्रदायों का था। न केवल बहुत-से गृहस्थ ही इस युग में इन सम्प्रदायों के अनुयायी हो गये थे,अपितु बहुत-से स्त्री-पुरुषों ने इनकी शिक्षाओं के अनुसार भिक्षुव्रत भी ग्रहण कर लिया था। इनके भिक्षु प्रायः सिर मुँडाकर रहते थे, और इनकी भिक्षुणियाँ भी केशों का परित्याग कर मुण्ड रूप में रहा करती थीं। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन्हें ही 'मुण्डा वृषल्यः' कहा गया है।[2] अवैदिक सम्प्रदायों (पाषण्डों) की ये वृषल भिक्षुणियाँ ब्राह्मण परिव्राजिकाओं से भिन्न प्रकार का जीवन व्यतीत करती थीं। कौटल्य को ये वृषल भिक्षु और भिक्षुणियाँ पसन्द नहीं थे। इसीलिये उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि केवल ऐसे व्यक्ति ही परिव्रजित हो सकें, जिनकी सन्तानोत्पत्ति की क्षमता नष्ट हो चुकी हो और जिन्होंने अपने परिवार के प्रति कर्तव्यों का पालन कर लिया हो। वानप्रस्थों का परिव्राजक होना ही कौटल्य को अभिमत था।

(२) वैदिक धर्म

यद्यपि मौर्य युग में अनेक वेदविरुद्ध सम्प्रदायों की भी सत्ता थी, पर इस काल में भारत की बहुसंख्यक जनता वैदिक धर्म की अनुयायी थी। मैगस्थनीज का ध्यान भारत के जिन धार्मिक अनुष्ठानों और विश्वासों के प्रति आकृष्ट हुआ था, उनका सम्बन्ध प्राचीन वैदिक धर्म के साथ ही था। उसने यज्ञों, बलि, प्रदान तथा श्राद्ध आदि का उल्लेख किया है।

---

१. The Age of Imperial Unity (Bharatiya Vidya Bhawan) p 462

२. 'एतया मुण्डा वृषल्यो व्याख्याताः।' कौ. अर्थ. १।१२

मैगस्थनीज़ के अनुसार "यज्ञ तथा श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। वे (भारतीय) वलि के पशु को छुरी धंसा कर नहीं मारते, अपितु गला घोट कर मारते हैं, जिसमें देवता की भेंट ऐसी वस्तु ही दी जाए जो खण्डित न होकर सम्पूर्ण हो।[1]" एक अन्य स्थान पर मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि "गृहस्थ लोगों द्वारा ये (दार्शनिक) वलि प्रदान करने और मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं।[2]" इन उद्धरणों से स्पष्ट है, कि मौर्य युग में यज्ञों में पशुवलि देने और मृतकों का श्राद्ध करने की प्रथाएँ भी प्रचलित थीं, और यही कारण है जो मैगस्थनीज़ जैसे विदेशी यात्री का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ था।

कौटल्य ने वैदिक धर्म को 'त्रयी धर्म' नाम से लिखा है। उनकी सम्मति में यह त्रयी धर्म ही है, जिससे 'रक्षित' होकर लोग सदा फलते-फूलते हैं और कभी नष्ट नहीं होते।[3] मौर्य युग में इस त्रयी धर्म का क्या स्वरूप था, इस सम्वन्ध में भी कतिपय निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। त्रयी धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड का विशेष महत्त्व था। कौटल्य के अनुसार नगर में एक 'इज्यास्थान' (यज्ञशाला) होना चाहिये, जिसकी स्थिति राजप्रासाद के पूर्वोत्तर में हो।[4] राजा के अपने 'अग्न्यागार' (जहाँ अग्नि का आधान किया गया हो) का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में किया गया है।[5] यज्ञ कराने के लिये ऋत्विक् होते थे, जिनके पथप्रदर्शन में राजा तथा अन्य लोग याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान किया करते थे।[6] राजकीय ऋत्विक् का वेतन ४८ हजार पण था, जो मन्त्री, सेनापति आदि प्रमुख राजपुरुषों के वेतन के वरावर था।[7] दैनिक यज्ञों के अतिरिक्त राजसूय आदि विशेष क्रतुओं का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है।[8] ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन विविध यज्ञों का निरूपण किया गया है, मौर्य युग में भी उनका अनुष्ठान किया जाता होगा, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। इसी कारण कौटल्य ने नगर में इज्यास्थान की सत्ता आवश्यक मानी है, और राजा को अग्न्यागार में यज्ञों का अनुष्ठान करने का आदेश दिया है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के समान 'संस्कार' भी वैदिक धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग थे। प्राचीन धर्मशास्त्रों में सोलह संस्कारों का विधान किया गया है, जिनका अनुष्ठान प्रत्येक द्विज के

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ. ३४
२. तथा पृ. ८
३. 'त्रय्या हि रक्षितो लोको प्रसीदति न सीदति।' कौ. अर्थ. १।३
४. 'तस्य पूर्वोत्तरं भागमाचार्यपुरोहितेज्यातोयस्थानं मन्त्रिणस्चावासयेयुः।' कौ. अर्थ. २।४
५. 'अग्न्यागारगतः कार्यं पश्येद्वैद्यतपस्विनाम्।' कौ. अर्थ. १।१९
६. कौ. अर्थ. १।१९
७. कौ. अर्थ. ५।३
८. 'राजसूयादिषु क्रतुषु राज्ञः' कौ. अर्थ. ५।३

लिये आवश्यक माना जाता था। कौटल्य ने इन सोलह संस्कारों का अविकल रूप से प्रतिपादन नहीं किया है, क्योंकि राजनीति के ग्रन्थ में इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। पर राजा को शिक्षित या विनीत करने के लिये व्यवस्था करते हुए कौटल्य ने लिखा है, कि 'चौलकर्म' (मुण्डन संस्कार) करने के अनन्तर राजपुत्र को लिपि और गिनती सिखायी जाए, और उपनयन संस्कार के पश्चात् त्रयी, आन्वीक्षकी, वार्ता और दण्डनीति की शिक्षा दी जाए।[1] सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिता चुकने पर 'गोदान और दारकर्म' का समय आता है।[2] पाणिग्रहण या विवाह संस्कार ही यहाँ गोदान व दारकर्म से अभिप्रेत है। यह अनुमान कर सकना असंगत नहीं होगा कि मुण्डन, उपनयन और विवाह संस्कारों के समान अन्य संस्कार भी मौर्य युग में प्रचलित थे।

यद्यपि वैदिक धर्म मौर्य युग में भारत का प्रधान धर्म था, पर इस काल में वह एक ऐसा रूप प्राप्त कर चुका था, जो वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। प्राचीन वैदिक धर्म में न मन्दिरों के लिये कोई स्थान था, और न उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों या प्रतिमाओं का। पर मौर्य युग के वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी थी, और विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर पुष्प नैवेद्य आदि द्वारा उनकी पूजा की जानी शुरू हो गई थी। गौ को पवित्र माना जाने लगा था, और उसका दर्शन तथा प्रदक्षिणा धार्मिक अनुष्ठान के अंग बन गये थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में देवमन्दिर के लिये 'देवतागृह,[3] 'देवगृह,[4] और 'दैवत-चैत्य'[5] शब्दों का प्रयोग किया गया है, और प्रतिष्ठापित मूर्तियों के लिये चैत्य देवता,[6] चैत्य-दैवत,[7] दैवत-प्रतिमा[8] और देवता-देह[9] शब्दों का। विविध देवताओं के अपने-अपने 'ध्वज' भी होते थे,[10] जिन्हें देवमन्दिर पर फहराया जाता था। कतिपय देवी-देवताओं की मूर्तियों के हाथों में अस्त्र-शस्त्र भी रखे जाते थे, जिन्हें 'देवताप्रहरण' कहते थे।[11] मन्दिरों में

१. 'वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत। वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षकीं च शिष्टेभ्यः वार्तामध्यक्षेभ्यः दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः।' कौ. अर्थ. १।४

२. 'ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च।' कौ. अर्थ. १।४

३. 'देवतागृहप्रविष्टस्योपरि...पातयेत्।' कौ. अर्थ. १२।५

४. 'पथिकोत्पथिकाश्चरबहिरन्तश्च नगरस्य देवगृह पुण्यस्थान...' कौ. अर्थ. २।३६

५. 'दैवतचैत्यं सिद्धपुण्यस्थानमौपपादिकं वा...' कौ. अर्थ. ५।२

६. कौ. अर्थ. १।२०

७. कौ. अर्थ. ११।१

८. 'दैवतप्रतिमानां च गमने द्विगुणस्स्मृतः।' कौ. अर्थ. ४।१३

९. 'देवतादेहस्य प्रहरणानि' कौ. अर्थ. १२।५

१०. 'देवध्वजप्रतिमाभिर्वा।' कौ. अर्थ. १३।३

११. कौ. अर्थ. १२।५

प्रतिष्ठापित देवप्रतिमाओं की पूजा के लिये उनके सम्मुख 'प्रणिपात' किया जाता था,[१] पुष्प चूर्ण आदि के उपहार भेंट में दिये जाते थे,[२] और अनेकविध सुगन्धियों का धूम्र प्रदान किया जाता था।[३] अर्थशास्त्र के इन निर्देशों को दृष्टि में रख कर यह सुगमता से समझा जा सकता है, कि मौर्य युग में मन्दिरों और उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों की पूजा का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि वर्तमान समय में है।

जिन विविध देवी देवताओं की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं, कौटल्य ने उनके नाम भी दिये हैं। अर्थशास्त्र में लिखा है कि नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त और वैजयन्त के 'कोष्ठक' तथा शिव, वैश्रवण, अश्विन्, श्री और मदिरा के 'गृह' बनवाये जाए।[४] सम्भवतः, अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त और वैजयन्त देवराज इन्द्र के विभिन्न नाम हैं, और मौर्य युग में इनकी पूजा के लिये अनेक देवता-कोष्ठकों (देव-मन्दिरों) का निर्माण किया जाता था। वैश्रवण कुबेर को कहते थे, और अश्विन् वैदिक देवताओं में एक था। 'श्री' लक्ष्मी का पर्याय है। 'मदिरा' किस प्राचीन देवता को सूचित करती है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः,मदिरा भी दुर्गा और काली के समान एक देवी थी, जिसकी पूजा इस युग में प्रचलित थी। ब्रह्मा, इन्द्र, यम और सेना-पति (स्कन्द) की मूर्तियाँ बना कर उन्हें भी नगर के चार मुख्य द्वारों पर प्रतिष्ठापित किया जाता था।[५] यह माना जाता था, कि ब्रह्मा, इन्द्र, यम और स्कन्द उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं के देवता हैं, और चारों दिशाओं में निर्मित चार प्रमुख नगर-द्वारों की रक्षा के लिये इनकी मूर्तियों की स्थापना बहुत उपयोगी है। वरुण, नागराज और संकर्षण देवताओं का भी कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख है।[६] अर्थशास्त्र में जिन देवी देवताओं के नाम प्रसङ्गवश आ गये हैं, उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक देवी देवताओं की पूजा मौर्य युग में प्रचलित रही होगी, यह मान सकना कठिन नहीं है। कौटलीय अर्थशास्त्र में देशदेवता या देशदैवत, नगर देवता, दिग्देवता और राजदेवता का भी उल्लेख मिलता है, जिससे सूचित होता है कि मौर्य युग में अनेक ऐसे देवताओं की पूजा भी प्रचलित थी जिनका सम्बन्ध किसी विशिष्ट देश (जनपद), नगर या राजकुल के साथ होता था। नये जीते हुए जनपद की जनता को किस प्रकार संतुष्ट किया जाए, इसका विवेचन करते हुए कौटल्य ने लिखा

---

१. 'तासां दैवतब्राह्मणप्रणिपाततः सिद्धिः।' कौ. अर्थ. ९।७

२. कौ. अर्थ. ७।१७

३. 'पुष्पचूर्णोपहारेण वा गन्ध प्रतिच्छिन्नं वाऽस्य तीक्ष्णं धूममतिनयेत्।' कौ. अर्थ. १२।५

४. 'आपराजिताप्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकान् शिववैश्रवणाश्विश्रीमदिरागृहं च पुर-मध्ये कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।४

५. कौ. अर्थ. २।४

६. कौ. अर्थ. १३।२ तथा १३।३

है कि उस देश (जनपद) के देशदैवत (देश देवता) के प्रति भक्ति प्रदर्शित की जाए।[1] विभिन्न वर्गों के लोगों को नगर के किन विविध प्रदेशों में बसाया जाए, इसका निरुपण करते हुए अर्थशास्त्र में नगर देवता और दिग्देवता की मूर्तियों का निर्माण करने वाले शिल्पियों के लिये नगर के उत्तरी भाग में निवास की व्यवस्था की गई है।[2] विभिन्न दिशाओं में विभिन्न दिग्देवताओं की स्थापना का प्रतिपादन भी कौटल्य द्वारा किया गया है।[3] शिव, वैश्रवण, श्री, अश्विन्, जयन्त आदि इस प्रकार के देवता थे, जिनकी पूजा भारत में सर्वत्र होती थी। पर इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे देवी देवता भी थे, जिनका सम्बन्ध किसी विशिष्ट देश या नगर के साथ ही होता था। इनकी भी मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, और उन्हें मन्दिरों में स्थापित किया जाता था।

मन्दिरों की सम्पत्ति की देखभाल करने और उनकी सुव्यवस्था के लिये राज्य की ओर से एक पृथक् अमात्य की नियुक्ति की जाती थी, जिसे 'देवताध्यक्ष' कहते थे। आर्थिक संकट के कारण जब राजकीय कोश खाली हो जाए, तो कोश की अभिवृद्धि के उपायों का निरूपण करते हुए कौटल्य ने एक उपाय यह भी बताया है, कि देवताध्यक्ष दुर्ग (नगर) देवताओं और राष्ट्र (देश या जनपद) देवताओं की सम्पत्ति को एक स्थान पर एकत्र कर उसे कोश के लिये प्राप्त करे।[4] मन्दिरों या उनमें स्थापित देवताओं की अपनी अनेकविध सम्पत्ति होती थी, यह कौटलीय अर्थशास्त्र से सर्वथा स्पष्ट है। वहाँ लिखा है कि देवपशु (जो पशु मन्दिरों की सम्पत्ति हों), देवप्रतिमा (देवताओं की मूर्तियाँ), देव-मनुष्य (जो व्यक्ति मन्दिरों की सेवा में नियुक्त हों), देव क्षेत्र (जो भूमि मन्दिरों की सम्पत्ति हो), देवगृह (जो गृह मन्दिर के स्वत्त्व में हों), देवहिरण्य, देवसुवर्ण, देवरत्न और देवसस्य (जो अन्न मन्दिर की सम्पत्ति हो) का अपहरण करने वाले को उत्तम साहस दण्ड दिया जाय या उसे मृत्युदण्ड दिया जाए।[5] देवपशुओं या देववृक्षों का उल्लेख अर्थशास्त्र में अन्यत्र भी आया है।[6] यदि कोई देवपशु किसी ऐसे स्थान पर चरने के लिये चला जाए जहाँ पशुओं का प्रवेश निषिद्ध हो, तो उसे अदण्डच माना जाता था।[7] वर्तमान समय में भी

---

१. 'देश दैवतसमाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत।' कौ. अर्थ. १३।५
२. 'नगरराजदेवतालोहमणिकारवो वा ब्राह्मणाश्चोत्तरां दिशमधिवसेयुः।' कौ. अर्थ. २।४
३. 'यथादिशं च दिग्देवताः।' कौ. अर्थ. २।४
४. 'देवताध्यक्षो दुर्गराष्ट्रदेवतानां यथास्वमेकस्थं कोशं कारयेत्।' कौ. अर्थ. ५।२.
५. 'देवपशुप्रतिमामनुष्यक्षेत्रगृहहिरण्यसुवर्णरत्नसस्यापहारिण उत्तमो दण्डः शुद्ध-बधो वा।' कौ. अर्थ. ४।१
६. कौ. अर्थ. ४।१३
७. 'ग्रामदेववृषा वा अनिर्दशाहा वा धेनुरुक्षाणो गोवृषाश्चादण्डाः।' कौ. अर्थ. ३।१०

प्रायः साँडों को देवमन्दिरों के नाम पर छोड़ दिया जाता है। ऐसी ही प्रथा मौर्य युग में भी विद्यमान थी। सम्भवतः, मन्दिरों में देवदासी रखने की प्रथा भी इस काल में विकसित हो चुकी थी। कौटल्य ने लिखा है, कि जब कोई देवदासी मन्दिर की सेवा से निवृत्त हो जाए, तो उससे सूत कतवाने का काम लिया जाए।[1]

मन्दिरों की सम्पत्ति के विषय में कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण निर्देश भी अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। ग्रामवृद्धों (ग्राम सभा के सदस्यों) का एक कर्तव्य यह भी था, कि देवद्रव्य (देवमन्दिरों की सम्पत्ति) की देखभाल किया करे।[2] इससे यह सूचित होता है, कि देवद्रव्य को जनता की सम्पत्ति माना जाता था, और मन्दिर के पुजारी उसे स्वेच्छानुसार खर्च नहीं कर सकते थे। मन्दिरों की सम्पत्ति का प्रबन्ध उन ग्रामों तथा नगरों की सभाओं द्वारा किया जाता था, जहाँ कि ये मन्दिर स्थित हों। देवद्रव्य के सम्बन्ध में अनेकविध विवादों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। इनका निर्णय धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा किया जाता था। धर्मस्थों का यह कर्तव्य था, कि वे देवद्रव्य सम्बन्धी मामलों का स्वयं भी निर्णय किया करें, इस बात की प्रतीक्षा बिना किये कि किसी वादी द्वारा उन्हें न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाए। साथ ही, इन मामलों के बारे में इस बात को भी महत्त्व नहीं दिया जाता था, कि उन्हें अवधि के अन्दर प्रस्तुत किया गया है और ऐसे न्यायालय के सम्मुख निर्णय के लिये रखा गया है—देवद्रव्य जिसके क्षेत्राधिकार में हो।[3]

मौर्य युग में अनेक ऐसे उत्सवों, यात्राओं और समाजों का भी आयोजन किया जाता था, जिनका सम्बन्ध देवमन्दिरों के साथ होता था। ऐसे उत्सवों आदि का उल्लेख अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर मिलता है।[4] वर्तमान समय के हिन्दू मन्दिरों में भी अनेक प्रकार के उत्सव मनाये जाते हैं, और कतिपय देवप्रतिमाओं की यात्रा (रथयात्रा) भी निकाली जाती है। यही दशा मौर्य युग में भी थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि पौराणिक हिन्दू धर्म की पूजाविधि का जो रूप आजकल पाया जाता है, मौर्य युग में भी उसका विकास प्रारम्भ हो गया था, और प्राचीन याज्ञिक कर्मकाण्ड का स्थान मूर्तिपूजा ने लेना शुरू कर दिया था।

गौओं को पवित्र मानने की परम्परा भी मौर्य युग में विकसित हो चुकी थी। राजा की दैनिक दिनचर्या का निरूपण करते हुए कौटल्य ने लिखा है, कि दिन के आठवें भाग में राजा स्वस्त्ययन आदि के अनन्तर सवत्स धेनु और वृषभ की प्रदक्षिणा करके उपस्थान (राजसभा)

---

१. 'विधवान्यङ्गाकन्या. . .व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत्।' कौ. अर्थ. २।२३
२. 'बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात्, देवद्रव्यं च।' कौ. अर्थ. २।१
३. 'देवब्राह्मणतपस्विस्त्रीबालवृद्धव्याधितानामनाथामनभिसरतां धर्मस्थाः कर्माणि कुर्युः। न च देशकालभोगच्छलेनातिहरेयुः।' कौ. अर्थ. ३।२०
४. कौ. अर्थ. १२।५ तथा ५।२

में जाए।[1] गौ के प्रति सम्मान की भावना को सूचित करने वाले निर्देश अर्थशास्त्र में अन्यत्र भी विद्यमान हैं।

(३) विश्वास और तन्त्र-मन्त्र

मौर्य युग के भारतीय विविध देवी-देवताओं के अतिरिक्त कतिपय ऐसी रहस्यमयी सत्ताओं में भी विश्वास करते थे, जिन्हें आधुनिक समय में भूत, प्रेत या जिन्न आदि संज्ञाओं से जाना जाता है। कौटल्य ने इन्हें 'रक्षांसि' कहा है। आठ दैवी महाभयों में 'रक्षांसि' भी एक है। जिस प्रकार अग्नि, उदक, व्याधि (महामारी), दुर्भिक्ष, मूषिका, व्याल (हिंस्र पशु) और सर्पों के उत्पात के निवारण के लिये उपाय करना आवश्यक है, वैसे ही 'रक्षांसि' के उत्पातों का निवारण भी किया जाना चाहिये। इस प्रयोजन से कौटलीय अर्थशास्त्र में आथर्वण उपायों और 'मायायोगविद्' तापसों द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का आश्रय ग्रहण करने की व्यवस्था की गई है।[2] इन अनुष्ठानों के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें अधिक ज्ञान नहीं है। पर रक्षों के महाभय को दूर करने का एक उपाय यह था, कि पर्वों के अवसर पर छत्र, उल्लोपिका, हस्त (सम्भवतः, हाथ का चित्र), पताका और छागोपहार (बकरे की वलि) द्वारा चैत्यपूजा करायी जाए।[3] रक्ष एक ऐसी सत्ता थे, जो अदृश्य, अज्ञात और रहस्यमय थे। अतः उनके भय को दूर करने का उपाय भी ऐसा ही हो सकता था, जो कि 'माया योग' के ज्ञाताओं द्वारा निरूपित हो। रक्षों की सत्ता के सम्बन्ध में जनता का विश्वास इतना वद्धमूल था, कि कौटल्य ने अनेक प्रकार से राज्य और राजा की भलाई के लिये उसका उपयोग करने का सुझाव दिया है। राज्यकोश की कमी को पूरा करने का एक उपाय यह भी था, कि राजा के गुप्तचर किसी वृक्ष पर 'रक्षोभय' प्रदर्शित करें और उसका निवारण करने के लिये पौर जानपदों से धन प्राप्त करें।[4] जिस प्रसंग में इस उपाय का उल्लेख है, वहाँ कितने ही ऐसे साधन प्रतिपादत किये गये हैं, जिन द्वारा जनता के अन्ध विश्वासों का उपयोग कर धन प्राप्त किया जा सकता है। राजा के गुप्तचर वृक्षों पर स्वयं ऐसे दृश्य प्रस्तुत करें, जो कि 'मनुष्यकर' (मनुष्यों द्वारा किये हुए) होते हुए भी रक्षोभय प्रतीत हों। जब लोगों को यह विश्वास हो जाए, कि रक्षों का महाभय उपस्थित है, तो सिद्धों का भेस बनाये हुए गुप्तचर उन से यथेष्ट धन रक्षोभय का निवारण करने के उद्देश्य से प्राप्त कर सकते

---

१. 'अष्टमे ऋत्विगाचार्यपुरोहितसखः स्वस्त्ययनानि प्रतिगृह्णीयात्।...सवत्सां धेनं वृषभं च प्रदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत्।' कौ. अर्थ. १।१९

२. 'रक्षोभये रक्षोघ्नान्यथर्ववेदविदो मायायोगविदो वा कर्माणि कुर्युः।' कौ. अर्थ. ४।३

३. 'पर्वसु च वितर्दिछत्रोल्लोपिकाहस्तपताकाच्छागोपहारैः चैत्यपूजाः कारयेत्" कौ. कौ. अर्थ. ४।३

४. 'मनुष्यकरं वा वृक्षे रक्षोभयं रूपयित्वा सिद्धव्यञ्जनाः पौरजानपदानां हिरण्येन प्रतिकुर्युः। कौ अर्थ ५।२

हैं। इसी प्रकार शत्रु राजा के विनाश के लिये भी रक्षों की सत्ता में विश्वास को प्रयुक्त करने का विधान कौटल्य ने किया है। जब कोई शत्रु राजा अपने सुदृढ़ दुर्ग में आश्रय लेकर बैठ जाए और उसे दुर्ग से बाहर निकलने के लिये विवश किये बिना परास्त कर सकना सम्भव प्रतीत न हो, तब दुर्ग से बाहर आने के लिये शत्रु को प्रेरित करने के जो उपाय कौटल्य ने लिखे हैं, उनमें एक यह भी है कि कुछ लोग रीछ के चर्म धारण करके रक्षों का रूप बना लें, और गीदड़ों की बोली बोलते हुए दायें से बायें ओर दुर्ग के तीन चक्कर लगाएँ।[1] इस दृश्य को देख कर दुर्ग में आश्रय लिये हुए शत्रु को रक्षों की सत्ता का भय प्रतीत होने लगेगा, और उसका निवारण करने के लिये वह ज्यों ही दुर्ग से बाहर आयगा, उसका घात करना सुगम हो जायगा।

केवल 'रक्षोभय' के निवारण के लिये ही आथर्वण उपायों और मायायोगविदों द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का प्रयोग नहीं किया जाता था, अपितु व्याधि, दुर्भिक्ष आदि अन्य दैवी विपत्तियों के निवारण के लिये भी ये साधन प्रयोग में लाये जाते थे। व्याधि को दूर करने के लिये जहाँ चिकित्सक औषधियों का प्रयोग करते थे, वहाँ सिद्ध तापस शान्ति-प्रायश्चित द्वारा भी उन्हें शान्त करते थे।[2] महामारी के फैलने पर श्मशान में गाय को दुहने और धड़ को जलाने जैसे उपाय भी प्रयोग में लाये जाते थे।[3] कौटल्य का यह मत था, कि दैवी भयों के प्रतीकार के लिये माया योगविद् सिद्ध तापस अत्यन्त उपयोगी होते हैं, अतः राजा उन्हें सम्मानपूर्वक अपने राज्य में बसाए और उनकी पूजा भी किया करे।[4]

मायायोगविद् और सिद्धतापस जिन उपायों द्वारा दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का निवारण किया करते थे, कौटल्य ने उन्हें 'आथर्वण' और 'औपनिषदिक' क्रियाओं की संज्ञा प्रदान की है। अर्थशास्त्र में एक पूरा अधिकरण है, जिसमें इन औपनिषदिक क्रियाओं का विशद रूप से निरूपण किया गया है।[5] इन औपनिषदिक प्रयोगों में अनेकविध विषों और उग्र औषधियों को काम में लाया जाता था, और साथ ही अनेक तन्त्र-मन्त्रों और जादू टोनों को भी। इन प्रयोगों के अनेक प्रयोजन थे, जैसे बहुत बड़ी संख्या में दूसरों को बेहोश कर देना या उनका घात कर देना, किसी प्रदेश में जलाशयों और नदियों के जल को दूषित कर देना, बीमारी उत्पन्न करना या महामारी फैलाना, अपने को अदृश्य कर लेना, चिरकाल तक

---

१. 'ऋक्षचर्मकञ्चुकिनो वा अग्निधूमोत्सर्गयुक्ता रक्षोरूपं वहन्तस्त्रिरपसव्यं नगरं कुर्वाणाः शिवास्सृगालवाशितान्तरेषु तथैव ब्रूयुः।' कौ. अर्थ. १३।२

२. 'व्याधिभय मौपनिषदिकैः प्रतीकारैः प्रतिकुर्युः। औषधैश्चिकित्सकाः, शान्तिप्रायश्चित्तैर्वा सिद्धतापसाः।' कौ. अर्थ. ४।३

३. 'गवां श्मशानावदोहनं कवन्धदहनं देवरात्रिं च कारयेत्। कौ० अर्थ० ४।३

४. 'मायायोगविदस्तस्माद्विषये सिद्धतापसाः।
वसेयुः पूजिता राज्ञा दैवापत्प्रतिकारिणः॥' कौ. अर्थ. ४।३

५. कौ. अर्थ. १४ वाँ अधिकरण

भोजन के विना रह सकना, किसी को अन्धा कर देना, वन्द द्वार को मन्त्र वल से खोल देना, दूसरों को वश में कर लेना, रात्रि के अन्धकार में भी देख सकना, व्याधि का निवारण करना, किसी को गूंगा और वहरा वना देना और विष के प्रभाव को नष्ट करना। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत-से प्रयोजनों के लिये कौटल्य ने औपनिषदिक प्रयोगों का प्रतिपादन किया है। इन प्रयोगों के लिये जो औषधियां व अन्य सामग्री अपेक्षित थी और इनका अनुष्ठान करते हुए जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था, उन सबका विवरण भी कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है। यह निर्णय कर सकना कठिन है कि ये औपनिषदिक प्रयोग किस अंश तक कार्यक्षम थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग के भारतीय इन पर विश्वास करते थे, और क्रियात्मक दृष्टि से भी इनका उपयोग किया करते थे। शत्रु सेना के घात के लिये, शत्रु के दुर्ग की विजय के लिये और शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिये कौटल्य ने इन प्रयोगों का निरूपण किया है, और साथ ही अपने गुप्तचर विभाग के लिये भी। मौर्य शासनतन्त्र के वहुत-से गुप्तचर सिद्ध तापसों का भेस बनाकर भी शत्रु राज्य का भेद लेने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। ये गुप्तचर इसी कारण अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि सर्वसाधारण जनता जादू टोने, तन्त्र-मन्त्र और अलौकिक सिद्धियों में विश्वास रखती थी।

कौटल्य के अनुसार औपनिषदिक प्रयोगों का उपयोग केवल अधर्मिष्ठ (जो धार्मिक न हों) लोगों के विरुद्ध ही किया जाना चाहिये और वह भी इस प्रयोजन से कि चातुर्वर्ण्य की रक्षा की जा सके।[1]

मौर्य युग के भारतीय तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने और अभिचार क्रियाओं आदि में भी विश्वास रखते थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र से स्पष्ट है। इनका उपयोग वे पर-स्त्री या पर-पुरुष को वश में लाने, प्रभूत सम्पत्ति को प्राप्त करने, शत्रु के राज्य में बीमारी फैलाने, सन्तान की प्राप्ति और चिरायु होने सदृश प्रयोजनों से किया करते थे। पर-स्त्री को वश में करने की क्रिया को 'संवनन' कहते थे। कौटल्य ने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि वह मन्त्र के प्रयोग, औषधि या श्मशान में किये जाने वाले अनुष्ठान द्वारा स्त्रियों को वश में ला सकता है, तो सत्री (गुप्तचर) जाकर उसे कहे—'मैं अमुक की पत्नी, कन्या या वधू की कामना करता हूँ। मैं चाहता हूँ, कि वह भी मेरी कामना करने लगे। इसके लिये आप यह धन स्वीकार कर लें।' यदि वह व्यक्ति ऐसा करने को उद्यत हो जाए, तो उसे 'संवनन-कारक' मान कर प्रवासित कर दिया जाए।[2] कौटल्य को संवननकारक लोग पसन्द नहीं थे,

---

१. **'चातुर्वर्ण्यरक्षार्थमौनिषदिकमधर्मिष्ठेषु प्रयुञ्जीत।' कौ. अर्थ. १४।१**

२. **'यं वा मन्त्रयोगमूलकर्मभिश्श्माशानिकैर्वा संवननकारकं मन्येत, तं सत्री ब्रूयात् "अमुष्य भार्यां स्नुषां दुहितरं वा कामये। सा मां प्रतिकामयतां अयं चार्थः प्रतिगृह्यताम्।" सचेत्तथा कुर्यात् 'संवननकारकः' इति प्रवास्येत।)' कौ. अर्थ. ४।४**

वे उन्हें राज्य के लिये हानिकारक भी समझते थे। पर तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग द्वारा पर-स्त्रियों को वश में करने की प्रथा मौर्य युग में विद्यमान थी, यह असंदिग्ध है।

तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग का सहारा 'जम्भक विद्या' में भी लिया जाता था। धन की प्राप्ति आदि के लिये इस विद्या का उपयोग किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है--सिद्ध का भेस बनाकर गुप्तचर 'दूष्य' (जिस पर अपराधी होने का सन्देह हो) व्यक्ति के पास जाए और जम्भक विद्या द्वारा और अधिक धन प्राप्त करने के लिये प्रेरित करते हुए उसे कहे---'मैं ऐसे कर्म (अनुष्ठान) में प्रवीण हूँ, जिससे मनुष्य अक्षय हिरण्य (अनन्त धन) की प्राप्ति, राजद्वारिक (राजद्वार में प्रवेश), स्त्री हृदय (स्त्री के हृदय को जीत सकना), अरिव्याधिकर (शत्रु को रुग्ण कर देने), आयुष्यं (स्वयं चिरायु प्राप्त कर सकना) और पुत्रीयं (पुत्रप्राप्ति) में सफलता प्राप्त कर सकता है। यदि दूष्य व्यक्ति सत्री (गुप्तचर) की बात में विश्वास कर ले, तो किस प्रकार चैत्य में ले जाकर उसे अपने वश में ले आया जाए,[1] इसका कौटल्य ने विशद रूप से प्रतिपादन किया है। इसमें सन्देह नहीं, कि जम्भक विद्या द्वारा सिद्ध तापस लोग ऐसे अनुष्ठान किया करते थे, जिनसे अक्षय हिरण्य की प्राप्ति हो सके, राजद्वार में प्रवेश सम्भव हो, पर-स्त्री के हृदय को वश में लाया जा सके, शत्रु को रुग्ण किया जा सके, स्वयं चिरायु हुआ जा सके और पुत्र की प्राप्ति की जा सके।

जम्भक विद्या के समान 'माणव विद्या' का उपयोग भी जादू टोने और तन्त्र-मन्त्र आदि के लिये किया जाता था। इस विद्या का प्रयोग करने में कुशल व्यक्ति मन्त्र द्वारा बन्द द्वारों को खोल देते थे, जागते हुए लोगों को सुला देते थे, किसी भी मनुष्य को अदृश्य कर देते थे, और पर-स्त्री को वश में ले आते थे। इन कार्यों के लिये वे द्वारापोहमन्त्र (ऐसा मन्त्र जिससे बन्द द्वार खुल जाए), प्रस्वापन मन्त्र (ऐसा मन्त्र जिससे जागता हुआ मनुष्य सो जाए), अन्तर्धानमन्त्र (जिससे मनुष्य अदृश्य हो जाए) और संवनन मन्त्र (जिससे परस्त्री वश में आ जाए) का प्रयोग किया करते थे। सम्भवतः, कौटल्य इस विद्या में विश्वास नहीं रखते थे। इसका प्रयोग उन्होंने अपने सत्रियों (गुप्तचरों) द्वारा इस प्रयोजन से कराया है, ताकि चोरों और डाकुओं को पकड़ा जा सके। सिद्ध का वेश बनाये हुए गुप्तचर ऐसे लोगों के पास जाएँ, जिन पर कि डाकू आदि होने का सन्देह हो। अपने साथी गुप्तचरों की सहायता से उन्हें वे यह विश्वास दिलाएँ कि वे माणव विद्या में प्रवीण हैं, और बन्द द्वारों को मन्त्र शक्ति से खोल सकते हैं, जागते हुए मनुष्य को सुला सकते हैं, किसी को भी अदृश्य कर सकते हैं, और पर-स्त्री को वश में ला सकते हैं। ये सब कार्य गुप्तचर स्वयं करके दिखायेंगे, पर किसी जादू-टोने या तन्त्र-मन्त्र से नहीं, अपितु पहले से सिखाये हुए अपने गुप्तचर साथियों की

---

१. 'सिद्धव्यजनो वा दूष्यं जम्भकविद्याभिः प्रलोभयित्वा ब्रूयात्--"अक्षयं हिरण्यं राजद्वारिकं स्त्रीहृदयमरिव्याधिकरमायुष्यं पुत्रीयं वा कर्म जानामि" इति। प्रतिपन्नं चैत्यस्थाने रात्रौ प्रभूतसुरामांसगन्धमुपहारं कारयेत्।' कौ. अर्थ. ५।२

सहायता से।[१] पर इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग की सर्व साधारण जनता को तन्त्र-मन्त्र और जादू टोने में विश्वास था। इसीलिये वह सिद्ध तापसों का भेस बनाये हुए गुप्तचरों के वश में सुगमता से आ जाती थी।

मौर्य युग में सर्वसाधारण लोग किस हद तक सिद्ध तापसों की अलौकिक शक्तियों में विश्वास रखते थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र के उस प्रसङ्ग से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें शत्रुओं को परास्त करने के लिये कुटिल नीति का निरूपण किया गया है। वहाँ लिखा है—मुण्ड या जटिल के भेस में गुप्तचर वहुत-से चेलों के साथ नगर के समीप आकर ठहर जाएँ। लोगों को यह जताया जाए, कि सिद्ध की आयु चार सौ साल है, और वह पर्वत की गुहा के निवासी हैं। शिष्य जन अपने गुरु के लिये मूल फल प्राप्त करने के प्रयोजन से नगर में जाकर राजा और अमात्यों को भगवद्दर्शन (अपने सिद्ध गुरु के दर्शन) के लिये प्रेरित करें। जब राजा दर्शन के लिये आये, तो उसे पुराने राजा और देश के सम्वन्ध में बातें वताए और कहे—'सौ-सौ वर्ष की आयु के पूर्ण हो जाने पर मैं अग्नि में प्रवेश करके फिर से वाल हो जाता हूँ। अव मैं आपके सम्मुख चौथी वार अग्नि में प्रवेश करूँगा। आप अवश्य ही देखने के लिये आइये। जो इच्छा हो, तीन वर माँग लें।' जव राजा को सिद्ध के प्रति विश्वास हो जाए, तो उसे यह कहा जाए कि अव आप अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ सात दिन-रात यहाँ आकर निवास करें और धार्मिक कृत्यों का अवलोकन करें। जब राजा वहाँ निवास के लिये आ जाए, तो उसे पकड़ लिया जाए।[२] कौटलीय अर्थशास्त्र का यह उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि मौर्य युग के भारतीयों के विश्वास प्रायः उसी ढंग के थे, जैसे आजकल भी भारतीयों में पाये जाते हैं। मुण्ड या जटिल सिद्ध तापस का भेस बनाकर गुप्तचर लोग न केवल सर्वसाधारण जनता को अपितु अमात्यों और राजाओं को भी ठग लिया करते थे। इसका कारण यही था, कि उस काल में तन्त्र-मन्त्र, अलौकिक सिद्धि, अभिचार-क्रिया आदि के प्रति लोगों का विश्वास वहुत वद्धमूल था।

फलित ज्योतिष में विश्वास के सम्वन्ध में भी अनेक निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। ज्योतिषियों के लिये कौटल्य ने मौहूर्तिक, नैमित्तिक और कार्तान्तिक शब्दों का प्रयोग किया है। मुहूर्त, निमित्त (शकुन), स्वप्न (सुपने), लक्षण या अङ्गविद्या (शरीर के विविध चिन्ह तथा हस्तरेखाएँ आदि), नक्षत्रों की स्थिति और पशु-पक्षियों की आवाज

---

१. 'ततो द्वारापोहमन्त्रेण द्वाराण्यपोह्य 'प्रविश्यताम्' इति ब्रूयुः। अन्तर्धानमन्त्रेण जाग्रतामारक्षिणां मध्येन माणवानतिक्रमायेयुः, प्रस्वापनमन्त्रेण प्रस्वापयित्वा रक्षिणश्शय्याभिर्माणवैस्संचारयेयुः। संवननमन्त्रेण भार्याव्यञ्जनाः परेषां माणवैस्संमोदयेयुः।' कौ. अर्थ. ४।५

२. कौ. अर्थ १३।२

द्वारा ज्योतिषी लोग भविष्यफल बताया करते थे।[१] ज्योतिषियों को राजकीय सेवा में भी रखा जाता था। कौटल्य ने कार्तान्तिक, नैमित्तिक और मौहूर्तिक के लिये एक सहस्र पण वार्षिक वेतन का विधान किया है।[२] विविध प्रकार के ये ज्योतिषी जहाँ भावी घटनाओं के विषय में राजा को सूचित करते रहते थे, वहाँ साथ ही गुप्तचर विभाग में भी इनका बहुत उपयोग था। बहुत-से गुप्तचर मौहूर्तिक आदि के वेश बनाकर ही जनता की गतिविधि पर दृष्टि रखा करते थे, और शत्रु राज्य के गुप्त भेदों का पता किया करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है, कि कौटल्य को फलित ज्योतिष, नक्षत्र फल आदि पर अधिक विश्वास नहीं था। इसीलिये लाभ-विघ्नों (जिन बातों से लाभ प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होता है) का परिगणन करते हुए उन्होंने काम, क्रोध, मान आदि के साथ ही 'मङ्गलतिथि-नक्षत्रेष्टित्व' का भी उल्लेख किया है, जिसका अभिप्राय मङ्गलकारी तिथि और इष्ट नक्षत्र के प्रति विश्वास रखना है।[३] कौटल्य की सम्मति में नक्षत्रों को इष्ट या अनिष्ट मानना और मंगल तिथि की तलाश में रहना कार्यसिद्धि और लाभ के मार्ग में बाधक ही थे, साधक नहीं। इसीलिये उन्होंने यह भी लिखा है—"जो मूर्ख लोग बहुत अधिक नक्षत्र की परवाह करते हैं, अर्थ (सफलता या समृद्धि) उनसे निवृत्त हो जाते हैं। अर्थ ही अर्थ का नक्षत्र होता है (सम्पत्ति से ही सम्पत्ति प्राप्त होती है), तारे इस सम्बन्ध में क्या कर सकते हैं। सैकड़ों यत्न करने के अनन्तर ही मनुष्य अर्थ को प्राप्त कर पाता है। जिस प्रकार हाथी से हाथी वश में लाये जाते हैं, वैसे ही अर्थ से अर्थ की प्राप्ति होती है।"[४] कौटल्य की ये उक्तियाँ निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्व की हैं। यद्यपि मौर्य युग के बहुसंख्यक लोग शकुन विचारने, नक्षत्र फल जानने और अंगों के लक्षणों द्वारा भविष्य जानने के लिये प्रयत्नशील रहते थे, पर ऐसे विचारकों का भी सर्वथा अभाव नहीं था जो इन्हें निरर्थक समझते थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के धार्मिक विश्वासों का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि इस युग के भारत में वैदिक धर्म की प्रधानता थी, पर बौद्ध, आजीवक आदि अन्य सम्प्रदाय भी विद्यमान थे और सर्वसाधारण जनता में ऐसे विश्वास भी प्रचलित थे, जिनका किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था।

---

१. कौ. अर्थ. १।१२ और १३।१
२. कौ. अर्थ. ५।३
३. 'लाभविघ्नः—कामः क्रोधः. . .मंगलतिथिनक्षत्रेष्टित्वमिति।' कौ. अर्थ. ९।४
४. 'नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते ।
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः ॥
साधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् नरा यत्नशतैरपि ।
अर्थैरर्थाः प्रबाध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव ॥" कौ. अर्थ. ९।४

चौदहवाँ अध्याय

सन्य संगठन और युद्ध नीति

(१) सेना का संगठन

चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना अत्यन्त शक्तिशाली और सुसंगठित थी। तभी वह ग्रीक आक्रान्ता सैल्युकस को परास्त करने में समर्थ हुआ था। ग्रीक लेखकों के अनुसार मगध की सेना में ६,००,००० पदाति, ३०,००० घुड़सवार और ९,००० हाथी थे। रथों की संख्या के विषय में ग्रीक लेखकों में मतभेद है। कर्टियस ने उनकी संख्या २,००० लिखी है, और प्लुटार्क ने ८,०००। यह संख्या उन सैनिकों की है, जो स्थायी रूप से मगध की सैनिक सेवा में थे। इस विशाल सेना के संगठन का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ ग्रीक विवरणों से उपलब्ध होती हैं। मैगस्थनीज़ के अनुसार सेना का संचालन एक पृथक् विभाग के हाथों में था, जिसके ३० सदस्य थे। युद्ध विभाग के ये ३० सदस्य पाँच-पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों में विभक्त थे। इन उपसमितियों के अधीन निम्नलिखित कार्य थे--(१) पहली उपसमिति पदाति सेना की व्यवस्था करती थी। (२) अश्वारोही सेना का प्रबन्ध दूसरी उपसमिति के अधीन था। (३) तीसरी उपसमिति रथ सेना का प्रबन्ध करती थी। (४) चौथी उपसमिति का कार्य हस्तिसेना की व्यवस्था करना था। (५) पाँचवीं उपसमिति सेना के लिये आवश्यक खाद्य सामग्री, युद्ध के लिये उपयोगी अस्त्र-शस्त्र व अन्य उपकरण और सामान की ढुलाई के साधन जुटाने का कार्य करती थी। (६) छठी उपसमिति को इस प्रयोजन से संगठित किया गया था, कि वह जहाजी बेड़े के सेनापति के साथ सहयोग करे।[1]

पाँचवीं उपसमिति के कार्यों को मैगस्थनीज ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—यह उपसमिति बैलगाड़ियों की व्यवस्था करती है, ताकि सिपाहियों के लिये भोजन, पशुओं के लिये चारे, युद्ध के लिये आवश्यक सब सामग्री तथा सैनिक अस्त्र-शस्त्र आदि को ढोया जा सके। यही समिति उन कर्मकरों या सेवकों की भी व्यवस्था करती है, जो ढोल और नगाड़े बजाने का काम करते हैं, जो घोड़ों की परिचर्या करते हैं, और सब यन्त्रों तथा उपकरणों की देख-भाल करते हैं। मैगस्थनीज़ ने यह भी लिखा है कि हाथियों और घोड़ों के लिये राजकीय हस्तिशालाएँ और अश्वशालाएँ हैं। अस्त्र-शस्त्रों के लिये एक पृथक् आयुधागार भी है, क्योंकि सिपाहियों को युद्ध से लौटने पर अपने हथियार आदि वापस लौटा देने होते हैं।[2]

---

१. McCrindle : Magasthenee p. 88.

२. Ibid pp. 86-90.

ग्रीक लेखकों के इन विवरणों से मौर्य युग के सैनिक संगठन का कुछ आभास प्राप्त हो जाता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में सेना विभाग के संगठन का पृथक् रूप से कहीं निरूपण नहीं किया गया। पर सम्भवतः, कौटल्य ने जिन विभागों के अध्यक्षों को पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, गोऽध्यक्ष और नावध्यक्ष से सूचित किया है, वे उन्हीं उपसमितियों को निर्दिष्ट करते हैं, जिनका उल्लेख ग्रीक यात्रियों द्वारा किया गया है।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग की सेना और उसके संगठन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। कौटल्य ने सेना को चार वर्गों में विभक्त किया है—पत्ती या पदाति सेना, अश्वसेना, रथसेना और द्विप या हस्ति सेना।[१] किस प्रदेश में युद्ध करने के लिये कौन-सी सेना उपयुक्त होती है, इस पर भी अर्थशास्त्र में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। रथ सेना का प्रयोग ऐसी भूमि पर किया जा सकता है, जो समतल, सुदृढ़, और खड्डे आदि से विरहित हो। हस्ति सेना, अश्वसेना और पदाति सेना सम और विषम (ऊँची-नीची) दोनों प्रकार की भूमि पर युद्ध कर सकती है।[२] युद्ध के अवसर पर इन चारों प्रकार की सेनाओं में से प्रत्येक का क्या कार्य है, कौटल्य ने इसका भी विशद रूप से निरूपण किया है। इसमें सन्देह नहीं, कि ये चारों प्रकार की सेनाएँ क्रमशः पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष नामक अमात्यों की अधीनता में संगठित होती थीं। पत्त्यध्यक्ष का कार्य विविध प्रकार के सैनिकों की शक्ति-सामर्थ्य तथा निर्बलताओं का पता लगाते रहना होता था। मौर्य युग में अनेक प्रकार के सैनिक सेना में भरती किये जाते थे। इनके मुख्य वर्ग मौल, भृत, मित्र और अटविबल थे। इनका क्या अभिप्राय है, इसपर हम अभी प्रकाश डालेंगे। पत्त्यध्यक्ष इस बात का सही-सही पता करता था, कि जिन सैनिकों को वह अपनी सेना में भरती कर रहा है, उनकी कितनी शक्ति-सामर्थ्य है, और उनकी क्या निर्बलताएँ हैं। शत्रु की सेना के सम्बन्ध में भी वह इन बातों का पता करता था। उसके लिये यह भी आवश्यक था कि वह प्रकाश-युद्ध, कूटयुद्ध, दिवायुद्ध, रात्रियुद्ध, खनक युद्ध (खाई से लड़े जाने वाले युद्ध) और आकाश-युद्ध (ऊंचाई से लड़े जाने वाले युद्ध) में प्रवीण हो और सैनिकों को इन विभिन्न प्रकार के युद्धों का अभ्यास (व्यायाम) भी करा सकें।[३] निस्सन्देह, मौर्य युग की सेना के संगठन में पत्त्यध्यक्ष का बहुत महत्त्व था।

अश्वाध्यक्ष न केवल विविध नसलों के घोड़ों को पालने की व्यवस्था करता था, अपितु युद्ध के लिये उन्हें प्रशिक्षित कराना भी उसी का कार्य था।[४] घोड़ों के सम्बन्ध में जो कार्य

---

१. 'स्वभूमिः पत्त्यश्वरथ द्विपानामिष्टा युद्धे निवेशे च।' कौ. अर्थ. १०।४

२. कौ. अर्थ. १०।४

३. 'स मौलभृतश्रेणिमित्रामित्राटवीबलानां सारफल्गुतां विद्यात्। निम्नस्थलप्रकाशकूटखनकाकाशदिवारात्रियुद्धव्यायामं च विद्यात्।' कौ. अर्थ. २।३३

४. कौ. अर्थ. २।३०

अश्वाध्यक्ष करता था, वही हाथियों के लिये हस्त्यध्यक्ष करता था।[1] रथ अनेक प्रकार के होते थे। युद्ध या सेना के लिये प्रयुक्त होने वाले रथ साङ्ग्रामिक, पारियाणिक, पर-पुराभियानिक और वैनयिक कहाते थे। रथ पर सारथि के अतिरिक्त रथिक आदि भी रहते थे, जो तीर कमान, अस्त्र-शस्त्र, आवरण और उपकरणों आदि से सुसज्जित हुआ करते थे।[2] रथसेना का संचालन रथाध्यक्ष द्वारा किया जाता था। इन चार प्रकार की (पदाति, रथ, अश्व और हस्ति) सेनाओं को ही 'चतुरङ्ग वल' कहते थे। कौटल्य ने नौ-सेना का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि ग्रीक यात्रियों के विवरणों से जल सेना की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'नावध्यक्ष' का उल्लेख अवश्य है, पर उसके जो कार्य प्रतिपादित किये गये हैं, उनमें जल सेना का संचालन नहीं है। सम्भवतः, नावध्यक्ष का प्रमुख कार्य जलमार्गों और उनमें प्रयुक्त होने वाली विविध प्रकार की नौकाओं की व्यवस्था करना ही था, और समुद्र मार्ग से आने-जानेवाले जहाज, बन्दरगाह आदि भी उसी के नियन्त्रण में थे। जल सेना का अभी भारत में अधिक विकास नहीं हुआ था। पर नावध्यक्ष और उसके कर्मचारियों को जलयुद्ध की भी कभी-कभी आवश्यकता हो जाती थी, इसमें सन्देह नहीं। कौटल्य ने लिखा है, कि हिंस्रिका नौकाओं को नष्ट कर दिया जाए, और साथ ही ऐसी नौकाओं को भी जिन्होंने कि वन्दरगाह के नियमों तथा व्यवहार का उल्लंघन किया हो।[3] नावध्यक्ष अपने इस कर्तव्य का पालन तभी कर सकता था, जबकि उसके पास ऐसी नौकाएँ व जहाज भी रहें जो जलयुद्ध में समर्थ हों।

सेना के संगठन का क्या रूप था, इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र का यह कथन महत्त्व का है कि सेना के दस अंगों के एक पति (पदाधिकारी) को 'पदिक' कहा जाता है, दस पदिकों के ऊपर जो एक पदाधिकारी हो उसकी संज्ञा 'सेनापति' होती है, और दस सेनापतियों के ऊपर एक 'नायक' होता है।[4] इस कथन से यह प्रगट होता है, कि सेना के संगठन में पदिक, सेनापति और नायक एक दूसरे की तुलना में अधिक ऊँचे पदाधिकारी होते थे। पर सेनापति और नायक की गणना राज्य के अष्टादश तीर्थों में भी की गई है, और उनके वेतन क्रमशः ४८ हजार पण और १२ हजार पण निर्धारित किये गये हैं।[5] इससे यह भली भाँति अनुमान किया जा सकता है, कि सेनापति की स्थिति नायक की तुलना

---

१. कौ. अर्थ. २।३१

२. कौ. अर्थ. २।३३

३. **'हिंस्रिका निर्घातयेत्। अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च।'**
कौ. अर्थ. २।२८

४. **'अङ्गदशकस्यैकः पतिः पदिकः। पदिकदशकस्यैकः सेनापतिः, तद्दशकस्यैको नायक इति।' कौ. अर्थ. १०६**

५. **कौ. अर्थ. ५।३**

में अधिक ऊँची थी। सेनापति के सम्बन्ध में कौटल्य का यह कथन महत्त्व का है—उसे सम्पूर्ण युद्धविद्या तथा प्रहरण (अस्त्र-शस्त्र) विद्या में पारङ्गत होना चाहिये। हाथी, घोड़े तथा रथ के सञ्चालन में वह समर्थ हो, और चतुरङ्ग (पदाति, रथ, अश्व और हस्ति) वल के कार्यों तथा स्थान को वह भली भाँति जाने। अपनी भूमि (मोरचा), युद्ध का काल, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेदन, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण, एकत्र सेना को तितर-वितर करना, तितर-वितर हुई सेना का संहार करना, किले को तोड़ना और युद्ध-यात्रा का समय आदि बातों का वह (सेनापति) ध्यान रखे।[1] निःसन्देह, ये कार्य एक ऐसे महामात्य के हैं, जो सैनिक विभाग का सर्वोच्च अधिकारी हो। सेनापति का वेतन मन्त्री, पुरोहित, युवराज और राजमहिषी के समान है, और समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा और धर्मस्थ जैसे राजपदाधिकारियों का वेतन उससे कम रखा गया है। नायक का वेतन केवल १२ हजार पण है, जो सेनापति के वेतन का एक चौथाई है। अतः यह स्वीकार कर सकना कदापि सम्भव नहीं है, कि सैन्य संगठन में नायक की स्थिति सेनापति की अपेक्षा अधिक ऊँची थी। सम्भवतः, सेनापति संज्ञा जहाँ सेना के सर्वोच्च अधिकारी के लिये प्रयुक्त होती थी, वहाँ दस पदिकों के ऊपर जो सैनिक पदाधिकारी होता था उसे भी 'सेनापति' कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में नायक के दो कार्यों का उल्लेख किया गया है, वह स्कन्धावार (छावनी) तैयार कराता था,[2] और युद्ध के अवसर पर सेना के आगे-आगे चलता था। ऐसे समय सेनापति सेना के पीछे रहता था।[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र में हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य, हस्तिपाल और रथिक संज्ञा के कर्मचारियों का भी उल्लेख है। हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य और रथमुख्य के वेतन हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और रथाध्यक्ष से दुगने रखे गये हैं।[4] इससे यह अनुमान सहज में किया जा सकता है, कि हस्तिमुख्य आदि की स्थिति हस्त्यध्यक्ष आदि से अधिक ऊँची थी। सम्भवतः, हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य और रथमुख्य सैनिक पदाधिकारी थे, और रणक्षेत्रमें हस्ति-सेना आदि का सञ्चालन इन्हीं द्वारा किया जाता था। हस्तिपाल का वेतन हस्त्यध्यक्ष के बराबर था, और रथिक का इनसे आधा। सेना के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र में जो निर्देश विद्यमान हैं, वे उसके संगठन को समझने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। पर उनसे मौर्य युग के सैन्यसंगठन का कुछ आभास अवश्य प्राप्त हो जाता है।

चतुरङ्ग (पदाति, रथ, अश्व और हस्ति) वल के अतिरिक्त सेना का एक अन्य ढंग से विभाग भी कौटलीय अर्थशास्त्र में निरूपित है। ये विभाग निम्नलिखित हैं—मौल बल,

---

१. कौ. अर्थ. २।३३
२. कौ. अर्थ. १०।१
३. कौ. अर्थ. १०।२
४. कौ. अर्थ. ५।३

भृत (क) वल, श्रेणी वल, मित्र वल, अमित्र वल और अटविवल।[1] मौल वल में वे सैनिक होते थे, जो देश के अपने निवासियों में से भरती किये गये हों। ये ऐसे परिवारों या कुलों के साथ सम्वन्ध रखते थे, जिनकी देश या जनपद के प्रति भक्ति हो। भृत वल के सैनिक भृति (वेतन) से आकृष्ट होकर सेना में भरती हुआ करते थे। यह आवश्यक नहीं था, कि वे राजा या देश के प्रति भक्ति रखते हों। युद्ध की आवश्यकता को दृष्टि में रख कर भृति के आधार पर इन सैनिकों को सेना में भरती कर लिया जाता था। प्राचीन काल में 'श्रेणी' व्यवसायियों और शिल्पियों के संगठन को कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि कतिपय सैनिकों ने भी अपने को श्रेणियों में संगठित किया हुआ था, और युद्ध के अवसर पर ये सैनिक-श्रेणियाँ धन प्राप्त कर रणक्षेत्र में उतर पड़ती थीं। मित्र राज्य की सेना को 'मित्र वल' कहा जाता था। 'अमित्र' शत्रु को कहते हैं। परास्त शत्रु की सेना को भी युद्ध के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार की सेना को 'अमित्र बल' कहते थे। प्राचीन भारत में बहुत-सी आटविक (जंगली) जातियों का निवास था, जो युद्ध में अत्यन्त कुशल होती थीं। राजा इन्हें अपने अनुकूल वनाकर रखता था, और युद्ध के अवसर पर इनकी सैनिक क्षमता को अपने लिये प्रयुक्त किया करता था। इन आटविक जातियों की सेना को ही कौटल्य ने 'अटवि बल' कहा है।

मौर्य युग की सेना में केवल क्षत्रिय सैनिक ही नहीं होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सव वर्णों के युवकों को सेना में भरती किया जाता था। कौटल्य ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि ब्राह्मण सेना, क्षत्रिय सेना, वैश्य सेना और शूद्र सेना में किसे अधिक श्रेष्ठ समझना चाहिये। इस विषय में पुराने आचार्यों का क्या मत था और कौटल्य ने उससे किस प्रकार अपनी सहमति प्रगट की थी?[2] इस सम्वन्ध में हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

(२) सैनिक उपकरण और अस्त्र-शस्त्र

मौर्य साम्राज्य की शक्ति का प्रधान आधार उसका सैन्य बल ही था। अतः यह स्वाभाविक था, कि उसकी सेना को विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किया जाए। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के अस्त्र-शस्त्रों और अन्य सैनिक उपकरणों के सम्वन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण और उनकी सँभाल के लिये राज्य का एक पृथक् विभाग था जिसके अध्यक्ष को 'आयुधागाराध्यक्ष' कहते थे। इस अमात्य का यह कार्य था, कि संग्राम में प्रयुक्त होनेवाले, दुर्गों की रक्षा के काम में आनेवाले और शत्रु के पुरों का विनाश करने के लिये प्रयोग में

---

१. **'मौलभृतकश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां समुद्दानकालाः।' कौ. अर्थ. ९।२**

२. **कौ. अर्थ. ९।२**

लाये जाने वाले चक्र, यन्त्र, आयुध, आवरण (कवच) और अन्य उपकरणों को ऐसे शिल्पियों और कारुओं से तैयार कराए जो इनके निर्माण में कुशल हों। आयुधागाराध्यक्ष शिल्पियों का पारिश्रमिक भी निर्धारित करता था, और यह भी निश्चय करता था कि वे अपना कार्य कितने समय में सम्पादित करके दे दें और उनके उत्पादन की किस्म क्या हो।[१] इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था, कि अस्त्र-शस्त्र ऋतु प्रभाव के कारण खराब न होने पाएँ। गरमी, नमी और कीड़ों द्वारा उन्हें कोई क्षति न पहुँचने पाए, इसका ध्यान रखना भी आयुधागाराध्यक्ष का ही कार्य था।[२]

यन्त्र दो प्रकार के होते थे—स्थित यन्त्र और चल यन्त्र। जिन यन्त्रों (उपकरणों) को एक स्थान पर स्थिर रख के प्रयुक्त किया जाता था, उन्हें स्थित यन्त्र कहते थे। स्थित-यन्त्रों के भेद निम्नलिखित थे——(१) सर्वतोभद्र–पहियों से युक्त एक गाड़ी जिसके चक्रों को तेजी के साथ घुमाया जा सकता था। जब इसके चक्र घुमाये जाते थे, तो चारों ओर पत्थरों की वर्षा होने लगती थी। (२) जामदग्न्य–तीर छोड़ने का एक बड़ा यन्त्र, जिसे महाशर यन्त्र भी कहते थे। (३) बहुमुख–दुर्ग के शिखर पर बनाया हुआ अट्टालक, जिसे चारों ओर मजबूत चमड़े से ढका जाता था। इस स्थान पर खड़े होकर अनेक धनुर्धर एक साथ बाण वर्षा कर सकते थे। (४) विश्वासघाती–दुर्ग के प्रवेश द्वार पर परिखा के ऊपर लगायी हुई एक शहतीर। जब शत्रु दुर्ग पर आक्रमण करता हुआ परिखा के समीप पहुँच जाए, तो इसे गिरा कर उसका घात किया जा सकता था। (५) संघाती–दुर्ग के अट्टालक तथा अन्य भागों में आग लगाने के काम में आनेवाली एक लम्बी बल्ली। (६) यानक–पहिये पर लगायी हुई एक लम्बी बल्ली जिसे शत्रु पर फेंका जाता था। (७) पर्जन्यक–आग बुझाने का यन्त्र। (८) अर्धबाहु–ऐसे दो स्तम्भ जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर शत्रु के ऊपर गिराया जा सके। (९) ऊर्ध्व बाहु–ऊँचे स्थान पर रखा हुआ ऐसा स्तम्भ जिसे शत्रु पर गिराया जा सके।[३]

चल-यन्त्र निम्नलिखित प्रकार के थे——(१) पञ्चालिक–लकड़ी का बना हुआ एक बड़ा तख्ता, जिस पर बहुत-सी नोकीली कीलें लगायी जाती थीं। इसे दुर्ग की प्राचीर के बाहर जल में छिपाकर रखा जाता था। शत्रु को अग्रसर होने से रोक सकने में इसका उपयोग था। (२) देवदण्ड–लोहे की नोकीली कीलों वाला एक लम्बा डण्डा, जिसे किले की दीवार पर रखते थे। (३) सूकरिका–चमड़े का एक बड़ा थैला, जिसमें रूई या ऊन

१. 'आयुधागाराध्यक्षः सांग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघातिकं चक्रयन्त्रमायुधमावरण-मुपकरणं च तज्जातकारुशिल्पिभिः कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारयेत्।' कौ. अर्थ. २।१८

२. 'ऊष्मोपस्नेहक्रिमिभिरुपहन्यमानमन्यथा स्थापयेत्।' कौ. अर्थ. २।१८

३. कौ. अर्थ. २।१८

भरी जाती थी। इसे दुर्ग के बुर्जों और मार्गों की रक्षा के लिये रखा जाता था। शत्रु-सेना द्वारा पत्थरों की वर्षा होने पर सूकरिका द्वारा दुर्ग के बुर्जों आदि की रक्षा की जा सकती थी। (४) मुसल–खैर की लकड़ी की बनी हुई नोकीली छड़ी। (५) यष्टि–खैर की लकड़ी की बनी हुई छड़ी। (६) हस्तिवारक–दो या तीन नोकों वाला एक लम्बा डण्डा, जिससे हाथियों को पीछे हटाया जाता था। (७) तालवृन्त–पंखे के समान चौड़ा एक विशेष प्रकार का चक्र। (८) मुद्गर। (९) गदा। (१०) स्पृक्तला–एक ऐसा डण्डा, जिस पर नोकीली कीलें लगी हों। (११) कुदाल। (१२) आस्फाटिम–ऐसा नगाड़ा, जो चमड़े से ढका हुआ हो और जिससे बहुत ऊँची आवाज निकलती हो। (१३) औद्घाटिम–बुर्ज आदि को गिराने के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला यन्त्र। (१४) शतघ्नि–एक ऐसी ऊँची लाट जिसमें बहुत-सी नोकीली कीलें गड़ी होती थीं। इसे किले की दीवार पर रखा जाता था, और शत्रु सेना के आक्रमण करने पर उसके ऊपर गिरा दिया जाता था। (१५) त्रिशूल, और (१६) चक्र।[1]

आयुधों के भी अनेक भेद थे––हलमुख (जो हल के समान नोकीले हों), धनुष, बाण, खड्ग और क्षुरकल्प (उस्तरे के समान तेज) आदि। कौन-से आयुध किस वर्ग के अन्तर्गत किये जाते थे, इस सम्बन्ध में भी कौटलीय अर्थशास्त्र से स्पष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है। हलमुख आयुधों में निम्नलिखित अस्त्र सम्मिलित थे––(१) शक्ति–चार हाथ लम्बा धातु से निर्मित एक लम्बा हथियार जिसमें दस्ता भी लगा होता था। (२) प्रास–दो हत्थों वाला २४ अंगुल लम्बा हथियार। (३) कुन्त–पाँच छः या सात हाथ लम्बा लकड़ी का डण्डा। (४) हाटक–तीन या चार नोकों वाला एक लम्बा डण्डा। (५) भिण्डिवाल–भारी हत्थे वाला डण्डा। (६) शूल–नोकीला डण्डा। (७) तोमर–चार, साढ़े चार या पाँच हाथ लम्बा ऐसा डण्डा जिसकी नोक तीर के समान हो। (८) वराह-कर्ण–एक ऐसा डण्डा जिसकी नोक वराह के कान के समान तेज हो। (९) कणय–धातु से निर्मित ऐसा डण्डा, जिसके दोनों सिरों पर तीन-तीन नोकें हों। यह २०, २२ या २४ अंगुल लम्बा होता था, और इसे बीच से पकड़ा जाता था। (१०) कर्पण–हाथ से फेंके जाने वाला ऐसा बाण जो वजन में सात, आठ या नौ कर्ष होता था। किसी निपुण व्यक्ति द्वारा फेंके जाने पर यह १०० धनुष दूरी तक चला जाता था। (११) त्रासिक–प्रास के ढंग का धातु से निर्मित एक विशेष प्रकार का आयुध।

धनुष भी अनेक प्रकार के होते थे––(१) कार्मुक–ताल की लकड़ी से बना हुआ धनुष। (२) कोदण्ड–चाप (एक विशेष प्रकार का बाँस) से बना हुआ धनुष। (३) द्रूण–हड्डी या सींग से बना हुआ धनुष। (४) धन्वन–दारव (एक विशेष प्रकार की लकड़ी) से बना हुआ धनुष।

---

१. कौ. अर्थ. २।१८

धनुष की ज्या बनाने के लिये मूर्व, अर्क, शण (सन), गवेधु, वेणु (बाँस के रेशों से बनी रस्सी) और स्नायु (ताँत) का प्रयोग किया जाता था। बाण (इषु) भी अनेक प्रकार के होते थे—वेणु, शर, शलाका, दण्डासन और नाराच। बाणों के आगे लोहे, हड्डी या लकड़ी के ऐसे फलके लगाये जाते थे, जो काटने, फाड़ने और चीरने का काम दे सकें।

खड्ग (तलवार) के निम्नलिखित भेद होते थे—(१) निस्त्रिंश—मुड़े हुए हत्थे वाली तलवार। (२) मण्डलाग्र—इसके ऊपर एक गोल चक्र होता था। (३) असियष्टि—यह बहुत लम्बी तथा तेज धार वाली तलवार होती थी। तलवार की मूँठ बनाने के लिये गेंडे के सींग, भैंसे के सींग, हाथी दाँत, लकड़ी और बाँस की जड़ का प्रयोग किया जाता था।

क्षुरकल्प आयुधों के भेद निम्नलिखित थे—(१) परशु—२४ अंगुल लम्बा अर्धचन्द्र आकार का एक हथियार। (२) कुठार—कुल्हाड़ा। (३) पट्टस—परशु की तरह का एक ऐसा हथियार जिसके दोनों सिरों पर त्रिशूल बने होते थे। (४) खनित्र—फावड़ा। (५) कुद्दाल—कुदाल। (६) चक्र। (७) काण्डच्छेदन—एक प्रकार का बड़ा कुल्हाड़ा।

कतिपय अन्य आयुध निम्नलिखित थे—(१) यन्त्रपाषाण—ऐसे पत्थर जिन्हें यन्त्र द्वारा दूर फेंका जा सके। (२) गोष्पण पाषाण—ऐसे पत्थर जिन्हें गोष्पण संज्ञक उपकरण द्वारा दूर फेंका जा सके। (३) मुष्टिपाषाण—हाथ से फेंके जानेवाले पत्थर। (४) रोचनीदृषद—चक्की के पत्थर।

युद्ध के लिये जितना उपयोग विविध प्रकार के आयुधों का था, आवरणों का उपयोग भी उतना ही था, क्योंकि शत्रु के अस्त्र-शस्त्रों से रक्षा कर सकना आवरणों द्वारा ही सम्भव था। आत्मरक्षा के काम में आने वाले ये आवरण निम्नलिखित प्रकार के थे—(१) लोहजालिका—लोहे की जाली से बना हुआ ऐसा कवच जो सारे शरीर को अच्छी तरह से ढक लेता हो। सिर और हाथ भी इस कवच द्वारा ढके रहते थे। (२) लोहपट्ट—लोहे का ऐसा कवच जिससे बाहुओं के अतिरिक्त सारा शरीर ढका जा सके। (३) लोहकवच—लोहे से बना ऐसा कवच जिससे सिर, धड़ और बाहुओं को ढका जाए। (४) लोहसूत्रक—लोहे के सूत्र द्वारा निर्मित ऐसा कवच जिससे कमर और जंघाएँ ढकी जाएँ। (५) शिरस्त्राण—सिर की रक्षा करने वाला आवरण। (६) कण्ठत्राण—कण्ठ की रक्षा करनेवाला आवरण। (७) कूर्पास—धड़ को ढकनेवाला आवरण। (८) कञ्चुक—ऐसा कवच जो घुटनों तक पहुँचता हो। (९) वारवाण—ऐसा कवच जो एड़ी तक पहुँचता हो। (१०) पट्ट—ऐसा कवच जिसमें बाहें खुली रहें। (११) नागोदरिक—दस्ताने। (१२) वेरि-कोष्ठवल्ली नामक लता से एक प्रकार की चटाई बनायी जाती थी, जिस से शरीर को ढकने का काम लिया जाता था। (१३) चर्म—चमड़े से बनायी गई ढाल। (१४) हस्तिकर्ण—एक चौड़ा फट्टा जिसे लड़ाई के समय शरीर के आगे रखा जाता था। (१५) तालमूल-लकड़ी की ढाल। (१६) धमनिका—एक प्रकार की ढाल। (१७) कवाट—लकड़ी का तख्ता, जिसे शरीर की रक्षा के लिये प्रयुक्त करते थे। (१८) किटिक—चमड़े

या बाँस की छाल से बनाया गया आवरण। (१९) अप्रतिहत–हाथियों को पीछे ढकेलते समय प्रयुक्त होने वाला आवरण। (२०) बलाहकान्त–अप्रतिहत जैसा ही एक आवरण, जिसके सिरों पर धातु मढ़ी रहती थी।

ये सब आवरण युद्ध के समय शरीर की रक्षा के लिये प्रयुक्त किये जाते थे। इनमें से कुछ कवच के ढंग के थे, और कुछ ढाल के समान। विभिन्न प्रकार के कवच बनाने के लिये मुख्यतया लोहे का प्रयोग किया जाता था। पर गेंडे, हाथी, गौ आदि की खाल को भी कवचों के निर्माण के लिये प्रयुक्त किया जाता था।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से उन आयुधों और उपकरणों का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है, जिन्हें मौर्य युग के सैनिक प्रयोग में लाया करते थे। इसमें कहीं ऐसे आयुधों का उल्लेख नहीं है, जिनमें बारूद की आवश्यकता पड़ती हो। लड़ाई के लिये इस युग में मुख्यतया धनुष बाण और ढाल तलवार का ही प्रयोग किया जाता था। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के भाले, बरछे और चक्र भी इस काल में प्रयुक्त किये जाते थे। कौटल्य ने 'शतघ्नि' संज्ञक एक आयुध का भी उल्लेख किया है, पर यह तोप या बन्दूक न होकर अर्थशास्त्र के टीकाकार के अनुसार एक ऐसी लाट होती थी, जिसमें बहुत-सी नोकीली कीलें गड़ी रहती थीं। इसे दुर्ग की प्राचीर पर रखा जाता था, और आक्रमण के समय शत्रु-सेना पर गिरा दिया जाता था। निस्सन्देह, इस आयुध द्वारा एक साथ बहुत-से सैनिक मारे जा सकते थे या घायल किये जा सकते थे। इसीलिये उसे 'शतघ्नि' नाम दिया गया था। शत्रु सेना पर पत्थरों की वर्षा करना इस युग की युद्ध-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। वर्तमान समय में जो कार्य गोलों या बमों से लिया जाता है, मौर्य युग में वही कार्य पत्थरों से लिया जाता था, और दूर-दूर तक प्रस्तर वर्षा करने के लिये अनेक प्रकार के स्थित-यन्त्र बनाये जाते थे, जो सम्भवतः तोपों के पूर्वरूप थे।

यद्यपि सामान्यतया मौर्य युग में युद्ध के लिये धनुष-बाण, ढाल-तलवार, भाले-बरछे और चक्र आदि ही प्रयुक्त होते थे, पर कतिपय ऐसे साधनों का उपयोग भी इस काल में प्रारम्भ हो गया था जो अधिक विनाशकारी और भयंकर थे। विषैले धुएँ से शत्रु-सेना का संहार करना या शत्रु सैनिकों को अन्धा कर देना, शत्रु-राज्य के जलाशयों और कुओं के जल को दूषित कर देना और शत्रुदेश में बीमारी फैलाना; इसी प्रकार के साधन थे। कौटलीय अर्थशास्त्र के औपनिषदिक अधिकरण में इन साधनों का विशदरूप से निरूपण किया गया है।[1] इन औपनिषदिक उपायों के अतिरिक्त कतिपय अन्य साधनों का उपयोग भी इस काल में प्रारम्भ हो गया था, जो साधारण अस्त्र-शस्त्रों की तुलना में अधिक विनाशकारी थे। ऐसा एक साधन 'अग्निबाण' था। प्राचीन संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर अग्नि-बाणों का उल्लेख आया है। पर इनसे किस प्रकार के आयुध अभिप्रेत थे, यह कौटलीय

१. कौ. अर्थ. १४।१

अर्थशास्त्र से ही स्पष्ट होता है। वहाँ इस प्रकार के मसाले के नुसखे दिये हैं, जो तुरन्त आग पकड़ लेते हैं। इन्हें 'अग्नियोग' कहा गया है। जिस वाण पर इस 'अग्नियोग' का अवलेप किया गया हो, उसे 'अग्नि वाण' कहते थे।[१] शत्रु के दुर्ग में आग लगाने के प्रयोजन से इन अग्निवाणों का प्रयोग किया जाता था। अग्नियोग मसाले से लिप्त ये बाण जब शत्रु के दुर्ग पर गिर कर किसी कड़ी चीज़ से टकराते थे, तो ये तुरन्त जल उठते थे और इनसे दुर्ग में आग लग जाती थी। अग्नियोग के अनेक नुसखे कौटलीय अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। सरल, देवदारु, पूतितृण, गुग्गुल, श्रीवेष्टक (तारपीन), सर्ज्जरस और लाक्षा (लाख) के चूरे को गधे, ऊँट और भेड़ बकरी की मींगनियों के साथ मिलाकर यदि गुलिकाएँ बना ली जाएँ, तो वे तुरन्त जल उठती हैं।[२] अग्नियोग का एक नुसखा यह है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक नुसखे अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। अग्नियोग का लेप कर जहाँ अग्निबाण बनाये जाते थे, वहाँ इस चूर्ण को शत्रु की छावनी और दुर्ग आदि पर भी इस प्रयोजन से बड़ी मात्रा में फेंका जाता था, ताकि वहाँ आग लग जाए। श्येन (बाज़), काक (कौआ), शुक (तोता), शारिका, उलूक, (उल्लू), कपोत (कबूतर) आदि पक्षियों को पकड़ कर उनकी पूँछों के साथ अग्नि योग चूर्ण को बांध किया जाता था। इन पक्षियों के घोंसले प्रायः दुर्ग में ही होते थे। अतः साँझ होने पर जब ये अपने घोंसलों को वापस लौटते थे, तो अग्नियोग चूर्ण के कारण उनमें आग लग जाती थी, और इससे शत्रु के दुर्ग को भी भय हो जाता था।[३] विजिगीषु राजा के जो गूढ़पुरुष (गुप्तचर) शत्रु राजा के दुर्ग में विद्यमान हों, उन्हें यह आदेश था कि वे नकुल (नेवला), वानर, विडाल (बिल्ला) और कुत्तों को पकड़ कर उनकी पूँछों में अग्नियोग बाँध दें, और उन्हें ऐसे मकानों की ओर भगा दें जो कि लकड़ी, फूँस आदि के बने हों।[४] अग्नियोग चूर्ण या अग्नियोग गुलिकाओं द्वारा शत्रु के दुर्ग तथा स्कन्धावार में आग लगाने के अन्य भी अनेक ढंग अर्थशास्त्र में प्रतिपादित किये गये हैं। इससे सूचित होता है, कि साधारण तीर-कमान और ढाल-तलवार आदि के अतिरिक्त अग्निवाणों और अग्नियोगों का प्रयोग भी मौर्य युग के युद्धों में प्रारम्भ हो चुका था। बारूद

---

१. 'सर्वलोहचूर्णमग्निवर्णं वा कुम्भीसिसित्रपुचूर्णं वा पारिभद्रकपलाशपुष्पकेशमषीतैल-मधूच्छिष्टकश्रीवेष्टकयुक्तोऽग्नियोगः, विश्वासघाती वा। तेनावलिप्तः शणत्र-पुसीसवल्कवेष्टितो बाण इत्यग्नियोगः।' कौ. अर्थ. १३।४

२. 'सरलदेवदारुपूतितृण गुग्गुलश्रीवेष्टकसर्ज्यरसलाक्षागुलिकाः खरोष्ट्राजावीनां लण्डं चाग्निधारणम्।' कौ. अर्थ. १३।४

३. 'दुर्गवासिनः श्येनकाकनप्तृभासशुकशारिकोलूककपोतान् ग्राहयित्वा पुच्छस्वग्नि-योगयुक्तान् पर दुर्गे विसृजेयुः।' कौ. अर्थ. १३।४

४. 'गूढ़पुरुषाश्चान्तदुर्गपालका नकुलवानरविडाल शुनां पुच्छेष्वग्नि योगमाधाय काण्ड-निचयरक्षाविधानवेश्मसु विसृजेयुः।' कौ. अर्थ. १३।४

का आविष्कार अभी नहीं हुआ था, पर अग्नियोग एक ऐसा द्रव्य अवश्य था, जिसे बारूद का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है।

(३) युद्ध के विविध प्रकार और व्यूह रचना

कौटलीय अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के युद्धों का उल्लेख किया गया है—प्रकाश-युद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णींयुद्ध।[1] जो लड़ाई खुले तौर पर लड़ी जाए, उसे 'प्रकाश-युद्ध' कहते थे। जिस लड़ाई में कूट साधनों का प्रयोग किया जाए, उन्हें 'कूट युद्ध' कहा जाता था। जब गूढ़-पुरुषों द्वारा शत्रु का नाश किया जाए, और खुल कर लड़ाई लड़ने की आवश्यकता न हो, तो ऐसे युद्ध को 'तूष्णींयुद्ध' की संज्ञा दी जाती थी। किस परिस्थिति में किस प्रकार का युद्ध किया जाना उचित है, इसका प्रतिपादन भी कौटल्य ने किया है। जिसका सैन्यबल शक्ति-शाली हो, जिसने कूटनीति में सफलता प्राप्त की हुई हो और जिसने सब प्रकार के संकटों या भयों के निवारण की व्यवस्था कर ली हो, ऐसे राजा को प्रकाश-युद्ध करना चाहिये।[2] जब राजा को यह विश्वास हो कि उसकी शक्ति शत्रु की तुलना में अधिक है, तभी प्रकाश युद्ध करना उचित है। अन्यथा, कूट युद्ध का आश्रय लेकर शत्रु को परास्त करना चाहिये। कूटयुद्ध के अनेक प्रकार थे। यह प्रदर्शित किया जाए कि अपनी सैन्यशक्ति बहुत निर्बल है, और पीछे हटना शुरू कर दिया जाए। अपने को पीछे हटता देखकर शत्रु सुरक्षित स्थान का परित्याग कर ऐसी भूमि पर चला आयगा जो सुरक्षित नहीं होगी। शत्रु को ऐसी भूमि पर आया देख तुरन्त पलट कर उस पर आक्रमण कर दिया जाए। रात्रि के समय शत्रु-सेना पर आक्रमण किया जाए, जिसके कारण शत्रुराज्य के सैनिक रात भर सोने न पाएँ। अगले दिन थकान और नींद के कारण जब वे सोने लगें, तो उन पर पुनः हमला कर दिया जाए। जब धूप शत्रु-सेना के मुख पर पड़ रही हो या हवा का रुख शत्रु-सेना की ओर हो, तब उस पर आक्रमण कर दिया जाए। इसी ढंग के कूटयुद्ध के अन्य भी अनेक प्रकार कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखे गये हैं।[3] युद्ध के अवसर पर इस प्रकार की पद्धतियों को अपनाना एक साधारण बात है। मौर्य युग में भी शत्रु को परास्त करने के लिये अनेकविध साधन प्रयुक्त किये जाते थे। तुष्णीं-युद्ध में सैनिकों और आयुधों का प्रयोग नहीं किया जाता था। गूढ़पुरुष (गुप्तचर) शत्रु-राज्य में जाकर अव्यवस्था उत्पन्न करते थे, और राजपुरुषों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़काकर कार्यसिद्धि का प्रयत्न करते थे।

---

१. **'विक्रमस्य प्रकाशयुद्धं कूटयुद्धं, तूष्णीं युद्ध मिति।' कौ. अर्थ. ७।६**

२. **'बलविशिष्टः कृतोपजापः प्रतिविहितकर्तुस्स्वभूम्यां प्रकाशयुद्धमुपेयात्।' कौ. अर्थ. १०।३**

३. **कौ. अर्थ. १०।३**

देश की रक्षा के लिये दुर्गों का बहुत महत्त्व था। नगर (जनपद की राजधानी) का निर्माण दुर्ग के रूप में ही किया जाता था। राजधानी के अतिरिक्त जनपद की सीमाओं पर अन्य भी अनेक दुर्ग बनाये जाते थे, जिनमें स्थापित सेनाएँ 'अन्तपालों' की अधीनता में रहती थीं।[१] सीमान्त प्रदेश में स्थित इन दुर्गों की रक्षा की उत्तरदायिता अन्तपालों की ही मानी जाती थी। सीमाओं पर स्थित इन दुर्गों का प्रयोजन शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा करना ही होता था। इन्हें प्रायः ऐसे स्थानों पर बनाया जाता था, जहाँ सुरक्षा की प्राकृतिक परिस्थितियाँ विद्यमान हों। ये दुर्ग अनेक प्रकार के होते थे—(१) औदक–जो दुर्ग किसी नदी के द्वीप में स्थित हो या ऐसे स्थान पर बना हो जिसके चारों ओर की भूमि नीची हो। (२) पार्वत–जिस दुर्ग को किसी पहाड़ी पर बनाया गया हो या पर्वतगुहा में। (३) धान्वन–जल से शून्य मरुभूमि में या झाड़ झंकाड़ से परिपूर्ण जमीन पर बनाया हुआ दुर्ग। (४) वनदुर्ग—जंगल में बना हुआ दुर्ग।[२] किसी भी देश के सीमावर्ती प्रदेशों में अनेकविध प्राकृतिक परिस्थितियाँ हो सकती हैं। सीमा पर कोई नदी हो सकती है, कोई पहाड़ी हो सकती है, मरुभूमि अपने देश को दूसरे देश से पृथक् कर सकती है, और सीमावर्ती क्षेत्र में सघन जंगल भी हो सकते हैं। अतः कौटल्य ने चारों प्रकार के अन्तपाल-दुर्गों का निरूपण किया है। राज्य की सुरक्षा के लिये ये चारों प्रकार के दुर्ग बनाये जाते थे, और अन्तपाल नामक अमात्य की अध्यक्षता में इनमें सेनाएँ स्थापित की जाती थीं।

सेनाएँ जहाँ दुर्गों में रहती थीं, वहाँ उनके लिये स्कन्धावार (छावनियाँ) भी स्थापित किये जाते थे। स्कन्धावारों के लिये ऐसी भूमि चुनी जाती थी, जो वास्तुक विज्ञान की दृष्टि से प्रशस्त हो। यह भूमि या तो वृत्त (गोलाकार) हो, या चतुरश्र (चौकोर) हो और या दीर्घ (आयताकार) हो। स्कन्धावार के लिये निर्धारित इस भूमि पर चारों दिशाओं में चार द्वार बनाये जाते थे, और साथ ही छः सड़कें।[३] शत्रु इस पर आक्रमण न कर सके, इस प्रयोजन से स्कन्धावार के चारों ओर दीवार भी बनायी जाती थी, जो खाई से घिरी होती थी। वप्र (प्राचीर या दीवार) के ऊपर अट्टालक (बुर्ज) भी बनाये जाते थे, ताकि उनपर खड़े होकर शत्रु की गतिविधि का निरीक्षण किया जा सके। स्कन्धावार को नौ संस्थानों में विभक्त किया जाता था। केन्द्र से उत्तर की ओर जो संस्थान (स्कन्धावार का विभाग) हो, उसमें राजा के निवास के लिये व्यवस्था की जाती थी। राजा के निवास

---

१. 'अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि।' कौ. अर्थ. २।१

२. 'चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्। अन्तर्द्वीपं स्थलं वा, निम्नावरुद्धमौदकं, प्रास्तरं गुहां वा पार्वतं, निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं, खजनोदकं स्तम्बगहनं वा वनदुर्गम्।' कौ. अर्थ. २।३

३. 'वास्तुक प्रशस्तवास्तुनि...स्कन्धावारं वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा, भूमिवशेन वा चतुर्द्वारं षट्पथं नवसंस्थानं मापयेयुः।' कौ. अर्थ. १०।१

का यह स्थान लम्बाई में १००० धनुष और चौड़ाई में ५०० धनुष होता था। इसके पश्चिम में अन्तःपुर बनाया जाता था, जिसके अन्त में अन्तर्वंशिक सैन्य स्थापित की जाती थी। स्कन्धावार के अन्य संस्थानों में मन्त्रि, पुरोहित आदि अमात्यों, मौल सेना और भृतक सेना, अश्व, रथ और हस्ति, सामान की ढुलाई के लिये शकट आदि के लिये स्थान नियत थे। कोष्ठागार, महानस, आयुधागार आदि के लिये भी पृथक्-पृथक् स्थानों की व्यवस्था की जाती थी। स्कन्धावार के चारों ओर गूढ़पुरुष नियत किये जाते थे, ताकि शत्रुओं की गतिविधि को जाना जा सके। स्कन्धावार एक दुर्ग के रूप में होता था, जिसमें राजा, मन्त्री, अमात्य, सैनिक आदि सबके निवास तथा सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की जाती थी।[1] स्कन्धावार में विवाद, सौरिक (मद्यपान), समाज (सामूहिक मनोरञ्जन) और द्यूत का निषेध था। मुद्रा (प्रवेशपत्र) दिखाकर ही कोई व्यक्ति स्कन्धावार से बाहर आ-जा सकता था।[2] दुर्गों के समान स्कन्धावार भी अन्तपाल के अधीन होते थे। स्कन्धावार में जो भी सेनानी (सेनानायक) और आयुध (अस्त्र-शस्त्र) हों, उन सब पर अन्तपाल का नियन्त्रण रहता था।[3]

शत्रु पर आक्रमण और स्वदेश की रक्षा आदि के प्रयोजन से जब स्कन्धावार कहीं प्रयाण (प्रस्थान) करती थी, तो यह पहले ही देख लिया जाता था कि सेना के मार्ग में कौन-कौन से ग्राम और अरण्य (जंगल) पड़ेंगे, और उनसे किस मात्रा में अन्न, ईंधन और जल प्राप्त किया जा सकेगा। इसे दृष्टि में रखकर ही यह निर्धारित किया जाता था, कि सेना दिन में कितना प्रयाण करे और कहाँ-कहाँ पड़ाव डाले। सेना के लिये जितनी भोज्य सामग्री की आवश्यकता समझी जाए, उससे दुगनी मात्रा में उसे साथ ले जाने का प्रबन्ध किया जाता था। इस सामग्री की ढुलाई की व्यवस्था यदि न की जा सके, तो सैनिकों से ही उसे ढोने का काम लिया जाता था।[4] स्कन्धावार के प्रयाण करने पर नायक उसके आगे-आगे रहता था, और सेनापति सबसे पीछे।[5] नायक और सेनापति के बीच में विविध प्रकार के सैनिक, हाथी, अश्व आदि किस प्रकार से रखे जाएँ, इस सबका भी कौटल्य ने विशद रूप से निरूपण किया है। अधम कोटि की सेना एक दिन में एक योजन प्रयाण कर सकती थी, मध्यम कोटि की डेढ़ योजन और उत्तम कोटि की दो योजन।[6]

---

१. कौ. अर्थ. १०।१
२. 'विवादसौरिकसमाजद्यूतवारणं च कारयेत्। मुद्रारक्षणं च।' कौ. अर्थ. १०।१
३. 'सेनानीवृत्तमायुधीयमशासनमन्तपालोऽनुबध्नीयात्।' कौ. अर्थ. १०।१
४. 'ग्रामारण्यानामध्वनि निवेशान् यवसेन्धनोदकवशेन परिसंख्याय स्थानासनगमनकालं च यात्रां यायात्। तत्प्रतिकारद्विगुणं भक्तोपकरणं वाहयेत्। अशक्तो वा सैन्येष्व...प्रयोजयेत्।' कौ. अर्थ. १०।२
५. 'पुरस्तान्नायकः...पश्चात् सेनापतिर्यायात्।' कौ. अर्थ. १०।२
६. 'योजनमधमाः, अध्यर्धं मध्यमाः, द्वियोजनं उत्तमाः।' कौ. अर्थ. १०।२

युद्ध के समय सेना की अनेक प्रकार से व्यूहरचना की जाती थी। पदाति, रथ, अश्व और हस्ति—चारों प्रकार के सैनिकों को एक विशेष ढंग से खड़ा किया जाता था। पदाति सैनिकों के बीच में एक शम (शम=१४ अंगुल) का अन्तर छोड़ा जाता था। घुड़सवारों के बीच में तीन शमों का अन्तर, रथों के बीच में पाँच शमों का अन्तर और हाथियों के बीच में दस या पन्द्रह शमों का अन्तर रखकर सैनिकों को युद्ध के लिये खड़ा किया जाता था। व्यूह अनेक प्रकार के होते थे, जिनमें चार मुख्य थे—दण्ड व्यूह, भोगव्यूह, मण्डल व्यूह और असंहत-व्यूह। इन विभिन्न प्रकार के व्यूहों का स्वरूप क्या था, इस विषय में कौटलीय अर्थशास्त्र से अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। पर उसे यहाँ उल्लिखित करना विशेष उपयोगी नहीं होगा। दण्डव्यूह के भी अनेक भेद थे, जैसे प्रदरव्यूह, दृढकव्यूह, असह्य व्यूह, श्येनव्यूह, सञ्जय व्यूह, स्थूलकर्ण व्यूह, विशाल विजयव्यूह, चमूमुखव्यूह और झषास्यव्यूह आदि। भोग (सर्प) व्यूह भी अनेक प्रकार के थे—सर्पसारीव्यूह, गोमूत्रिकाव्यूह, शकटव्यूह, मकर-व्यूह और वारिपतन्तक व्यूह। मण्डलव्यूह और असंहतव्यूह के भी बहुत-से भेद कौटलीय अर्थशास्त्र में निरूपित हैं, और उन सबकी रचना किस ढंग से की जाती है, इस सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश वहाँ विद्यमान हैं।[1]

युद्ध के लिये जहाँ सेना को अनेक प्रकार के व्यूहों में संगठित किया जाता था, वहाँ साथ ही कतिपय अन्य बातें भी दृष्टि में रखी जाती थीं। यह आवश्यक समझा जाता था, कि सेना के पीछे स्वभूमि (राजा की अपनी भूमि) में कोई पार्वत दुर्ग या नदी दुर्ग अवश्य हो, जहाँ आवश्यकता पड़ने पर सेना आश्रय ग्रहण कर सके।[2] जिस स्थान पर सेना व्यूह रचना कर युद्ध के लिये तैयार हो, उससे कोई २०० धनुष (५०० गज के लगभग) की दूरी पर सैनिकों, युद्ध सामग्री तथा अन्य आवश्यक सामान का संग्रह करके रखा जाना भी अत्यन्त उपयोगी माना जाता था।[3] आवश्यकता पड़ने पर इस अतिरिक्त सामग्री तथा सैनिकों को युद्ध के लिये प्रयुक्त किया जा सकता था। चिकित्सक भी सेना के साथ-साथ रहते थे। अनेक-विध शस्त्र (शल्य चिकित्सा के उपकरण), यन्त्र (चिकित्सा कार्य में सहायक उपकरण), अगद (औषधि), स्नेह (विविध प्रकार के तैल) और वस्त्र (पट्टियाँ आदि) चिकित्सकों के पास रहते थे। साथ ही, ऐसी स्त्रियाँ भी सेना के चिकित्सकों के साथ रहती थीं, जो अन्न (भोजन) और पान (पेय) की व्यवस्था करती थीं।[4] चिकित्सकों और उनके साथ

१. कौ. अर्थ. १०।६

२. 'पार्वतं वा नदीदुर्गं सापसारप्रतिग्रहम्।
स्वभूमौ पृष्ठतः कृत्वा युध्येत निविशेत च॥' कौ. अर्थ. २०।२

३. 'द्वे शते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत्प्रतिग्रहः।
भिन्नसंघातनं तस्मान्न युध्येताप्रतिग्रहः॥' कौ. अर्थ. १०।५

४. 'चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः, स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः।' कौ. अर्थ. १०।३

की स्त्रियों का सेना के पीछे-पीछे रहने का यही प्रयोजन था, कि घायल हुए सैनिकों की चिकित्सा और सेवाशुश्रूषा की व्यवस्था की जा सके।

युद्ध के समय सैनिकों में उत्साह का सञ्चार करने के लिये अनेकविध उपाय प्रयोग में लाये जाते थे। सैनिकों को एकत्र कर राजा उन्हें संबोधन करता हुआ कहता था—'मुझे भी आपके समान वेतन ही दिया जाता है। मुझे इस राज्य को आपके साथ मिलकर ही भोगना है। जिस शत्रु का मैं निर्देश करूँ, आप उसका घात करें।'[1] सैनिकों को यह भी कहा जाता था कि वेदों के अनुसार यज्ञों द्वारा जो फल प्राप्त किया जाता है, शूर लोग युद्ध में उसे सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। ज्योतिषी लोग भी सैनिकों को यह जताते थे, कि युद्ध में उनकी विजय होगी और शत्रु का पराभव सुनिश्चित है।[2] सेनापति द्वारा अनेक पारितोषिकों की भी घोषणा की जाती थी। शत्रु देश के राजा को मारने पर एक लाख पण, कुमार और सेनापति को मारने पर पचास हजार पण, प्रवीर मुख्य को मारने पर दस हजार पण, हस्ति का संहार और रथ का विनाश करने पर पाँच हजार पण, अश्व को मारने पर एक हजार पण, पदाति मुख्य को मारने पर सौ पण और शत्रु-सेना के किसी भी सैनिक का सिर काट कर ले आने पर बीस पण पुरस्कार देने की व्यवस्था थी। सैनिकों को यह भी अनुमति थी कि युद्ध में जो भी माल वे लूट में प्राप्त करें, उसे वे अपने पास रख सकें। युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् सैनिकों को उनके वेतन का दुगना पारितोषिक के रूप में भी प्रदान किया जाता था।[3]

शत्रु राज्य से युद्ध करते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि धन और जन का व्यर्थ संहार न हो। इसी लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में यह व्यवस्था की गयी है, कि शत्रु के दुर्ग या स्कन्धावार को आक्रान्त करते समय निम्नलिखित वर्गों के व्यक्तियों के प्रति अभय प्रदर्शित किया जाए और उन पर शस्त्र का प्रयोग न किया जाए–(१) पतित–शत्रु-सेना के जो सैनिक जमीन पर लेट जाएँ। (२) पराङमुख–जिन्होंने अपनी पीठ आक्रान्ता की ओर कर ली हो। (३) अभिपन्न—जिन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया हो। (४) मुक्तकेश–जिन्होंने अपने बाल खोल दिये हों। (५) मुक्तशस्त्र–जिन्होंने हथियार डाल दिये हों। (६) भय विरूप—भय के कारण जिनकी शक्ल बिगड़ गई हो। (७) अयुध्यमान–जो युद्ध में

---

१. 'संहत्य दण्डं ब्रूयात्—"तुल्यवेततोऽस्मि, भवद्भिस्सह भोग्यमिदं राज्यं, मयाभिहितः परोऽभिहन्तव्यः।" इति।' कौ. अर्थ. १०।३

२. कौ. अर्थ. १०।३

३. 'सेनापतिरर्थमानाभ्यामभिसंस्कृतमनीकमिभाषेत—"शतसाहस्रो राजवधः, पञ्चाशत्साहस्रः सेनापतिकुमारबधः, दशसाहस्रः प्रवीरमुख्यबधः, पञ्चसाहस्रो हस्तिरथबधः, साहस्रोऽश्ववधः, शत्यः पत्तिमुख्यवधः, शिरो विंशतिकं, भोगद्वैगुण्यं स्वयं ग्राहश्च।" इति।' कौ. अर्थ. १०।३

भाग न ले रहे हों।[१] मौर्य युग की भारतीय सेनाओं की इसी युद्ध-नीति के कारण मैगस्थनीज़ यह लिख सका था, कि "भूमि जोतनेवाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध क्यों न हो रहा हो, किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्षों के योद्धा युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुए हों उन्हें वे पूर्णतया निर्विघ्न रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से नाश करते हैं और न उसके पेड़ ही काटते हैं।" कौटल्य की यही नीति थी, कि युद्ध में जनता का कम-से-कम विनाश हो। इसी कारण उन्होंने यह प्रतिपादित किया है, कि शत्रुराज्य को जीतने का प्रयत्न करते हुए युद्ध के लिये जो स्थान चुना जाए, वहाँ के निवासियों को उस स्थान से हटा कर अन्यत्र बसा दिया जाए और उनके प्रति अनुग्रह प्रदर्शित किया जाए। "जनता से विहीन कोई जनपद हो ही कैसे सकता है? जनता से शून्य जनपद न राज्य ही होता है, और न जनपद ही,[२]" अतः यह प्रयत्न किया जाना चाहिये कि युद्ध में जनता का विनाश न होने पाए।

कौटल्य सम्पूर्ण भारत-भूमि को एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र समझते थे। उन्होंने लिखा है, कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण जो यह भूमि है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है। उनके प्रयत्न से इस विशाल भूखण्ड में एक साम्राज्य स्थापित हुआ। मगध के राजा अपने साम्राज्य के विस्तार में पहले से ही तत्पर थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शौर्य और कौटल्य की नीति-कुशलता ने हिमालय से समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण भारत-भूमि में मगध के आधिपत्य को स्थापित किया। इस प्रदेश में जो बहुत-से जनपद विद्यमान थे, उन सबको मगध के सम्राटों ने जीत कर अपने अधीन किया। इन विजयों के लिये अनेक युद्धों की भी आवश्यकता हुई। अतः स्वाभाविक रूप से कौटल्य ने विजिगीषु राजा के लिये युद्धों और विजय की नीति की उपयोगिता को स्वीकार किया है। उन्होंने तीन प्रकार के 'विजयी' (विजेता) लिखे हैं—धर्म विजयी, लोभ विजयी और असुर विजयी। धर्म विजयी राजा वह है, जो अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट हो जाए। लोभ विजयी तभी संतुष्ट होता है, जब कि वह परास्त राजा की भूमि और धन को अपने स्वत्व में ले आए। असुर विजयी के संतोष के लिये भूमि और धन का अपहरण ही पर्याप्त नहीं होता, वह तभी संतुष्ट होता है जब कि परास्त राजा के प्राणों को ले ले और उसकी रानी तथा पुत्रों का भी अपहरण कर ले।[३] कौटल्य की यह नीति थी, कि जो राजा विजिगीषु की अधीनता

---

१. 'परदुर्गमवस्कन्द्य स्कन्धावारं वा पतितपराङ्मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभयमयुध्यमानेभ्यश्च दद्युः।' कौ. अर्थ. १३।४

२. 'न ह्यजनो जनपदो राज्यं जनपदं वा भवतीति कौटल्यः।' कौ. अर्थ. १३।५

३. 'त्रयोऽभियोक्तारो धर्मासुरलोभविजयिन इति। तेषामभ्यवपत्त्या धर्मविजयी तुष्यति...। परेषामपि भयात् भूमिद्रव्यहरणेन लोभविजयी तुष्यति...। भूमिद्रव्य पुत्रदारप्राणहरणेन असुरविजयी...।' कौ. अर्थ. १२।१

स्वीकार कर ले, उसके प्रति उदारता से बरता जाए। पर यदि कोई अधीनता स्वीकार करने को उद्यत न हो, और विजिगीषु के प्रति विरोध भाव रखे, तो उसका विनाश करने में कोई कसर न रखी जाए। इसी नीति का अनुसरण कर कौटल्य और चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल मागध साम्राज्य की स्थापना की थी। पड़ोसी राजाओं के प्रति कैसा बरताव किया जाए, उन्हें किस प्रकार अपना मित्र व वशवर्ती बनाया जाए और किस नीति से अपने साम्राज्य का विस्तार किया जाए, कौटलीय अर्थशास्त्र में इन बातों का विशद रूप से निरूपण किया गया है। यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा, कि अर्थशास्त्र में निरूपित नीति का अनुसरण करके ही मौर्यों ने अपने उस साम्राज्य का निर्माण किया था, जो विस्तार की दृष्टि से मुगलों और ब्रिटिश युग के भारत से भी अधिक विशाल था। निस्सन्देह, मौर्यों की युद्धनीति अत्यन्त उत्कृष्ट थी।

पन्द्रहवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु और राजा बिन्दुसार का शासन

(१) चन्द्रगुप्त का अन्तिम समय

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य २४वर्ष तक पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर आरूढ़ रहा। ३२५ ई०पू० में सिकन्दर ने भारत से अपने देश की ओर प्रस्थान किया था। यही समय था, जबकि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी भारत में यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया,और सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय राज्यों की सैन्य-शक्ति को संगठित कर अपने उत्कर्ष का श्रीगणेश किया। दो वर्षों के स्वल्पकाल में उन्होंने न केवल भारत से यवन-शासन का अन्त कर दिया, अपितु नन्दराज का विनाश कर मगध के साम्राज्य को भी हस्तगत कर लिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने ३२३ ई०पू० में राज्य प्राप्त किया, और २९९ ई०पू० तक उसने मागध साम्राज्य के शासन-सूत्र का सञ्चालन किया। चौबीस वर्ष के अपने राज्य-काल में उसने मागध साम्राज्य को सारे उत्तर भारतमें विस्तीर्ण कर दिया। उसके काल की जो भी घटनाएँ हमें ज्ञात हैं, उन सबका उल्लेख इस ग्रन्थमें पहले किया जा चुका है। चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार मगध का राजा बना। पर बिन्दुसार ने चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् राजसिंहासन प्राप्त किया या चन्द्रगुप्त के राज्य त्याग देने पर—इस विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। दिगम्बर जैन अनुश्रुति के अनुसार राजा चन्द्रगुप्त ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आचार्य भद्रबाहु से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और दक्षिण में जाकर अनशन द्वारा प्राणों का त्याग किया था। यह लिखने की आवश्यकता नहीं, कि जैन मुनि बनकर चन्द्रगुप्त ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था, और उसके पुत्र बिन्दुसार ने मागध साम्राज्य का शासन-सूत्र सँभाल लिया था। अतः यह स्पष्ट है, कि यदि चन्द्रगुप्त के जैन मुनि बनकर दक्षिण चले जाने की कथा सत्य है, तो २९९ ई० पू० में चन्द्रगुप्त की मृत्यु नहीं हुई थी, अपितु उसने स्वेच्छापूवक अपने राज्य का परित्याग कर दिया था। जैन मुनि बनकर चन्द्रगुप्त दक्षिण में गया या नहीं, इस प्रश्न पर दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों में मतभेद है। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया था, और वहीं उसके जीवन का अन्त हुआ था। पर श्वेताम्बर जैन इसे स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे भी चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन होना प्रतिपादित करते हैं।

जैन अनुश्रुति में राजा चन्द्रगुप्त के जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में जो अनेक कथाएँ विद्यमान हैं, उन्हें यहाँ संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना उपयोगी है। हरिषेण-

कृत बृहत्कथाकोश के अनुसार भद्रबाहु पुण्ड्रवर्धन देश के रहनेवाले एक ब्राह्मण के पुत्र थे। एक दिन खेलते हुए उन्होंने एक के ऊपर एक करके चौदह गट्टू रख दिये। चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धन ने भद्रबाहु को यह करते हुए देखा। उसकी प्रतिभा से प्रभावित होकर गोवर्धन ने भद्रबाहु को उसके पिता से माँग लिया, और पढ़ा-लिखाकर उसे विद्वान् बना दिया। बाद में भद्रबाहु ने अपने गुरु से मुनि व्रत की दीक्षा ग्रहण की, और गोवर्धन के पश्चात् वह पाँचवें श्रुतकेवली हुए। भ्रमण करते हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु एक दिन उज्जयिनी गये। उस समय वहाँ चन्द्रगुप्त नाम का राजा राज्य कर रहा था। उज्जयिनी में घूमते हुए भद्रबाहु ने ज्यों ही एक गृह में प्रवेश किया, एक शिशु ने कहा––'शीघ्र यहाँ से चले जाओ।' भद्रबाहु दिव्य ज्ञानी थे। शिशु के वचन को सुन कर वह समझ गये, कि यहाँ बारह वर्ष तक वर्षा नहीं होगी। वह भोजन ग्रहण किये बिना ही वहाँ से लौट गये, और अपने साथी मुनियों के पास जाकर उन्होंने उनसे कहा––मेरी आयु अब अधिक शेष नहीं बची है, अतः मैं यहीं पर ठहरूँगा। पर आप सब यहाँ से चले जाएँ, और समुद्र के समीप के प्रदेश में निवास करें। जब चन्द्रगुप्त को बारह वर्ष की अनावृष्टि और दुर्भिक्ष का समाचार ज्ञात हुआ, तो उसने भी भद्रबाहु से मुनिव्रत की दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि होने के पश्चात् चन्द्रगुप्त का नाम विषाखाचार्य रखा गया, और उन्हें मुनि-संघ का अधिपति बना दिया गया। चन्द्रगुप्त (विषाखाचार्य) को श्रुतकेवली पद तो प्राप्त नहीं हुआ, पर दस पूर्वियों में उन्हें प्रथम स्थान मिला। भद्रबाहु के आदेशानुसार अब मुनि संघ ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और दक्षिणापथ में पहुँचकर पुन्नाट नामक नगर में आश्रय ग्रहण किया।[1]

---

१. बृहत्कथाकोश, कथा १३१। श्लोक ३५–४०

एतस्मिन् विषये नूनमनावृष्टिर्भविष्यति।
तथा द्वादशवर्षाणि दुर्भिक्षं च दुरुत्तमम् ॥३५॥
अयं देशो जनाकीर्णो धनधान्यसमन्वितः।
शून्यो भविष्यति क्षिप्रं नृपतस्करलुण्ठनैः ॥३६॥
अहमत्रैव तिष्ठामि क्षीणमायुर्ममाधुना।
भवन्तः साधवो यात लवणाब्धिसमीपताम् ॥३७॥
भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः ॥३८॥
चन्द्रगुप्तिमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्णिताम्।
सर्वसंघाधियो जातो विषखाचार्यसंज्ञकः ॥३९॥
अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथदेशस्थ पुन्नाटविषयं ययौ ॥४०॥

भद्रबाहु-चरित्र में यही कथा इस रूप में दी गई है—अवन्ति देश में चन्द्रगुप्त नाम का राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्त ने रात को सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होने पर उसे भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैन नगरी के बाहर एक सुन्दर उद्यान में ठहरे हुए थे। वनपाल ने आकर सूचना दी, कि 'गण के अग्रणी' आचार्य भद्रबाहु 'मुनिसंदोह' के साथ पधारे हुए हैं। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा, और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली, और अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा में दत्तचित्त होकर तत्पर हो गया। कुछ दिनों बाद भद्रबाहु स्वामी श्रेष्ठी जिनदास के घर गये। वहाँ एक बालक अकेला पालने पर झूल रहा था। यद्यपि बालक की आयु केवल साठ दिन की थी, पर भद्रबाहु को देखकर उसने 'जाओ, जाओ' ऐसा वचन बोलना प्रारम्भ कर दिया। इसे सुनते ही भद्रबाहु समझ गये कि अब शीघ्र ही बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। अतः उन्होंने निश्चय किया, कि अपने ५०० मुनियों को साथ लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया जाए। दक्षिण पहुँच कर कुछ ही समय पश्चात् आचार्य भद्रबाहु को ज्ञात हो गया, कि अब उनकी आयु बहुत कम शेष रह गई है। अतः उन्होंने अपने स्थान पर विशाखाचार्य को नियुक्त कर दिया, और स्वयं एकान्त स्थान पर रहते हुए अन्तिम समय की प्रतीक्षा करने लगे। इस अन्त समय में भी चन्द्रगुप्ति मुनि गुरु की सेवा में ही रहे। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्ति को अपने पास रहने से बहुत मना किया, पर उसने गुरु की सेवा में रहने का ही निश्चय किया। एकान्त में निवास करते हुए अनशन व्रत द्वारा भद्रबाहु ने गिरिगुहा में अपने प्राणों का त्याग किया। इसके पश्चात् मुनि चन्द्रगुप्ति उसी गिरिगुहा में निवास करने लगे, जहाँ उनके गुरु अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु ने प्राण त्याग किये थे। दक्षिण की ओर प्रस्थान करने और मुनि व्रत ग्रहण करने से पूर्व ही राजा चन्द्रगुप्ति ने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप दिया था।[१]

श्रीमन्नेमिदत्त द्वारा विरचित आराधना कथाकोष में भी इसी प्रकार की कथा पायी जाती है। उसे पृथक् रूप से यहाँ उल्लिखित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बारह वर्ष के घोर दुर्भिक्ष की सम्भावना पर आचार्य भद्रबाहु ने अपने मुनि-गण के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया था, और 'यतियों (मुनियों) से विमुक्त होने के कारण दुखी

---

१. "अवन्ती विषयेऽत्राथ विजिताखिलमण्डले । ५ ।
चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राचकाशच्चारुगुणोदयः । ८ ।
शरद्द्वादशपर्यन्तं दुर्भिक्षं मध्यमण्डले ॥६१॥
इति निर्वेदमाधाय भवभ्रमणभीतधीः ।
राज्यं स्वसूनवे दत्त्वा गेहे गेहेऽतिसंभ्रमात् ॥६२॥

होकर उज्जयिनीनाथ राजा चन्द्रगुप्त भी भद्रबाहु से दीक्षा लेकर मुनि बन गया था"[1] इसी प्रकार की कथा पुण्याश्रव कथाकोष में भी विद्यमान है।[2]

श्वेताम्बर जैनों के प्रसिद्ध ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में भी चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन धर्म का अनुयायी लिखा गया है। पर उसके अनुसार चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से जैन धर्म की दीक्षा नहीं ली थी। परिशिष्ट पर्व की कथा दिगम्बर जैनों के ग्रन्थों में विद्यमान कथानकों से भिन्न है। अतः उसे यहाँ संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना उपयोगी होगा। पहले चन्द्रगुप्त जैन नहीं था, और उस पर मिथ्यादृष्टि वाले पापण्डिमतों का बहुत प्रभाव था। चाणक्य को यह बात पसन्द नहीं थी। उसने यत्न किया, कि चन्द्रगुप्त पर से इन मिथ्या-सम्प्रदायों का प्रभाव दूर हो जाए और वह इन्हें अपना संरक्षण प्रदान न करे। चाणक्य ने उसे समझाया, कि इन सम्प्रदायों के आचार्य असंयत एवं पापमय जीवन बिताने वाले और स्त्रियों के प्रति लम्पट हैं। वे तो इस योग्य भी नहीं हैं, कि उनसे बात तक भी की जाए। फिर उनकी पूजा व सत्कार करने का तो प्रश्न ही कैसे उत्पन्न हो सकता है। इन्हें दान देना तो वैसा ही है, जैसे कि ऊसर भूमि पर जल बरसाना। मौर्य चन्द्रगुप्त ने यह सुन कर कहा, कि मुझे गुरु के वचन पर पूर्ण विश्वास तो है, पर ये पाषण्डि-जन संयमी नहीं हैं, इसका मैं प्रमाण चाहूँगा। इस पर चाणक्य ने नगरी में यह घोषणा करा दी, कि राजा सब पाषण्डियों (सम्प्रदायों के अनुयायियों) से धर्म का श्रवण करना चाहता है। पाषण्डियों ने चाणक्य के निमन्त्रण को स्वीकृत कर लिया, और उन्हें राजप्रासाद के एक ऐसे स्थान पर ले जाया गया जो कि अन्तःपुर के अत्यन्त समीप था। अन्तःपुर के सामने की भूमि पर एक ऐसा चूर्ण डलवा दिया गया, जोकि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दिखायी नहीं देता था। राजा के आने में अभी देर थी, अतः ये असंयत, स्त्रैण और स्त्रीलोलुप पाषण्डि-जन अन्तःपुर की खिड़कियों के पास जा खड़े हुए और उनके छिद्रों से राजपत्नियों को देखने लगे। ज्यों ही चन्द्रगुप्त वहाँ आया, वे तुरन्त अपने स्थानों पर आकर बैठ गयें, और चन्द्रगुप्त को धर्म का उपदेश दिया। उनके चले जाने पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को वे पदचिन्ह दिखाये, जो कि अन्तःपुर की खिड़कियों तक सूक्ष्म चूर्ण पर बन गये थे। अगले दिन जैन मुनियों को धर्म के उपदेश के लिये बुलाया गया। पहले दिन के समान फिर सूक्ष्म चूर्ण बिछाया गया। पर जैन मुनि राजप्रासाद में प्रविष्ट होकर यथास्थान बैठ गये, और वहाँ बैठकर राजा के आगमन की प्रतीक्षा करते रहे। राजा को उपदेश देकर जब वे वापस लौटे, तो सूक्ष्म चूर्ण पर कोई भी पद-चिन्ह नहीं पाया गया। इससे चन्द्रगुप्त को विश्वास हो गया, कि जैन

---

१. "ततश्चोज्जयिनीनाथश्चन्द्रगुप्तो महीपतिः ।
वियोगात् यतिनां भद्रबाहुं नत्वाभवन्मुनिः ॥"

२. पुण्याश्रवकथा कोष (श्री. नाथूराम प्रेमी द्वारा अनूदित)

मुनि अन्य पाषण्डियों से भिन्न हैं, और उसने अन्य पाषण्डों के प्रति आस्था का परित्याग कर जैनधर्म को स्वीकार कर लिया।[1]

परिशिष्ट पर्व में न भद्रबाहु का उल्लेख है, और न जैन मुनि बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्त के दक्षिण में प्रस्थान करने का। वहाँ यह अवश्य लिखा है, कि चन्द्रगुप्त के समय में बारह वर्ष का कराल दुष्काल (दुर्भिक्ष) पड़ा था,[2] और चन्द्रगुप्त ने समाधि लेकर अपने जीवन

---

१. 'चन्द्रगुप्तं तु मिथ्यादृक् पाषण्डिमतभावितम् ।
अनुशासितुमारेभे हितस्तस्य पितेव सः ॥४१५॥
असंयता ह्यमी पापाः प्रकृत्या स्त्रीषु लम्पटाः ।
अपि संभाषितुं नार्हास्तत्पूजायां तु का कथा ॥४१६॥
तेषु निष्फलं दानमूषरेष्वम्बुवृष्टिवत् ॥४१७॥
मौर्योऽवादीन्मम ह्यार्य त्वद्वचो गुरुसंमितम् ।
नैते संयमिन इति प्रत्यायय तथापि माम् ॥४१९॥
पुरे प्रघोषं चाणक्यस्ततश्चैवमकारयत् ।
धर्मं श्रोष्यति सर्वेषामपि पाषण्डिनां नृपः ॥४२०॥
ततश्चाहूय तान् सर्वान्शुद्धान्तस्यादवीयसि ।
देशे निवेशयामास स विविक्ते विविक्तधीः ॥४२१॥
शुद्धान्तासन्नदिग्भागे चाणक्येनाग्रतोऽपि हि ।
अक्षेप्यलक्ष्यं श्लक्ष्णं च लोष्ट चूर्णं महीतले ॥४२२॥
तत्रोपदेशनार्थं ते चाणक्येन प्रवेशिताः ।
ज्ञात्वा विविक्तं स्थानं तच्छुद्धान्ताभिमुखं ययुः ॥४२३॥
स्त्रीलोलास्ते स्वभावेन नृपस्त्रैणमसंयताः ।
गवाक्षविवरैर्द्रष्टुमुपचक्रमिरे ततः ॥४२४॥
ते राजपत्नीः पश्यान्तस्तावस्थुर्दुराशयाः ।
न यावदाययौ राजा निषेदुस्तु तदागमे ॥४२५॥
ततश्च चन्द्रगुप्ताय धर्ममाख्याय ते ययुः ।
पुनरागममिच्छन्तोऽन्तःपुर स्त्री दिदृक्षया ॥४२६॥
धर्ममाख्यातुमाह्वाताः तत्र जैनमुनीनपि ॥४३०॥
निषेदुस्ते प्रथमतोऽप्यासनेष्वेव साधवः ।
स्वाध्यायावश्यकेनाथ नृपागममपालयन् ॥४३१॥
उत्पन्नप्रत्ययः साधून् गुरून्मेनेऽथ पार्थिवः ।
पाषण्डिषु विरक्तोऽभूद्विषयेष्विव योगवित् ॥४३५॥ परिशिष्टपर्व, अष्टम सर्ग।

२. "इतश्च तस्मिन् दुष्काले कराले द्वादशाब्दके ।
आचार्यः सुस्थितो नाम चन्द्रगुप्त पुरेऽवसत् ॥' परिशिष्ट पर्व ८।३७७
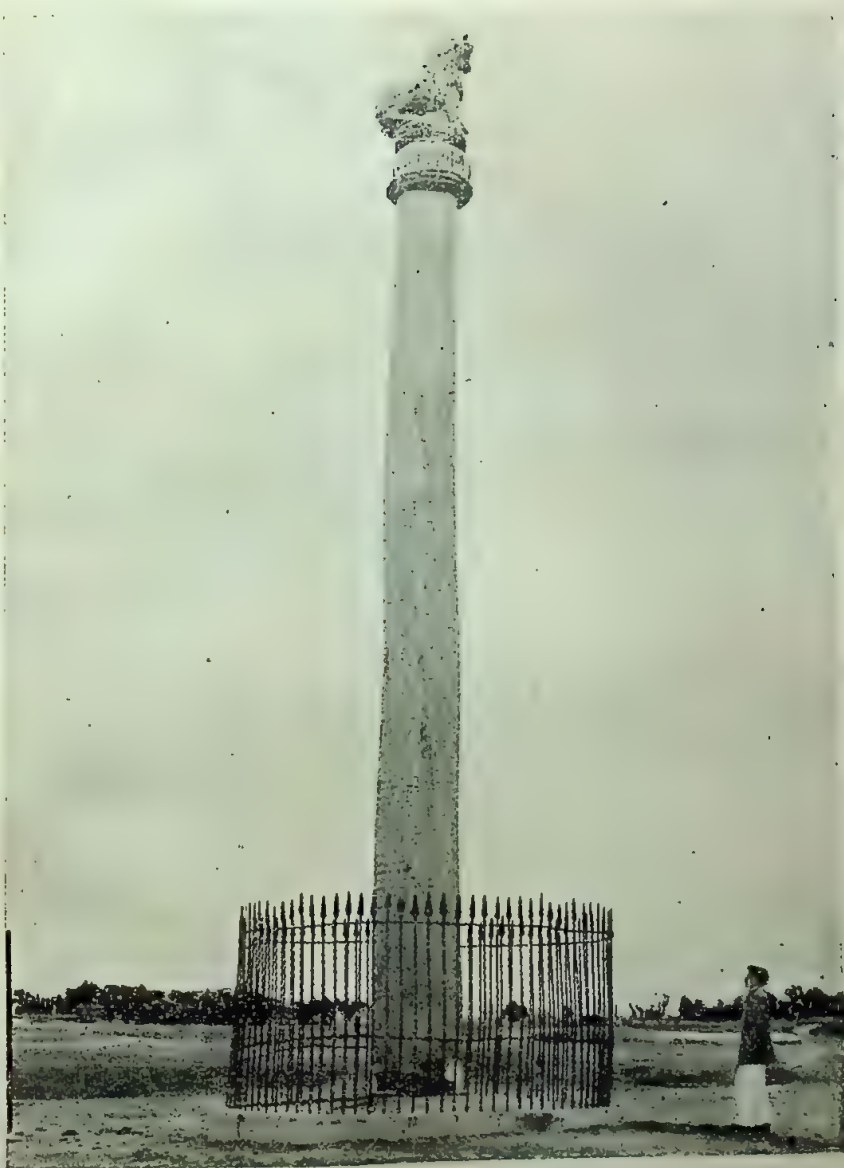
लौहरियानन्दन गढ़ का अशोक स्तम्भ

का अन्त किया था।[1] चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में जो कथाएँ पायी जाती हैं, वे एक-सदृश नहीं हैं। इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर अनुश्रुतियों में भेद है।

दिगम्बर अनुश्रुति के ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त के अन्तिम समय के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है, उसकी पुष्टि श्रवणवेलगोल (माइसूर राज्य) से उपलब्ध उत्कीर्ण-लेखों द्वारा भी होती है। ये लेख संस्कृत और कन्नड–दोनों भाषाओं में हैं। इन्हें प्रकाशित करते हुए श्रीराइस ने लिखा है–"इस स्थान पर जैनों की आवादी अन्तिम श्रुतकेवली भद्रवाहु द्वारा हुई। भद्रवाहु ने इसी स्थान पर प्राण त्याग किया था। अशोक के पितामह मौर्य राजा चन्द्रगुप्त ने जिसे ग्रीक ऐतिहासिकों ने सैण्ड्राकोट्टस लिखा है, अन्तिम समय में इस (भद्रबाहु) की सेवा की थी।[2] श्रवणबेलगोल की स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त और भद्रवाहु का इस स्थान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के एक पर्वत का नाम 'चन्द्रगिरि' है, जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसका यह नाम चन्द्रगुप्त नामक एक महात्मा के नाम पर पड़ा है। इसी पर्वत पर एक गुफा है, जिसे भद्रवाहु स्वामी की गुफा कहा जाता है। वहाँ एक मठ भी है, जिसे 'चन्द्रगुप्तवस्ती' कहते हैं।

चन्द्रगिरि पर्वत पर विद्यमान एक शिलालेख से ज्ञात होता है, कि भद्रवाहु ने इसी स्थान पर प्राण त्याग किये थे। वहाँ लिखा है, कि भद्रवाहु श्रुतकेवली मुनीश्वरों में अन्तिम था, वह सम्पूर्ण ज्ञान के अभिप्राय का प्रतिपादन करने में समर्थ होने के कारण विद्वानों में मूर्धन्य एवं उनका विनेता था, और समग्र शीलसम्पन्न चन्द्रगुप्त उनका शिष्य था।[3] इसी पर्वत पर उपलब्ध एक अन्य शिलालेख में भी इसी वात को अन्य ढंग से प्रगट किया गया है।[4]

चन्द्रगिरि पर्वत के एक शिलालेख में विशद रूप से यह विवरण दिया गया है, कि किस प्रकार त्रिकालदर्शी भद्रबाहु स्वामी को यह पहले ही ज्ञात हो गया था कि उज्जयिनी में वारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, किस प्रकार उनके आदेश से मुनियों का सम्पूर्ण संघ उत्तरापथ से दक्षिणापथ को चला आया, और किस प्रकार मुनि संघ ने घनधान्य से

---

१. 'समाधिमरणं प्राप्य चन्द्रगुप्तो दिवं ययौ।' परिशिष्ट पर्व ८।४४४

२. Rice : Mysore and Coorg from Inscriptions.

३. "यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि
अपश्चिमोऽभूत् विदुषां विनेता सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन
यदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तस्समग्रशीलानतदेववृद्धः
विवेश यत्तीव्रतपः प्रभावात् प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि॥"

४. "श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्थगणो मुनीनाम्॥"

पूर्ण पृथिवी के अत्यन्त सुन्दर स्थान पर आवास किया। इसी शिलालेख में आगे चलकर यह सूचित किया गया है, कि भद्रबाहु स्वामी प्रभाचन्द्र नामक अपने शिष्य के साथ कटवप्र संज्ञक स्थान पर ठहर गये, और वहीं पर समाधि लेकर उन्होंने अपने प्राणों का त्याग किया। इस शिलालेख में महावीर स्वामी के पश्चात् गौतम, लोहार्य, जम्बु, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्धन आदि जो जैन गुरु हुए, और जिनकी गुरु-परम्परा में श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी चन्द्रगुप्त के समकालीन थे, उन सब का भी उल्लेख किया गया है।[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य जैन थे, और प्रव्रज्या ग्रहण कर वह मुनि भी हो गये थे, यह बात त्रिलोक-प्रज्ञप्ति (तिलोयपण्णत्ती) द्वारा भी ज्ञात होती है। वहाँ लिखा है कि मुकुटधारी राजाओं में चन्द्रगुप्त ऐसा अन्तिम राजा था, जिसने कि जिन दीक्षा ग्रहण की थी। उसके पश्चात् कोई ऐसा मुकुटधारी राजा नहीं हुआ, जिसने कि प्रव्रज्या ली हो।[2] तिलोयपण्णत्ती दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का प्राचीन ग्रन्थ है, जिसका काल तीसरी सदी के अन्त या चौथी सदी के प्रारम्भ में माना जाता है। चन्द्रगुप्त द्वारा जिन दीक्षा लिये जाने का उसमें जो उल्लेख है, वह वस्तुतः महत्त्व का है।

जैन साहित्य के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन धर्म का अनुयायी था, यह निर्विवाद है। परिशिष्ट पर्व में तो चाणक्य को भी जैन कहा गया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों जैन अनुश्रुतियों में मौर्य वंश के प्रवर्त्तक चन्द्रगुप्त को भी जैन माना गया है। पर मुनि व्रत ग्रहण

---

१. "अथ खलु सकलजगदुदयकरणो दिनातिशय गुणास्पदीभूत परमजिन शासनसरस्समभिवर्धितभव्यजन कमल विरसन वितिमिरगुण किरणसहस्र महोति महावीर सवितरिनिर्वृत्त भगवत्परमर्षि गौतम गणधर साक्षाच्छिष्य लोहार्य जम्बू विष्णु देवापराजित गोवर्धन भद्रबाहु विशाख पुराष्ठिलकृतिकार्यजयनाथसिद्धार्थ धृतषेण बुद्धिलादिगुरुपरम्परीणक्रमाभ्यागतमहापुरुषसन्ततिसमवद्योतितान्वयभद्रभद्रबाहु स्वामिना उज्जयिन्याम् अष्टाङ्ग महानिमित्त तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः आर्येणैव जनपद अनेक ग्रामशतसंख्यमुदितजनधनकनकं शस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णं प्राप्तवान् अतः आचार्यप्रभाचन्द्रेण अवनितलललामभूतेऽथास्मिन् कटवप्रनामोपलक्षिते...शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालं अवबुद्ध्यमानः सुचकितः तपः समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छय निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलाषु शीतलासु स्वदेहं संन्यस्य आराधितवान् क्रमेण सप्तशतम् ऋषीणाम् आराधितुम् इति जयतु जिनशासनम्।"

२. "मउडधरेसुं चरियो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य। तत्तो मउडधरा दुप्पवज्जं णेव गेण्हंति॥" तिलोयपण्णत्ती (१४८१ वां श्लोक)

कर चुकने पर उसके सुदूर दक्षिण में जा वसने और वहीं प्राणत्याग करने की वात श्वेताम्बर जैनों को मान्य नहीं है। इस विषय में कौन-सा मत सही है, यह निर्धारित कर सकना वहुत कठिन है। पुण्याश्रव कथा नामक जैन ग्रन्थ में भी चन्द्रगुप्त का सम्वन्ध श्रवणवेलगोल के साथ जोड़ा गया है। पर उसमें जिस चन्द्रगुप्त का साधु वनकर दक्षिण जाने और वहाँ अनशन द्वारा प्राणत्याग करने का उल्लेख है, वह अशोक का पितामह न होकर अशोक का पौत्र (कुनाल का पुत्र) चन्द्रगुप्त है। पुण्याश्रवकथा में मौर्यवंश का जो इतिवृत्त दिया गया है, वह प्रायः अन्य जैन ग्रन्थों के ही सदृश है, पर अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के सम्वन्ध में उसमें यह नहीं लिखा गया, कि उसने दक्षिण जाकर अनशन किया था। राजा नन्द द्वारा चाणक्य के अपमानित किये जाने का वृत्तान्त देने के पश्चात् पुण्याश्रव कथा ने चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में यह कथा दी है—'अव चाणक्य को क्रोध आया और वह नगर से निकल कर वाहर जाने लगा। मार्ग में चाणक्य ने चिल्लाकर कहा—जो कोई मेरे परम शत्रु राजा नन्द का राज्य लेना चाहता हो, वह मेरे पीछे-पीछे चला आये। चाणक्य के ऐसे वाक्य सुनकर चन्द्रगुप्त नाम का एक क्षत्रिय, जो अत्यन्त निर्धन था, यह विचार कर कि मेरा क्या विगड़ता है चाणक्य के पीछे हो लिया। चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर नन्द के किसी प्रवल शत्रु से जा मिला, और किसी उपाय से नन्द का सकुटुम्व नाश करके उसने चन्द्रगुप्त को वहाँ का राजा वनाया। चन्द्रगुप्त ने वहुत काल तक राज्य करके अपने पुत्र विन्दुसार को राज्य दे चाणक्य के साथ जिन-दीक्षा ग्रहण की।···विन्दुसार भी अपने पुत्र अशोक को राज्य दे महामुनि हुआ। अशोक के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कुनाल रखा गया। कुनाल की बाल्यावस्था थी, अभी वह पठन-पाठन में ही लगा हुआ था कि इसी समय राजा अशोक को अपने किसी शत्रु पर चढ़ाई करने के लिये जाना पड़ा। जो मन्त्री नगर में रह गया था, उसके लिये राजा ने एक लिखी हुई आज्ञा भेजी कि अध्यापक को चावल, वैंगन आदि दे संतुष्ट करना और कुमार (कुनाल) को अच्छी तरह पढ़ाना। राजाका यह पत्र पढ़ने वाले ने इस प्रकार पढ़ा, कि कुमार को अन्धा कर देना (अध्यापयताम् के स्थान पर अन्धापयताम् पढ़ लिया गया)। राजा की आज्ञा जैसी पढ़ी गई थी, वैसी ही काम में लायी गई। कुमार के नेत्र फोड़ दिये गये। थोड़े दिन पीछे शत्रु को जीत कर राजा अशोक वापस आया। अपने पुत्र की ऐसी दशा देख कर उसे वहुत शोक हुआ। थोड़े दिनों के वाद कुनाल का विवाह चन्द्रानना नाम की एक कन्या से किया गया, जिससे कि चन्द्रगुप्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा अशोक अपने पोते चन्द्रगुप्त को राज्य देकर दीक्षित हो गया। अब अशोक के बाद चन्द्रगुप्त राज्य करने लगा। एक दिन नगर के बाहर उद्यान में कोई अवधि-ज्ञानी मुनि पधारे। वनपाल ने मुनि के आने का समाचार राजा को दिया। राजा चन्द्रगुप्त मुनि की वन्दना करने के लिये उद्यान में गया, और श्रीमुनि को नमस्कार कर उनके पास वैठ गया। धर्मश्रवण करने के अनन्तर राजा ने मुनि से अपने पूर्व-भव पूछे।···चन्द्रगुप्त अपने पूर्व-भव सुनकर प्रसन्न हो मुनिराज को नमस्कार कर नगर में लौट आया, और सुख से राज्य

करने लगा। एक बार राजा चन्द्रगुप्त ने रात्रि के पिछले प्रहर में नीचे लिखे हुए सोलह स्वप्न देखे थे[१] ....।"

इसके आगे की कथा वही है, जो भद्रबाहु चरित्र में पायी जाती है, और जिसका उल्लेख इसी प्रकरण में ऊपर किया भी जा चुका है। पुण्याश्रव कथाकोष के अनुसार श्रवणबेलगोल के साथ जिस राजा चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध है, वह मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त न होकर कुनाल का पुत्र चन्द्रगुप्त था। हमें ज्ञात है कि राजा अशोक का पौत्र (कुनाल का पुत्र) सम्प्रति जैन धर्म का प्रबल समर्थक और उन्नायक था, और जैन धर्म के इतिहास में उसका वही स्थान है,जो बौद्ध इतिहास में अशोक का है। यदि सम्प्रति का एक नाम चन्द्रगुप्त भी हो, तो श्रवण बेलगोल के साथ सम्बद्ध चन्द्रगुप्त और सम्प्रति को एक ही मानना संगत हो सकता है। जैन अनुश्रुति के कन्नड ग्रन्थ 'राजावलिकथे' के अनुसार भी जिस चन्द्रगुप्त ने दक्षिण जाकर अनशन द्वारा प्राणत्याग किया, वह अशोक का पितामह न होकर उसका पौत्र ही था। वहाँ यह भी लिखा है, कि जैन मुनि बनकर चन्द्रगुप्त ने अपना राज्य अपने पुत्र सिंहसेन को सौंप दिया, और स्वयं भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चला गया। इसी को दृष्टि में रख कर डा० फ्लीट ने यह प्रतिपादित किया है, कि श्रवण बेलगोल के साथ जिस चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध है वह अशोक का पौत्र था, और वहाँ के शिलालेखों में जिस भद्रबाहु का उल्लेख है, वह अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु न होकर कोई अन्य भद्रबाहु था।[२] माइसूर और कुर्ग के शिलालेखों का सम्पादन करते हुए श्री राइस के सम्मुख भी दो चन्द्रगुप्तों की समस्या प्रस्तुत हुई थी। इसी कारण उन्होंने लिखा है, कि प्राचीन जैन अनुश्रुति में दो चन्द्रगुप्तों का उल्लिखित होना गड़बड़ का परिणाम है, और कतिपय जैन लेखकों ने अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को भूल से उसका पौत्र लिख दिया है।

श्रवणबेलगोल से सम्बद्ध चन्द्रगुप्त को अशोक का पौत्र मानने में सबसे बड़ी कठिनाई भद्रबाहु के कारण उपस्थित होती है। दिगम्बर जैन ग्रन्थों के अनुसार जिस भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को जिन-दीक्षा दी थी, वह अन्तिम श्रुतकेवली था। हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश के भद्रबाहु कथानक में चन्द्रगुप्त के गुरु जिस भद्रबाहु का उल्लेख है, वह श्रुतकेवली भद्रबाहु ही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों प्रकार के जैन ग्रन्थों में वर्धमान महावीर की शिष्य-परम्परा के गुरुओं और उनके काल का उल्लेख विद्यमान है। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार ये गुरु निम्नलिखित थे-गौतम गणधर १२ वर्ष, सुधर्मा स्वामी ११ वर्ष और जम्बू स्वामी ३८ वर्ष। ये तीनों केवली या केवलज्ञानी थे, और महावीर के निर्वाण के पश्चात् ये तीनों कुल मिलाकर

---

१. **पुण्याश्रवकथा—नन्दिमित्र की कथा (नाथूराम प्रेमी द्वारा अनूदित)**

२. "And the other (difficulty) is that, by a further extract from the same work (Rajavalikathe) we learn, that the Chandragupta in question was not the well-known grandfather of Ashoka, but a son···of Ashoka's son kural." (Indian Antiquary XXI, pp 156-160)

६२ वर्ष तक गुरु-पद पर विराजमान रहे। इनके पश्चात् कोई केवली नहीं हुआ, पर पाँच श्रुतकेवली आचार्य हुए, जिनके नाम निम्नलिखित हैं––विष्णुकुमार १४ वर्ष, नन्दिमित्र १६ वर्ष, अपराजित २२ वर्ष, गोवर्धन १९ वर्ष और भद्रबाहु २९ वर्ष। इन पाँच श्रुतकेवलियों का काल पूरा १०० वर्ष था। इस प्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु का काल (गुरुपद का काल) महावीर के निर्वाण से १३३ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ, और १६२ वर्ष पश्चात् तक रहा। जैन अनुश्रुति के अनुसार जैसे भद्रबाहु का समय महावीर के निर्वाण के १३३–१६२ वर्ष पश्चात् है, वैसे ही चन्द्रगुप्त (अशोक का पितामह) के राजसिंहासनारूढ़ होने का समय महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष पश्चात् है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में चन्द्रगुप्त का यही समय उल्लिखित है।[1] महावीर के पश्चात् जैनों के जो प्रमुख गुरु या आचार्य हुए, उनके नामों और गुरुपद के वर्षों के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में बहुत मतभेद है, पर ये दोनों ही सम्प्रदाय आचार्य भद्रबाहु को अपनी गुरु-परम्परा में परिगणित करते हैं, यद्यपि उनके काल के सम्बन्ध में थोड़ा-सा मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भद्रबाहु का काल १३३–१६२ (महावीर निर्वाण पश्चात्) है, और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार १५६–१७० (म. वि. पश्चात्)। दोनों भद्रबाहु को महावीर के निर्वाण के कोई डेढ़ सदी पश्चात् का मानते हैं, और चन्द्रगुप्त मौर्य को उसका समकालीन प्रतिपादित करते हैं।

महावीर का निर्वाण कब हुआ, इस प्रश्न पर भी ऐतिहासिकों में ऐकमत्य नहीं है। जैन परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वाण का समय ५२७ ई० पू० है। पर आधुनिक विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। इसका मुख्य कारण यह है, कि महावीर और बुद्ध समकालीन थे, और बुद्ध का निर्वाण पाँचवीं सदी ई० पू० के पूर्वार्ध में हुआ था। महावीर और बुद्ध के काल के सम्बन्ध में जो विवाद रहा है, उस पर संक्षिप्त रूप से भी प्रकाश डाल सकना यहाँ सम्भव नहीं है। हमारे लिये यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि आधुनिक ऐतिहासिक महावीर का निर्वाण-काल ४८० ई०पू० या उसके लगभग प्रतिपादित करते हैं। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाए, तो भद्रबाहु का काल ३४७–३१८ ई० पू० (दिगम्बर अनश्रुति के अनुसार) या ३२४-३१० ई० पू० (श्वेताम्बर अनुश्रुति के अनुसार) बैठता है, और चन्द्रगुप्त मौर्य का काल ३२५ ई० पू०। दिगम्बर जैन ग्रन्थों में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का जिस ढंग से सम्बन्ध प्रतिपादित है, उसे दृष्टि में रखते हुए यही मत उपयुक्त प्रतीत होता है, कि श्रवणबेलगोल से सम्बद्ध चन्द्रगुप्त अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त ही था। अशोक के पौत्र सम्प्रति के समय में भद्रबाहु नाम के किसी प्रसिद्ध आचार्य की सत्ता की सूचना जैन ग्रन्थों से प्राप्त नहीं होती। सम्प्रति का काल चन्द्रगुप्त की मृत्यु के लगभग एक सदी बाद

---

१. "एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते ।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः।" परिशिष्ट पर्व ८।३३९

है। तब तक भद्रबाहु जीवित रहे हों, यह अकल्पनीय है। इस दशा में यही मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है, कि श्रवण बेलगोल के साथ जिस चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध है, वह मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ही था। पर इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिये, कि श्वेताम्बर जैन भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के दक्षिण-प्रवास की बात को स्वीकार नहीं करते, और दिगम्बर जैन अनुश्रुति भी इस विषय में पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पुण्याश्रव कथा और राजावलिकथे में श्रवणबेलगोल का सम्बन्ध अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त से बताया गया है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। केवल इन दो ग्रन्थों में ही नहीं, अपितु श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर के एक लेख में भी जिस भद्रबाहु का दक्षिण दिशा में जाकर प्राणत्याग करने का उल्लेख है, वह श्रुतकेवली भद्रबाहु न होकर उनके पश्चात् काल का भद्रबाहु है, और उनके जिस शिष्य ने अन्तिम समय में उनकी सेवा की थी, उसका नाम भी चन्द्रगुप्त न होकर प्रभाचन्द है। इस शिलालेख में महावीर स्वामी के पश्चात् गौतम, लोहार्य, जम्बु, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाख, क्रुतिकार्य, जय, सिद्धार्थ, वृतिषेण और वुद्धिल नामक गुरुओं का नाम से उल्लेख करके फिर यह कहा गया है, कि उनकी परम्परा में हुए भद्रबाहु ने यह जान लिया था, कि उज्जयिनी में शीघ्र बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, और तब सम्पूर्ण मुनिसंघ ने उत्तरापथ से दक्षिणपथ की ओर प्रस्थान कर दिया, और भद्रबाहु ने कटवप्र नामक स्थान पर ठहर कर समाधिमरण किया। यह ध्यान देने योग्य है, कि इस लेख में केवली और श्रुतकेवली गुरुओं (जिनमें भद्रबाहु का भी नाम है) को गिना कर बाद के गुरुओं की परम्परा में उस भद्रबाहु का नाम दिया गया है, जोकि उज्जयिनी में दुर्भिक्ष पड़ने पर मुनिसंघ के साथ दक्षिण की ओर चला गया, और जिसके साथ उसका शिष्य प्रभाचन्द्र भी था। हरिषेणकृत वृहत्कथाकोश में लिखा है, कि श्रुतकेवली भद्रबाहु से जिन-दीक्षा लेने के अनन्तर चन्द्रगुप्त का नाम विषखाचार्य (विशाखाचार्य) हो गया था, और वह जैनों के दस पूर्वियों में सर्वप्रथम था। श्रवणबेलगोल के जिस शिलालेख का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उसमें वर्धमान महावीर की शिष्य परम्परा में भद्रबाहु के पश्चात् विशाख नाम भी विद्यमान है। यह विशाख वृहत्कथाकोश का विशाखाचार्य ही है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। पर श्रवणबेलगोल से सम्बद्ध भद्रबाहु न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु है, और न उसका शिष्य चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्य। श्रवणबेलगोल का यह लेख बहुत प्राचीन है, और इसका काल सातवीं सदी ईस्वी में माना जाता है। इसके विवरण की उपेक्षा नहीं कही जा सकती, यद्यपि श्रवणबेलगोल में ही अन्य ऐसे शिलालेख भी हैं, जिनमें भद्रबाहु को 'श्रुतकेवली' कहा गया है, और उनके शिष्य का नाम चन्द्रगुप्त लिखा गया है। ऐसे लेखों का हम इसी प्रकरण में ऊपर उल्लेख भी कर चुके हैं।

वर्तमान समय में ऐतिहासिकों का झुकाव इसी ओर है, कि दिगम्बर जैन अनुश्रुति में चन्द्रगुप्त मौर्य के अन्तिम समय का जिस रूप में विवरण उपलब्ध है, उसे विश्वसनीय माना जाए। इस सम्बन्ध में जो भी साहित्यिक व अन्य सामग्री विद्यमान है, उस सबका हमने

इस प्रकरण में संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर अनुश्रुतियों में बहुत भेद और विरोध होने के कारण निष्पक्ष ऐतिहासिक के लिये किसी मत को पूर्णतया मान्य व विश्वसनीय समझ लेना सम्भव नहीं है। जब तक कुछ अन्य ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो जाए, यह विषय संदिग्ध और विवादास्पद ही रहेगा।

(२) घोर दुर्भिक्ष

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ा था, श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों की प्राचीन अनुश्रुति इस बात को स्वीकार करती है। यह दुर्भिक्ष बारह साल तक रहा था, इसमें सन्देह किया जा सकता है, पर दुर्भिक्ष पड़ने की बात उत्कीर्ण लेखों से भी पुष्ट होती है। ये लेख सोहगौरा और महास्थानगढ़ नामक स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। सोहगौरा उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में है, और महास्थानगढ़ बंगाल के बोगरा जिले में। सोहगौरा का लेख एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है, और भाषा तथा लिपि के आधार पर यह माना गया है, कि यह लेख मौर्य युग का है। इसे अशोक के लेखों की तुलना में भी कुछ पहले काल का समझा जाता है। लेख इस प्रकार है।[1]

सवतियनमहमगनससनेमनवसितिक
डसिलिय तेव सगमेव एते दुवे कोट गलनि
तिववनिमथुलचचमौदंमभलक न छ
लकयियति अतियायिक यनो गहितवय

इस लेख का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार किया गया है—"श्रावस्तीयानां महामात्राणां शासनं मानवसिटिकटात्। श्रीमतिवंशग्राम एवैते द्वे कोष्ठागारे त्रिगर्भे मधुकालाजाज-मोदाम्बभारकाणं क्षलं कार्योमत आत्ययिकाय। नो गृहीतव्यम्।"

श्री जायसवाल जी ने इस लेख को अंग्रेजी में इस प्रकार अनूदित किया था[2]—"The order of the Mahamatras of Shravasti issued from the Manavasiti camp. Only to the tenants, only on the advent of drought, these (the) dravya store houses of Triveni, Mathura,Chanchu, Modama and Bhadra are to the distributed, in case of distress they are not to be withheld." जायसवालजी का अंग्रेजी अनुवाद ज्यार्ग व्युहलर के अनुवाद से भिन्न है। व्युहलर का अनुवाद ऊपर दिये गये संस्कृत के रूपान्तर के अनुसार है। यह अनुवाद इस प्रकार है[3]—

The order of the great officials of Shravasti (issued) from (their camp at) Manavasitipat :—These two storehouses with three partitions,

---

१. George Buhler—Sohgaura Copper Plate (Indian Antiquary, Oct. 1896)
२. Epigraphia Indica, Vol. XXII pp. 1-3
३. George Buhler—Sohgaura Copper Plate (Indian Antiquary, Oct. 1896)

(which are situated) even in famous Vanshagrama require the storage of loads (भारक) of black Panicum, parched grain, cummin seed and Amb for (times of) urgent need. One should not take any thing from the grain stored.

साहगौरा ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख का अर्थ जिस ढंग से श्री. जायसवाल और ज्यार्ज ब्युहलर द्वारा किया गया है, उससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि यह लेख श्रावस्ती के महामात्रों द्वारा जारी की गई एक आज्ञा के रूप में है जिसे कि उन्होंने मनवसिति कैम्प से प्रचारित किया था। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि इस आज्ञा का सम्बन्ध कोष्ठागारों में सञ्चित उस खाद्य सामग्री के साथ है, जिसे कि दुर्भिक्ष के कारण उत्पन्न आत्ययिक (अविलम्बनीय) दशा में प्रयुक्त किया जाता था। उत्कीर्ण लेख का जो संस्कृत रूपान्तर हमने ऊपर दिया है, वह श्री. ब्युहलर के अनुसार है। जायसवाल जी के पाठ में मुख्य भेद उत्कीर्ण लेख की तीसरी पंक्ति के विषय में है। 'तिववनिमथुलचचमोदंमभल' को जायसवाल जी ने 'त्रिगर्भे मधुकाला-जाजमोदाम्बभार' न मानकर 'त्रिवेणीमथुराचाचुमोदामाभद्र' प्रतिपादित किया है, जो संगत प्रतीत होता है। त्रिवेणी, मथुरा आदि स्थानों के नाम हैं, जहाँ दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों के निवारण के लिये द्रव्य-कोष्ठागार विद्यमान थे। श्रावस्ती के महामात्रों ने अपने मन-वसिति के कैम्प से यही आदेश प्रचारित किया था, कि त्रिवेणी, मथुरा आदि के कोष्ठागारों में जो भोजन सामग्री सञ्चित है, उसे इस विपत्ति काल में वितरित कर दिया जाए, उसे रोक कर न रखा जाए। त्रिवेणी, मथुरा आदि स्थान श्रावस्ती के महामात्रों के अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित थे, अतः उनकी ओर से वहाँ के कोष्ठागारों के विषय में आदेश दिया जाना सर्वथा संगत है।

महास्थानगढ़ के लेख में भी उन आदेशों का उल्लेख है, जोकि दुर्भिक्ष की दशा को दृष्टि में रखकर प्रचारित किये गये थे। महास्थानगढ़ का पुराना नाम पुण्डनगल (पुण्ड्र-नगर) था। महास्थानगढ़ से प्राप्त हुए मौर्य युग के उत्कीर्ण लेख में इसे 'पुण्डनगल' नाम से ही सूचित किया गया है। इस लेख में भी कोष्ठागारों में सञ्चित द्रव्य के उपयोग का उल्लेख है। यह लेख इस प्रकार है—

—नेन स वगि (गी) य [I] नं [तलदिनस]
समदिन [सु] [महामात्राणां वच] नेन [म] I ते
सुलिखिते पुडनगलते ए [त] [नि] वहिपयिसति
संवगियानं [च] [दि] ने [धा] नियं निवहसति
दग तिया [f] यके · · ·[यि] कसि सुअ—
तियायिक [सि] पि गंड (केहि) (यि) के हि
एस कोठागाले कोसं......

इस लेख का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

षड्वर्गीयेभ्यः तिलः दत्तः सर्षपं दत्तम्। सुमात्रः सुलक्ष्मीतः पुण्ड्रनगरतः एतत् निवाहयिष्यति। षड्वर्गीयेभ्यः च दत्तं धान्यं निवक्ष्यति। उदगात्ययिकाय, देवात्ययिकाय, शुकात्ययिकाय अपि गण्डकैः (मुद्राभिः) धान्यैः (च) एषः कोष्ठागारः कोषः [च परिपूरणीयौ]।

सोहगौरा और महास्थानगढ़ के लेखों को यदि अशोक से पूर्ववर्ती काल का माना जाए, तो यह स्वीकार कर सकना कठिन नहीं होगा कि उनमें उल्लिखित आदेशों को प्रचारित कराने की आवश्यकता उस विशिष्ट परिस्थिति के कारण ही हुई थी, जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पड़े घोर दुर्भिक्ष से उत्पन्न हो गई थी। दुर्भिक्ष के निवारण के लिये जिन उपायों का प्रतिपादन कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है, उनपर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। कोष्ठागारों में सञ्चित द्रव्य तथा भोजन सामग्री को अनुग्रहपूर्वक (कम मूल्य पर) या सर्वथा बिना मूल्य वितरित (भक्तसंविभाग) इन उपायों में अन्यतम थे। चन्द्रगुप्त के शासनकाल में दुर्भिक्ष पड़ने पर इन उपायों का भी आश्रय लिया गया था, यही इन उत्कीर्ण लेखों द्वारा सूचित होता है।

(३) राजा बिन्दुसार का शासन-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी मागध राजा के लिये पौराणिक अनुश्रुति में बिन्दुसार, भद्रसार और नन्दसार शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[१] जैन ग्रन्थों में इसके लिये केवल 'बिन्दुसार' शब्द का ही प्रयोग किया गया है[२], और महावंशों में भी चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी को बिन्दुसार ही लिखा गया है।[३] वस्तुतः, चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम बिन्दुसार ही था। भद्रसार या नन्दसार लिपिकार की भूल के परिणाम हो सकते हैं। ग्रीक लेखकों ने सैण्ड्राकोट्टस (चद्रगुप्त) के उत्तराधिकारी का नाम अमित्रोचेटस (Amitrochates) लिखा है। डा. फ्लीट के अनुसार इसका संस्कृत रूपान्तर अमित्रघात या अमित्रखाद होना चाहिए। सम्भवतः, अमित्रघात (शत्रुओं की हत्या करनेवालों) बिन्दुसार का ही विरुद था। बिन्दुसार ने चन्द्रगुप्त के जीवन-काल में ही राज्य प्राप्त कर लिया था, या उसकी मृत्यु के अनन्तर––इस विषय में पुराणों में कोई निर्देश नहीं पाया जाता। पर जैन अनुश्रुति के अनुसार जिन-दीक्षा ग्रहण करते समय चन्द्रगुप्त ने मगध के साम्राज्य को अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप दिया था।

बिन्दुसार के नाम के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्राचीन ग्रन्थों में पायी जाती हैं। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं है, पर एक जैन-कथा को यहाँ उल्लिखित करना अनुचित नहीं होगा। परिशिष्ट पर्व के अनुसार चाणक्य ने यह निर्णय किया था,

---

१. 'भविता नन्दसारस्तु पञ्च विंशत् समा नृपः।' वायु पुराण, ९९।३३२.
'भविता भद्रसारस्तु पञ्चविंशत् समा नृपः। ब्रह्माण्ड पुराण ३।७४।१४५

२. परिशिष्ट पर्व ८।४४४

३. 'तस्य पुत्तो बिन्दुसारो अट्ठवीसति कारयि।' महावंसो ५।१८

कि चन्द्रगुप्त को विष खाने का अभ्यास कराया जाए। इसका प्रयोजन यह था, कि चन्द्रगुप्त विष के लिये अभ्यस्त हो जाए, और यदि कोई शत्रु भोजन में विष मिलाकर या विषकन्या द्वारा उसकी हत्या करना चाहे, तो वह सफल न हो सके। इसी उद्देश्य से चाणक्य चन्द्रगुप्त को भोजन में थोड़ा-थोड़ा विष देने लगा। एक दिन की बात है, कि चन्द्रगुप्त की रानी दुधरा भी अपने पति के साथ भोजन करने बैठ गई। वह गर्भवती और आसन्नप्रसवा थी। उसे पता नहीं था, कि चन्द्रगुप्त के लिये जो भोजन आया है, उसमें विष मिला हुआ है। उसने ज्यों ही भोजन के ग्रास को मुख में रखा, विष के प्रभाव से उसकी मृत्यु हो गई। पर चाणक्य के प्रयत्न से दुर्धरा के बालक के प्राण बचा लिये गये। उसके पेट में जो बच्चा था, पेट चिरवा कर चाणक्य ने उसे निकलवा लिया। यही बालक आगे चल कर मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। क्योंकि विष की एक बूंद ने बच्चे के मस्तक को प्रभावित कर दिया था, अतः गुरुजनों ने उसका नाम बिन्दुसार रखा।[1]

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार बिन्दुसार के समय में भी चाणक्य जीवित था, और उसके शासन-सूत्र का सञ्चालन कर रहा था। मञ्जुश्री मूलकल्प में लिखा है, कि बिन्दुसार जब बालक था, तभी उसे राज्य की प्राप्ति हो गई थी।[2] इस दशा में राज्य का कार्य चाणक्य के ही हाथों में रहा। मञ्जुश्री मूलकल्प में चाणक्य के लिये 'दीर्घकालाभिजीवी' विशेष प्रयुक्त किया गया है। साथ ही, वहाँ यह भी लिखा है, कि वह तीन राजाओं के शासनकाल में शासन का सञ्चालन करता रहा।[3] चन्द्रगुप्त के शासन-काल में तो चाणक्य मागध साम्राज्य का मन्त्री था ही। मञ्जुश्री मूलकल्प के अनुसार बिन्दुसार के समय में भी वही मन्त्री रहा, और सम्भवतः अशोक के शासन-काल में भी कुछ वर्षों तक वह मन्त्री-पद पर रहा होगा। इसीलिये तीन राज्य-कालों में उसका मन्त्रित्त्व उल्लिखित है। तिब्बती अनुश्रुति में अन्यत्र भी बिन्दुसार के समय में चाणक्य का मन्त्री-पद पर रहना निर्दिष्ट है। तारनाथ के अनुसार बिन्दुसार ने चाणक्य की सहायता से सोलह राज्यों को जीता था, और अपने साम्राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक विस्तृत किया था।[4] जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व द्वारा भी बिन्दुसार के शासन-काल में चाणक्य के मन्त्री-पद पर रहने की बात की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है, कि चन्द्रगुप्त के बाद जब बिन्दुसार राजा बना, तो चाणक्य ने सुबन्धु नामक व्यक्ति को सचिव के पद पर नियुक्त कराया।[5] पर सुबन्धु चाणक्य के प्रति

---

१. 'विषबिन्दुश्च संक्रान्तस्तस्य बालस्य मूर्धनि ।
ततश्च गुरुभिर्बिन्दुसार इत्यभिधायि सः ॥' परिशिष्ट पर्व ८।४४३

२. मञ्जु श्रीमूलकल्प, श्लोक ४४८

३. 'कृत्वा तु पायकं तीव्रं त्रीणि राज्यानि वै तदा ।
दीर्घकालाभिजीवी सो भविता द्विजकुत्सितः ॥ (मञ्जु श्रीमलकल्प ४५५–५६)

४. Jayaswal : The Empire of Bindusara (J. B. O. R. S., 1916)

५. 'इतश्च मौर्यमाज्ञाप्य पूर्वं हि चणिसूनुना ।
सुबन्धुर्नाम दाक्षिण्यात्सचिवः कारितोऽभवत् ॥' परिशिष्ट पर्व ८।४४६

ईर्ष्या का भाव रखता था, और यह चाहता था कि चाणक्य के प्रभाव से स्वतंत्र होकर स्वयं मन्त्री पद को प्राप्त कर ले। अतः चाणक्य के उच्छेद के प्रयोजन से एक दिन उसने राजा बिन्दुसार से इस प्रकार कहा—राजन् ! यद्यपि अभी मैं आपका विश्वास प्राप्त नहीं कर सका हूँ, पर आपको एक ऐसी बात बताना चाहता हूँ, जो परिणाम में हितकर होगी। कुलीनों की यही परम्परा है। आप विश्वासघाती चाणक्य का कभी विश्वास न करें। इस दुरात्मा ने आपकी माता का पेट चिरवा दिया था। राजा ने दाई को बुलाकर उससे सुबन्धु द्वारा कही गई बात की सत्यता के विषय में पूछताछ की। दाई ने सुबन्धु की बात का समर्थन किया। इससे राजा को चाणक्य पर बहुत क्रोध आया और वह उसके विरुद्ध हो गया। जब चाणक्य को यह ज्ञात हुआ, तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने मन में सुबन्धु को बहुत धिक्कारा, और यह निश्चय किया कि मन्त्रीपद का परित्याग कर तप करने के लिये वन में चला जाए। इसी बीच में एक अन्य दाई से राजा को अपनी माता की मृत्यु का सत्य वृत्तान्त ज्ञात हो गया था। वह चाणक्य के पास गया और उससे क्षमा याचना की। चाणक्य ने उसे क्षमा तो कर दिया, पर वन से लौट आने को वह तैयार नहीं हुआ। सुबन्धु ने भी चाणक्य से क्षमा प्रार्थना की। पर उसका हृदय निर्मल नहीं था। वह अब भी चाणक्य के प्रति द्वेषभाव रखता था। उसे डर लगा, कि कहीं चाणक्य वन से लौट कर फिर राज्य का भार न सँभाल ले। चाणक्य जहाँ तप कर रहा था, वहाँ बहुत-से उपलों (गोबर के गोहे) का ढेर लगा हुआ था। सुबन्धु ने उनके बीच में एक जलता हुआ अंगारा इस ढंग से रख दिया, कि कोई उसे देख न पाए। शीघ्र ही अंगारे की आग उपलों के ढेर में फैल गई, और 'मौर्यों का आचार्य' चाणक्य इसी अग्नि में जलकर भस्म हो गया। जैन अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य जैन धर्म का अनुयायी था, और चन्द्रगुप्त भी उसी के प्रभाव से जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है, कि मन्त्री-पद का परित्याग कर चाणक्य जब वन को चला गया था, तब वहाँ उसने अनशन प्रारम्भ कर दिया था। जैन गुरुओं की परम्परा के अनुसार वह भी अनशन द्वारा समाधिमरण का अभिलाषी था। पर सुबन्धु ने उसकी इस इच्छा को पूर्ण नहीं होने दिया, और अग्नि में जल कर इस महान् राजनीतिज्ञ एवं मौर्य साम्राज्य के निर्माता की मृत्यु हुई।[1]

सुबन्धु द्वारा चाणक्य के प्रति जो यह दुर्व्यवहार किया गया था, बिन्दुसार के मन में उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, और उसने इस दुष्ट सचिव के प्रति कैसा बरताव किया, इस विषय में परिशिष्ट पर्व से कोई सूचना नहीं मिलती। पर महाकवि दण्डी की अवन्ति सुन्दरी कथा में इस सम्बन्ध में एक निर्देश विद्यमान है। वहाँ लिखा है, कि 'सुबन्धु बिन्दुसार के बन्धन से निकल गया था।[2]' इससे सूचित होता है, कि बिन्दुसार ने सुबन्धु को बन्धनागार में

---

१. परिशिष्ट पर्व ८।४४७–४६९

२. 'सुबन्धुः किल निष्क्रान्तो बिन्दुसारस्य बन्धनात् ।'

डाल दिया था, पर वह वहाँ देर तक नहीं रहा था, और बन्धन से मुक्त हो गया था। निस्सन्देह, सुबन्धु एक दुष्ट मन्त्री था। मञ्जुश्रीमूलकल्प में सम्भवतः उसी को बिन्दुसार का दुष्ट मन्त्री कहा गया है।[1] इस ग्रन्थ में चाणक्य के सम्बन्ध में जो सम्मति प्रगट की गई है, वह भी निन्दात्मक ही है। वहाँ चाणक्य के लिये 'क्रोधसिद्ध', 'दुर्मतिः', 'यमान्तक' और 'द्विजकुत्सित' जैसे विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।[2] मञ्जुश्रीमूलकल्प जैसे बौद्ध ग्रन्थ के लिये चाणक्य के प्रति ऐसी भावना रखना अस्वाभाविक नहीं है। कौटलीय अर्थशास्त्र में शाक्यप्रव्रजितों (बौद्ध भिक्षुओं) को देवकार्यों एवं पितृकार्यों में निमन्त्रित करने का निषेध किया गया है, और यह भी व्यवस्था की गई है, कि जिस व्यक्ति की सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट न हुई हो, और जिसने अपने परिवार के पालन का समुचित प्रबन्ध न कर दिया हो, वह प्रव्रज्या ग्रहण न कर सके। यह व्यवस्था स्पष्टतया बौद्ध धर्म के विरुद्ध थी। ऐसे राजशास्त्री को यदि बौद्ध लोग 'द्विजकुत्सित' और 'दुर्मति' समझें, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार चाणक्य को नारक दुःख भोगने पड़े थे।[3] बौद्ध धर्म के विरुद्ध व्यवस्थाएँ करने के कारण मञ्जुश्रीमूलकल्प में चाणक्य की चाहे कितनी ही निन्दा क्यों न की गई हो, पर इस ग्रन्थ के बौद्ध लेखक को भी चाणक्य के शासन की प्रशंसा करने के लिये विवश होना पड़ा था। उसने लिखा है, कि 'विकाराख्य द्विज' (विष्णुगुप्त चाणक्य) दुष्टों का दमन करने वाला, अहित का निवारण करने वाला और हित संपादित करनेवाला था।[4]

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में राजा बिन्दुसार के एक अन्य मन्त्री का उल्लेख है, जिसका नाम राधागुप्त था। सम्भवतः, वह बिन्दुसार के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में मन्त्री के पद पर नियुक्त हुआ था। दिव्यावदान में जहाँ आचार्य पिङ्गलवत्साजीव द्वारा बिन्दुसार

---

१. 'बिन्दुवारसमाख्यातं बालं दुष्टमन्त्रिणम्।' मञ्जुश्रीमलकल्प ४४२।

२. 'मन्त्री तस्य राज्ञश्च बिन्दुसारस्य धीमतः।
चाणक्य इति विख्यातः क्रोधसिद्धस्तु मानवः।
यमान्तको नाम वै क्रोधः सिद्धस्तस्य च दुर्मतेः॥' मञ्जुश्रीमूलाकल्प ४५३–४५४।

३. 'ततोऽसौ नाटकं दुःखं अनुभूयेह दुर्गतिः।
विविधा नारकां दुःखां अनिष्टां कर्मजां तदा॥' मञ्जुश्रीमूलकल्प ४५८।

४. 'तस्यापरेण विख्यातः विकाराख्यो द्विजस्तथा॥ ९६३
पुरे पुष्प समाख्यातां भवितासौ क्रोध सिद्धकः।
निग्रहं नृपतिषु चक्रे दरिद्रात् परिभवाच्च वै॥९६४॥
सत्त्वानामथ दुष्टानां दुर्दान्ति दमकोऽथ वै॥९६५॥
अहिता निवारणार्थाय हितार्थायोपबृंहने।
अनुग्रहायैव सत्त्वानां तनुप्राणोपरोधिने॥९६६॥ मञ्जुश्रीमलकल्प

के पुत्रों की परीक्षा का वर्णन है, वहाँ राधागुप्त का उल्लेख मन्त्री के पुत्र के रूप में है। पर बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् जब अशोक और उसके भाइयों में गृह-युद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो उस प्रसंग में राधागुप्त को मन्त्री लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि राधागुप्त और अशोक में घनिष्ठ मैत्री संबन्ध था। बिन्दुसार को अशोक से स्नेह नहीं था। दिव्यावदान में उसे 'दुःस्पर्शगात्र' कहा गया है। बिन्दुसार अपने ज्येष्ठ पुत्र सुसीम को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। पर योग्यता और शौर्य में अशोक सुसीम से बढ़ चढ़कर था। जब आचार्य पिङ्गलवत्साजीव ने कुमारों की परीक्षा ली, तो मन्त्री का पुत्र राधागुप्त अशोक के साथ उद्यान के सुवर्णमण्डप में गया था। बिन्दुसार की मृत्यु हो जाने पर जब राज्य के लिये गृह-संघर्ष हुआ, तो उसमें राधागुप्त ने अशोक का साथ दिया। अपने भाइयों को परास्त कर राज्य-शासन प्राप्त करने में अशोक को जो सफलता प्राप्त हुई, उसमें राधागुप्त का कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। अशोक के इतिहास को लिखते हुए दिव्यावदान की इन कथाओं पर हम विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। यहाँ इतना निर्दिष्ट कर देना ही पर्याप्त है, कि चाणक्य और सुबन्धु के अतिरिक्त राधागुप्त भी बिन्दुसार का अन्यतम मन्त्री था, यद्यपि उसका अधिक सम्बन्ध अशोक के शासन के साथ है। बिन्दुसार के जीवन-काल में ही राधागुप्त ने मन्त्री का पद सँभाल लिया था, और वह प्रायः अशोक के शासन-काल के अन्त तक मन्त्री-पद पर रहा। जब अशोक ने राज्यकोश से बौद्ध संघ को दान देना चाहा था, और अमात्यों के कहने से युवराज सम्प्रति ने उसे ऐसा करने से रोक दिया था, तो अशोक ने अपना दुःख मन्त्री राधागुप्त के सम्मुख ही प्रगट किया था। दिव्यावदान में राधागुप्त को 'अग्रामात्य' की संज्ञा दी गई है। निस्सन्देह, मौर्य साम्राज्य के इतिहास में राधागुप्त आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। चाणक्य की प्रतिभा और नीति द्वारा जिस मागध साम्राज्य का निर्माण हुआ, राधागुप्त के नेतृत्व में वह उत्कर्ष की चरम-सीमा तक पहुँच गया। कुछ ऐतिहासिकों ने कल्पना की है, कि राधागुप्त विष्णुगुप्त (चाणक्य) का पुत्र था, या वह भी उसी काल का था जिसका कि चाणक्य था। पर इसका आधार दोनों नामों का अन्तिम भाग 'गुप्त' होना ही है। इसके लिये कोई ऐसा आधार नहीं है, जिसे युक्तिसंगत समझा जा सके।

बिन्दुसार किस धर्म का अनुयायी था, यह विषय भी विवादग्रस्त है। महावंसो में लिखा है, कि अशोक का पिता साठ हजार ब्राह्मणों का भोजन आदि द्वारा पालन किया करता था।[1] इससे यह परिणाम निकाला गया है, कि बिन्दुसार सनातन वैदिक या हिन्दू धर्म का अनुयायी था। वह बौद्ध नहीं था, यह पर्याप्त सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है। मञ्जुश्रीमूलकल्प जैसे बौद्ध ग्रन्थ की दृष्टि में यह बात आश्चर्य की थी, कि बौद्ध धर्म

---

१. **'पिता सट्ठिसहस्सानि ब्राह्मणो ब्रह्मपक्खिके।**
भोजेसि, सोपिते येव तीणि वस्सानि भोजयि॥' महावंसो ५।३४

का अनुयायी न होते हुए भी बिन्दुसार जो सुदीर्घ काल तक सफलतापूर्वक शासन कर सकने में समर्थ हुआ, उसका क्या कारण था। इसका समाधान यह कह कर किया गया है, कि बिन्दुसार (बिम्बसार) ने अपनी बाल्यावस्था में खेल-खेल में बालू (रेत) द्वारा एक चैत्य का निर्माण कर दिया था। इसी सुकर्म के प्रभाव से वह 'अनिन्दित' दशा में स्वर्ग जा सका[1]। दिव्यावदान में बिन्दुसार और आचार्य पिङ्गलवत्स का जो सम्वन्ध वर्णित है, उसे दृष्टि में रखकर यह अनुमान किया गया है, कि बिन्दुसार आजीवक सम्प्रदाय का था। पिङ्गलवत्स आजीवक था, यह निर्विवाद है। दिव्यावदान के अनुसार बिन्दुसार ने पिङ्गलवत्स द्वारा ही राजकुमारों की परीक्षा ली थी, और इसी आचार्य ने यह भविष्यवाणी की थी, कि बिन्दुसार के पश्चात् अशोक ही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ होगा। पर केवल आजीवक पिङ्गलवत्स के कारण बिन्दुसार को भी आजीवक सम्प्रदाय का अनुयायी मान लेना युक्तिसंगत नहीं है, यद्यपि यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि मौर्य वंश के राजा आजीवक भिक्षुओं को आदर की दृष्टि से देखते थे। अशोक और दशरथ द्वारा आजीवकों के लिये गुहाओं का दान करना इसका स्पष्ट प्रमाण है।

तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने लिखा है, कि चाणक्य की सहायता से बिन्दुसार ने सोलह राज्यों को जीता था, और इन विजयों के कारण उसका राज्य पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत हो गया था। इन सोलह राज्यों के राजाओं और अमात्यों का घात कर चाणक्य ने बिन्दुसार को उनका स्वामी बना दिया था। बिन्दुसार द्वारा जीते हुए राज्य कौन-से थे, यह ज्ञात नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि मागध साम्राज्य के उत्कर्ष के जिस कार्य को चाणक्य के नेतृत्व में चन्द्रगुप्त के शासन-काल में प्रारम्भ किया गया था, वह बिन्दुसार के समय में भी जारी रहा। इसमें सन्देह नहीं, कि उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भारत चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत हो चुका था। कलिङ्ग अशोक द्वारा जीता गया था। अतः बिन्दुसार ने जिन राज्यों को जीत कर अपने अधीन किया था, उनकी स्थिति दक्षिणापथ में ही होनी चाहिये। अशोक के उत्कीर्ण लेखों द्वारा ज्ञात होता है, कि उसका साम्राज्य दक्षिण में वहुत दूर तक विस्तृत था। सुदूर दक्षिण के केवल पाण्डय, केरल, चोल और सातियपुत्र ही ऐसे राज्य थे, जो मौर्य साम्राज्य के अधीन नहीं थे। महाराष्ट्र, आन्ध्र और कर्णाटक के सव प्रदेश अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, यह उसके उत्कीर्ण लेखों की वाह्य एवं आभ्यन्तर साक्षी से सिद्ध है। यह सर्वथा सम्भव है, कि दक्षिण के ये सव प्रदेश बिन्दुसार द्वारा ही जीते गये हों। गुजरात और सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त के समय में भी मौर्यों के अधीन थे, यह शक रुद्रदामा के उस लेख से स्पष्ट है, जिसमें कि उसने गिरनार की सुदर्शन झील के सम्बन्ध में विवरण दिया है। उस विवरण के अनुसार इस झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रान्तीय शासक पुष्पगुप्त द्वारा कराया गया था। सिकन्दर के आक्र-

१. 'राज्ञाथ बिम्बसारेण बालेना व्यक्त चेतसा ॥ पुरा कारितं चैत्यं बालुकया भवान्तरे। तस्य कर्मप्रभावेन दिवं यातो ह्यानिन्दितः ॥ मञ्जु श्री मूल कल्प ४४५-६

मणों का प्रभाव पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत पर विशेष रूप से पड़ा था, और भारत के इन्हीं प्रदेशों में यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उस सैन्यशक्ति का संगठन किया था, जिसकी सहायता से वे नन्दवंश का अन्त कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुए थे। सौराष्ट्र और गुजरात के प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य की अधीनता में अवश्य थे, पर दक्षिणापथ के आन्ध्र, महाराष्ट्र और कर्णाटक की विजय सम्भवतः बिन्दुसार द्वारा ही की गई थी। चन्द्रगुप्त के श्रवणबेलगोल के साथ सम्बन्ध को दृष्टि में रख कर कुछ ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि दक्षिणापथ के प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही मागध साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे। तभी चन्द्रगुप्त के लिये श्रवणबेलगोल में जाकर अपने अन्तिम समय को बिता सकना सम्भव हो सका था। पर यह युक्ति निःसार है। प्राचीन समय में परिव्राजकों, मुनियों और भिक्षुओं के लिये राज्यों की सीमा का कोई महत्त्व नहीं था। मुनिव्रत स्वीकार कर लेने के अनन्तर चन्द्रगुप्त अपने राज्य के बाहर जाकर भी तपस्या कर सकता था।

मौर्यों द्वारा दक्षिण पर आक्रमण करने और उसकी विजय के कुछ निर्देश प्राचीन तामिल साहित्य में भी विद्यमान हैं। संगम साहित्य के पाँच काव्यों में मौर्यों का उल्लेख है। इनमें से तीन काव्य कवि मामूलनार के हैं, और दो अन्य दो कवियों के। इन कवियों के काल के सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, पर संगम साहित्य के अन्तर्गत काव्यों को प्रायः ईस्वी सन् की पहली तीन शताब्दियों का माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि मामूलनार एक प्राचीन कवि है, और उसने मौर्यों तथा उनके पूर्ववर्ती नन्द राजाओं का जो उल्लेख किया है, वह अत्यन्त महत्त्व का है। मामूलनार के एक काव्य में प्रेम से अभिभूत वियोगिनी द्वारा यह कहलवाया गया है—'वह कौन-सी वस्तु है, जिसने मेरे प्रेमी को आकृष्ट किया हुआ है? किस कारण वह मेरे आकर्षण की उपेक्षा कर रहा है? क्या यह सुप्रसिद्ध और महाविजयी नन्दराज का वह धनकोश है, जिसे उसने वैभव-सम्पन्न पाटलिपुत्र में सञ्चित कर रखा है, और जिसे उसने गंगा की धारा के नीचे छिपाकर रखा हुआ है।' कवि मामूलनार ने यहाँ स्पष्ट रूप से उस नन्द राजा का उल्लेख किया है, जिसे पुराणों में 'महाबल' 'सर्वक्षत्रान्तक' और 'अतिलुब्ध' कहा गया है। मौर्यों के विषय में मामूलनार ने लिखा है, कि उन्होंने एक बहुत बड़ी सेना को साथ लेकर आक्रमण किया था, और उनके रथ पहाड़ को काट कर बनाये गये मार्ग से आगे बढ़ते चले गये थे। मौर्यों ने जब दक्षिण पर आक्रमण किया, तो वडुगर उनके आगे-आगे चल रहे थे। तामिल साहित्य में वडुगर शब्द का प्रयोग उत्तरी लोगों के अर्थ में किया गया है, और इस शब्द से कन्नड तथा तेलुगू लोगों को सूचित किया जाता है। वडुगर के आगे-आगे चलने की बात से यही निर्दिष्ट होता है कि जब मौर्य विजेता आन्ध्र और कर्णाटक के प्रदेशों को जीत कर अपनी अधीनता में ले आ चुके थे, तब उन्होंने वहाँ के तेलुगू-कन्नड निवासियों की सहायता से सुदूर दक्षिण के तामिल-प्रदेश पर भी आक्रमण किये थे। यद्यपि तामिल देश के चोल और पाण्डय राज्य मौर्यों की अधीनता में आने से बचे रहे, पर उन पर मौर्य-आक्रमणों की स्मृति चिरकाल

तक स्थिर रही, और वही मामूलनार सदृश कवियों के काव्य में सुरक्षित है।[१] दक्षिण के ये आक्रमण सम्भवतः विन्दुसार के समय में ही हुए थे, क्योंकि चाणक्य जैसा कुशल मन्त्री उसके समय में भी मौर्य साम्राज्य के शासन-सूत्र का सञ्चालन कर रहा था।

माइसूर के अनेक उत्कीर्ण लेखों के अनुसार कुन्तल का प्रदेश नन्दों के शासन में था।[२] वर्तमान समय का उत्तरी कनारा का जिला और माइसूर, धारवाड़ तथा वेलगाँव जिलों के कतिपय भाग प्राचीन कुन्तल के अन्तर्गत थे। जिन लेखों में कुन्तल पर नन्दों के शासन का उल्लेख है, वे वारहवीं सदी के हैं। यद्यपि उनकी प्रामाणिकता निर्विवाद नहीं है, पर यह असम्भव नहीं कि महापद्म नन्द जैसे 'सर्वक्षत्रान्तकृत' विजेता ने दक्षिणापथ के इस प्रदेश को भी जीत कर अपने अधीन पर लिया हो। हमें ज्ञात है कि नन्दों के समय में मगध का साम्राज्य वहुत विस्तृत एवं शक्तिशाली था। यदि माइसूर के शिलालेखों की वात को सत्य माना जाए, तो कुन्तल प्रदेश को नन्दों के साम्राज्य के अन्तर्गत मानना होगा। उस दशा में यह भी स्वीकार करना होगा, कि दक्षिणापथ का यह प्रदेश चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में भी सम्मिलित रहा होगा। यदि दक्षिणापथ के कुन्तल जैसे प्रदेश भी चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन थे, तो यह निश्चित कर सकना वहुत कठिन हो जाता है, कि तारानाथ के अनुसार दक्षिण के जो सोलह राज्य बिन्दुसार ने जीत कर मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत किये थे, वे कौन-से थे। यह भी सम्भव है, कि नन्दवंश के पतन और मौर्य वंश के उत्कर्ष के समय की राजनीतिक अव्यवस्था से लाभ उठा कर दक्षिणापथ के अनेक राज्य मगध की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये हों,और विन्दुसार ने उन्हें फिर से मागध साम्राज्य में सम्मिलित किया हो। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार कलिङ्ग भी नन्दों के अधीन था। खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से भी यही सूचित होता है, कि नन्दों ने कलिङ्ग की भी विजय की थी। पर भारत के पूर्वी समुद्र तट पर स्थित यह राज्य न चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत था, और न बिन्दुसार के साम्राज्य के। इसे राजा अशोक ने जीता था। नन्दों के पतन काल में जिस प्रकार कलिङ्ग ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, सम्भव है कि दक्षिणापथ के वे प्रदेश भी उसी प्रकार स्वतन्त्र हो गये हों, जो पहले नन्दों के अधीन थे। कुछ भी हो, यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है, कि चन्द्रगुप्त के समान बिन्दुसार भी एक वीर तथा प्रतापी राजा था, और उसके शासन-काल में भी मौर्यों की शक्ति का उत्कर्ष ही हुआ। आचार्य चाणक्य की संरक्षकता एवं पथप्रदर्शन में विन्दुसार ने भी उस कार्य को आगे वढ़ाया, जिसका प्रारम्भ चन्द्रगुप्त के समय में हुआ था।

राजा विन्दुसार के शासन-काल की एक घटना का उल्लेख दिव्यावदान में किया गया है। उसके समय में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ। तक्षशिला मौर्य साम्राज्य के उत्तर-

१. Sastri K.A.N. : A Comprehensive History of India. Vol. II pp. 501-503.

२. Rice : Mysore and Coorg Inscriptions p. 3.

पश्चिमी प्रदेश (उत्तरापथ) की राजधानी थी। वाहीक (पंजाब) और गान्धार के जनपदों को मगध की अधीनता में आये अभी अधिक समय नहीं हुआ था। सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व ये जनपद स्वतन्त्र थे। मौर्यों ने भी इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं किया था। इस दशा में यदि इनमें अपनी स्वतन्त्रता एवं पृथक् सत्ता की स्मृति सुदृढ़ रूप से विद्यमान रही हो, और अवसर पाने पर वे मौर्यों के शासन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये तत्पर हो जाते हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। दिव्यावदान में ऐसे एक विद्रोह का इस ढंग से उल्लेख किया गया है—"राजा बिन्दुसार के विरुद्ध तक्षशिला नगर ने विद्रोह कर दिया। तब राजा बिन्दुसार ने वहाँ अशोक को भेजा। उसे कहा—कुमार, जाओ और तक्षशिला नगर को शान्त करो। बिन्दुसार ने उसे चतुरङ्ग सेना तो साथ ले जाने के लिये दे दी, पर यान और प्रहरण (अस्त्र-शस्त्र) देने से इन्कार कर दिया। जब कुमार अशोक पाटलिपुत्र से बाहर चला, तो भृत्यों (कर्मचारियों) ने सूचना दी।···जब तक्षशिला के निवासी पौरों ने सुना, तो उन्होंने साढ़े तीन योजन तक मार्ग को सजाया, और पूर्णघट लेकर आगे बढ़े। आगे बढ़कर (पौर ने) कहा—न हम कुमार के विरुद्ध हैं, और न राजा बिन्दुसार के। पर दुष्ट अमात्य हमारा अपमान करते हैं। वे महान् सत्कार के साथ (अशोक को) तक्षशिला ले गये।[1]" बिन्दुसार के शासन-काल में जो पहला विद्रोह तक्षशिला में हुआ था, उसे शान्त करने के लिये कुमार अशोक को भेजा गया था। पर दिव्यावदान में तक्षशिला के एक अन्य विद्रोह का भी उल्लेख है, जो सम्भवतः बिन्दुसार के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में हुआ था। उस समय अशोक उज्जयिनी का शासक था। इस दूसरे विद्रोह को शान्त करने के लिये कुमार सुसीम को भेजा गया था।

चन्द्रगुप्त के समान बिन्दुसार के समय में भी मौर्य साम्राज्य का यवन राज्यों के साथ घनिष्ठ राजनयिक सम्बन्ध कायम था। बिन्दुसार का समकालीन सीरियन यवन राजा एण्टियोकस प्रथम सोर्टर था, जो सैल्युकस का उत्तराधिकारी था। उसने डायमेचस (Daimachus) को पाटलिपुत्र में अपना दूत बनाकर भेजा था, जो मैगस्थनीज़ के समान मौर्य राजा की राजसभा में रहा था। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने एण्टियोकस प्रथम और बिन्दुसार—जिसे उन्होंने अमित्रोचेटस नाम से सूचित किया है—के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ लिखी हैं। एक कथा यह है, कि एक बार बिन्दुसार ने एण्टियोकस को यह लिखा,

---

१. 'अथ राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दुसारेणाशोको विसर्जितः। गच्छ, कुमार तक्षशिला नगरं सन्नामय। चतुरङ्गं, बलकायं दत्तं यानं प्रहरणं च प्रतिषिद्धम्। यावत् अशोकः कुमारः पाटलिपुत्रान्निर्गच्छत् भृत्यैः विज्ञापितः।...श्रुत्वा तक्षशिलानिवासिनः पौराः अर्धतृतीयानि योजनानि मार्गे शोभां कृत्वा पूर्णघटं चादाय प्रत्युद्गताः। प्रत्युद्गम्य च कथयति। न वयं कुमारस्य विरुद्धाः नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य। अपितु दुष्टामात्याः अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति। महता च सत्कारेण तक्षशिलानगरे प्रवेशितः।' दिव्यवदान पृष्ठ ४४९

कि मेरे लिये कुछ अंजीर, अंगूरी सुरा और एक यवन दार्शनिक खरीद कर भेज दीजिये। इसके उत्तर में एण्टियोकस ने अञ्जीर और सुरा तो क्रय कर के भेज दीं, पर यवन दार्शनिक के विषय में यह कहला दिया कि यवन प्रथा के अनुसार दार्शनिकों का क्रय-विक्रय सम्भव नहीं है।

बिन्दुसार के समय में ईजिप्ट का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) था। उसने भी भारत के राजा की राजसभा में अपना एक राजदूत नियुक्त किया था, जिसका नाम डायोनीसियस था। डायोनीसियस चिरकाल तक पाटलिपुत्र में रहा था, और उसने भी मैगस्थनीज़ के समान भारत का एक विवरण लिखा था। यद्यपि यह विवरण अब उपलब्ध नहीं है, पर ऐतिहासिक प्लिनी ने अपने ग्रन्थ में इस विवरण का सुचारु रूप से उपयोग किया है।

बिन्दुसार के शासन-काल की कोई अन्य घटना या महत्त्वपूर्ण बात अब तक ज्ञात नहीं हो सकी है। मञ्जुश्रीमूलकल्प में उसके लिये प्रौढ़, धृष्ट, संवृत्त (जो अन्यों के सम्मुख खुले नहीं), प्रगल्भ, प्रियवादी और स्वाधीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है।[1] ये विशेषण उसके व्यक्तिगत चरित्र तथा स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि बिन्दुसार एक शक्तिशाली तथा सुयोग्य राजा था, और उसके शासन-काल में मौर्य साम्राज्य की बहुत उन्नति हुई थी। तक्षशिला में उसके शासन के विरुद्ध विद्रोह अवश्य हुए, पर साम्राज्य में अन्यत्र शान्ति तथा व्यवस्था कायम रही।

महावंसो के अनुसार बिन्दुसार के १०१ पुत्र थे,[2] जिनमें सबसे बड़ा सुमन था। सम्भवतः, इसीको दिव्यावदान में सुसीम नाम से लिखा गया है। १०१ पुत्र होने की बात में चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि बिन्दुसार की अनेक रानियाँ थीं, और उनसे जो पुत्र उत्पन्न हुए थे, उनकी संख्या भी पर्याप्त थी। बड़ा पुत्र होने के कारण यद्यपि राजसिंहासन पर सुसीम या सुमन का अधिकार था, पर उसके छोटे भाई अशोक ने अपने भाइयों को युद्ध में परास्त कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया था। अशोक की राज्यप्राप्ति पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार बिन्दुसार का शासन-काल २५ वर्ष था,[3] और महावंसो के अनुसार २८ वर्ष[5]। मञ्जुश्रीमूलकल्प में उसका शासन-काल ७० वर्ष लिखा है,[3] जो स्पष्टतया अस्वीकार्य है। सम्भवतः, बिन्दुसार की आयु ७० वर्ष की थी। ऐतिहासिक पौराणिक अनुश्रुति को विश्वसनीय मानते हैं। बिन्दुसार २९९ ई० पू० में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था २७२ ई. पू. में उसकी मृत्यु हुई।

---

१. 'प्रौढो धृष्टश्च संवृत्तः प्रगल्भश्चापि प्रियवादिनम्।
स्वाधीन एव तद् राज्यं कुर्यात् वर्षाणि सप्ततिः।' मञ्जुश्रीमल कल्प, ४४९।

२. 'बिन्दुसारसुता आसुं सतं एको च विस्सुता।' महावंसो ५।१९

३. 'भविता नन्दसारस्तु पञ्चविंशत् समा नृपः।' वायुपुराण ९९।३३२

५. तस्स पुत्तो बिन्दुसारो अट्ठवीसति कारयि।' महावंसो ५।१८

६. मञ्जुश्रीमूलकल्प, ४४९।

सोलहवाँ अध्याय

राजा अशोक का शासन काल

(१) अशोक का सिंहासनारोहण

२७२ ई. पू. में राजा बिन्दुसार की मृत्यु हुई, और उनके अन्यतम पुत्र अशोक ने मौर्य साम्राज्य के राजसिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अशोक ने अपने अनेक भाइयों को मार कर पाटलिपुत्र के सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया था। महावंसो में लिखा है--

"कालासोक के दस पुत्र थे। जब कालासोक की मृत्यु हो गई, तो इन भाइयों ने बाईस वर्ष तक शासन किया। उनके बाद नौ नन्द हुए, जो क्रम से राजा बने। इन्होंने भी बाईस वर्ष तक राज्य किया। नौवें नन्द का नाम धननन्द था। चाणक्य नाम के ब्राह्मण ने उग्र क्रोध से इस धननन्द का घात किया, और मोरिय क्षत्रियों के वंश में उत्पन्न श्री से युक्त चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के राजा के रूप में अभिषिक्त किया। इस चन्द्रगुप्त ने चौबीस वर्ष तक राज्य किया। उसका पुत्र बिन्दुसार था, जिसने अट्ठाईस वर्ष तक शासन किया। बिन्दुसार के एक सौ एक पुत्र थे। इनमें अशोक अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् था। अशोक ने ९९ वैमातृक (सौतेले) भाइयों को मार कर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पर शासन किया।[1]"

लङ्का में विद्यमान प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने अपने भाइयों की हत्या करके ही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को प्राप्त किया था। दीपवंसो की कथा भी महावंसो की कथा के सदृश ही है। उसे पृथक् रूप से उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं है। पर दिव्यावदान की कथा विशेष महत्त्व की है। उससे अशोक के बाल्यकाल के सम्बन्ध में भी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। यह कथा इस प्रकार है--

"पाटलिपुत्र में बिन्दुसार नाम का राजा राज्य करता था। उसका एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'सुसीम' रखा। इसी समय चम्पा नगरी में एक ब्राह्मण निवास करता था, जिसकी कन्या बहुत सुन्दर 'दर्शनीया, प्रासादिका और जनपद कल्याणी' थी। उसके भविष्य के सम्बन्ध में ज्योतिषियों से पूछा गया। उन्होंने बताया--इसका पति राजा होगा, और इसे दो पुत्र-रत्न प्राप्त होंगे। एक पुत्र तो चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा, और दूसरा विरक्त होकर

---

१. बिन्दुसारसुता आसुं सतं एको च विस्सुता ।
असोको आसि तेसं तु पुञ्जतेजो बलिद्धिको ॥१९॥
वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं ।
सकले जम्बुदीपस्मि एकरज्जमपापुणि ॥२०॥ महावंसो ५।१९-२०।

'सिद्धव्रत' हो जायगा। अपनी पुत्री के विषय में यह भविष्यवाणी सुन कर ब्राह्मण को बहुत प्रसन्नता हुई। वह कन्या को साथ लेकर पाटलिपुत्र गया, और उसे उत्तम वस्त्रों तथा आभूषणों से सजाकर राजा बिन्दुसार की पत्नी बनने के लिये उसने उपहार रूप में दे दिया। जब वह ब्राह्मण कन्या अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई, तो अन्तःपुर में निवास करनेवाली अन्य स्त्रियों ने सोचा, यह कन्या अत्यन्त सुन्दर, दर्शनीया, प्रासादिका और जनपद कल्याणी है। यदि कहीं राजा इसके साथ सम्भोग कर लेगा, तो वह हमारी बात तक न पूछेगा, हमारी ओर आँख तक नहीं उठायेगा। यह सोचकर उन्होंने ब्राह्मण कन्या को नाई का कार्य सिखा दिया। जब वह नापित कार्य में खूब निपुण हो गई, तो राजा के बाल और मूँछें आदि सँवारने लगी। जब राजा सो रहा होता था, तो वह उसके बाल सँवारा करती थी। एक बार प्रसन्न होकर राजा ने उससे वर माँगने को कहा। ब्राह्मण-कन्या ने कहा—'मैं देव के साथ समागम करना चाहती हूँ।' यह सुनकर राजा ने उत्तर दिया—'तू नाइन है, और मैं क्षत्रिय राजा हूँ। तेरा मेरे साथ समागम कैसे हो सकता है ?' ब्राह्मण कन्या ने कहा—'देव, मैं नाइन नहीं हूँ, मैं ब्राह्मण कन्या हूँ। मेरे पिता ने मुझे आपकी पत्नी होने के लिये ही प्रदान किया है।' यह सुनकर राजा ने प्रश्न किया—'फिर तुझे नाइन का कार्य किसने सिखाया है ?' 'अन्तःपुर की स्त्रियों ने', ब्राह्मणकन्या ने उत्तर दिया। इस पर राजा ने उससे कहा—'अब तुझे और अधिक नाइन का कार्य करने की आवश्यकता नहीं है।'

राजा बिन्दुसार ने उस ब्राह्मणकन्या को अपनी पटरानी बना लिया, और वह उसके साथ क्रीड़ा, रमण आदि करने लगा। उसके गर्भ रह गया, और नौ मास पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने अपनी पटरानी से पूछा—इसका क्या नाम रखा जाए ? रानी ने उत्तर दिया—इस बच्चे के होने से मैं अशोका हो गई हूँ, अतः इसका नाम 'अशोक' रखा जाए। उसका नाम अशोक रख दिया गया। कुछ समय पश्चात् रानी ने एक अन्य पुत्र को जन्म दिया। इस पुत्र की प्राप्ति से रानी के सब दुःख-शोक आदि का सदा के लिये अन्त हो गया था, अतः इसका नाम 'विगतशोक' रखा गया।

कुमार अशोक का शरीर ऐसा नहीं था कि उसके स्पर्श से सुख प्राप्त होता हो। वह 'दुःस्पर्शगात्र' था, इसलिये राजा बिन्दुसार उसे प्रेम नहीं करता था। पर वह यह जानने के लिये उत्सुक था, कि उसके पुत्रों में कौन सबसे अधिक योग्य है। इस प्रयोजन से उसने परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव से सलाह की। राजा ने उसे बुलाकर कहा—'उपाध्याय ! कुमारों की परीक्षा लेते हैं। देखते हैं, कौन इस योग्य है कि मेरे बाद राज्य कार्य को सँभाल सके।' परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने उत्तर दिया—'बहुत अच्छी बात है। कुमारों को लेकर उद्यान के सुवर्णमण्डप में चलिये। वहाँ कुमारों की परीक्षा लेंगे।' राजा ने पिङ्गलवत्साजीव के कथनानुसार कुमारों के साथ सुवर्णमण्डप की ओर प्रस्थान कर दिया। इस समय अशोक से उसकी माता ने कहा—'वत्स ! राजा कुमारों की परीक्षा लेने के लिये सुवर्णमण्डप गये हैं, तू भी वहाँ चला जा।'

अशोक—'राजा तो मुझे देखना भी नहीं चाहता, मैं जाकर क्या करूँगा ?'

माता—'फिर भी चले जाना ही ठीक है।'

अशोक—'बहुत अच्छा, परन्तु भोजन भेज देना।'

जब अशोक पाटलिपुत्र से बाहर निकला, तो प्रधानमन्त्री का पुत्र राधागुप्त उसे मिला। उसने प्रश्न किया—'अशोक, कहाँ जाते हो ?' अशोक ने उत्तर दिया—'आज राजा सुवर्ण-मण्डप में कुमारों की परीक्षा ले रहे हैं। मैं भी वहीं जाता हूँ।'

उस समय वहाँ राजा का महल्लक नाम का हाथी खड़ा हुआ था। अशोक उस पर चढ़ गया और सुवर्णमण्डप जा पहुँचा। वह भी अन्य कुमारों के साथ पृथिवी पर बैठ गया। इसी बीच में कुमारों के लिये भोजन आया। अशोक की माता ने भी मिट्टी के बरतन में दही और चावल रख कर भेज दिया था। राजा बिन्दुसार ने परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव से कहा—'उपाध्याय! कुमारों की परीक्षा लीजिये। देखिये, मेरे बाद कौन राजसिंहासन पर बैठने के योग्य है।'

परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने सोचा, राजा तो अशोक ही होगा। पर यह राजा को अभीष्ट नहीं है। यदि यह कह दूँ कि अशोक राजा बनेगा, तो मेरे जीवित रहने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। अतः उसने उत्तर दिया—'बिना स्वयं अपने मुँह से कहे मैं यह बात प्रगट करता हूँ।' राजा ने कहा—'अच्छा, इसी तरह बताइये।' परिव्राजक ने कहा—'जिसका यान शोभन है, वह राजा बनेगा।' यह सुन कर सब कुमार सोचने लगे—मेरा यान शोभन है, अतः मैं ही राजा बनूँगा। राजा ने फिर परिव्राजक से कहा—'उपाध्याय! अभी और परीक्षा लीजिये। इस पर परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने कहा—'देव, जिसका आसन आगे है, वही राजा बनेगा।' यह सुन कर सब कुमार सोचने लगे—मेरा आसन सबसे आगे है, मैं ही राजा बनूँगा। अशोक ने भी सोचा–मेरा आसन पृथिवी है, मैं ही राजा बनूँगा। इसी प्रकार भोजन, वस्त्र, पात्र, पान आदि के विषय में कह कर परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव बैठ गया।

सब कुमार सुवर्णमण्डप से अपने-अपने निवास स्थानों पर चले गये। अशोक की माता ने उससे पूछा—'क्या निर्णय हुआ ? कौन राजा बनेगा ?' अशोक ने उत्तर दिया—'जिसका यान, आसन, भोजन, पात्र, वस्त्र, पान सबसे उत्कृष्ट है' वही राजा बनेगा, यह निर्णय हुआ है। मेरा विचार तो यह है कि मैं ही राजा बनूँगा, क्योंकि हाथी मेरा यान है, पृथिवी मेरा आसन है, मिट्टी का बना बरतन मेरा पात्र है, दधि और चावल मेरा भोजन है, और उत्तम जल मेरा पान है।'

इसके बाद परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने यह सोच कर कि राजसिंहासन पर अशोक ही आरूढ़ होगा, उसकी माता की सेवा करना प्रारम्भ कर दिया। माता ने उससे पूछा—'उपाध्याय! राजा बिन्दुसार के पश्चात् कौन-सा कुमार राजा बनेगा ?' उपाध्याय ने उत्तर दिया—'अशोक'। इस पर माता ने उससे कहा—कहीं राजा को यह बात ज्ञात न हो जाए,

अतः आप शीघ्र ही पाटलिपुत्र छोड़ कर किसी सुदूरवर्ती प्रदेश में चले जाएँ। जब अशोक राजा बन जाए, तो वापस चले आना। रानी की वात मान कर परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव सीमावर्ती जनपद में चला गया।

एक बार की वात है कि तक्षशिला नगर ने राजा बिन्दुसार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को शान्त करने के लिये बिन्दुसार ने अशोक को भेजा। अशोक को बुलाकर राजा ने कहा—'कुमार' जाओ, तक्षशिला नगर को शान्त करो।' विद्रोह को शान्त करने के लिये राजा बिन्दुसार ने अशोक को चतुरङ्ग सेना तो दे दी, परन्तु यान और अस्त्र देने का निषेध कर दिया। जब कुमार अशोक पाटलिपुत्र से बाहर चले, तो भृत्यों ने उनसे कहा—'कुमार! हमारे पास युद्ध के अस्त्र-शस्त्र तो हैं ही नहीं, हम युद्ध किस प्रकार करेंगे? यह सुनकर अशोक ने उत्तर दिया—'यदि मेरे राज्य में कुशल रहनी है, तो अस्त्र-शस्त्र उत्पन्न हो जाएँ।' अशोक के यह कहते ही पृथिवी में छेद हो गया और देवताओं ने स्वयं प्रगट होकर अस्त्र-शस्त्र उपस्थित कर दिये। अब अशोक ने चतुरङ्ग सेना के साथ तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया। जब तक्षशिला के नगरनिवासियों को यह ज्ञात हुआ, तो वे बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने तक्षशिला के बाहर साढ़े तीन योजन दूर तक मार्ग को भलीभाँति सजाया, और पूर्ण घटों के साथ कुमार अशोक के स्वागत के लिये चल पड़े। अशोक के आने पर 'पौर' ने निवेदन किया—'कुमार, न हम आपके विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के। पर दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।' तक्षशिला के नागरिक स्वागत-सत्कार के साथ कुमार अशोक को अपने नगर में ले गये। अशोक के साथ दो बड़े-बड़े हाथी आये थे। वे उसके आगे-आगे चलते थे और मार्ग से सब बाधाओं को दूर करते जाते थे। यह देख-कर देवताओं ने कहा—अशोक अवश्य ही चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। उसका किसी को भी विरोध नहीं करना चाहिये।

यह तो अशोक के विषय में हुआ। उधर सुसीम (बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र) सुवर्ण-मण्डप से वापस लौट कर जब पाटलिपुत्र में प्रवेश कर रहा था, तो बिन्दुसार का प्रधानमन्त्री खल्लाटक पाटलिपुत्र से बाहर जा रहा था। सुसीम खेल में मग्न था, उसने मखौल में खल्लाटक के सिर पर खटका गिरा दिया। यह देख प्रधानमन्त्री सोचने लगा—आज तो यह सिर पर खटका गिराता है, जब राजा बन जायगा तो अस्त्र गिराने लगेगा। अतः ऐसा उपाय करूँगा कि यह राजा बन ही न सके। खल्लाटक ने इसके लिये प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया। पाँच सौ अमात्यों को उसने सुसीम के विरुद्ध कर दिया और उनके साथ मिलकर यह निर्णय किया कि अशोक को राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाए। अपने इस निर्णय को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से इन अमात्यों ने एक वार फिर तक्षशिला में विद्रोह करा दिया।

इस वार तक्षशिला के विद्रोह को शान्त करने के लिये राजा बिन्दुसार ने कुमार सुसीम को भेजा। पर सुसीम विद्रोह को शान्त करने में असमर्थ रहा। इसी बीच में बिन्दुसार

बीमार पड़ गया। उसने अमात्यों से कहा––कुमार सुसीम को यहाँ बुला लो। उसे राजा के पद पर प्रतिष्ठापित करना है। विद्रोह को शान्त करने के लिये अशोक को तक्षशिला भेज दो।

यह सुनकर अमात्यों ने कुमार अशोक को हल्दी से लेप दिया, और लाख को लोहे के बरतन में डालकर उबालने लगे। उन्होंने प्रसिद्ध कर दिया कि कुमार अशोक बीमार है। (सम्भवतः, इसका उद्देश्य यह था कि अशोक को तक्षशिला न जाने दिया जाए) उधर बिन्दुसार की दशा निरन्तर बिगड़ती गई। जब उनकी अन्तिम अवस्था निकट आ गई, तो अमात्य अशोक को विविध वस्त्रों और आभूषणों से सजा कर बिन्दुसार के पास ले गए और उनसे कहा––'अभी इसे राजपद पर प्रतिष्ठापित कर दीजिये। जब सुसीम तक्षशिला से वापस आ जायगा, तब राज्य उसे दे दिया जायगा।

यह सुनकर अशोक ने क्रोध से आविष्ट हो राजा बिन्दुसार से कहा––'यदि धर्म के अनुसार राजसिंहासन मुझे ही प्राप्त होना है, तो देवता मेरे पट्ट बाँध दें।' देवताओं ने ऐसा ही किया। यह देखकर बिन्दुसार के मुख से खून बहने लगा, और शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् अशोक को राज्य प्रदान कर दिया गया। जब अशोक को राज्य दिया गया, तो यक्ष लोग एक योजन ऊपर और नाग एक योजन नीचे इस बात को सुन रहे थे। अशोक ने राधागुप्त को प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त किया।

जब कुमार सुसीम को राजा बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक द्वारा राज्यप्राप्ति का समाचार ज्ञात हुआ, तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह तुरन्त तक्षशिला से चल पड़ा। जब अशोक को ज्ञात हुआ, कि सुसीम पाटलिपुत्र आ रहा है, तो उसने अपनी राजधानी के एक द्वार पर एक 'नग्न' को और दूसरे द्वार पर दूसरे 'नग्न' को नियुक्त कर दिया। तीसरे द्वार पर राधागुप्त को तैनात किया गया, और चौथे द्वार पर अशोक स्वयं उपस्थित हुआ। राधागुप्त ने अपने द्वार पर एक यन्त्रवाला हाथी खड़ा कर दिया और साथ में अशोक की एक मूर्ति भी स्थापित कर दी। उस के सम्मुख परिखा खुदवा कर उसमें खैर के अङ्गारे भरवा दिये। ऊपर मिट्टी डलवा कर उसे तृणों से पाट दिया गया। जब सुसीम पाटलिपुत्र के समीप पहुँचा, तो राधागुप्त ने उसे कहलवा भेजा कि अशोक को मार कर ही तुम राज्य प्राप्त कर सकोगे। यह जान कर सुसीम अशोक के घात के लिये उस द्वार की ओर चला, जहाँ अशोक की मूर्ति स्थापित थी। दूर से अशोक की मूर्ति को ही अशोक समझ कर उससे युद्ध करने के लिये वह अग्रसर हुआ। परन्तु मार्ग में परिखा थी, जो दहकते हुए अङ्गारों से भरी थी। उसमें गिर कर सुसीम का देहावसान हो गया।[1]

दिव्यावदान की यह कथा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इससे निम्नलिखित बातें सूचित होती हैं––(१) अशोक की माता चम्पा के निवासी एक ब्राह्मण की कन्या थी।

---

१. **दिव्यावदान (कावेल और नील) पृष्ठ ३६९-३७१**

अन्तःपुर में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं था, और सम्भवतः उसकी स्थिति एक रानी की भी नहीं थी। (२) राजा बिन्दुसार अशोक के प्रति स्नेह और वात्सल्य की भावना नहीं रखता था। इसका एक कारण यह था, कि अशोक सुन्दर नहीं था और दूसरा कारण सम्भवतः यह था कि वह एक ऐसी माता का पुत्र था जिसे रानी की स्थिति प्राप्त नहीं थी। (३) पर अशोक की योग्यता असंदिग्ध थी। अनेक राजपुरुष यह मानते थे कि बिन्दुसार के बाद राजसिंहासन का योग्य अधिकारी वही है। इसीलिये परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने यह भविष्यवाणी कर दी थी, कि अशोक ही राजसिंहासन पर आरूढ़ होगा। बौद्ध साहित्य की कथाओं के अनुसार पिङ्गलवत्साजीव आजीवक सम्प्रदाय का अनुयायी था, और अशोक की माता इस सम्प्रदाय के प्रति अगाध श्रद्धा रखती थी। (४) राजा बिन्दुसार की मृत्यु के अनन्तर अशोक ने पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। पर उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं थी, क्योंकि उसका वैमातृक (सौतेला) बड़ा भाई सुसीम अपने को राजगद्दी का न्याय्य अधिकारी मानता था। अशोक की स्थिति तभी सुरक्षित हुई, जब उसने सुसीम को मार कर अपने मार्ग को निष्कण्टक कर दिया।

लंका में विद्यमान बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने अपने ९९ भाइयों को मारकर राजगद्दी पर अधिकार किया था। महावंसो के अनुसार जब राजा बिन्दुसार बीमार पड़े, तो अशोक उज्जैनी के शासक थे। दिव्यावदान की कथा के अनुसार बिन्दुसार के रुग्ण होने के समय अशोक पाटलिपुत्र में ही थे, और अमात्यों ने सुसीम की उपेक्षा कर उन्हें राजसिंहासन पर आरूढ़ करा दिया था। पर महावंसों के अनुसार बिन्दुसार के अन्त काल के समय अशोक उज्जैनी में थे। ज्यों ही उन्हें अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला, वह वहाँ से चल पड़े और अपने बड़े भाई सुमन को परास्त कर उन्होंने पाटलिपुत्र का राजसिंहासन प्राप्त कर लिया[1]। दिव्यावदान में जिसे सुसीम कहा गया है, महावंसो ने उसे ही सुमन कहा है। महावंसों और दिव्यावदान की कथाओं में एक भेद यह भी है, कि बिन्दुसार की मृत्यु के समय महावंसों के अनुसार अशोक उज्जैनी में था और दिव्यावदान के अनुसार पाटलिपुत्र में। दिव्यावदान में अशोक के उज्जैन में 'कुमार' (प्रान्तीय शासक) नियुक्त होने का उल्लेख नहीं है, और महावंसो में तक्षशिला के विद्रोह और उसे शान्त करने के लिए अशोक के भेजे जाने की कथा नहीं दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है, कि तक्षशिला में विद्रोह को शान्त कर चुकने में अनन्तर ही अशोक को उज्जैन का शासक बनाकर भेजा गया था।

१. 'बिन्दुसारस्स पुत्तानं सब्बेसं जेट्टभातुनो।
सुमनस्स कुमारस्स त्तो सो हि कुमारको ॥३८
असोको पितरा दिन्नं रज्जं उज्जेनियं हि सो।
हित्वा गतो पुप्फपुरं बिन्दुसारे गिलानके ॥३९॥
कत्वा पुरं सकायत्तं मते पितरि भातरं।
घातेत्वा जेट्ठकं रज्जं अग्गहेसि पुरे वरे ॥४०॥ महावंसो ५।३८-४०

अशोक और तक्षशिला के सम्बन्ध के विषय में एक निर्देश उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी उपलब्ध है। तक्षशिला के भग्नावशेषों में सिरकप संज्ञक क्षेत्र के एक मकान पर लगा हुआ एक उत्कीर्ण लेख मिला है, जो अरेमाई भाषा में है। इसमें एक ऐसे राजपदाधिकारी का उल्लेख किया गया है, जिसकी पदवृद्धि 'प्रियदर्शी' की कृपा से हुई थी। यह लेख प्रायः खण्डित है, और इस में "प्रियदर्शी' शब्द भी खण्डित दशा में ही है। उसके केवल 'प्रियदृश्' इतने अक्षर सुरक्षित हैं[1]। पर वे यह सूचित करने के लिये पर्याप्त है कि इस लेख में जिस राजपदाधिकारी का उल्लेख है, उसकी पदवृद्धि का श्रेय प्रियदर्शी को था। यह लेख तीसरी सदी ई० पू० के पूर्वार्ध का माना जाता है। राजा बिन्दुसार का शासन काल २९८ से २७२ ई० पू० तक था। अतः इस लेख को बिन्दुसार के शासन-काल का ही माना जाना चाहिये। इसी शासन काल में अशोक कुछ समय के लिये तक्षशिला का शासक रहा था। 'प्रियदर्शी' विशेषण अशोक के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, किसी अन्य मौर्य राजा या कुमार के लिये नहीं। अतः यह मानना असंगत नहीं होगा, कि तक्षशिला से प्राप्त अरेमाई भाषा का यह लेख उस काल के साथ सम्बन्ध रखता है, जबकि अशोक (प्रियदर्शी) तक्षशिला का शासक था[2], और पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर राजा बिन्दुसार विराजमान थे। सम्भवतः, अशोक पहले तक्षशिला का 'कुमार' रहा और बाद में उज्जैन का। जब बिन्दुसार रोगशैय्या पर पड़े थे, और मागध साम्राज्य के नये राजा का प्रश्न राधागुप्त तथा अन्य अमात्यों के सम्मुख उपस्थित था, तब अशोक उज्जैन में ही था।

उज्जैन के 'कुमार' (प्रान्तीय शासक) के रूप में अशोक के जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनेक घटनाएँ महावंसो द्वारा ज्ञात होती हैं। उनके अनुसार जब अशोक अवन्ति राष्ट्र (राजधानी—उज्जैन) का भोग कर रहा था, तो विदिशा नगरी में उसका परिचय 'देवी' नाम की एक कुमारी से हुआ जो वहाँ के श्रेष्ठी की कन्या थी। उन दोनों में प्रेम हो गया, और उनसे जो सन्तान उत्पन्न हुई, जिनके नाम महिन्द (महेन्द्र) और संघमित्ता (संघमित्रा) थे। दोनों की आयु में दो वर्ष का अन्तर था। लंका के इतिहास में महेन्द्र और

१. Epigraphica Indica. Vol. 19 p 251

२. 'कमेन वेदिसगिरिं नगरं मातु देविया।
सम्पत्तो मातरं पस्सि, देवी दिस्वा पियं सुतम् ॥६
अवन्तिरट्ठं भुञ्जन्तो पितरा दिन्नमत्तनो।
सो असोक कुमारो हि उज्जैनीगमना पुरा ॥८
वेदिसे नगरे वासं उपगन्त्वा तहिं सुभं।
देविं नाम लभित्वान कुमारिं सेट्ठिधीतरम् ॥९
संवासं ताय कप्पेसि गव्भं गण्हिय तेन सा।
उज्जेनियं कुमारं तं महिन्दं जनयी सुभं ॥१०
वस्सद्वयमतिक्कम्म संघामित्तञ्च धीतरं ॥११ 'महावंसो—१३-६-११।

संघमित्रा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये इन्होंने बहुत काम किया। महेन्द्र ने बीस साल की आयु में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, और भिक्षु बन कर बौद्ध धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। लङ्का की स्त्रियों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार किया जा सके, इस प्रयोजन से संघमित्रा भी भिक्षुणी बन कर वहाँ गई और उसके प्रयत्न से लङ्का की लाखों स्त्रियों ने बौद्ध धर्म का अनुयायी होना स्वीकार किया।

बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् जब अशोक ने पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तब भी देवी विदिशा में ही रही। वह पाटलिपुत्र नहीं गई। बौद्ध धर्म की तृतीय धर्मसंगीति (महासभा) का वर्णन करते हुए महावंसों में अशोक की रानी का नाम असन्धिमित्रा लिखा गया है[1]। यह महासभा पाटलिपुत्र में हुई थी, और अशोक ने इसके सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। पाटलिपुत्र में अशोक के साथ 'देवी' का उल्लेख न कर जो असन्धिमित्रा को उसकी रानी के रूप में लिखा गया है, इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मौर्य साम्राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के अनन्तर अशोक ने असन्धिमित्रा के साथ विवाह कर लिया था। इसका एक कारण सम्भवतः यह था कि देवी विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी और उसे विशाल मागध साम्राज्य की साम्राज्ञी के रूप में स्वीकृत कर सकना अमात्यों तथा अभिजात वर्ग के लिये सुगम नहीं था। पर लंका के प्राचीन इतिहास के साथ सम्बन्ध रखने वाले एक ग्रन्थ में देवी को 'विदिशा-महादेवी' और 'शाक्यानी' लिखा गया है[2], जिससे यह सूचित होता है कि देवी प्राचीन शाक्यगण के किसी उच्च कुल में उत्पन्न हुई थी। मगध के राजाओं द्वारा जब शाक्यगण की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया गया, तो उसके बहुत-से व्यक्ति सुदूर प्रदेशों में भी जा बसे थे। यह असम्भव नहीं है, कि देवी जिस श्रेष्ठी की कन्या हो, उसके पूर्वज कपिलवस्तु से आकर विदिशा में बस गये हों। पर यह भी हो सकता है, कि लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले महेन्द्र का सम्बन्ध शाक्य गण (जिसमें भगवान् बुद्ध ने भी जन्म लिया था) के साथ जोड़ने के लिये ही इस कथा का आविष्कार किया गया हो। विदिशा का बौद्ध धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उसके समीप ही साञ्ची का प्रसिद्ध स्तूप विद्यमान है, जिसके निर्माण का प्रारम्भ मौर्य युग में हो चुका था। अशोक का विदिशा के साथ जो सम्बन्ध था, इसी के कारण सम्भवतः साञ्ची ने बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में इतनी अधिक ख्याति प्राप्त की थी। अशोक, देवी, महेन्द्र और संघमित्रा के सम्बन्ध में जो इतिवृत्त महावंसो आदि लंका के पुराने ग्रन्थों में पाया जाता है, कतिपय ऐतिहासिकों ने उसकी सत्यता में सन्देह प्रगट किया है। चीनी यात्री ह्य ुएनत्सांग ने महेन्द्र को अशोक का भाई लिखा है।[3]

---

१. 'एकं असन्धिमित्ताय देविया तु अदापयि।' महावंसो ५।८५

२. महाबोधिवंस पृ० ११६

३. Beal : Buddhist Records of the Western World Vol. II pp 91 and 231

इसी को दृष्टि में रख कर ओल्डनवर्ग[1] और स्मिथ[2] जैसे ऐतिहासिकों ने लंका के इतिवृत्त को विश्वसनीय नहीं माता है। पर ह्यु एन्त्सांग ने भी यह लिखा है कि लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार महेन्द्र द्वारा किया गया, और छोटी आयु में ही राजकुल के इस कुमार ने अर्हत पद को प्राप्त कर लिया।[3] महावंसो के अनुसार महेन्द्र ने बीस वर्ष की आयु में भिक्षुव्रत ग्रहण किया था, और उसकी वहन संघमित्रा ने अठारह साल की आयु में। इससे पूर्व संघमित्रा का विवाह अग्गिवह्म (अग्निब्रह्मा) के साथ हो चुका था, जो राजा अशोक का भानजा (भागिनेय) था। अग्निब्रह्मा से संघमित्रा को एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम सुमन रखा गया था। पर बालक सुमन की परवाह न कर संघमित्रा भिक्षुणी बन गई थी, और लंका की स्त्रियों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये चली गई थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक सुदीर्घ समय तक उज्जैनी का शासक (कुमार) रहा था। महावंसो के अनुसार महेन्द्र ने धर्माशोक (अशोक) के शासन-काल के छठे वर्ष में प्रव्रज्या ग्रहण की थी, और तब उसकी आयु बीस वर्ष की थी। यदि महावंसो में दिये गये इन वर्षों को सही माना जाए, तो यह स्वीकार करना होगा, कि अशोक के पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के समय महेन्द्र चौदह साल का था। अशोक की धर्मलिपियों के अनुशीलन से ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है, कि अशोक को चार वर्ष तक अपने भाइयों के साथ युद्ध करना पड़ा था, और राजा बिन्दुसार की मृत्यु के चार साल बाद ही वह पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को प्राप्त कर सका था। इस प्रकार जब बिन्दुसार की मृत्यु हुई, तो महेन्द्र की आयु दस साल की थी। महेन्द्र की माता देवी से अशोक का परिचय और प्रणय उस समय हुआ था, जब कि वह अवन्ति राष्ट्र का शासक था। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि अशोक दस साल के लगभग तक उज्जैनी में शासन के लिये नियुक्त रहा था, और वहाँ रहते हुए उसे शासन के सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ था और उसने अपनी स्थिति को जिस ढंग से सुदृढ़ बना लिया था, उसी के कारण वह गृहयुद्ध में अपने भाइयों को परास्त कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को प्राप्त कर सका था।

दिव्यावदान में अशोक द्वारा राज्य-प्राप्ति की जो कथा दी गई है, उसे हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं। उससे सूचित होता है, कि अशोक का एक अन्य भाई था, जिसका नाम सुसीम था। बिन्दुसार उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, और सम्भवतः वही युवराज के पद पर नियुक्त भी था। पर राधागुप्त की सहायता से अशोक ने सुसीम को परास्त कर दिया और उसे मार कर स्वयं राजसिंहासन को हस्तगत कर लिया। महावंसो में भी अशोक द्वारा अपने बड़े भाई के मारे जाने का उल्लेख है, यद्यपि वहाँ इस

---

१. Oldenberg : Introduction to Vinayapitaka, p I

२. Smith V. A. : Ashoka p 50

३. Beal : Buddhist Records of the Western World Vol. II p 246

भाई का नाम 'सुमन' लिखा गया है। सम्भवत:, जिसे दिव्यावदान में सुसीम कहा गया है, वही महावंसो का सुमन है। महावंसो की कथा के अनुसार जब राजा बिन्दुसार की मृत्यु हुई, तो अशोक उज्जैनी में था। ज्यों ही उसे पिता की मृत्यु का समाचार मिला, उसने पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) के लिये प्रस्थान कर दिया और सुमन को मार कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। महावंसो में ही अन्यत्र बिन्दुसार के ९९ पुत्रों का उल्लेख है। ये सब अशोक के सौतेले भाई थे, और पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को प्राप्त करने के लिये उसने इन सबका घात किया था। तारानाथ द्वारा संकलित तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार भी अशोक ने अपने छः भाइयों का घात करके मागध साम्राज्य को प्राप्त किया था। सम्पूर्ण बौद्ध अनुश्रुति इस विषय पर एकमत है कि अशोक को राजसिंहासन प्राप्त करने के लिये युद्ध की आवश्यकता हुई थी। उसके भाइयों की संख्या कितनी थी, इस प्रश्न पर मतभेद होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक ने स्वाभाविक रूप से मगध के राजसिंहासन पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं किया था। पर इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि अशोक ने राज्य के लिये युद्ध करते हुए अपने सब भाइयों की हत्या नहीं करदी थी। लंका की बौद्ध अनुश्रुति में ही अशोक के भाई तिष्य का उल्लेख है, जो उसके (अशोक) के शासन काल में भी जीवित था। यह तिष्य अशोक का सहोदर भाई था, सौतेला नहीं। बिन्दुसार के कुल १०१ पुत्र थे, जिनमें से अशोक और तिष्य सहोदर थे और अन्य ९९ वैमातृक। महावंसो के अनुसार अशोक ने इन ९९ भाइयों की ही हत्या की थी।

बौद्ध ग्रन्थों में अशोक के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के सम्बन्ध में जो विवरण मिलता है, उसमें अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। बौद्ध लेखक यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि अशोक पहले अत्यन्त क्रूर और नृशंस था। बौद्ध धर्म की दीक्षा ले लेने पर उसके जीवन में परिवर्तन आया और वह एक आदर्श राजा बन गया। इसी मनोवृत्ति से उन्होंने अशोक द्वारा अपने ९९ भाइयों की हत्या का उल्लेख किया है। राज्य-प्राप्ति के लिये अशोक ने चाहे अपने ६ भाइयों का वध किया हो और चाहे ९९ का और चाहे अकेले सुसीम का, पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि राजा बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में गृहयुद्ध हुआ था, और अपने अन्य भाइयों को परास्त कर अशोक पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को प्राप्त करने में समर्थ हुआ था।

महावंसो के अनुसार जब अशोक ने राज्य पर अपना स्वामित्त्व स्थापित कर लिया था, उसके चार वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में उसका अभिषेक हुआ[1], और यह अभिषेक महात्मा बुद्ध के निर्वाण के २१८ वर्ष बाद हुआ था[2]। राज्यप्राप्ति और राज्याभिषेक में यह जो

१. 'पत्वा चतूहि वस्सेहि एकरज्जं महायसो ।
पुरे पाटलिपुत्तस्मिं अत्तानमभिसेचयि ।।' महावंसो ५।२२

२. 'जिन निब्बाणतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो ।
साट्ठारसं वस्ससतद्वयमेव विजानियं ।।' महावंसो ५।२१

चार वर्ष का अन्तर है, उसका कारण सम्भवतः यही था, कि अभी अशोक की स्थिति सुरक्षित नहीं हो पायी थी, अपने भाइयों के विरुद्ध उसका संघर्ष अभी जारी था और राज्य में अनेक ऐसे अमात्य व अन्य वर्ग थे जो अशोक के विरोधी थे। चार वर्ष के निरन्तर संघर्ष के पश्चात् जब अशोक की स्थिति सर्वथा सुरक्षित हो गई, तभी उसके राज्याभिषेक का आयोजन किया गया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अशोक ने अपनी धर्म लिपियों में राज्याभिषेक के वर्ष का उल्लेख किया है, राज्यप्राप्ति के वर्ष का नहीं। कौन-सी धर्मलिपि कब उत्कीर्ण करायी गयी, यह अशोक ने इस प्रकार सूचित किया है—सड्वीसतिवस अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखा पिता[1] (षड्विंशति वर्षाभिषिक्तेन मया इयं धर्मलिपिः लेखिता)। इसका अर्थ यह है—छब्बीस वर्ष से अभिषिक्त मुझ द्वारा यह धर्मलिपि लिखायी गई। इसी शैली में अशोक ने किसी धर्मलिपि को अपने अभिषेक के दसवें वर्ष में लिखित कहा है, किसी को बारहवें वर्ष में और किसी को किसी अन्य वर्ष में। पर सर्वत्र अभिषेक के बाद बीते हुए वर्षों का ही उल्लेख किया गया है। इसे दृष्टि में रख कर अनेक विद्वानों ने लंका द्वीप के महावंसो आदि बौद्ध ग्रन्थों के इस कथन को विश्वसनीय माना है कि अशोक का राज्याभिषेक राज्य की प्राप्ति के चार साल पश्चात् हुआ था। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि राज्य के लिये भ्रातृयुद्ध और राज्यप्राप्ति तथा राज्याभिषेक में चार साल के अन्तर की बात को सब ऐतिहासिक स्वीकार नहीं करते। स्मिथ ने भ्रातृयुद्ध की कथा को अविश्वनीय माना है, यद्यपि राज्यप्राप्ति और अभिषेक में अन्तर को उन्होंने स्वीकार किया है। वे ९९ भाइयों को मार कर राजसिंहासन प्राप्त करने की बात को कोरी और मूर्खतापूर्ण गप्प समझते हैं, यद्यपि दिव्यावदान की कथा में उन्हें सत्य का कुछ अंश दिखायी दिया है। उन्होंने लिखा है कि "तथापि यह सम्भव है कि उत्तरीय इतिवृत्त जिसके अनुसार अशोक और उसके सबसे बड़े भाई सुसीम में राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में परस्पर झगड़ा हुआ था, वास्तविक घटना पर आश्रित हो, यह वृत्तान्त सिंहली भिक्षुओं द्वारा उल्लिखित कथाओं की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक प्रतीत होता है।[2]" श्री भाण्डारकर भी महावंसो की कथा को विश्वसनीय नहीं मानते[3]।

(२) राज्य-विस्तार

राजा अशोक के शासन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का हमें अधिक ज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है, कि दिव्यावदान, महावंसो आदि जिन ग्रन्थों में अशोक के जीवन वृत्त का विशद रूप से विवरण मिलता है, उनकी रचना बौद्ध धर्म को दृष्टि में रखकर की गई थी।

---

१. देहली–टोपरा स्तम्भ-लेख—चौथा लेख।
२. Smith V. A. : Ashoka, Chapter I
३. Bhandarkar D. R. : Ashoka Chapter I

उनके लेखक अशोक को बौद्ध धर्म के सहायक, संरक्षक और प्रचारक के रूप में देखते थे। इसी कारण अशोक की राजनीतिक शक्ति, राज्य विस्तार, शासन आदि के सम्बन्ध में उनसे कोई विशेष महत्त्वपूर्ण निर्देश नहीं मिलते। अशोक की धर्मलिपियों का सम्बन्ध भी प्रधानतया धर्मविजय की नीति के साथ है। यह सब होते हुए भी विविध ऐतिहासिक साधनों द्वारा अशोक के शासन और राज्यविस्तार आदि के विषय में कतिपय तथ्य ज्ञात हो सके हैं।

राजा बिन्दुसार से अशोक को एक विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। यह साम्राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लगा कर पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत के परे तक विस्तीर्ण था। इसके उत्तर में हिमालय की दुर्गम पर्वत शृंखलाएँ थीं। दक्षिण में वर्तमान आन्ध्र प्रदेश और उसके भी दक्षिण में स्थित अनेक प्रदेश इस साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अशोक ने इस साम्राज्य को और भी अधिक विस्तृत किया। राज्याभिषेक को हुए आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर (२६१–६० ई. पू. में) अशोक ने कलिङ्ग देश पर आक्रमण किया और उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। कलिङ्ग देश की स्थिति बंगाल की खाड़ी के साथ गोदावरी और महानदी के बीच के प्रदेश में थी। इसी को आज कल उड़ीसा कहा जाता है। कलिङ्ग उस युग के अत्यन्त शक्तिशाली राज्यों में एक था। ग्रीक लेखक प्लिनी के अनुसार कलिङ्ग लोगों का निवास समुद्र के समीप था और उनकी राजधानी 'पर्थलिस' कहाती थी। साठ हजार पदाति, एक हजार घुड़सवार और ७०० हाथी कलिङ्ग के राजा की सेना में थे। कलिङ्ग की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में प्लिनी द्वारा उल्लिखित यह विवरण सम्भवतः मैगस्थनीज के यात्रावृत्तान्त पर आधारित है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में कलिङ्ग एक स्वतन्त्र राज्य था। पौराणिक अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होता है कि मगध के प्रतापी राजा महापद्म नन्द ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कलिङ्ग को भी अपने अधीन किया था। पर यह प्रदेश देर तक मगध के अधीन नहीं रहा। जैसा कि प्लिनी के विवरण से सूचित होता है, मैगस्थनीज तथा चन्द्रगुप्त के समय में कलिङ्ग एक स्वतन्त्र राज्य था, और बिन्दुसार भी इसे जीत कर अपने अधीन नहीं कर सका था। कलिङ्ग को मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित करने का कार्य अशोक द्वारा किया गया। चतुर्दश शिलालेखों के तेरहवें लेख में अशोक ने कलिङ्ग विजय और उसके परिणामस्वरूप युद्धों के प्रति ग्लानि की भावना को इस प्रकार प्रगट किया है—"अष्टवर्षाभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिङ्गों का विजय किया। वहाँ से डेढ़ लाख मनुष्यों का अपहरण हुआ। वहाँ सौ सहस्र (एक लाख) मारे गये। उससे भी अधिक मरे (मृत्यु को प्राप्त हुए)। उसके पश्चात् अब जीते हुए कलिङ्गों में देवानांप्रिय द्वारा तीव्र रूप से धर्म का व्यवहार, धर्म की कामना और धर्म का उपदेश (किया जा रहा है)। कलिङ्गों की विजय करके देवानांप्रिय को अनुशोचन (पश्चात्ताप) है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, तब लोगों का जो वध, मरण और अपहरण होता है, वह देवानांप्रिय के लिये अवश्य वेदना का कारण होता है, और साथ ही गम्भीर बात भी।......कलिङ्गों को प्राप्त करने में जितने मनुष्य मारे गये हैं, मरे हैं

या अपहरण किये गये हैं, उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी अब देवानांप्रिय के लिये गम्भीर है।[१]" अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में कलिङ्ग शब्द का प्रयोग बहुवचन (कलिङ्गाः, कलिङ्गेषु आदि) में किया है। भारत के प्राचीन जनपदों के लिये भी प्राचीन साहित्य में बहुवचन ही प्रयुक्त किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और उसकी टीकाओं में अङ्गाः, बङ्गाः आदि बहुवचनात्मक शब्दों द्वारा अङ्ग, वङ्ग आदि जनपद ही अभिप्रेत हैं।[२] इसमें सन्देह नहीं कि अशोक ने कलिङ्ग राज्य को जीत कर अपने अधीन किया था, और उसके सुशासन के लिये कतिपय विशेष व्यवस्थाएँ की थीं। ये व्यवस्थाएँ दो पृथक् व अतिरिक्त धर्म लिपियों द्वारा निरूपित की गई थीं, जो धौली और जौगढ़ की शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं। चतुर्दश शिलालेखों के बारहवें और तेरहवें लेख इन शिलाओं पर उत्कीर्ण नहीं कराये गये थे। उनके स्थान पर वहाँ दो ऐसे विशेष लेख उत्कीर्ण कराये गये थे, जिनका सम्बन्ध कलिङ्ग के शासन के साथ है। इन लेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि नये जीते हुए कलिङ्ग को मौर्य साम्राज्य के एक पृथक् प्रान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया गया था, और उसका शासन करने के लिये एक कुमार (राजकुल के व्यक्ति) की नियुक्ति की गई थी। कलिङ्ग की राजधानी तोसली थी, और धौली की शिला पर उत्कीर्ण कलिङ्ग-सम्बन्धी अतिरिक्त लेख तोसली के महामात्यों को ही सम्बोधन किये गये हैं। कलिङ्ग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण नगरी समापा थी, जो सम्भवतः कलिङ्ग के एक भाग का राजधानी थी। जौगढ़ की शिला पर उत्कीर्ण अतिरिक्त लेख समापा के महामात्यों को सम्बोधित हैं। नये जीते हुए कलिङ्ग के सम्बन्ध में अपनी शासननीति को अशोक ने इस प्रकार प्रगट किया है—

"सब मनुष्य मेरी प्रजा (सन्तान) हैं। जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान के लिये यह चाहता हूँ, कि वे सब हित और सुख—ऐहलौकिक और पारलौकिक—प्राप्त करें, उसी प्रकार मैं सब मनुष्यों के लिये भी कामना करता हूँ।[३]" जिस कलिङ्ग की विजय करने के लिये

---

१. 'अठ वषाभिषित षा देवानां पियष पियदषिते लजिने कलिग्या विजिता। दिपडिमिते पानषतषशदृशे ये तथा अपुवढे। शतसहसमिते तत हते। बहुता वंतके वा मटे ततो पछा। अधुना लधष कलिग्येषु तिवे धम्मवाये धम्मकामता धम्मानुषथि चा। देवान पियषा षे अधि अनुमये देवानं पियषा विजिनतु कलिग्यानि अविजितं हि विजिन मने एतता वध वा अपवहे वा जनषा षे वाड वेदनियमुते गुलुमुते चा देवानं पियसा. . .षे अवतके जने तदा कलिंगेषु लधेषु हते चा मटेचा अपबुढे चा वतो षते भागे वा षहषभागे वा अज गुलमते वा देवानं पियसा।' चतुर्दश शिलालेख (कालसी) तेरहवाँ लेख।

२. 'जनपदलुप्' पाणिनि ४।२।८१ और इस सूत्र की वृत्ति।

३. धौली शिलालेख—प्रथम अतिरिक्त लेख।

अशोक ने लाखों मनुष्यों का वध किया, उसके सुशासन के लिये वह अत्यन्त उत्सुक था। वह वहाँ के निवासियों के प्रति सन्तान की भावना रखता था, और उनके हित तथा सुख के लिये प्रयत्नशील था।

कलिङ्ग के युद्ध में जो नर संहार हुआ था, उसे देखकर अशोक के हृदय में युद्धों के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो गई थी, और उसने शस्त्र विजय की नीति का परित्याग कर धर्मविजय की नीति को अपना लिया था। कलिङ्ग की विजय के बाद अशोक ने किसी अन्य प्रदेश या राज्य के विरुद्ध युद्ध नहीं किया। पर अभी सम्पूर्ण भारत मौर्यों के अधीन नहीं हुआ था। भारत में ही कितने ही ऐसे प्रदेश अवशिष्ट थे, जो अभी स्वतन्त्र थे। इन सीमावर्ती स्वतन्त्र प्रदेशों तथा उनके निवासियों के प्रति अपनी नीति को अशोक ने इन शब्दों द्वारा प्रगट किया है—"शायद अविजित (जो अभी जीते नहीं गये) अन्तों (सीमान्तवर्ती प्रदेशों) को (यह यह जिज्ञासा हो सकती है कि) हमारे सम्बन्ध में राजा की क्या इच्छा है! अन्तों के विषय में मेरी यही इच्छा है कि वे यह जानें कि देवानांप्रिय यह चाहते हैं कि वे मुझसे अनुद्विग्न हों, आश्वस्त हों, सुख प्राप्त करें, मुझसे दुःख न पाएँ। वे इस प्रकार जानें, देवानांप्रिय हमें क्षमा करेंगे जहाँ तक क्षमा कर सकना सम्भव है, और मेरे निमित्त वे धर्म का आचारण करें और ऐहलौकिक तथा पारलौकिक (सुख) प्राप्त करें। इस प्रयोजन से मैं आपको आज्ञा देता हूँ, जिससे मैं उऋण हो जाऊँ आपको आज्ञा देकर और अपनी इच्छा बता कर जो मेरी वृति और अचल प्रतिज्ञा है।[१]" यह आज्ञा तोसली के कुमार और महामात्रों तथा समापा के महामात्रों के नाम है। इसमें अशोक ने सीमान्तवर्ती प्रदेशों और उनके निवासियों के प्रति अपनी नीति का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर दिया है। वह चाहता था, कि इन अविजित प्रदेशों के लोग यह भलीभाँति जान लें कि वे अशोक से अनुद्विग्न और आश्वस्त होकर रहें, उससे डरें नहीं। वह उन्हें यह जता देना चाहता था कि उसका विचार उन्हें जीत कर अपने अधीन करने का नहीं है। पर साथ ही वह यह भी स्पष्ट कर देना चाहता था, कि देवानांप्रिय उन्हें उसी सीमा तक क्षमा करेंगे जहाँ तक क्षमा कर सकना सम्भव या शक्य है। यदि अशोक सीमान्तवर्ती प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन करने के विरुद्ध था, तो वह यह भी सहन करने को तैयार नहीं था कि उनके निवासी उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार का उपद्रव करें या मागध साम्राज्य की सीमा का किसी भी ढंग से अतिक्रमण करें। धर्म विजय और अहिंसा की नीति को अपना लेने के पश्चात् भी अशोक अविजित सीमान्तों की उच्छृंखलता को सहन करने के लिये उद्यत नहीं था।

यह तो स्पष्ट है कि कलिङ्ग की विजय के पश्चात् अशोक ने किसी अन्य प्रदेश पर आक्रमण नहीं किया और शस्त्र विजय को हेय मान कर धर्मविजय के लिये उद्योग करना प्रारम्भ किया। पर प्रश्न यह है कि क्या कलिङ्ग विजय अशोक की अन्तिम विजय होने

---

१. धौली शिलालेख—दूसरा अतिरिक्त लेख।
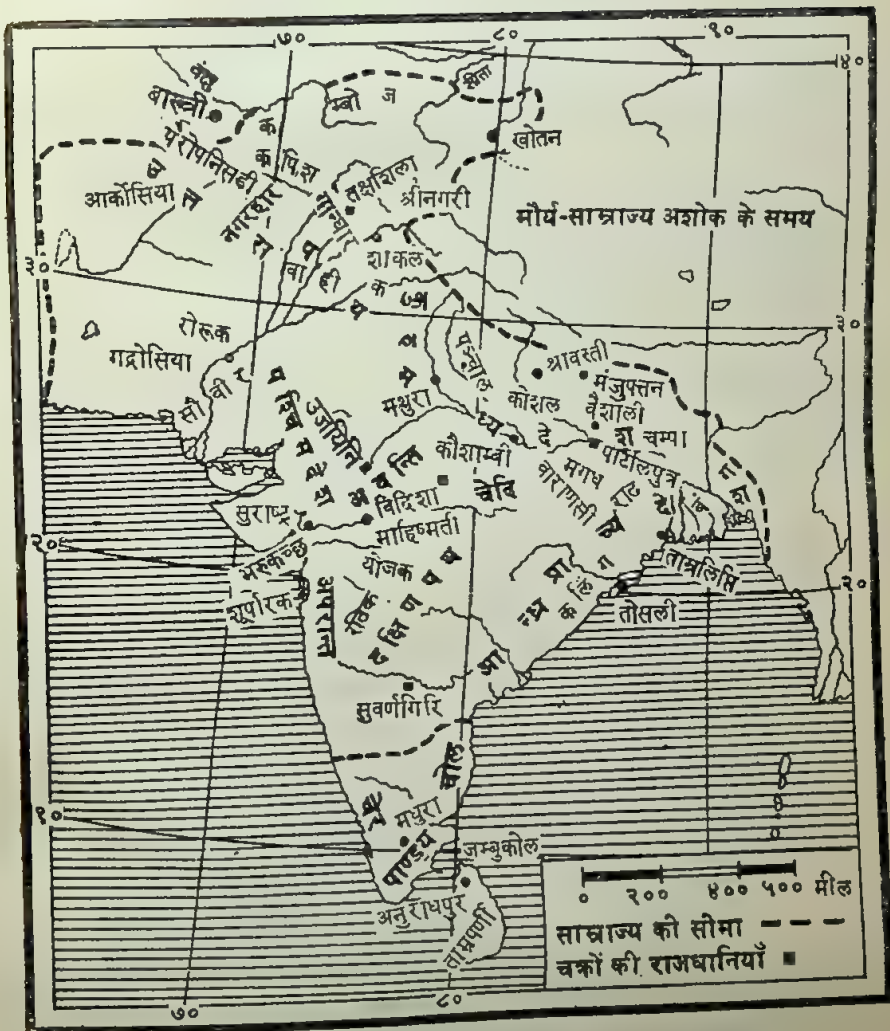
मौर्य साम्राज्य का अधिकतम विस्तार (अशोक के समय में)

के साथ-साथ प्रथम विजय भी थी? राजतरङ्गिणी से सूचित होता है, कि मौर्य राजाओं में सबसे पूर्व अशोक ने ही काश्मीर का शासन किया था। वहाँ लिखा है—"इसके पश्चात् अशोकनामक नृपति ने वसुंधरा का शासन किया। यह राजा बहुत शान्त और सत्यसन्ध था, और 'जिन' के धर्म का अनुसरण करने वाला था। इसने वितस्ता (जेहलम) नदी के तटों को स्तूप मण्डलों द्वारा आच्छादित कर दिया, और धर्मार्थ अनेक विहारों का निर्माण कराया। इसने 'श्रीनगरी' नामक नगरी को बसाया, जिसमें लक्ष्मी से युक्त ९६ लाख घर थे। श्रीविजयेश के टूटे-फूटे दुर्ग को हटा कर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों के एक विशाल दुर्ग का निर्माण कराया, और समीप ही एक विशाल प्रासाद बनवाया, जिसका नाम अशोकेश्वर रखा गया।"[1]

कल्हण ने अशोक से पूर्व के जिन राजाओं के नाम दिये हैं, वे मौर्य वंश के नहीं है। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार का उसने काश्मीर या वसुंधरा के शासक के रूप में उल्लेख नहीं किया। प्राचीन भारतीय इतिहासकारों की शैली का अनुसरण करते हुए कल्हण ने क्रमशः उन राजाओं के नाम लिख दिये हैं, जिन्होंने काश्मीर का शासन किया था। इन राजाओं में अशोक का नाम भी है, और उसके विषय में राजतरङ्गिणी में जो विवरण दिया गया है, वह स्पष्ट रूप से इस तथ्य को सूचित करता है कि काश्मीर का शासक यह अशोक वही था जिसने कि बौद्ध धर्म को अपना कर सैकड़ों स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया था। कल्हण के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के निर्माण का श्रेय भी अशोक को ही प्राप्त है। दुर्भाग्यवश, काश्मीर में अब तक पुरातत्त्व सम्बन्धी कोई ऐसे अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं, जो अशोक के साथ इस प्रदेश के सम्बन्ध पर अधिक प्रकाश डाल सकें। वर्तमान श्रीनगर के उत्तर तीन मील की दूरी पर पान्ड्रेथान नामक कसबा है, जिसे कनिंघम ने अशोक द्वारा स्थापित श्रीनगरी के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है।[2]

---

१. 'अथावहदशोकाख्यः सत्यसन्धो वसुन्धराम् ॥
यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम् ।
शुष्कलेऽत्र वितस्ताद्रौ तस्तार स्तूपमण्डलैः ॥
धर्मारण्य विहारान्तर्वितस्तात्र पुरेऽभवत् ।
यत्कुल्यं चैत्यमुत्सेधावधि प्राहपक्षसेक्षणम् ॥
सषण्णवत्या गेहानां लक्षैर्लक्ष्मीसमुज्वलैः ।
गरीयसीं पुरीं श्रीमांश्चक्रे श्रीनगरीं नृप ः॥
जीर्णं श्रीविजयेशस्त्र विनिवार्य सुधामयं ।
निष्कल्मषेणाश्ममयः प्राकारो येन कारितः ॥
सभायां विजयेशस्य समीपे च विनिर्ममे ।
शान्तावसादः प्रासादानशोकेश्वर संज्ञितौ ॥ राजतरङ्गिणी १।१०१–१०६

२. Cunningham : Ancient Geography of India, p. 110

दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने स्वश देश की भी विजय की थी। यह 'स्वश' सम्भवतः खस देश को सूचित करता है, जिसकी स्थिति काश्मीर के समीप थी। तारनाथ द्वारा संकलित तिब्बती बौद्ध अनुश्रुति में अशोक द्वारा नेपाल और खास्य की विजय का भी उल्लेख है। यह खास्य और दिव्यावदान का स्वश देश सम्भवतः एक ही प्रदेश के सूचक हैं। कलिङ्ग विजय से पूर्व अशोक ने जिन अन्य प्रदेशों को जीत कर मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित किया था, उनके सम्बन्ध में कतिपय निर्देश ही प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं। यद्यपि इनके आधार पर अशोक के राज्य विस्तार का स्पष्ट व क्रमिक विवरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत नहीं होता, पर ये यह निर्दिष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं कि यद्यपि कलिङ्ग विजय अशोक की अन्तिम विजय अवश्य थी, पर वह उसकी प्रथम विजय नहीं थी।

अपनी धर्मलिपियों में अशोक ने जिन सीमान्तों को तोसली और समापा के महामात्यों द्वारा अपने से अनुद्विग्न रहने के लिये कहा है वे कौन-से थे, यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं है। यदि कलिङ्ग देश की दक्षिणी सीमा गोदावरी नदी को माना जाए, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, तो उसके समीप कोई ऐसे प्रदेश नहीं थे जो मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत न हों। जैसा कि पिछले एक अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है, दक्षिणापथ के सोलह राज्य बिन्दुसार द्वारा विजय किये गये थे, और केवल सुदूर दक्षिण के ही कतिपय जनपद ऐसे शेष रहे थे जो अशोक के समय में भी स्वतन्त्र थे। कलिङ्ग के सीमावर्ती कौन-से राज्यों को अशोक द्वारा अभय दान दिया गया था, यह कह सकना कठिन है। सम्भवतः, कलिङ्ग के दक्षिण या पश्चिम में कतिपय ऐसे प्रदेशों की सत्ता थी जो अशोक के समय में भी मौर्यों के 'विजित' के अन्तर्गत नहीं हुए थे। यह भी सम्भव है, कि इन सीमान्त प्रदेशों से अशोक को सुदूर दक्षिण के चोड, पाण्ड्य आदि राज्य अभिप्रेत हों।

(३) अशोक के साम्राज्य की सीमा और विस्तार

अशोक का साम्राज्य कहाँ तक विस्तृत था, यह उसकी धर्मलिपियों द्वारा जाना जा सकता है। जिन स्थानों पर ये धर्मलिपियाँ उपलब्ध हुई हैं, निस्सन्देह वे अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। उत्तरी भारत में ये धर्मलिपियाँ नेपाल की तराई, उत्तरी विहार तथा देहरादून जिले में स्तम्भों व शिलाओं पर उत्कीर्ण मिली है, और उत्तर पश्चिम में पेशावर (पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में), कन्धार और काबुल (अफगानिस्तान में)। पूर्वी भारत में ये धौली (उड़ीसा) और जौगढ़ (गञ्जाम) में पायी गई हैं, और पश्चिम में गिरनार (सौराष्ट्र या काठियावाड़ में) और सोपारा (थाना जिले में) में। दक्षिण में ये ब्रह्मगिरि, जटिङ्ग-रामेश्वर (माइसूर राज्य में) आदि अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं, और साथ ही आन्ध्र प्रदेश के भी अनेक स्थानों पर। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश में भी अनेक स्थानों पर अशोक की धर्मलिपियाँ शिलाओं तथा प्रस्तर-स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। भारत तथा समीपवर्ती अफगानिस्तान और नेपाल के

इस अत्यन्त विशाल क्षेत्र में अशोक की धर्मलिपियों का उपलब्ध होना उसके साम्राज्य के विस्तार तथा सीमाओं पर अच्छा प्रकाश डालता है। इससे सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है कि अशोक का साम्राज्य उत्तर में हिमालय की पर्वत–शृंखलाओं तक, उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वतमाला तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, पश्चिम में काठियावाड़ और अरब की खाड़ी तक तथा दक्षिण में वर्तमान समय के माइसूर राज्य तक विस्तृत था। इसी सुविस्तीर्ण भूमिखण्ड को अशोक ने 'विजित'[१] और 'राजविषय',[२] कहा है।

धर्मलिपियों की अन्तःसाक्षी द्वारा भी अशोक के साम्राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। धर्मलिपियों में निम्नलिखित प्रदेशों और नगरों के नाम आये हैं—मगध[३], पाटलिपुत्र[४], खलतिक पर्वत[५], कोशाम्बी[६], लुम्बिनी ग्राम[७], कलिङ्ग[८] तोसली[९], समापा[१०], खेपिङ्गल पर्वत[११], सुवर्णगिरि[१२], इसल[१३], उज्जैनी[१४], तक्षशिला[१५] और अटवि[१६]। ये सब नाम ऐसे प्रसङ्गों में आये हैं, जिनका सम्बन्ध अशोक के अपने राज्य-क्षेत्र के साथ में है। यह सुनिश्चित रूप से यहाँ कहा जा सकता है, कि मगध और कलिङ्ग सदृश प्रदेश, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, तोसली आदि नगरियाँ और खलतिक सदृश पर्वत अशोक के राज्य के अन्तर्गत थे। इन सब स्थानों की स्थिति ही अशोक के साम्राज्य के विस्तार को सूचित करने के लिये पर्याप्त है। इनके आधार पर भी इस परिणाम पर पहुँचा

---

१. चतुर्दश शिलालेख—दूसरा लेख
२. चतुर्दश शिलालेख (गिरनार)—तेरहवाँ लेख।
३. वैरार (भाब्रू) शिलालेख।
४. चतुर्दश शिलालेख (गिरनार)—पाँचवाँ लेख ।
५. बराबर गुहा लेख—दूसरा लेख।
६. प्रयाग स्तम्भ-लेख ।
७. रुम्मिनदेई स्तम्भ—लेख।
८. चतुर्दश शिलालेख—तेरहवाँ लेख।
९. धौली शिलालेख—प्रथम और द्वितीय अतिरिक्त लेख।
१०. जौगढ़ शिलालेख—प्रथम और द्वितीय अतिरिक्त लेख।
११. जौगढ़ शिलालेख—प्रथम लेख।
१२. ब्रह्मगिरि तथा सिद्धपुर लघु शिलालेख।
१२. ब्रह्मगिरि लघु शिलालेख।
१३. ब्रह्मगिरि तथा सिद्धपुर लघु शिलालेख।
१४. धौली शिलालेख—प्रथम अतिरिक्त लेख।
१५. धौली तथा जौगढ़ शिलालेख—प्रथम अतिरिक्त लेख ।
१६. चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी)—तेरहवाँ लेख।

जा सकता है, कि कलिङ्ग, मगध, वत्स, गान्धार, अवन्ति और दक्षिणापथ के अनेक प्रदेश अशोक की अधीनता में थे।

अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में केवल अनेक ऐसे जनपदों और नगरों के ही नाम नहीं दिये हैं जो उसके 'विजित' के अन्तर्गत थे, अपितु अपने साम्राज्य के सीमान्तों पर स्थित अनेक राज्यों और उनके शासकों के नाम भी उनमें विद्यमान हैं। चतुर्दश शिलालेखों के दूसरे लेख में अशोक ने अपने सीमान्तों पर स्थित राज्यों का विवरण इस प्रकार दिया है--"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा 'विजित' (अपने राज्य) में सर्वत्र और जो'अन्तों' (सीमान्त राज्यों) में यथा चोड, पाण्ड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र,ताम्रपर्णी; अंतियोक नामक यवनराज तथा उस अंतियोक के जो सामन्त (पड़ौसी) राजा हैं, सर्वत्र देवानांप्रिय प्रियदर्शी ने दो (प्रकार की) चिकित्सा–मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा–की व्यवस्था की है। चतुर्दश शिलालेखों के तेरहवें लेख में अशोक ने यवनराज अन्तियोक के राज्य से परे के चार यवन राजाओं के नाम दिये हैं, और अपने राज्य के दक्षिण में स्थित चोड, पाण्ड्य और ताम्रपर्णी राज्यों का उल्लेख कर इस बात पर संतोष प्रगट किया है, कि इन सब राज्यों में देवानांप्रिय के धर्मानुशासन का पालन किया जाता है। इन दोनों धर्मलिपियों के अनुशीलन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है, कि अशोक के साम्राज्य के सीमान्तों पर किन-किन राज्यों की स्थिति थी। दक्षिण में चोड, पाण्ड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी ऐसे राज्य थे जो अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे और जो राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र थे। प्राचीन चोड राज्य सुदूर दक्षिण के पूर्वी भाग में स्थित था। वर्तमान समय के त्रिचनापली और तान्जोर जिले इसके अन्तर्गत थे। यह राज्य कावेरी नदी द्वारा सिञ्चित था, और इसकी राजधानी उरैयूर (उरगपुर) थी। कावेरी के मुहाने पर कावेरीपट्टनम् नामक नगर की स्थिति थी, जो चोड देश का मुख्य बन्दरगाह था। सम्भवतः, अशोक के समय में दो चोड राज्यों की सत्ता थी, दक्षिणी चोड और उत्तरी चोड। उरैयूर दक्षिणी चोड की राजधानी थी। आर्कोट और उसके समीपवर्ती प्रदेश उत्तरी चोड राज्य के अन्तर्गत थे। टाल्मी ने भी चोड राज्यों का उल्लेख किया है। एक राज्य को सोरटेई (Soretai) कहते थे, और उसकी राजधानी ओर्थूरा (Orthoura) थी। कनिङ्घम के अनुसार ओर्थूरा और उरैपूर एक ही हैं। दूसरे चोड राज्य की राजधानी आर्कटस (Arkatos) थी, जिससे आर्कोट का बोध होता है। इस दूसरे चोड राज्य को टाल्मी ने सोरई (Sorai) नाम से लिखा है।

पाण्ड्य देश की स्थिति चोड राज्य के दक्षिण में थी। वर्तमान समय के मदुरा और टिनेवली जिले और उनके समीपवर्ती कतिपय प्रदेश पाण्ड्य राज्य के अन्तर्गत थे। मदुरा इस राज्य की राजधानी थी। टाल्मी ने पाण्ड्य को पाण्डिनोई (Pandinoi) या पाण्डिओन (Pandion) लिखा है, और उसकी राजधानी मोदूरा (Modoura) बतायी है। मोदूरा और मदुरा एक ही हैं। क्योंकि अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में पाण्ड्य का बहुवचन

(पाण्ड्याः) के रूप में उल्लेख किया है, इससे अनेक विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है कि मौर्य युग में एक से अधिक पाण्ड्य राज्यों की सत्ता थी। पर प्राचीन जनपदों को बहुतवचनान्त रूप से लिखने की प्रथा प्राचीन काल में विद्यमान थी, यह हम इसी अध्याय में ऊपर निरूपित कर चुके हैं। पर कतिपय ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे प्राचीन काल में एक से अधिक पाण्ड्य राज्यों की सत्ता को सम्भव माना जा सकता है। वराहमिहिर ने वृहत्संहिता में 'उत्तर पाण्ड्य' का उल्लेख किया है। सम्भव है, कि उसके समय में 'दक्षिण पाण्ड्य' भी पृथक् रूप से विद्यमान हो। यही दशा यदि अशोक के समय में भी हो, तो आश्चर्य नहीं।

सातिय पुत्र राज्य की स्थिति भारत के सुदूर दक्षिणी भाग में चोड और पाण्डच राज्यों के समीप में ही थी, यह तो स्पष्ट ही है। पर यह राज्य कहाँ था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। टाल्मी और 'परिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' के अज्ञात लेखक ने सुदूर दक्षिण के चार राज्यों का उल्लेख किया है—लिमिरिकँ (Limyrike), ऐओई (Aioi), पाण्डिनोई (Pandinoi) और सोरटेई (Soretai)। अभी ऊपर लिखा जा चुका है कि पाण्डिनोई और सोरटेई क्रमशः पाण्डच और चोल राज्यों को सूचित करते हैं। लिमिरिकँ को केरलपुत्र के साथ मिलाया गया है। सम्भवतः, ऐओई सँओई के समकक्ष है। ग्रीक लेखकों ने जिस प्रकार सेन्ड्राकोट्टस को एन्ड्राकोट्टस भी लिखा है, वैसे ही सँओई को ऐओई भी लिख दिया है। सँओई और सातिय एक ही प्रदेश के सूचक हैं। स्मिथ के अनुसार इस सातियपुत्र या सँओई की स्थिति कोयम्बटूर में थी, और वहाँ का सत्यमंगलम् तालुका प्राचीन सातियपुत्र राज्य का ही प्रतिनिधित्व करता है। कतिपय अन्य विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि सातियपुत्र मलाबार में था। कुछ विद्वान् उसे ट्रावन्कोर में मानते हैं। पर सातियपुत्र की स्थिति के सम्बन्ध में सबसे अधिक युक्तियुक्त मत सम्भवतः श्री. के. जी. शेष ऐय्यर का है। उनकी सम्मति में अशोक की धर्मलिपियों के 'सातिय' को संस्कृत के 'सत्य' से न मिला कर तमिल भाषा के 'अतिय' से मिलाना चाहिये। प्राचीन समय में तमिल प्रदेशों में एक प्रसिद्ध राजा हुआ था, जिसका नाम 'अतियमान' था। इसकी राजधानी तकदूर थी, जो आधुनिक माइसुर राज्य में स्थित थी। तकदूर और उसके समीपवर्ती प्रदेश इसी प्रतापी राजा के नाम से कहे जाने लगे। अशोक की धर्मलिपियों का सातियपुत्र अतियमान के राज्य को ही सूचित करता है। सातियपुत्र के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक मत ऐतिहासिकों ने प्रतिपादित किये हैं। अभी यह सुनिश्चित रूप से कह सकना सम्भव नहीं है कि सातियपुत्र की स्थिति कहाँ थी, यद्यपि यह विश्वास के साथ माना जा सकता है कि चोड और पाण्डय राज्यों के समान यह राज्य भी सुदूर दक्षिण में स्थित था।

केरलपुत्र राज्य के सम्बन्ध में अधिक विवाद नहीं है। भारत के सुदूर दक्षिणी भाग का जो पश्चिमी अंश समुद्र के साथ-साथ वर्तमान है, आजकल भी वह 'केरल' कहाता है, और प्राचीन समय में भी उसे केरल या चेर कहते थे। समुद्र तट पर स्थित होने के कारण इस राज्य में अनेक बन्दरगाहों की सत्ता थी, जिनमें टोण्डी और मुशिरि प्रधान थे। इसकी

राजधानी का नाम वाञ्जी था। वाञ्जी की स्थिति के सम्वन्ध में अनेक मत हैं, पर उनमें सबसे अधिक प्रचलित मत यह है कि चेर या केरल की यह प्राचीन राजधानी करूर या करूवूर में थी। टाल्मी ने चेर राज्य की राजधानी कोरुर लिखी है, जो स्पष्टतया करूर ही है। करूर के समीप प्राचीन रोमन सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं, जो इस स्थान की प्राचीनता और महत्ता के प्रमाण हैं।[1]

ताम्रपर्णी लङ्का का नाम है। पर सब ऐतिहासिक इस वात पर भी सहमत नहीं हैं, कि अशोक की धर्मलिपियों में आया हुआ ताम्रपर्णी शब्द लङ्काद्वीप को सूचित करता है। दक्षिणी भारत में ताम्रपर्णी नाम की एक नदी भी है, जो टिनेवली के क्षेत्र में बहती है। ऐतिहासिक स्मिथ ने यह प्रतिपादित किया है, कि अशोक को ताम्रपर्णी द्वारा इस नदी का प्रदेश ही अभिप्रेत था। पर धर्मलिपियों में ताम्रपर्णी शब्द केरलपुत्र के वाद आया है, पाण्डय के बाद नहीं। ताम्रपर्णी नदी पाण्डच प्रदेश में बहती है। इस लिये अशोक को उसके प्रदेश का पृथक् रूप से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उचित यही है कि ताम्रपर्णी से लंका द्वीप का ही ग्रहण किया जाए। लङ्का के साथ अशोक का घनिष्ट सम्वन्ध था। वहाँ का राजा अशोक के समय में देवानांप्रिय तिष्य था,जिसके राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये महेन्द्र और संघमित्रा गये थे। यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि चोड, पाण्डच सातियपुत्र और केरलपुत्र के साथ-साथ ताम्रपर्णी (लंका) को भी अशोक ने धर्म द्वारा जीतने का प्रयत्न किया हो।

सुदूर दक्षिण के जो राज्य अशोक के 'विजित' के अन्तर्गत नहीं थे, उनकी स्थिति को दृष्टि में रख कर और साथ ही अशोक की धर्मलिपियों की साक्षी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौर्य साम्राज्य की (अशोक के समय में) दक्षिणी सीमा को एक ऐसी रेखा द्वारा सूचित किया जा सकता है जो पूर्व में पुलिकट (मद्रास के समीप) से शुरू होकर वेण्कटगिरि (तिरुपति), गुट्टी, करनूल और चितलद्रुग होती हुई पश्चिम में दक्षिणी कनारा जिले के उत्तरी अंश से जा मिले।[2]

अशोक के 'विजित' के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर अन्तियोक नामक यवन राजा के राज्य की स्थिति थी। अन्तियोक से पश्चिमी एशिया का अधिपति एण्टियोकस द्वितीय थिऑस (२६१–२४६ ई. पू.) अभिप्रेत है, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन सीरियन सम्राट् सैल्युकस का पौत्र था। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तियोक के साम्राज्य की पूर्वी सीमा अशोक के 'विजित' के साथ लगती थी। अन्तियोक के राज्य से परे जो अन्य यवन राजा शासन करते थे और जिनके राज्यों में अशोक ने अपने धर्मानुशासन को प्रचारित किया था, उन पर हम इसी अध्याय में आगे प्रकाश डालेंगे। पर अशोक के साम्राज्य की सीमाओं और विस्तार को भलीभाँति समझने के लिये यही निर्दिष्ट कर देना पर्याप्त है कि सीरियन

---

१. Sastri N. K. A comprehensive History of India Vol. II pp. 499-500

२. Ibid p. 26

सम्राट् अन्तियोक का राज्य अशोक के साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर स्थित था। जहाँ तक अशोक के 'विजित' की उत्तर-पश्चिमी सीमा का सम्बन्ध है, वह हिन्दूकुश पर्वत माला तक अवश्य ही विस्तृत थी। चन्द्रगुप्त ने सैल्युकस के साथ जो सन्धि की थी, उसके परिणामस्वरूप उसे पैरोपैनिसदी, एरिया और आर्कोशिया यवनराज से प्राप्त हुए थे। इन प्रदेशों को प्राप्त कर लेने के कारण उत्तर-पश्चिम में मौर्यों का आधिपत्य कहाँ तक स्थापित हो गया था, इस पर पहले विचार किया जा चुका है। अशोक के शासन काल में भी ये सब प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे। काश्मीर को अशोक ने ही मौर्य 'विजित' में सम्मिलित किया था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं।

हिमालय की दुर्गम पर्वत शृंखलाएँ अशोक के साम्राज्य की उत्तरी सीमाएँ थीं। यद्यपि नेपाल की तराई मौर्य 'विजित' के अन्तर्गत थी, पर सम्भवतः, नेपाल की घाटी में इस युग में एक स्वतन्त्र राज्य की सत्ता थी, अशोक के साथ जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। नेपाल की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अशोक की अन्यतम कन्या चारुमती का विवाह वहाँ के 'क्षत्रिय' देवपाल के साथ हुआ था। अशोक ने वहाँ अनेक स्तूपों और चैत्यों का भी निर्माण कराया था। पश्चिमी नेपाल के स्वयम्भूनाथ पर्वत पर उसने बौद्ध भिक्षुओं के लिये एक संघाराम भी बनवाया था।[1] नेपाली अनुश्रुति की ये सब बातें यह सूचित करती हैं कि नेपाल या तो अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत था और या उसका अधीनस्थ राज्य था। देवपाल को राजा न कह कर जो 'क्षत्रिय' कहा गया है, उससे भी यह ज्ञात होता है कि नेपाल के राजकुल को प्रभुता के अधिकार प्राप्त नहीं थे।

पूर्व में बङ्ग और कलिङ्ग तक अशोक का साम्राज्य विस्तृत था, और पश्चिम में समुद्र उसके 'विजित' की सीमा थी। पर इस विशाल साम्राज्य के सब प्रदेश अशोक या उस द्वारा नियुक्त महामात्रों के सीधे शासन में नहीं थे। अशोक ने अपने राजविषय (शासन-क्षेत्र) के अन्तर्गत रूप से कतिपय ऐसे प्रदेशों या जातियों का उल्लेख किया है, जिनकी अपनी पृथक् व स्वतन्त्र स्थिति थी। चतुर्दश शिलालेखों के तेरहवें लेख में उसने लिखा है—"इसी प्रकार यहाँ राजविषय में यवन-कम्बोजों में, नाभक-नाभपंक्तियों में, भोज-पितनिकों में और आन्ध्र-पुलिन्दों में सर्वत्र देवानां प्रिय की धर्मानुशस्ति (धर्मानुशासन) का अनुसरण किया जाता है।[2]" इस शिला लेख में राजविषय के अन्तर्गत जिन जातियों या जनपदों का परिगणन किया गया है, वे यवन, काम्बोज, नाभक, नाभपंक्ति, भोज, पितनिक, आन्ध्र और पुलिन्द हैं। रैप्सन का विचार है, कि यवन, काम्बोज आदि अशोक के 'विजित' के अन्तर्गत न होकर उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। पर यह सही प्रतीत नहीं होता, क्योंकि चतुर्दश

१. Oldfield : Sketches from Nepal Vol. II pp 246-52

२. 'एवमेव हिद रजविषवस्पि योनकंबोयेषु नभकनभितिन भोजपितनिकेषु अंधपलिदेषु।' (शहवाजगढ़ी)।

शिलालेखों के पाँचवें लेख में अशोक ने यवन, कम्बोज आदि में धर्म महामात्रों की नियुक्ति का उल्लेख किया है। जो प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे, उन में अशोक द्वारा धर्ममहामात्रों की नियुक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता था। ऐसे प्रदेशों में अशोक ने अन्त-महामात्र अवश्य नियुक्त किये थे, पर धर्म-महामात्र नहीं।

यवन, कम्बोज आदि जिन जनपदों का अशोक ने अपने 'राजविषय' (राज्य या विजित) के अन्तर्गत रूप से उल्लेख किया है, उनकी भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। एक धर्मलिपि में अशोक ने यवन और कम्बोज के साथ ही गान्धार का भी नाम दिया है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि कम्बोज और गान्धार की भौगोलिक स्थिति एक दूसरे के समीप थी। बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर जिन सोलह महाजनपदों का परिगणन किया गया है, उनमें कम्बोज और गान्धार भी हैं। इन दोनों का उल्लेख प्रायः साथ-साथ किया गया है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में कम्बोज की स्थिति उत्तरापथ में बतायी गई है, और उसकी राजधानी का नाम सम्भवतः 'राजपुर' था। महाभारत में कर्ण की दिग्विजय का वर्णन करते हुए यह भी लिखा गया है कि उसने राजपुर जाकर कम्बोजों को विजय किया था।[2] चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग उद्यान, काश्मीर आदि की यात्रा करता हुआ हो-लो-शे-पू-लो भी गया था, जो राजपूर का ही चीनी रूपान्तर है। इस राज्य के सम्बन्ध में ह्युएन्त्सांग ने लिखा है कि यह ४००० ली के विस्तार में था और इसका राजधानी का विस्तार १० ली था।[3] कनिंघम ने इस राजपुर को काश्मीर के दक्षिण में स्थित राजौरी से मिलाया है।[4] यह राजौरी काश्मीर राज्य की अधीनस्थ रियासत थी। यदि कनिंघम के मत को स्वीकार कर लिया जाए, तो कम्बोज की स्थिति काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में माननी होगी। पर यह मत सब ऐतिहासिकों को स्वीकार्य नहीं है। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार गान्धार के परे उत्तर में पामीर का प्रदेश तथा उससे भी परे बदख्शां के प्रदेश को कम्बोज कहते थे। बौद्ध काल में इस जनपद में गणतन्त्र शासन की सत्ता थी और कौटलीय अर्थशास्त्र में भी कम्बोज की गणना वार्ताशस्त्रोपजीवि संघों में की गई है। कम्बोज की स्थिति चाहे गान्धार के उत्तर में हो और चाहे काश्मीर के दक्षिणपश्चिम में, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अशोक के शासन काल में भी इस प्राचीन गण-राज्य की पृथक् सत्ता कायम थी और इसे आन्तरिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी। इसी कारण अशोक ने अपने 'राजविषय' के अन्तर्गत रूप से कम्बोज जनपद का पृथक् उल्लेख किया है।

गान्धार जनपद की स्थिति भी उत्तरापथ में थी। रावलपिण्डी, पेशावर, काश्मीर तथा हिन्दूकुश पर्वतमाला तक के पश्चिमोत्तर भारतके प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे।

---

१. चतुर्दश शिलालेख—पाँचवाँ लेख

२. 'कर्ण राजपुरं गत्वा कम्बोजा निर्जितास्तत्या।' महा.

३. Beal : Buddhist Records of the Western World Vol. I p 163

४. Conningham : Ancieut Geography of India p. 129

गान्धार की राजधानी तक्षशिला नगरी थी, जो बौद्ध युग तथा उसके पश्चात् के काल में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। तक्षशिला के अतिरिक्त पुष्करावती नगरी भी गान्धार में ही थी। बाद में गान्धार जनपद दो भागों में विभक्त हो गया था, पूर्वी गान्धार (राजधानी-तक्षशिला) और पश्चिमी गान्धार (राजधानी-पुष्करावती)। इस जनपद में गणतन्त्र शासन न होकर राजतन्त्र शासन विद्यमान था। ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्यों के शासन में गान्धार की अन्तःस्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया था। वहाँ के लोगों में अपनी पृथक्ता और स्वतन्त्रता की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। यही कारण है, कि राजा बिन्दुसार के समय में भी तक्षशिला में विद्रोह हुआ और अशोक के शासन काल में भी। दिव्यावदान में इन विद्रोहों का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अशोक ने कम्बोज और गान्धार के साथ ही 'योन' या 'यवन' का भी उल्लेख किया है। इस यवन राज्य की स्थिति कम्बोज और गान्धार के समीप में ही थी। अशोक के 'राज-विषय' के अन्तर्गत यह यवन राज्य यवनराज अन्तियोक के राज्य से भिन्न था, और उसके परे के चार अन्य यवन राज्यों से भी, जिनके राजाओं के नाम अशोक की धर्मलिपियों में उल्लिखित हैं। सिकन्दर के आक्रमण के कारण भारत में बहुत-से यवन सैनिकों का प्रवेश हो गया था, और इस देश पर यवनों के प्रभाव को स्थिर रखने के लिये सिकन्दर ने अनेक नई नगरियाँ भी बसायी थीं। सम्भवतः, चौथी सदी ई. पू. में उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक ऐसी बस्तियाँ बस गई थीं, जिनके निवासियों में यवनों की प्रधानता थी। महावंशो (२९।३२) में भी एक यवन बस्ती का उल्लेख है, जिसकी प्रधान नगरी वहाँ 'अलसन्दा' लिखी है। यह अलसन्दा स्पष्टतया अलेग्जेण्ड्रिया का ही रूपान्तर है। सिकन्दर या अलेग्जेण्डर ने एक अले-ग्जेण्ड्रिया की स्थापना काबुल के समीप की थी। ग्रीक लेखकों ने इसी प्रदेश को 'परोपनिसदी' कहा है, और सैल्युकस तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के युद्ध के अनन्तर यह मौर्य 'विजित' के अन्तर्गत हो गया था। इस प्रदेश की जनसंख्या में यवनों का पर्याप्त भाग होने के कारण यदि इस युग में इसे 'यवन' या यवन-राज्य कहा जाने लगा हो, तो यह सर्वथा सम्भव है। महाभारत में भी उत्तरापथ के निवासियों का वर्णन करते हुए कम्बोज और गान्धार के साथ 'योन' का भी उल्लेख किया गया है, जिससे 'यवन' ही अभिप्रेत है। इस यवन राज्य या यवन-प्रदेश की स्थिति गान्धार के पश्चिम में थी। यद्यपि यह अशोक के 'राजविषय' के अन्तर्गत था, पर क्योंकि इसकी जनता भारत के निवासियों से अनेक अंशों में भिन्न थी, इस कारण आन्तरिक स्वतन्त्रताके अनेक अधिकार यदि इसे भी प्राप्त रहे हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि वर्तमान समय के अफगानिस्तान के क्षेत्र में अशोक के जो उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुए हैं, वे अरेमाई भाषा में हैं। एक लेख में तो अरेमाई भाषा के साथ-साथ ग्रीक भाषा का भी प्रयोग किया गया है जो इस क्षेत्र में ग्रीक या यवन प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। यह यवन राज्य हिन्दूकुश पर्वतमाला के पूर्व में था। अन्तियोक का यवन-राज्य उसके पश्चिम में था।

नाभक और नाभपंक्ति की भौगोलिक स्थिति को अभी तक सुनिश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है। इन्हें यवन-कम्बोजों के बाद और भोज-पितनिकों से पहले लिखा है। इस कल्पना के आधार पर कि अशोक ने इनके नाम विशिष्ट भौगोलिक क्रम से लिखवाये थे, यह अनुमान किया गया है कि इन (नाभक और नाभपंक्ति) की स्थिति उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और पश्चिमी भारत के मध्यवर्ती प्रदेश में कहीं होनी चाहिये। कतिपय विद्वानों ने नाभपंक्ति को चीनी यात्री फाइयान द्वारा उल्लिखित ना-पेई-केआ के साथ मिलाया है। यह ना-पेई-केआ ऋकुच्छन्द बुद्ध का जन्मस्थान था और इसकी स्थिति कपिलवस्तु से १० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर थी। ब्रह्मपुराण में उत्तरकुरु के क्षेत्र में स्थित नाभिकपुर का उल्लेख मिलता है। उत्तरकुरु हिमालय के क्षेत्र में था, अतः नाभिकपुर भी हिमालय या उसके समीपवर्ती प्रदेश में ही कहीं होना चाहिये। नाभक और नाभिकपुर का एक होना असम्भव नहीं है। वस्तुतः, नाभक और नाभपंक्ति की भौगोलिक स्थिति के विषय में अभी कुछ भी निश्चित रूप से कह सकना कठिन है।

नाभक और नाभपंक्ति के बाद अशोक ने 'भोज-पितनिक' का उल्लेख किया है। चतुर्देश शिलालेखों के तेरहवें लेख में 'भोज-पितनिक' शब्द आया है, और इसी के स्थान पर पाँचवें लेख में 'रिस्टिक-पेतेणिक' (गिरनार), 'रठिक-पितिनिक' (शाहबाजगढ़ी) और 'लठिक-पितेनिक' (धौली) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत में इन्हें 'राष्ट्रिक-पितनिक' के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है। भोज-पितनिक या राष्ट्रिक-पितनिक का क्या अभिप्राय है, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद हैं भाण्डारकर के अनुसार राष्ट्रिक और पितनिक को दो शब्द न मान कर एक ही शब्द समझना चाहिये। पितनिक का प्रयोग एक विशेषण के रूप में किया गया है, जिसका अर्थ है वंशक्रमानुगत। अतः भोज-पितनिक का अर्थ होगा, वंशक्रमागत भोज-शासक। इसी प्रकार राष्ट्रिक-पितनिक से वंशक्रमानुगत राष्ट्रिक-शासक समझना चाहिये। भाण्डारकर ने अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते हुए पश्चिमी भारत के गुहालेखों का उल्लेख किया है, जिनमें महारठी शासकों का जिक्र आता है। इन गुहालेखों में जिन्हें 'महारठी' कहा गया गया है, वे ही अशोक की धर्मलिपियों के 'राष्ट्रिक-पितनिक' हैं। चतुर्दश शिलालेखों के पाँचवें लेख में इन्हें अपरान्त का वासी कहा गया है। अपरान्त से पश्चिमी सीमान्त अभिप्रेत है। सम्भवतः, इन (राष्ट्रिक-पितनिक) की स्थिति भारत के पश्चिमी तट के समीपवर्ती प्रदेश में थी। आधुनिक महाराष्ट्र के पूना तथा उसके पास के प्रदेशों में यदि मौर्य युग में वंशक्रमानुगत राष्ट्रिक (महारठी) शासकों का शासन माना जाए, तो यह असंगत नहीं होगा। पश्चिमी भारत के गुहालेखों में महा-भोजों का भी भी उल्लेख हुआ है। सम्भवतः, यही अशोक की धर्मलिपियों के भोज-पितनिक हैं। राष्ट्रिकों के समान ये भी वंशक्रमानुगत शासक थे, और इनका क्षेत्र महाराष्ट्र के थाना तथा कोलावा जिलों में था।[1]

१ Bhandarkar : Ashoka Ch. II.

प्राचीन भारत के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियाँ विद्यमान थीं। ऐतरेय ब्राह्मण के एक संदर्भ में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य–इन पाँच प्रकार की शासन-पद्धतियों का उल्लेख है। इनमें से एक शासन पद्धति 'भोज्य' भी है, जो दक्षिण दिशा के सत्वत-राज्यों में प्रचलित थी। इन राज्यों के राजा 'भोज' कहाते थे।[1] भोज संज्ञक शासकों का सही-सभी अभिप्राय इस समय ज्ञात नहीं है, पर ये एक विशिष्ट प्रकार के शासक थे, जो साधारण राजाओं से भिन्न प्रकार के होते थे। इनका क्षेत्र दक्षिणापथ में था। खारवेल ने अपने हाथीगुम्फा शिलालेख में राष्ट्रिकों और भोजकों का उल्लेख किया है। उसने लिखा है, कि शासन के चौथे वर्ष में राष्ट्रिकों और भोजकों को अधीन किया गया।[2] हाथीगुम्फा लेख में उपलब्ध निर्देशों के अनुसार इन राष्ट्रिकों और भोजकों की स्थिति सातवाहन साम्राज्य के पश्चिम-दक्षिण ओर थी। यह प्रदेश निस्सन्देह वही था, जहाँ आजकल पूना, नासिक, थाना और कोलावा के जिले हैं। सातवाहन वंश के संस्थापक सिमुक ने जब मौर्य शासन के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, तो अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिये उसने रठिकों (राष्ट्रिकों) और भोजों का भी सहयोग प्राप्त किया था। इस सहायता के वदले में उसने अनेक प्रमुख रठिक नेताओं को 'महारठी' की उपाधि से विभूषित किया था।[3] सातवाहन साम्राज्यों में इन रटिकों और भोजकों की स्थिति अधीनवर्ती सामन्त शासकों के सदृश थी। राष्ट्रिकों और भोजों (भोजकों) के सम्बन्ध में जो निर्देश प्राचीन साहित्य या पुरातत्त्व विषयक सामग्री में विद्यमान हैं, उनसे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इनकी स्थिति आधुनिक महाराष्ट्र में थी, और इनका शासन कतिपय विशिष्ट कुलों के हाथों में था। अशोक के समय में भी ये अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों के रूप में विद्यमान थे। सातवाहन वंश के संस्थापक सिमुक का शासनकाल २३५ ई. पू. सें २१३ ई. पू. तक माना जाता है। अशोक की मृत्यु २३२ ई. पू. में हुई थी। सिमुक ने अशोक के जीवन काल में ही मौय शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। जिनकी सहायता व सहयोग से वह अपने प्रयत्न में सफल हो सका था, उनमें रटिक

---

१. "ये के च प्राच्यानां दिशि प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते, ये के च सत्वतां राजानः भोज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते, ये के च नीच्यानां राजानः स्वराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते. . ."ऐतरेय ८।३।३

२. "तथा चतुथे बसे विजाधराधिवासं. . .सव रठिकभोजके पादे वंदापयति" हाथीगुम्फा लेख (Sircar : Select Inscriptions p 215)

३. "वीरस सूरस अप्रतिहतचकस दखिनपठपतिनो. . .महारठिनो अंगियकुलवधनस पगर-गिरिवर–बलयाय पथविय पथम वीरस" नालाघाट शिलालेख Sircar : Select Inseriptions. p 193

और भोज भी थे। अतः यह मानना सर्वथा उचित और संगत है कि इनकी पृथक् व अर्ध-स्वतन्त्र रूप में सत्ता अशोक के काल में भी थी।

सब ऐतिहासिक डा. भाण्डारकर के इस मन्तव्य से सहमत नहीं है, कि 'पितनिक' राष्ट्रिक और भोज का विशेषण है। कुछ विद्वानों ने पितनिक को पैठानक के साथ मिलाया है। पैठन या प्रतिष्ठान एक नगर का नाम था, जो गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। यदि पितनिक और पैठानक एक ही हों, तो पितनिक की स्थिति राष्ट्रिक से पूर्व की ओर होनी चाहिये।

भोज-पितनिक के बाद अशोक की धर्मलिपियों में 'आन्ध्र-पुलिन्द' का उल्लेख किया गया है। आन्ध्र के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश को 'आन्ध्र' कहा जाता है। मौर्य युग में आन्ध्र राज्य बहुत शक्तिशाली था। ग्रीक लेखक प्लिनी के अनुसार आन्ध्र में तीस ऐसे नगर थे जो दुर्ग के रूप में थे, और वहाँ की सेना में एक लाख पदाति, दो हजार अश्वारोही और एक हजार हाथी थे। ग्रीक विवरणों में कलिङ्ग की जो सैनिक शक्ति दी गई है, आन्ध्र की सैन्य शक्ति उससे अधिक है। आन्ध्र को जीत कर मौर्य 'विजित' के अन्तर्गत करने का श्रेय चन्द्रगुप्त को प्राप्त है या उसके पुत्र बिन्दुसार को, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर इसमें सन्देह नहीं कि आन्ध्र अशोक के 'राजविषय' के अन्तर्गत था, यद्यपि कम्बोज, गान्धार आदि के समान उसे भी आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। जिसे हमने 'पुलिन्द' लिखा है, उसके लिये अशोक की धर्मलिपियों में पारिद (गिरनार), पालद (कालसी) और पलिद (शाहबाजगढ़ी) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पुलिन्द की स्थिति के सम्बन्ध में पुराणों से अनेक उपयोगी निर्देश मिलते हैं। वायु पुराण के अनुसार पुलिन्दों का निवास विन्ध्याचल के क्षेत्र में था।[1] मत्स्य पुराण से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुलिन्द की स्थिति विन्ध्य पर्वतमाला के दक्षिण में थी। पर सब विद्वान् धर्मलिपियों के पारिद, पालक या पलिद को पुलिन्द का रूपान्तर मानने को उद्यत नहीं हैं। पुराणों में पारद नामक एक जाति का उल्लेख मिलता है, जिसकी गणना शक, यवन, कम्बोज, पल्हव आदि के साथ की गई है। कालसी शिला पर उत्कीर्ण 'पालद' शब्द और पुराणों के 'पारद' में समता स्पष्ट है। पर अशोक की धर्मलिपियों में पारिद या पालद आन्ध्र के साथ आया है, अतः उसकी स्थिति दक्षिणापथ में ही कहीं होनी चाहिये। पारद का उल्लेख जिन जातियों के साथ हुआ है, उनका निवास उत्तरी या उत्तर-पश्चिमी भारत में था। अतः यही मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है, कि अशोक ने जिन पारिदों या पालदों को अपने 'राजविषय' के अन्तर्गत रूप से लिखा है, वे पुलिन्द ही थे जिनकी स्थिति नर्मदा और विन्ध्य के क्षेत्र में थी।

---

१. **'पुलिन्दा विन्ध्यमलिका वैदर्भा दण्डकैः सह।' वायुपुराण ५५।१२६**

चतुर्दश शिलालेखों के तेरहवें लेख में ही 'अटवि' का उल्लेख आया है "जो भी अटवि देवानांप्रिय के 'विजित' में हैं, उन पर भी वह अनुनय (अनुग्रह) करता है' और ध्यान देता है। अनुताप में भी देवानांप्रिय का प्रभाव है। उनसे (अटवियों से) कहा जाता है। क्या? अनुताप करना चाहिये, हत्या नहीं करनी चाहिये। देवानांप्रिय सब प्राणियों के अक्षति (क्षति न पहुँचाने), संयम और समाचर्या की कामना करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही मुख्यतम विजय है जो धर्मविजय है।" जिस प्रकार अशोक ने कम्बोज, गान्धार, आन्ध्र, पुलिन्द आदि का अपने 'विजित' के अन्तर्गत रूप से उल्लेख किया है, वैसे ही अटवि को भी अपने 'विजित' के अन्दर गिना है। प्राचीन भारत में अनेक प्रदेश सघन जङ्गलों से आच्छादित थे, और उनमें अनेक ऐसी जातियाँ निवास करती थीं जिन्हें आटव्य कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में अटवि-सेना के महत्त्व का विवेचन किया गया है। पुराणों में आटव्य शब्द पुलिन्द, विन्ध्यमूलीय और वैदर्भ के साथ आया है। एक ताम्रपत्र में डभाला राज्य के राजा हस्तिन् को अठारह अटविराज्यों का स्वामी कहा गया है।[1] डभाला दहाला का ही रूपान्तर है, और वर्तमान बुन्देलखण्ड का प्राचीन समय में एक नाम दहाला भी था। गुप्तवंशी सम्राट् समुद्र गुप्त ने दिग्विजय करते हुए अनेक कान्तारक (अटवि) राज्यों को भी विजय किया था।[2] इन सब तथ्यों को दृष्टि में रख कर यह मानना असंगत नहीं होगा, कि अटवि प्रदेश बुन्देलखण्ड से लगा कर उड़ीसा तक फैला हुआ था। वर्तमान समय में भी यह प्रदेश जङ्गल प्रधान है। यद्यपि मौर्यों ने इसे जीतकर अपने 'विजित' के अन्तर्गत कर लिया था, पर उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता को उन्होंने कायम रखा था। इस प्रदेश में अनेक आटविक जातियों का निवास था, जो अपने-अपने सरदारों या प्रमुखों के अधीन थीं। अशोक की इनके प्रति यही नीति थी कि इनके हित-कल्याण पर ध्यान दिया जाए और इनपर अनुग्रह किया जाए। उन्हें वह यह उपदेश भी देता था, कि हिंसा का मार्ग त्याग कर सबके कल्याण में प्रवृत्त हों।

इस प्रकरण में जो विचार-विमर्ष किया गया है, उससे अशोक के साम्राज्य की सीमाओं और स्वरूप का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। यद्यपि अशोक का 'विजित' बहुत विस्तृत तथा विशाल था, पर उसके अन्तर्गत सब प्रदेशों पर उसका सीधा शासन नहीं था। काम्बोज, गान्धार, यवन, राष्ट्रिक, भोज, पितनिक, आन्ध्र, पुलिन्द, अटवि, नाभक और नाभपंक्ति ऐसे प्रदेश थे, जिनकी पृथक् सत्ता और आन्तरिक स्वतन्त्रता

---

१. **"समरशतविजयिनः साष्टादशाटवी–राज्याभ्यन्तरं डभालाराज्यमन्वयागतं समडिपालयिष्णोरनेक गुण विख्यातयशसो महाराज श्रीहस्तिनः" खोह (जिला-सतना) में उपलब्ध ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख।**

२. **"कौसलकमहेन्द्र महाकान्तारक व्याघ्रराज........"**

स्वीकार की जाती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में जीते हुए जनपदों के प्रति जिस नीति का प्रतिपादन किया गया है, उस पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इस नीति के दो पहलू थे, निर्बल जनपदों के प्रति एकराजत्व की नीति और संघात जनपदों के साथ मैत्री और उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता की स्वीकृति। अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य को स्थापित हुए आधी सदी से अधिक समय बीत चुका था। इस काल में यदि मध्य-देशके जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता नष्ट हो गई हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। गान्धार, काम्बोज आदि जिन जनपदों का अशोक ने अपने 'विजित' के अन्तर्गत रूप से उल्लेख किया है, वे सब सीमान्तों पर स्थित थे। गान्धार, काम्बोज और यवन उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में थे, भोज, राष्ट्रिक और पितनिक पश्चिमी सीमान्त में थे और आन्ध्र-पुलिन्दों की स्थिति दक्षिणी सीमान्त पर थी। नाभक-नाभपंक्ति की स्थिति अनिर्धारित है। पर ऐतिहासिक उन्हें या तो हिमालय के क्षेत्र में मानते हैं और या पश्चिमी सीमान्त में। अशोक के समय तक केवल सीमान्तों के प्रदेश ही ऐसे बच रहे थे। जिन्हें स्वशासन-सम्बन्धी विशेष स्थिति प्राप्त थी।

(४) विदेशी राजाओं के साथ सम्बन्ध

राजा अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में कतिपय विदेशी राजाओं का भी उल्लेख किया है—"यह (धर्म विजय) देवानांप्रिय ने पुनः प्राप्त किया है, यहाँ (अपने राज्य में) और सब अन्तों (सीमान्त देशों) में। छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामक यवनराज और इस अन्तियोक परे जो चार राजा तुरमय नामक, अन्तिकिनि नामक, मक नामक और अलिक सुन्दर नामक (राज्य करते हैं) तथा नीचे (दक्षिण में) चोड, पाण्डच, ताम्रपर्णी... सर्वत्र देवताओं के प्रिय की धर्मानुशस्ति (धर्मानुशासन) का अनुसरण किया जाता है।[1]" चोड, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी सदृश दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यों के सम्बन्ध में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। ऊपर जिन पाँच राजाओं के नाम दिये गये हैं, उन पर विचार करना उपयोगी है। उनसे जहाँ अशोक के समकालीन राजाओं का परिचय मिलता है, वहाँ साथ ही उसके समय का सही-सही निर्धारण करने में भी यवन राजाओं के ये नाम अत्यन्त सहायक हैं।

अन्तियोक के विषय में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य अनेक खण्डों में विभक्त हो गया था। मैसिडोनियन

---

१. सो च पुनलधो देवनं प्रियस इह च सवेषु च अंतेषु अषषुपियोजनशतेषु यत्त अंतियोको नम योनरज परं च तेन अंतियोकेन चतुरे ४ रजनि तुरमये नम अंतकिनि नम मक नम अलिकसुदरोनस निच चोडपंड अब तंबपणिय..." चतुर्दश शिलालेख (शहबाजगढ़ी)—तेरहवाँ लेख।

साम्राज्य के एशियन भाग पर सिकन्दर के अन्यतम सेनापति सैल्युकस ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह सैल्युकस चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था, और इसने भारत पर आक्रमण भी किया था। सैल्युकस का पौत्र एण्टियोकस द्वितीय थिऑस (२६१–२४६ ई. पू.) था, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक (२७२-२३२) का समकालीन था। अशोक ने चतुर्दश शिलालेखों को अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में या उसके कुछ वर्ष पश्चात् उत्कीर्ण कराया था। जिस धर्मलिपि (चतुर्दश शिलालेखों में तेरहवाँ लेख) में अन्तियोक का उल्लेख है, उसे प्रचारित करने का समय २५६ ई. पू. के लगभग है, जब कि सीरिया (पश्चिमी एशिया) के राजसिंहासन पर एण्टियोकस द्वितीय थिऑस विराजमान था। अशोक की धर्मलिपियों का अन्तियोक सुनिश्चित रूप से यह एण्टियोकस ही है। इसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा अशोक के 'विजित' के साथ लगती थी, और इसका साम्राज्य ६०० योजनों तक विस्तृत था।

यवनराज अन्तियोक के राज्य से परे के जिन चार अन्य यवन राजाओं का अशोक ने उल्लेख किया है, उनमें प्रथम तुरमय है। इसे गिरनार के शिलालेख में तुरमाय, कालसी के शिलालेख में तुलमय और शहबाजगढ़ी के शिलालेख में तुरमय लिखा गया है। इसे ईजिप्ट के यवन राजा टाल्मी द्वितीय फिलडेल्फस (२८५-२४७ ई. पू.) के साथ मिलाया गया है, जो सर्वथा समुचित और संगत है। टाल्मी (तुलमय या तुरमय) के राज्य की स्थिति अन्तियोक के राज्य के के पश्चिम में थी।

तुलमय या तुरमय के राज्य के बाद अशोक ने अंतेकिन (कालसी और गिरनार) या अंतकिनि (शाहबाजगढ़ी) का उल्लेख किया है, जिसे मैसिडोनिया के यवन राजा एण्टि-गोनस गोनटस (२७६-२३९ ई. पू.) के साथ मिलाया गया है।

अशोक द्वारा उल्लिखित अन्य यवन राजा मक (कालसी और शहबाजगढ़ी) या मग (गिरनार) है, साइरनि के मगस (३००-२५० ई. पू.) के साथ जिसकी एकात्मकता प्रति-पादित की गई है।

अलिक्यषुदल (कालसी) या अलिकसुदल (शहबाजगढ़ी और मानसेहरा) नाम से अशोक ने जिस यवन राजा का उल्लेख किया है, उसके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। स्मिथ के अनुसार यह एपिरस का एलेक्सेण्डर (२७२-२५५ ई. पू.) था, और हुल्श के अनुसार कॉरिन्थ का एलेक्सेण्डर (२५२-२४४ ई. पू.)। ये दोनों ही एलेक्सेण्डर नाम के राजा अशोक के समकालीन थे। पर कॉरिन्थ के एलेक्सेण्डर का शासन-काल तब प्रारम्भ हुआ था, जबकि एपिरस के एलेक्सेण्डर की मृत्यु हो चुकी थी। अपनी धर्मलिपियों में अशोक को इन दो यवनराजाओं में कौन-सा अभिप्रेत था, इसे निर्णीत करने का केवल यह साधन है कि चतुर्दश शिलालेखों के तेरहवें लेख को उत्कीर्ण कराने के वर्ष का पता किया जाए। तृतीय शिलालेख में अशोक ने यह स्पष्ट रूप से सूचित किया है कि इस (तृतीय) लेख को राज्याभिषेक के बाद बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर प्रचारित किया गया था।

यह असंदिग्ध है, कि तीसरे लेख की तिथि २५६ ई. पू. है। चौदहों शिलालेखों के विषय तथा शैली को दृष्टि में रख कर यह अनुमान करना असंगत नहीं है, कि ये सब लेख एक के बाद एक करके थोड़े-से समय में ही प्रचारित किये गये थे। इसलिये तेरहवीं धर्मलिपि के समय को भी २५६ ई. पू. या उसके कुछ समय बाद ही रखा जाना उचित होगा। कारिन्थ के एलेक्सेण्डर का शासनकाल २५२ ई. पू. में प्रारम्भ हुआ था। अशोक को वह तभी अभिप्रेत हो सकता था, जब कि इस (तेरहवीं) धर्मलिपि को २५१-५० ई. पू. के लगभग प्रकाशित किया गया होगा। अतः यही मानना उचित है, कि आलिक्यषुदल या आलिक-सुदल से अशोक को एपिरस का एलेक्सेण्डर ही अभिप्रेत था।

अशोक ने इन पाँचों यवन राजाओं का उल्लेख धर्मविजय के प्रसंग में किया है। उसे इस बात का संतोष था, कि इन सबके राज्यों में देवानांप्रिय की धर्मानुशस्ति का अनुसरण किया जा रहा है। यह तभी सम्भव था, जबकि अशोक का इन राज्यों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध हो, और उस द्वारा वहाँ धर्म विजय के लिये उसी ढंग से महान् 'पराक्रम' (उद्योग) किया गया हो, जैसे कि अपने 'विजित' या 'राजविषय' में किया गया था। अपने 'विजित' में धर्म विजय के लिये अशोक ने धर्म-महामात्र, स्त्री-अध्यक्ष महामात्र, व्रजभूमिक, धर्मयुक्त आदि विशेष राजकार्मचारियों को नियुक्ति की थी[1], और अपने अन्य महामात्रों को भी यह आदेश दिया था कि वे जनता को धर्म का तत्त्व जताने के लिये निरन्तर अनुसंयान (दौरे) करते रहें।[2] साथ ही, जनता के हित-कल्याण के लिये कुएं खुदवाना, छायादार वृक्ष लगवाना आदि अनेकविध अन्य साधन भी अपनाये गये थे। प्रश्न यह है, कि जिन पाँच यवन राजाओं का अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में उल्लेख किया है, उनके राज्यों में और चोड, पाण्ड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी में—जो कि अशोक के 'विजित' के अन्तर्गत नहीं थे—धर्मविजय के लिये किन साधनों का उपयोग किया गया था। इस प्रश्न के उत्तर से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि विदेशी राजाओं के साथ अशोक के सम्बन्ध का क्या स्वरूप था। अशोक ने इन 'अन्तों' (सीमावर्ती राज्यों) में धर्मविजय के प्रयोजन से अन्त-महामात्रों को नियुक्त किया था,[3] जो इन विदेशी राज्यों में उन सब कार्यों का सम्पादन करते थे जो अशोक के अपने 'विजित' में धर्म-महामात्रों द्वारा किये जाते थे। इन अन्त-महामात्रों के अतिरिक्त विदेशी राज्यों में अशोक द्वारा दूत भी नियुक्त किये गये थे। पश्चिम-उत्तर के यवन-राज्यों में अपने राजदूत भेजने की प्रथा मौर्यों में चिरकाल से चली आ रही थी, और चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार के समय में इन यवन राजाओं के राजदूत पाटलिपुत्र के राज-दरबार में भी रहे थे। धर्मलिपियों से सूचित होता है, कि अशोक ने भी अपने दूत विदेशी

१. चतुर्दश शिलालेख—बारहवाँ लेख।
२. चतुर्दश शिलालेख—तीसरा लेख।
३. दिल्ली-टोपरा स्तम्भ-लेख—प्रथम लेख

राज्यों में भेजे थे—"जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी पहुँचते हैं, वे (वहाँ के लोग) भी देवताओं को प्रिय की धर्मोक्ति, (धर्म) विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का अनुसरण करते हैं।[1]" इस लेख से स्पष्ट रूप से दो प्रकार के राज्यों की सत्ता का निर्देश मिलता है, ऐसे राज्य जिनमें अशोक के दूत नियुक्त थे और ऐसे राज्य जहाँ उसके दूत नहीं थे। अशोक ने इस बात पर संतोष प्रगट किया है कि जिन विदेशी राज्यों में उसके दूत नियुक्त नहीं हैं, उनके निवासी भी उसकी धर्मोक्ति, धर्म विधान और धर्मानुशस्ति को सुन कर धर्म का अनुसरण करते हैं। अशोक की धर्म विजय का क्या अभिप्राय था और उसके लिये उसने किन साधनों को अपनाया, इस पर हम अगले अध्याय में विशद रूप से विचार करेंगे। यहाँ अन्त-महामात्रों और दूतों के सम्बन्ध में उल्लेख करने का प्रयोजन यही है कि अशोक के विदेशी राज्यों के साथ जो सम्बन्ध थे, उन पर प्रकाश डाला जाए।

अशोक के समकालीन विदेशी राज्यों में से पाँच के राजाओं के नाम धर्मलिपियों में दिये गये हैं। चोल, पाण्डय, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी का स्वतन्त्र राज्यों के रूप में उल्लेख तो अशोक ने किया है, पर उनके राजाओं के नाम नहीं दिये हैं। ताम्रपर्णी या लंका के अशोक कालीन राजा का नाम महावंसो में मिलता है। यह राजा देवानांप्रिय तिष्य था, और अशोक के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रसार किस प्रकार हुआ, इसका निरूपण करते हुए हम ताम्रपर्णी के राजा तिष्य के सम्बन्ध में विस्तार से लिखेंगे।

(५) अशोक का शासन

अशोक के चरित्र, जीवन और उसके शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं के विषय में हमें अधिक ज्ञात नहीं है। वह राजा बिन्दुसार का कनिष्ठ पुत्र था और अपने भाइयों को मार कर उसने राज्य प्राप्त किया था—इस सम्बन्ध में जो कथाएँ बौद्ध साहित्य में विद्यमान हैं, उनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। तारनाथ द्वारा संकलित तिब्बती बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार युवावस्था में अशोक कामवासना का शिकार होकर रागरंग में व्यस्त रहता था। इसी कारण तब उसे 'कामाशोक' कहा जाता था। बाद में वह अत्यन्त क्रूर, निष्ठुर और नृशंस हो गया, और इसीलिये 'चण्डाशोक' कहाने लगा। पर बौद्ध धर्म के सम्पर्क में आने के कारण उसकी मनोवृत्ति परिवर्तित हो गई और वह धर्मानुकूल जीवन बिताने लगा। प्राणिमात्र का हित और कल्याण करने के लिये प्रवृत्त होने के कारण तब उसे 'धर्माशोक' कहा जाने लगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक अत्यन्त उग्र प्रकृति का व्यक्ति था। वह मर्यादा में नहीं रह सकता था। कामवासनाओं से अभिभूत

१. **'यत्र पि देवनं प्रियस दुत न व्रचंति ते जि श्रुतु देवनं प्रियस ध्रमवुटं विधनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति।' चतुर्दश शिलालेख (शहबाजगढ़ी)—तेरहवाँ लेख।**

२. **महावंसो २०।७**

होकर उसने युवावस्था में एक कामुक व्यक्ति का जीवन व्यतीत किया था। बिन्दुसार की मृत्यु के बाद उसने अपने भाइयों का घात कर राजसिंहासन प्राप्त किया और राज्य में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये घोर अत्याचार किये। अन्त में जब उस का झुकाव धर्म की ओर हुआ, तब उसमें भी उसने 'अति' कर दी। अशोक का व्यक्तिगत चरित्र ही ऐसा था कि वह जो कुछ भी करता था अतिशयता के साथ करता था।

अशोक ने अनेक विवाह किये थे। धर्मलिपियों में उसकी केवल एक रानी का नाम आया है। प्रयाग के प्रस्तर-स्तम्भ पर अन्य लेखों के साथ अशोक का एक यह लेख भी उत्कीर्ण है--'देवानांप्रिय की आज्ञा से सर्वत्र महामात्यों को यह कहा जाए--'यहाँ जो द्वितीय देवी के दान हैं (यथा) आम्रवाटिका, आराम (विश्रामगृह), दानगृह अथवा अन्य जो कुछ भी, ये सब देवी के नाम से गिने (पंजीकृत किये) जाने चाहियें। ये अवश्य गिने जाने चाहियें, द्वितीय देवी तीवर की माता कालुवाकी (कारुवाकी) की (ऐसी इच्छा है)।" इस धर्म लिपि में अशोक के अन्यतम पुत्र तीवर और उसकी माता कारुवाकी का उल्लेख है, जिसे 'द्वितीय देवी' (दूसरी रानी) कहा गया है। तीवर और कारुवाकी का साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं मिलता, पर धर्मलिपि में उसके दान को पंजीकृत करने के सम्बन्ध में अशोक का जो आदेश है, उसके कारण उनकी सत्ता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

महावंसो के अनुसार अशोक की पटरानी का नाम असन्धिमित्रा था। उसकी मृत्यु अशोक के जीवन काल में ही हो गई थी। असन्धिमित्रा के निधन के पश्चात् पटरानी का पद तिस्सरक्खा (तिष्यरक्षिता) ने प्राप्त कर लिया। दिव्यावदान की कथा के अनुसार इसी तिष्यरक्षिता ने राजकीय मुद्रा का प्रयोग कर कुनाल को अन्धा करने का आदेश प्रदान किया था। महावंसो के अनुसार इसी तिष्यरक्षिता द्वारा बोधिवृक्ष को भी क्षति पहुँचायी गई थी।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक ने वृद्धावस्था में तिष्यरक्षिता के साथ विवाह किया था और यह युवती वृद्ध अशोक को प्रेम नहीं कर सकी थी। वह अशोक के पुत्र युवक कुनाल के प्रति आकृष्ट थी, और उससे प्रेम का प्रतिदान न पा कर उसके प्रति द्वेष का भाव रखने लगी थी। कुनाल को अन्धा करने का जो आदेश उसने तक्षशिला के अमात्यों को भिजवाया था, उसका यही कारण था। बौद्ध साहित्य में तिष्यरक्षिता को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया है।

दिव्यावदान में अशोक की एक अन्य रानी का भी उल्लेख है, जिसका नाम पद्मावती था। कुनाल इसी का पुत्र था। सम्भवतः, असन्धिमित्रा के कोई सन्तान नहीं थी। इसी कारण युवराज का पद पद्मावती के पुत्र कुनाल को प्रदान किया गया था।

बिन्दुसार के शासनकाल में जब अशोक अवन्ति देश का 'कुमार' (प्रान्तीय शासक) था, तब उसने विदिशा के श्रेष्ठी की देवी नाम की कन्या से भी विवाह कर लिया था। इस विवाह से उसके दो सन्तान हुई थीं, महेन्द्र और संघमित्रा। नेपाल की अनुश्रुति में

१. **'मण्डुकण्टकयोगेन महाबोधिमघातयि' महावंसो २०।५**

अशोक की एक अन्य कन्या का भी उल्लेख है, जिसका नाम चारुमती था। इसका विवाह नेपाल के 'क्षत्रिय' देवपाल के साथ हुआ था। पर इस चारुमती की माता का नाम क्या था, यह अनुश्रुति द्वारा ज्ञात नहीं होता।

राजतरङ्गिणी में अशोक के अन्यतम पुत्र जालौक का उल्लेख किया गया है, जो अशोक के पश्चात् काश्मीर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था।[1] इसी प्रकार तिब्बती अनुश्रुति में कुस्तन नाम के अशोक के एक अन्य पुत्र का वृत्तान्त मिलता है, जिसका जन्म अशोक के राज्याभिषेक के तीसवें साल में हुआ था। पर इन दोनों—जालौक और कुस्तन—की माताओं के नामों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इनके विषय में जो अनेक कथाएँ व तथ्य प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं, उनका हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। तिष्यरक्षिता और कुनाल सम्बन्धी कथाओं का भी अगले एक अध्याय में विवरण दिया जायगा।

अशोक के चरित्र और व्यक्तिगत जीवनके विषय में ये ही बातें विविध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर हमें ज्ञात हैं। जहाँ तक उसके शासन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का प्रश्न है, उनमें मुख्य कलिङ्ग की विजय है। कलिङ्ग को जीत लेने के अनन्तर अशोकने धर्म विजय की नीति को अपना लिया था, और अपना सब समय धर्म के श्रावण तथा अनुशासन में लगाना प्रारम्भ कर दया था। धर्म विजय के लिये अशोक ने जो प्रयत्न किया, उस पर अगले अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा। बौद्ध धर्म के साथ अशोक का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसके संरक्षण में बौद्ध धर्म की तृतीय धर्मसंगीति (महासभा) पाटलिपुत्र में हुई, जिसमें बौद्धों के साम्प्रदायिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। इसके पश्चात् विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का महान् उद्योग हुआ, और इसी प्रयोजन से अनेक प्रचारक मण्डल विविध देशों में भेजे गये।

बुद्ध के प्रति सम्मान प्रगट करने के लिये अशोक ने बहुत-से चैत्यों और स्तूपों का निर्माण कराया था। चीनी यात्री ह्य एन्त्सांग ने इनमें से बहुत-से स्तूपों आदि को अपनी आँखों से देखा था, और अपने यात्रा विवरण में उसने इनका विस्तार के साथ वर्णन किया है। बौद्ध धर्म के प्रति अशोक का जो असाधारण पक्षपात था, और उसके लिये जो प्रचुर धन राशि वह व्यय कर रहा था, उसके कारण सम्भवतः मौर्य शासन-तन्त्र में असंतोष उत्पन्न हो गया था, और कुनाल के पुत्र सम्प्रति ने (जो अशोक की वृद्धावस्था में युवराज के पद पर विराजमान था) राजकोष से बौद्ध संघ के लिये धन व्यय करने का निषेध कर दिया था। अशोक के शासन काल में भी तक्षशिला में विद्रोह हुआ था, जिसे शान्त करने के लिये कुमार कुनाल को भेजा गया था। अशोक के शासन काल के साथ सम्बन्ध रखनेवाली इन घटनाओं का यहाँ निर्देश मात्र कर दिया गया है। इनका विशद विवरण अगले अध्यायों में यथा स्थान दिया जायगा।

---

१. "सोऽथ भूभृज्जालौकोऽभूत् भूलोक पुरनायकः।
यो यशः सुधया शुद्धं व्यदधात् ब्रह्माण्डमण्डलम्॥" राजतरङ्गिणी १।१०८

सतरहवाँ अध्याय

अशोक की धर्मविजय

(१) 'धर्म' का अभिप्राय

संसार के इतिहास में राजा अशोक को जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, उसका प्रधान कारण उसकी धर्म-विजय की नीति ही है। विशाल मौर्य साम्राज्य की शक्ति का प्रयोग अशोक ने अन्य देशों को जीतने के लिये नहीं किया। उसने यह अनुभव किया, कि शस्त्रों द्वारा जो विजय प्राप्त की जाती है, वह स्थायी नहीं होती। वास्तविक विजय शस्त्रों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। धर्म-विजय ही वास्तविक विजय है, जो सबके लिये हितकर होती है और चिरकाल तक स्थिर भी रहती है। इस तथ्य को अनुभव कर अशोक ने शस्त्र-विजय की नीति का परित्याग कर धर्म-विजय की नीति को अपनाया। शस्त्रों द्वारा प्राप्त की जानेवाली विजय के सम्बन्ध में अपने मनोभावों को अशोक ने इस प्रकार प्रगट किया है[1]—"अष्टवर्षाभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिङ्गों का विजय किया। वहाँ से डेढ़ लाख मनुष्यों का अपहरण हुआ। वहाँ सौ सहस्र (एक लाख) मारे गये। उससे भी अधिक मरे (मृत्यु को प्राप्त हुए)। उसके पश्चात् अब जीते हुए कलिङ्गों में देवानां प्रिय द्वारा तीव्र रूप से धर्म का व्यवहार, धर्म की कामना और धर्म का उपदेश (किया जा जा रहा है)। कलिङ्गों की विजय करके देवानां प्रिय को अनुशोचन (पश्चात्ताप) है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, तब लोगों का जो वध, मरण और अपहरण होता है, वह देवानां प्रिय के लिये अवश्य वेदना का कारण होता है और साथ ही गम्भीर बात भी। देवानांप्रिय के लिये इससे भी अधिक गम्भीर बात यह है कि जो वहाँ ब्राह्मण, श्रमण, अन्य पाषण्ड (सम्प्रदाय) और गृहस्थ निवास करते हैं, और जिनमें अपने अग्रणियों (प्रमुख व्यक्तियों) की सेवा, माता पिता की सेवा, गुरुजनों की सेवा तथा मित्र, परिचित सहायक, ज्ञाति (स्वजातीय व सम्बन्धी) जन, दास और भृतकों के प्रति सम्यक् व्यवहार किया जाता है, और जिनमें दृढ़ भक्ति भी पायी जाती है, उनका भी वध हो जाता है या मृत्यु हो जाती है या उन्हें अपने प्रियजनों का वियोग सहना पड़ता है। उनमें से (वध आदि से) जो बच भी जाते हैं और (युद्ध के परिणामस्वरूप) जिनके स्नेह में कोई कमी भी नहीं आती, उनके भी मित्र, परिचित, सहायक और ज्ञातिजन संकट में पड़ जाते हैं जिसके कारण उन्हें भी आघात सहन करना पड़ता है। इस प्रकार (युद्ध के परिणामस्वरूप)

---

१. चतुर्दश शिलालेख—तेरहवाँ उत्कीर्ण शिलालेख

विपत्ति सभी मनुष्यों के भाग में आती है। देवानां प्रिय के लिये यह बात बहुत अधिक गम्भीर है। यवनों के अतिरिक्त अन्यत्र कोई ऐसा जनपद नहीं है, जहाँ ब्राह्मणों और श्रमणों के निकाय (सम्प्रदाय) न हों। कोई ऐसा जनपद नहीं है, जहाँ मनुष्यों का किसी-न-किसी पाषण्ड (सम्प्रदाय) में अनुराग न हो। कलिङ्गों को प्राप्त करने में जितने मनुष्य मारे गये हैं, मरे हैं, या अपहरण किये गये हैं, उनका सौवा या हजारवाँ भाग भी अब देवानांप्रिय के लिये गम्भीर है। यदि कोई अपकार करता है तो वह देवानांप्रिय के लिये क्षन्तव्य है, जहाँ तक क्षमा करना सम्भव हो। और जो अटवि (जांगल प्रदेश) देवानांप्रिय के विजित (जीते हुए क्षेत्र) में हैं, उन पर भी वह अनुनय (अनुग्रह) करता है और ध्यान देता है। देवानांप्रिय के अनुताप में भी प्रभाव (शक्ति) है। उनसे (अटवि के निवासियों या आटविक जनों) से कहा जाता है। क्या कहा जाता है? किसी की हत्या न करो, अपितु सब की रक्षा करो। देवानांप्रिय सब प्राणियों की अक्षति (विनाश का अभाव या हितसाधन), संयम, समाचर्य और मार्दव (मृदुता) की कामना करते हैं। धर्म विजय ही देवानांप्रिय की दृष्टि में प्रधान (वास्तविक) विजय है। यह धर्मविजय देवानांप्रिय ने यहाँ अपने राज्य में, सीमान्त-क्षेत्र में और छः सौ योजनों तक के पड़ोसी राज्यों में ...... प्राप्त की है। ...... जो धर्मविजय है, वह ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों है। धर्मरति सम्पूर्णतः अति आनन्द देनेवाली है। वही ऐहलौकिकी और पारलौकिकी है।[1]"

कलिङ्ग की विजय के लिये अशोक ने शस्त्र युद्ध का आश्रय लिया था। शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर वह कलिङ्ग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने में सफल हुआ, पर इस युद्ध में जो नरसंहार हुआ, उससे अशोक को बहुत क्लेश हुआ। कलिङ्ग के युद्ध में एक लाख मनुष्य मारे गये, इससे बहुत अधिक युद्ध के परिणामस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हुए, डेढ़ लाख मनुष्यों का अपहरण हुआ। इस जन-विनाश को देखकर अशोक ने अनुभव किया, कि शस्त्र द्वारा विजय करने की अपेक्षा धर्म-विजय की नीति को अपनाना श्रेयस्कर है। इसीलिये उसने अपनी शक्ति का प्रयोग धर्म-विजय के लिये करना प्रारम्भ किया। अशोक ने इस बात पर सन्तोष प्रगट किया है कि उसकी इस नीति को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। केवल अपने राज्य में ही नहीं, अपितु साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों और उत्तर-पश्चिम में स्थित यवन राज्यों तथा दक्षिणमें विद्यमान चोल, पाण्ड्य आदि राज्यों में सर्वत्र धर्मविजय स्थापित की गई है।

प्रश्न यह है, कि अशोक का धर्म या धम्म से क्या अभिप्राय था? क्या अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये जो प्रयत्न किया था, अपने उत्कीर्ण लेखों में उसने उसी का निर्देश किया है? इस सम्बन्ध में अधिक विचार-विमर्श की आवश्यकता इस कारण नहीं रह जाती, क्योंकि अशोक ने अपने उत्कीर्ण लेखों में बार-बार धम्म या धर्म के अभिप्राय को स्पष्ट किया

---

१. **चतुर्दश शिलालेख--तेरहवाँ उत्कीर्ण शिलालेख**

है। उसके अनुसार 'धर्म यह है कि दासों और भृतकों के प्रति सम्यक् व्यवहार किया जाए, माता और पिता की सुचारुरूप से सेवा की जाए, मित्र, परिचित, ज्ञातिजन और ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान दिया जाए, और प्राणियों की हिंसा न की जाए। पिता-पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित और पड़ोसी—सब द्वारा ऐसा कहा जाना चाहिये—'यह साधु है, यह कर्तव्य (करणीय) है। जो इसके अनुरूप आचरण करता है, उसे इहलोक में सुख प्राप्त होता है और परलोक में वह अनन्त पुण्य का सृजन करता है।[1]"

चतुर्दश शिलालेखों में ही अन्यत्र अशोक ने धर्म के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"माता-पिता की सेवा करना साधु (अच्छी) बात है। मित्र, परिचित, ज्ञातिजन, ब्राह्मणों और श्रमणों को दान देना साधु है। प्राणियों की हिंसा न करना साधु है।[2]"

चतुर्दश शिलालेखों के नवें लेख के अनुसार धर्म का मंगलाचार यह है, कि दासों और भृतकों के प्रति समुचित बरताव किया जाए, गुरुजनों का आदर किया जाए, प्राणियों के प्रति बरतते हुए संयम से काम लिया जाए और श्रमणों तथा ब्राह्मणों को दान दिया जाए। ये तथा इसी प्रकार की अन्य बातें 'धर्ममङ्गल' कहाती हैं। पिता, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित और पड़ोसी द्वारा ऐसा कहा जाना चाहिये—'यह साधु है, यह कर्तव्य (करणीय) है।[3]"

ब्रह्मगिरि के लघु शिलालेख में अशोक ने धर्म गुणों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'माता-पिता की सेवा करनी चाहिये। (प्राणियों के) प्राणों के प्रति आदर की भावना को दृढ़ करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये। इन धर्मगुणों का प्रवर्त्तन करना चाहिये। इसी प्रकार अन्तेवासी (शिष्य) द्वारा आचार्य (गुरु) का आदर किया जाना चाहिये। ज्ञातिजनों और कुल (पारिवारिक जनों) के प्रति यथायोग्य बरताव करना चाहिये। यह पुरानी परम्परा है, जिससे दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। इसका पालन किया ही जाना चाहिये।[4]"

---

१. 'तत इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपत्ती मातरि पितरि साधु सुस्रुसा मितसस्तुतञातिकानं बाम्हणस्रमणानं साधु दानं प्राणानं अनारंभो साधु एत वतव्यं पिता व पुत्रेन व भाता व मितसस्तुत ञातिकेन व आव पटिवेसेयेहि इदं साधु इदं कतव्यं सो तथा कस इलोकचस आरधो हेति परत च अनंतं पुइयं भवति'।
गिरनार शिलालेख—११

२. चतुर्दश शिलालेख—तीसरा लेख

३. चतुर्दश शिलालेख—नवाँ लेख

४. 'माता पितिसु सुसूसितविये हेमेव गरुसु प्राणेसु द्रढ्यितव्यं सचं वतवियं से इमे धंमगुणा पवतिवया हेमेव अंतेवासिना आचरिये अपचायितविये ञातिकेसु च कंय...रहं पवतितविये एसा पोराणा पकिति दीघावुसे च एस हेवं एस कटिविये।'
ब्रह्मगिरि-शिलालेख

सप्त स्तम्भ लेखों में दूसरा लेख इस प्रकार है—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—धर्म साधु है। पर धर्म क्या है? अल्प पाप (पाप को कम-से-कम करना), वहु-कल्याण (वहुत-से कल्याणकारी कार्य करना), दया, दान और शौच (शुचिता या पवित्रता)।[1]"

इन उद्धरणों के अनुशीलन से इस वात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि अशोक ने जिस धम्म (धर्म) के प्रसार के लिये महान् प्रक्रम किया था, वह कोई विशिष्ट सम्प्रदाय या पाषण्ड नहीं था। धम्म से अशोक को सदाचरण के वे सर्वसम्मत नियम ही अभिप्रेत थे, जिनका उपदेश सभी धर्मों व सम्प्रदायों द्वारा किया जाता है। दया, दान, सत्य, मार्दव, माता पिता की सेवा, गुरुजनों की सेवा, ब्राह्मणों और श्रमणों को दान, प्राणियों से बरतते हुए संयम से काम लेना और दासों तथा भृतकों के प्रति समुचित व्यवहार करना—अशोक के 'धम्म' में ये बातें ही अन्तर्गत थीं। धम्म के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अशोक इतना अधिक उत्सुक था, कि उसने अनेक प्रकार से एक ही बात का बार-बार प्रतिपादन किया है। उसके उत्कीर्ण लेखों में एक ही बात को बार-बार कहने से पुनरुक्ति दोष भी आ गया है। पर इस पुनरुक्ति में उसे एक प्रकार का आनन्द-सा अनुभव होता है। अशोक का यत्न था, कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने धर्म को प्रयुक्त करे। इसी कारण उसने जनता के साधारण व्यवहार के साथ धर्मव्यवहार की तुलना की है। इस प्रकार की अनेक तुलनाएँ अशोक के उत्कीर्ण लेखों में विद्यमान हैं। एक तुलना मङ्गलाचार के सम्बन्ध में है। चतुर्दश शिलालेखों के नवें लेख में अशोक ने कहा है—"लोग ऊँच-नीच (अच्छी-बुरी) दशा में अनेक प्रकार के मंगल करते हैं। आबाधा (विपत्ति) के अवसर पर, आवाह (कन्या के विवाह या कन्या को ले जाने) के अवसर पर, विवाह के समय, सन्तान के उत्पन्न होने पर, प्रवास के समय और इसी प्रकार के अन्य अवसरों पर लोग बहुत प्रकार के मंगल (मंगलाचार या मंगल कार्य) करते हैं। ऐसे समयों पर स्त्रियाँ बहुत-से और बहुत प्रकार के पूतिक (घृणास्पद) या क्षुद्र और निरर्थक मंगल-कार्य करती हैं। मंगल कार्य तो अवश्य ही करना चाहिये। पर इस प्रकार के मङ्गल कार्य अल्प फल वाले हैं। जो धर्म मंगल है, वह सुनिश्चित रूप से महाफल वाला है।[2]" इसके बाद अशोक ने धर्म के अभिप्राय को स्पष्ट करके पुनः कहा है—"इस प्रकार के मंगल कार्य सांशयिक (सन्दिग्ध) फल वाले होते हैं। इनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो भी सकती है और नहीं भी। ये ऐहलौकिक भी हैं। किन्तु धर्ममंगल समय से बाधित नहीं होता। हो सकता है कि उस (धर्म मंगल) से इस लोक में अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, किन्तु वह परलोक में अनन्त पुण्य को अवश्य उत्पन्न करता है। पर यदि

---

१. 'धंमे साधू कियं चु धंमे ति अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सोचये।'
देहली—टोपरा स्तम्भ—लेख २

२. चतुर्दश शिलालेख—नवाँ लेख (शाहवाजगढ़ी और कालसी)

धर्ममंगल से (इहलोक में भी) सिद्धि होती है, तब तो दोनों लाभ प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् इहलोक में इससे अर्थ (अभीष्ट फल) की प्राप्ति होती है, और परलोक में यह अनन्त पुण्य उत्पन्न करता है।[१]"

इसी प्रकार चतुर्दश शिलालेखों के ग्यारहवें लेख में साधारण दान और धर्मदान में भेद प्रतिपादित किया गया है। अशोक की सम्मति में "ऐसा कोई दान नहीं है, जैसा धर्म का दान है[२]" इसी लेख में धर्मदान के साथ-साथ धर्मसंस्तव (धर्म की संस्तुति), धर्मसंविभाग (धर्म का सम्यक् रूप से विभाजन या बँटवारा) और धर्म सम्बन्ध का भी उल्लेख किया गया है। धर्मदान को सर्वोत्कृष्ट दान प्रतिपादित कर अशोक ने धर्म के अभिप्राय को भी स्पष्ट किया है, जिसे इसी प्रकरण में ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। अशोक ने अपने एक शिलालेख में शस्त्र-विजय और धर्मविजय के भेद का भी निरूपण किया है। "धर्म-विजय में प्रीति होती है। इस प्रीति के लघु (स्वल्प) होने पर भी देवानांप्रिय उसे पारलौकिक लाभ के लिये अत्यन्त महान् मानते हैं। इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवायी गयी। क्यों? इसलिये कि मेरे पुत्र, पौत्र जो हों, वे नई विजय (नये देश की विजय) को विजय न मानें। विजय की इच्छा रखने पर वे क्षान्ति (सहनशीलता) और लघुदण्डता के प्रति रुचि करें। जो धर्म-विजय है, उसी को वे विजय मानें। वह (धर्मविजय) ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों है। धर्म के प्रति रति ही अत्यन्त आनन्द प्रदान करनेवाली है। वही ऐहलौकिकी और पारलौकिकी है।[३]"

राजा अशोक ने अपने उत्कीर्ण लेखों में जो बार-बार 'धर्म' के अभिप्राय को स्पष्ट किया है, और अनेक प्रकार से धर्म की जो तुलना की है, उसका प्रयोजन यही था कि जनता को धर्म के उस रूप के सम्बन्ध में कोई भ्रम न रह जाए, जिसका प्रसार करने के लिये वह प्रयत्नशील था। जहाँ अशोक ने यह बताया है कि धर्म क्या है, वहाँ साथ ही यह भी कि पाप क्या है। उसकी सम्मति में धर्म की वृद्धि तभी हो सकती है, जबकि पाप में कमी हो। और पाप क्या हैं? चण्डता, नैष्ठुर्य, क्रोध, अहंकार और ईर्ष्या पाप हैं। इस सम्बन्ध में अशोक का निम्नलिखित उत्कीर्ण लेख उद्धरण के योग्य है—"देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—(मनुष्य स्वकृत) कल्याण को ही देखता है, 'मैंने यह कल्याणकारी कार्य किया'। उसे (स्वकृत) थोड़ा पाप भी दिखायी नहीं देता, 'मुझ से यह पाप किया गया, या यह कार्य आसीनव (पाप) है।' निस्सन्देह, पाप को देख सकना कठिन ही है। किन्तु यह अवश्य देखना चाहिये कि ये सब पाप की ओर ले जाने वाले हैं—जैसे चण्डता, नैष्ठुर्य

१. चतुर्दश शिलालेख—नवाँ लेख (शाहबाजगढ़ी)

२. 'नास्ति एतारिसं दानं यारिसं धंमदानं धंमसंस्तवो वा धंमसंविभागो (वा) धंमसंबधो व।' गिरनार चतुर्दश शिलालेख—११ वाँ लेख

३. चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी)—तेरहवाँ लेख।

(निष्ठुरता), क्रोध, मान (अहंकार) और ईर्ष्या; और इनके कारण मैं कहीं अपने को भ्रष्ट न कर दूँ।[1]"

अशोक के उत्कीर्ण लेखों का अनुशीलन करने पर इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि धर्म या धम्म से आचरण के ऐसे नियम या सिद्धान्त अभिप्रेत थे, जो सब देशों और सब सम्प्रदायों को समान रूप से स्वीकार्य हैं, और जो सब समयों के लिये उपयुक्त हैं। किसी भी पाषण्ड या सम्प्रदाय को इनसे विरोध नहीं हो सकता था। यह सही है, कि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और बुद्ध के अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग के प्रचार के लिये अनेक प्रयत्न भी किये थे। पर मौर्य साम्राज्य के राजा के रूप में उसने जिस 'धर्म' के उत्कर्ष के लिये प्रयत्न किया था, वह बौद्ध धर्म नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में भारत में बहुत-से धार्मिक सम्प्रदायों की सत्ता थी। सनातन पौराणिक या वैदिक धर्म के अतिरिक्त बौद्ध, जैन और आजीवक आदि अवैदिक सम्प्रदाय भी इस युग में विद्यमान थे। उनमें विरोध का भी अभाव नहीं था। इस दशा में अशोक यह नीति अपना सकता था, कि अपने धर्म (बौद्ध धर्म) का पक्ष लेकर अन्य धर्मों व सम्प्रदायों का विरोध करे और उनके अनुयायियों पर अत्याचार करे। पर उसने इस नीति को नहीं अपनाया। विविध सम्प्रदायों के प्रति अशोक की भावना निम्नलिखित उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट हो जाती है—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की यह इच्छा है कि सर्वत्र सब पाषण्ड (सम्प्रदाय) निवास करें। सभी (सब सम्प्रदाय) संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों की इच्छाएँ और अनुराग ऊँचे-नीचे (विभिन्न) प्रकार के हुआ करते हैं। वे या तो सम्पूर्ण रूप से (धर्म का) पालन करेंगे, और या एकदेश (आंशिक) रूप से। जो प्रचुर रूप से दान नहीं कर सकता, उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति का होना आवश्यक है।"[2] इस लेख से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, कि अशोक की यह नीति थी कि उसके राज्य में सब सम्प्रदायों के लोग एक साथ निवास करें। वह किसी सम्प्रदाय को अत्यन्त उत्कृष्ट और किसी को अत्यन्त हीन भी नहीं समझता था, क्योंकि

---

१. "देवानं पिये पियदसि लाज हेवं अहा कयानमेव देखति इयं मे कयाने कटेति नो मिन पापं देखति इयं से पावे कटेति इयं या आसिनवे नामाति दुपटिवेखे चु खो एसा हेवं चु खो एस देखिये इमानि आसिनवगामीनि नाम अथ चंडिये निठलिये कोधे माने इस्या कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं एस बाढ देखिये इयं मे हिदतिकाये इमन मे पालतिकाये।" देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—तृतीय लेख।

२. "देवानंपिये पियदसि लाजा सवता इछति सवपासंड वसेवु। सवे हिते ते सयमं भावसुधि चा इछंति। जने चु उचावुच छंदे उचावुचलागे। ते सवं एकदेसं पि कछंति। विपुले पि चु दाने असा नथि सयमे भावसुधि किटनाता दिडभतिता चा निचे वाडं।" चतुर्दश शिलालेख (कालसी)—सप्तम लेख।

उसका विचार था कि सभी सम्प्रदाय संयम और भावशुद्धि के पक्षपाती हैं। फिर सम्प्रदायों में भेद का क्या कारण है? क्योंकि मनुष्यों की इच्छाएँ और अनुराग विविध प्रकार के होते हैं, इसी कारण विभिन्न सम्प्रदायों का भी विकास हो जाता है। सभी सम्प्रदायों के लोग धर्म का पालन करते हैं। हाँ, धर्म के तत्त्व का कोई समग्र रूप से पालन करते हैं, और कोई आंशिक रूप से। अशोक का 'धर्म' न बौद्ध धर्म है, और न राजधर्म। वह सब धर्मों और सम्प्रदायों के अविरुद्ध सदाचार के साधारण नियम हैं, जिनकी आवश्यकता और उपयोगिता सब देशों और सब समयों के लिये एक सदृश होती है।

धम्म या धर्म के अभिप्राय को जिस ढंग से हमने यहाँ प्रतिपादित किया है, अन्य अनेक ऐतिहासिकों द्वारा भी उसी का समर्थन किया गया है। श्री. मैक्फायल के अनुसार इन उत्कीर्ण लेखों में "धम्म का अभिप्राय, बौद्ध धर्म से न होकर उस सामान्य शुचिता (Piety) से है, अशोक जिसका पालन अपनी सम्पूर्ण प्रजा से कराना चाहता है, चाहे वह प्रजा किसी भी धर्म को माननेवाली हो।[१]" विन्सेन्ट ए. स्मिथ का इस सम्बन्ध में मत इस प्रकार है—"उपदेश की शक्ति में आश्चर्यजनक विश्वास रख कर अशोक जिस धर्म का निरन्तर प्रचार करता था, उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। धम्म से वह जिन बातों का ग्रहण करता है, वे निश्चित रूप से भारत के सब धर्मों में समान रूप से विद्यमान थीं। यह बात और है कि कोई धर्म किसी बात पर दूसरों की अपेक्षा अधिक जोर देता हो।[२]" भाण्डारकर ने लिखा है कि "जो कोई भी अशोक के धम्म के नियमों पर विचार करता है, वह उसकी शिक्षाओं की सादगी से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। उसके धम्म को सब धर्मों की सर्वसामान्य सम्पत्ति समझा जा सकता है। वह जिन गुणों और नियमों का पालन करने के लिये कहता है, वे सब ऐसे हैं जिन्हें कि सभी धर्म अनुकरणीय बताते हैं।[३]"

इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। विश्व भर में उसके प्रचार का प्रयत्न करने में भी उसका महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है, पर अपनी धम्मलिपियों (उत्कीर्ण लेखों) में उसने जिस धम्म का प्रतिपादन किया है, वह बौद्ध धर्म कदापि नहीं है। यह सही है, कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं ने ही अशोक को धम्म की ओर प्रवृत्त किया। उसी के प्रभाव से उसने मौर्य साम्राज्य की अपार सैनिक शक्ति का प्रयोग दूसरे देशों को जीतने के लिये न करने का निश्चय किया। पर इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता, कि अशोक ने अपनी राजशक्ति का प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये न करके ऐसे धर्म या धम्म के लिये किया, जो उस युग के सभी भारतीय धर्मों, सम्प्रदायों और पाषण्डों को समान रूप से स्वीकार्य था। विश्व के इतिहास में अशोक का महत्त्व इसी कारण है, क्योंकि

---

१. Macphail J. M. —Ashoka p. 48
२. Smith V. A.—Ashoka
३. Bhandarkar—Ashoka p. 107

एक अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट् होकर भी उसने अपनी शक्ति का उपयोग न शस्त्र-विजय के लिये किया, और न अपने धर्म का प्रसार करने में। उसने धर्मों के सार पर ध्यान दिया, और उसी के प्रचार के लिये प्रयत्न किया।

(२) धर्म-विजय के लिये प्रयुक्त किये गए साधन

यह निश्चय कर लेने के अनन्तर कि अपनी शक्ति का प्रयोग शस्त्र-विजय के लिये न करके धर्म-विजय के लिये करना है, अशोक ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये अनेकविध साधन अपनाए। धर्म-विजय के लिये पहला उपाय धर्म महामात्र (धर्ममहामात) संज्ञक राजकर्मचारियों की नियुक्ति करना था। इन राजपदाधिकारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अशोक ने इस प्रकार लिखा है—"बहुत समय व्यतीत हो गया, जब से धर्म महामात्र नहीं होते। जब मेरे राज्याभिषेक को हुए तेरह वर्ष व्यतीत हो गये, मैंने धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया। ये (धर्ममहामात्र) धर्म के अधिष्ठान (स्थिति) के लिये, धर्म की वृद्धि के लिये, धर्मयुक्तों के हित और सुख के लिये सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) में तथा यवन, कम्बोज, गान्धार और जो अन्य अपरान्त (सीमावर्ती देश) हैं, उन सब में व्यापृत हैं। भृत्यों और स्वामियों में, ब्राह्मणों और धनिकों में, अनाथों में, वृद्धों में उनके हित और सुख के लिये, उन्हें धर्म से युक्त करने के लिये और उनकी बाधाओं को दूर करने के लिये ये (धर्ममात्र) व्यापृत हैं। बन्धन-बद्धों (कैदियों) की सहायता, अपरिबाधा (बाधाओं या कठिनाइयों का निराकरण) और मोक्ष (छुटकारे) के लिये, अधिक सन्तान वालों, विपत्ति के सताये हुए लोगों तथा वृद्ध लोगों में (उनकी सहायता, अपरिबाधा और मोक्ष के लिये) वे व्यापृत हैं। यहाँ (पाटलिपुत्र में) और बाह्य नगरों में, हमारे भाइयों-बहनों और हमारे अन्य सम्बन्धियों के जो अन्तःपुर हैं उनमें वे (धर्ममात्र) व्यापृत हैं। ये महामात्र मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मयुक्तों की (सहायता के लिये व्यापृत हैं) जिससे धर्म के प्रति अनुराग, धर्म की स्थापना और दान के कार्य सम्पन्न हो सकें। इसी प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवायी गई, ताकि यह चिरस्थायी हो और मेरी प्रजा इसका अनुसरण करे।[१]"

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की शासन-व्यवस्था का विवेचन करते हुए हमने मन्त्रियों और अमात्यों का उल्लेख किया था। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'महामात्य' शब्द आया है, जो उच्च स्थिति के अमात्य का बोधक है।[२] महामात्य और महामात्र एक ही पदाधिकारी को सूचित करते हैं, यह असंदिग्ध है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में कहीं 'धर्ममहामात्य' या 'धर्ममहामात्र' का उल्लेख नहीं है। अन्य प्राचीन नीतिग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में भी धर्म-महामात्य का उल्लेख नहीं मिलता। अतः अशोक का यह कथन सही है, कि बहुत समय से

---

१. चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी)—पाँचवाँ लेख

२. कौटलीय अर्थशास्त्र १।१३

धर्म-महामात्र नियुक्त नहीं किये गये थे। सम्भवतः, अशोक द्वारा ही पहले-पहले धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की परम्परा भारत में प्रारम्भ की गई। ऊपर उद्धृत किये गये उत्कीर्ण लेख से यह स्पष्ट है, कि केवल मौर्य साम्राज्य में ही नहीं, अपितु सीमा पर स्थित जो यवन, कम्बोज और गान्धार राज्य तथा अन्य अपरान्त राज्य थे––उन सबमें भी अशोक द्वारा धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की गई थी। ये धर्ममहामात्र जनता के किन वर्गों में विशेष रूप से कार्य करते थे, यह भी इस धर्मलिपि से स्पष्ट है। इनका एक कार्यक्षेत्र विविध पाषण्ड (सम्प्रदाय) थे। मौर्य युग में भारत में बहुत-से धार्मिक सम्प्रदायों की सत्ता थी। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है, कि इस काल में निर्ग्रन्थ (जैन), आजीवक, जटिल, परिव्राजिक और अवरुद्धक आदि के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक सम्प्रदाय थे जो वासुदेव, बलदेव, पुण्यभद्र, मणिभद्र, अग्नि, सुवर्ण, यक्ष्, असुर, गन्धर्व, महाराज, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, देव और दिशा आदि की उपासना किया करते थे। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि इन सम्प्रदायों में परस्पर विरोध भी रहे। अतः अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्र इन सब सम्प्रदायों में इस प्रयोजन से कार्य करते थे, ताकि लोग धर्म के तत्त्व को महत्त्व दें, वाणी के संयम से काम लें, दूसरों की निन्दा न करें और परस्पर मेल जोल में रहें। इस बात को अशोक ने इस ढंग से स्पष्ट किया है :––

"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) प्रव्रजितों (सन्यासियों) और गृहस्थों को पूजते हैं (सबका आदर करते हैं), दान और विविध प्रकार की पूजा से पूजते हैं। किन्तु दान और पूजा को देवानांप्रिय (उतना) नहीं मानते जितना कि किसे? इस बात को कि सभी सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सारवृद्धि अनेक प्रकार से होती है, परन्तु उसका मूल है वचोगुप्ति (वाणी का संयम)। यह कैसे? विना प्रसङ्ग के अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। प्रसङ्ग होने पर भी यह (अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा) बहुत कम करनी चाहिये। जब कभी भी प्रसङ्ग हो, दूसरे सम्प्रदायों की पूजा (आदर) करनी चाहिये। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है, और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार। इसके विपरीत करने पर अपना सम्प्रदाय क्षीण होता है, और दूसरे सम्प्रदायों का अपकार। जो कोई अपने ही सम्प्रदाय की पूजा करता है और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है, वह सब अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण ही––यह क्यों? इसलिये कि (वह सोचता है, कि इस प्रकार) मैं अपने सम्प्रदाय को प्रकाशित कर दूंगा। परन्तु इस प्रकार करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को ही हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल जोल) साधु (अच्छा) है। यह (समवाय) क्या है? सब कोई एक दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी सेवा करें। यही देवों के प्रिय की इच्छा है, यह क्या? सब सम्प्रदाय बहुश्रुत (जिन्हें सब सम्प्रदायों का ज्ञान हो) और कल्याणगामी हों। अतः जहाँ जहाँ कोई सम्प्रदाय हों, उनसे यह कहना चाहिये कि देवताओं के प्रिय दान और पूजा को

इतना नहीं मानते, जितना कि इस बात को कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो।"[1]

विभिन्न सम्प्रदायों में कार्य करने के लिये धर्म-महामात्रों की नियुक्ति का यही प्रयोजन था, कि उन्हें यह बात समझायी जाए कि बिना विशेष प्रसङ्ग या कारण के अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और अन्य सम्प्रदायों की निन्दा नहीं करनी चाहिये, सब सम्प्रदायों का आदर करना चाहिये, और परस्पर मेलजोल से रहना चाहिये। सब सम्प्रदायों की बात सुननी चाहिये और सबकी सेवा करनी चाहिये। अपने धर्म का प्रचार करते हुए भी वाक्संयम से काम लेना चाहिये। जिस देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की सत्ता हो, उसके लिये अशोक की यह शिक्षा कितनी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण थी, इस विषय में कुछ भी लिखना निरर्थक है। ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में भी भारत में साम्प्रदायिक विरोध और विद्वेष पर्याप्त रूप से विद्यमान थे। इसी कारण अशोक ने यह आवश्यकता अनुभव की थी, कि विभिन्न सम्प्रदायों को वाक्संयम और मेलजोल की नीति को अपनाने के लिये धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की जाए।

विभिन्न सम्प्रदायों में कार्य करने के अतिरिक्त धर्ममहामात्रों से यह भी अपेक्षा की जाती थी, कि वे भृत्यों और स्वामियों में, ब्राह्मणों और धनिकों में, अनाथों में, वृद्धों में, कैदियों में, अधिक सन्तान वाले लोगों में और विपत्ति के सताये हुए लोगों में कार्य करें। वहाँ इनका कार्य भिन्न प्रकार का था। वहाँ इन्हें वाक्संयम और समवाय के लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं थी। वे इन लोगों के हित और सुख को सम्पादित करने का उद्योग करते थे, और साथ ही उनकी कठिनाइयों को दूर करने का भी। अनाथों और वृद्धों (ऐसे वृद्धजन जो अपाहिज हो गये हों) के सुख और हित की चिन्ता राज्य को ही करनी होती है। अशोक ने यह कार्य धर्म महामात्रों के ही सुपुर्द किया था। भृत्यों और उनके स्वामियों में अनेकविध विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। उनके पारस्परिक सम्बन्धों के ठीक रहने से ही उनका हित-सुख सम्पन्न हो सकता है। धर्ममहामात्र इनकी ओर भी ध्यान देते थे। कैदियों की सहायता, उनकी कठिनाइयों को दूर करना और उन्हें छुटकारा दिलाना भी इन्हीं का कार्य था। जिन गृहस्थों की अधिक सन्तान हों, उन्हें भी अनेकविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अशोक ने इनकी सहायता का कार्य भी धर्ममहामात्रों को ही प्रदान किया था।

अशोक द्वारा ये धर्ममहामात्र न केवल अपने साम्राज्य में अपितु उसके सीमावर्ती तथा पड़ौसी राज्यों में भी नियुक्त किये गये थे। इन राज्यों के विषय में हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। इनकी नियुक्ति पाटलिपुत्र में, अन्य नगरों में और साम्राज्य में सर्वत्र की गई थी। अशोक ने अपने भाइयों, बहनों और अन्य ज्ञातिजनों के अन्तःपुरों में भी

---

१. चतुर्दश शिलालेख (गिरनार)—बारहवाँ लेख।

इन धर्ममहामात्रों द्वारा काम किये जाने का उल्लेख किया है। इसका कारण सम्भवतः यह था, कि अशोक के राज्यारोहण के अवसर पर जो गृह-युद्ध हुआ था, उसके कारण अशोक के भाइयों, बहनों और अन्य पारिवारिक जनों के पारस्परिक सम्बन्धों में एक प्रकार की कटुता प्रादुर्भूत हो गई थी। जब धर्मविजय की नीति को अपना कर अशोक ने सर्वत्र सहिष्णुता और मेलजोल के वातावरण को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अपने कुटुम्बी जनों में भी वह सौहार्द्र भावना को प्रादुर्भूत करने की ओर ध्यान दे। उनके अन्तःपुरों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति का सम्भवतः यही प्रयोजन था।

धर्ममहामात्रों के अतिरिक्त कतिपय अन्य राज कर्मचारी भी धर्मविजय के लिये नियुक्त किये गये थे। इन कर्मचारियों की संज्ञा 'इस्त्रिधियक्षमहमत्र' या 'इथिधियख महामात' (स्त्री-अध्यक्ष महामात्र) और 'वचभुमिक्य' या 'व्रजभुमिक' (व्रजभमिक) थी।[1] स्त्रियों में कार्य करने के लिये पृथक् रूप से स्त्री-अध्यक्ष-महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। अशोक ने सामान्य दान और धर्मदान तथा सामान्य मंगलाचार और धर्म के मंगलाचार में जो भेद प्रतिपादित किया है, वह महत्त्व का है। दान-पुण्य और मंगलाचार प्रायः स्त्रियों ही द्वारा किये जाते हैं। अतः उनमें अपने धर्म-सम्बन्धी विचारों के प्रचार का विशेष आवश्यकता थी। स्त्री-अध्यक्ष-महामात्रों की नियुक्ति इसी प्रयोजन से की गई थी। 'व्रज' गोचर भूमि को कहते हैं। मौर्य युग में भारत की भूमि का अच्छा वड़ा भाग चरागाहों के रूप में था, जिन्हें 'व्रज' या 'विवीत' कहते थे। इनमें पशुपालक लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। जिस प्रकार नगरों और अन्य बस्तियों में धर्ममहामात्रों तथा स्त्री-अध्यक्ष-महामात्रों की नियुक्ति की गई थी, वैसे ही व्रज भूमियों के निवासियों को धर्म का तत्त्व अवगत कराने के लिये व्रजभूमिक संज्ञक राजकर्मचारी नियत किये गये थे। सम्भवतः ये धर्ममहामात्रों की अधीनता में और उनके पथ-प्रदर्शन के अनुसार अपने कार्यों को सम्पादित करते थे।

चतुर्दश शिलालेखों के पञ्चम लेख (धमलिपि) में 'धम्मयुत' (धर्मयुक्त) शब्द आया है। 'ते सव्र प्रषंडेषु वपट धंमधिथनये च धंसवडिय हिदसुखये च ध्रमयुतस[2] (ते सर्वपाषण्डेषु व्याप्ताः धर्माधिष्ठानाय च धर्मवृद्ध्या च हितसुखाय धर्मयुक्तस्य)—इस पंक्ति का अर्थ करते हुए अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'धर्मयुक्त' संज्ञा के भी राजकर्मचारी अशोक द्वारा नियुक्त किये गये थे। इस धर्मलिपि का इसी प्रकरण में जो अर्थ हमने दिया है, उसमें इसका अर्थ 'धर्मयुक्तों के हित और सुख के लिये' किया गया है। धर्मयुक्त से 'धार्मिक मनुष्य' अर्थ भी लिया जा सकता है, और 'धर्मयुक्त'

---

१. **चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी)—बारहवाँ लेख।**

२. **चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी)—पाँचवाँ लेख।**

संज्ञक कर्मचारी भी। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में 'युक्त' नाम के राज्यकर्मचारी हुआ करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में युक्तों का उल्लेख ऐसे राजकर्मचारियों के रूप में किया गया है जो सुगमता से राजकीय धन का अपहरण कर सकते हैं और जिन्हें पकड़ना सुगम नहीं होता।"[1] अशोक के उत्कीर्ण लेखों में भी 'युत' संज्ञक राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है। चतुर्दश शिलालेखों के तीसरे लेख में अशोक ने कहा है—"राज्याभिषेक को हुए जब बारह वर्ष व्यतीत हो गये, तो मैंने यह आज्ञा दी—"मेरे विजित (राज्य) में सर्वत्र युत (युक्त), लजूक (रज्जुक) और पादेसिक (प्रादेशिक) पाँच-पाँच वर्षों के अनन्तर दौरे के लिये निकला करें—इस प्रयोजन के लिये अर्थात् धर्मानुशासन के लिये और अन्यान्य कार्यों के लिये (वे सर्वत्र यह कहते हुए जायँ), कि माता पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, जातीय जन और ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान देना साधु कार्य है। प्राणियों के प्राणों को न लेना साधु कार्य है। थोड़ा व्यय तथा थोड़ा संचय साधु है।[2]" इस धर्मलिपि से यह सर्वथा स्पष्ट है, कि युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक संज्ञक राजकर्मचारी अशोक के समय में शासन-कार्य का सम्पादन करते थे, और अशोक ने उनसे यह अतिरिक्त कार्य लिया था कि वे धर्मानुशासन के लिये भी प्रयत्न करें। अशोक के शासन में युक्तों, रज्जुकों और प्रादेशिकों का क्या स्थान था, इस पर हम अगले एक अध्याय में विचार करेंगे। पर प्रश्न यह है, कि क्या अशोक ने 'धर्मयुक्त' संज्ञक ऐसे कर्मचारियों की भी नियुक्ति की थी, जो धर्ममहामात्रों के समान धर्मविजय के सम्पादन के लिये ही व्यापृत रहते थे। यह कल्पना असम्भव नहीं है। जिस रूप में चतुर्दश शिलालेखों के बारहवें लेख में 'धर्मयुक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह एक विशिष्ट प्रकार के राजकर्मचारी को ही सूचित करता है। पर देहली-टोपरा स्तम्भ पर उत्कीर्ण सातवें लेख में भी धंमयुत (धर्मयुक्त) शब्द आया है, जो इस प्रकार है—"लजूकापि वहुकेषु पानसहसेसु आयता ते अपि से आनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाथ जनं धंमयुतम्"[3] (रज्जुका अपि वहुषु प्राणशत सहस्रेषु आयताः ते अपि आज्ञप्ताः—एवं च एवं च पर्यविदशत जन धर्मयुक्तम्)। इसका अर्थ यह है—'रज्जुक भी बहुत से लाखों प्राणियों (मनुष्यों) पर नियुक्त हैं। उन्हें यह भी आज्ञा दी गई है—धर्मयुक्त जन को इस प्रकार से मार्ग प्रदर्शन करो।' यहाँ 'धर्मयुक्त' का प्रयोग किन्हीं विशेष प्रकार के राजकर्मचारियों के लिये हुआ प्रतीत नहीं होता। इससे धर्मयुक्त या धर्मानुरागी जन ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। यह विषय अभी असंदिग्ध ही है, कि धर्ममहामात्रों के समान धर्मयुक्त संज्ञक राजकर्मचारी भी अशोक द्वारा नियुक्त किये गये थे या नहीं, पर यह सर्वथा सुनिश्चित है कि प्रादेशिक,

---

१. कौटलीय अर्थशास्त्र २।९

२. चतुर्दश शिलालेख—तीसरा लेख।

३. देहली—टोपरा स्तम्भ लेख—सातवाँ लेख।

रज्जुक, युक्त और अन्य पुरुषों (राजपुरुषों) को अशोक द्वारा यह आदेश अवश्य दिया गया था कि वे भी धर्मविजय के कार्य में सक्रिय रूप से हाथ वटाएं।

राजा अशोक ने अपने राज्य में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया था, कि न केवल धर्ममहामात्र, स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र और व्रजभूमिक (जो विशेष रूप से धर्म विजय के लिये ही नियुक्त किये गये थे) ही धर्म विजय के लिये व्यापृत रहते थे, अपितु अन्य महामात्रों (महामात्यों) और साधारण राजकर्मचारियों से भी यह आशा की जाती थी, कि वे सब भी अपने अन्य कार्यों के साथ-साथ धर्मविजय के कार्य में भी सहयोग प्रदान किया करें। अशोक के हृदय में धर्म विजय के लिये अपूर्व उत्साह था। इसीलिये उसने स्वयं अपने राज्य में स्थान-स्थान पर जाकर धर्म के सार (तत्त्व) का उपदेश किया। पर अशोक का उद्देश्य केवल उसके व्यक्तिगत प्रयत्न से पूर्ण नहीं हो सकता था। धर्ममहामात्रों सदृश राजकर्मचारी भी धर्मविजय जैसे महान् कार्य के लिये पर्याप्त नहीं थे। अतः अशोक ने यह नीति अपनायी कि केवल प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त ही नहीं अपितु सभी राजपुरुष धर्म विजय के कार्य में व्यापृत हो जाएँ। अपनी इस नीति को अशोक ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—'जो समय बीत चुका है उसमें जो राजा हुए उन्होंने भी यह इच्छा की कि किसी प्रकार लोगों कोधर्म की वृद्धि द्वारा उन्नत किया जाए। परन्तु लोग अनुरूप धर्मवृद्धि से उन्नत नहीं हो पाए। इस सम्वन्ध में देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—यह मेरे ध्यान में आया कि जो समय बीत चुका है उसमें जो राजा हुए उन्होंने भी यह इच्छा की कि किसी प्रकार लोगों को धर्मवृद्धि द्वारा उन्नत किया जाए। परन्तु लोग अनुरूप धर्मवृद्धि से उन्नत नहीं हो पाए। तब किस प्रकार लोग (धर्म का) अनुसरण करें? किस प्रकार लोग अनुरूप धर्मवृद्धि द्वारा उन्नति करें? किस प्रकार लोगों का धर्म-वृद्धि द्वारा अभ्युदय कराया जाए? इस सम्वन्ध में देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—यह मेरे ध्यान में आया कि धर्मश्रावणों (धार्मिक सन्देश या धर्मोपदेश) सुनवाऊँ और धर्मानुशस्ति (धर्मानुशासन) का पालन करवाऊँ। यह सुन कर लोग (धर्म का) अनुसरण करेंगे, अभ्युदय प्राप्त करेंगे और धर्मवृद्धि द्वारा अपनी उन्नति करेंगे। इस प्रयोजन से मेरे द्वारा धर्मश्रावण सुनाये गए, विविध प्रकार के धर्मानुशासन आज्ञप्त हुए, जिससे मेरे पुरुष जो बहुत जनों में नियुक्त हैं, उनको सर्वत्र दोहरायेंगे और उनका विस्तार करेंगे।[१]" अशोक ने इस वात को स्वीकार किया है कि पूर्ववर्त्ती राजाओं द्वारा भी धर्मवृद्धि के लिये प्रयत्न किया गया था। पर वे सफल नहीं हो सके थे। अशोक ने भी इसी के लिये प्रयत्न किया, और उसने इस प्रयोजन से जहाँ कतिपय पृथक् राजकर्मचारी (धर्म-महामात्र आदि) नियुक्त किये, वहाँ अपने शासन के अन्य राजकर्मचारियों (पुरुषों) को यह आदेश दिया कि वे सर्वत्र (जहाँ कहीं भी नियुक्त हो) अशोक के धर्म श्रावण (धर्म सन्देश) को दोहराते रहें, और उसका विस्तार करते रहें।

१. देहली–टोपरा स्तम्भ लेख–सातवां लेख।
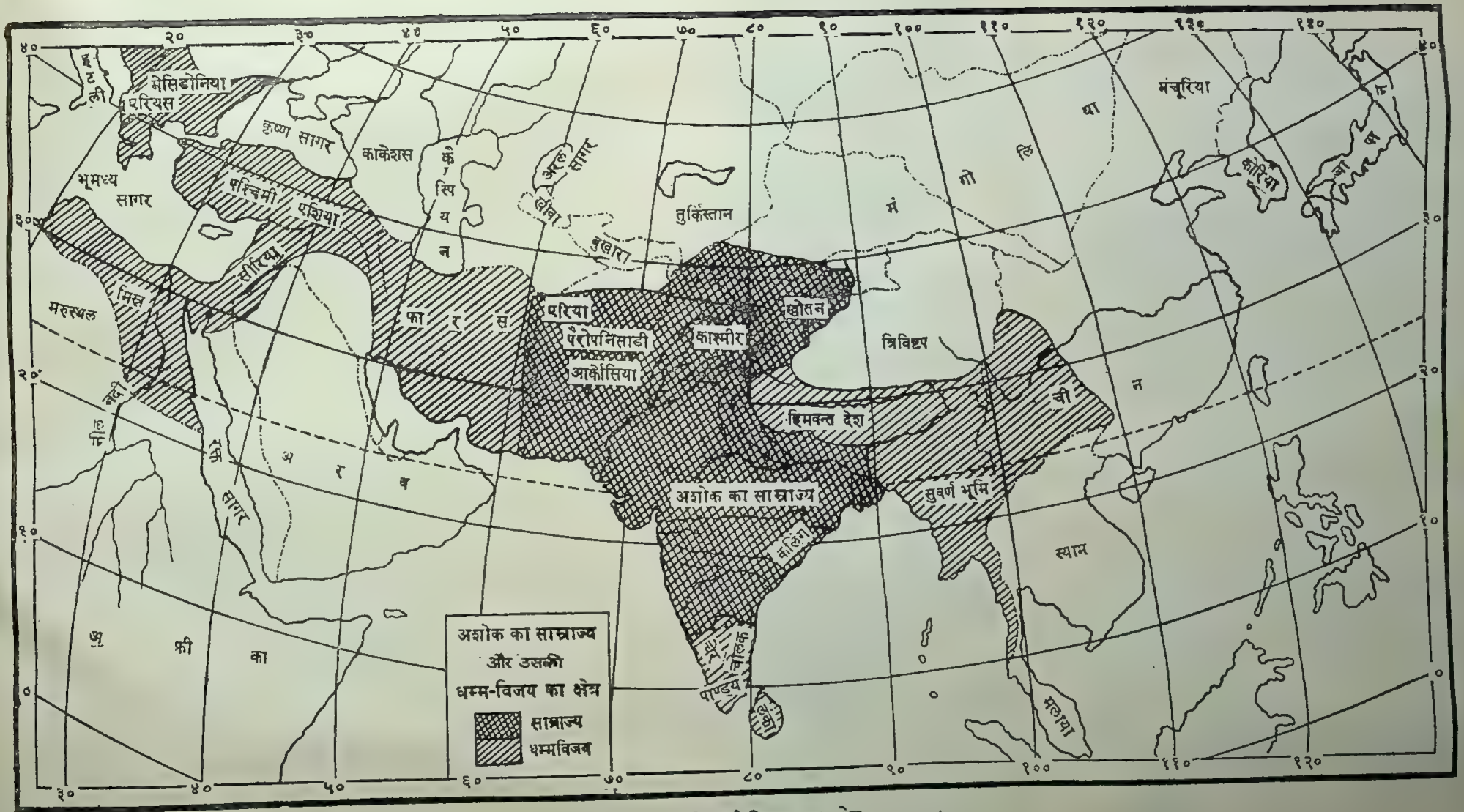
अशोक की धर्म-विजय का क्षेत्र

धर्मविजय की स्थापना के लिये अशोक ने एक अन्य साधन यह अपनाया, कि जनता की सुख-सुविधा के लिये अनेकविध व्यवस्थाएँ कीं। इनका उल्लेख अशोक ने इस प्रकार किया है—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—'मार्गों पर मेरे द्वारा न्यग्रोध (वट-वृक्ष) रोपे गये। वे मनुष्यों और पशुओं के लिये छाया प्रदान किया करेंगे। आम्रवाटिकाएँ भी लगवायी गईं। आधे-आधे कोस पर उदपान (जलाशय या कुएं) खुदवाये गये। निसिढ्य (निषद्य=आश्रय स्थान या सराय) बनवाये गये। जहाँ-तहाँ मेरे द्वारा बहुत-से आपान (प्याऊ) भी मनुष्यों और पशुओं के प्रतिभोग के लिये बैठाये गये। किन्तु ये उपयोगी कार्य लघु (न्यून) हैं। पूर्व काल के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुख पहुँचाने वाले कार्य किये और उनसे लोगों को सुखी भी किया। पर मैंने जो ये कार्य किये हैं, उनका प्रयोजन यह है कि (लोग) धर्मानुप्रतिपत्ति (धर्मानुशासन) का अनुपालन करें।[1]" जनता के हित और सुख के लिये अनेकविध कल्याणकारी कार्य पहले राजाओं द्वारा भी किये जाते थे और अशोक भी उन्हें सम्पन्न करता था। पर धर्मविजय की नीति को अपना लेने के अनन्तर अशोक ने छायादार वृक्ष लगवाने, कुएँ खुदवाने, सरायें बनवाने और पियाऊ बिठाने के जो लोकोपकारी कार्य विशेषरूप से करने प्रारम्भ किये, उन का एक विशेष उद्देश्य था। यह उद्देश्य था, लोगों को धर्माचरण में प्रवृत्त करना। अशोक ने अपनी रानियों, पुत्रों और अन्य पारिवारिक जनों को भी इस बात के लिये प्रेरित किया, कि वे दान, परोपकार आदि में प्रवृत्त हों, जिससे धर्मविजय के कार्य में सहायता मिले। इस सम्बन्ध में अशोक के ये वचन उल्लेखनीय हैं—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—ये (धर्ममहामात्र) और अन्य बहुत-से मुख्य (प्रधान राजकर्मचारी) दान-विसर्ग (दान-वितरण) के कार्य के लिये नियुक्त हैं, वे मेरे और देवी (प्रधान महिषी या पटरानी) के (दान-वितरण) में। वे मेरे सम्पूर्ण अवरोधन (अन्तःपुर) में बहुत प्रकार के और (प्रभूत) परिमाण में तुष्टिकारक कार्यों का सम्पादन करते हैं, यहाँ (पाटलिपुत्र में) और अन्य दिशाओं में (अन्य स्थानों पर)। अन्य रानियों द्वारा दान-वितरण के लिये भी (व्यवस्था) मुझ द्वारा की गई। अन्य देवी कुमारों (पटरानी की सन्तान) के दान-वितरण के लिये भी ये (धर्महामात्र और मुख्य) व्यापृत रहेंगे।[2]" अशोक अपनी प्रजा के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करना चाहता था। अतः उसने जहाँ अपनी ओर से अनेकविध दानपुण्य और लोकोपकारी कार्यों के सम्पादन की व्यवस्था की और उन्हें सम्पन्न करने का कार्य धर्ममहामात्रों तथा अन्य मुख्य राजकर्मचारियों के सुपुर्द किया, वहाँ साथ ही अपनी पटरानी, अन्य रानियों और राजकुमारों को भी इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे भी दान वितरण करें और इस कार्य को वे धर्ममहामात्रों तथा अन्य मुख्य राजकर्मचारियों द्वारा सम्पन्न करायें। अशोक की रानियों और कुमारों

---

१. **देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—सातवाँ लेख।**
२. **देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—सातवाँ लेख।**

ने किस प्रकार और किस मात्रा में दानोत्सर्ग (दान-वितरण) किया, इसे जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। पर यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है, कि अशोक के इन निकट सम्बन्धियों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया होगा जो अशोक ने उन्हें प्रदर्शित किया था। वे भी मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिये छायादार वृक्ष लगवाने, कुएँ खुदवाने, सरायें बनवाने और प्याऊ विठाने के लिये प्रवृत्त हुए होंगे। स्वयं और अपने निकट सम्बन्धियों द्वारा जो उदाहरण अशोक ने प्रस्तुत किया, उसका अनुकरण उस युग के अन्य धनीमानी लोगों द्वारा भी किया गया होगा, यह कल्पना भी असंगत नहीं है। अशोक की दूसरी रानी चारुवाकी के दान का उल्लेख प्रयाग-स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक लेख में किया भी गया है, जिसमें आम्रवाटिका, आराम (विश्रामगृह या सराय) और दानगह (दान-गृह या सदावर्त) का रानी द्वारा दान दिया जाना अंकित है।

धर्मविजय की नीति की सफलता के लिये अशोक ने यह व्यवस्था की, कि 'समाज' न किये जाएँ। अशोक को ये 'समाज' बहुत दोषपूर्ण प्रतीत होते थे, यद्यपि कतिपय समाज ऐसे भी थे जो उसकी सम्मति में साधु थे। चतुर्दश शिलालेखों के प्रथम लेख में अशोक ने इस प्रकार कहा है—"और न समाज किया जाए, क्योंकि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में वहुत-से दोष देखते हैं। ऐसे भी एक प्रकार के समाज हैं, जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की सम्मति में साधु हैं।"[1] 'समाज' का उल्लेख इस इतिहास में पहले भी हुआ है। कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं, कि मौर्य युग में समाज सामूहिक अमोद-प्रमोद के साधन थे। इस शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में उत्सव, विहार, प्रहवण और यात्रा के साथ में किया गया है, जो सब सामूहिक प्रमोद के साधन थे। डॉ० दत्तात्रेय रामकृष्ण भाण्डारकर ने महाभारत, हरिवंश पुराण और बौद्ध साहित्य से यह प्रतिपादित किया है, कि प्राचीन भारत में दो प्रकार के 'समाज' हुआ करते थे। एक प्रकार के समाजों में विशुद्ध रूप से मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद होता था, और दूसरे प्रकार के समाजों में मांस-मदिरा आदि का भी खुल कर सेवन किया जाता था। इन दूसरे प्रकार के समाजों को अशोक ने निषिद्ध कर दिया था। पर वह इस तथ्य को समझता था, कि जनता में सामूहिक रूप से मनोरञ्जन की प्रवृत्ति होती है। अतः उसने पहले प्रकार के समाजों को न केवल बन्द नहीं किया, अपितु उन्हें धर्मविजय के साधन के रूप में प्रयुक्त किया। अब उनमें ऐसे दृश्य प्रदर्शित किये जाने लगे, जिनसे दर्शकों की प्रवृत्ति धर्म की ओर हो। अशोक ने अपने एक लेख में इस सम्वन्ध में यह कहा है—"बहुत-से सैकड़ों वर्षों का काल वीत चुका। प्राणियों का वध, जीवों की हिंसा, ज्ञातिजनों के प्रति अनुचित व्यवहार और ब्राह्मणों तथा

---

१. 'नोपि च समाजे कटविये बहुका हि दोसा समाजसा. . .देवानं पिये पियदसी राजा देखति अथि पि चा एकातिया समाजा साधुमता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने। चतुर्दश शिलालेख (कालसी)—प्रथम लेख।

श्रमणों के प्रति अनुचित व्यवहार निरन्तर बढ़ते ही गये। परन्तु आज देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी-घोष (युद्ध के वाद्य के रूप में प्रयुक्त भेरीघोष) धर्मघोष हो गया है, विमान-दर्शन, हस्ति-दर्शन, अग्नि-स्कन्ध तथा अन्य दिव्य रूपों को प्रदर्शित कर।"[१] डा० भाण्डारकर ने विमान, हाथी और अग्निस्कन्ध का बुद्ध के जीवन की घटनाओं के साथ सम्बन्ध निरूपित किया है।[२] विमान देवताओं के रथ या वाहन को कहते हैं। विमानों के प्रदर्शन का प्रयोजन यह था कि जनता इन्हें देखकर देवत्व की प्रेरणा प्राप्त करे। हाथी का सम्बन्ध बुद्ध के जीवन से है। जब वे माता के गर्भ में थे, तो उनकी माता को स्वप्न आया था कि एक श्वेत हाथी उनके पेट में प्रवेश कर रहा है। हस्ति-दर्शन द्वारा बुद्ध के परोपकारी और लोकोत्तर जीवन के प्रति ही जनता का ध्यान आकृष्ट किया जाता था। अग्नि-स्कन्ध तेज और यश का प्रतीक है। अग्नि-स्कन्ध को प्रदर्शित कर जनता को तेजस्वी और यशस्वी बनने की प्रेरणा दी जाती थी। सम्भवतः, ये सब प्रदर्शन उन समाजों में ही किये जाते थे, जो अशोक की दृष्टि में साधु थे और जिन्हें उसने धर्मविजय का साधन बताया था। सर्वसाधारण जनता केवल उपदेशों से ही संतोष अनुभव नहीं करती। नाटक, प्रेक्षा, प्रदर्शन आदि का उस पर बहुत प्रभाव पड़ता है। विमान आदि प्रदर्शित करने का यही प्रयोजन था, कि उससे जहाँ लोगों का मनोरंजन हो, वहाँ साथ ही उनके हृदयों पर धर्म की शिक्षाएँ भी अंकित हों।

धर्मविजय को सम्पन्न कराने के लिये अशोक ने सड़कों के साथ-साथ छायादार वृक्ष लगवाये थे, कुएँ खुदवाये थे, प्याऊ बिठाये थे और सरायें बनवायी थीं——यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। इन सब का प्रयोजन मनुष्यों और पशुओं का सुख और हित था। इसी प्रयोजन से अशोक ने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की भी व्यवस्था करायी थी। उसने एक धर्मलिपि में यह सूचित किया है——देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने विजित (राज्य) में सर्वत्र और सीमान्त राज्यों में यथा चोड, पाण्डच, सातियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक यवन राजा (का राज्य), और उस अन्तियोक के जो पड़ौसी राजा हैं (उनके राज्यों में) सर्वत्र देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने दो (प्रकार की) चिकित्सा–मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा की (व्यवस्था की) है। मनुष्यों के लिये उपयोगी और पशुओं के लिये औषधियां भी जहाँ-जहाँ नहीं थीं, मँगवा कर सर्वत्र रोप दी दी गई हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ मूल और फल नहीं थे, मँगवाये गये और सर्वत्र रोपे गये। मार्गों पर पशुओं और मनुष्यों के उपयोग के लिये वृक्ष लगवाये गये हैं और कुएँ खुदवाये गये हैं।"[३] यह धर्मलिपि बहुत महत्त्व की है, इससे उन साधनों का स्पष्ट रूप से परिज्ञान हो

१. चतुर्दश शिलालेख——चतुर्थ लेख।

२. Bhandarkar: Ashoka pp 135-138

३. 'सवता विजतसि देवानां पियस पियदसिसा लाजिने ये च अंता अथा चोडा पंडिया सातियपुतो केतलपुतो तंबपंनि अंतयोग नाम योनहाजा ये चा अंते तसा अंतियोगसा

जाता है, जिन्हें अशोक ने धर्मविजय के लिये प्रयुक्त किया था। धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिये चिकित्सालय बहुत उपयोगी होते हैं। आधुनिक समय में जहाँ ईसाई धर्म-प्रचारक अपने साम्प्रदायिक प्रचार के लिये स्वदेश तथा विदेशों में चिकित्सालयों की स्थापना करते हैं, वहाँ रूस और अमेरिका सदृश शक्तिशाली राज्य भी अपनी-अपनी संस्कृति और विचारधाराओं के प्रचार के लिये इनका आश्रय लेते हैं। अशोक ने भी धर्मविजय की नीति की सफलता के लिये अपने राज्य में और पड़ोस के विदेशी राज्यों में मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय खुलवाये थे, और औषधियों तथा मूल-फलों के उत्पादन की भी व्यवस्था करायी थी। निस्सन्देह, ये साधन बहुत महत्त्व के थे।

धर्मविजय के लिये जिन विविध साधनों को अशोक ने अपनाया था, उनमें एक साधन 'धर्मयात्रा' भी थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में समाज और यात्रा का प्रायः साथ-साथ उल्लेख हुआ है,[१] क्योंकि ये दोनों ही सामूहिक मनोरञ्जन के साधन थे। विहार-यात्राओं में अन्य अनेकविध मनोरञ्जनों के अतिरिक्त शिकार भी खेला जाता था। अशोक ने विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्मयात्राएँ प्रारम्भ कीं। उसने लिखा है—"बहुत समय व्यतीत हुआ, जब देवानांप्रिय विहार-यात्रा के लिये निकलते थे। इनमें मृगया (शिकार) और इसी प्रकार के अन्य अभिराम (आमोद-प्रमोद) होते थे। किन्तु देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा को अभिषिक्त हुए (उनके राज्याभिषेक को हुए) जब दस वर्ष बीत गये, तब वह संबोधि (बोध प्राप्त करने का स्थान या बोध गया) गये। उससे धर्मयात्रा (की प्रथा प्रारम्भ हुई)। इसमें यह होता है—ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन और उनको दान, स्थविरों का दर्शन तथा उनके लिये हिरण्य (धन) का प्रतिविधान (व्यवस्था), जनपद के निवासी लोगों का दर्शन (साक्षात्कार), उन्हें धर्म का उपदेश और उनसे धर्म के सम्बन्ध में परि-पृच्छा। इससे देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है।"[२] विहार-यात्रा की जो प्रथा भारत के राजाओं में चिरकाल से चली आती थी अशोक ने उसका उपयोग भी धर्मविजय के लिये किया, और यात्राओं में शिकार तथा अन्य आमोद-प्रमोद के स्थान पर यह प्रथा प्रारम्भ की, कि ब्राह्मणों, श्रमणों और स्थविरों के दर्शन किये जाएँ, उन्हें दान दिया जाए, जनपद के निवासियों से भेंट की जाए, उन्हें धर्म का उपदेश दिया जाए और धर्म के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा को शान्त किया जाए। यह सही है, कि अशोक

सामंता लाजानो सवता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने दुवे चिकिसका कटा मनुसचिकिसा पसुचिकिसा चा ओसधीनि मनुसोपगानि चा पसोपगानि चा अतता तथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा एवमेवा मुलानि चा फलानि चा अतता तथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। मगेसु लुखानि लोपितानि उदुयानानि खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं।" चतुर्दश शिलालेख (कालसी)—दूसरा लेख

१. 'यात्रा समाजोत्सवप्रहवणानि।' कौ. अर्थ. २।२१

२. चतुर्दश शिलालेख (कालसी)—आठवाँ लेख

ने बौद्धधर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले पवित्र स्थानों का दर्शन तथा पूजा करने के लिये भी यात्रा की थी। इस यात्रा का उल्लेख जहाँ बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है, वहाँ साथ ही अशोक के उत्कीर्ण लेखों में भी इसके निर्देश विद्यमान हैं। पर ऊपर उद्धृत की गई धर्मलिपि में अशोक ने जिस धर्मयात्रा का उल्लेख किया है, उसका सम्बन्ध बौद्धधर्म से न होकर धर्म विजय के साथ है। इसीलिये उसमें श्रमणों और स्थविरों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के भी दर्शन किये जाते थे, और उन्हें भी दान द्वारा संतुष्ट किया जाता था। साथ ही, जानपद जन से भेंट कर उन्हें भी धर्म के तत्त्व के सम्बन्ध में बताया जाता था।

अशोक ने अपने 'धर्म' का प्रसार करते हुए जहाँ वाक्संयम, सब धर्मों और सम्प्रदायों के सम्मान, किसी सम्प्रदाय की अकारण निन्दा न करना, संयम, मृदुता आदि पर जोर दिया, वहाँ साथ ही अहिंसा के सिद्धान्त को क्रियान्वित करने के लिये भी अनेक पग उठाए। इस प्रयोजन से जो आदेश अशोक द्वारा दिये गये, उनमें से एक यह था कि धार्मिक प्रयोजन या हवन के लिये पशुओं की हत्या न की जाए। चतुर्दश शिलालेखों की प्रथम धर्मलिपि में अशोक ने यह कहा है—"यह धर्मलिपि देवानांप्रिय राजा द्वारा लिखवायी गई। यहाँ किसी पशु को मार कर हवन न किया जाए।"[1] भारत में धार्मिक प्रयोजन से पशुओं को बलि देने की प्रथा चिरकाल से चली आ रही थी। यज्ञमण्डप में यूप के साथ पशुओं को बाँध कर उनका वध किया जाता था, और फिर अग्निकुण्ड में उनकी आहुति दे दी जाती थी। महात्मा बुद्ध और वर्धमान महावीर जैसे सुधारकों के प्रयत्न से पशुयाग की प्रथा में कमी अवश्य आ गई थी, पर उसका सर्वथा अन्त नहीं हुआ था। अशोक ने अपनी धर्मविजय के लिये यह आवश्यक समझा, कि हवन या बलि के लिये पशुओं की हत्या का निषेध किया जाए।

पर पशुहिंसा का प्रयोजन केवल यज्ञ या धार्मिक अनुष्ठान ही नहीं होते थे। भोज्य सामग्री की प्राप्ति के लिये भी प्राचीन काल में पशुओं का वध किया जाता था। अशोक को यह भी पसन्द नहीं था। दूसरों के सम्मुख आदर्श या उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये उसने अपने या राजकीय महानस में जो पशुवध होता था उसमें कमी की, और फिर जनता को यह आदेश दिया कि वे विशेष-विशेष अवसरों पर पशुओं का वध न किया करें। इस सम्बन्ध में अशोक की ये धर्मलिपियाँ उल्लेखनीय हैं—"पहले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के महानस में सूप (शोरबा या रसेदार मांस) के लिये प्रतिदिन अनेक शत सहस्र (लाख) पशु मारे जाते थे, पर जब यह धर्मलिपि लिखवायी गई, तब केवल तीन ही प्राणी मारे जाते हैं, दो मयूर और एक मृग, और मृग भी निश्चित रूप से नहीं। (भविष्य में) ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जायेंगे।[2]" राजा अशोक या उसके अन्तःपुर की पाकशाला के लिये

---

१. **'इयं धंमलिपि देवानंपियेना पियदसिना लेखिता हिदो नो किछि जिवे आलभितु पजोहितविये।' चतुर्दश शिलालेख (कालसी)—प्रथम लेख।**

२. **चतुर्दश शिलालेख—प्रथम लेख।**

प्रतिदिन लाखों प्राणी मारे जाते रहे हों, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः, यहाँ अशोक ने अतिशयोक्ति से काम लिया है। हाँ, यह सम्भव है कि सेना के लिये प्रतिदिन लाखों प्राणी मारे जाते हों। पुराणों और महाभारत में राजा रन्तिदेव की कथा आती है, जिसके अनुसार इस राजा की पाकशाला में इतने पशु मारे जाते थे कि उनके रक्त से चर्मण्यवती नदी का जल लाल हो जाता था। सम्भव है, कि पहले मौर्य सम्राट् की पाकशाला के लिये भी पशुओं का बहुत बड़ी संख्या में वध हुआ करता हो, और धर्म की ओर प्रवृत्ति हो जाने पर अशोक ने इस पशुवध को रोक दिया हो। अहिंसा के विषय में स्वयं आदर्श उपस्थित कर अशोक ने अपनी प्रजा को पहले यह आदेश दिया, कि उन प्राणियों की हिंसा न की जाए जो न खाये जाते हैं और न किसी अन्य उपयोग में आते हैं। इस सम्बन्ध में अशोक ने यह धर्मलिपि उत्कीर्ण करायी थी––"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा–– 'मेरे राज्याभिषेक को हुए जब छब्बीस वर्ष व्यतीत हो चुके, तो मैंने इन प्राणियों को अवध्य (घोषित) किया। ये प्राणी हैं, शुक, सारिका, अरुण (लाली), चक्रवाक् (चकई), हंस, नान्दीमुख (एक प्रकार की मैना), गेलाट, जतुक (चमगादड़), अम्बाकपीलिका (चींटी), दुडि (कछुई), बिना हड्डी की मछली, वेदवेयक (?), गंगा-कुक्कुट, संकुजमत्स्य, कमठ (कछुआ), शल्य (साही), पर्णशश, सृमर (बारहसिंगा), षण्डक (सांड), ओकपण्ड (गोधा), पृषत (मृग विशेष), श्वेत कपोत, ग्रामकपोत और वे सब चौपाये जो न किसी उपयोग में आते हैं और न खाये जाते हैं।[१]" इस धर्मलिपि में शुक, सारिका, हंस, चक्रवाक आदि जिन पक्षियों और पर्णशश, षण्डक आदि जिन चौपायों के वध का अशोक ने निषेध किया है, प्राचीन भारत में उन्हें खाने के प्रयोग में नहीं लाया जाता था और न उनका कोई अन्य ही ऐसा उपयोग था जिसके लिये उनका वध आवश्यक हो। शिकारी लोग केवल शौक के लिये ही उनका वध किया करते थे। अतः अशोक ने यह उपयोगी समझा, कि इस अनावश्यक और व्यर्थ हिंसा को रोक दिया जाए।

पर बहुत-से ऐसे पशु-पक्षियों का भी वध किया जाता था, जो भोजन के काम में आते थे। अशोक ने इनका वध सर्वथा निषिद्ध तो नहीं किया, पर उसे मर्यादित करने या उसमें कमी करने का प्रयत्न अवश्य किया। इस प्रयोजन से उसने यह आदेश जारी किया था–– "गाभिन और दूध देती हुई भेड़, बकरी और शूकरी (सुअरी) अवध्य (घोषित) की गई। इनके बच्चे भी जिनकी आयु छः मास से कम हो। कुक्कुट को बधिया नहीं करना चाहिये। जिस भूसी में जीव हों, उसे नहीं जलाना चाहिये। अनर्थ करने के लिये और प्राणियों की हिंसा के लिये जंगल को नहीं जलाना चाहिये। जीव से जीव का पोषण नहीं करना चाहिये। तीन चौमासों में तिष्य पूर्णमासी को तीन दिन–चतुर्दशी, पञ्चदशी और प्रतिपदा को और उपवास के दिन निश्चित रूप से मछलियाँ नहीं मारनी चाहियें और न बेचनी चाहियें। इन

---

१. **देहली–टोपरा स्तम्भ लेख––पाँचवाँ लेख**

सब दिनों में नागवनों में तथा जलाशयों में जो भी जीव निकाय (प्राणी) हों, उन्हें नहीं मारना चाहिये।[1]" भेड़, वकरी, सुअर आदि का मांस प्राचीन भारत में भोजन के लिये प्रयुक्त किया जाता था। अतः अशोक ने इन तथा इस प्रकार के अन्य प्राणियों की हत्या का सर्वथा निषेध न कर उसे केवल नियन्त्रित ही किया।

पशुओं को दागने की प्रथा भी प्राचीन भारत में प्रचलित थी। इससे पशुओं को कष्ट उठाना पड़ता था। अशोक इस प्रथा के भी विरुद्ध था। पर उसने इसका भी सर्वथा निषेध नहीं किया, अपितु इसे अनेक प्रकार से नियन्त्रित किया—"प्रत्येक पक्ष (पखवाड़े) की अष्टमी, चतुर्दशी, पञ्चदशी (पूर्णिमा और अमावास्या), तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों के दिन और तीनों चौमासों के सुदिवसों (पवित्र दिनों या त्यौहार के दिनों) में गौ (गौ और बल) को नहीं दागना चाहिये। बकरा, भेड़ा, सुअर और इसी तरह के जो अन्य पशु दागे जाते हैं, उन्हें भी नहीं दागना चाहिये। तिष्य व पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और गौ (बैल) को नहीं दागना चाहिये।[2]"

अशोक ने पशुहिंसा को नियन्त्रित करने के लिये तीन प्रकार की व्यवस्थाएँ की थीं, कतिपय पशु-पक्षियों के वध को सर्वथा रोक दिया गया था, कतिपय प्राणियों का वध विशेष अवस्थाओं (जैसे उनका गाभिन होना) में रोका गया था, विशिष्ट पर्वों व दिनों में अनेकविध प्राणियों का वध निषिद्ध किया गया था, और पशुओं के दागे जाने में भी रोक लगायी गयी थी। कतिपय पशु-पक्षियों की हिंसा को रोकना भारत की प्राचीन परम्परा के अनुकूल था। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी ऐसे जन्तुओं की सूची दी गई है, जिनकी हिंसाबाधा से रक्षा की जानी चाहिये। ये जन्तु निम्नलिखित हैं—समुद्री हाथी, समुद्री घोड़ा, पुरुष वृष (बैल) और गधे की आकृति की मछलियाँ, नदी तटाक और नहरों में रहनेवाले सारस, क्रौञ्च (चकवा), उत्क्रोशक, दात्यूह, हंस, चक्रवाक, जीवज्जीवक, भृङ्गराज, चकोर, मत्तकोकिल, मयूर, शुक, मदनसारिका (मैना) विहार-पक्षी (जो पक्षी मनोविनोद के काम में आयें), और अन्य सब मङ्गल्य (शुभ) पशु और पक्षी।[3] इस सूची में बहुत-से ऐसे पशु-पक्षी भी हैं, जिनके वध का निषेध अशोक ने भी अपनी धर्मलिपि द्वारा किया है। इसी प्रकार कौटलीय अर्थशास्त्र में वत्स (बछड़े), वृष (बैल) और धेनु (गाय) को भी अवध्य प्रतिपादित किया गया है।[4] अशोक ने धर्म विजय की नीति को क्रियान्वित करते हुए पशु वध को जिस रूप में नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया था, उसे बौद्ध धर्म का प्रभाव नहीं माना जा सकता। अशोक के पशुवध-सम्बन्धी ये आदेश प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप थे। कौटल्य

---

१. देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—पाँचवाँ लेख

२. देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—पाँचवाँ लेख

३. कौटलीय अर्थशास्त्र २।२६

४. "वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः।" कौ. अर्थ. २।२६

बौद्ध नहीं थे, और न उनके अर्थशास्त्र पर बौद्ध धर्म का प्रभाव है। उसमें भी पशुवध को नियन्त्रित किया गया है, और अशोक के ये आदेश ऐसे नहीं थे जिनसे किसी भी सम्प्रदाय के लोगों को शिकायत का अवसर हो सके। पशु-पक्षियों के हित और सुख के लिये अशोक ने केवल व्यर्थ व अनावश्यक हिंसा का ही निषेध नहीं किया, अपितु उनके कल्याण के लिये नानाविध उपायों की भी व्यवस्था की। ये उपाय उनकी चिकित्सा के प्रबन्ध, उनके लिये जल और छाया की उपलब्धि आदि के रूप में थे।

अशोक ने संतोष के साथ लिखा है, कि "द्विपदों (मनुष्यों), चतुष्पदों (चौपायों), पक्षियों और वारिचरों (जल में रहनेवाले जन्तुओं) के प्रति मेरे द्वारा विविध प्रकार के अनुग्रह किये गये, आप्राणदाक्षिण्य (प्राणरक्षा या जीवन के विषय में अभयदान) तक, और अन्य भी बहुत-से कल्याण किये गये।[१]" यह सही है, कि अशोक पशुहिंसा का विरोधी था। उसने अपनी धर्मलिपियों में बार-बार जीवों की रक्षा और प्राणियों की अहिंसा का प्रतिपादन किया है, और उन्हें 'धर्म' का आवश्यक अंग माना है। पर राजा की स्थिति में उसने पशुवध का सर्वथा निषेध न कर उसे केवल नियन्त्रित करने का ही प्रयत्न किया, और वह भी प्रायः उसी ढंग से जैसे कि कौटलीय अर्थशास्त्र में भी प्रतिपादित है।

धर्म-विजय की अपनी नीति की सफलता पर अशोक संतोष अनुभव करता था। एक धर्मलिपि में अपने संतोष को उसने इस प्रकार प्रगट किया है—'देवानांप्रिय के अनुसार धर्मविजय ही (वास्तविक) विजय है। और यह (धर्मविजय) देवानांप्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) पुनः प्राप्त की है, और सभी सीमान्तों में छः सौ योजनों तक, जहाँ अन्तियोक नामक यवनराज (है) तथा उस अन्तियोक से भी परे जो चार राजा हैं, यथा तुरुमाय, अंतेकिन, मक तथा अलिकसुन्दर नाम के यवनराज तथा नीचे (दक्षिण में) चोल, पाण्ड्य और ताम्रपर्णी में। ऐसे ही इधर अपने राज्य के क्षेत्र में विषवृज्जियों, यवन-कम्बोजों, नाभकों, नाभपंक्तियों, भोज-पितनिकों में, आन्ध्रपुलिन्दों में सर्वत्र (लोग) देवताओं के प्रिय की धर्मानुशस्ति (धर्मानुशासन) का अनुसरण करते हैं। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी पहुँचते हैं, वे (वहाँ के लोग) भी देवताओं के प्रिय की धर्मोक्ति, (धर्म) विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का अनुसरण करते हैं और करते रहेंगे। इससे जो प्राप्त होता है, वह है सर्वत्र विजय जो प्रीतिरस (रूप) है, (इससे) जो प्राप्त होता है वह है प्रीति। धर्मविजय से प्रीति की प्राप्ति होती है। यह प्रीति चाहे लघु भी क्यों न हो, पर देवानांप्रिय इसे पारलौकिक महाफल के लिये अत्यन्त महान् समझते हैं।[२]" अशोक को इस बात का संतोष था, कि उस द्वारा न केवल अपने राज्य में अपितु सीमान्त के सुदूरवर्ती राज्यों में भी धर्मविजय प्राप्त की गई थी और यह विजय उसके हृदय में प्रीतिरस को उत्पन्न करती थी।

---

१. "दुपद चतुपदेसु पखिवालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आपानदाखिवाये अंनानि च मे बहूनि कयानानि कटानि।' देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—दूसरा लेख।

२. चतुर्दश शिलालेख—तेरहवाँ लेख।

अशोक चाहता था कि उसके पुत्र, प्रपौत्र और वंशज उसी की नीति का अनुसरण करें और शस्त्र-विजय के बजाय धर्मविजय के लिये प्रयत्नशील रहें। उसने धर्मलिपियाँ भी इसी प्रयोजन से प्रस्तर शिलाओं और स्तम्भों पर उत्कीर्ण करायी थीं, ताकि उसका धर्म-सन्देश स्थायी रहे। "इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवायी गई, जिससे मेरे पौत्र और प्रपौत्र इसका पालन करें और जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं यह स्थिर रहे।[1]" "इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवायी गई कि यह चिरस्थायी हो सके और मेरे पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र सर्वलोकहित के लिये इसका अनुसरण करें[2]।"

(३) धर्मविजय का क्षेत्र

राजा अशोक ने धर्मविजय की नीति को अपनाकर जिन क्षेत्रों को धर्म द्वारा विजय किया था, उत्कीर्ण लेखों द्वारा उनके विषय में भी परिचय मिलता है। पिछले प्रकरण में हमने चतुर्दश शिलालेखों के तेरहवें लेख से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनसे अशोक की धर्म-विजय के क्षेत्र का सही-सही परिचय प्राप्त हो जाता है। मौर्यों के अपने विजित (राज्य) में तो यह धर्म-विजय स्थापित की ही गई थी। जो प्रदेश अशोक ने अपने पिता बिन्दुसार से उत्तराधिकार में प्राप्त किये थे, वे और कलिङ्ग अशोक के 'विजित' या 'इह-राजविषय' (यहाँ का राजकीय क्षेत्र) थे। इस सुविशाल साम्राज्य में भी कतिपय ऐसे प्रदेश थे, जो सम्भवतः अशोक के सीधे शासन में नहीं थे, और जिन्हें आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। नाभक, नाभपंक्ति, यवन-काम्बोज, विष-वृज्जि आदि सम्भवतः इसी प्रकार के प्रदेश या जनपद थे। अशोक ने 'इहराजविषय' में इनका पृथक् रूप से उल्लेख किया है। मौर्यों के 'विजित' के दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्य थे, जो स्वतन्त्र स्थिति रखते थे। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर अन्तियोक नामक यवनराज का शक्तिशाली साम्राज्य था, और उससे भी परे तुरुमाय, अंतकिनि, मक तथा अलिकसुन्दर नामक यवन राजाओं का शासन था। इन राजाओं के शासन में कौन-कौन से प्रदेश थे, इसका निरूपण पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। अशोक ने इन सबमें भी अपनी ओर से धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की थी, जिनकी संज्ञा अन्त-महामात्र थी। सप्त स्तम्भ-लेखों के प्रथम लेख में अन्तमहामात्रों का उल्लेख है। क्योंकि ये महामात्र सीमान्त-राज्यों में नियुक्त किये गये थे, इसीलिये इन्हें 'अन्तमहामात्र' कहा जाता था[3]। एक धर्मलिपि में इन्हें ही सम्भवतः 'दूत' कहा गया है[4], क्योंकि विदेशों में कार्य करने के कारण इनकी स्थिति दूतों के ही समान थी। अशोक द्वारा नियुक्त इन अन्तमहामात्रों ने

---

१. देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—सातवाँ लेख।
२. चतुर्दश शिलालेख (गिरनार)—छठा लेख।
३. देहली–टोपरा स्तम्भ लेख—पहला लेख।
४. चतुर्दश शिलालेख—तेरहवाँ लेख।

सीमावर्ती राज्यों में धर्म-विजय की स्थापना के लिये वे सब लोकोपकारी कार्य (चिकित्सालय खुलवाना और छायादार वृक्ष लगवाना आदि) सम्पन्न कराये थे, जो मौर्यों के राज्य में धर्ममहामात्रों द्वारा कराये जाते थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक की धर्म-विजय का क्षेत्र बहुत व्यापक था। सम्पूर्ण भारतवर्ष उसके अन्तर्गत था। भारत के जो प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं भी थे, वे सब भी अशोक के धर्म-साम्राज्य में सम्मिलित थे। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के परे के सब यवन राजाओं के शासन-क्षेत्र (जिनमें ईरान, सीरिया, तुर्की, मैसीडोन और मिस्र भी अन्तर्गत थे) इस धर्म साम्राज्य के अंग थे। मध्य एशिया के कुछ प्रदेश भी इसमें सम्मिलित थे। इस विशाल क्षेत्र में भारतीय संस्कृति और धर्म का जो प्रसार हुआ, उसका श्रेय अशोक की धर्मविजय की नीति को भी अवश्य दिया जाना चाहिये। हमें ज्ञात है, कि प्राचीन काल में बृहत्तर भारत का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक था। इसका विकास प्रधानतया तीसरी सदी ई० पू० के बाद के काल में ही हुआ था। वस्तुतः, अशोक द्वारा धर्म-विजय के लिये जो प्रयत्न प्रारम्भ किया गया था, उसी के परिणामस्वरूप बाद में भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य या बृहत्तर भारत का विकास हुआ।

अठारहवाँ अध्याय

राजा अशोक और बौद्ध धर्म

(१) बौद्ध धर्म की दीक्षा

बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसी के प्रयत्न और संरक्षण के कारण महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग का सुदूरवर्ती देशों में प्रचार हुआ, और वह एक विश्वव्यापी धर्म बन गया। इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में अशोक-विषयक बहुत-सी कथाएँ पायी जाती हैं। इन कथाओं के अनुसार पहले अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। इसी कारण वह बहुत अत्याचारी तथा क्रूर था। उसने अपने भाइयों को मार कर राजसिंहासन प्राप्त किया और जनता के प्रति नृशंस बरताव किया। पर बाद में बौद्ध आचार्यों के सम्पर्क के कारण उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आने लगा, और समयान्तर में बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर वह एक आदर्श और दयालु राजा बन गया।

सबसे पूर्व हम महावंसों की कथा को यहाँ उद्धृत करते हैं—जब अशोक ने अपने बड़े भाई सुमन को मारकर राजसिंहासन प्राप्त किया, तब सुमन की पत्नी गर्भवती थी। यह स्त्री अशोक की क्रोधाग्नि से बचकर निकल गई और पाटलिपुत्र के पूर्वी द्वार से बाहर जाकर एक चण्डाल ग्राम में जा पहुँची। चण्डाल ग्राम के मुखिया को इस पर दया आ गई, और इसे उसने अपने पास आश्रय प्रदान कर दिया। जिस दिन यह चण्डाल ग्राम में पहुँची, वहाँ के निग्रोध देवता की कृपा से इसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। क्योंकि यह पुत्र निग्रोध देवता के अनुग्रह से हुआ था, अतः इसका नाम भी 'निग्रोध' रखा गया। ग्राम का मुखिया जेट्ठ चण्डाल सात वर्ष तक निरन्तर निग्रोध और उसकी माता की भली-भाँति सेवा करता रहा। निग्रोध जन्म से ही अत्यन्त गम्भीर था, और उसमें साधु के सब लक्षण विद्यमान थे। जब स्थविर महावरुण ने उसे देखा, तो वह जान गया कि यह बालक गुण सम्पन्न है। उसने निग्रोध की माता से पूछ कर उसे प्रव्रज्या प्रदान कर दी, और वह नियमपूर्वक भिक्षु बन गया। एक बार निग्रोध पाटलिपुत्र गया। उसने दक्षिण-द्वार से पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। जब वह राजप्रासाद के पास से जा रहा था, तो राजा का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। निग्रोध के गम्भीर और सन्तों के अनुरूप मुखमण्डल ने उसे अपनी ओर खींच लिया। अशोक ने उसे बुलाकर कहा—तात ! तुम अपने अनुरूप आसन पर विराज जाओ। यह सुनकर निग्रोध ने राजसिंहासन की ओर पग बढ़ाया। यह देखकर अशोक समझ गया कि आज जो यह भिक्षु है, अवश्य ही गृह का स्वामी बनेगा। उसने हाथ पकड़ कर उसे स्वयं राजपल्लङ्क (राजसिंहासन) पर बिठा दिया। इस प्रकार भिक्षु के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर अशोक

ने उसका भोजन आदि से सत्कार किया, और जो भोजन अपने लिये तैयार कराया था वही उसे भी खाने के लिये दिया। भोजन आदि से निवृत्त हो चुकने के अनन्तर अशोक ने भिक्षु निग्रोध से 'सम्बुद्धभासित धम्म' (बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म) के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर सामणेर (भिक्षु) ने अप्पमादवग्ग का उपदेश दिया, जिसे सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी 'जिनसासन' (बौद्ध धर्म) में श्रद्धा हो गई। इसके पश्चात् उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली, और संघ को बहुत दानपुण्य किया। साठ हजार भिक्षु भोजन के लिये निमन्त्रित किये गये।[1]

चीनी यात्री ह्यएन्त्सांग ने भी अशोक के बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के सम्बन्ध में एक कथा लिखी है, जो निश्चय ही उसे अपनी भारत-यात्रा में ज्ञात हुई होगी। यह कथा इस प्रकार है—

जब राजा अशोक राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तब प्रारम्भ में वह अत्यन्त क्रूर व स्वेच्छाचारी शासक था। जीवित प्राणियों को अनेक प्रकार से कष्ट प्रदान करने के लिये ही उसने एक नरक गृह का निर्माण कराया था। इसके चारों ओर ऊँची दीवारें थीं, जिन पर विशाल बुर्ज बने हुए थे। इसके भीतर मनुष्यों को पीड़ा देने के लिये नानाविध साधन जुटाये गये थे। पिघली हुई गरम धातु से पूर्ण तीन विशाल भट्ठियाँ बनायी गई थीं, दराँतियाँ रखी गई थीं, और यातना देने के वे सब अन्य उपकरण जुटाये गये थे जो नरक में हुआ करते हैं। इस प्रकार नरक-गृह को तैयार कराके अशोक ने एक क्रूर व्यक्ति को चुना और उसे इस नरक का अध्यक्ष नियुक्त किया। साम्राज्य में जो कोई भी अपराधी होता था, चाहे उसका अपराध कोई भी क्यों न हो, इस नरक-गृह में भेज दिया जाता था। यहाँ उसे सब प्रकार के कष्ट देकर मार दिया जाता था। बाद में यह हुआ, कि जो कोई भी इस स्थान के समीप से होकर गुजरता था, उसे पकड़ लिया जाने लगा और विविध प्रकार के कष्ट देकर घात किया जाने लगा। जो कोई भी वहाँ आते थे, मार दिये जाते थे। आत्म-रक्षा का कोई भी अवसर उन्हें नहीं मिलता था।

इस समय एक श्रमण, संघ का सदस्य हुए जिसे अधिक समय नहीं हुआ था, उपनगरों में भोजन की भिक्षा माँगता हुआ फिर रहा था। इस प्रकार विचरण करते हुए वह नरक-गृह के द्वार पर आ पहुँचा। नरक-गृह के अपवित्र अध्यक्ष ने उसे भी इस प्रयोजन से पकड़ लिया, ताकि उसका भी घात कर दिया जाए। श्रमण भयभीत हो गया और उसने पूजा तथा उपासना के लिये कुछ समय की मोहलत माँगी। इसी बीच में उसने देखा कि एक मनुष्य को रस्सियों से बाँध कर उस बन्धनागार में लाया गया है। क्षण भर में उसके हाथ-पैर काट डाले गये और उसके शरीर को इस बुरी तरह से कुचल दिया गया कि उसके शरीर के सब अंग एक दूसरे में मिल-जुल गये।

---

१. महावंसो ५।४१–७२

श्रमण ने इस भयंकर दृश्य को देखा, जिससे उसका हृदय दया से परिपूर्ण हो गया। उसे निश्चय हो गया कि सब सांसारिक पदार्थ अनित्य हैं। यह अनुभव कर लेने पर उसने अर्हत पद प्राप्त कर लिया। तब नरक-गृह के अध्यक्ष ने उससे कहा—'अब तुम मरने के लिये तैयार हो जाओ।' श्रमण अर्हत पद को प्राप्त कर चुका था, जन्म-मरण के बन्धन से वह मुक्त हो चुका था। अतः यद्यपि उसे खौलते हुए कड़ाहे में डाला गया, पर वह उसे शीतल जलाशय के समान प्रतीत हुआ। खौलते कढ़ाये के तल पर एक कमल दिखायी दिया, जिस पर वह श्रमण विराजमान था। इस दृश्य को देखकर नरकगृह का अध्यक्ष आतंकित हो गया, और राजा को इस विचित्र घटना की सूचना देने के लिये उसने एक दूत को भेजा। राजा ने स्वयं वहाँ आकर इस विचित्र दृश्य को देखा। उसने उच्च स्वर से इस चमत्कार की प्रशंसा की।

नरक-गृह के अध्यक्ष ने राजा को सम्बोधन करके कहा—"महाराज! आप भी मरने के लिये तैयार हो जाइये।" राजा ने पूछा—"यह किस लिये?" "क्योंकि मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में आपने जो पहली आज्ञा दी थी, वह यह थी कि जो कोई भी नरक-गृह की दीवारों के समीप आये, उसे मार डाला जाए। तब आपने यह नहीं कहा था कि यदि राजा यहाँ आये, तो उसे नरक-गृह में प्रविष्ट होने दिया जाए और उसे न मारा जाए।"

इस पर राजा ने कहा—"वस्तुतः ही यह आज्ञा दी गई थी और उसे अब परिवर्तित नहीं किया जा सकता। परन्तु जब आज्ञा दी गई थी, तो क्या तुम्हें उसका अपवाद रखा गया था? तुमने चिरकाल तक प्राणियों का विनाश कर लिया है, अब मैं इसका अन्त कर दूंगा।" यह कह कर राजा ने सेवकों को आज्ञा दी। उन्होंने नरक-गृह के अध्यक्ष को पकड़ कर खौलते हुए कड़ाहे में डाल दिया। उसकी मृत्यु के पश्चात् राजा वापस लौट गया। उसकी आज्ञा से नरक-गृह की दीवारें भूमिसात् कर दी गईं, उसकी खाइयों को भरवा दिया गया और नरक-गृह की क्रूर यातनाओं का अन्त कर दिया गया।

जब राजा अशोक नरक-गृह को नष्ट करवा चुका, तो उसकी उपगुप्त नामक एक महान् अर्हत से भेंट हुई। इस अर्हत ने उसे समुचित उपायों द्वारा सम्यक् मार्ग की ओर आकृष्ट किया और अवसर आने पर बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया। राजा ने अर्हत को सम्बोधन करके कहा—'पूर्व जन्मों में जो पुण्य मैंने सञ्चित किये थे, उनके कारण मैंने राज्याधिकार तो प्राप्त कर लिया है, पर अपने दोषों के परिणामस्वरूप बुद्ध से मिल कर उनका अनुयायी बनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये अब मेरी यह इच्छा है कि मैं स्तूपों का निर्माण कर बुद्ध के अवशेषों का सम्मान करूं।'[1]

महावंश के समान ह्यु एन-त्सांग का यह विवरण भी महत्त्व का है। किन परिस्थितियों में और किस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की, इस सम्बन्ध में इससे अनेक

१. Beal—Buddhist Records of the Western World. Vol. II pp 86-88

महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इससे सूचित होता है कि अशोक पहले बहुत क्रूर और अत्याचारी था। पर एक बौद्ध श्रमण के चमत्कार को देख कर उसका हृदय-परिवर्तन होने लगा, और आचार्य उपगुप्त के सम्पर्क में आकर उसने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया।

ह्यु एन्त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में उस स्थान का भी उल्लेख किया है, जहाँ अशोक ने नरक-गृह का निर्माण कराया था। पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि राजा के पुराने प्रासाद के उत्तर में एक प्रस्तर-स्तम्भ है जो दसों फीट ऊँचा है। यह उसी स्थान पर है, जहाँ राजा अशोक ने एक नरक गृह बनवाया था।[1] जिस समय ह्यु एन्त्सांग यात्रा करते हुए पाटलिपुत्र पहुँचा था, मगध की यह प्राचीन और वैभवशाली राजधानी खण्डहर हो चुकी थी। उसकी परिखा की केवल नींवें ही शेष बच रही थीं। संघाराम और स्तूप सब भग्न दशा में थे। पर वह प्रस्तर-स्तम्भ अब तक भी विद्यमान था, जो अशोक द्वारा निर्मित नरक-गृह के स्थान को सूचित करने के लिये स्थापित किया गया था। सम्भवतः, बौद्ध लोगों की दृष्टि में इस स्थान का बहुत अधिक महत्त्व था, जिसके कारण उसकी स्मृति को स्थिर रखने के लिये एक सुदृढ़ प्रस्तर-स्तम्भ की स्थापना की गई थी।

ह्यु एन्त्सांग ने अशोक द्वारा बनवाये हुए एक अन्य नरक-गृह का भी उल्लेख किया है, जिसे कि इस राजा ने उज्जैनी में निर्मित कराया था। ह्यु एन्त्सांग ने उज्जैनी का विवरण देते हुए लिखा है, कि नगर के समीप ही एक स्तूप विद्यमान है। यह उस स्थान पर है, जहाँ राजा अशोक ने एक नरक-गृह बनवाया था।[2] हमें ज्ञात है कि पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने से पूर्व अशोक उज्जैनी में शासक के रूप में कार्य कर चुका था। तब तक वह बौद्ध धर्म के प्रभाव में नहीं आया था। कोई आश्चर्य नहीं, कि बौद्ध कथाओं के अनुसार उसने उज्जैनी में भी एक नरक-गृह का निर्माण कराया हो। ह्यु एन्त्सांग ने इसी नरक-गृह के स्थान पर निर्मित स्तूप का उल्लेख किया है।

अशोक के बौद्धधर्म को स्वीकार करने के सम्बन्ध में दिव्यावदान की कथा भी ह्यु एन्-त्सांग के यात्रा-विवरण में उपलब्ध कथा के साथ मिलती-जुलती है। दिव्यावदान की कथा संक्षिप्त रूप से इस प्रकार है—

जब राजा अशोक ने राजसिंहासन प्राप्त किया, तो वह अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी था। एक बार उसके अमात्यों ने उसकी किसी आज्ञा का पालन नहीं किया। इस पर वह बहुत क्रुद्ध हो गया। क्रोध से भर कर उसने अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली, और अमात्यों के सिर धड़ से अलग कर दिये। एक अन्य दिन की बात है, अन्तःपुर की स्त्रियों ने, जो अशोक के कुरूप होने के कारण उसपर हँसा करती थीं, एक अशोक-वृक्ष के

---

१. Beal: Buddhist Records of the Western World. Vol. II p. 85
Ibid p. 271

पत्तों को तोड़ दिया। नाम साम्य के कारण अशोक को इस वृक्ष से बहुत प्रेम था। उसे बहुत क्रोध आया, और उसने उन पाँच सौ स्त्रियों को जीते जी आग में जला दिया।

जब अमात्यों ने देखा कि राजा इस प्रकार अत्याचार कर रहा है, तो उन्होंने उससे प्रार्थना की, कि आप अपने हाथों को इस प्रकार अपवित्र न कीजिये। अपराधियों को दण्ड देने के लिये क्यों न आप किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर दें! राजा ने यही किया। चण्डगिरिक नाम के एक व्यक्ति को इस कार्य के लिये नियुक्त कर दिया गया। चण्डगिरिक अत्यन्त क्रूर था, कोई अन्य क्रूरता में उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। प्राणियों को यातनाएँ देने में उसे अपार आनन्द आता था। उसने अपने माता-पिता का स्वयं अपने हाथों से वध किया था। इस भयंकर व्यक्ति को 'वध्य-घातक' के पद पर नियुक्त कर दिया गया। साथ ही, एक भयंकर बन्धनागार बनाया गया। इसका बाह्य रूप अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक और दर्शनीय था। लोग देखते ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाते थे, और सोचते थे कि अन्दर जाकर भी इसे देखना चाहिये। परन्तु अन्दर प्रवेश करते ही लोगों पर घोर सङ्कट आ पड़ते थे। राजा की आज्ञा थी कि जो कोई भी इस बन्धनागार में प्रविष्ट हो जाए, उसे जीवित न रहने दिया जाए। नानाविध यातनाएँ देकर उसकी हत्या कर दी जाए। इसी प्रयोजन से वहाँ अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ भी की गई थीं। इसी का यह परिणाम था कि जो कोई भी इस बन्धनागार में प्रविष्ट हो जाता, बचकर नहीं लौट पाता था।

एक बार की बात है कि बालपण्डित नाम का एक भिक्षु इस बन्धनागार में चला गया। अन्दर प्रविष्ट होते ही वध्य-घातक चण्डगिरिक ने उसे पकड़ लिया। भिक्षु को सात दिन की मोहलत दी गई। सातवाँ दिन समाप्त होते ही उसे एक धधकती हुई भट्ठी में डाल दिया गया। परन्तु भिक्षु को भट्ठी में डालकर चण्डगिरिक जब नीचे की ओर देखने लगा, तो उसे एक अत्यन्त आश्चर्यजनक दृश्य दिखायी दिया। बालपण्डित एक कमल पर बैठा हुआ था। चारों ओर ज्वालाएँ उठ रही थीं, पर उनसे भिक्षु का कुछ भी बिगड़ नहीं पा रहा था। इस चमत्कार की सूचना राजा को दी गई। वह देखने के लिये आया, और बालपण्डित की चामत्कारिक शक्ति को अपने आँखों से देखकर आश्चर्यचकित रह गया। भिक्षु ने उसे उपदेश दिया, जिसे सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ। उसके जीवन में इससे बहुत परिवर्तन आया, जिसके परिणामस्वरूप बन्धनागार को तोड़ दिया गया और वध्यघातक चण्डगिरिक को जीते जी अग्नि के अर्पित कर दिया गया।[१]

दिव्यावदान और ह्यु एन्त्सांग की कथाएँ प्रायः एक समान हैं। उनमें और महावंश की कथा में भी यह बात समान है कि अशोक ने राजसिंहासन प्राप्त करने के कुछ वर्ष पश्चात् एक बौद्ध भिक्षु के सम्पर्क से बुद्ध के अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग को अपनाया था। महावंश के अनुसार भी अशोक पहले क्रूर और अत्याचारी था, और उसने अपने ९९ भाइयों को मार

१. Cowell and Neil—Divyavadan pp. 373-76

कर राजगद्दी प्राप्त की थी। इन बौद्ध कथाओं में सत्यता का अंश कितना है, यह निर्णय कर सकना सुगम नहीं है। प्रायः ऐतिहासिक इनकी सत्यता में सन्देह करते हैं। उनका कथन है कि बौद्ध धर्म के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये ही बौद्ध लेखकों ने इन कथाओं को गढ़ लिया था। वुद्ध की शिक्षाओं की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करने का सीधा उपाय यही था, कि अशोक को एक क्रूर और अत्याचारी नर-राक्षस के रूप में प्रदर्शित कर फिर यह बताया जाए, कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से उसमें किताना महान् परिवर्तन आ गया। इन कथाओं में सचाई हो या नहीं, पर यह सर्वथा असंदिग्ध है कि बौद्ध लेखकों ने वहुत अतिशयोक्ति से कार्य लिया है। यह सम्भव है कि अशोक पहले एक क्रूर शासक रहा हो। अपने अनेक भाइयों का वध करके राजसिंहासन को प्राप्त करना ही उसकी मनोवृत्ति के परिचय के लिये पर्याप्त है। पर जिस ढंग के नरक-गृह और बन्धनागार का वर्णन बौद्ध कथाओं में किया गया है, उन्हें पूर्ण रूप से विश्वसनीय मान सकना सम्भव नहीं है।

राजा अशोक ने राज्याभिषेक के कुछ वर्ष पश्चात् ही बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, वौद्ध ग्रन्थों के अनुसार यह सर्वथा स्पष्ट है। पर राजसिंहासन प्राप्त करने के कितने वर्ष बाद अशोक बौद्धधर्म का अनुयायी हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में महावंश की कथा से जो निर्देश प्राप्त होते हैं, वे महत्त्व के हैं। अशोक भिक्षु निग्रोध से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ था। निग्रोध सुमन का पुत्र था, जो अशोक का भाई था। महावंश के अनुसार जब अशोक निग्रोध के सम्पर्क में आया, तो उसकी आयु केवल सात वर्ष की थी।[१] निग्रोध का जन्म तब हुआ था, जबकि अशोक ने उसके पिता सुमन का वध कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया था, और निग्रोध की माता भाग कर पाटलिपुत्र से बाहर चण्डाल ग्राम में चली गई थी। निग्रोध का जन्म चण्डाल ग्राम में ही हुआ था, और वह भी सुमन की मृत्यु के पश्चात्, इससे स्पष्ट है कि राज्य प्राप्त करने के लगभग आठ साल बाद अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी।

इस वात की पुष्टि अशोक के उत्कीर्ण लेखों से भी होती है। लघु शिलालेखों का प्रथम लेख इस प्रकार है—..देवानांप्रिय ने ऐसा कहा—ढाई वर्ष और कुछ अधिक (समय) व्यतीत हुआ, जब से मैं प्रकाश रूप से उपासक हुआ हूँ। किन्तु मैंने अधिक उद्योग नहीं किया। किन्तु एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ, जवकि मैं संघ में आया हूँ। (तब से) मैंने अच्छा उद्योग किया है।[२]" यह लेख अशोक ने अपने राज्यारोहण के कौन-से वर्ष में उत्कीर्ण कराया था, यह हमें ज्ञात नहीं है। इस लेख में वर्ष या संवत् का कहीं उल्लेख नहीं किया

---

१. 'दिस्वा तं जेट्ठचण्डालो अत्तनो सामिनिं विय।
मन्त्रन्तो तं उपट्ठासि सत्तवस्सानि साधुकं॥ महावंसो ५।४४

२. लघु शिलालेख (रूपनाथ)।

गया। पर इसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह लेख तब उत्कीर्ण कराया गया था, जबकि अशोक को बौद्ध धर्म को स्वीकृत किये चार साल के लगभग हो चुके थे। पहले अशोक उपासक बना था, और बाद में वह संघ में प्रविष्ट हुआ था। उपासक बनने के ढाई साल से कुछ अधिक समय बाद तक अशोक ने धर्म के लिये कोई विशेष उद्योग नहीं किया था। पर उसके बाद जब उसे संघ में सम्मिलित हुए एक साल से कुछ अधिक समय हो गया, तो उसने विशेष रूप से उद्योग प्रारम्भ किया, और उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इस सफलता का उल्लेख भी अशोक ने इसी लघु शिलालेख में किया है—"इस काल में जम्बुद्वीप में जो देवता (मनुष्यों से) अमिश्र थे, वे अब मिश्र कर दिये गये हैं। यह उद्योग का ही परिणाम है। यह बड़ी स्थिति वाला व्यक्ति ही प्राप्त नहीं करता, अपितु छोटा व्यक्ति भी उद्योग द्वारा विपुल स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रयोजन से श्रावण (धार्मिक उपदेश) की व्यवस्था की गई, जिससे छोटे और बड़े सब उद्योग करें। सीमान्तों के निवासी भी जान जाएँ, कि 'यह प्रक्रम (उद्योग) ही'। (प्रक्रम का) क्या? यह कि यह (प्रक्रम) चिरस्थायी हो। यह प्रयोजन अधिकाधिक बढ़ेगा, खूब बढ़ेगा। इसे अवसर के अनुसार पर्वतों (पर्वत शिलाओं) पर उत्कीर्ण कराएँ, और यहाँ (अपने राज्य में) शिला-स्तम्भों (प्रस्तर-स्तम्भों) पर लिखवाएँ।"[1]

रूपनाथ, सहसराम आदि में प्राप्त इस लघु शिलालेख से यह स्पष्ट है, कि इसे अशोक ने तब उत्कीर्ण कराया था, जबकि उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए चार साल के लगभग हो चुके थे, और धर्म के श्रावण के परिणामस्वरूप उसे अपने उद्देश्य में अच्छी सफलता भी प्राप्त हो चुकी थी। इसीलिये तब जम्बुद्वीप में जो देवता पहले अमिश्र थे, वे मिश्र हो गये थे। अपने धर्मश्रावण द्वारा अशोक ने जम्बुद्वीप (भारतवर्ष और उसके समीपवर्ती प्रदेश) को इतना पवित्र बना दिया था, कि वह देवलोक सदृश हो गया और उसमें देवता और मनुष्य एक साथ मिश्रित होकर रहने लगे, अर्थात् वहाँ देवता और मनुष्य का भेद दूर हो गया। निस्सन्देह, यह सब अशोक के महान् प्रक्रम (उद्योग) का ही परिणाम था।

अपने धर्म-सम्बन्धी उद्योग की सफलता का जैसा चित्र अशोक ने लघु शिलालेखों में खींचा है, उसे पढ़कर चतुर्दश शिलालेखों के चतुर्थ लेख का स्मरण हो आता है। इस धर्मलिपि में भी अशोक ने अपने उद्योग के परिणामस्वरूप धर्मविजय की सफलता का संतोष और गर्व के साथ उल्लेख किया है। यह धर्मलिपि इस प्रकार है—"बहुत-से सैकड़ों वर्षों का काल बीत चुका। प्राणियों का वध, जीवों की हिंसा, ज्ञातिजनों के प्रति अनुचित व्यवहार और ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति अनुचित व्यवहार निरन्तर बढ़ते ही गये। परन्तु आज देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरीघोष धर्मघोष हो गया है। विमान-दर्शन, हस्ति-दर्शन, अग्नि-स्कन्ध तथा अन्य दिव्य रूपों को प्रदर्शित कर। जैसा पहले बहुत-से

---

१. लघु शिलालेख (रूपनाथ)

सैकड़ों वर्षों के काल से नहीं हुआ था, वैसा आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से प्राणियों का वध न होना, जीवों की अहिंसा, ज्ञातिजनों के प्रति समुचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा——इन सबकी तथा अन्य बहुत प्रकार के धर्माचरण की वृद्धि हुई है। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और भी बढ़ायेंगे। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र इस धर्माचरण को कल्प के अन्त तक बढ़ायेंगे और धर्म तथा शील में स्थित रहते हुए धर्म का अनुशासन करेंगे। यह जो धर्मानुशासन है, वह श्रेष्ठ कर्म है। अशील के लिये धर्माचरण करना सम्भव नहीं होता। इस प्रयोजन (धर्माचरण और धर्मानुशासन) को क्षति न पहुँचना अपितु इसकी वृद्धि होना साधु (बात) है। इस प्रयोजन से यह लेख लिखवाया गया है, कि इस (धर्माचरण) की वृद्धि में (लोग) व्यापृत रहें, और इसकी हानि (क्षति) न होने दें। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा को अभिषिक्त हुए जब बारह वर्ष बीत चुके थे, तब यह (लेख) लिखा गया।[१]"

इन दोनों धर्मलिपियों को एक साथ पढ़ने पर यह आभास मिलता है, कि इन्हें प्रायः एक ही समय में लिखवाया गया था। रूपनाथ के लघु शिलालेख में अशोक ने धर्म-श्रावण का यह परिणाम सूचित किया है कि जम्बू द्वीप ऐसी देवभूमि बन गया जिसमें मनुष्य और देवता परस्पर मिलकर एक साथ रहते हैं। यह इस कारण हुआ, क्योंकि धर्म के लिये बहुत उद्योग किया गया। चतुर्दश शिलालेख के चौथे लेख में अशोक ने यह कहा है, कि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के परिणामस्वरूप भेरीघोष धर्मघोष के रूप में परिवर्तित हो गया है। इन दोनों धर्मलिपियों पर इस तथ्य की छाप है, कि अशोक बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से प्रभावित है, और वह उन्हीं के अनुरूप धर्मश्रावण के उद्योग में तत्पर है। चतुर्दश शिलालेख के चतुर्थ लेखों में वर्ष अंकित है। उसे अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में उत्कीर्ण कराया था। यदि रूपनाथ, सहसराम आदि के लघु शिलालेखों को भी उसी का समकालीन स्वीकार कर लिया जाए, तो यह मानना होगा कि उन्हें भी अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में उत्कीर्ण कराया था। इस प्रकार बारहवें वर्ष से लगभग चार वर्ष पूर्व——अर्थात् राज्याभिषेक के आठ साल पश्चात्——अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी।

अपने शासन के आठवें वर्ष में ही अशोक ने कलिङ्ग देश की विजय की थी। इस विजय में मनुष्यों का जो संहार हुआ, जनता को जो नानाविध कष्ट उठाने पड़े; अपनी एक धर्मलिपि में अशोक ने उस पर भारी अनुताप प्रगट किया है। "अष्टवर्षाभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिङ्ग का विजय किया। वहाँ से डेढ़ लाख मनुष्यों का अपहरण हुआ। वहाँ सौ सहस्र (एक लाख) मारे गये। उससे भी अधिक मरे (मृत्यु को प्राप्त हुए)। उसके पश्चात् अब जीते हुए कलिङ्ग में देवानांप्रिय द्वारा तीव्र रूप से धर्म का व्यवहार, धर्म की

---

१. चतुर्दश शिलालेख——चौथा लेख

कामना और धर्म का उपदेश (किया जा रहा है)। कलिङ्ग की विजय करके देवानांप्रिय को अनुशोचन (पश्चात्ताप) है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, तब लोगों का जो वध, मरण और अपहरण होता है, वह देवानांप्रिय के लिये अवश्य वेदना का कारण होता है और साथ ही गम्भीर बात भी।[1]" इस धर्मलिपि को दृष्टि में रखकर यह कल्पना की गई है, कि कलिङ्ग विजय के कारण ही अशोक की प्रवृत्ति बौद्धधर्म की ओर हुई। वहाँ लाखों मनुष्यों का वध, मरण और अपहरण देखकर उसके मन में युद्ध के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई और धर्म की प्रवृत्ति अङ्कुरित हुई। कलिङ्ग विजय के बाद अशोक ने केवल बौद्धधर्म को ही स्वीकृत नहीं कर लिया, अपितु उसकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर धर्म-विजय की नीति का भी प्रारम्भ किया। कलिङ्ग के अतिरिक्त अन्य किसी देश की विजय के लिये अशोक ने अपनी सैन्यशक्ति प्रयुक्त नहीं की। भारत में ही उस समय अनेक ऐसे राज्य थे, जो मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। पाण्डच, केरल आदि इन राज्यों को अशोक सुगमता से जीत सकता था। पर कलिङ्ग विजय से उसे जो अनुभूति हुई, उसके परिणामस्वरूप अशोक ने इन राज्यों पर धर्म द्वारा विजय स्थापित की, शस्त्रों द्वारा नहीं। यही बात उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर स्थित यवन राज्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अतः यह मानना युक्ति संगत है, कि कलिङ्ग-विजय के बाद अशोक की मनोवृत्ति में जो परिवर्तन आया, उसके कारण पहले वह बौद्ध उपासक बना और ढाई साल के लगभग उपासक रह कर फिर उसने बौद्ध संघ में जाना प्रारम्भ किया। उपासक की स्थिति में और बौद्ध संघ के सपर्म्क में आकर अशोक ने बुद्ध की जिन शिक्षाओंसे परिचय प्राप्त किया, उन्हीं से प्रभावित होकर उसने यह निश्चय किया कि शस्त्र-शक्ति द्वारा अन्य देशों की विजय करना उचित नहीं है। धर्मविजय की नीति के अनुसरण में बुद्ध की शिक्षाओं का बड़ा हाथ था, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। अशोक जिस धर्म के श्रावण का अपने विजित में और सीमान्त के राज्यों में प्रयत्न कर रहा था, वह सब धर्मों और सम्प्रदायों का सार था। किसी को भी उससे विरोध नहीं हो सकता था। वह बौद्ध धर्म नहीं था। पर यह भी सत्य है कि इस धर्म की ओर अशोक की जो प्रवृत्ति हुई थी, उसकी प्रेरणा उसने बौद्ध उपासक होकर और संघ के सम्पर्क में आकर ही प्राप्त की थी। धर्म श्रावण का प्रक्रम अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में प्रारम्भ किया था। उससे चार साल पूर्व कलिङ्ग की विजय के अनन्तर उसे शस्त्रयुद्ध से ग्लानि हो गई थी, और वह बौद्ध उपासक हो गया था। एक वर्ष से वह बौद्ध संघ के भी निकट सम्पर्कमें भी आने लगा था। अतः यह मानना असंगत नहीं होगा, कि राज्याभिषेक के लगभग आठ वर्ष पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, जिसके कारण कुछ वर्ष बाद उसने एक ऐसी नीति (धर्मविजय की नीति) को अपनाया, जो न केवल भारत अपितु विश्व के इतिहास में सर्वथा नई थी।

---

१. चतुर्दश शिलालेख—तेरहवाँ लेख

(२) बौद्ध तीर्थों की यात्रा

बौद्धधर्म की दीक्षा लेने के पश्चात् अशोक ने उन स्थानों की तीर्थयात्रा की, जिनका सम्बन्ध महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ था। दिव्यावदान में इस यात्रा का विशद रूप से वर्णन किया गया है। संक्षिप्त रूप से यह विवरण इस प्रकार है—अमात्यों ने राजा अशोक को यह परामर्श दिया, कि बौद्ध तीर्थों की यात्रा के लिये उपगुप्त नामक भिक्षु की सेवा प्राप्त की जाय। यह उपगुप्त गुप्त नाम के गान्धिक का पुत्र था, और एक भविष्यवाणी के अनुसार भगवान् बुद्ध के सौ साल बाद उत्पन्न हुआ था। उन दिनों वह मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में उरुमुण्ड पर्वत पर निवास कर रहा था। उपगुप्त के साथ अठारह हजार अन्य अर्हत भी निवास करते थे। जब राजा ने उपगुप्त के विषय में सुना, तो अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा—'हाथी, घोड़े, रथ आदि सब भली भाँति तैयार कर दिये जाएँ, मैं उरुमुण्ड शैल जाऊँगा और वहाँ स्थविर उपगुप्त के दर्शन करूँगा।' यह सुनकर मन्त्रियों ने कहा—'देव ! इन्हें भेज दीजिये। उपगुप्त ही यहाँ चले आयेंगे। आपको वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं।' इस पर राजा ने कहा—'हम इस योग्य नहीं हैं, कि उपगुप्त यहाँ आएँ। हमीं को उनके पास जाना चाहिये।' यह कह कर राजा ने स्वयमेव उपगुप्त के पास जाने का निश्चय कर लिया। पर जब उपगुप्त को यह ज्ञात हुआ कि राजा बहुत-से लोगों के साथ मेरे पास आ रहा है, तो उसने विचार किया कि राजा के मेरे पास आने में बहुत-से मनुष्यों को कष्ट होगा। साथ ही, बहुत-से पशु भी कष्ट पायेंगे। यह सोच कर उपगुप्त ने अशोक को कहला भेजा कि मैं स्वयं ही आ जाऊँगा, आप कष्ट न करें। यह जानकर कि उपगुप्त स्वयं ही पाटलिपुत्र आ रहे हैं, राजा अशोक ने उनकी यात्रा के लिये सब प्रबन्ध कर दिया। मथुरा से पाटलिपुत्र तक जलमार्ग से नौकाओं द्वारा उपगुप्त और उनके साथियों की यात्रा के लिये सब समुचित व्यवस्था कर दी गई।

अठारह हजार अर्हतों के साथ स्थविर उपगुप्त नौकाओं पर आरूढ़ हुए। मथुरा से वे यमुना नदी के मार्ग से प्रयाग पहुँचे, और वहाँ से गङ्गा नदी के मार्ग से होते हुए पाटलिपुत्र पहुँच गये। जिस व्यक्ति ने पहले-पहल उपगुप्त के आगमन की सूचना दी, प्रसन्न होकर अशोक ने उसे अपने शरीर से उतार कर चार हजार मूल्य का एक हार इनाम में दे दिया। फिर घाण्टिक को बुला कर यह आज्ञा दी गई—सम्पूर्ण नगरी में एक साथ घण्टे बजा दिये जाएँ, ताकि सबको यह ज्ञात हो जाए कि स्थविर उपगुप्त पधार गये हैं। इस अवसर के लिये सारे नगर को सजाया गया था, नगर से बाहर भी ३॥ कोस तक सजावट की गई थी। स्थविर का स्वागत करने के लिये अशोक स्वयं पाटलिपुत्र से बाहर ३॥ कोस तक गये। सब पौर और अमात्य उनके साथ थे। अठारह हजार अर्हतों से घिरे हुए स्थविर उपगुप्त ज्यों ही अशोक को दिखायी दिये, वह अपने हाथी से नीचे उतर आया। कुछ पग पैदल चल कर अशोक उपगुप्त की अगवाई के लिये आगे बढ़ा, और एक पैर

नदी के तीर पर तथा दूसरा पैर नाव पर रख कर उसने स्वयं उपगुप्त को नाव से नीचे उतारा, और फिर ऐसे उसके पैरों पर गिर पड़ा जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष। फिर हाथ जोड़ कर अशोक ने स्थविर उपगुप्त से कहा—"जब मैंने शत्रुगणों का घात कर शैलों (पर्वत शृंखलाओं) समेत यह पृथिवी प्राप्त की,जिसके समुद्र ही आभरण हैं, और जिस पर मेरा एकच्छत्र शासन है, उस समय भी मुझे वह सुख प्राप्त नहीं हुआ जो मुझे आज स्थविर के दर्शन से प्राप्त हो रहा है। आपके दशन से मेरे इस श्रेष्ठ शासन की महिमा द्विगुणित हो गई है, और आपके दर्शन से मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे मुझे आज साक्षात् भगवान् के दर्शन प्राप्त हो गये हों।[1]"

स्थविर उपगुप्त ने अशोक के सिर पर हाथ फेरते हुए उसे इस प्रकार आशीर्वाद दिया—राज्य के शासन को प्रमाद के बिना भलीभाँति करते रहो, और तीनों दुर्लभ रत्नों (बुद्ध, धर्म और संघ) की नित्य पूजा किया करो।[2]" स्थाविर उपयुप्त और अशोक में देर तक वार्तालाप होता रहा। अन्त में अशोक ने कहा—"हे स्थविर! मेरी इच्छा है कि मैं उन सब स्थानों का दर्शन करू जहाँ भगवान् बुद्ध ठहरे थे। मैं इन सब स्थानों का सम्मान करूँ और वहाँ ऐसे स्थायी निशान छोड़ जाऊँ जिनसे कि भविष्य में आनेवाली सन्तति को शिक्षा मिलती रहे।'

राज अशोक की बात को सुनकर स्थविर उपगुप्त ने कहा—साधु, साधु! तुम्हारे मन में जो विचार आया है, वह बहुत उत्तम है। मैं तुम्हें मार्ग प्रदर्शित करने का कार्य प्रसन्नता के साथ करूँगा।

इस प्रकार अशोक की तीर्थयात्रा का प्रारम्भ हुआ। उपगुप्त के साथ अशोक ने पाटलिपुत्र से उत्तर की ओर प्रस्थान किया। जिस प्रदेश में आजकल मुजफ्फरपुर और चम्पारन के जिले हैं, उससे होते हुए वे हिमालय की तराई में जा पहुँचे। सम्भवतः, वहाँ से वे पश्चिम की ओर मुड़ गये, और लुम्बिनीवन गये। यहीं पर भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। लुम्बिनीवन पहुँचकर उपगुप्त ने अपने दाँये हाथ को फैला कर कहा—

"महाराज! इसी प्रदेश में भगवान् का जन्म हुआ था।[3]" रुम्मिनदेई में अशोक द्वारा स्थापित जो स्तम्भ अब तक विद्यमान है, उस पर ये शब्द उत्कीर्ण हैं—"हिद भगवे

---

१. "यदा मया शत्रुगणान्निहत्य प्राप्ता समुद्राभरणा सशैला।
एकातपत्रा पृथिवी तदा मे प्रीतिर्न सा या स्थविरं निरीक्ष्य॥
त्वद्दर्शनान्मे द्विगुणः प्रसारः सञ्जायतेऽस्मिन् वरशासनाग्रे
त्वद्दर्शनाच्चैव परोऽपि शुद्ध्या दृष्टो मयाद्याप्रतिमः स्वयम्भूः॥ दिव्यावदान, पृ. ३८७

२. "अप्रमाद्येन सम्पाद्य राज्यैश्वर्यं प्रवर्तताम्।
दुर्लभं त्रीणि रत्नानि नित्यं पूजय पार्थिव॥" दिव्यावदान, पृ. ३८७

३. 'अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान् जातः।' दिव्यावदान, पृष्ठ ३८९

जोतेति" (इह भगवान् जातः इति), जिसका अर्थ है--"यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था।" रुम्मिनदेई स्तम्भ उसी स्थान पर स्थापित है, जहाँ पहले लुम्बिनीवन विद्यमान था।

लुम्बिनीवन में अशोक ने वहुत दान-पुण्य किया। इसके पश्चात् स्थविर उपगुप्त अशोक को कपिलवस्तु ले गया, और वहाँ पहुँच कर उसने अपने दाँये हाथ को फैला कर कहा--'महाराज! इस स्थान पर बोधिसत्त्व ने राजा शुद्धोदन के घर पर अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।' कपिलवस्तु में भी वहुत-सा दान-पुण्य किया गया। इसके पश्चात् अशोक ने उपगुप्त के मार्गप्रदर्शन में अन्य वहुत-से स्थानों की यात्रा की। उपगुप्त इन सव स्थानों का परिचय देते हुए उनके महत्त्व का भी विवरण देता जाता था, और अशोक प्रत्येक तीर्थस्थान का यथोचित रीति से पूजा-सम्मान कर दान-पुण्य करता जाता था।

दिव्यावदान के अनुसार इस तीर्थ यात्रा का क्रम इस प्रकार था--सवसे पूर्व लुम्बिनीवन, फिर कपिलवस्तु, फिर बोध गया में स्थित बोधिवृक्ष, जिसके नीचे भगवान् बुद्ध ने समाधि लगायी थी और जहाँ उन्हें बोध हुआ था। यहाँ आकर अशोक ने एक लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान में दीं, और एक चैत्यके निर्माण का आदेश दिया। वोधगयाके बाद उपगुप्त अशोक को सारनाथ ले गया। इसी स्थान पर वुद्ध ने धर्म चक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ के बाद उपगुप्त और अशोक कुशीनगर गये, जहाँ वुद्ध ने निर्वाण पद प्राप्त किया था। इन प्रमुख तीर्थ-स्थानों के अतिरिक्त श्रावस्ती की भी यात्रा की गई। यहाँ जेतवन विहार नामक प्रसिद्ध विहार विद्यमान था। जेतवन को श्रेष्ठी अनाथपिण्डक ने कुमार जेत से क्रय किया था, और बुद्ध के निवास के लिये वहाँ एक विशाल विहार का निर्माण कराया था। वुद्ध यहाँ ठहरे भी थे। इसी कारण यह भी बौद्धों के लिये एक तीर्थ की स्थिति रखता था। अनेक स्थान ऐसे भी थे, जिनका सम्वन्ध वुद्ध के प्रधान शिष्यों के साथ था। इन्हें भी पवित्र माना जाता था। उपगुप्त अशोक को उन स्थानों पर भी ले गया, जहाँ सारिपुत्र, मौद्गलायन, महाकश्यप आदि वुद्ध के शिष्यों के स्तूप विद्यमान थे। अशोक ने इनके प्रति भी सम्मान प्रदर्शित किया, और दान-पुण्य आदि किया। वत्कुल के स्तूप पर अशोक ने केवल एक कौड़ी भेंट की, क्योंकि वुद्ध के इस शिष्य ने प्राणियों के सुख और हित के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया था। वुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ अर्पित कीं।

दिव्यावदान में अशोक की तीर्थ यात्रा का विशद रूप से वर्णन किया गया है। हमने यहाँ उसकी प्रमुख वातें संक्षेप के साथ उल्लिखित की हैं। कतिपय विद्वानों का यह मत है, कि दिव्यावदान में इस तीर्थयात्रा का जो क्रम रखा गया है वह समीचीन नहीं है, भौगोलिक दृष्टि से वह सुविधाजनक प्रतीत नहीं होता। इसी कारण श्री. विन्सेन्ट ए. स्मिथ ने यह माना है कि अशोक की तीर्थयात्रा का क्रम इस प्रकार होना चाहिये--लुम्बिनीवन,

कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, बोधगया और कुशीनगर।[1] पर अशोक जैसे वैभवशाली राजा के लिये भौगोलिक सुविधा का प्रश्न उतने महत्त्व का नहीं था, जितना कि बुद्ध के जीवन के साथ क्रमशः जिन स्थानों का सम्बन्ध हुआ, उन्हें उसी क्रम से देखने की बात। उपगुप्त राजा अशोक को सबसे पूर्व लुम्बिनीवन ले गये, क्योंकि वहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। उसके बाद वे कपिलवस्तु गये, क्योंकि वहाँ बुद्ध का बाल्यकाल व्यतीत हुआ था। फिर वे बोधगया गये, क्योंकि वहाँ बोधिवृक्ष के नीचे उन्हें बोध प्राप्त हुआ था। बोधगया के पश्चात् वे सारनाथ गये, क्योंकि वहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्त्तित किया था। अन्त में वे कुशीनगर गये, जहाँ बुद्ध का निर्वाण हुआ था। जन्मस्थान, बाल्यजीवन का क्रीड़ास्थान, तपस्या और बोध का स्थान, धर्मप्रचार के प्रारम्भ करने का स्थान और अन्त में निर्वाण का स्थान—एक श्रद्धालु और साधन-सम्पन्न तीर्थयात्री के लिये यात्रा का यही क्रम समुचित था। अशोक को उपगुप्त इसी के अनुसार यात्रा पर ले गया। दिव्यावदान के अनुसार कुशीनगर के साथ अशोक की एक तीर्थयात्रा समाप्त हो गई। तदनन्तर अशोक ने उपगुप्त के सम्मुख दूसरी बार यह इच्छा प्रगट की, कि श्रावस्ती आदि अन्य स्थानों की भी यात्रा की जाए। इसी के अनुसार स्थविर उपगुप्त उन्हें श्रावस्ती आदि की यात्रा के लिये ले गये। अतः यही मानना उचित होगा, कि दिव्यावदान में वर्णित तीर्थयात्रा का क्रम सही था।

राजा अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के तीर्थ-स्थानों की यात्रा की गई थी, इस बात की पुष्टि उसके उत्कीर्ण लेखों से भी होती है। रुम्मिनदेई स्तम्भ पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—"अभिषेक को हुए जब बीस वर्ष व्यतीत हो चुके, तो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने स्वयं आ कर (इस स्थान की) महिमा को बढ़ाया। यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। यहाँ पत्थर की सुदृढ़ दीवार बनवायी गई और शिलास्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था। लुम्बिनी ग्राम को (धर्म) कर से मुक्त कर दिया गया, और इसे अष्टभागी कर दिया गया।[2]" रुम्मिनदेई का यह स्तम्भ-लेख बहुत महत्त्व का है। बौद्ध साहित्य के अनुसार महात्मा बुद्ध का जन्म लुम्बिनी वन में हुआ था। पर लुम्बिनी की स्थिति कहाँ थी, इस सम्बन्ध में मतभेद था। अशोक के इस स्तम्भ-लेख से यह सुनिश्चित रूप से ज्ञात हो गया, कि वर्तमान रुम्मिनदेई ही प्राचीन लुम्बनीवन या लुम्बिनी ग्राम है। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में इस स्थान से धर्म-कर सर्वथा उठा दिया था, और भूमि-कर में कमी कर दी थी। प्राचीन समय में भी तीर्थ-स्थानों पर 'बलि' संज्ञक धर्म-कर लगाने की प्रथा थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'बलि' को राजकीय आमदनी के साधनों में अन्तर्गत

---

१. V. A. Smith—The Early History of India p. 167

२. "देवानं पियेन पियदसिन लाजिन बीसतिवसाभिसितेन अतन आगा च महीयते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति सिला विगडभीचा कालापित सिलाथभे च उपपापिते हिद भगवे जाते ति लुंमिनिगामे उबलिके करे अठभागिये च।"

किया गया है। जिन राजकीय करों को राष्ट्र (जनपद) से प्राप्त किया जाता था, बलि भी उनमें से एक था।[1] यह कर धर्म-स्थानों या तीर्थ-स्थानों पर लगाया जाता था। लुम्बिनी बुद्ध का जन्म-स्थान था, अतः बौद्ध लोग बड़ी संख्या में वहाँ तीर्थ-यात्रा के लिये आया करते थे, और वहाँ 'बलि' कर भी लिया जाता था। अपनी यात्रा के उपलक्ष में अशोक ने लुम्बिनी ग्राम को 'उद्बलिक' (जिससे बलि न ली जाए) कर दिया था। साथ ही, लुम्बिनी ग्राम को 'अष्टभागी' भी कर दिया गया। प्राचीन भारत में उपज का छठा भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। इसी कारण इस भूमि-कर को 'षड्भाग' भी कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में भूमि-कर की अनेक दरें लिखी गई हैं। भूमि की उर्वरता और सिंचाई के लिये उपलब्ध जल की सुविधा के अनुसार तिहाई भाग से पाँचवें भाग तक भूमि-कर वसूल करने का विधान कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है। मौर्य युग में भूमि-कर की सामान्य दर उपज के तिहाई, चौथाई और पाँचवें भाग की थी।[2] बहुत घटिया जमीनों से ही उपज का पाँचवाँ भाग भूमि-कर या 'भाग' के रूप में लिया जाता था। पर लुम्बिनी-ग्राम के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान प्रदर्शित करने के लिये अशोक ने यह आदेश दिया था, कि वहाँ से उपज का केवल आठवाँ भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाए। अशोक द्वारा लुम्बिनी ग्राम को जो 'अष्टभागी' कर देने का उल्लेख रुम्मिनदेई के स्तम्भ-लेख में किया गया है, उसका यही अभिप्राय है।

रुम्मिनदेई के समीप ही निगली सागर स्तम्भ विद्यमान है। उस पर भी अशोक का एक लेख उत्कीर्ण है। इस स्थान पर कनकमुनि बुद्ध का एक स्तूप था, जिसे अशोक ने दुगना बढ़वाया था। कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की यह वृद्धि अशोक द्वारा राज्याभिषेक के चौदह साल पश्चात् की गई थी। पर इस कार्य के लिये वह तब स्वयं निगली सागर में नहीं आया था। पर राज्याभिषेक को हुए जब बीस वर्ष व्यतीत हो गये थे, तब अशोक ने स्वयं वहाँ की यात्रा की थी, और कनकमुनि के स्तूप का दर्शन कर वहाँ एक प्रस्तर-स्तम्भ खड़ा कराया था, जो अब तक वहाँ विद्यमान है। इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण अशोक का लेख इस प्रकार है—"चौदह वर्ष से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कनकमुनि बुद्ध का स्तूप दुगुना बढ़ाया गया। बीस वर्ष से अभिषिक्त (राजा) ने स्वयं आकर (इस स्थान की) महिमा बढ़ायी, और (शिला-स्तम्भ) खड़ा किया।[3]" अपने राज्याभिषेक के बीस वर्ष पश्चात् ही अशोक लुम्बिनी-ग्राम गया था, और तभी उसने निगली सागर के समीप स्थित कनकमुनि बुद्ध के स्तूप के दर्शन किये थे।

---

१. **"सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्।" कौ. अर्थ. २।६**

२. **कौ. अर्थ. २।२४**

३. **निगली सागर स्तम्भ लेख।**

दिव्यावदान में अशोक की जिस तीर्थ-यात्रा का विवरण किया गया है, उसकी सत्यता को प्रमाणित करनेवाले अन्य कोई उत्कीर्ण लेख अवतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। पर इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता, कि लुम्बिनी-ग्राम और निगली सागर के अतिरिक्त बौद्धों के अन्य तीर्थ-स्थानों की यात्रा अशोक द्वारा की ही नहीं गई थी। अभी भारत में पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों की खोज का कार्य पूरा नहीं हुआ है। गत वर्षों में अशोक के अनेक नये उत्कीर्ण लेख प्रकाश में आये हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि भविष्य में अन्य भी अनेक लेखों की सत्ता ज्ञात हो सके। सातवीं सदी में जब चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग ने भारत की यात्रा की थी, तो उसने बहुत-से ऐसे स्तूपों को अपनी आँखों से देखा था, जो अब नष्ट हो चुके हैं, या पृथिवी के नीचे दबे पड़े हैं। लुम्बिनी में बुद्ध के जन्म-स्थान पर अशोक ने जिस स्तूप का निर्माण कराया था, ह्युएनत्सांग ने उसका भी उल्लेख किया है।[१] उसके अतिरिक्त कपिलवस्तु[२], सारनाथ[३] आदि अन्य स्थानों पर अशोक द्वारा निर्मित स्तूप आदि का विवरण भी ह्युएन्त्सांग द्वारा दिया गया है। दिव्यावदान की कथा के अनुसार अशोक ने जिन-जिन स्थानों की यात्रा की थी, उन सभी में अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों का उल्लेख ह्युएन्त्सांग के यात्रा-विवरण में विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के कुछ वर्ष पश्चात् अशोक ने स्थविर उपगुप्त के मार्ग-प्रदर्शन में उन सब प्रमुख स्थानों की यात्रा की थी, जिनका सम्बन्ध महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ है।

अशोक के उत्कीर्ण लेखों में 'धर्म यात्रा' का उल्लेख किया गया है। पहले के राजा विहार-यात्रा किया करते थे, जिसमें शिकार खेला जाता था और अन्य भी अनेक ढंग से आमोद-प्रमोद व मनोरञ्जन किया जाता था। जब अशोक की प्रवृत्ति धर्म की ओर हुई, तो उसने विहार यात्रा के स्थान पर धर्म यात्राओं का प्रारम्भ किया। इन धर्म यात्राओं में श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन करना, उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन करना, उन्हें सुवर्ण दान देना, जनपद के लोगों से भेंट करना, उन्हें धर्म का उपदेश देना और उनकी धर्म-सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करना—ये कार्य किये जाते थे और अशोक को इनमें अत्यधिक आनन्द की अनुभूति होती थी।[४] अशोक ने विहार-यात्राओं के स्थान पर जिन धर्म यात्राओं का प्रतिपादन किया है, वे उस तीर्थयात्रा से भिन्न थीं जिसका विवरण दिव्यावदान में मिलता है और जिसकी पुष्टि अशोक के उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी होती है। इन धर्म यात्राओं का प्रयोजन धर्मविजय की नीति को सफल बनाना था, ओर अशोक ने अपने राज्याभिषेक के दस साल बाद ही इनका प्रारम्भ कर दिया था। चतुर्दश शिलालेखों के आठवें लेख में

१. Beal—Buddhist Records of the Western World Vol. II p. 24

२. Ibid p. 13

३. Ibid p. 45

४. चतुर्दश शिला लेख—आठवाँ लेख।

अशोक ने स्पष्ट रूप से यह सूचित किया है, कि अपने अभिषेक के दस वर्ष वीत जाने पर वह 'सम्वोधि' गये, और उससे धर्मयात्राओं का प्रारम्भ हुआ। इस लेख में 'सम्बोधि' का क्या अभिप्राय है, इस सम्वन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। सम्बोधि का अर्थ सम्यक्ज्ञान भी है, और इससे उस स्थान का भी ग्रहण हो सकता है, जहाँ बुद्ध को सत्यज्ञान का वोध हुआ था। अशोक ने बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाले पवित्र स्थानों का दर्शन और सम्मान करने के लिये जो तीर्थयात्रा की थी, वह राज्याभिषेक के बीस साल वीत जाने पर की गई थी। दिव्यावदान के अनुसार वह इस यात्रा में वोधगया भी गये थे। अतः राज्याभिषेक के दस साल बीत जाने पर अशोक ने जिन धर्म यात्राओं का सूत्रपात किया था, उनमें उनका प्रयोजन सम्वोधि या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति भी था। यह भी सम्भव है, कि अशोक ने अपनी धर्मयात्राओं का श्रीगणेश बोधगया की यात्रा से किया हो, क्योंकि वहाँ पर ही बोधि वृक्ष के नीचे गौतम को वोध होकर बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। धर्मलिपि में आये हुए 'सम्बोधि' का अभिप्राय चाहे कोई भी हो, पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दिव्यावदान में वर्णित तीर्थयात्रा उन धर्मयात्राओं से भिन्न थी, जिनका निर्देश आठवें शिलालेख में आया है।

(३) बौद्ध अशोक

हम यह पहले प्रतिपादित कर चुके हैं, कि जिस धर्म का श्रावण करा के अशोक अपने विजित (राज्य) में और सीमावर्ती राज्यों में सर्वत्र धर्म विजय के लिये प्रयत्नशील था, वह कोई विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय न होकर ऐसे सर्वसम्मत, सार्वदेशिक और सार्वकालिक सिद्धान्तों का समुच्चय था, जिससे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या पाषण्ड को विरोध नहीं हो सकता। अशोक ने इसे सब धर्मों और सम्प्रदायों का 'सार' (तत्त्व) कहा है। पर अशोक बौद्ध भी था, और एक बौद्ध 'उपासक' के रूप में उसके इस धर्म के प्रति भी कतिपय कर्तव्य थे। इन कर्तव्यों के पालन में भी अशोक ने प्रमाद नहीं किया। अपनी शक्ति के अनुसार उसने बौद्ध संघ को दान दिया, श्रमणों, भिक्षुओं और स्थविरों का पूजा-सम्मान किया, बौद्ध धर्म में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो गये थे उनके मदभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया, और देश-देशान्तर में बौद्ध धर्म के प्रसार में भी सहायता की। अशोक के इस उद्योग के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश उसके उत्कीर्ण लेखों में भी विद्यमान हैं। पहले हम इन्हीं पर प्रकाश डालेंगे।

जयपुर (राजस्थान) राज्य में वैराट के समीप भाब्रू नामक स्थान पर अशोक का जो शिलालेख उपलब्ध हुआ है, वह इस प्रकार है—"मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन करके (उसके भिक्षुओं से) अल्पावाधता (बाधा विहीनता) और सुख विहार (सुख विश्राम) के विषय में पूछते हैं। भदन्तगणों को यह ज्ञात ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ में मैं कितना गौरव और प्रसाद (प्रसन्नता) मानता हूं। भदन्तगण! भगवान् बुद्ध

ने जो कुछ भी कहा है, सब सुभाषित है। किन्तु भदन्तगण, मैं ऐसा समझता हूँ, कि इस प्रकार सद्धर्म चिरकाल तक स्थायी रहेगा, अतः मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रन्थों के नाम सूचित करता हूँ) जो अवश्य पढ़ने के योग्य हैं। भदन्तगण! ये (ग्रन्थ) धर्म पर्याय (नित्य पारायण के लिये धर्मग्रन्थ) हैं–विनयसमुकस (विनयसमुत्कर्षः), अलियवसाणि (आर्यवंशः), अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते (मौनेय सूत्रम्), उपतिसपसिने (उपतिष्यप्रश्नाः), लाघुलोवाद (राहुलवाद) में मृषावाद को लेकर भगवान् बुद्ध द्वारा जो कहा गया है। भदन्तगण! मैं इन धर्मपर्यायों के बारे में यह चाहता हूँ, क्या चाहता हूँ? यह कि बहुत-से मान्य भिक्षु और भिक्षुणियाँ प्रतिक्षण उनका श्रवण करें और उनका अवधारण करें। इसी प्रकार उपासक और उपासिकाएँ भी (उनका श्रवण और अवधारण करें)। भदन्तगण! इसी प्रयोजन से मैं यह लेख लिखवाता हूँ, कि लोग मेरे अभिप्रेत (प्रयोजन) को जान जाएँ।[1]"

यह उत्कीर्ण लेख अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें प्रियदर्शी राजा अशोक ने स्पष्ट शब्दों में बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति श्रद्धा और भक्ति प्रगट की है। 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि', इस मन्त्र या वाक्य द्वारा बौद्ध लोग औपचारिक रूप से बौद्ध धर्म के प्रति अपनी निष्ठा प्रगट करते हैं। अशोक ने भी बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति निष्ठा प्रगट कर यह सूचित कर दिया है, कि उसने बौद्ध धर्म को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया था। यद्यपि अशोक का यह विश्वास था कि बुद्ध ने जो कुछ भी कहा, सब सुभाषित या उत्कृष्ट है, पर अपनी ओर से उसने कतिपय बौद्ध धर्म ग्रन्थों के नाम लिखे हैं, जिन्हें कि वह सब भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों और उपासिकाओं के लिये पठन, श्रवण और अवधारण के योग्य मानता था। ये ग्रन्थ वर्तमान समय में प्राप्त हैं, और इनका अनुशीलन कर यह भली भाँति समझा जा सकता है, कि अशोक का झुकाव धर्म के किन तत्त्वों की ओर विशेष रूप से था। विनयसमुत्कर्षः दीघनिकाय का एक भाग है, और आर्यवंशः अंगुत्तर निकाय का। अनागतभयानि भी अंगुत्तरनिकाय में ही है। मुनिगाथा, मौनेयसूत्रम् और उपतिष्यप्रश्नाः सुत्तनिपात के भाग हैं। राहुलनिकाय मज्झिमनिकाय का अंग है। अशोक द्वारा निर्दिष्ट सब ग्रन्थ बौद्ध त्रिपिटक के अन्तर्गत हैं। डा० भाण्डारकर ने इन सब ग्रन्थों पर दृष्टिपात कर यह परिणाम निकाला है, कि इन ग्रन्थों में विधि-विधानों और पारलौकिक विषयों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना कि धर्म के आधारभूत तत्त्वों पर।[2] उदाहरण के लिये आर्यवंशाः में भिक्षुओं के लिये चतुर्विध आचार-मर्यादा निर्धारित की गई है—(१) भिक्षुओं को सादी पोशाक से संतुष्ट रहना चाहिये। (२) भिक्षुओं को सरलता से प्राप्त सादे भोजन से संतुष्ट रहना चाहिये। (३) भिक्षुओं को अत्यन्त तुच्छ

---

१. **भाब्रू शिलालेख (कलकत्ता संग्रहालय में विद्यमान)**

२. Bhandarkar—Ashoka pp 86-88

निवासस्थान से संतुष्ट रहना चाहिये, और (४) भिक्षुओं को मनन में आनन्द का अनुभव करना चाहिये। इसी प्रकार के सरल परन्तु सारयुक्त धर्म का प्रतिपादन अन्य ग्रन्थों में है। अशोक द्वारा निर्दिष्ट कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो निरर्थक विधि विधान या कर्मकाण्ड आदि से परिपूर्ण हो। ये सब 'सुत्त' इस प्रकार के हैं कि उनमें प्रतिपादित शिक्षाओं का अनुसरण कर भिक्षु और उपासक वास्तविक रूप से अपनी उन्नति कर सकते हैं। ये सर्वसाधारण जनता के लिये भी उपयोगी हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में भी अशोक की दृष्टि में धर्म के 'तत्त्व' (सार) का ही महत्त्व अधिक था। उस युग के बौद्ध भिक्षुओं में बहुत साधारण बातों को लेकर अनेक विरोधी मत विकसित हो गये थे। इन मतों और विवादों का विकास बुद्ध की मृत्यु के एक सदी बाद ही प्रारम्भ हो गया था। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति (महासभा) से पूर्व दस ऐसी बातें थीं, जिन पर भिक्षुओं में गहरा मतभेद था। इनमें से कुछ बातें बहुत ही तुच्छ हैं। भिक्षुओं को अपने पास नमक रखना चाहिये या नहीं, उन्हें बैठने के लिये चटाई का प्रयोग करना चाहिये या नहीं, उन्हें जमीन खोदनी चाहिये या नहीं——इस प्रकार की साधारण बातों को लेकर भिक्षुओं में गम्भीर विवाद उठ खड़े हुए थे। वैशाली की महासभा (जो बुद्ध की मृत्यु के एक सौ वर्ष बाद हुई थी) में इन विवादग्रस्त विषयों का निर्णय कर दिया गया था, फिर भी विधि-विधान, बाह्य कर्म आदि के सम्बन्ध में मतभेदों का अभाव नहीं हो गया था। वैशाली की महासभा के बाद अन्य अनेक बातों को लेकर भिक्षुओं में विवाद उत्पन्न हुए, और बौद्धों के बहुत-से सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सब के आधार कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं थे। बाह्य बातों को लेकर ही बौद्धों में मतभेद उत्पन्न होते जाते थे। इसी लिये अशोक ने भाब्रू की धर्मलिपि द्वारा भिक्षुओं और उपासकों का ध्यान बुद्ध की उन शिक्षाओं की ओर आकृष्ट किया, जो धर्म के वास्तविक तत्त्व के साथ सम्बन्ध रखती हैं, विधि-विधान और बाह्य अनुष्ठानों के साथ नहीं। निस्सन्देह, अशोक का यह प्रयत्न उसकी धर्म-विजय की नीति के अनुरूप था, क्योंकि अशोक सब धर्मों और सम्प्रदायों के सर्वसामान्य तत्त्वों पर ही जोर देता था।

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में अशोक ने एक अन्य कार्य भी किया, जो बहुत महत्त्व का है। उसने यह यत्न किया कि बौद्ध संघ में फूट न पड़ने पाये। इस प्रयोजन से अशोक ने जो आदेश 'धर्मलिपि' के रूप में जारी किये थे, उनकी तीन प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। थोड़े-से अन्तर के साथ इन तीनों प्रतियों में एक ही आदेश उत्कीर्ण है। ये लेख सारनाथ, प्रयाग और साञ्ची में उपलब्ध प्रस्तर-स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। सारनाथ का लेख इस प्रकार है——"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा (यह) आज्ञा देते हैं, (पाटलिपुत्र में जो महामात्र है उनके प्रति। मेरे द्वारा संघ समग्र (संगठित) किया गया।) (पाटलपुत्र तथा अन्य नगरों में ऐसा करना चाहिये जिससे) कोई संघ का भेदन न कर सके (फूट न डाल सके)। जो भी कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ का भंग करेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर अनावास (जो स्थान

निवास के योग्य न हो) में रखा जायगा। इस प्रकार यह शासन (राजकीय आदेश) भिक्षुसंघ और भिक्षुणी संघ में विज्ञप्त किया जाना चाहिये। देवानांप्रिय ने इस प्रकार कहा—और इसी प्रकार की एक लिपि आप लोगों को सदा उपलब्ध रहे, इसलिये संसरण (आने जाने अथवा एकत्र होने के स्थान) में रखवा दी गई है। इसी प्रकार की एक लिपि आप उपासकों के पास रखें। ये उपासक प्रत्येक उपवासव्रत के दिन इस शासन (राजकीय आदेश) में विश्वास प्राप्त करने के लिये जाएँ। उपवास व्रत के दिन सुनिश्चित रूप से एक-एक महामात्र उपवास-व्रत के लिये जायगा, इस शासन (राजकीय आदेश) में विश्वास प्राप्त कराने और इसे आज्ञप्त करने के लिये। जहाँ-जहाँ तक आपका आहार (अधिकार-क्षेत्र) है, सर्वत्र आप इस (शासन) का अक्षरशः पालन कराने के लिये (राजपुरुषों को) भेजिये। इसी प्रकार सभी कोट्टों (दुर्गों-नगरों) और विषयों (प्रदेशों) में इस शासन का अक्षरशः पालन कराने के लिये भेजिये।"

सारनाथ के प्रस्तर-स्तम्भ पर अशोक का जो 'शासन' उत्कीर्ण है, उस द्वारा यह प्रयत्न किया गया था, कि बौद्ध संघ में फूट न पड़ने पाए। संघ में फूट डालने वाले भिक्षुओं अथवा भिक्षुणियों के लिये राजा द्वारा इस दण्ड की व्यवस्था की गई थी, कि उन्हें श्वेत वस्त्र पहनाकर ऐसे स्थान पर निवास करने के लिये विवश किया जाए जो भिक्षुओं और भिक्षुणियों के निवास योग्य न हो। बौद्धभिक्षु पीत वर्ण का चीवर धारण किया करते थे। संघ में फूट डालने वाले भिक्षुओं और भिक्षुणियोंसे पीत चीवर ले लिये जाते थे, और उन्हें गृहस्थों के श्वेत वस्त्र पहनने होते थे। साथ ही, उन्हें विहारों अथवा संघारामों से बहिष्कृत कर ऐसे स्थानों पर रहने के लिये भेज दिया जाता था, जो भिक्षुओं के निवास के योग्य नहीं थे। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है, कि उन्हें भिक्षु या भिक्षुणी पद से च्युत कर दिया जाता था। अशोक ने संघ को फूट से बचाने के लिये राजशक्ति का प्रयोग किया था। सारनाथ (या वाराणसी) का प्रदेश मगध के 'चक्र' के अन्तर्गत था, अतः वहाँ के संघ में फूट न पड़ने देने के लिये अशोक ने पाटलिपुत्र के महामात्रों को यह आज्ञा दी थी, कि वे न केवल स्वयं अपितु अपने अधीनवर्ती राजपुरुषों (राजकर्मचारियों) द्वारा संघ में फूट न पड़ने देने का प्रयत्न करें, और अशोक की इस आज्ञा को भिक्षुओं और गृहस्थों में सर्वत्र प्रसारित करते रहें। प्रत्येक महामात्र से यह आशा की जाती थी, कि वह इस कार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान करे।

राजा अशोक ने जो राजशासन पाटलिपुत्र के महामात्रों के नाम प्रसारित किया था, वही कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधन करके भी जारी किया गया था। प्रयाग के प्रस्तर-स्तम्भ पर यह लेख उत्कीर्ण है—"देवानांप्रिय (यह) आज्ञा देते हैं—कौशाम्बी के महामात्र को (ऐसा कहा जाना चाहिये) (संघ) समग्र (संगठित) किया गया है। संघ में (उसे) नहीं लिया जायगा, (जो) संघ का भेदन करेगा चाहे भिक्षु हो या भिक्षुणी। उसे निश्चय ही श्वेत वस्त्र पहना कर ऐसे स्थान पर रख दिया जायगा जो भिक्षुओं के निवास के योग्य न हो।"

साँची में उपलब्ध स्तम्भ लेख पर भी अशोक का यही राजशासन कुछ भेद के साथ उत्कीर्ण है। यह लेख इस प्रकार है--"संघ समग्र (संगठित) किया गया है, भिक्षुओं और भिक्षुणिओं का---जब तक कि मेरे पौत्र और प्रपौत्र राज्य करेंगे और चन्द्र तथा सूर्य (स्थिर) रहेंगे। जो संघ को भंग करेगा, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, श्वेत वस्त्र पहना कर उसे ऐसे स्थान पर रख दिया जायगा जो भिक्षुओं के निवास के योग्य न हो। मेरी यह इच्छा है, क्या (इच्छा) है? संघ समग्र (संगठित) और चिर काल तक स्थायी रहे।"

साँची के इस उत्कीर्ण लेख की पहली पंक्ति भग्न दशा में है, अतः यह ज्ञात नहीं हो सकता कि अशोक ने यह लेख किस प्रदेश या चक्र के महामात्रों को सम्बोधन करके प्रचारित किया था। मौर्य साम्राज्य के पश्चिमी चक्र की राजधानी उज्जैनी थी, और साँची का प्रदेश इसी चक्र के अन्तर्गत था। सम्भव है, कि उज्जैनी के महामात्रों को सम्बोधन करके ही यह लेख उत्कीर्ण कराया गया हो।

संघ में फूट न डालने देने के संबंध में जो राजकीय आदेश अशोक ने प्रस्तर-स्तंभों पर उत्कीर्ण कराये थे, उनको दृष्टि में रखकर अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि बौद्ध संघ में एकता को स्थापित रखने के लिये अशोक ने अपनी राजशक्ति का उपयोग किया था। संघ में फूट डालने वालों के लिये उसने न केवल दण्ड की व्यवस्था की है, अपितु साथ ही राजकीय महामात्रों को यह आदेश दिया है कि वे इस राजकीय आज्ञा को भिक्षुसंघ और भिक्षुणी-संघ में विज्ञप्त करा दें, और अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में इसका राजपुरुषों द्वारा सर्वत्र पालन कराएँ। इसी से डा० भाण्डारकर ने यह परिणाम निकाला है कि अशोक बौद्ध संघ (Buddhist Church) का भी अधिपति था।[१] राजा और पोप दोनों के कार्य और शक्तियाँ उसमें निहित थीं। पर बौद्ध संघ का संगठन इस प्रकार का नहीं था, कि कोई एक व्यक्ति उसका अधिपति बन सके। महात्मा बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ का संगठन करते हुए वज्जिसंघ के संगठन को दृष्टि में रखा था। वज्जि-संघ लोकतन्त्र था, और उसका शासन किसी एक व्यक्ति के हाथों में न होकर 'गण' या 'संघ' के अधीन था। इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। स्थविर उपगुप्त के पथ-प्रदर्शन में उसने बौद्ध तीर्थों की यात्रा भी की थी, और कपिलवस्तु, लुम्बिनी ग्राम आदि में बहुत-सा दान-पुण्य भी किया था। उसने बहुत-से स्तूपों और चैत्यों का निर्माण भी कराया था। सातवीं सदी में जब चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग भारत यात्रा के लिये आया था, तो उसने अशोक द्वारा निर्मित बहुत-से स्तूपों आदि को देखा भी था। नौ सदी के लगभग समय बीत जाने पर भी ये स्तूप ह्यु एन्त्सांग के समय में अच्छी सुरक्षित दशा में थे। पर अशोक के दान-पुण्य का क्षेत्र केवल बौद्धों तक ही सीमित नहीं था। उसके उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है, कि उसने आजीवकों को भी गुहा आदि दान रूप में प्रदान की थीं। राज्या-

---

१. Bhandarkar : Ashoka p. 99

भिषेक को हुए बारह वर्ष बीतने पर उसने खलतिक पर्वत की एक गुहा आजीवकों को दी थी,[१] और तभी न्यग्रोध-गुहा भी आजीवकों को दी गई थी।[२] राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद भी सुप्रिय खलतिक पर्वत पर एक गुहा आजीवकों को दान रूप से प्रदान की गई थी[३]। जैसा कि हम इसी अध्याय में ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं, राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद अशोक की प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गई थी। वह 'उपासक' बन गया था और ढाई वर्ष के लगभग उपासक रह चुकने के अनन्तर उसने संघ के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाना भी प्रारम्भ कर दिया था। बौद्ध धर्म की दीक्षा उसने राज्याभिषेक के आठ वर्ष पश्चात् ग्रहण कर ली थी, और बारह वर्ष बाद तक तो उसका बौद्ध संघ के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। यह होते हुए भी उसने अपने राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद आजीवकों को एक गुहा दान में दी, यह बात अत्यन्त महत्त्व की है। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि बौद्ध होते हुए भी अशोक सब धर्मों, सम्प्रदायों और पाषण्डों का आदर करता था, सबको दान-दक्षिणा द्वारा संतुष्ट रखता था और राजा की स्थिति में किसी के प्रति पक्षपात नहीं करता था। अशोक के उत्कीर्ण लेखों में स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों और श्रमणों का साथ-साथ उल्लेख आया है, और वह भी इस प्रसंग में कि दोनों का सम्मान किया जाए और दोनों को दान-दक्षिणा दी जाए। यदि बौद्ध संघ में अशोक की स्थिति एक अधिपति या पोप की होती, तो उसके लिये ब्राह्मणों और श्रमणों को एक दृष्टि से देख सकना कदापि सम्भव न होता।

फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि बौद्धसंघ में फूट न पड़ने देने के प्रयोजन से जो आदेश अशोक द्वारा प्रचारित किये गये थे, वे उसने किस स्थिति में जारी किये? प्राचीन धर्मग्रन्थों में यह प्रतिपादित किया गया है कि कुल, जाति, जनपद, ग्राम आदि के संघों द्वारा की गई संविदा का अनुलंघन करने वाले को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाए। इस दण्ड का रूप भी राष्ट्र (देश) से बहिष्कृत कर देना था।[४] कौटलीय अर्थशास्त्र में भी देश-संघों, जाति-संघों और कुल-संघों द्वारा किये गये 'समय' (संविदा) का अनपाकर्म (उल्लंघन या अति-क्रमण न किया जाना) बहुत आवश्यक माना गया है।[५] जो लोग भिक्षु या भिक्षुणी

---

१. 'लाजिना पियदसिना दुवाउसवसाभिसितेना इयं कुभा खलतिकपवनसिदिना (आजीवि) केहि।
२. 'लाजिना पियदसिना दुवाउसवसाभिसितेना इयं निगोहकुभा दिना आजीविकेहि।
३. 'लाजपियदसी एकुनवीसतिवसाभिसिते जलघोसागमथात मे इयं कुभा सुपिये' (लितके) दिना।'
४. 'यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥' मनुस्मृति ८।२२०
५. 'तेन देशजातिकुलसंघानां समयस्यानपाकर्म व्याख्यातम्। कौ. अर्थ. ३।१०

बनकर संघ में सम्मिलित होते थे, उनके लिये भी संघ के नियमों और परम्पराओं का अविकल रूप से पालन करना बहुत आवश्यक था। यह न करनेवालों के लिये यदि अशोक ने संघ से बहिष्कार का विधान किया हो,तो यह भारत की प्राचीन मर्यादा के अनुरूप ही था। यदि देश-संघ या जाति-संघ के विघटन को रोकने के लिये राजशक्ति का प्रयोग किया जा सकता था, तो धर्मसंघ में फूट पड़ने से रोकने की व्यवस्था करने में अनौचित्य कैसे माना जा सकता है,विशेषतया उस दशा में जब कि मौर्य युग में राजा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह समझा जाता था कि वह सबको 'स्वधर्म' में स्थिर रखे।[1] अतः पाटलिपुत्र और कौशाम्बी के महामात्रों के नाम जारी की गई आज्ञा को दृष्टि में रखकर यह प्रतिपादित करना कि अशोक राजा के साथ-साथ बौद्ध-संघ के अधिपति की स्थिति भी रखता था, संगत नहीं है।

यह तो निश्चित है, कि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा के कारण उसने उन सब स्थानों की यात्रा की, बुद्ध के जीवन के साथ जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ उसने बहुत दान-पुण्य भी किया, और बहुत-से चैत्य स्तूप आदि भी बनवाए। पर राजा की स्थिति में अशोक जिस धर्म श्रावण, धर्मानुशासन और धर्मविजय के लिये प्रयत्नशील था, उसका प्रयोजन बौद्ध धर्म का प्रचार करना नहीं था। राज्याभिषेक के बीस वर्ष बीत जाने पर अशोक ने बौद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा की थी। उस समय तक बौद्ध धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी। पर उसके छः वर्ष बाद (राज्याभिषेक को हुए छब्बीस वर्ष बीत जाने पर) उसने जो स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण कराए, उनमें भी धर्म का ऐसा अभिप्राय प्रतिपादित किया जो बौद्ध धर्म न होकर सर्वसम्मत, सार्वकालिक और सार्वदेशिक धर्म है। देहली-टोपरा स्तम्भ के लेखों को पहले उद्धृत किया जा चुका है। उनके अनुशीलन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, कि बौद्ध धर्म की दीक्षा ले लेने पर भी अशोक ने अपने सम्प्रदाय के प्रति अनुचित पक्षपात प्रदर्शित नहीं किया।

(४) बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति (महासभा)

बुद्ध के उपदेशों का सही-सही निर्धारण करने के लिये उनके प्रधान शिष्यों की एक सभा उनके निर्वाण के दो मास पश्चात् राजगृह में हुई। पालि साहित्य में इसे प्रथम 'संगीति' कहा गया है। उस समय मगध के राजसिंहासन पर राजा अजातशत्रु विराजमान था। इस महासभा के लिये उसने सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। वेभार सेल (शैल) के पार्श्व में अजातशत्रु द्वारा एक विशाल मण्डप का निर्माण कराया गया, जो अत्यन्त रम्य और देवसभा के सदृश था। विविध प्रकार से इस मण्डप को सुशोभित किया गया और

---

१. कौ. अर्थ. १।३

भिक्षुओं के बैठने के लिये वहाँ कीमती आसन बिछाये गये। मण्डप में दो ऊँचे आसन रखे गये; थेरासन और धम्मासन।[1] थेरासन प्रधान स्थविर के लिये था, और धर्मासन उस भिक्षु के लिये जिसे प्रवचन करना हो। धर्मसंगीति (महासभा) में सम्मिलित भिक्षुओं के भोजन, विश्राम आदि की सब व्यवस्था भी राजा अजातशत्रु की ओर से की गई। ये सब भिक्षु 'अर्हत' थे और इनकी संख्या पाँच सौ थी। महाकस्सप को इस महासभा का अध्यक्ष नियत किया गया। बुद्ध ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, जो प्रवचन किये थे, उन सबका इस महासभा में पाठ किया गया। बुद्ध के शिष्यों में उपालि को विनय या संघ के नियमों के विषय में प्रमाण माना गया, और आनन्द को धम्म (धर्म) के विषय में। उन्होंने जिस रूप में बुद्ध के उपदेशों या शिक्षाओं का प्रवचन किया, अन्य भिक्षुओं ने उसे ही प्रमाण रूप से स्वीकृत कर लिया।

बौद्ध धर्म का प्रचार जिस ढंग से भारत के विविध जनपदों और विभिन्न जातियों में हो रहा था, उसमें यह स्वाभाविक था कि धर्म के मन्तव्यों और आचरण के नियमों के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होने लगे। किसी नये धर्म को स्वीकृत कर लेने मात्र से मनुष्यों के आचरण और विश्वासों में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं आ जाता। उनके परम्परागत अभ्यास और विश्वास नये धर्म को भी प्रभावित करते हैं, और एक ही धर्म विविध देशों में जाकर विभिन्न रूप प्राप्त कर लेता है। यही कारण है, कि बुद्ध की शिक्षाओं को अपनाने वाले विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उन्हें विभिन्न रूप में देखा, और इससे बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् उनके धर्म में दो निकाय (सम्प्रदाय) स्पष्ट रूप से विकसित हो गये थे। इनके नाम थे, स्थविरवाद और महासांघिक। महासांघिक सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने में तत्पर थे, और स्थविरवादी बुद्ध के मानव रूप में विश्वास रखते थे। इस मतभेद और साम्प्रदायिक विकास पर विचार करने के लिये बौद्धों की दूसरी धर्मसंगीति वैशाली नगरी में हुई। इसका आयोजन यश नाम के स्थविर द्वारा किया गया था। इस महासभा का प्रयोजन यही था कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो गये थे, उन पर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाए। इसके अतिरिक्त इस महासभा को उन मतभेदों पर भी विचार करना था, जो कि भिक्षुओं में विनय के नियमों के सम्बन्ध में उत्पन्न हो गये थे। इन नियमों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य भिक्षुओं में गहरा मतभेद था। प्राच्य भिक्षु पाटलिपुत्र और वैशाली के निवासी थे, और पाश्चात्य भिक्षु कौशाम्बी और अवन्ति आदि के। वैशाली की महासभा में इन सब मतभेदों पर विचार किया गया, पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। बौद्ध भिक्षुओं के मतभेद और विवाद निरन्तर बढ़ते गये, और बाद में अनेक नये बौद्ध सम्प्रदायों का विकास हुआ।

---

१. महावंसो ३।१९–२२

वैशाली की महासभा (जो बुद्ध की मृत्यु के लगभग सौ वर्ष बाद हुई थी) के पश्चात् अशोक के समय तक के लगभग १२० वर्षों में बौद्ध धर्म अठारह निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया था। इनके नाम निम्नलिखित थे—स्थविरवाद, हैमवत, वृजिपुत्रक, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मितीय, षाण्णागरिक, सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, महासांघिक, प्रज्ञप्तिवादी, चैतीय, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक और गोकुलिक। इनमें से पहले बारह निकाय स्थविरवाद से उद्भूत हुए थे, और पिछले छः निकाय महासांघिक सम्प्रदाय से। इनमें से कतिपय निकायों के नाम विविध प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि उनका विकास विशेष रूप से उन प्रदेशों में ही हुआ था।

बौद्धधर्म की तीसरी धर्मसंगीति राजा अशोक के समय में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में हुई। इसका अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स (मोद्गलिपुत्र तिष्य) था। कुछ बौद्ध ग्रन्थों में इसे उपगुप्त भी लिखा गया है। सम्भवतः, मोद्गलिपुत्र तिष्य और उपगुप्त एक ही व्यक्ति के नाम थे। इस महासभा द्वारा यह प्रयत्न किया गया कि विविध बौद्ध सम्प्रदायों के मत-भेदों को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्णय किया जाए। इस कार्य के लिये आचार्य तिष्य ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान् और धार्मिक थे। इन भिक्षुओं की सभा स्थविर तिष्य की अध्यक्षता में नौ मास तक होती रही। धर्मसम्बन्धी सब विवाद-ग्रस्त विषयों पर इसमें विचार किया गया। अन्त में मोद्गलिपुत्र तिष्य द्वारा विरचित 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को सबने प्रमाणरूप से स्वीकृत किया। यह कथावत्थु थेरवादी (स्थविरवादी) सम्प्रदाय के अभिधम्म पिटक के पाँचवें सुत्त के रूप में है, और बौद्ध धर्मग्रन्थों के अन्तर्गत है।

महावंसो में बौद्ध धर्म की इस तृतीय धर्मसंगीति का विस्तृत रूप से वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध सम्प्रदायों के पारस्परिक झगड़े अशोक के समय तक इतने अधिक बढ़ चुके थे, कि पाटलिपुत्र के अशोकाराम में सात वर्ष तक 'उपोसथ' भी नहीं हो सका था। बौद्ध संघ को 'चातुर्दिश' माना जाता था। कोई भी बौद्ध भिक्षु चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, संघ में सम्मिलित हो सकता था। संघ में एक पक्ष में एक बार जो उपोसथ होता है, उसमें उपस्थित प्रत्येक भिक्षु को यह कहना पड़ता है कि विगत पक्ष (पखवाड़े) में उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिस द्वारा संघ के विनय (नियमों) का उल्लंघन हुआ हो। पर अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं के इतने अधिक सम्प्रदाय विकसित हो गये थे, और उनके नियमों तथा आचरण आदि में इतना भेद था कि एक सम्प्रदाय के अनु-सार जो बातें विहित थीं, वे अन्य सम्प्रदाय के अनुसार निषिद्ध थीं। महासांघिक सम्प्रदाय के भिक्षु दोपहर के बाद भोजन करने में कोई दोष नहीं मानते थे। पर स्थविरवादी भिक्षु इसे 'विनय' के प्रतिकूल समझते थे। उपोसथ में यदि कोई महासांघिक भिक्षु सम्मिलित हो, तो चाहे वह दोपहर के बाद भी भोजन ग्रहण करता रहा हो, यही कहता था कि उसने

विनय के नियमों का अतिक्रमण नहीं किया है। पर स्थविरवादी भिक्षु उसके इस कथन को स्वीकार नहीं करते थे और उनका यह मत होता था कि उस महासांघिक भिक्षु को उपोसथ में सम्मिलित नहीं होने देना चाहिये। इस प्रकार जो विवाद उत्पन्न हुए, उनके कारण ही जम्बु द्वीप के विभिन्न विहारों में सात वर्ष तक उपोसथ नहीं हो सका। पाटलिपुत्र का अशोकाराम भी ऐसा ही विहार था, जिसमें सात वर्ष से उसोसथ नहीं हुआ था। वहाँ हजारों भिक्षु निवास करते थे, जो विविध सम्प्रदायों के अनुयायी थे। इस दशा में उनमें विनय-सम्बन्धी मतभेदों का होना सर्वथा स्वाभाविक था। जब अशोक को ज्ञात हुआ कि अशोकाराम में भी उपोसथ नहीं हो रहा है, तो उसने अपने एक अमात्य को यह आदेश देकर भेजा कि तुम मेरे 'आराम' (अशोकाराम) में भिक्षुसंघ द्वारा उपोसथ करवाओ। अशोकाराम जाकर अमात्य ने राजा की आज्ञा को क्रियान्वित कराने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। ऐसे भी भिक्षु थे, जो राजा की आज्ञा का पालन करने के लिये उद्यत नहीं हुए। इस पर अमात्य को क्रोध आ गया, और उसने उन सब भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया। जब यह बात अशोक को ज्ञात हुई, तब वह बहुत दुखी हुआ। उस समय मोग्गलिपुत्त तिस्स नामक स्थविर अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिये बहुत प्रसिद्ध था। अशोक ने सोचा, कि इस समस्या पर तिस्स से ही परामर्श करना चाहिये। वही ऐसा उपाय सुझा सकता है, जिससे भिक्षुसंघ में मतभेद दूर हो सकें और फिर से उपोसथ प्रारम्भ हो। जल-मार्ग से नाव द्वारा अत्यन्त आदर के साथ तिस्स को पाटलिपुत्र लाया गया। राजा ने तिस्स का हाथ पकड़ कर स्वयं उसे नाव से उतारा, और चरण प्रक्षालन कर उसका सम्मान किया। तिस्स को पाटलिपुत्र निमन्त्रित करने की कथा महावंसो में प्रायः वही है, जो दिव्यावदान में स्थविर उपगुप्त के सम्बन्ध में है। इसी से यह अनुमान किया गया है, कि तिस्स और उपगुप्त एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। जब स्थविर तिस्स पाटलिपुत्र पधार गये, तो अशोक ने उनसे यह प्रश्न किया कि सुगत (भगवान् बुद्ध) का वास्तविक सिद्धान्त क्या था। तिस्स ने इसका यह उत्तर दिया, कि सुगत विभज्जवादी थे। इस पर अशोक ने उन सब भिक्षुओं को अशोकाराम से बहिष्कृत करा दिया, जो विभज्जवाद के अतिरिक्त किसी अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसके पश्चात् एक सहस्र विभज्जवादी भिक्षुओं की धर्मसंगीति अशोकाराम में हुई, जिसकी अध्यक्षता स्थविर तिस्स ने की। इस संगीति द्वारा कथावत्थु को बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया। विभज्जवाद स्थविरवाद को ही कहते थे। तिस्स के नेतृत्व में हुई धर्मसंगीति ने स्थविरवाद का ही समर्थन किया था।

महावंसो के पाँचवें परिच्छेद में इस धर्मसंगीति का विशद रूप से वर्णन किया गया है। पर इसका उल्लेख न दिव्यावदान आदि संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है, और न चीनी यात्रियों के विवरणों में। अशोक की धर्मलिपियों में भी कहीं इसका निर्देश नहीं है। इससे कुछ विद्वानों ने इस महासभा के सम्बन्ध में सन्देह प्रगट किया है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस महासभा में केवल विभज्जवाद या स्थविरवाद के भिक्षु ही सम्मिलित हुए थे। अतः

अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों ने इस की यदि उपेक्षा की हो और इसका उल्लेख न किया हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। बौद्ध साहित्य के संस्कृत भाषा के ग्रन्थ स्थविरवाद के नहीं हैं। क्योंकि अशोकाराम की धर्म संगीति का सम्बन्ध राज्य संस्था से न होकर बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय के साथ ही था, अतः यदि अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में उसका उल्लेख नहीं किया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

पर यह स्वीकार करना होगा कि इस धर्मसंगीति द्वारा बौद्ध धर्म में नये उत्साह और नवजीवनका सञ्चार हुआ, स्थाविरवाद को असाधारण बल मिला, जिसके परिणामस्वरूप उन प्रचारक-मण्डलों का संगठन हुआ, जिन्होंने भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों और अनेक विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इन प्रचारक-मण्डलों के कार्य पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

उन्नीसवाँ अध्याय

बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रसार

(१) प्रचारक-मण्डलों का संगठन

प्राचीन भारत के इतिहास में छठी सदी ईस्वी पूर्व का बहुत अधिक महत्त्व है। इस सदी में भारत में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने नये धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया। ये नये धर्म वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार नहीं करते थे, और याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रति भी आस्था नहीं रखते थे। बौद्ध (बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टाङ्गिक आर्यमार्ग) धर्म इन नये धर्मों में सर्वप्रधान था। उत्तरी बिहार में शाक्यगण नामक एक जनपद था, जिसका राजधानी कपिलवस्तु थी। वहाँ के गण-राजा शुद्धोदन के घर एक बालक का जन्म हुआ, जिसका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। यही सिद्धार्थ आगे चल कर बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके जीवन वृत्तान्त का संक्षेप के साथ उल्लेख कर सकना भी यहाँ सम्भव नहीं है। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि युवावस्था में ही उन्हें संसार के सुख भोग के प्रति वैराग्य हो गया, और वह गृहस्थ जीवन का परित्याग कर सत्य ज्ञान की खोज के लिये निकल पड़े। अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए और बहुत-से विद्वानों और तपस्वियों का सत्संग करते हुए अन्त में वह उस स्थान पर पहुँच गये, जहाँ वर्तमान समय में बोध गया (बिहार में) है। वहाँ पीपल का एक विशाल वृक्ष था। सिद्धार्थ थक कर उसकी छाया में बैठ गये। अब तक वह सत्य का पता लगाने के लिये अनेक महात्माओं और सम्प्रदायों के सम्पर्क में आ चुके थे। अब उन्होंने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वे एक ही स्थान पर ध्यानमग्न होकर बैठे रहे। अन्त में उन्हें बोध हुआ। उन्हें अपने हृदय में एक प्रकार का प्रकाश-सा जान पड़ा। उनकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उनकी साधना सफल हुई। अब वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गये, और इसी सत्य ज्ञान या बोध के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गये। बौद्धों की दृष्टि में पीपल के इस वृक्ष का बहुत महत्त्व है। यही बोधिवृद्ध कहाता है। इसी के कारण समीपवर्ती गया नगरी भी 'बोध गया' कहाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा में जो बोध सिद्धार्थ को हुआ था, वही बौद्ध धर्म है। महात्मा बुद्ध उसे मध्य-मार्ग या आर्य मार्ग कहते थे। स्वयं सत्य ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्य-मार्ग के प्रचार में लगा दिया। अपने बोध (ज्ञान) का उपदेश सबसे पूर्व उन्होंने सारनाथ में किया। इस उपदेश में बुद्ध ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा था—'भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये

लोक पर दया करने के लिये, देवों और मनुष्यों के प्रयोजन हित-सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।" इस उपदेश के अनुसार बुद्ध के अनेक शिष्य भारत के विविध प्रदेशों में धर्मप्रचार के लिये गये। पर वह स्वयं प्रधानतया भारत के मध्यदेश में ही धर्मप्रचार के लिये भ्रमण करते रहे। उनका अपना विचरण-क्षेत्र उत्तर में हिमालय से लगा कर दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पूर्व में कोशी से पश्चिम में कुरुक्षेत्र तक सीमित रहा। पर उनके अनेक शिष्य उनके जीवन काल में ही दूर-दूर के प्रदेशों में गये।

धर्मप्रचार के कार्य में बुद्ध और उनके शिष्यों को अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। सारिपुत्र और मौद्गलायन जैसे याज्ञिक धर्म के अनुयायियों, उपालि और अभयराजकुमार जैसे निर्ग्रन्थों (निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय के अनुयायियों) और अनाथपिण्डक जैसे समृद्ध गृहपतियों ने बुद्ध के सम्पर्क में आकर उनके धर्म को स्वीकार कर लिया था। मगधराज बिम्बिसार और अजातशत्रु बुद्ध के परम भक्त थे, और बुद्ध जब भी राजगृह गये, इन राजाओं ने न केवल उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया, अपितु उनके उपदेशों का भी श्रद्धापूर्वक श्रवण किया। कोशल के राजा प्रसेनजित भी बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखते थे। उनकी रानी मल्लिका और सोमा तथा सकुला नाम की उनकी दो बहनें तो बुद्ध के प्रभाव में आकर उपासिका भी बन गई थीं। उत्तरी बिहार के वज्जि, मल्ल, बुलि, कोलिय, मोरिय आदि गणराज्यों के निवासी बुद्ध के भक्त थे, और बुद्ध अनेक बार इन राज्यों में धर्मप्रचार के लिये गये थे। बुद्ध ने कोशाम्बी की भी यात्रा की थी। वहाँ का राजा उदयन यद्यपि उनके प्रभाव में नहीं आया था, पर उसकी रानी सामावती उनकी अनुयायिनी बन गई थी। बाद में बुद्ध का अन्यतम शिष्य पिण्डोल भारद्वाज राजा उदयन को भी बुद्ध की शिक्षाओं द्वारा प्रभावित करने में समर्थ हुआ था। अवन्ति का राजा प्रद्योत चाहता था कि बुद्ध उसके राज्य में भी पधारें। इसीलिये उसने उन्हें अवन्ति आने का निमन्त्रण भी दिया था। पर बुद्ध वहाँ नहीं जा सके, और उन्होंने अपने अन्यतम शिष्य महाकच्छायन को अवन्ति भेज दिया। पर उसे वहाँ विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इस सब विवरण को लिखने का प्रयोजन केवल यह है कि बुद्ध के जीवन काल में उनके धर्म के प्रचार क्षेत्र को स्पष्ट किया जा सके। बुद्ध के निर्वाण समय तक उनके धर्म का प्रचार-क्षेत्र मुख्यतया मध्यदेश तक ही सीमित था। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि उस समय तक केवल उन प्रदेशों में ही बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था, जो वर्तमान समय में बिहार और उत्तर प्रदेश के राज्यों के अन्तर्गत हैं। लंकाकी बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्धके निर्वाण और राजा अशोकके राज्याभिषेक में २१८ वर्षों का अन्तर था।[1] इन दो सदियों में बौद्ध धर्म के प्रचार-क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती गई। मध्यदेश के पश्चिम और दक्षिण दोनों दिशाओं में उसका प्रसार हुआ, और वह भारत के प्रमुख सम्प्रदायों में एक हो गया। इसी कारण मैगस्थनीज सदृश ग्रीक यात्रियों

---

१. 'जिन निब्बाणतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो
सठ्ठारसं वस्ससतद्वयमेव विजानियं ॥ (महावंसो १०।२१)

ने ब्राह्मणों के साथ-साथ श्रमणों का भी उल्लेख किया है, और कौटलीय अर्थशास्त्र में भी इस धर्म के निर्देश विद्यमान हैं।[1] पर इन दो सदियों में वौद्ध धर्म का भारत से बाहर अन्य देशों में प्रसार नहीं हो सका, और भारत में भी उसने अधिक उन्नति नहीं की। इसका कारण यह था कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध संघ में अनेक प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न होने लग गये थे, और वौद्धधर्म में अनेक सम्प्रदायों का विकास प्रारम्भ हो गया था। इसी बात को दृष्टि में रख कर वौद्ध धर्म के नेताओं के अनेक महासभाओं का आयोजन किया। लंका की अनुश्रुति में इन महासभाओं को 'धम्मसङ्गीति कहा गया है।[2] पिछले अध्याय में हम इन संगीतियों का संक्षेप से उल्लेख कर चुके हैं। बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति राजा अशोक के शासन काल में स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स (मोद्गलिपुत्र तिष्य) की अध्यक्षता में हुई थी। इसमें बौद्ध सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर सत्य सिद्धान्तों के निर्णय का प्रयत्न किया गया, और अन्त में स्थविर तिष्य द्वारा विरचित 'कथावत्थु' को प्रमाण रूपसे स्वीकृत किया गया। यह संगीति वौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों का तो अन्त नहीं कर सकी, पर इसके प्रयत्न से थेरवाद के अन्यतम सम्प्रदाय विभज्जवाद को बहुत बल प्राप्त हुआ और कुछ समय के लिये वौद्धधर्म में उसी ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इस संगीति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी हुआ कि वौद्ध धर्म में नवजीवन का संचार हुआ और राजा अशोक के संरक्षण में वह उन्नति-पथ पर निरन्तर अग्रसर होने लगा। इस समय तक अशोक बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर चुका था, और उपासक के रूप में वौद्ध आदर्शों के अनुसार जीवन बिताने लगा था। अब उसने संघ के साथ अपने सम्पर्क को अधिक घनिष्ठ कर दिया, और ऐसे आदेश भी जारी किये जिनका प्रयोजन संघ में फूट डालने वाले भिक्षुओं को दण्ड देना था। साथ ही, अशोक ने धर्म विजय की नीति को अपना कर अपने साम्राज्य में और सीमान्त के अन्य राज्यों में ऐसे साधनों को अपनाना प्रारम्भ किया, जिनसे लोगों का ध्यान धर्म की ओर आकृष्ट हो। अशोक की इस धर्म विजय पर हम पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विचार कर चुके हैं।

इसमें सन्देह नहीं, कि तृतीय धर्मसंगीति द्वारा बौद्ध धर्म में नये उत्साह का प्रादुर्भाव हो गया था। इसी नवजीवन व नये उत्साह का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि विविध देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये अनेक प्रचारक-मण्डलों का संगठन किया गया। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इन मण्डलियों के नेताओं और उनके प्रचार-क्षेत्रों की सूची इस प्रकार है।—

देश	प्रचारक-मण्डल के नेता
काश्मीर-गान्धार	मज्झन्तिक (मध्यान्तिक)
महिसमण्डल	महादेव

१. कौटलीय अर्थशास्त्र—३।२०

२. महावंसो—तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम परिच्छेद।

वनवासि (वनवास)	रक्खित (रक्षित)
अपरन्तक (अपरान्तक)	धम्मरक्खित (धर्मरक्षित)
महारट्ठ (महाराष्ट्र)	महाधम्मरक्खित (महाधर्मरक्षित)
योनलोक (यवन देश)	महारक्खित (महारक्षित)
हिमवन्त प्रदेश	मज्झिम
सुवर्ण भूमि	सोण और उत्तर
लङ्का द्वीप	महेन्द्र, सम्बल, भद्रशाल आदि

महावंसो[1] और दीपवंसो[2] दोनों में बौद्ध प्रचारक-मण्डलों की यही सूची पायी जाती है। लङ्का की इस अनुश्रुति में जिन देशों के नाम दिये गये हैं, उनमें लङ्का द्वीप, सुवर्ण भूमि और यवन देश अशोक के 'विजित' (साम्राज्य) के अन्तर्गत नहीं थे। हिमवन्त प्रदेश में भी कतिपय ऐसे क्षेत्र हो सकते हैं, जो अशोक के शासन में न हों। शेष सब देश ऐसे हैं, जो मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे। महिस मण्डल की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट नहीं है। कतिपय विद्वानों ने इसे वर्तमान माइसूर के क्षेत्र में माना है, और कतिपय ने नर्मदा नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेश में। वनवासि की स्थिति उत्तरी कनारा के क्षेत्र में थी, और अपरान्तक की बम्बई के उत्तर में समुद्र-तट के साथ-साथ। महारट्ठ वर्तमान महाराष्ट्र का द्योतक है, या

---

१. 'थेरो मोग्गलिपुत्तो सो जिन सासन जोतको ।
निट्ठापेत्वान सङ्गीतिं पेक्खमानो अनागतं ।।
सासनस्स पतिट्ठानं पच्चन्तेसु अपेक्खिय ।
पेसेसि कत्तिके मासे ते ते थेई तहिं तहिं ।।
थेरं कस्मीरगन्धारं मज्झन्तिकमपेसयि ।
अपेसयि महादेवत्थेरं महिसमण्डलं ।।
वनवासिं अपेसेसि थेरं रक्खितनामकं ।
तथापरन्तकं योनं धम्मरक्खितनामकं ।।
महारट्ठं महाधम्मरक्खितत्थेरनामकं ।
महारक्खितथेरं तु योनलोकमपेसयि ।।
पेसेसि मज्झिमं थेरं हिमवन्तपदेसकं ।
सुवण्णभूमिं थेरे द्वे सोणमुत्तरमेव च ।।
महामहिन्दथेरं तं थेरमिट्टियमुत्तियं ।
सम्बलं भद्दसालं च सके सद्धिविहारिके ।।
लङ्कादीपे मनुञ्ञम्हि मनुञ्ञं जिनसासनं ।
पतिट्ठापेथ तुम्हे ति पञ्च थेरे अपेसयि ।।" महावंसो १२।१-८

२. दीपवंसो (Oldenburg) ८।१-११

उन प्रदेशों का जहाँ कि रठिक (राष्ट्रिक) और पितनिक (पैठानिक) जनपदों की स्थिति थी। काश्मीर और गान्धार भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में थे, और यवन देश हिन्दूकुश पर्वतमाला से पश्चिम के क्षेत्र में। सुवर्णभूमि मौर्य साम्राज्य के पूर्वी सीमान्त से परे के उस प्रदेश को कहते थे, जहाँ अब पेगू और मॉलमीन हैं, और जो अब बरमा राज्य के अन्तर्गत हैं। अशोक की धर्मलिपियों में जिसे ताम्रपर्णी कहा गया है, वह महावंसो का लङ्काद्वीप ही है। जैसा कि हमने इसी अध्याय में ऊपर लिखा है, अशोक से पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार मुख्यतया भारत के मध्यदेश और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में ही हुआ था। स्थविर तिष्य के नेतृत्व में देश-विदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये जो महान् उद्योग हुआ, उसी के कारण काश्मीर, गान्धार, वनवासि, अपरान्तक, महाराष्ट्र और हिमवन्त प्रदेश में प्रचारक-मण्डल गये, और वहाँ उन्होंने बुद्ध के अष्टाङ्गिक आर्य-मार्ग का प्रचार किया। पर तृतीय संगीति द्वारा आयोजित प्रचारक-मण्डलों का कार्यक्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नहीं था। यवनदेश, लङ्काद्वीप और सुवर्ण भूमि में भी स्थविर तिष्य द्वारा प्रचारक-मण्डल भेजे गये थे। ये सब प्रचारक विविध देशों में गये, और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रारम्भ किया। भारत के पुराने राजा चातुर्मास्य के बाद शरद् ऋतु के प्रारम्भ में विजय-यात्रा के लिये जाया करते थे। इन स्थविरों और भिक्षुओं ने भी कार्तिक मास (शरद् ऋतु) में धर्म विजय के लिये प्रस्थान किया था।[1]

बौद्ध अनुश्रुति में प्रचारक-मण्डलों के जिन नेताओं के नाम दिये गये हैं, उनके अस्तित्व की सूचना कतिपय प्राचीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी उपलब्ध होती है। साञ्ची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गये पत्थर के सन्दूक में एक धातुमंजूषा (वह संदूकड़ी जिसमें अस्थि या फूल रखे गये हों) ऐसी मिली है, जिस पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है। एक अन्य धातुमंजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत्त, मज्झिम तथा 'सबहिमवतचरिय' (सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कस्सपगोत के नाम खुदे हैं। इन मञ्जूषाओं में इन्हीं प्रचारकों के धातु (अस्थि या फूल) रखे गये थे और वह स्तूप इन्हीं के ऊपर बनाया गया था। साञ्ची से पाँच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप में भी धातु मञ्जूषाएँ पायी गयी हैं, जिनमें से एक पर कस्सपगोत का और दूसरी पर दुन्दुभिसर के दामाद गोतीपुत के नाम उत्कीर्ण हैं। महावंसो में हिमवन्त प्रदेश में धर्म प्रचार के लिये भेजे गये प्रचारकों में से केवल एक मज्झिम का नाम दिया गया है। पर दीपवंसो में उसके अतिरिक्त कस्सपगोत और दुन्दुभिसर के भी नाम हैं। निस्सन्देह, कस्सपगोत और दुन्दुभिसर स्थविर मज्झिम के साथ हिमवन्त प्रदेशों में धर्म प्रचार के लिये गये थे। साञ्ची क्षेत्र के स्तूपों में प्राप्त ये धातु मञ्जूषाएँ इस बात का ठोस प्रमाण हैं, कि बौद्ध अनुश्रुति की प्रचारक-मण्डलियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ यथार्थ सत्य पर आधारित हैं। अशोक की धर्मलिपियों में कम्बोज,

---

१. महावंसो १२।२

गान्धार, यवनदेश, नाभक-नाभपंक्ति, भोज, राष्ट्रिक, पितनिक, आन्ध्र और पुलिन्द आदि में धर्म महामात्रों की नियुक्ति का उल्लेख है, और अन्तियोक आदि पाँच यवन राजाओं के राज्यों में तथा चोल, पाण्डय, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी में अन्तमहामात्रों की नियुक्ति तथा दूत भेजे जाने का विवरण है। सम्भवतः, धर्म विजय की नीति की सफलता के लिये अशोक द्वारा जो धर्ममहामात्र आदि भेजे गये थे, वे उन प्रचारकों से भिन्न थे, जिन्हें तृतीय धम्मसंगीति की समाप्ति पर स्थविर मोद्गलिपुत्र तिष्य ने देश-विदेश में धर्म-प्रचार के लिये भेजा था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि राजा अशोक द्वारा धर्म विजय के लिये जो 'पराक्रम' (प्रयत्न) किया जा रहा था, वह बौद्ध धर्म के प्रचारकों के लिये बहुत सहायक हुआ।

महावंसो में जिन धर्म प्रचारकों के नाम दिये गये हैं, उनमें एक योन धम्मरक्खित भी है। इस स्थविर के नाम के साथ योन (यवन) शब्द का होना महत्त्व की बात है। यह स्थविर यवन जाति का था, और इसे अपरान्तक देश में धर्म प्रचार के लिये भेजा गया था। अशोक के समय तक बहुत-से यवनों ने भी बौद्ध धर्म को अपना लिया था, और उनमें से कुछ ने भिक्षु व्रत ग्रहण कर बौद्ध संघ में इतनी ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली थी, कि यवन धम्म-रक्खित को एक प्रचारक-मण्डल का नेता बनाया जा सका था। महावंसो के नामों में चार प्रचारक-मण्डलों के नेताओं के नाम परस्पर मिलते-जुलते हैं। रक्खित (वनवासि), योन धम्मरक्खित (अपरान्तक), महारक्खित (यवन देश) और महाधम्मरक्खित (महा-राष्ट्र) से यह सन्देह होता है, कि महावंसो में विद्यमान अनुश्रुति यथार्थ न होकर कल्पित है। पर धर्माचार्यों के नाम उनके वास्तविक नामों से प्रायः भिन्न हुआ करते हैं, और उनका एक सदृश होना कोई असाधारण या आश्चर्यजनक बात नहीं है।

(२) लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार

जो प्रचारक-मण्डल लंका में कार्य करने के लिये गया, उसका नेता थेर (स्थविर) महामहिन्द (महेन्द्र) था। वह राजा अशोक का पुत्र था। उसके साथ कम से कम चार भिक्षु और थे, जिनके नाम महावंसो में इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल (भद्रशाल) लिखे गये हैं। महेन्द्र की माता का नाम 'देवी' था। वह विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। राजा बिन्दुसार के शासन-काल में जब अशोक अवन्ति राष्ट्र का शासक था, देवी से उसका परिचय हुआ था। यह परिचय प्रेम के रूप में परिवर्तित हो गया, और उन्होंने विवाह कर लिया। अशोक को देवी से दो सन्तानें हुईं, जिनके नाम महेन्द्र और संघमित्रा थे। संघमित्रा आयु में महेन्द्र से दो साल छोटी थी। जैसा कि पिछले एक अध्याय में लिखा जा चुका है, संघमित्रा का विवाह अशोक के भागिनेय अग्निब्रह्मा के साथ हो गया था, और इस विवाह से उनकी एक सन्तान भी हुई थी, जिसका नाम सुमन था। पर संघमित्रा ने देर तक गृहस्थ जीवन व्यतीत नहीं किया। जब उसके भाई महेन्द्र ने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु बनना स्वीकार किया, तभी संघमित्रा भी भिक्षुणी बन गई। प्रव्रज्या ग्रहण करते समय

महेन्द्र की आयु बीस साल की थी, और संघमित्रा की अठारह साल। अशोक के धर्मगुरु मोद्गलिपुत्र तिष्य ने ही इन दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया था। सम्भवतः, महेन्द्र अशोक का ज्येष्ठ पुत्र था। अतः युवराज पद का वही अधिकारी था। स्वाभाविक रूप से अशोक की यह इच्छा थी, कि महेन्द्र युवराज के पद पर अभिषिक्त हो। पर स्थविर तिष्य के प्रभाव से अशोक ने युवराज पद से प्रव्रज्या को अधिक महत्त्व दिया, और बुद्धि, रूप तथा बल में उत्कृष्ट अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री सङ्घमित्रा को भिक्षुव्रत स्वीकार करने की अनुमति प्रदान कर दी।[1] लंका की प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उस द्वीप में बौद्ध धर्म के प्रचार का मुख्य श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को ही प्राप्त है।

इस समय लंका के राजसिंहासन पर 'देवानांप्रिय तिष्य' विराजमान था। अशोक से उसकी मित्रता थी। राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् तिष्य ने अपना एक दूतमण्डल अशोक के पास भेजा, जो बहुत-से मणि, रत्न आदि मौर्य राजा की सेवा में भेंट करने के लिये ले गया। महावंसो में इन उपहारों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है कि अपने राज्य में उत्पन्न होने वाले अमूल्य और आश्चर्यकारी रत्नों को देख कर तिष्य ने सोचा कि मेरा मित्र धर्माशोक ही ऐसा है जो इन रत्नों का अधिकारी है। उसने अपने भागिनेय (भानजे) महारिट्ट को दूतमण्डल का नेता नियुक्त किया और अनेक योग्य अमात्यों से युक्त दूतमण्डल को अशोक की सेवा में भेज दिया। लंका का दूतमण्डल सात दिन में नाव द्वारा ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुँचा और उसके सात दिन बाद पाटलिपुत्र। अशोक ने इस दूतमण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। लंका के राजा तिष्य द्वारा भेजे गये बहुमूल्य उपहारों को देख कर अशोक बहुत प्रसन्न हुआ। उन्हें स्वीकार कर अशोक ने भी तिष्य के लिये बहुत-से उपहार दूतमण्डल को प्रदान किये। पाँच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। इसके बाद जिस मार्ग से वह आया था, उसी से लंका वापस लौट गया। दूतमण्डल को विदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम यह संदेश भेजा--"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ, मैं धम्म की शरण में चला गया हूँ, मैं संघ की शरण में चला गया हूँ। मैंने शाक्य मुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। आप भी इसी उत्कृष्ट त्रिरत्न--बुद्ध, धम्म और संघ की शरण लेने के लिये मन को तैयार करें।[2]"

---

१. 'उपरज्जं महिन्दस्स दातुकामो पि भूपति।
ततो पि अधिका सा'ति पब्बज्जं येव रोचयि॥
पियं पुत्तं महिन्दञ्च बुद्धिरूपबलोदितं।
पब्बज्जापेसि समहं संघमित्तञ्च धीतरं॥' महावंसो ५।२०२-२०३

२. "अहं बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
उपासकत्तं वेदेसि सक्य पुत्तस्स सासने॥
त्वं पिमानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम।
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज॥" महावंसो ११।३३-३४

इधर तो अशोक का यह सन्देश लेकर महारिट्ठ लंका वापस जा रहा था, उधर स्थविर मोग्ग लिपुत्त तिस्स के आदेशानुसार भिक्षु महेन्द्र अपने साथियों के साथ लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से प्रस्थान करने को कटिबद्ध था। लंका जाने से पूर्व महेन्द्र ने अशोक की अनुमति से अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों से मिलने का विचार किया। इसमें उसे छः मास लग गये। महेन्द्र की माता देवी उन दिनों विदिसगिरि (विदिशा) में निवास कर रही थी। अपने पुत्र से मिल कर वह बहुत प्रसन्न हुई। विदिशा में महेन्द्र की माता देवी द्वारा बनवाया हुआ एक विहार था। महेन्द्र इस विहार में ही ठहरा। सम्भवतः, यह साञ्ची के बड़े स्तूप के साथ का विहार था, जिसे अशोक की रानी 'देवी' ने बनवाया था। विदिशा में निवास करते हुए भी महेन्द्र बौद्ध धर्म के प्रचार में व्यापृत रहा। वहाँ उसने अपनी माता की दोहती के पुत्र भण्डुक को प्रव्रज्या प्रदान की। भण्डुक भी भिक्षु बनकर महेन्द्र की प्रचारक-मण्डली में सम्मिलित हो गया।

विदिशा से महेन्द्र सीधा लंका गया। अनुराधपुर से आठ मील पूर्व की ओर वह जिस जगह उतरा, उसका नाम महिन्दतल पड़ गया। अब भी वह स्थान 'मिहिन्तले' कहाता है। अशोक के संदेश के कारण लंका का राजा देवानांप्रिय तिष्य पहले ही बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग रखता था। उसने महेन्द्र और उसके साथियों का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। एक बौद्ध कथा के अनुसार राजा तिष्य अपने चालीस हजार अनुचरों के साथ हिरण के शिकार में लगा हुआ था। हिरण का रूप धारण करके एक देवता आया, और तिष्य को उस स्थान पर ले गया जहाँ महेन्द्र ठहरा हुआ था।[1] इस कथा की सत्यता पर विचार-विमर्ष करना निरर्थक है। यह कहा जा सकता है, कि तिष्य ने चालीस हजार साथियों के साथ महेन्द्र का स्वागत किया, और उसका उपदेश सुनकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

राजकुमारी अनुला ने भी यह इच्छा प्रगट की, कि वह अपनी पाँच सौ सहचरियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करे। पर उसे निराश होना पड़ा। उसे बताया गया कि भिक्षुओं को स्त्रियों को दीक्षित कर सकने का अधिकार नहीं है। स्त्री को दीक्षा भिक्षुणी ही दे सकती है। इस पर राजा तिष्य ने महारिट्ठ के नेतृत्व में एक दूतमण्डल फिर पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला कार्य महेन्द्र की बहिन संघमित्रा को लंका आने के लिये निमन्त्रित करना था, ताकि कुमारी अनुला और लंकानिवासिनी अन्य महिलाएँ बौद्ध धर्म की दीक्षा ले सकें। दूसरा कार्य बोधिवृक्ष की एक शाखा को लंका लाना था। बौद्धों की दृष्टि में बोधिवृक्ष का बहुत अधिक महत्त्व है। अतः तिष्य चाहता था, कि लंका में भी उसकी एक शाखा का आरोपण किया जाए, ताकि श्रद्धालु बौद्ध उसकी यथाविधि पूजा कर पुण्य लाभ प्राप्त कर सकें। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से वियुक्त नहीं होना

१. Copleston : Buddhism, Past and Present in India and Ceylon p.317

चाहता था, पर बौद्ध धर्म के प्रसार की दृष्टि से उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति प्रदान कर दी। बोधिवृक्ष की शाखा को लंका भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। अनेक धार्मिक अनुष्ठानों के साथ सुवर्णनिर्मित कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गई, और उसे बड़े प्रयत्न से लंका तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया। इस शाखा को लंका तक किस प्रकार पहुँचाया गया, इसका वर्णन लंका के बौद्ध ग्रंथों में बड़े विशद रूप से किया गया है।[1] वहाँ इसका स्वागत करने के लिये पहले से ही सब तैयारियाँ की जा चुकी थीं। बड़े सम्मान के साथ लंका में बोधिवृक्ष की शाखा का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है, और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से एक है।

महेन्द्र के निवास के लिये लंका के राजा देवानांप्रिय तिष्य ने एक विहार का निर्माण कराया था, जो 'महाविहार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। संघमित्रा के निवास के लिये भी एक स्त्री-विहार का निर्माण कराया गया था। लंका आ कर संघमित्रा ने राजकुमारी अनुला और उसकी पाँच सौ सहचरियों को बौद्ध धर्मों में दीक्षित किया। राजा तिष्य ने बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के निवास के लिये अन्य भी अनेक विहारों आदि का निर्माण कराया। जिस स्थान पर (लंका में) महेन्द्र पहले-पहल उतरा था (जिसे महावंसो में मिस्स पर्वत लिखा गया है, और जो बाद में महिन्दतल या मिहिन्तले कहाने लगा), वहाँ तिष्य ने ६८ पर्वत-गुहाएँ बनवायीं, ताकि वर्षाऋतु में भिक्षु वहाँ सुखपूर्वक निवास कर सकें। अशोक से तिष्य ने बुद्ध का भिक्षापात्र और अनेक 'धातु' (शरीर के अवशेष) भी प्राप्त किये, और उन पर स्तूपों तथा चैत्यों का निर्माण कराया। राजा तिष्य की श्रद्धा के कारण लंका में शीघ्र ही बहुत-से बौद्ध विहारों, चैत्यों आदि का निर्माण हुआ, और बहुत-से नर-नारियों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। धीरे-धीरे लंका के सब निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये।

संघमित्रा के निवास के लिये तिष्य ने जो विहार बनवाया था, वहीं पर भिक्षुणी बनने के ५९ वर्ष बाद अर्थात् ७९ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। महेन्द्र की मृत्यु उससे एक साल पूर्व हो चुकी थी। मृत्यु के समय महेन्द्र की आयु ८० वर्ष की थी।

लंका में बौद्ध धर्म के प्रसार का जो वृत्तान्त ऊपर दिया गया है, वह महावंसो और दीपवंसो के आधार पर है। इसके अनुसार महेन्द्र राजा अशोक का पुत्र था। पर दिव्यावदान में महेन्द्र को अशोक का भाई कहा गया है। चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग ने भी महेन्द्र को अशोक का छोटा भाई लिखा है। इनका लंका के इतिवृत्त से एक भेद यह भी है कि इनके अनुसार लंका जाते हुए महेन्द्र सीधे वहाँ न जाकर दक्षिण भारत में प्रचार करते हुए लंका गया था। दिव्यावदान के अनुसार महेन्द्र कावेरी के तटवर्ती प्रदेश में भी गया था,

---

१. **महावंसो—अठारहवाँ परिच्छेद।**

और वहाँ उसने एक विहार का भी निर्माण कराया था। सातवीं सदी में जव ह्यु एन्त्सांग भारत की यात्रा करता हुआ दक्षिण गया था, तव उसने भी इस विहार को देखा था। उसने लिखा है–"इस नगर (मलकूट) के पूर्व में कुछ दूरी पर एक पुराना संघाराम है जिसके भवन और आँगन सव झाड़ झंकाड़ से ढके हुए हैं, केवल आधार की दीवारें सुरक्षित बची हुई हैं। इसे राजा अशोक के छोटे भाई महेन्द्र ने वनवाया था।"[1] यद्यपि ह्यु एन्त्सांग के अनुसार महेन्द्र अशोक का भाई था, पर लंका में वौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय इस चीनी यात्री ने भी महेन्द्र को ही दिया है। उसने लिखा है—सिंहल के राज्य में पहले अनैतिक धार्मिक पूजा प्रचलित थी। पर बुद्ध की मृत्यु के वाद सौ वर्ष वीत जाने पर अशोक राजा के छोटे भाई महेन्द्र ने सांसारिक सुख वैभव का परित्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण किया और अर्हत पद प्राप्त किया। वह सिंहल देश में गया और वहाँ उसने सद्धर्म का प्रचार किया। महेन्द्र के प्रयत्न से ही सिंहल के निवासियों के हृदय में सद्धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई, और उन्होंने सौ संघारामों का निर्माण किया जिनमें वीस हजार भिक्षु निवास करने लगे।[2]

महेन्द्र अशोक का पुत्र था या भाई, यह प्रश्न इतने महत्त्व का नहीं है जितना कि यह प्रश्न कि लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में जो कथा महावंसो और अन्य प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति में पायी जाती है वह किस अंश तक सत्य पर आधारित है। अनेक ऐतिहासिकों ने इस कथा की सत्यता पर सन्देह प्रगट किया है। उनका कथन है कि लंका की प्राचीन अनुश्रुति में वहुत-सी वातें केवल कल्पना पर आश्रित हैं, और उन्हें मुख्यतया इस कारण कल्पित किया गया है ताकि लंका में स्थित बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों के माहात्म्य में वृद्धि की जा सके। महावंसो के अनुसार साक्षात् बुद्ध ने भी स्वयं लंका की यात्रा की थी, और इस द्वीप को विशुद्ध करने के लिये वह वहाँ पधारे थे।[3] पर हमें ज्ञात है, कि बुद्ध के धर्मप्रचार का क्षेत्र भारत के मध्यदेश तक ही सीमित था। यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है, कि उन्हें लंका जाने का अवकाश मिल सका था। वुद्ध की लंका यात्रा की कल्पना केवल इसलिये की गई है, कि वौद्ध धर्म की दृष्टि से लंका की महिमा वढ़ सके। महेन्द्र के सम्वन्ध में भी जो अनेक वातें महावंसो आदि में लिखी गई हैं, वे पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हैं। महावंसो के अनुसार मिस्स पर्वत की गुफाओं का निर्माण राजा तिष्य द्वारा इस प्रयोजन से कराया गया था, ताकि महेन्द्र और उसके साथी वर्षा ऋतु में वहाँ निवास कर सकें। पर इन गुफाओं में जो उत्कीर्ण लेख विद्यमान हैं, उनसे सूचित होता है कि इनका निर्माण किसी एक समय में न हो कर भिन्न-भिन्न समयों में हुआ, और इनके निर्माण में एक सदी से भी

---

१. Beal : Buddhist Records of the Western World Vol. II pp 91-92

२. Ibid pp 246-47

३. महावंसो १९-२०

अधिक समय लगा। बौद्ध धर्म के इतिहास में राजा अशोक का जो असाधारण महत्त्व है, उसे दृष्टि में रख कर यदि लंका के विद्वानों ने अपने देश का अशोक के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। महावंसो आदि में संकलित प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर अविकल रूप से विश्वास करना तो उचित नहीं है, पर साथ ही उसकी पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। उसमें सत्य का अंश अवश्य है, और यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को ही दिया जाना चाहिये।

(३) दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार

स्थविर मोद्गलिपुत्र तिष्य की योजना के अनुसार जो अनेक प्रचारक-मण्डल विविध देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे, उनमें से चार को दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार मुख्यतया उत्तर भारत में विन्ध्याचल के उत्तर में ही हुआ था। लंका के समान दक्षिण भारत में भी बुद्ध के अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग का प्रथम प्रवेश अशोक के समय में ही हुआ। धर्मविजय की नीति का अनुसरण करते हुए अशोक ने चोड, पाण्ड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के सीमान्तवर्ती स्वतन्त्र राज्यों में जहाँ अन्त-महामात्रों की नियुक्ति की थी, वहाँ अपने 'राज विषय' में रठिक, भोज, पेतनिक, आन्ध्र और पुलिन्द में (जिनकी स्थिति दक्षिण भारत में थी) धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया था। दक्षिण भारत के विविध प्रदेशों में जहाँ एक ओर अशोक के अन्त-महामात्र और धर्म-महामात्र धर्म के 'सार' की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने में तत्पर थे, वहाँ स्थविर मोद्गलिपुत्र तिष्य द्वारा प्रेषित प्रचारक-मण्डल वहाँ के लोगों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। दक्षिण भारत के इन बौद्ध प्रचारकों के कार्य का वर्णन महावंसो में इस प्रकार किया गया है—

स्थविर महादेव महिसमण्डल देश में गया। वहाँ उसने जनता के मध्य में 'देवदूत-सुत्तन्त' का उपदेश किया। उसे सुन कर चालीस हजार व्यक्तियों की धर्मचक्षुएँ खुल गईं, और उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुव्रत स्वीकार कर लिया।

स्थविर रक्खित आकाश मार्ग से वनवास देश को गया, और वहाँ उसने जनता के बीच 'संयुत्त अनतमग्गा' का उपदेश किया। उसे सुनकर साठ हजार मनुष्य बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये, और सैंतीस हजार ने प्रव्रज्या ग्रहण की। इस स्थविर ने वनवास देश में पाँच सौ विहारों का भी निर्माण कराया, और बुद्ध के धर्म (जिन शासन) को भली-भाँति स्थापित किया।

स्थविर योन धम्मरक्खित अपरान्तक देश में गया। वहाँ उसने जनता को 'अग्गिक्ख-न्धोपमसुत्त' का उपदेश दिया। यह स्थविर धर्म और अधर्म के भेद को बहुत अच्छी तरह समझता था। उसके प्रवचन को सुनने के लिये सैंतीस हजार मनुष्य एकत्र हुए। उनमें से

एक हजार पुरुषों और इससे भी अधिक स्त्रियों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु जीवन स्वीकार किया। ये सब स्त्री-पुरुष विशुद्ध क्षत्रिय जाति के थे।

स्थविर महाधम्मरक्खित महारट्ठ (महाराष्ट्र) देश में गया। वहाँ उसने 'महानारदकस्सपव्ह जातक' का उपदेश किया। चौरासी हजार मनुष्यों ने सत्य बौद्ध मार्ग का अनुसरण किया, और तेरह हजार ने भिक्षुव्रत की दीक्षा ग्रहण की।[1]

आन्ध्र, चोड, पाण्ड्य, सातियपुत्र और केरलपुत्र आदि दक्षिण के प्रदेशों में मोग्गलिपुत्र तिष्य द्वारा कोई प्रचारक-मण्डल भेजे गये थे या नहीं, बौद्ध अनुश्रुति द्वारा इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। पर सम्भव है कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार महेन्द्र और उसके साथियों ने ही किया हो। जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, कावेरी नदी के तटवर्ती प्रदेश में मलकूट नगर के समीप एक विहार था, जिसे महेन्द्र द्वारा निर्मित माना जाता था। सातवीं सदी में ह्यु एन्त्सांग ने इस विहार को अपनी आँखों से देखा था। सम्भवतः, यह विहार महेन्द्र द्वारा दक्षिण भारत में किये गये प्रचार-कार्य का जीता जागता प्रमाण था।

(४) खोतन में बौद्ध धर्म का प्रचार

मौर्य युग में भारत का मध्य एशिया के साथ संबंध विद्यमान था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार राजा अशोक के समय में खोतन में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, और मध्य एशिया का यह प्रदेश बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। गत वर्षों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतन में जो खुदाई हुई है, उससे इस प्रदेश में बौद्ध मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के बहुत-से अवशेष प्रकाश में आये हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन काल में यह प्रदेश बृहत्तर भारत का ही अन्यतम अंग था। पाँचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान ने और सातवीं सदी में ह्युएन्त्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है कि उनके समय में खोतन देश के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, बहुत-से बौद्ध विद्वान् वहाँ निवास करते थे, वहाँ के अनेक नगर बौद्ध धर्म की शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, और सारा देश बौद्ध विहारों और स्तूपों से परिपूर्ण था।

महावंसो आदि लङ्का के बौद्ध ग्रन्थों में किसी ऐसे प्रचारक-मण्डल का उल्लेख नहीं है, जो खोतन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गया हो। पर तिब्बत और चीन की बौद्ध अनुश्रुति से सूचित होता है कि खोतन में भी बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के समय में ही हुआ था। रॉकहिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाइफ आफ बुद्ध' में प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति

---

१. महावंसो—१२।२९-३८

को संकलित किया है। वहाँ खोतन में बौद्ध धर्म के प्रवेश के सम्बन्ध में जो कथा दी गई है, वह संक्षेप में इस प्रकार है––

बुद्ध काश्यप के समय में कुछ ऋषि खोतन देश में गये, पर वहाँ के लोगों ने उनके साथ बहुत बुरा बरताव किया। इस कारण वे वहाँ से चले गये। इससे नागों को बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण खोतन को एक झील के रूप में परिवर्तित कर दिया। जब बुद्ध शाक्य-मुनि इस संसार में विद्यमान थे, वे भी खोतन पधारे थे। उन्होंने खोतन की झील को प्रकाश की किरणों से घेर लिया। इस प्रकाश से ३६३ फूल उत्पन्न हुए। प्रत्येक कमल के मध्य में में एक-एक प्रदीप दीप्त हो रहा था। सब कमलों का प्रकाश एक स्थान पर एकत्र हो गया, और इस प्रकाश ने झील के चारों ओर बायें पार्श्व से दायें पार्श्व की तरफ तीन बार चक्कर लगाया। इसके पश्चात् प्रकाश लुप्त हो गया। बुद्ध शाक्यमुनि ने इसी प्रकार के अन्य भी अनेक प्रयोग किये, जिनके प्रभाव से खोतन की झील सूख गई, और खोतन देश एक बार फिर मनुष्यों के निवास के योग्य हो गया।

राजा अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। उसके राज्याभिषेक के पाँच वर्ष बाद भगवान् बुद्ध की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद भी अजातशत्रु राज्य करता रहा। अजातशत्रु से धर्माशोक तक कुल दस राजा हुए। धर्माशोक ने ५४ वर्ष तक राज्य किया।

भगवान् बुद्ध की मृत्यु के २३४ वर्ष बाद भारत में धर्माशोक का राज्य था। यह राजा पहले बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। इसने बहुत-से मनुष्यों की हत्या की थी। पर बाद में अशोक धार्मिक हो गया। उसने अर्हत यश द्वारा बौद्ध धर्म की दीक्षा ली, और भविष्य में कोई भी पाप न करने की प्रतिज्ञा की। इस समय खोतन की झील सूख चुकी थी, पर देश आबाद नहीं हुआ था।

राज्याभिषेक के तीसवें साल में अशोक की महारानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योति-षियों ने बतलाया कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवनकाल में ही राजा बन जायगा। यह जान कर अशोक को बहुत चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाए। परित्याग कर देने के पश्चात् भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसी कारण उसका नाम कु-स्तन (कु= भूमि जिसके लिये स्तन हो) पड़ गया।

उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्त्व का शासन था। उसके ९९९ पुत्र थे। बोधि-सत्त्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की कि उसके एक पुत्र और हो जाए, ताकि उसके पुत्रों की संख्या पूरी एक हजार हो जाए। वैश्रवण ने सोचा कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्वल है। वह उसे चीन ले गया, और उसे बोधिसत्त्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्त्व के पुत्रों से झगड़ा हुआ, तो उन्होंने उससे कहा––'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह सुन कर कुस्तन बहुत उद्विग्न हुआ। उसने निश्चय किया, कि राजा से बात करके अपने देश का पता लगाऊँगा। पूछने पर राजा ने कहा––'तू मेरा ही पुत्र है।

यही तेरा अपना देश है, तुझे दुखी नहीं होना चाहिये।' पर कुस्तन को इससे संतोप नहीं हुआ। उसकी इच्छा थी, कि मेरा भी अपना राज्य हो। अपने निश्चय पर दृढ़ रह कर उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया और पश्चिम की ओर चल पड़ा। इस प्रकार पश्चिम की ओर चलते-चलते वह खोतन देश के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

राजा धर्माशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आँखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने निश्चय किया कि भारत को छोड़कर अपने लिये नया क्षेत्र ढूँढ ले। सात हजार साथियों को अपने साथ लेकर उसने भारत से प्रस्थान कर दिया, और सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों की ढूँढ प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार वह खोतन देश में उ-थेन नदी के दक्षिणी तट पर जा पहुँचा।

अब ऐसा हुआ कि कुस्तन के साथियों में से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में गये। यह प्रदेश उस समय सर्वथा गैर-आवाद था। इसकी रमणीकता को देख कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन द्वारा आवाद किये जाने के योग्य है। वे व्यापारी तो-ला से अमात्य यशके शिविर में गये। यश तो-ला प्रदेश के दक्षिण में एक स्थान पर निवास कर रहा था। जव यश को कुस्तन के सम्बन्ध में पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा--'तुम राजकुल के हो और मैं भी कुलीन परिवार का हूँ। क्या ही अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जाएँ और इस उ-थेन प्रदेश को आपस में मिलकर आवाद करें। तुम राजा वनो, और मैं तुम्हारा मंत्री वनूँ।' यह प्रस्ताव कुस्तन को वहुत पसन्द आया। उसने अपने चीनी साथियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आवाद किया। कुस्तन राजा वना, और यश उसका मन्त्री। कुस्तन के चीनी साथी उ-थेन नदी के निचले भाग में वसे और यश के भारतीय साथी उ-थेन के उपरले भाग में। वीच के क्षेत्र में चीनी और भारतीय साथ-साथ निवास करने लगे। तदनन्तर उन्होंने एक दुर्ग का निर्माण किया, जो इस प्रदेश की राजधानी वना।

खोतन देश में भारतीयों के वसने की इस कथा के पश्चात् तिव्वती अनुश्रुति में यह लिखा है कि खोतन देश आधा चीनी है, और आधा भारतीय। अतः वहाँ के निवासियों की भापा न तो भारतीय ही है, और न चीनी ही, अपितु दोनों का मिश्रण है। अक्षर वहुत-कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं। लोगों की आदतें वहुत-कुछ चीन से प्रभावित हैं। धर्म और भापा भारत से मिलती है। खोतन में वहाँ की वर्तमान भापा का प्रवेश आर्यों (वौद्ध प्रचारकों) द्वारा हुआ है।[१]

वौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कुस्तन जव वोधिसत्त्व को छोड़कर नये राज्य की खोज में में चला था, तो उस की आयु केवल वारह साल की थी। जव उसने ली-युल (खोतन) राज्य की स्थापना की, तव वह सोलह साल का हो चुका था। भगवान् वुद्ध के निर्वाण से ठीक

१. Rockhill : Life of Buddha

२३४ वर्ष वाद खोतन राज्य की स्थापना हुई। अशोक अभी जीवित था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई कि कुमार कुस्तन अपने पिता के जीवन काल में ही राजा बन जायगा।

खोतन में कुस्तन द्वारा अपने राज्य की स्थापना किस प्रकार की गई, यह कथा देकर तिब्वती अनुश्रुति में वहाँ वौद्ध धर्म के इतिहास का उल्लेख किया गया है। उसे यहाँ उद्धृत करने की इस कारण आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका सम्वन्ध अशोक के काल से नहीं है। पर तिब्वती अनुश्रुति की जो वातें ऊपर दी गई हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि राजा अशोक के समय में भारतीयों द्वारा अपना एक उपनिवेश खोतन में वसाया गया था, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग उन्हें प्राप्त था। कुस्तन और यश धर्म प्रचारकों के रूप में खोतन नहीं गये थे। वे वहाँ उपनिवेश वसाने के लिये गये थे। इस युग में भारत की राजनीतिक शक्ति बहुत अधिक थी। हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे के भूखण्ड के साथ भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतीय व्यापारी इस क्षेत्र के देशों में व्यापार के लिये आते-जाते रहते थे। साहसी भारतीय अपने अभिजन को सदा के लिये नमस्कार कर सुदूर प्रदेशों में अपनी वस्तियाँ बसाने में भी तत्पर थे। खोतन का नया राज्य भारतीयों की इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। तिब्वती अनुश्रुति की जो कथा ऊपर दी गई है, उसकी अनेक बातें विश्वसनीय नहीं हैं। खोतन का झील के रूप में परिवर्तित हो जाना, शाक्य मुनि बुद्ध द्वारा उसका सुखाया जाना और बुद्ध का खोतन प्रदेश में जाना ऐसी वातें हैं, जिन्हें सत्य नहीं माना जा सकता। पर यह सही है, कि खोतन की प्राचीन भाषा, धर्म और संस्कृति आदि पर भारत का गहरा प्रभाव था, और यह सर्वथा सम्भव है, कि इस देश में भारतीय धर्म और सभ्यता के प्रवेश का सूत्रपात अशोक के समय में ही हुआ हो। कुस्तन के अशोक का पुत्र होने की वात भी सन्देहास्पद हो सकती है। पर तिब्वती अनुश्रुति के आधार में जो सत्य का अंश है, वह यह है कि खोतन का प्रारम्भ भारत के एक उपनिवेश के रूप में हुआ था और अशोक के समय में वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रवेश प्रारम्भ हो गया था।

खोतन के आवाद किये जाने के सम्वन्ध में जो कथाएँ चीनी अनुश्रुति में पायी जाती हैं, वे तिब्वती अनुश्रुति की कथा से भिन्न हैं। चीनी अनुश्रुति की एक कथा को ह्युएन्त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में उल्लिखित किया है। उसके अनुसार जब कुमार कुनाल तक्षशिला में शासन करने के लिये नियुक्त था, तो उसकी विमाता तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्यावश उसे अन्धा करने की आज्ञा (अशोक की दन्तमुद्रा के साथ) तक्षशिला के अमात्यों को भिजवा दी। राजकीय आज्ञा का पालन किया ही जाना चाहिये, यह कह कर कुनाल ने स्वयं अपनी आँखों को निकलवा दिया। यह कथा प्रायः वही है, जो दिव्यावदान में पायी जाती है और जिसका हमने अन्यत्र विस्तार के साथ उल्लेख भी किया है। ह्युएन्त्सांग के अनुसार जव राजा अशोक को अपने प्रिय पुत्र कुनाल के अन्धा किये जाने का समाचार ज्ञात हुआ,

तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने तक्षशिला के उन सब लोगों को देश से बहिष्कृत कर दिया, जिन्होंने कि कुनाल को अन्धा करने में हाथ बटाया था। ये सब हिम से आच्छादित पर्वतमाला के पार की मरुभूमि में जाकर बस गये, और उन्होंने अपने एक सरदार को अपना राजा निर्वारित कर वहाँ निवास प्रारम्भ कर दिया। यही समय था, जबकि पूर्वी देश के राजा का एक पुत्र भी अपने राज्य से बहिष्कृत किया जाकर मरुभूमि के पूर्वी प्रदेश में निवास कर रहा था। उस प्रदेश के निवासियों ने उसे अपना राजा बना लिया। इस प्रकार खोतन के प्रदेश में दो राज्य हो गये, जिनके राजा दो भिन्न व्यक्ति थे। इन राज्यों के निवासियों में प्रायः संघर्ष होता रहता था। इन संघर्षों में अन्त में पूर्वी राज्य की जीत हुई, और उसके राजा ने सम्पूर्ण खोतन में एक सुव्यवस्थित शासन का सूत्रपात किया। पर इस राजा के कोई सन्तान नहीं थी। जब वह वृद्ध हो गया, तो वैश्रवण के मन्दिर में जाकर उसने पुत्र के लिये प्रार्थना की। इस पर वैश्रवण की मूर्त्ति का शीर्ष भाग खुल गया और उसमें से एक छोटा-सा बालक प्रगट हुआ। इसे देख कर राजा और प्रजा दोनों बहुत प्रसन्न हुए। पर यह बालक दूध नहीं पीता था। समस्या यह उत्पन्न हुई, कि दूध के बिना बालक का पालन-पोषण कैसे किया जाए। इस पर राजा बालक को पुनः वैश्रवण के मन्दिर में ले गया, और वहाँ जाकर देवता से बालक के पालन-पोषण के लिये प्रार्थना की। राजा की प्रार्थना को स्वीकार कर देवमूर्त्ति के सामने की जमीन फट गई, और वहाँ एक स्तन प्रगट हुआ। बालक ने इस स्तन से निकलने वाले स्तन्य का पान किया। क्योंकि यह बालक कु (पृथिवी) के स्तन से स्तन्य पान कर बड़ा हुआ था, इसीलिये यह कुस्तन कहाया।[1] यह कुस्तन बड़ा होकर उस देश का राजा बना, और उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में खोतन की बहुत उन्नति हुई।

ह्युएन्त्सांग द्वारा उल्लिखित इस कथा में तिब्बती अनुश्रुति की कथा से अनेक भिन्नताएँ हैं। इसके अनुसार कुस्तन अशोक का पुत्र न होकर खोतन के ही एक राजा का पुत्र था। भारत तथा लंका की प्राचीन अनुश्रुति में कुस्तन का कहीं उल्लेख नहीं है, और अशोक के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना समुचित प्रतीत नहीं होता। अधिक सम्भव यही है, कि कुस्तन खोतन के एक राजा का पुत्र हो। पर ह्युएन्त्सांग की कथा और तिब्बती कथा में यह बात समान है, कि भारतीय लोग खोतन में जा कर बसे थे, और इस देश में भारतीय और चीनी दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ था।

एक अन्य कथा के अनुसार खोतन को अशोक के पुत्र कुनाल द्वारा आबाद किया गया था। जब तिष्यरक्षिता के कुचक्र के कारण कुनाल को तक्षशिला में अन्धा कर दिया गया, तो वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों ने बहुत उद्वेग अनुभव किया। उन्होंने निश्चय किया, कि तक्षशिला को छोड़ कर कहीं विदेश में जाकर बस जाएँ। वे खोतन गये और कुनाल को

---

१. Beal : Buddhist Records of the Western World Vol. II pp 309-311

भी अपने साथ ले गये। वहाँ उसे खोतन के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया गया। ईस्वी सन् के प्रारम्भ की सदियों में खोतन में जो राजा राज्य करते थे, वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उनके नामों के साथ विजय या विजित (जैसे विजितधर्म) लगा होता था। ये राजा अपने को कुनाल का वंशज मानते थे।

खोतन के सम्बन्ध में जो ये अनेक कथाएँ प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में पायी जाती हैं, उनकी सत्यता में यदि विश्वास न भी किया जाए, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि राजा अशोक के शासन काल में देश-विदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये जो महान् उद्योग किया गया, खोतन भी उसके प्रभाव से नहीं बच सका, और अनेक भारतीयों ने इस काल में वहाँ जाकर अपने धर्म और संस्कृति का प्रसार किया। मध्य एशिया के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का जो प्रवेश हुआ और जिसके कारण वहाँ आज भी बहुत-से स्तूपों और चैत्यों के अवशेष पाये जाते हैं, उसका सूत्रपात इसी काल में हुआ था।

(५) हिमवन्त देशों में प्रचार

स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने हिमालय के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये जो प्रचारक-मण्डल भेजा था, उसका नेता स्थविर मज्झिम था। महावंसो में केवल मज्झिम का नाम ही इस प्रसंग में दिया गया है। पर दीपवंसो में मज्झिम के अतिरिक्त कस्सपगोत और दुन्दुभिसर के नाम भी विद्यमान हैं। महावंसो की टीका में दो अन्य भी नाम दिये गये हैं, सहदेव और मूलकदेव। इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, कि साञ्ची के स्तूप के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओं पर हिमवताचार्य के रूप में मज्झिम, कस्सपगोत और दुन्दुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। इससे महावंसो की कथा की सत्यता प्रमाणित होती है। हिमालय के क्षेत्र में अशोक के समय में ही बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रारम्भ हुआ। महावंसो के अनुसार बहुत-से गन्धर्वों, यक्षों और कुम्भण्डकों ने वहाँ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। पण्डक नाम के एक यक्ष ने अपनी पत्नी यक्षी हारित के साथ धर्म के प्रथम फल को प्राप्त किया, और अपने पाँच सौ पुत्रों को यह उपदेश दिया—'जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में न करो। क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करते हैं, अतः अब कभी किसी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहें।'[1]' पण्डक से यह उपदेश पाकर उसके पुत्रों ने इसी के अनुसार आचरण किया। तदनन्तर इस प्रदेश के नागराजा ने स्थविर को रत्नजटित आसन पर बिठाया, और स्वयं खड़ा होकर पंखा झलने लगा। उस दिन काश्मीर और गान्धार के कुछ निवासी नाग-

---

१. **"मा दानि कोधं जनयित्थ दूतो उद्धं यथा पुरे**
सस्सघातं च मा कत्थ, सुखकामा हि पाणिनो॥
करोथ मेत्तं सत्तेसु, वसन्तु मनुजा सुखं।" महावंसो १२।२२-२३

राजा को विविध उपहार अर्पण करने के लिये आये हुए थे। जब उन्होंने स्थविर की अलौकिक शक्तियों और प्रभाव के विषय में सुना, तो वे भी उसके समीप आये और अभिवादन करके खड़े हो गये। स्थविर ने उन्हें 'आसीविसूपम धम्म' का उपदेश किया। इस पर अस्सी हजार मनुष्यों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया और एक लाख मनुष्यों ने स्थविर से प्रवज्या ग्रहण की। उस दिन से अब तक काश्मीर और गान्धार के लोग बौद्ध धर्म के 'वस्तु-त्रय' (बुद्ध, धर्म और संघ) के प्रति पूर्ण भक्ति रखते हैं, और (भिक्षुओं के) काषाय वस्त्रों का धारण करते हैं।[1]

काश्मीर और गान्धार देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए स्थविर मज्झन्तिक के नेतृत्त्व में एक पृथक् प्रचारक-मण्डल भी भेजा गया था। महावंसो के अनुसार उस समय इन देशों में 'आरवाल' नामक नागराज का शासन था। उसे अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। अपनी शक्ति से वह एक महान् जलप्रवाह द्वारा काश्मीर और गान्धार की फसलों को नष्ट करने में तत्पर था। स्थविर मज्झन्तिक आकाश मार्ग से जाकर गम्भीर ध्यान में मग्न हो उस जलप्रवाह के ऊपर इधर-उधर फिरने लगा। जब नागों ने उसे देखा, तो वे बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने सब समाचार नागराज तक पहुँचा दिये। क्रोध से अभिभूत नागराज ने नानाविध उपायों से स्थविर मज्झन्तिक को भयभीत करने का प्रयत्न किया। वायु प्रचण्ड वेग से चलने लगी, मेघ मूसलाधार जल बरसाने लगे और गरजने लगे, बिजली कड़कने लगी, और वृक्ष तथा पर्वत टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने लगे। नागों ने विविध भयंकर रूपों को धारण कर स्थविर मज्झन्तिक को घेर लिया। अनेक उपायों से इन नागों ने उन्हें डिगाने का प्रयत्न किया। स्वयं नागराजा ने भी उसे विविध कष्ट दिये। परन्तु स्थविर मज्झन्तिक ने अपनी उत्कृष्ट अलौकिक शक्ति से इन सबका सामना किया और नागों के सब प्रयत्नों को व्यर्थ कर दिया। अन्त में स्थविर ने अपने उत्कृष्ट सामर्थ्य का प्रदर्शन कर नागराज को सम्बोधन कर इस प्रकार कहा—'हे नागराज! यदि सम्पूर्ण (मनुष्य) लोक देवों को भी अपने साथ लेकर मुझे नष्ट करना चाहे, तब भी वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हे नागराज! यदि तू ससमुद्र और सपर्वत इस सारी पृथ्वी को मेरे ऊपर फेंक दे, तब भी तू मुझ में किसी भी प्रकार के भय का सञ्चार नहीं कर सकता। हे उरगाधिप! अपनी इस विनाश प्रक्रिया को बन्द कर दो।'[2] स्थविर मज्झन्तिक के इन

---

१. "असीतिया सहस्सानं धम्माभिसमयो अहु।
सतसहस्सं पुरिसा पब्बजुं थेरसन्तिके॥
ततो पभुति कस्मीरगन्धारा ते इदानि पि
आयुं कासापज्जोता वेत्थुत्तयपरायणा॥' महावंसो १२।२७-२८

२. सदेवकोपि चे लोको आगन्त्वा तासयेय्य मं।
न मे पटिबलो अस्स जनेतुं भयभेरवं॥

वचनों को सुनकर नागराज वहुत प्रभावित हुआ। उसके हृदय में स्थविर के प्रति प्रगाढ़ आस्था उत्पन्न हो गई। तब स्थविर ने उसे धर्मोपदेश किया, जिसे सुनकर नागराज ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया। उसके साथ ही चौरासी हजार अन्य नागों ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

स्थविर मज्झन्तिक ने काश्मीर और गान्धार में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये जो कार्य किया, उसके सम्बन्ध में महावंसो का यह विवरण काल्पनिक बातों से परिपूर्ण होते हुए भी महत्त्व का है। हमें ज्ञात है, कि अशोक से पूर्व काश्मीर मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था, यद्यपि अशोक ने गान्धार का उल्लेख अपने 'राजविषय' के अन्तर्गत रूप से किया है। आरवाल नामक जिस नाग को काश्मीर के राजा के रूप में महावंसो में लिखा गया है, वह अशोक से पूर्व के काश्मीर के शासक को सूचित कर सकता है। भारत के प्राचीन साहित्य में नागों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। इनसे प्रायः एक ऐसी जाति का बोध होता है, जो आर्यों से पूर्व इस देश में निवास करती थी, और जिसकी सभ्यता और संस्कृति आर्यों से वहुत भिन्न थी। यह असम्भव नहीं है, कि पहले काश्मीर में भी नाग जाति का निवास हो, और हिमालय के अन्य पार्वत्य प्रदेशों में गन्धर्व और यक्ष आदि जातियों का। ये वहाँ के मूल निवासियों को ही सूचित करते हैं। महावंसो की कथा में एक सुदूरवर्ती देश के इतिहास की एक ऐसी घटना की स्मृति वहुत अस्पष्ट रूप से सुरक्षित है, जिसका सम्बन्ध वहाँ के मूल निवासियों का भारत के धर्म और संस्कृति के प्रभाव में आने के साथ है।

ह्यु एन्त्सांग के यात्रा विवरण में भी काश्मीर में बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय स्थविर मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) को ही दिया गया है। वहाँ लिखा है—एक समय था, जबकि यह देश (काश्मीर) नागों की झील के समान था। प्राचीन समय में जब भगवान् बुद्ध उद्यान देश में एक दानव को परास्त कर आकाश-मार्ग से मध्यदेश (भारत) को वापस लौट रहे थे, तब इस देश (काश्मीर) के ठीक ऊपर आने पर उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधन कर इस प्रकार कहा—'मेरे निर्वाण के पश्चात् अर्हत मध्यान्तिक इस देश में एक राज्य स्थापित करेगा, यहाँ के निवासियों को सभ्य बनायेगा और अपने प्रयत्न से यहाँ बुद्ध के शासन का विस्तार करेगा।[1]' मध्यान्तिक द्वारा बुद्ध की इस भविष्यवाणी को किस प्रकार पूरा किया गया, ह्यु एन्त्सांग ने इसपर भी प्रकाश डाला है। अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा इस अर्हत ने काश्मीर के 'नाग' को अपने प्रभाव में कर लिया और वहाँ अपना

सचे' पित्वंमहिं सब्बं ससमुद्दं सपब्बतं ।
उक्खिपित्वा महानाग खिपेय्यासि ममोपरि ॥
नेव ने सक्कुणेय्यासि जनेतुं भयभेरवं ।
अञ्ञदत्थु तवे' वस्स विघातो उरगाधिप ॥' महावंसो १२।१६-१८

१. Beal : Buddhist Records of the Western World Vol. I pp 149-150

राज्य स्थापित किया। उसके प्रयत्न से काश्मीर में ५०० संघारामों की भी स्थापना हुई। ह्यु एन्त्सांग के अनुसार अर्हत मध्यान्तिक का समय बुद्ध के निर्वाण के ५०साल बाद था। वह अशोक का समकालीन नहीं था। जहाँ तक वर्षों और तिथियों का सम्बन्ध है, भारत की प्राचीन अनुश्रुति में अनेक स्थानों पर विरोध पाये जाते हैं। पर यहाँ केवल इतनी बात ध्यान देने योग्य है, कि महावंसो और चीनी अनुश्रुति–दोनों में काश्मीर के क्षेत्र में बौद्ध-धर्म के प्रचार का श्रेय स्थविर (अर्हत) मज्झन्तिक (मध्यान्तिक) को ही दिया गया है।

तिब्वती अनुश्रुति के अनुसार भी काश्मीर में बौद्धधर्म का प्रचार स्थविर मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) द्वारा ही किया गया था। चीनी अनुश्रुति और तिब्वती अनुश्रुति में मुख्य भेद यह है,कि तिब्वती अनुश्रुति में मध्यान्तिक का समय बुद्ध के निर्वाणके सौ साल पश्चात् लिखा गया है, और ह्यु एन्त्सांग के यात्रा वृत्तान्त में बुद्ध के निर्वाण के पचास साल बाद। तिब्वती अनुश्रुति के अनुसार भी काश्मीर में पहले नागों का अधिकार था।[1] काश्मीर के प्रचारक-मण्डल का नेता मध्यान्तिक था, इस विषय में चीनी,तिब्वती और सिंहली--सब बौद्ध अनुश्रुतियाँ एकमत हैं। इससे यह समझा जा सकता है, कि इन सब के आधार में एक सत्य ऐतिहासिक घटना की स्मृति विद्यमान है। हिमवन्त प्रदेश में प्रचार के लिये गये स्थविरों के नाम साञ्ची से प्राप्त धातुमंजूषाओं में 'हेमवताचार्य' विशेषण के साथ उत्कीर्ण उपलब्ध होना भी इन बौद्ध कथाओं की सत्यता का परिचायक है। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए यह स्वीकार करना असंगत नहीं होगा, कि महावंसो के अन्य प्रचारक-मण्डल भी कल्पित ही नहीं हैं।

स्थविर मज्झिम हिमवन्त प्रदेश के किस क्षेत्र में धर्म-प्रचार के लिये गये थे, इस विषय में कोई निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। पर नेपाल में अशोक के शासन काल में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ, इस बात की पुष्टि अन्य साधनों से भी होती है। नेपाल में अनेक ऐसे मन्दिर विद्यमान हैं,जिन्हें अशोक द्वारा निर्मित माना जाता है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने नेपाल की यात्रा भी की थी, और इस यात्रा में उसकी पुत्री चारुमती भी उसके साथ थी। चारुमती का विवाह नेपाल के ही एक 'क्षत्रिय' देवपाल के साथ हुआ था। इसमें सन्देह नहीं, कि नेपाल के साथ राजा अशोक का घनिष्ट सम्बन्ध था। इस दशा में यह असम्भव नहीं है, कि स्थविर मज्झिम के नेतृत्व में जो प्रचारक हिमवन्त प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये गये हों, वे या उनमें से कुछ नेपाल भी गये हों, और हिमालय की अन्यतम घाटी के इस देश में बौद्ध धर्म का सूत्रपात इन प्रचारकों द्वारा ही हुआ हो। नेपाल की अनुश्रुति के अनुसार वहाँ की पुरानी राजधानी पातन या ललित-पत्तन अशोक ने ही बसायी थी। यह काठमाण्डू से दो मील की दूरी पर स्थित थी। पातन में तथा उसके चारों ओर अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे, जिनमें से पाँच अब तक भी

---

१. Rockhill : Life of Buddha pp. 107-110

विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती ने अपने पति देवपाल के नाम पर वहाँ देवपत्तन नामक नगरी भी बसायी थी।

चीन की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार २१७ ई० पू०में कतिपय बौद्ध प्रचारक त्सिन् वंशी सम्राट् शे हुआंग के दरबार में गये थे। इस अनुश्रुति को विश्वसनीय नहीं माना जाता, क्योंकि इतने अधिक प्राचीन काल में भारतीय भिक्षुओं का सुदूरवर्ती चीन में जाना ऐतिहासिकों को सम्भव प्रतीत नहीं होता। पर भारत और चीन का व्यापारिक सम्बन्ध इस युग में विद्यमान था। कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन पट्ट का उल्लेख हुआ है, और चांग-किएन के नेतृत्व में जो दूत-मण्डल चीनी सम्राट् ने ताह्यिा भेजा था, उसकी रिपोर्ट में न केवल शेन-तू (भारत) का उल्लेख है, अपितु उस व्यापार का भी जोकि दक्षिण-पश्चिमी चीन और भारत के बीच में विद्यमान था। इस दूतमण्डल का समय १३८-१२६ ई० पू० है।[1] इसके समय तक चीन और भारत का व्यापार भली भाँति विकसित हो चुका था। इस दशा में यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा, कि इन दोनों देशों में पारस्परिक सम्बन्ध तीसरी सदी ई०पू०में भी विद्यमान रहा होगा। यदि २१७ ई०पू० में भारतीयों को चीन का परिचय था और इस देश के व्यापारी चीन में भी व्यापार के लिये आया-जाया करते थे, तो क्या आश्चर्य है कि कुछ बौद्ध भिक्षु भी इस काल में चीन गये हों और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया हो। अशोक की मृत्यु २३२ ई०पू०में हुई थी,और मोद्गलिपुत्र तिष्य द्वारा बौद्ध प्रचारक-मण्डल उससे कोई १४ वर्ष पूर्व (२४६ ई०पू० के लगभग) देश-विदेश में भेजे गये थे। स्थविर मज्झिम के नेतृत्व में जो भिक्षु हिमवन्त प्रदेशों में प्रचार के लिये गये थे, उन्हीं में से कोई यदि समयान्तर में चीन भी पहुँच गये, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

(६) यवन देशों में प्रचार

भारत के पश्चिम में अन्तियोक आदि जिन पाँच यवन राजाओं के राज्य थे, उनमें भी अशोक ने धर्म-विजय का उद्योग किया था। इन सब राज्यों में अन्त-महामात्र चिकित्सालय, विश्रामगृह, कूप, प्याऊ आदि स्थापित कर जनता में भारत और उसके धर्म के लिये सम्मान का भाव उत्पन्न करने में तत्पर थे। इस दशा में जब स्थविर महारक्खित अपने प्रचारक मण्डल के साथ वहाँ धर्म प्रचार के लिये गया, तो उसने अपने लिये मैदान तैयार पाया। महारक्खित के कार्य का विवरण देते हुए महावंसो में लिखा है—'स्थविर महारक्खित 'योनविसय' (यवन देश) में गया। वहाँ उसने जनता को कालकाराम सुत्तन्त का उपदेश दिया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यों ने बुद्ध मार्ग के फल को प्राप्त किया, और

१. Nilakanta Sastri K.A. A Comprehensive History of India Vol.II p766

दस हजार ने प्रव्रज्या ग्रहण की।[1] इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक के बाद इन यवन देशों में चिरकाल तक बौद्ध धर्म का प्रचार रहा। अलबरूनी ने लिखा है, कि "पुराने समयों में खुरासान, पर्शिया, ईराक, मोसल और सीरिया की सीमा तक के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।[2]" अलबरूनी का समय दसवीं सदी में है। उसके समय में इन सब देशों में इस्लाम का प्रचार हो चुका था, पर तब भी यह स्मृति नष्ट नहीं हुई थी कि विगत समय में ये सब देश बौद्ध थे। अशोक के समय में ये सभी प्रदेश यवनराज अन्तियोक के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इन सब में जो बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, उसका श्रीगणेश यदि अशोक के समय में स्थविर महारक्खित द्वारा किया गया हो, तो यह सर्वथा सम्भव है।

अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् जब पैलेस्टाइन में महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में ईसीन और थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये पैलेस्टाइन और ईजिप्ट में पूर्व की ओर से आकर बसे थे, और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का भी कार्य किया करते थे। ईसा की शिक्षाओं पर इनका बहुत प्रभाव पड़ा था, और ईसा स्वयम् भी इनके सत्संग में रहा था।[3] सम्भवतः, ये विरक्त साधु स्थविर महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय में इन विदेशी यवन-राज्यों में निवास करते हुए बुद्ध के अष्टाङ्गिग आर्य धर्म का प्रचार करने में व्यापृत रहा करते थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के उत्कर्ष के कारण इन पश्चिमी देशों से बौद्ध धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसाई और मुसलिम धर्मों के प्रसार से पूर्व पश्चिमी एशिया में सर्वत्र बौद्ध धर्म का प्रचार था। बाद में शैव और वैष्णव प्रचारक भी बौद्ध स्थविरों और भिक्षुओं का अनुसरण कर इन यवन देशों में गये, और वहाँ उन्होंने अपने धर्मों का प्रचार किया। अनेक ऐसे प्रमाण अब तक विद्यमान है, जिनसे पाश्चात्य संसार में भारतीय धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है। सीसतान के प्रदेश में हेल्मुन्द के समीप एक बौद्ध विहार के भग्नावशेष इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं, कि कभी ईरान (पर्शिया) में बौद्ध धर्म का प्रचार रह चुका है। मनीचियन नामक एक नये सम्प्रदाय का पश्चिमी जगत् में तीसरी सदी में प्रसार हुआ था। इस सम्प्रदाय पर बौद्ध धर्म का स्पष्ट प्रभाव था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'मणि' को 'तथागत' कहा जाता था, और इसका धर्मग्रन्थ एक बौद्ध 'सुत्त' के रूप में लिखा गया था। इस धर्मग्रन्थ में बुद्ध और बोधिसत्त्व का भी उल्लेख है।[3] मनीचियन सम्प्रदाय पर बौद्ध धर्म का इतना अधिक प्रभाव भी इसी

१. **'गत्वान योन विसयं सो महारक्खितो इसि।**
कालकारामसुत्तन्तं कथेसि जनमज्झगो॥
पाणसतसहस्सानि सहस्सानि च सत्तति। मग्गफलं पापुणिंसु, दस सहस्सानि पब्बजुं॥' महावंसो १२।१९-४०

२. Sachan : Alberuni's India p, 21

३. Bharatiya Vidya Bhawan : The Age of Imperial Unity pp 629-631

तथ्य को सूचित करता है, कि तीसरी सदी तक पश्चिमी एशिया और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में वौद्ध धर्म का बहुत प्रचार था। यवन-देशों के क्षेत्र में वौद्धधर्म का जो इतना अधिक प्रसार हुआ, उसका सूत्रपात अशोक के समय में स्थविर महारक्खित और उसके साथियों द्वारा ही किया गया था।

(७) सुवर्णभूमि में वौद्ध धर्म का प्रचार

वंगाल की खाड़ी के पूर्व में स्थित प्रदेशों को प्राचीन समय में प्रायः 'सुवर्णभूमि' कहा जाता था। दक्षिणी वरमा का प्राचीन नाम सुवर्णभूमि था, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। पर यह संज्ञा केवल दक्षिणी वरमा तक ही सीमित नहीं थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे मलाया प्रायद्वीप और उससे परे के दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों को भी सुवर्ण-भूमि कहा जाना सूचित होता है। जातक कथाओं के अनुसार चम्पा के व्यापारी जलमार्ग द्वारा सुवर्णभूमि से व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। इन प्रदेशों की सुवर्णभूमि संज्ञा इस कारण थी, क्योंकि वहाँ के व्यापार द्वारा व्यापारी लोग प्रभूत सुवर्ण कमा सकने में समर्थ हुआ करते थे।

महावंसो के अनुसार स्थविर उत्तर और सोण सुवर्णभूमि में धर्मप्रचार के लिये गये थे। उस समय वहाँ के राजकुल की यह दशा थी कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे खा जाती। जिस समय ये स्थविर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी वहाँ की रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। लोगों ने समझा कि ये स्थविर राक्षसी के सहायक हैं, अतः वे उन्हें घेर कर मारने के लिये तत्पर हो गये। स्थविरों ने उनके अभिप्राय को समझ लिया, और इस प्रकार कहा—"हम तो शील से युक्त श्रमण हैं, राक्षसी के सहायक नहीं हैं।" उसी समय राक्षसी अपने सव साथियों के साथ समुद्र से निकली, और उसे देख कर सव कोई भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर स्थविरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाले राक्षसों को वश में कर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन स्थविरों ने वहाँ एकत्र लोगों को 'ब्रह्मजालसुत्त' का उपदेश दिया। स्थविरों की शक्ति तथा उपदेश से प्रभावित होकर वहुत-से लोगों ने वौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। एक हजार पाँच सौ पुरुषों और इतनी ही स्त्रियों ने भिक्षु व्रत लेकर संघ में प्रवेश किया। क्योंकि सुवर्णभूमि के राजकुमार का जीवन सोण और उत्तर के प्रयत्न से वचा था, अतः वह और उसके वाद के सव राजकुमार उनके नाम से 'सोणुत्तर' कहाए।[1]

सम्भवतः, महावंसो के इस विवरण में आलंकारिक रूप से यह सूचित किया गया है कि रोगरूपी राक्षसों के आक्रमणों के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नहीं रह पाता था। स्थविर सोण और उत्तर धर्माचार्य होने के साथ-साथ कुशल चिकित्सक भी

---

१. महावंसो १२।४४-५४

थे। जब वे सुवर्णभूमि पहुँचे, तो रोगरूपी राक्षसों ने वहाँ के राजकुमार पर फिर आक्रमण किया, पर इस बार इन चिकित्सक स्थविरों के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, जिसके परिणामस्वरूप सुवर्णभूमि के निवासियों की बौद्धधर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई। यहाँ यह लिखने की आवश्यकता नहीं है, कि बरमा, मलाया, सियाम, सुमात्रा आदि दक्षिणपूर्वी एशिया के प्राय: सभी देशों में बौद्धधर्म का प्रचार रहा है। इस क्षेत्र के अनेक देशों में तो अबतक भी बौद्धधर्म की ही प्रधानता है। इनमें बौद्धधर्म का जो प्रचार हुआ, उसका श्रीगणेश राजा अशोक के शासनकाल में स्थविर सोण और उत्तर के नेतृत्त्व में हुआ था, महावंसो की अनुश्रुति का यही अभिप्राय है।

अशोक के समय में स्थविर मोद्गलिपुत्र तिष्य के आयोजन के अनुसार बौद्धधर्म का देश-विदेश में प्रचार करने के लिये जो महान् प्रयत्न हुआ, उसका केवल भारत के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। बौद्ध स्थविर इस काल में जो उद्योग कर रहे थे, उसे वे 'बुद्ध के शासन का प्रसार' कहते थे। निस्सन्देह, (बुद्ध के) शासन का प्रसार करने में वे मगध के सम्राटों से बहुत आग बढ़ गये। इन स्थविरों ने मागध साम्राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक बड़ा एक ऐसा धर्म-साम्राज्य कायम किया, जो कुछ सदियों तक ही नहीं अपितु सहस्राब्दियों तक स्थिर रहा। दो हजार साल से अधिक समय बीत जाने पर भी यह साम्राज्य आंशिक रूप से अब तक भी विद्यमान है।

विविध प्रचारक-मण्डलों के देश-विदेश में बौद्ध धर्म का प्रसार करने के कार्य का विवरण देकर महावंसो ने लिखा है, कि इन स्थविरों ने अमृत से भी बढ़ कर आनन्द-सुख का परित्याग कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में भटकते हुए संसार के हित का साधन किया था।[३] निस्सन्देह, ये स्थविर धन्य हैं।

---

३. महोदयस्सापि जिनस्य कड्ढनं विहाय पत्तं अमतंसुखम्पि ते।
कांरिसु लोकस्स हितं तहिं तहिं भवेय्य को लोकहिते पमादवा ॥' महावंसो १२।५५

वीसवाँ अध्याय

अशोककालीन शासन-व्यवस्था और सामाजिक जीवन

(१) शासन की रूपरेखा

कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्ययुग की शासन-व्यवस्था का विशद रूप से विवेचन किया जा चुका है। अशोक के शासन-काल में मौर्य साम्राज्य की शासन-पद्धति का क्या स्वरूप था, इस विषय में बौद्ध साहित्य और देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की धर्म-लिपियों से अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र उस युग की कृति है, जबकि भारत में बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों की सत्ता थी। इन में से कुछ जनपद राज-तन्त्र थे और कुछ गणतन्त्र। गणतन्त्र राज्यों में कतिपय ऐसे भी थे, जो संघातों या संघों के रूप में संगठित थे। मगध के विजिगीषु राजा इन सब जनपदों को जीत कर अपने विशाल साम्राज्य के निर्माण में तत्पर थे, और उन्हें अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफलता प्राप्त भी हो गई थी। मगध के राजाओंने इन जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा था और कौटल्य द्वारा प्रतिपादित इस नीति का अनुसरण किया था कि इनके चरित्र और व्यवहार को न केवल अक्षुण्ण रखा जाए, अपितु उनके अनुरूप ही राजा अपने चरित्र और व्यवहार का निरूपण करे। यही कारण है कि कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसे जनपदों की शासन-पद्धति का विशद रूप से प्रतिपादन है, जो मागध साम्राज्य के अन्तर्गत होते हुए भी आन्त-रिक शासन की दृष्टि से प्रायः स्वतन्त्र थे। साथ ही, इस ग्रन्थ में ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं जो मागध साम्राज्य के केन्द्रीय संगठन और शासन पर प्रकाश डालते हैं।

जब राजा अशोक पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो मौर्यों के शासन को स्थापित हुए आधी सदी से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। सुदूर दक्षिण के कतिपय प्रदेशों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण भारत तब मौर्यों के शासन में आ गया था, और चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार जैसे प्रतापी राजाओं ने अपने इस विशाल साम्राज्य पर अबाधित और सुव्य-वस्थित रूप से शासन किया था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पुराने सब जनपदों पर पाटलिपुत्र का शासन अधिक-अधिक सुदृढ़ होता जाए और केन्द्रीय सरकार की शक्ति निरन्तर बढ़ती जाए।

यद्यपि सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर पश्चिम में काम्बोज-गान्धार, पूर्व में वंग और कलिङ्ग तथा दक्षिण में आन्ध्र तक विस्तीर्ण मागध साम्राज्य का शासन पाटलिपुत्र से सुचारु रूप से कर सकना सम्भव नहीं था। अतः शासन की सुविधा

की दृष्टि से मौर्यों के अधीन सम्पूर्ण 'विजित' को पाँच भागों, चक्रों या प्रान्तों में विभक्त किया गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसली, उज्जैनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में अपने अधीन राज्य को 'विजित' कहा है।[१] एक स्थान पर इसे 'राज विषय' की भी संज्ञा दी गई है।[२] अशोक का यह विजित या राज-विषय जिन पाँच भागों में विभक्त था, वे निम्नलिखित थे--(१) उत्तरापथ--जिसमें कम्बोज, गान्धार, काश्मीर, उद्यान (अफगानिस्तान) और वाहीक (पंजाब) के प्रदेश अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिम चक्र--इसमें गुजरात, काठियावाड़ से लगाकर राजस्थान, मालवा आदि के सब प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। (३) दक्षिणापथ–विन्ध्याचल पर्वतमाला के दक्षिण के सब प्रदेश इस चक्र के अन्तर्गत थे, और इसकी राजधानी उज्जैनी थी। (४) कलिङ्ग–राजा अशोक ने कलिङ्ग को जीतकर उसे एक पृथक् चक्र या प्रान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया था, जिसकी राजधानी तोसली नगरी थी। (५) मध्यदेश--इसमें वर्तमान समय के बिहार, उत्तर-प्रदेश, बंगाल और उनके समीपवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन चक्रों (मध्यप्रदेश के अतिरिक्त) का शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था, जिन्हें 'कुमार' कहते थे। कुमार अनेक महामात्रों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन किया करते थे। अशोक राजा बनने से पूर्व तक्षशिला और उज्जैनी में कुमार के रूप में शासन कर चुका था। कुनाल भी अशोक के समय में तक्षशिला का 'कुमार' रहा था। मध्य देश का शासन सीधा राजा की अधीनता में था।

अशोक की धर्मलिपियों में उज्जैनी, तक्षशिला और तोसली के 'कुमारों' का उल्लेख आया है। धौली की शिला पर उत्कीर्ण प्रथम अतिरिक्त लेख में अशोक ने यह आदेश लिखवाया है, कि उज्जैनी से भी कुमार इसी प्रयोजन से ऐसे वर्ग को दौरे पर भेजेंगे, जो तीन वर्ष से अधिक समय नहीं वीतने देंगे। इसी प्रकार से तक्षशिला से भी।[३] इस धर्मलिपि में अशोक ने अपने महामात्रों को धर्म श्रावण के प्रयोजन से दौरे पर जाने के लिये आदेश दिया है। उज्जैनी और तक्षशिला में नियुक्त अपने 'कुमारों' (प्रान्तीय शासकों या राज्यपालों) के लिये भी उसका यही आदेश है कि वे भी अपने अधीनवर्ती महामात्रों को धर्मश्रावण के लिये दौरे पर भेजते रहें, और उनके दौरों में तीन साल से अधिक का समय न बीतने पाए, अर्थात् तीन साल से कम अन्तर पर ही वे दौरे के लिये जाते रहें। इस धर्मलिपि से यह सर्वथा

---

१. 'सव्रत्र विजिते देवानां प्रियस प्रियदशिस..."चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी) --द्वितीय लेख।

२. 'इह राजविषयेतु...' चतुर्दश शिलालेख (गिरनार)--तेरहवाँ लेख।

३. 'उजेनिते पि चु कुमाले एताए व अठाए निखामयिस हेदिसमेव वगं तो च अतिकामयिसति तिनि वसानि हेमेव तखसिलाते पि।" धौली-अतिरिक्त प्रथम लेख।

स्पष्ट हो जाता है, कि उज्जैनी और तक्षशिला में अशोक द्वारा कुमारों की नियुक्ति की गई थी, जो क्रमशः पश्चिमी चक्र और उत्तरापथ के प्रान्तीय शासक थे। धौली शिला के द्वितीय अतिरिक्त लेख द्वारा तोसली में भी कुमार की नियुक्ति सूचित होती है। इस लेख में यह कहा गया है--देवानांप्रिय के वचन (आदेश) से तोसली में कुमार और महामात्रों को यह कहा जाए।[१] बौद्ध साहित्य की कथाओं द्वारा हमें यह ज्ञात है, कि राजा बिन्दुसार और अशोक के शासन-काल में राजकुमारों को तक्षशिला और उज्जैनी जैसी प्रान्तीय राजधानियों में शासक के रूप में नियुक्त करने की प्रथा थी। अशोक की धर्मलिपियों द्वारा भी यह बात पुष्ट हो जाती है। सुवर्ण-गिरि के जिस शासक का उल्लेख अशोक की धर्मलिपियों में आया है, उसे 'आर्यपुत्र' कहा गया है,[२] 'कुमार' नहीं। संस्कृत-साहित्य में स्त्रियाँ अपने पतियों के लिये आर्यपुत्र शब्द का प्रयोग करती हैं। पर अशोक ने सुवर्णगिरि के प्रान्तीय शासक को आयपुत्र कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यपुत्र एक सम्मानवाचक संज्ञा है। सम्भवतः, आर्यपुत्र की स्थिति कुमार की अपेक्षा अधिक ऊँची थी, और सुदूर दक्षिण के 'विजित' के शासन के लिये एक ऐसे कुमार को नियुक्त किया गया था, जो तक्ष शिला,उज्जैनी या तोसली के कुमारों की तुलना में अधिक सम्मानित स्थिति रखता था।

मध्यदेश, उत्तरापथ, पश्चिम चक्र, कलिङ्ग और दक्षिणापथ इन पाँच चक्रों या प्रान्तों के अन्तर्गत अनेक छोटे शासनकेन्द्र या मंडल भी थे, जिनमें कुमार के अधीन महामात्र शासन करते थे। उदाहरणार्थ तोसली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिल (ऋषिल) में महामात्र नियुक्त थे। राजा की ओर से जो आदेश प्रचारित किये जाते थे, वे प्रान्तीय शासक कुमारों या आर्यपुत्र के नाम ही होते थे, और उन्हीं द्वारा इन आदेशों को अधीनस्थ महामात्रों के पास भेजा जाता था यही कारण है, कि दक्षिणापथ में इसिल के महामात्यों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के आर्यपुत्र द्वारा भेजे गये। ब्रह्मगिरि के शिलालेख में अशोक ने अपने आदेश को इस प्रकार उत्कीर्ण कराया है-"सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र और महामात्रों के वचन (आदेश) से इसिल के महामात्रों से आरोग्य कहा जाए (कुशल स्वास्थ्य पूछा जाए)। देवानांप्रिय की यह आज्ञा है।"[३] आगे अशोक ने अपने आदेश का उल्लेख किया है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसिल के महामात्रों को अशोक द्वारा जो आज्ञा दी गई, वह सुवर्णगिरि के आर्यपुत्र और महामात्रों द्वारा दी गई, सीधी नहीं। पर समापा

---

१. 'देवानं पियस वचनेन तोसलियं कुमाले महामाता च वतविय।' धौली-अतिरिक्त द्वितीय लेख।

२. 'सुवर्णगिरीते अयपुतस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया।' ब्रह्मगिरि-लघु शिलालेख।

३. ब्रह्मगिरि लघु शिलालेख।

के महामात्यों को तोसली के कुमार की मार्फत आज्ञा नहीं दी गई थी। जौगढ़ की शिला पर जो दो अतिरिक्त लेख उत्कीर्ण हैं, और जो धौली-शिला के अतिरिक्त लेखों के सदृश हैं, समापा के महामात्यों और नगर-व्यावहारिकों को सीधे आज्ञप्त किये गये हैं[1] समापा नगरी कलिङ्ग के अन्तर्गत थी, और इस प्रदेश को अशोक द्वारा ही मौर्य विजित में सम्मिलित किया गया था। ये लेख भी नये जीते हुए कलिङ्ग के लिये विशेष रूप से लिखवाये गये थे। सम्भवतः, इसी कारण समापा (जो कलिङ्ग के दक्षिणवर्ती प्रदेश में स्थित था) के महामात्रों का विशेष महत्त्व था, और अशोक ने अपने आदेश उन्हें सीधे ही आज्ञप्त कराये थे, तोसली के कुमार द्वारा नहीं। कौशाम्बी नगरी मध्यदेश में थी, जिसका शासन पाटलिपुत्र से सञ्चालित होता था, अतः वहाँ के महामात्रों को सम्बोधन करके जो आदेश अशोक द्वारा प्रयाग के प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराया गया था, वह भी सीधा वहाँ के महामात्रों के नाम पर ही है।[2] चक्रों या प्रान्तों के शासन के लिये कुमारों की सहायतार्थ जो महामात्र नियुक्त किये जाते थे, शासन में उनका स्थान महत्त्व का होता था। इसी कारण अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञाएँ प्रचारित कीं, वे केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से न होकर कुमार (या आर्यपुत्र) और महामात्र दोनों के नाम पर थीं।

शासन की दृष्टि से राज्य के पाँच प्रमुख चक्रों या प्रान्तों को जिन अनेक भागों में विभक्त किया गया था, उनके सम्बन्ध में भी कतिपय निर्देश उत्कीर्ण लेखों द्वारा उपलब्ध होते हैं। ये विभाग प्रदेश, आहार और विषय कहाते थे। प्रत्येक प्रान्त अनेक प्रदेशों में विभक्त था, और प्रत्येक प्रदेश अनेक आहारों में। आहारों के उपविभाग 'विषय' थे। ये विषय सम्भवतः पुराने जनपदों के प्रतिनिधि थे। विषय का मुख्य नगर 'कोट्ट' कहाता था। पुराने भारतीय जनपदों की राजधानी 'पुर' या 'दुर्ग' कहाती थी, क्योंकि उसका निर्माण एक दुर्ग के रूप में हुआ करता था। मगध द्वारा अन्य जनपदों की विजय हुए अब पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका था। मौर्यों को शासन करते हुए भी आधी सदी से अधिक बीत चुकी थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पुराने जनपदों की पृथक् सत्ता और आन्तरिक स्वतन्त्रता में निरन्तर कमी आती जाए। अब उनकी स्थिति शासन के एक छोटे उपविभाग के सदृश रह गई थी, जिसे अशोक के उत्कीर्ण लेखों में 'विषय' कहा गया है, और उसके प्रधान नगर को कोट्ट। हिन्दी में दुर्ग को अब भी कोट कहते हैं, जो इसी कोट्ट का अपभ्रंश प्रतीत होता है। सारनाथ के स्तम्भ लेख में अशोक ने महामात्रों को यह आदेश दिया है, कि जहाँ-जहाँ तक आपका 'आहार' है, सर्वत्र आप इस (शासन—राजकीय आदेश) का अक्षरशः पालन कराने के लिये (राजपुरुषों को) भेजिये, और सभी कोट्टों तथा विषयों

---

१. **'देवानं पिये हेवं आहा समापायं महामाता नगलवियोहलक हेवं वतविय।' जौगढ़, प्रथम अतिरिक्त लेख।**

२. **'देवानंपिये आनपयति कोसंबियं महामात" कौशाम्बी स्तम्भ लेख।**
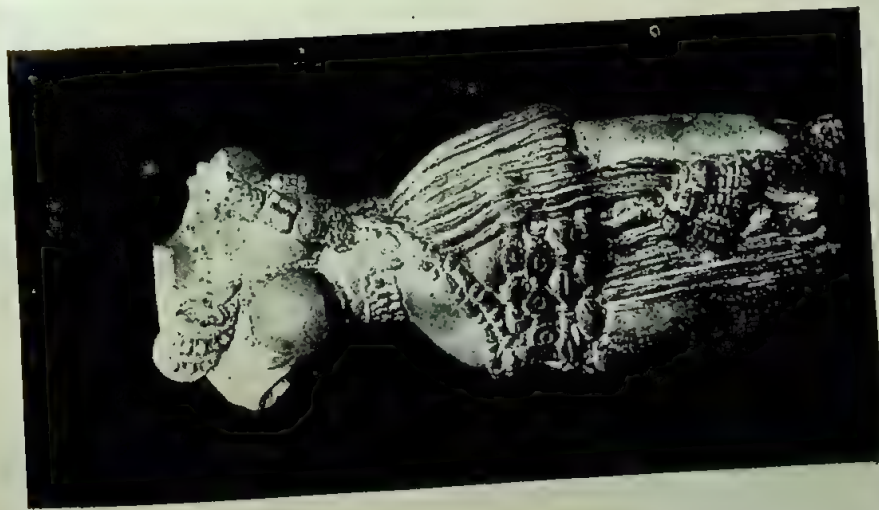
मृण्मूर्ति का अधोभाग (पाटलिपुत्र)

पाटलिपुत्र में प्राप्त एक स्त्री की मृण्मूर्ति

में इस शासन का अक्षरशः पालन कराने के लिये भेजिये।[1] यह लेख स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत करता है, कि राज्य के कतिपय उपविभाग कोट्ट और विषय के रूप में थे। ये कोट्ट और विषय पुराने पुर और जनपद को ही सूचित करते हैं, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है। कोट्ट और विषय की अपेक्षा अधिक बड़ा शासन का विभाग 'आहार' था, अशोक द्वारा महामात्यों को जिनमें अपने शासनं (राजकीय आदेश) का अक्षरशः पालन कराने की आज्ञा प्रदान की गई है। आहार से बड़ा शासन का विभाग 'प्रदेश' था, जिसके शासक को 'प्रादेशिक' कहते थे। कालसी शिला पर उत्कीर्ण लेख में जिन महामात्रों और राजकर्मचारियों को धर्मानुशासन के लिये दौरा करने के सम्बन्ध में आदेश दिया गया है, वे 'रज्जुक', 'प्रादेशिक' और 'युक्त' हैं।[2] चतुर्दश शिलालेख की अन्य प्रतियों में भी इन राजकर्मचारियों का इसी प्रसंग में उल्लेख किया गया है। निस्सन्देह, प्रादेशिक प्रदेश के शासक की संज्ञा थी, जो कुमार या आर्यपुत्र की अधीनता में अपने प्रदेश के शासन का संचालन करता था। सम्भवतः, बाद के काल में प्रादेशिक को ही 'राष्ट्रिय' कहा जाने लगा था। गिरनार में उपलब्ध शक-क्षत्रप रुद्रदामन के लेख से सूचित होता है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में सुराष्ट्र (काठियावाड़) का प्रदेश राष्ट्रिय पुष्यगुप्त द्वारा शासित था और अशोक के समय में यवन तुशाष्प द्वारा। रुद्रदामन ने इनका उल्लेख गिरनार की सुदर्शन झील की मरम्मत के सम्बन्ध में किया है। निस्सन्देह, सुराष्ट्र (काठियावाड़) मौर्यों के शासन में राज्य का एक ऐसा विभाग था, जिसके शासन के लिये एक पृथक् प्रादेशिक या राष्ट्रिय की नियुक्ति की जाती थी। गुप्त साम्राज्य के शासन में राष्ट्रिय संज्ञा के राजपदाधिकारी राष्ट्रों या प्रान्तों का शासन करते थे, और उनके अधीन 'विषयों' का शासन विषयपतियों द्वारा किया जाता था। मौर्यों के शासनकाल में, सम्भवतः, राष्ट्रिय या राष्ट्रिक और विषयपति संज्ञाओं का प्रयोग नहीं होता था, यद्यपि एर्रगुडि के लघु शिलालेख में 'राष्ट्रिक' का प्रयोग किया गया है, जो किसी राजपदाधिकारी की ही संज्ञा प्रतीत होती है। रुद्रदामन ने जो सुराष्ट्र के शासक को राष्ट्रिक लिखा है, वह अपने समय की संज्ञाओं को दृष्टि में रख कर ही लिखा गया है। अशोक के समय में इन शासकों की संज्ञा प्रादेशिक और युक्त ही थी।

कतिपय विद्वानों ने अशोक के शिलालेखों के प्रादेशिक को कौटलीय अर्थशास्त्र के प्रदेष्टा के साथ मिलाकर यह प्रतिपादित किया है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के प्रदेष्टा को ही अशोक के समय में प्रादेशिक कहा जाने लगा था। पर यह सही प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रदेष्टा कण्टक शोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों की संज्ञा थी, यद्यपि उन्हें शासन-सम्बन्धी कतिपय अधिकार भी प्राप्त थे। ध्वनिसाम्य के अतिरिक्त इन दोनों को एक

---

१. सारनाथ स्तम्भलेख।
२. चतुर्दश शिलालेख—तीसरा लेख।

समझने का कोई अन्य आधार नहीं है। वस्तुतः, अशोक के समय तक मागध साम्राज्य का शासन सुसंगठित और सुव्यवस्थित रूप धारण कर चुका था, और उसके सुशासन के लिए अनेक ऐसे महामात्यों या राजपदाधिकारियों की नियुक्ति की जाने लगी थी, जिनका कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः, प्रादेशिक भी इसी प्रकार का पदाधिकारी था।

यह कल्पना करना भी असंगत नहीं होगा, कि अशोक के समय तक पौर जानपद सभाओं के महत्त्व में बहुत कमी आ गई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में इन संस्थाओं का क्या महत्त्व था, इस पर कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर प्रकाश डाला जा चुका है। पर अशोक की धर्मलिपियों में इन का उल्लेख नहीं मिलता। अशोक धर्मश्रावण और धर्मानुशासन के लिये बहुत उत्सुक था, इसके लिये उसने बहुत प्रक्रम (पराक्रम) भी किया। अपने कुमारों और महामात्रों को भी उसने प्रेरित किया कि वे भी उसी के समान धर्म-विजय के कार्य में सहयोग देने के लिये प्रयत्नशील हों। यदि अशोक के समय में भी पुराने जनपदों की पौर-जानपद संस्थाएँ सक्रिय होतीं, तो उसके लिये यह सर्वथा स्वाभाविक तथा समुचित था, कि वह धर्मविजय की नीति की सफलता के लिये इनका भी उपयोग करता। केवल एक ऐसा निर्देश अशोक की धर्म लिपियों में विद्यमान है, जिससे इन संस्थाओं की सत्ता सूचित होती है। सारनाथ के स्तम्भलेख में पाटलिपुत्र के महामात्रों को संघ में फट न पड़ने देने का जो आदेश दिया गया है, उसमें यह विधान किया गया है कि इस आदेश की एक प्रतिलिपि भिक्षुसंघ और भिक्षुणीसंघ में रखी जानी चाहिये, और एक प्रतिलिपि संसलन (संसरण) में सुरक्षित रहनी चाहिये। संसरण एक ऐसे स्थान को कहते थे, जहाँ लोगों का बहुधा आना-जाना रहा करता था या जहाँ लोग प्रायः एकत्र हुआ करते थे। पुर के लोग पौर सभा में और जनपद के निवासी जानपद सभा में एकत्र हुआ करते थे, यह हमें ज्ञात है। अशोक के समय तक भी जनपदों की यह परिपाटी कायम रही होगी, यह मानना असंगत नहीं है। अतः अशोक ने जिन संसरणों में अपनी राजकीय आज्ञा को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की थी, वे पुराने युग के सन्थागार भी हो सकते हैं, यह कल्पना सहज में की जा सकती है।

यद्यपि अशोक के समय तक मौर्य साम्राज्य का केन्द्रीय शासन भलीभाँति सुसंगठित हो चुका था, पर कतिपय प्रदेश ऐसे भी थे जो मौर्यों के 'विजित' के अन्तर्गत होते हुए भी अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। अशोक की एक धर्मलिपि में उन स्थानों का उल्लेख किया गया है, जहाँ धर्मविजय स्थापित की गई थी। ये दो प्रकार के हैं, सीमान्त देश और स्वकीय राजविषय (विजित) के अन्तर्गत क्षेत्र, जैसे यवन-कम्बोज, नाभक-नाभपंक्ति, भोज-पितनिक और आन्ध्र-पुलिन्द आदि। ये प्रदेश कहाँ थे और इनसे किन जनपदों का ग्रहण किया जाना चाहिये—इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। यह स्वीकार करना

होगा कि मौर्य साम्राज्य में इनकी विशिष्ट स्थिति थी और ये सम्भवतः ऐसे राज्य थे जिन पर अशोक का सीधा शासन नहीं था।

(२) राजा और उसकी परिषद्

मौर्यों के शासन में राजा 'कूटस्थानीय' होता था, यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। उसकी स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित करने की शक्ति रखनेवाली कोई प्रतिनिधि सभाएँ भी उस काल में विद्यमान नहीं थीं। जो मन्त्रिपरिषद् आदि संस्थाएँ मौर्यों के केन्द्रीय शासन में थीं, वे शासन-कार्य में राजा की सहायता करने के लिये ही थीं। राजा की शक्ति पर यदि कोई नियन्त्रण उस समय विद्यमान था, तो वह प्रकृतिकोप (जनता के विद्रोह) के भय के रूप में या शास्त्र-मर्यादा के पालन की आवश्यकता के रूप में ही था। अशोक के उत्कीर्ण लेखों द्वारा राजा की स्थिति व शक्ति के सम्बन्ध में कतिपय ऐसे निर्देश प्राप्त होते हैं, जो उल्लेखनीय हैं। धौली और जौगढ़ में अशोक ने जो दो अतिरिक्त शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे, उन दोनों का प्रारम्भ प्रायः इस प्रकार हुआ है--"जो कुछ भी मैं (उचित) देखता हूँ, उसी की मैं इच्छा करता हूँ और उसी को मैं विविध उपायों द्वारा सम्पादित करता हूँ। और मेरा मुख्य उपाय यह है कि आप लोगों द्वारा अपने प्रयोजन को अनुशासित कराऊँ।"[१] अशोक ने यह तोसली के कुमार और महामात्रों तथा समापा के महामात्रों को सम्बोधन करके कहा है। इसके पश्चात् अशोक ने अपनी जिस इच्छा को क्रियान्वित कराने के लिये इन राजपदाधिकारियों को आदेश दिया है, वह प्रजाजन के हित और सुख के सम्बन्ध में है। पर इस धर्म लिपि में अशोक का यह कथन ध्यान देने योग्य है--मैं जो कुछ भी उचित देखता हूँ या समुचित समझता हूँ, उसी की इच्छा करता हूँ और उसे ही विविध उपायों द्वारा सम्पादित करता है। जिन विभिन्न उपायों द्वारा अशोक अपनी इच्छा को पूर्ण करता था, उनमें प्रधान उपाय अपने महामात्रों द्वारा अपने आदेशों का पालन कराना था। यह उक्ति एक ऐसे राजा की है, जिसकी राजकीय इच्छा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो और जो, जो कुछ चाहे उसकी इच्छा करने और सब प्रकार के उपायों से अपनी इच्छा को पूर्ण करने की स्थिति में हो। यह बात दूसरी है, कि अशोक की इच्छा प्रजा का कल्याण करने की थी, और उसने उसी के लिये प्रयत्न किया। पर इस धर्मलिपि से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक की मनोवृत्ति एक स्वेच्छाचारी राजा की थी, जो उस युग के एक विशाल साम्राज्य के एकाधिपति के लिये सर्वथा स्वाभाविक थी।

---

१. 'अं किछि दखामि हकं तं इच्छामि। कंति कंमन पटिपादयेहं दुवालते च आलभेहं एस च मोख्यमत दुवाल एतसि अठसि अं तुफेसु अनुसथि।" धौली, प्रथम अतिरिक्त लेख

स्वेच्छाचारी होते हुए भी अशोक एक दयालु और प्रजापालक राजा था। वह प्रजा को अपनी सन्तान की तरह मानता था। इस भाव को उसने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सव मनुष्य मेरी प्रजा (सन्तान) हैं। जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान के लिये यह चाहता हूँ कि वे सब हित और सुख—ऐहलौकिक और पारलौकिक—प्राप्त करें, उसी प्रकार मैं सब मनुष्यों के लिये भी कामना करता हूँ।"[1] एक अन्य धर्मलिपि में अशोक ने अपने भाव को और भी अधिक अच्छी तरह प्रगट किया है—"उनको (मनुष्यों को) यह आश्वासन देना चाहिये, जिससे कि वे जान जाएँ कि "देवानांप्रिय हमारे लिये पिता के समान है। जैसे देवानांप्रिय अपने प्रति अनुकम्पा करता है (जैसा अपने लिये चाहता है) वैसे ही हमारे ऊपर भी अनुकम्पा करता है (वैसा ही हमारे लिये भी चाहता है)। जैसी देवानांप्रिय की अपनी सन्तान है, वैसे ही हम भी हैं।"[2] निस्सन्देह, अशोक ने यह यत्न किया कि वह जनता का सन्तान के समान पालन करे, उसके हित सुख और कल्याण का साधन करे और इहलोक तथा परलोक दोनों में उसे सुखी करने का यत्न करे। पर राजा और प्रजा के सम्बन्ध में यह विचार भारत की राजनीतिक परम्परा में एक नई बात थी। बौद्ध साहित्य में राजा को 'महासम्मत' कहा गया है[3], क्योंकि वह जनता की सम्मति या सहमति से राजा के पद को प्राप्त करता है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध को पिता और पुत्र के सम्वन्ध के सदृश प्रतिपादित करने का विचार कौटलीय अर्थशास्त्र में भी नहीं पाया जाता। कौटल्य के अनुसार प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का भी हित है, जो राजा को प्रिय हो उसे करने में राजा का हित नहीं है, अपितु प्रजा को जो प्रिय हो उसे करने में ही राजा का हित है।[4] पर अशोक जिसे उचित समझता था, उसी की वह इच्छा करता था और उसी को क्रियान्वित करना वह प्रजा के लिये हितकर मानता था। उसकी यह नीति कौटल्य और अन्य राजशास्त्र प्रणेताओं की नीति के अनुरूप नहीं थी। हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण मागध साम्राज्य का अधिपति होने के कारण अशोक में यदि यह प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हो जाए कि वह अपनी इच्छा को ही सर्वोपरि समझने लगे, तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

स्वेच्छाचारी शासक होते हुए भी अशोक कौटल्य द्वारा प्रतिपादित इस तथ्य को स्वीकार करता था, कि यदि राजा उत्थानशील हो तो सेवक (राजकर्मचारी) भी उत्थानशील

---

१. **'सवे मुनिसे पजा ममा अथा पजाये इछामि हकं किंति सवेन हितसुखेन हिदलोकिक-पाललोकिकेन यूवेजूति तथा मुनिसेसु पि इछामि।' धौली, प्रथम अतिरिक्त लेख**

२. **'अथ पिता तथा देवानं पिये अफाक अथा च अतानं हेवं देवानंपिये अनुकंपति अफें अथा च पजा हेवं मये देवानंपियस।' धौली—द्वितीय अतिरिक्त लेख।**

३. Rhys Davids and Carpenter : Digha Nikaya III pp 92-93

४. **'प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।**
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥' कौ. अर्थ. १।१९

हो जाते हैं, और यदि राजा प्रमादी हो तो सेवक भी प्रमादी हो जाते हैं।[1] इसी कारण उसने जिस नीति को उचित समझा, उसे सफल बनाने के लिये पूरा-पूरा पराक्रम (उद्योग) किया, और अपने राजकर्मचारियों को भी अधिकतम उद्योग करने के लिये प्रेरित किया। अपनी धर्मलिपियों में अशोक ने वार-वार अपने पराक्रम (उद्योग) का उल्लेख किया है। यह उद्योग उसने अपनी धर्मविजय की नीति की सफलता के लिये किया था। साथ ही, अशोक यह भी समझता था, कि उसके राजकर्मचारियों को भी निर्दोष तथा उद्यमी होना चाहिये। अपने महामात्रों से वह जिन गुणों की अपेक्षा रखता था, उन्हें उसने इस प्रकार प्रगट किया है—"आपको (महामात्रों को) यह इच्छा करनी चाहिये। क्या इच्छा कि हम मध्य (निष्पक्ष) मार्ग का अनुसरण करें। किन्तु इन बातों से सफलता प्राप्त नहीं होती है, ईर्ष्या, आशुलोप (मानसिक संतुलन का शीघ्र लोप हो जाना), निष्ठुरता, त्वरा (जल्दबाजी), अनावृत्ति (विवेक विहीनता), आलस्य और क्लमथ (प्रमाद)। अतः आपको इच्छा करनी चाहिये कि ऐसे दोष आप में न हों। इन सब (दोषों) के मूल में होते हैं, आशु-लोप और त्वरा। जो निरन्तर क्लान्त होते रहते हैं, वे न उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं, और न उद्योग ही कर सकते हैं। किन्तु आप को चलना है, आगे बढ़ना है और लक्ष्य की प्राप्ति करनी है।"[2] अशोक की यह उक्ति महामात्रों व अन्य राजकर्मचारियों के लिये कितनी प्रेरणा देनेवाली है, यह सर्वथा स्पष्ट है। वस्तुतः, अशोक यह अनुभव करता था कि उसकी नीति तभी सफल हो सकती है, जबकि उसके कर्मचारी भी उसी के समान उत्थानशील, प्रमाद से विहीन, विवेकी और दयालु हों। निष्ठुरता, जल्दबाजी, क्रोध आदि दुर्गुण उनमें न हों, और वे मनोयोग के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करें।

अशोक राज्यकार्य में कितनी दत्तचित्तता के साथ कार्य करता था, इस सम्बन्ध में भी कतिपय निर्देश उसकी धर्मलिपियों में विद्यमान हैं। अपनी एक धर्मलिपि में अशोक ने इस प्रकार लिखा है—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। बहुत समय व्यतीत हो गया, भूत काल में सब समय अर्थकर्म (राज्य के आवश्यक कार्य) और प्रतिवेदना (राज्य-कार्यों की सूचना) नहीं होती थी। अतः मुझ द्वारा ऐसा किया गया। सब समय (चाहे) मैं भोजन करता होऊँ, (चाहे) मैं अवरोधन (अन्तःपुर) में होऊँ, (चाहे) गर्भागार (शयनगृह) में होऊँ, (चाहे) मैं वच (शौचागार या पशुशाला) में होऊँ, (चाहे) मैं विनीत (यान) में होऊँ और (चाहे) मैं उद्यान में होऊँ, सर्वत्र (राज्य में) स्थित (नियुक्त) प्रतिवेदक मुझे जनता के कार्यों की सूचनाएँ देते रहें। (मैं) सर्वत्र जनता के कार्यों का सम्पादन करता हूँ।"[3] अशोक की यह उक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है।

---

१. 'राजानमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भृत्याः। प्रमाद्यन्मनु प्रमाद्यन्ति।' कौ. अर्थ. १।१६

२. चतुर्दश शिलालेख—धौली, प्रथम अतिरिक्त लेख।

३. चतुर्दश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी)—छठा लेख।

इसमें उसने जनता के कार्यों को सम्पादित करने के सम्बन्ध में अपनी तत्परता प्रदर्शित की है। इस धर्मलिपि में आये कतिपय शब्दों के अभिप्राय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। धर्मलिपि के 'वच' शब्द का संस्कृत रूपान्तर वर्चस या व्रज हो सकता है। वर्चस का अर्थ गोबर या पुरीष है, जिससे यह समझा जा सकता है कि अशोक को वच से शौचालय अभिप्रेत था। पर यदि वच को व्रज का समकक्ष माना जाए, तो उसका अभिप्राय गौशाला या पशुशाला ही होगा। विनीत का अर्थ है, लाया गया। इस से अशोक को लाने-ले जाने वाले यान ही अभिप्रेत थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजा की जो दिनचर्या दी गई है, उसमें सोने के लिये केवल चार घण्टे के लगभग समय रखा गया है, और भोजन, स्नान, नित्य-कर्म आदि के लिये केवल तीन घण्टे। आमोद-प्रमोद के लिये केवल डेढ़ घण्टा निकाला गया है, आवश्यकता पड़ने पर यद्यपि उसमें भी राजकीय विषयों पर विचार-विमर्ष करना उसके लिये अनिवार्य है। शेष सब समय (चौबीस घण्टों में से चौदह घण्टे से भी अधिक) राजा को राजकीय कार्यों में ही लगाने हैं। उसे यह व्यवस्था करनी चाहिये कि जो कार्यार्थी उससे मिलना चाहें उन्हें प्रतीक्षा न करनी पड़े। जो राजा अपना कार्य दूसरों पर छोड़ देता है और स्वयं कार्य के लिये तत्पर नहीं रहता, उसके कार्य और अकार्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। जो कार्य आत्ययिक (तुरन्त करणीय) हों, उन पर तुरन्त ध्यान दिया जाए। उनपर विचार और निर्णय को स्थगित कर देने का यह परिणाम होगा कि वाद में वे कष्टसाध्य या असाध्य हो जायेंगे।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि अशोक राजकीय कर्तव्यों के पालन में अत्यन्त जागरूक था। जिन्हें अशोक ने 'प्रतिवेदक' कहा है, वे ही कौटलीय अर्थशास्त्र में सत्री, गूढ़पुरुष और चार कहे गये हैं। हमें ज्ञात है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में गूढ़पुरुषों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अमात्यों तक की शुचिता और अशुचिता की परख गूढ़पुरुषों द्वारा ली जाती थी। मैगस्थनीज ने भी जनता के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया है, जो राज्य और जनता के सम्बन्ध में सब जानकारी प्राप्त करता था और उसकी सूचना सरकार को देता रहता था। अशोक के शासन-काल में भी इस वर्ग का विशेष महत्त्व था।

कौटलीय अर्थशास्त्र में मन्त्रिपरिषद् के विषय में विशद रूप से विवेचन किया गया है। इसके सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी, और वे शासन-कार्य में राजा को परामर्श दिया करते थे। अशोक की धर्मलिपियों में भी परिषा या परिषद् का उल्लेख हुआ है—"जो कुछ भी मैं मौखिक रूप से आज्ञा प्रदान करूँ, वह चाहे दान के सम्बन्ध में हो और चाहे कोई विज्ञप्ति हो, अथवा यदि मैं कोई आत्ययिक (तुरन्त करणीय) कार्य महामात्यों को सौंप दूँ, और उनके बारे में परिषद् में कोई विवाद या पुनर्विचार के लिये कोई प्रस्ताव उठ खड़ा हो, तो उसकी सूचना मुझे अविलम्ब दी जानी चाहिए-सर्वत्र

---

१. कौटलीय अर्थशास्त्र १।१९

(सब स्थानों पर) और सब समयों में।"[१] इस धर्मलिपि से स्पष्ट है, कि अशोक के समय में भी ऐसी परिषद् या मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी, जिस पर राजा द्वारा दिये गये आदेशों पर विवाद या विचार किया जाता था, और उन आदेशों के सम्बन्ध में झगड़े या मतभेद भी उत्पन्न हो जाते थे। राजा परिषद् के इस विचार-विमर्श को बहुत महत्त्व देता था, और सम्भवतः उसकी उपेक्षा कर सकना भी उसके लिये सम्भव नहीं होता था। इसी कारण अशोक ने प्रतिवेदकों को यह आदेश दिया था, कि यदि उसकी आज्ञाओं के सम्बन्ध में कोई विवाद परिषद् में उठ खड़ा हो, तो उसकी सूचना उसे तुरन्त दी जाए। एक अन्य धर्मलिपि में परिषद् के सम्बन्ध में यह वाक्य आया है—'परिषदें भी युक्तों को हेतु (कारण) और व्यञ्जन (अक्षरशः अर्थ) के साथ (इन नियमों की) गणना करने के लिये आज्ञा देंगी।' (चतुर्दश शिलालेख—तीसरा लेख) इससे भी अशोक के शासनकाल में परिषद् की सत्ता सूचित होती है।

प्रतीत होता है कि अशोक को अनेक बार मन्त्रिपरिषद् के विरोध का सामना भी करना पड़ा था। इस विषय में दिव्यावदान की एक कथा उद्धृत करने के योग्य है। उसके अनुसार जब राजा अशोक को बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई, तो उसने भिक्षुओं से प्रश्न किया—'भगवान् के लिये सबसे अधिक दान किसने दिया है?' भिक्षुओं ने उत्तर दिया—'गृहपति अनाथपिण्डक ने।' 'भगवान् के लिये उसने कितना दान दिया था?' 'सौ करोड़', भिक्षुओं ने सूचित किया। यह जानकर राजा अशोक ने विचार किया—अनाथपिण्डक ने साधारण गृहपति होकर सौ करोड़ दान किया था, अतः मैं भी अवश्य ही इतना दान करूँगा।[२] अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये अशोक ने बहुत यत्न किया। हजारों स्तूप, विहार आदि का निर्माण कराया। लाखों भिक्षुओं को भोजन और आश्रय दिया। इस प्रकार अशोक ने धीरे-धीरे नब्बे करोड़ तो भगवान् के नाम पर भिक्षुओं, विहारों और संघ को दान कर दिया। पर दस करोड़ और शेष बच गया। राजा इसे सुगमता से नहीं दे सका। इस कारण उसे बहुत कष्ट हुआ। राजा को शोकातुर देखकर प्रधानामात्य राधागुप्त ने, जिसने दान में अशोक की बहुत सहायता की थी, प्रश्न किया—'प्रबल शत्रुसंघ चारों ओर से घेर कर भी चण्ड सूर्य के समान देदीप्यमान जिस मुखमण्डल को न देख सके, जिसकी शोभा के सम्मुख

---

१. चतुर्दश शिलालेख—छठा लेख।

२. 'यदा राज्ञाशोकेनार्धामलकदानेन भगवच्छासने श्रद्धा प्रतिलब्धा, स भिक्षून् उवाच केन भगवच्छासने प्रभूतं दानं दत्तम्! भिक्षव ऊचुः अनाथपिण्डकेन गृहपतिना। राजाह। कियत्तेन भगवच्छासने दानं दत्तम्। भिक्षव ऊचुः कोटिशतं तेन भगवच्छासने दानं दत्तम्। श्रुत्वा च राजाशोकश्चिन्तयति। तेन गृहपतिना भूत्वा कोटिशतं भगवच्छासने दानं दत्तम्। तेनाभिहितम्। अहमपि कोटिशतं भगवच्छासने दानं दास्यामि।" दिव्यावदान पृ. ४२८

सैंकड़ों कमल भी लजाते हैं, हे देव ! तुम्हारा वह मुख आज सवाष्प क्यों है ?' 'राजा ने उत्तर दिया––'राधागुप्त, न मुझे धन के विनाश की चिन्ता है, न राज्य के नाश का विचार है, और न किसी आश्रय से ही मेरा वियोग हुआ है। मुझे केवल इस बात का सोच है कि पूज्य भिक्षुओं से मुझे बिछुड़ना पड़ रहा है। मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि भगवान् बुद्ध के लिये सौ करोड़ दान करूँगा, परन्तु मेरा यह मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ।'

अब अशोक ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये राज्यकोष से शेष धन को प्रदान करने का निश्चय किया। पर इसमें भी उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उस समय कुनाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्पदि (सम्प्रति) युवराज था। उसे अमात्यों ने कहा–– कुमार ! राजा अशोक अब स्वल्प काल तक ही रहेगा। यह धन कुर्कुटाराम भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोश पर ही निर्भर करती है। इसलिये (धन को कुर्कुटाराम भेजने से) मना कर दो। कुमार ने भाण्डागारिक को राज्यकोश से दान देने से मना कर दिया।[1]

पहले राजा अशोक सुवर्णपात्र में रखकर भिक्षुओं को भोजन भेजा करता था। पर अब इसका निषेध कर दिया गया। फिर उसने चाँदी के पात्र में भोजन भेजना चाहा, पर उसकी भी अनुमति नहीं दी गई। फिर अशोक ने लोहे के पात्र में भोजन भेज़ने का यत्न किया, पर उसे यह भी नहीं करने दिया गया। अन्त में उसने मिट्टी के पात्र में कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के लिये भोजन भेजना चाहा, पर ऐसा करने से भी उसे रोक दिया गया। अब उसके पास केवल आधा आँवला शेष बच गया, जो उस समय उसके हाथ में था। इसके अनन्तर अशोक ने संविग्न होकर अमात्यों और पौरों को बुला कर प्रश्न किया––'इस समय राज्य का स्वामी कौन है ?' यह प्रश्न सुनकर अमात्य आसन से उठ खड़ा हुआ, और यथोचित रीति से राजा अशोक को अञ्जलि द्वारा प्रणाम करके बोला––'देव ही पृथिवी के स्वामी हैं।" यह सुनकर अशोक की आँखों से आँसू फूट पड़े। आँसुओं से अपने मुख-मण्डल को गीला करते हुए उसने अमात्यों से कहा––तुम केवल मुझ पर कृपा कर झूठ क्यों कह रहे हो। मैं तो राज्य से च्युत हो गया हूँ। मेरे पास तो केवल यह आधा आँवला ही शेष बच गया है, जिस पर मेरा प्रभुत्त्व है। ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है।"[2]

---

१. 'तस्मिंश्च समये कुनालस्य सम्पदिनाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्। कुमार, अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुर्कुटारामं प्रेष्यते कोशबलिनश्च राजानो निवारयितव्यः। यावत्कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः। दिव्यावदान पृ. ४२९–४३०

२. 'अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च संनिपात्य कथयति। कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायासनाद् येन राजाशोकस्तेनाञ्जलिं प्रणम्योवाच। देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाशोकः साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच-दाक्षिण्यादनृतं हि किं कथयथ भ्रष्टाधिराज्या वयम्।
शेषं त्वामलकार्धमित्यवसितं यत्र प्रभुत्वं मम॥ ऐश्वर्यं धिगनार्य..............
दिव्यावदान पृ. ४३१

इसके वाद राजा अशोक ने वह आधा आँवला ही कुर्कुटाराम के भिक्षुओं की सेवा में भेज दिया, और यह कहला भेजा कि जो मौर्यकुञ्जर त्यागशूर नरेन्द्र अशोक सम्पूर्ण 'जम्बुद्वीप का स्वामी' था, वह अब केवल आधे आँवले का ही स्वामी रह गया है। भृत्यों ने अब भूमिपति के सब अधिकारों को छीन लिया है। अब वह केवल इस आधे आँवले को दान करने की स्थिति में रह गया है, और उसे ही दान रूप से भेज रहा है।[1]

दिव्यावदान की यह कथा महत्त्व की है। इसे यदि सर्वांश में सत्य न भी माना जाए, तो भी यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि यह वास्तविकता पर आश्रित है। अशोक ने विहार, स्तूप आदि के निर्माण में कोटि-कोटि धन खर्च किया, यह निर्विवाद है। बौद्ध-धर्म के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी, और उसने दान पुण्य में कोई कसर शेष नहीं रखी। सम्भवतः, अशोक ने यह सब धन अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति में से व्यय किया था। विशाल मागध साम्राज्य के एकच्छत्र सम्राट् की अपनी सम्पत्ति इतनी अवश्य थी, कि वह दानपुण्य में गृहपति अनाथ-पिण्डक की स्पर्धा कर सके। पर जब अपने दान-पुण्य के लिये अशोक ने राज्यकोश से धन लेना चाहा, तो अमात्यों ने उसे रोक दिया। सम्भवतः, मन्त्रिपरिषद् द्वारा अशोक का यह संकल्प अनुचित ठहराया गया होगा। कौटलीय अर्थशास्त्र में जिन अठारह तीर्थों का परिगणन किया गया है, 'युवराज' भी उनमें से एक है। राजा के आदेश को क्रियान्वित होने से रोक सकने की शक्ति यदि युवराज में ही निहित रखी गई हो, तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। अमात्यों के निर्णय के अनुसार युवराज सम्प्रति ने अशोक के विचार को क्रियान्वित नहीं होने दिया, दिव्यावदान की कथा इसी घटना को सूचित करती है। पर इससे यह परिणाम निकाल सकना कदापि संगत नहीं है, कि मौर्य राजा संवैधानिक शासक थे, और उनकी शक्ति व इच्छा परिषद् द्वारा नियन्त्रित थी। अशोक की धर्मलिपियों से भी यह ज्ञात होता है कि इस युग में परिषद् की सत्ता थी, और राजा के आदेशों पर उसमें विचार-विमर्श भी होता था। पर यह परिषद् राजा की अपनी कृति थी, जिसके सदस्यों को वह राज्यकार्य में परामर्श देने के लिये स्वयं नियुक्त करता था और जो उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पर जैसा कि हम चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था का निरूपण करते हुए लिख चुके हैं, मौर्य युग के राजा पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं थे। पुरानी परिपाटियों और दृढ़मूल व्यवहार द्वारा उनकी शक्ति नियन्त्रित रहती थी, और प्राचीन मर्यादा का अतिक्रमण कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था। राज्यकोश के धन का अपव्यय प्राचीन राजकीय मर्यादा के प्रतिकूल था, इसी कारण अमात्यों ने उसका

---

१. **'त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ अशोको मौर्यकुञ्जरः**
जम्बुद्वीपेश्वरो भूत्वा जातोऽर्धमलकेश्वरः।
भृत्यैः स भूमिपतिरद्य हृताधिकारो
दानं प्रयच्छति किलामलकार्धमेतत्॥' दिव्यावदान पृ. ४३१–४३२

विरोध किया और सम्प्रति द्वारा उसे रुकवा दिया। अशोक द्वारा राज्यकोश के अपव्यय को रोकने के लिये अमात्यों के साथ पौर भी एकत्र हुए थे। मौर्य युग में पाटलिपुत्र, तक्षशिला आदि नगरों में पौर सभाओं की सत्ता थी, यह निर्विवाद है। मैगस्थनीज के यात्रा-विवरण द्वारा भी पाटलिपुत्र की पौर सभा पर प्रकाश पड़ता है। यह सर्वथा स्वाभाविक था कि राजधानी पाटलिपुत्र के पौर राजकीय धन के अपव्यय को रोकने में अमात्यों के साथ सहयोग करें। भारत के प्राचीन जनपदों में पौर-जानपद सभाओं की सत्ता थी, यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने मौर्यों के शासन में भी इन सभाओं के महत्त्व का निरूपण किया है, और इन्हें केन्द्रीय विधानमण्डल के दो सदनों के रूप में प्रतिपादित किया है।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था का विवेचन करते हुए हम मौर्ययुग के शासन में पौर-जानपद सभाओं की क्या स्थिति थी, इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। ये सभाएँ मागध साम्राज्य के केन्द्रीय विधान-मण्डल के दो सदन न होकर उन जनपदों की सभाएँ थीं, जिन्हें मगध के विजिगीषु राजाओं ने जीत कर अपने अधीन कर लिया था, और जिनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता मौर्य युग में भी कायम थी। जिन पौरों ने अमात्यों के साथ मिल कर अशोक की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाया था, वे पाटलिपुत्र की प्राचीन काल से चली आ रही पौर सभा के ही सदस्य थे। मौर्य युग में इस प्रकार की पौर सभाएँ तक्षशिला, उज्जैनी आदि अन्य नगरों में भी विद्यमान थीं, और बौद्ध साहित्य की कथाओं में उनकी सत्ता के निर्देश भी विद्यमान हैं।

श्री जायसवाल ने अशोक की एक धर्मलिपि से भी जानपद सभा की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस धर्मलिपि की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं——"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा——अभिषेक को हुए छब्बीस वर्ष बीत जाने पर मैंने यह धर्मलिपि लिखवायी। मेरे लजूक (रज्जुक या राजूक) बहुत-से लाखों प्राणियों और मनुष्यों पर आयत (नियुक्त) हैं। अभिहार (अभियोग) और दण्ड के जो (अधिकार उन्हें प्राप्त) हैं, उनके सम्बन्ध में उन्हें मैंने अतपतिय (आत्मप्रत्यय——अपने ऊपर निर्भर या स्वतन्त्र) कर दिया है। यह क्यों? जिससे कि लजूक आश्वस्त और निर्भय होकर (अपने) कार्यों में प्रवृत्त रहें, और जानपद जन का हित व सुख सम्पादित करें और उनके प्रति अनुग्रह कर सकें। वे (लजूक) सुखीयन (सुख पहुँचाना) और दुःखीयन (दुःख पहुँचाना) को जानेंगे (लोगों के सुख और दुःख से परिचय प्राप्त करेंगे) और धर्मयुतों (धर्मयुक्तों) द्वारा जानपद जन को मार्ग दिखायेंगे। क्यों? जिससे कि वे इहलोक और परलोक में (सुख की) साधना कर सकें।[2]" इसी धर्मलिपि में आगे चलकर भी "जानपद"

१. Jayaswal K. P. Hindu Polity

२. दिल्ली–टोपरा स्तम्भ लेख——चौथा लेख।

के हित और सुख के सम्बन्ध में अशोक द्वारा की गई व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। इस धर्मलिपि में आये हुए 'जानपद जन' का अभिप्राय जानपद सभा से है, श्री जायसवाल ने इस मत को प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि अशोक ने इस धर्मलिपि द्वारा लजूक संज्ञक राजपदाधिकारियों को यह अधिकार प्रदान किया था, कि वे जानपद सभा के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित कर सकें और साथ ही धर्मयुक्तों द्वारा उन्हें मार्गप्रदर्शन भी किया करें। पर जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय शासन में किन्हीं भी ऐसी सभाओं की सत्ता नहीं थी जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हों, या जो अन्य प्रकार से जनता का प्रतिनिधित्त्व करते हों। लजूक या रज्जुक संज्ञक महामात्र लाखों की जनसंख्या के क्षेत्रों का शासन करने के लिये नियुक्त थे, और इस धर्मलिपि द्वारा अशोक ने उन्हें यह आदेश दिया था कि वे जनपद निवासियों के सुख और हित के लिये प्रयत्नशील रहें और उन्हें ,मार्गप्रदर्शन करें। जिन जनपदों की अभी पृथक् रूप से सत्ता थी और जिन्हें आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में भी अधिकार प्राप्त थे, उनमें यदि पुरानी जानपद सभाएँ भी विद्यमान हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है, और उनके शासन के लिये नियुक्त रज्जुक यदि अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए इन जानपद सभाओं का भी उप योग करते हों, तो इसे असंगत नहीं कहा जा सकता।

तक्षशिला, उज्जैनी, पाटलिपुत्र आदि नगरों में राजा अशोक के समय में भी पौर सभाएँ विद्यमान थीं, इस सम्बन्ध में कतिपय निर्देश अन्य बौद्ध कथाओं द्वारा भी प्राप्त होते हैं। दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार उत्तरापथ में तक्षशिला नगर ने राजा अशोक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जब राजा ने यह समाचार सुना, तो वह स्वयं ही विद्रोह को शान्त करने के लिये चल पड़ा। यह देखकर अमात्यों ने कहा--'देव! कुमार को भेज दीजिये, वह विद्रोह शान्त कर देगा।' राजा ने कुनाल को बुला कर कहा--'वत्स! क्या तुम तक्षशिला नगर को शान्त करने के लिये जाओगे?' कुनाल ने उत्तर दिया--'हाँ, देव! जाऊँगा।'· · ·कुनाल ने तक्षशिला के लिये प्रस्थान कर दिया और उसके समीप जा पहुँचा। जब तक्षशिला के पौरों ने यह सुना, तो उन्होंने ३।। योजन तक मार्ग को और सारे नगर को सजाया। फिर पूर्ण कुम्भ लेकर कुनाल के स्वागत के लिये चल पड़े। कुमार के पास पहुँच कर पौर ने हाथ जोड़ कर कहा--'न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के। पर दुष्टात्मा अमात्य आकर हमारा अपमान करते हैं।' फिर वे कुनाल को बड़े सम्मान के साथ तक्षशिला ले गये।[1]

---

१. **'राज्ञोऽशोकस्य उत्तरापथे तक्षशिलानगरं विरुद्धम्। श्रुत्वा च राजा स्वयमेवाभिप्रस्थितः। ततोऽमात्यैरभिहितः। देव कुमारः प्रेष्यतां सन्नामयिष्यति। अथ राजा कुनालमाहूय कथयति। वत्स कुनाल गमिष्यसि तक्षशिलानगरं सन्नामयितुम्। कुनाल उवाच। परं देव गमिष्यामि।...अनुपूर्वेण तक्षशिलामनुप्राप्तः। श्रुत्वा च**

दिव्यावदान की इस कथा के अनुसार तक्षशिला के जिन 'पौरों' ने दुष्टात्मा अमात्यों की कुमार कुनाल से शिकायत की थी, उन्हें केवल 'पुर के निवासी' नहीं समझा जा सकता। वे पौर सभा के सदस्य थे, और तक्षशिला नगर की ओर से वे कुनाल के स्वागत के लिये उपस्थित हुए थे। कुमार को सम्वोधन करते हुए जिस पौर ने यह कहा था कि न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के, दिव्यावदान में उसके लिये एकवचन का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः, वह पौर सभा का अध्यक्ष था और उसी ने तक्षशिला की पौर सभा की ओर से कुनाल का स्वागत किया था।

तक्षशिला में पौर सभा की सत्ता की सूचना दिव्यावदान की एक अन्य कथा से भी मिलती है। कथा इस प्रकार है——एक वार राजा अशोक वहुत रुग्ण हो गये। रोग की अनेक चिकित्साएँ करायी गईं, पर उन्हें स्वास्थ्य लाभ नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, अव शीघ्र ही कुनाल को राजसिंहासन पर अधिष्ठित कर स्वयं निश्चिन्त हो जाना चाहिये। जब यह वात रानी तिष्यरक्षिता को ज्ञात हुई, तो वह वहुत उद्विग्न हुई। वह कुनाल की सौतेली मा थी और उससे वहुत द्वेष रखती थी। वह नहीं चाहती थी कि कुनाल राजगद्दी पर आरूढ़ हो। उसने राजा से कहा——तुम्हारे स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व मुझ पर है, मैं तुम्हें नीरोग करूँगी। उसने राजा की चिकित्सा प्रारम्भ की। धीरे-धीरे राजा स्वस्थ हो गया। रोग से मुक्त हो जाने के कारण राजा तिष्यरक्षिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे कोई वर माँगने को कहा। तिष्यरक्षिता ने सात दिन के लिये राज्य की याचना की। अपने वचन के पालन के लिये राजा ने यह वात स्वीकार कर ली। राज्य पाकर तिष्यरक्षिता ने सोचा——यह उत्तम अवसर है, अव कुनाल से वदला लिया जा सकता है। उसने एक कपटलेख तैयार कराया और उस द्वारा तक्षशिला के पौरों को यह आज्ञा दी कि कुनाल (जो उस समय तक्षशिला का 'कुमार' था) को अन्धा कर दिया जाए। उसने लिखा—— 'प्रचण्ड वलवान् अशोक की तक्षशिलाजन को यह आज्ञा है कि इस शत्रु की आँखें निकाल दी जाएँ, यह मौर्य वंश का कलङ्क है।' राजा अशोक को जो कार्य तत्काल कराना होता था, उसे वह अपनी दन्तमुद्रा से मुद्रित करा देता था।[1] तिष्यरक्षिता ने सोचा कि इस कपटलेख

तक्षशिलापौरा अर्धत्रिकाणि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गताः। वक्ष्यति

श्रुत्वा तक्षशिला पौरा रत्नपूर्णघटादिकान्।
गृह्य प्रत्युज्जगामाशु बहुमान्यं नृपात्मजम्॥

प्रत्युद्गम्य कृताञ्जलिरुवाच। न वयं कुमारस्य विरुद्धा न राज्ञोऽशोकस्य। अपितु दुष्टात्मानोऽमात्या आगत्या स्माकमपमानं कुर्वन्ति। यावत्कुनाल महता सम्मानेन तक्षशिलां प्रवेशितः।" दिव्यावदान पृष्ठ ४०७–४०८।

१. 'यावत् राज्ञा तिष्यरक्षितायाः सप्ताहं राज्यं दत्तम्। तस्या बुद्धिरुत्पन्ना। इदानीं मयास्य कुनालस्य वैरं निर्यातयितव्यम् तथा कपटलेखो लिखितस्तक्षशिलानां

को भी राजा की दन्तमुद्रा से मुद्रित कर के ही भेजना ठीक होगा। अन्यथा, पौर उस पर विश्वास नहीं करेंगे। इसलिये जब राजा सो रहा था, तो तिष्यरक्षिता ने उस आज्ञा को दन्तमुद्रा से मुद्रित कर दिया। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुँचा, तो पौरजानपदों को बहुत आश्चर्य हुआ। वे कुनाल के गुणों तथा सत्कार्यों के कारण उसे बहुत पसन्द करते थे। उनको साहस न हुआ, कि कुमार को राजकीय आदेश की सूचना दें। पर वह लेख राजा अशोक की दन्तमुद्रा से मुद्रित था। अतः न उसकी उपेक्षा की जा सकती थी, और न उसके अनुसार कार्य करने में विलम्ब कर सकना ही सम्भव था। तुरन्त वह राजाज्ञा कुनाल के सम्मुख प्रस्तुत की गई। उसे देख कर कुनाल ने कहा, राजा की आज्ञा का पालन होना ही चाहिये। उस ने स्वयं वधिकों को बुलवाया और अपनी आँखें स्वयं ही बाहर निकलवा दीं।

इस कथा की सत्यता के सम्बन्ध में विचार करना निरर्थक है। पर इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुनाल को अन्धा कर देने के लिये जो राजाज्ञा तिष्यरक्षिता द्वारा भेजी गई थी, वह तक्षशिला के 'पौरों' के नाम थी। यदि पौरों का अभिप्राय पुर निवासी समझा जाए, तो क्या यह मानना उपयुक्त होगा कि तक्षशिला नगरी के निवासियों को यह राजाज्ञा दी गई थी कि वे कुनाल को अन्धा कर दें। दिव्यावदान में पौर शब्द का उपयोग जिस ढंग से किया गया है, वह स्पष्ट रूप से एक संस्था को सूचित करता है। अशोक के समय में भी तक्षशिला आदि पुरों में पौर सभा की सत्ता थी, यह बात असंदिग्ध है।

अशोक की धर्मलिपियों में राजा के लिये 'देवानांप्रिय' और 'प्रियदर्शी' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। भारत के राजाओं के लिये 'देवानांप्रिय' विशेषण नया था। अशोक से पूर्व के मौर्य अथवा किसी अन्य राजवंश के राजाओं ने अपने लिये इस विशेषण का प्रयोग किया हो––इसका कोई संकेत प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः, सबसे पूर्व अशोक ने ही अपने को देवताओं का प्रिय कहना प्रारम्भ किया था। यह ध्यान देने योग्य है कि अशोक की धर्मलिपियों में कहीं भी पुरोहित का उल्लेख नहीं हुआ है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार शासन में पुरोहित का स्थान बहुत उच्च है। वह राज्य की ब्रह्म शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य में दो शक्तियाँ प्रधान होती हैं, ब्रह्म और क्षत्र। इन दोनों के सहयोग से ही राज्य उन्नति करता है। पुरोहित ब्रह्मशक्ति को प्रगट करता है, और राजा क्षत्र शक्ति को। कौटल्य के अनुसार राजा को पुरोहित का उसी प्रकार

पौराणां कुनालस्य नयनं विनाशयितव्यमिति। आह च।
राजा ह्यशोको बलवान् प्रचण्डः आज्ञापयत् तक्षशिलाजनं हि।
उद्धार्यतां लोचनमस्य शत्रोः मौर्यस्य वंशस्य कलङ्क एषः॥
राज्ञोऽशोकस्य यत्र कार्यम् आशु परिप्राप्यं भवति दन्तमुद्रया मुद्रयति।'
दिव्यावदान. पृष्ठ ४०९–४१०

अनुसरण करना चाहिये, जैसे पुत्र पिता का करता है।[1] यदि अशोक के शासन में भी पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान होता, तो उसकी धर्मलिपियों में कहीं न कहीं पुरोहित का उल्लेख अवश्य होना चाहिये था। अशोक ने धर्मविजय की नीति को अपनाया था और उसकी सफलता के लिये धर्म-महामात्र आदि नये राजपदाधिकारी भी नियुक्त किये थे। धर्म के लिये अशोक ने जो पराक्रम (उद्योग) किया, अपनी धर्मलिपियों में उसने बार-बार उसका उल्लेख किया है और साथ ही उन उपायों का भी जिनका उसने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उपयोग किया। पर कहीं भी उसने पुरोहित का उल्लेख नहीं किया। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की शासन व्यवस्था में पुरोहित का सहयोग व समर्थन किसी भी राजकीय नीति की सफलता के लिये आवश्यक था। सम्भवतः, बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ जाने और अन्ततोगत्वा बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण अशोक को भारत की ब्रह्मशक्ति (ब्राह्मण वर्ग) का सहयोग प्राप्त नहीं रहा था। यह भी सम्भव है, कि उसे इस वर्ग के विरोध का भी सामना करना पड़ रहा हो। ब्रह्मशक्ति के साहाय्य से विरहित अशोक ने यदि जनता के सम्मुख यह प्रदर्शित किया हो, कि वह तो देवताओं का प्रिय है, स्वयं देव वर्ग उसके साथ है—तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। अशोक ने जो 'देवानांप्रिय' विशेषण अपने लिये प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया, उसका कारण सम्भवतः यही था। शायद वह अपनी प्रजा को यह प्रदर्शित करना चाहता था कि जब वह स्वयमेव देवताओं का प्रिय है, तो उसे ब्राह्मण-पुरोहित की आवश्यकता ही क्या है? अनुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि द्वारा पुरोहित दैवी शक्तियों का जो साहाय्य प्राप्त कर सकता था, वह उसे देवताओं का प्रिय होने के कारण वैसे ही प्राप्त है। अशोक ने अपनी एक धर्मलिपि में इस बात का भी दावा किया है, कि उसके पराक्रम (उद्योग) के परिणाम-स्वरूप जम्बूद्वीप में देवता और मनुष्य एक दूसरे से मिश्र हो गये हैं—परस्पर मिल-जुल गये हैं। यह बात भी इसी तथ्य की ओर निर्दिष्ट करती है, कि अशोक ने अपने लिये 'देवानांप्रिय' विशेषण एक विशेष प्रयोजन से ही प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया था। देवताओं के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करके ही वह पुरोहित के अभाव की कमी को पूरा कर सकता था।

(३) महामात्र और अन्य राजकर्मचारी

कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य के प्रधान पदाधिकारियों के लिये 'अमात्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। विविध प्रकार की परखों में जो व्यक्ति खरे उतरें, उन्हें राजा अमात्य पद पर नियुक्त करता था, और कार्य की आवश्यकता को दृष्टि में रख कर उनमें

---

१. 'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रः भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत।' कौ. अर्थ. १।९

२. 'ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगमशस्त्रितम्॥' कौ. अर्थ. १।९

से कुछ को मन्त्री के पद पर[१]। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'महामात्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है,[२] जिससे सूचित होता है कि अधिक महत्त्व के पदों पर जो अमात्य नियुक्त किये जाते थे, उन्हें महामात्य कहते थे। इन्हीं महामात्यों को अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में 'महामात'[३] और 'महामात्र'[४] कहा है। निस्सन्देह, ये राज्य के सबसे उच्च पदाधिकारी थे, और विभिन्न प्रान्तों के 'कुमारों' (कुमार-शासकों) की भी ये शासन-कार्य में सहायता किया करते थे। इसीलिये अशोक ने अपने जो आदेश शिलाओं और स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराये हैं, उनमें महामात्रों को सम्बोधन किया गया है और उन्हीं से उन आदेशों को क्रियान्वित कराने की अपेक्षा की गई है। जो आदेश कुमारों को सम्बोधित हैं, वे भी कुमारों और महामात्रों के नाम हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में बहुत-से राजपदाधिकारियों (अमात्यों और अध्यक्षों) तथा उनके कार्यों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इनमें से कौन-से अमात्य महामात्य की स्थिति रखते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। जिन्हें कौटल्य ने अष्टादश तीर्थ कहा है, अवश्य ही उनकी स्थिति महामात्य की होती थी। इन सब पर हम इस ग्रन्थ के पहले एक अध्याय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में जिन महामात्रों का उल्लेख किया है, उनसे कौन-कौन से शासनाधिकारियों का ग्रहण होता था——यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। पर इन महामात्रों का अधिकार-क्षेत्र बहुत विस्तृत था, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। जहाँ एक ओर इनसे यह आशा की जाती थी, कि ये बौद्ध संघ में फूट न पड़ने दें और जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालने का यत्न करे उसे श्वेत वस्त्र पहना कर बहिष्कृत करा दें[५], वहाँ दूसरी ओर उनसे धर्मश्रावण और धर्मानुशासन का कार्य भी लिया जाता था और उन्हें इसके लिये बहुधा अनुसंधान (दौरे) पर भी जाना होता था[६]। शासन के प्रमुख पदों पर होने के कारण राज्य के प्रति उनके जो कर्तव्य थे, उनका पालन तो उन्हें करना ही होता था।

नगल–वियोहालक (नगर-व्यावहारिक) संज्ञक राजपदाधिकारी अवश्य ही महामात्र की स्थिति रखते थे। धौली शिला के प्रथम अतिरिक्त लेख में 'नगर-व्यावहारिकाः' के साथ 'महामात्राः' विशेषण दिया गया है। ये महामात्र नगर-व्यावहारिक तोसली में नियुक्त थे,

१. कौ. अर्थ. १।४
२. कौ. अर्थ. १।९ कौटलीय अर्थशास्त्र की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'महामात्य' के स्थान पर 'महामात्र' शब्द भी प्रयुक्त किया गया है।
३. धौली शिला और जौगढ़ शिला के पृथक् अतिरिक्त लेख।
४. चतुर्दश शिलालेख (गिरनार)——छटा लेख।
५. लघु स्तम्भ-लेख (सारनाथ, प्रयाग)।
६. धौली शिलालेख——प्रथम अतिरिक्त लेख।

और इन्हें सम्बोधन करके अशोक ने अपनी एक अतिरिक्त धर्मलिपि लिखवायी थी। इसी प्रकार जौगढ़ शिला के प्रथम अतिरिक्त लेख में समापा के महामात्र नगर-व्यावहारिकों को सम्बोधन किया गया है। ये नगर-व्यावहारिक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजपदाधिकारी थे, और बहुत-से हजार मनुष्य इनके अधिकार-क्षेत्र में होते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में जो अष्टादश तीर्थ परिगणित हैं, उनमें 'पौर व्यावहारिक' भी हैं[1]। 'पौर' को ही अन्यत्र 'नागरक' भी कहा गया है। वह पुर या नगर का प्रधान शासक होता था।[2] व्यावहारिक धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश को कहते थे,[3] जिसकी एक अन्य संज्ञा 'धर्मस्थ' भी थी। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार नागरक (पौर) और व्यावहारिक (धर्मस्थ) दो पृथक् अमात्य या महामात्य थे, जिनके वेतन की दर बारह हजार पण वार्षिक थी।[4] अशोक की धर्मलिपियों में आये 'नगर-व्यावहारिक' से दो पृथक्-पृथक् महामात्र अभिप्रेत हैं या एक महामात्र--इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। भाण्डारकर के अनुसार नगर-व्यावहारिक संज्ञक एक महामात्र होता था,[5] जबकि जायसवाल के मत में यह शब्द नागरक और व्यावहारिक संज्ञाओं के दो महामात्रों को सूचित करता है[6]। इनमें से कौन-सा मत संगत है, यह निर्णय कर सकना सुगम नहीं है। जौगढ़ शिला के प्रथम अतिरिक्त लेख में नगलक (नागरक) संज्ञा के महामात्रों का भी उल्लेख किया गया है--'इस प्रयोजन से यह (धर्म) लिपि लिखवायी गई, ताकि महामात्र नागरक शाश्वत समय तक इसका पालन करें।'[7] इसी धर्मलिपि की जो प्रतिलिपि धौली-शिला पर उत्कीर्ण है, उसमें 'नगलक' के स्थान पर 'नगल वियोहालक' शब्द प्रयुक्त हुआ है– 'इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवायी गई, ताकि नगर-व्यावहारक शाश्वत समय तक इसका पालन करें।'[8] इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि 'नागरक' और 'नगर-व्यावहारिक' दोनों एक ही महामात्र के द्योतक हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में नागरक और व्यावहारिक शब्द दो पृथक् अमात्यों के लिये आये हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में नगरों के शासक को नागरक कहते थे, और व्यावहारिक का कार्य न्याय करना होता था। उस समय शासन और न्याय के कार्य दो पृथक् राजपदाधिकारियों के हाथों में थे। धौली और जौगढ़--दोनों के पृथक्

---

१. कौ. अर्थ. १।८
२. कौ. अर्थ. २।३६
३. कौ. अर्थ. ३।१
४. कौ. अर्थ. ५।३
५. Bhandarkar : Ashoka, p.56
६. Jayaswal K. P. Hindu Polity. Vol. II p. 134
७. 'एताये च अठाये इयं लिखिता लिपी एन महामाता नगलक सस्वतं समयं एतं युजेयुति।'
८. 'एताये अठाये इयं लिपि लिखित हिद एन नगलवियोहालका सस्वतं समयं यूजेवूति।'

अतिरिक्त लेख कलिङ्ग के सम्बन्ध में हैं। अशोक ने कलिङ्ग को जीत कर अपने 'विजित' में सम्मिलित किया था। तोसली और समापा कलिङ्ग के मुख्य नगर थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि इन नगरों के शासन के लिये नियुक्त अमात्यों (नागरकों) को न्याय सम्बन्धी कतिपय अधिकार भी प्रदान कर दिये गये थे, जो नये जीते हुए प्रदेश के सुशासन के लिये अभीष्ट था। इसीलिये इन्हें नागरक और नगर-व्यावहारक—दोनों संज्ञाएँ दी गई हैं। इनके कार्य शासन और न्याय–दोनों के साथ सम्बन्ध रखते थे, यह धौली और जौगढ़ शिलाओं के प्रथम अतिरिक्त लेख से स्पष्ट है। यह लेख तोसली और समापा के नगर-व्यावहारक महामात्रों को ही सम्बोधित है—"कोई पुरुष ऐसा हो सकता है जिसे बन्धन (कारागार) अथवा परिक्लेश (शारीरिक यातना) का दण्ड मिला हो। किन्तु इस प्रसंग में (यह भी सम्भव है कि किसी का) अकस्मात् (पर्याप्त कारण के विना) बन्धन हुआ हो, और उसके कारण बहुत-से व्यक्ति अत्यधिक दुःख उठा रहे हों। इसलिये आपको यह इच्छा करनी चाहिये, क्या (इच्छा)? यह कि हम मध्य (निष्पक्ष) मार्ग का अनुसरण करें।[1]" इसी धर्मलिपि में आगे यह लिखा गया है—"इस प्रयोजन से यह (धर्म) लिपि लिखवायी गई कि जिससे नगर-व्यावहारिक शाश्वत (सब) समय ऐसी चेष्टा करें जिससे किसी को अकस्मात् (पर्याप्त कारण के विना) बन्धन और अकस्मात् (पर्याप्त कारण के विना) परिक्लेश का दण्ड न मिले।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है, कि नगर-व्यावहारिक महामात्रों का मुख्य कार्य न्याय सम्बन्धी था। किसी को कारावास या शारीरिक यातना का दण्ड देना उन्हीं का कार्य था। अशोक चाहता था, कि कोई भी व्यक्ति पर्याप्त कारण के बिना दण्ड न पाए। वह अनुभव करता था, कि ईर्ष्या, क्रोध, जल्दबाजी, निष्ठुरता, आलस्य आदि के कारण न्यायाधीश ऐसे व्यक्तियों को भी कारावास या शारीरिक यातना का दण्ड दे सकते हैं, जो निरपराधी हों या जिनका अपराध इतना गम्भीर न हो कि उन्हें ऐसे कठोर दण्ड दिये जाएँ। इसी कारण उसने तोसली और समापा के नगर-व्यावहारिकों को ईर्ष्या, क्रोध, जल्दबाजी, आलस्य आदि दोषों से मुक्त रहने के लिये प्रेरित किया था। निस्सन्देह, नगर-व्यावहारिक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण महामात्र थे, और कारावास व शारीरिक यातना के दण्ड देना उन्हीं के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार व्यावहारिक धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीशों को कहते थे। पर अशोक के नगर-व्यावहारिक महामात्र न्याय के साथ-साथ नगर के शासन का भी सञ्चालन करते थे।

अशोक की धर्मलिपियों में अनेक प्रकार के राजपदाधिकारियों और राजकर्मचारियों का उल्लेख है। ये प्रादेशिक, रज्जुक (लजूक या राजूक), युक्त (युत), प्रतिवेदक और पुरुष हैं। प्रादेशिक रज्जुक और युक्त—इन तीन पदाधिकारियों को साथ-साथ लिखा

---

१. 'एक पुलिसे पि अथि ये बंधनं वा पालिसिलेसं अकस्मा तेन बधनंतिक अने च. . .हु जने दबिये दुखीयति तत इछितविये तुफेहि किंति मझं पटिपादयेमा ति।'

गया है, और वह भी एक निश्चित क्रम से, युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक।[1] इनमें युक्त सबसे छोटे पदाधिकारी हैं, और प्रादेशिक सबसे बड़े। इसी अध्याय में ऊपर यह लिखा जा चुका है कि अशोक का 'विजित' (राज्य) पाँच चक्रों या प्रान्तों में विभक्त था, और प्रत्येक प्रान्त के अनेक विभाग थे जिन्हें प्रदेश कहा जाता था। प्रादेशिक स्पष्ट रूप से प्रदेश के शासक की संज्ञा थी। रज्जुक या राजूक के अभिप्राय के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'चोर रज्जुक' नामक एक राज-कर्मचारी का उल्लेख है। कौटल्य ने यह विधान किया है, कि यदि दो ग्रामों के मध्यवर्ती प्रदेश में किसी व्यापारी का माल चोरी चला जाए या खोया जाए, तो विवीताध्यक्ष द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति की जाए। पर यदि यह चोरी या क्षति ऐसे स्थान पर हो जो विवीत (चरागाह) के क्षेत्र में न आए, तो क्षति-पूर्ति की उत्तरदायिता चोररज्जुक पर रहे।[2] इससे यह सूचित होता है, कि चोररज्जुक एक ऐसा राजकर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति प्रायः विवीताध्यक्ष के समकक्ष थी और जिसका एक प्रधान कार्य व्यापारियों के माल की चोरी आदि से रक्षा करना था। मौर्य युग में भारत की जनसंख्या बहुत अधिक नहीं थी। ग्रामों के बीच में बहुत-सी भूमि विवीत के रूप में रहती थी, जो प्रायः झाड़ियों और जंगलों से आच्छादित होती थी। इस विवीत-भूमि से आने-जाने वाले व्यापारियों आदि की सुरक्षा के लिये एक पृथक् अमात्य या राज-पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था, जिसे 'विवीताध्यक्ष' कहते थे। इस विवीताध्यक्ष के अन्य भी अनेकविध कार्य थे, जिन्हें यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं। पर विभिन्न ग्रामों के बीच की जो भूमि विवीत के रूप में न हो, जहाँ खेती की जाती हो, उसमें यदि किसी व्यापारी का माल चोरी हो जाए या खो जाए, तो उसकी उत्तरदायिता चोररज्जुक की मानी जाती थी। विवीत भूमि के सम्बन्ध में जो कार्य विवीताध्यक्ष के थे, वही कृषि-योग्य भूमि के लिये चोर-रज्जुक के थे। कौटल्य ने जहाँ राजकीय आमदनी के साधनों का परिगणन किया है, उनमें 'राष्ट्र' वर्ग के साधनों में दो साधन रज्जू और चोर-रज्जू भी हैं।[3] इस प्रसंग में रज्जू का अर्थ भलीभाँति स्पष्ट नहीं है। यही बात चोररज्जू के विषय में भी है। जातक कथाओं में रज्जूक या रज्जुगाहक अमच्च (अमात्य) का उल्लेख मिलता है।[4] सम्भवतः, इस अमात्य या राजपदाधिकारी का कार्य खेतों की पैमाइश करना होता था, जिसके लिये वह रज्जु (रस्सी) का प्रयोग करता था। कौटल्य ने रज्जू को राजकीय आमदनी का अन्यतम साधन इसीलिये माना है, क्योंकि खेतों और भूमि की पैमाइश करते

---

१. चतुर्दश शिलालेख—तृतीय लेख।

२. 'ग्रामान्तरेषु वा मुषितं प्रवासितं विवीताध्यक्षो दद्यात्। अविविवीतानां चोर-रज्जुकः।' कौ. अर्थ. ४।१३

३. कौ. अर्थ. २।६

४. Fich—The Social Organisation in North-East India pp. 148-151

समय सरकार एक कर वसूल करती थी, जिसे 'रज्जू' कहते थे। भूमि की पैमाइश से सम्बन्ध रखनेवाले राजकर्मचारी ही रज्जूक या राजुक कहाते थे। चोर-रज्जुक, सम्भवतः, ऐसे राजकर्मचारी थे,जो रज्जुकों की अधीनता में व्यापारियों के माल आदि की रक्षा के लिये उत्तरदायी माने जाते थे। यद्यपि रज्जुक और चोररज्जुक का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है, पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि इनका सम्बन्ध देहाती क्षेत्रों के साथ था और ये जहाँ भूमि की पैमाइश आदि का कार्य कराते थे, वहाँ साथ ही लोगों की जान और माल की रक्षा की भी व्यवस्था करते थे।

अशोक की धर्मलिपियों में रज्जुकों का जिस रूप में उल्लेख हुआ है, उससे सूचित होता है कि ये बहुत-से लाखों व्यक्तियों के ऊपर नियुक्त थे और इन्हें न्याय और दण्ड के सम्बन्ध में भी बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। अशोक ने लिखा है—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—अभिषेक को हुए छब्बीस वर्ष बीत जाने पर मैंने यह धर्मलिपि लिखवायी। मेरे लजूक (रज्जुक या राजूक) बहुत-से लाखों प्राणियों और मनुष्यों पर आयत (नियुक्त) हैं। अभिहार (अभियोग) और दण्ड के जो (अधिकार उन्हें प्राप्त) हैं, उनके सम्बन्ध में मैंने उन्हें अतपतिय (आत्मप्रत्यय—अपने ऊपर निर्भर या स्वतन्त्र) कर दिया है। यह क्यों? जिससे कि लजूक आश्वस्त और निर्भय होकर (अपने) कार्यों में प्रवृत्त रहें और जानपद जन का हित व सुख सम्पादन करें और उनके प्रति अनुग्रह कर सकें।[1]" इस धर्मलिपि द्वारा रज्जुकों के अभिप्राय और स्थिति के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। रज्जुकों का अधिकार-क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत था, कि उसमें बहुत-से लाख (कई लाख) व्यक्ति निवास करते थे। उन्हें अभियोग लगाने और दण्ड देने का भी अधिकार था, और उनके कार्यों का सम्बन्ध न्याय से भी था। अशोक ने उनके अधिकारों में और भी अधिक वृद्धि कर दी थी, ताकि वे आश्वस्त और निर्भय होकर अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। उनका एक प्रधान कार्य जानपद जन(जनपदों में निवास करनेवाले मनुष्यों) के हित और सुख का सम्पादन करना था। रज्जुकों के ये सब कार्य प्रायः वही हैं, जो नगर-व्यावहारिकों के हैं। अन्तर केवल यह है, कि नगर-व्यावहारिकों का कार्यक्षेत्र नगर या पुर था, और रज्जुकों का जनपद (देहात)। वे जानपद जन के हित-कल्याण का साधन करते थे, और नगर-व्यावहारिक नगर निवासियों के हित-कल्याण का। रज्जुकों के अधिकार-क्षेत्र इतने बड़े थे, कि उनमें कई लाख मनुष्यों का निवास होता था। इसके विपरीत नगर-व्यावहारिकों का अधिकार-क्षेत्र बहुत-से हजार (कई हजार) लोगों पर था। इसका कारण स्पष्ट रूप से यह है कि नगर-व्यावहारिक की नियुक्ति केवल एक नगर के लिये की जाती थी, जबकि रज्जुक एक विशाल देहाती क्षेत्र का शासक होता था। सम्भवतः, रज्जुक प्रादेशिक की तुलना में हीन स्थिति का अधिकारी था, और उसका शासन-क्षेत्र

---

१. **देहली—टोपरा स्तम्भ लेख—चतुर्थ लेख।**

प्रदेश के एक विभाग तक ही सीमित रहता था। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि विशाल मौर्य साम्राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्तों के विभाग प्रदेश कहाते थे, और प्रदेशों के विभाग आहार। यदि प्रादेशिक प्रदेश के शासक की संज्ञा थी, तो रज्जुक को 'आहार' का शासक मानना होगा। पर यह केवल अनुमान-मात्र है। सुनिश्चित बात यह है, कि रज्जुक भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण महामात्र होते थे, जिन्हें न्याय और दण्ड-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। अशोक ने उनके अधिकारों में बहुत वृद्धि कर दी थी, और उन्हें प्रायः स्वायत्त शासक की स्थिति प्रदान कर दी थी। अशोक ने लिखा है—"जिस प्रकार योग्य धाय को सन्तान सौंप कर (माता-पिता) निश्चिन्त हो जाते हैं कि योग्य धाय हमारी सन्तान को सुख प्रदान करने की चेष्टा कर रही है। इसी प्रकार मैंने जानपद (जन) के हित-सुख के लिये रज्जुक नियुक्त कर दिये हैं, ताकि वे अभीत (निर्भय) और आश्वस्त होकर मनोयोगपूर्वक अपने कार्यों के सम्पादन में प्रवृत्त रहें। इसीलिये मैंने रज्जुकों को अभिहार और दण्ड में स्वायत्त किया है।"[1] अशोक की धर्म विजय का क्षेत्र बहुत व्यापक था। वह केवल बड़े नगरों तक ही सीमित नहीं था, अपितु ग्राम, विवीत, अटवि आदि सब उसके अन्तर्गत थे। मार्गों पर छायादार वृक्ष लगवाकर, आश्रय-स्थान (सराय) बनवा कर, कुएँ खुदवाकर और इसी प्रकार के कितने ही अन्य लोकोपकारी कार्यों को सम्पादित कर अशोक जनता के जिस वर्ग के हित और सुख की व्यवस्था कर रहा था, वह देहातों में ही निवास करती थी। अशोक के जो महामात्र अपने राजा का अनुकरण कर धर्म-यात्राओं और अनुसंयान के लिये जाते थे, वे भी जानपद जन के साथ सम्पर्क में आने, उसे धर्मश्रावण कराने और उसे धर्म के अनुशासन में लाने के लिये ही प्रयत्न करते थे। इन सब कार्यों को सम्पादित कर सकना तभी सम्भव था, जब कि उन राजपदाधिकारियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहे जिनका प्रधान कार्य-क्षेत्र देहातों में था। ये राजपदाधिकारी रज्जुक ही थे। इसी लिये अशोक ने उनके अधिकारों और शक्ति में वृद्धि की, उन्हें स्वायत्त स्थिति प्रदान की, और जनता को उनके हाथों में ऐसे सौंप दिया, जैसे माता बच्चे को योग्य धाय को सौंप देती है।

प्रादेशिक और रज्जुक के साथ ही युत (युक्त) का भी अशोक की धर्मलिपियों में उल्लेख हुआ है। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है कि जैसे जल में रहती हुई मछलियों के बारे में यह नहीं जाना जा सकता कि वे कब जल पीती हैं, ऐसे ही (राजकीय) कार्यों में नियुक्त युक्तों के बारे में यह नहीं जाना जा सकता कि वे कब धन का अपहरण करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि युक्त ऐसे राजकर्मचारी थे, जिसका सम्बन्ध राजकीय करों को वसूल करनेवाले विभाग के साथ था। अशोक के शासन में भी इनकी वही स्थिति थी, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में थी। सम्भवतः, ये रज्जुकों की अधीनता में सरकारी करों को वसूल करने का कार्य करते थे। यद्यपि प्रादेशिकों और रज्जुकों के समान ये भी

---

१. देहली-टोपरा स्तम्भ लेख--चतुर्थ लेख।

राजपदाधिकारी थे, पर उनकी तुलना में इनकी स्थिति हीन थी। यह निर्धारित कर सकना कठिन है कि युक्तों की गणना भी महामात्रों में होती थी या नहीं।

अशोक की धर्मलिपियों में पुलिस (पुरुष) संज्ञक राजकर्मचारियों का भी उल्लेख है। इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही गई हैं—'रज्जुक भी मेरी परिचर्या (सेवा) की चेष्टा करते हैं। मेरे पुरुष भी (मेरी) इच्छाओं का पालन करेंगे। जिस प्रकार रज्जुक मेरी सेवा की चेष्टा करते हैं, वैसे ही ये (पुरुष) भी कुछ (लोगों) को उपदेश करेंगे।'[१] इस धर्मलिपि से यह सूचित होता है, पुरुष भी रज्जुकों के समान ऐसे राजकर्मचारी थे जो राजा अशोक की इच्छा को पूर्ण करने में तत्पर थे। रज्जुकों द्वारा अशोक की सेवा का यही रूप था, कि वे धर्मविजय की नीति को सफल बनाने के सम्बन्ध में उसकी इच्छा की पूर्ति के लिये तत्पर रहें। जैसे रज्जुक 'बहुत-से लाखों' व्यक्तियों पर नियुक्त थे, वैसे ही 'पुरुषों' के अधिकार-क्षेत्र में भी बहुत-से लोग थे। अशोक ने इस तथ्य को इस प्रकार प्रगट किया है—"इस प्रयोजन से मेरे द्वारा धर्मश्रावण सुनाये गये, विविध प्रकार के धर्मानुशासन आज्ञप्त हुए जिससे मेरे पुरुष जो बहुत जनों में नियुक्त हैं, उनको सर्वत्र दोहरायेंगे और उनका विस्तार करेंगे।[२]" इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि अशोक ने रज्जुकों को 'बहुत-से लाखों' व्यक्तियों पर, नगर-व्यावहारिकों को 'बहुत-से हजारों' जनों पर और पुरुषों को 'बहुत-से' जनों पर नियुक्त कहा है। यह भेद अकारण नहीं है। इससे स्पष्ट है, कि रज्जुकों का अधिकार-क्षेत्र नगर-व्यवहारिकों की अपेक्षा अधिक बड़ा था, और पुरुष इन दोनों की तुलना में छोटे राजकर्मचारी थे। एक धर्मलिपि में अशोक ने तीन प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया है—"उच्चतम धर्मकामता, उच्चतम (आत्म-)परीक्षा, उच्चतम शुश्रूषा, उच्चतम (धर्म-) भय और उच्चतम उत्साह के बिना ऐहलौकिक और पारलौकिक (कल्याण) दुःसम्प्रतिपाद्य है। किन्तु मेरी यह धर्मानुशिष्टि (धर्मानुशासन) धर्मापेक्षा और धर्मकामता कल और कल (निरन्तर) बढ़ी है और बढ़ेगी ही। और मेरे उत्कृष्ट, मध्यम तथा गम्य (निम्न) पुरुष (मेरे धर्मोपदेश का) अनुसरण करते हैं और सम्पादन करते हैं। चपल (अस्थिर वृत्ति) को भी वे (धर्म का अनुसरण) कराने में समर्थ हैं।"[३] उत्कृष्ट, मध्यम और निम्न—तीनों प्रकार के 'पुरुष' अशोक के धर्मानुशासन में सहयोग प्रदान कर रहे थे, यही यहाँ सूचित किया गया है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में भी 'पुरुष' का उल्लेख किया गया है। वहाँ 'पुरुष' के साथ आप्त विशेषण दिया गया है,[४] जो उत्कृष्ट के समकक्ष है। ये आप्त पुरुष सन्निधाता को

---

१. देहली—टोपरा स्तम्भ लेख—चौथा लेख

२. देहली—टोपरा स्तम्भ लेख—सातवाँ लेख

३. देहली—टोपरा स्तम्भ लेख—पहला लेख

४. कौ. अर्थ. २।५

राजकीय कर्तव्यों के पालन में सहायता प्रदान किया करते थे। अर्थशास्त्र में गूढ़ पुरुषों का भी विशद रूप से वर्णन है। इन्हें स्वदेश और विदेशों में नियुक्त किया जाता था, और ये विविध प्रकार के छद्मवेश बनाकर भेद लेने का कार्य किया करते थे। पर अशोक ने जिन 'पुरुषों' के विषय में लिखा है, वे गूढ़पुरुष न होकर वे पुरुष हैं जिनके लिये कौटल्य ने 'आप्त' विशेषण का प्रयोग किया है।

अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में 'प्रतिवेदक' नाम के जिन राजकर्मचारियों का उल्लेख किया है, उनका कार्य राजा को शासन और जनता-सम्बन्धी सब बातों की सूचनाएँ प्रदान करते रहना था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में गुप्तचर विभाग बहुत संगठित था, और कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर उसके सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विवेचन किया जा चुका है। जिन्हें कौटल्य ने चार, गूढ़ पुरुष और सत्री कहा है, धर्मलिपियों के प्रतिवेदक उन्हीं को सूचित करते हैं।

एर्रगुडि के लघु शिलालेख में हथियारोह (हस्त्यारोही—हाथी की सवारी करने वाले), करनक (करणक) और युग्यचरिय (युग्मचर्य—रथारोही) संज्ञक कर्मचारियों का भी उल्लेख मिलता है। इन्हें भी धर्मचर्या के सम्बन्ध में कार्य करने के लिये आदेश दिया गया है। करणक का अभिप्राय सम्भवतः लेखक से है। सातवीं सदी के उत्कीर्ण लेखों में 'करण' शब्द का प्रयोग अधिकरण के अर्थ में किया गया है। अधिकरण से राजकीय विभाग या कार्यालय अभिप्रेत होता है। अतः यह मानना असंगत नहीं होगा कि करणक ऐसे राजकर्मचारियों को कहते थे, जो अधिकरणों (राजकीय कार्यालयों) में कार्य करते हों। हस्त्यारोही और रथारोही सैनिक कर्मचारी भी हो सकते हैं, और इनसे ऐसे सामान्य राजपदाधिकारियों का भी ग्रहण किया जा सकता है, जिनकी स्थिति इन यानों द्वारा सूचित होती हो।

धर्मविजय की नीति की सफलता के लिये अशोक ने धर्ममहामात्र, स्त्री-अध्यक्ष महामात्र, अन्तमहामात्र, धर्मयुक्त और वजभूमीक (व्रजभूमिक) संज्ञक नये राजपदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। अन्य महामात्रों के समान इन पर शासन की कोई अन्य उत्तरदायिता नहीं थी। इसलिये ये अपना सब समय धर्म के श्रावण और अनुशासन पर लगा सकते थे। इनके सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ कुछ भी लिखना निरर्थक है।

जिन राजपदाधिकारियों को 'महामात्र' कहा जाता था, शासन में उनकी स्थिति बहुत ऊँची मानी जाती थी। इसीलिये अपनी धर्मलिपियों में उन्हें सम्बोधन करते हुए अशोक ने उनके प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित किया है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मगिरि के लघु शिलालेख में अशोक ने इसिल (ऋषिल) के महामात्यों से पहले उनका आरोग्य पूछा है, और फिर उन्हें अपना आदेश दिया है[1]। राजकीय आदेश देने से पूर्व आरोग्य (कुशल आदि)

---

१. 'सुवर्णगिरीते अयपुतस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया।

के सम्बन्ध में प्रश्न करना इस बात का प्रमाण है, कि राजा की दृष्टि में भी महामात्रों की स्थिति पर्याप्त रूप से सम्मानास्पद थी।

(४) शासन-विषयक नीति

राजा अशोक के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसकी धर्मविजय की नीति है। उसकी सफलता के लिये अशोक ने जो पराक्रम (उद्योग) किया और जो साधन अपनाए, उन पर पिछले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। पर अशोक की धर्म-लिपियों में कतिपय ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं, जो उस नई नीति पर प्रकाश डालते हैं जो उसने शासन के सम्बन्ध में अपनायी थी। चतुर्थ स्तम्भ-लेख के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—"इसलिये मैंने रज्जुकों को अभिहार (अभियोग) और दण्ड (के सम्बन्ध में) आत्म-प्रत्यय (स्वायत्त) किया, क्योंकि इसकी इच्छा की जानी चाहिये; किस की ? व्यवहार-समता होनी चाहिये और दण्ड-समता भी।[1]" इस धर्मलिपि द्वारा अशोक ने जहाँ रज्जुकों को दण्ड और अभियोग के सम्बन्ध में स्वायत्तता के अधिकार प्रदान किये हैं, वहाँ साथ ही उन्हें यह भी आदेश दिया है कि वे अभियोग और दण्ड विषयक अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए सबके प्रति समता का बरताव करें। व्यवहार और दण्ड की समता भारत के पुराने राजशास्त्र प्रणेताओं को अभिप्रेत नहीं थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक ही अपराध के लिये विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के लिये विभिन्न दण्ड का विधान किया गया है। उदा-हरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण को अपेय या अभक्ष्य पदार्थ सेवन कराए, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाने का विधान है। यही अपराध यदि क्षत्रिय के प्रति किया जाए, तो मध्यम साहस दण्ड और वैश्य के प्रति किये जाने पर पूर्व साहस दण्ड की व्यवस्था की गई है। शूद्र को अभक्ष्य या अपेय का सेवन कराने पर ५४ पण जुरमाने के दण्ड को ही पर्याप्त समझा गया है।[2] व्यभिचार के अपराध में भी इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न दण्डों का विधान किया गया है। यदि क्षत्रिय वर्ण का पुरुष किसी ब्राह्मण स्त्री के साथ व्यभिचार करे, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाने का विधान है। यही अपराध यदि वैश्य वर्ण का पुरुष करे, तो उसका सर्वस्व जब्त कर लेने और शूद्र पुरुष द्वारा यही अपराध किया जाने पर उसे चटाई में लपेट कर जला देने के दण्ड की व्यवस्था की गई है।[3] न्यायालय के समक्ष

---

१. 'एतेन मे लजूकानं अभिहाले व दंडे वा अतपतिये कटे इछितविये हि एसा किंति वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा।'

२. 'ब्राह्मणमपेयमभक्ष्यं वा संग्रासयत उत्तमो दण्डः। क्षत्रियं मध्यमः। वैश्यं पूर्वस्साहस-दण्डः। शूद्रं चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः।' कौ. अर्थ. ४।१३

३. 'ब्राह्मण्यामगुप्तायां क्षत्रियस्योत्तमः, सर्वस्वं वैश्यस्य, शूद्रः कटाग्निना दह्येत।' कौ. अर्थ. ४।१३

साक्षी के लिये उपस्थित होने पर भी विविध वर्णों के व्यक्तियों के साथ विभिन्न व्यवहार किया जाता था। साक्षी में सत्य बोलने के लिये उन्हें जो शपथ लेती होती थी, वह विविध वर्णों के लिये विविध प्रकार की थी। यदि साक्षी देने वाला व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण का हो, तो उसे यह कह देना पर्याप्त था कि 'सत्यंब्रूहि' (सच-सच कहना)। पर यदि साक्षी क्षत्रिय या वैश्य वर्ण के हों, तो उनसे यह कहा जाता था कि यदि तुम झूठ बोलोगे तो तुम्हें यज्ञ आदि कर्मों का कोई फल नहीं मिलेगा और शत्रुसेना के परास्त हो जाने पर तुम खप्पर हाथ में लेकर भीख माँगते फिरोगे। यदि साक्षी शूद्र हो, तो उसे यह कहा जाता था कि झूठ बोलने पर तुम्हारी मृत्यु के पश्चात् तुम्हारा सब पुण्यफल राजा को प्राप्त हो जायगा और राजा के पाप तुम्हें प्राप्त हो जायेंगे। झूठ बोलने पर तुम्हें दण्ड भी दिया जायगा।[1] इसी प्रकार के अन्य भी अनेक निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि प्राचीन भारत में व्यवहारसमता और दण्डसमता का अभाव था। समाज में ऊँच नीच का भेदभाव तो प्राग्बौद्धकाल के भारतीय समाज में विद्यमान था ही। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊँचा था, और शूद्रों का सबसे हीन। अन्त्यज, श्वपाक और चाण्डाल समाज से बहिष्कृत माने जाते थे। इस स्थिति में अशोक ने अपनी धर्मलिपि द्वारा व्यवहारसमता और दण्डसमता का जो आदेश दिया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसने रज्जुकों को अभियोग और दण्ड के सम्बन्ध में आत्मप्रत्यय (स्वायत्त) करते हुए स्पष्ट रूप से उनके सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रगट की, कि व्यवहार और दण्ड में सबके साथ समता बरती जाए। अशोक द्वारा प्रचारित यह आदेश ब्राह्मणों की दृष्टि में आपत्तिजनक हो सकता था, क्योंकि इसके कारण समाज में उनकी विशिष्ट स्थिति नहीं रह पाती थी। पर वह उन्हें अपना विरोधी नहीं बनाना चाहता था। वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि ब्राह्मणों की सद्भावना भी उसे प्राप्त रहे। इसी कारण उसने स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने और उन्हें दान-दक्षिणा द्वारा संतुष्ट रखने की आवश्यकता पर जोर दिया है।[2] पर अशोक की यह नीति सर्वथा स्पष्ट थी, कि जहाँ तक शासन का सम्बन्ध है, रज्जुक सदृश राजपदाधिकारी सब के प्रति एक जैसा बरताब करें, अभियोग के लिये एक व्यवहार या विधान-संहिता का उपयोग करें और दण्ड देते हुए किसी के प्रति भेदभाव न करें।

दण्ड ओर अभियोग के सम्बन्ध में अशोक ने एक अन्य भी सुधार किया, जो बहुत महत्त्व का है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में दण्ड के तीन मुख्य रूप थे, जुरमाना, कारावास और मृत्युदण्ड। इनके अतिरिक्त

१. कौ. अर्थ. ३।११

२. चतुर्दश शिलालेख--तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, आठवाँ, नौवाँ, ग्यारहवाँ और तेरहवाँ लेख।

हाथ, नाक, कान आदि अंगों के काटने की सजा भी उस युग में प्रचलित थीं।[१] अशोक ने इस दण्ड-विधान में परिवर्तन या संशोधन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। पर वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि किसी निरपराध व्यक्ति को दण्ड न भोगना पड़े, विशेषतया ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें कारावास या मृत्यु का दण्ड दिया गया हो। इस दृष्टि से अशोक ने यह आदेश दिया था, कि जिन अपराधियों को कारावास या मौत का दण्ड दिया जाए, उन्हें तीन दिन की मोहलत दी जाए, ताकि उनके ज्ञाति-जन (सम्बन्धी लोग) उनके मामले पर पुर्नविचार करा सकें और इस प्रकार उनके जीवन की रक्षा के लिये प्रयत्न कर सकें। यदि पुर्नविचार के अनन्तर भी किसी अपराधी की सजा में कमी न हो, तो भी अशोक इस बात के लिये उत्सुक था कि उसके सम्बन्धी दानपुण्य, उपवास आदि द्वारा परलोक में उसके कल्याण के लिये प्रयत्न कर सकें। अशोक के इस आदेश को हम उसी के शब्दों में यहाँ उद्धृत करते हैं—"इसलिये मेरी यह आज्ञा है, कि कारावास में बद्ध और मृत्युदण्ड पाये हुए व्यक्तियों को मेरे द्वारा तीन दिन का योत (यौतक-मोहलत या छूट) दिया गया है। (इस बीच में) उनके ज्ञाति-जन (निकट सम्बन्धी) उनके जीवन की रक्षा के प्रयोजन से (पुर्नविचार के लिये) ध्यान आकृष्ट करेंगे। अथवा उनके जीवन के अन्त तक (जब तक उन्हें मृत्युदण्ड न दे दिया जाए) ध्यान करते हुए दान देंगे और उपवास करेंगे, उनके पारलौकिक कल्याण के लिये। ऐसी मेरी इच्छा है कि कारावास में भी लोग परलोक की आराधना करें। विविध धर्माचरण, संयम और दान वितरण में वृद्धि हो।[२]"

राजा की स्थिति में अशोक यही कर सकता था, कि किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड न मिलने पाए जो वस्तुतः अपराधी न हो। इसीलिये उसने दण्ड के सम्बन्ध में पुर्नविचार की व्यवस्था की थी। पर जब किसी का अपराध प्रमाणित हो जाए और पुर्नविचार के अनन्तर भी उसकी सजा को बहाल रखा जाए, तब भी अशोक को इस बात की चिन्ता थी कि मृत्युदण्ड पाया हुआ अपराधी परलोक में सुख प्राप्त कर सके। इसी कारण उसके ज्ञातिजनों को यह अवसर प्रदान किया गया था कि दानपुण्य और उपवास आदि द्वारा उस व्यक्ति का वे पारलौकिक कल्याण सम्पादित कर सकें, जिसे शीघ्र ही मृत्युदण्ड दिया जाना हो। यद्यपि अशोक हिंसा का विरोधी था और उसने अपने राज्य में पशु, पक्षी आदि के सम्बन्ध में अहिंसा की नीति को अपनाया था, पर वह मृत्यु दण्ड का अन्त नहीं कर सका था। उसका यह प्रयत्न अवश्य था, कि मृत्युदण्ड पाये हुए व्यक्तियों के कल्याण की भी व्यवस्था की जाए, पर राज्य के सुशासन की दृष्टि से उसने मृत्युदण्ड को कायम रखना ही उचित समझा था।

---

१. कौ. अर्थ. ४।१३

२. **"अब इते पि च मे आवुति बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदं डानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे योते दिने नातिका वा कानि निझपयिसंति जीविताये तानं नासंतं वा निझपयिता वा नं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति। देहली–टोपरा स्तम्भ—चौथा लेख**

किसी निरपराधी को दण्ड न मिलने पाए, इसके लिये अशोक इतना अधिक उत्सुक था, कि उसने नगरों के क्षेत्र में न्याय-कार्य सम्पादित करने वाले नगर-व्यावहारिकों को भी यह आदेश दिया था, कि वे सब समय ऐसी चेष्टा करें, जिससे विना किसी कारण के किसी को कारागृह और शारीरिक क्लेश का दण्ड न मिले।[१] महामात्रों को भी उसने इसी प्रयोजन से पाँच-पाँच वर्ष के अन्तर से अनुसंयान (दौरे) पर जाते रहने की आज्ञा प्रदान की थी।[२]

अशोक के शासन काल की कर-पद्धति के सम्बन्ध में भी धर्मलिपियों में दो निर्देश विद्यमान हैं। तीर्थ स्थानों से उस समय 'वलि' संज्ञक कर वसूल किया जाता था, और खेती की पैदावार का एक भाग कर के रूप में लेने की प्रथा थी। रुम्मिनदेई के स्तम्भ-लेख से सूचित होता है कि बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनि ग्राम को अशोक ने उवलिक (उद्वलिक–वलि कर से मुक्त) कर दिया था, और वहाँ के किसानों से उपज का केवल आठवाँ भाग भूमि-कर के रूप में वसूल करने का आदेश प्रदान किया था।

अशोक द्वारा सार्वजनिक हित के जो वहुत-से कार्य किये गये, पिछले एक अध्याय में उनका उल्लेख किया जा चुका है। ये कार्य सड़कों के साथ-साथ छायादार वृक्ष लगवाने, प्याऊ बैठाने, कुएँ खुदवाने, विश्रामगृह बनवाने, औषधियों को पैदा करने की व्यवस्था करने और पशुओं तथा मनुष्यों की चिकित्सा का प्रबन्ध करने के रूप में थे। ये सब कार्य धर्म-विजय के उद्देश्य से किये गये थे।

(५) सामाजिक जीवन

कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य युग के सामाजिक और आर्थिक जीवन का विशद रूप से निरूपण किया जा चुका है। उस युग का भारतीय समाज चार वर्णों और वहुत-सी जातियों में विभक्त था। मैगस्थनीज आदि ग्रीक यात्रियों द्वारा भी इस युग के समाज के विविध वर्गों पर प्रकाश डाला गया है। अशोक की धर्मलिपियों से सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में अधिक सूचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। पर उनमें कुछ ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे अशोक के समय के समाज के विषय में कुछ परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अशोक की धर्मलिपियों में केवल ब्राह्मण वर्ण का उल्लेख मिलता है। चातुर्वर्ण्य में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का अशोक ने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, और नही श्वपाक और चाण्डाल सदृश अन्त्यजों का। प्रायः सर्वत्र ही ब्राह्मण और श्रमण साथ-साथ आये हैं। मौर्य युग में जहाँ भारत के प्राचीन वैदिक धर्म की सत्ता थी, वहाँ साथ ही अनेक ऐसे सम्प्रदाय भी विद्यमान थे, जो वेदों के प्रामाण्य और याज्ञिक कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं

१. धौली शिलालेख—प्रथम अतिरिक्त लेख।

२. 'एताये च अठाये हकं...मते पंचसु पंचसु वसेसु निखामयिसामि।' धौली—प्रथम अतिरिक्त लेख।

रखते थे। वैदिक धर्म का नेतृत्त्व ब्राह्मणों के हाथ में था, और नये अवैदिक धर्मों का श्रमणों के। इन दोनों के कर्तव्य और कर्म प्रायः एक समान थे, यद्यपि इनके विश्वासों और मान्यताओं में भेद था। मैगस्थनीज़ ने अपने यात्रा विवरण में ब्राह्मण और श्रमण दोनों का उल्लेख किया है,और यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मौर्य युग में वैदिक और अवैदिक दोनों प्रकार के धार्मिक नेता बड़ी संख्या में विद्यमान थे और वे अपना समय प्रायः तप, स्वाध्याय और अध्यापन आदि में व्यतीत किया करते थे। समाज में दोनों को प्रतिष्ठा की दृष्टि से रखा जाता था। यही कारण है, जो अशोक ने ब्राह्मण और श्रमण दोनों के प्रति सम्मान का भाव प्रगट किया है, और दान-दक्षिणा द्वारा उन्हें संतुष्ट रखने की आवश्यकता प्रतिपादित की है।[1] ब्राह्मण और श्रमण के अतिरिक्त अशोक की धर्मलिपियों में भिक्षु, भिक्षुणी[2], निर्ग्रन्थ[3] और प्रव्रजित[4] का भी उल्लेख हुआ है। भिक्षु और भिक्षुणी से बौद्ध भिक्षु अभिप्रेत है, और निर्ग्रन्थ से जैन। प्रव्रजित उन संन्यासियों को कहते थे, जिन्होंने वैदिक आश्रम-मर्यादा के अनुसार संन्यास आश्रम में प्रवेश किया हो। मौर्य युग में बहुत-से धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे, जिन्हें अशोक की धर्मलिपियों में 'पाषण्ड' कहा गया है। इन पाषण्डों के अनेक प्रकार के साधु होते थे, जो वैदिक प्रव्रजितों (परिव्राजकों या संन्यासियों) के समान ही मनुष्यों की सेवा और धर्मोपदेश में तत्पर रहा करते थे। पुरानी वैदिक मर्यादा के अनुसार मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। अशोक की धर्मलिपियों में इनमें से केवल दो आश्रमों—गृहस्थ और संन्यास का उल्लेख किया गया है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करनेवालों के लिये जहाँ 'गृहस्थ' शब्द का उपयोग हुआ है[5], वहाँ उन्हें ही 'उपासक' भी कहा गया है[6]। बौद्ध गृहस्थों के लिये उपासक शब्द का प्रयोग किया जाता था।

अशोक की धर्मलिपियों में यद्यपि शूद्रों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर 'दास' और 'भृतक' से सम्भवतः समाज के उसी वर्ग को सूचित किया गया है, जिसके लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में 'शूद्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। धर्मलिपियों में अनेक बार दास-भृतकों का उल्लेख किया गया है, और अशोक ने यह आदेश दिया है कि उनके प्रति सम्यक् व्यवहार किया जाए। कौटलीय अर्थशास्त्र में दासों, कर्मकरों और भृतकों से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का विशद

---

१. चतुर्दश शिलालेख—नौवाँ लेख।

२. प्रयाग स्तम्भ लेख।

३. देहली-टोपरा स्तम्भ-लेख।

४. चतुर्दश शिलालेख—बारहवाँ लेख।

४. चतुर्दश शिलालेख—बारहवाँ लेख।

५. चतुर्दश शिलालेख—बारहवाँ लेख।

६. सिद्धपुर लघु शिलालेख।

रूप से निरूपण किया गया है। ये नियम ऐसे हैं, जिन्हें समुचित कहा जा सकता है। अशोक इस वात के लिये उत्सुक था कि स्वामी लोग जहाँ दासों, कर्मकरों और भृतकों के सम्बन्ध में परम्परागत व राजकीय नियमों का अविकल रूप से पालन करें, वहाँ साथ ही उनके प्रति सहानुभूति और अनुकम्पा का भी भाव रखें।

मौर्य युग में मांस भक्षण का वहुत प्रचार था। प्राग्-बौद्ध काल में यज्ञों में पशुवलि प्रदान करने की प्रथा भी भली भाँति विकसित हो चुकी थी, और बुद्ध ने उसके विरुद्ध आवाज भी उठायी थी। पशुओं की हिंसा केवल मांस भक्षण के लिये ही नहीं की जाती थी, अपितु मनोरञ्जन के लिये भी उनका वध किया जाता था। अशोक ने पशु हिंसा को नियन्त्रित और मर्यादित करने पर ध्यान दिया। यज्ञ के लिये पशुओं की हत्या का उसने निषेध किया, अपनी पाकशाला के लिये मारे जाने वाले पशु-पक्षियों की संख्या में वहुत कमी कर दी, और उन जीवों का वध रोक दिया, जो खाने के काम में नहीं आते। अशोक के इन सव आदेशों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें यहाँ दोहराना अनावश्यक है।

अशोक ने 'समाजों' के सम्वन्ध में जो नीति अपनायी थी, उसका निरूपण पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक 'समाज' में बहुत दोष देखते थे, अतः उन्होंने आज्ञा प्रचारित की थी कि 'समाज' न किये जाएं। पर एक प्रकार के ऐसे भी समाज थे, जो अशोक के विचार में साधु थे। इन्हें अशोक ने राजकीय आदेश द्वारा नहीं रोका था। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर 'समाज' का उल्लेख है, पर उनका सही-सही अभिप्राय जानने के लिये प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं। महाभारत में एक ऐसे 'समाज' का वर्णन किया गया है, जिसमें सव दिशाओं से हजारों की संख्या में 'मल्ल' एकत्र हुए थे। ये सब मल्ल 'महाकाय' और 'महावीर्य' थे, और शक्ति में कालकंज नामक असुर के समान थे। यह समाज ब्रह्मा और पशुपति की पूजा के सम्वन्ध में आयोजित किया गया था।[1] महाभारत में ही एक अन्य स्थान पर समाजों में एकत्र 'नियोधकाः' का उल्लेख है[2]। महाभारत में वर्णित इन समाजों में मल्ल या नियोधक एकत्र होकर युद्ध करते थे, और लोग उन्हें देख कर आनन्द अनुभव करते थे। सम्भवतः, इसी प्रकार के समाज थे जिनमें अशोक दोष देखता था, और जिन्हें उसने अपने राजकीय आदेश द्वारा वन्द कर दिया था। पर कतिपय समाज ऐसे भी थे, जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक के मत में साधु प्रकार के थे। उन्हें उसने वन्द नहीं किया था। ऐसे एक समाज का उल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र में हुआ है। वहाँ लिखा है कि मास या पक्ष

---

१. 'तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः।
समाजे ब्रह्मणो राजन् तथा पशुपतेरपि।
महाकायाः महावीर्याः कालकञ्जा इवासुराः॥ महा. विराट पर्व १३।१५-१६

२. 'ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः।' महा. विराट् पर्व २।७

के निर्धारित दिन सरस्वती के भवन में 'समाज' का आयोजन हो।[1] सम्भवतः, सरस्वती के भवन में आयोजित इन समाजों में साहित्यिक नाटक आदि के अभिनय किये जाते थे। दोषयुक्त और निर्दोष 'समाजों' के सम्वन्ध में जो निर्देश अशोक की धर्मलिपियों में विद्यमान हैं, उनसे अशोक के समय के सामाजिक या सामूहिक आमोद-प्रमोद का कुछ आभास प्राप्त हो जाता है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेकविध अभिचार-क्रियाओं का विशद रूप से निरूपण किया गया है। मनुष्य जाति में अभिचार क्रियाओं या जादू-टोने में चिरकाल से विश्वास चला आ रहा है। अशोक के समय में भी इन विश्वासों की सत्ता थी। एक धर्मलिपि में अशोक ने जादू-टोने (अभिचार) से आविष्ट लोगों में कार्य करने के लिये भी धर्ममहामात्रों की नियुक्ति का उल्लेख किया है।[2] धर्ममहामात्र जहाँ कारावास में वन्द कैदियों और अधिक सन्तान के कारण कष्टपीड़ित गृहस्थों में कार्य करते थे, वहाँ उनका कार्यक्षेत्र ऐसे लोगों में भी था, जो जादू-टोने में विश्वास रखते हों।

नक्षत्र आदि में विश्वास के निर्देश भी अशोक की धर्मलिपियों में विद्यमान हैं। धौली शिला पर उत्कीर्ण प्रथम अतिरिक्त धर्मलिपि में अशोक ने अपने धर्ममहामात्रों को यह आज्ञा दी है---'यह (धर्म) लिपि तिष्य नक्षत्र में सुनानी चाहिये, तिष्य नक्षत्र के (दिनों के) वीच में भी, और एक को प्रति क्षण भी। ऐसा करते हुए आप आज्ञा को सम्पादित करने में समर्थ होंगे।''[3] विशिष्ट नक्षत्रों के समय में अशोक ने पशुहिंसा का जो निषेध किया था,[4] उसका कारण भी यही था कि उस समय के विश्वासों के अनुसार ये नक्षत्र जनता की दृष्टि में अधिक पवित्र थे।

आधुनिक समय में भारतीय जनता अनेकविध मंगलाचार करती है। ये मंगलाचार प्रायः सन्तान के जन्म, पुत्र और कन्या के विवाह, विपत्ति के समय और किसी प्रियजन के प्रवास के लिये जाने पर किये जाते हैं। शुभ-अशुभ में विश्वास मानव-समाज में वहुत वद्धमूल हैं। धमलिपियों द्वारा सूचित होता है, कि अशोक के समय में भी मंगलाचारों में विश्वास जनता में वद्धमूल थे। पर अशोक इन्हें क्षुद्र और निरर्थक समझता था। वह मंगलाचारों के विरुद्ध नहीं था, पर उसका विचार यह था कि ऐसे मंगलाचार करने चाहियें जो कि अल्पफल देनेवाले न होकर महाफल प्रदान करनेवाले हों। अशोक की दृष्टि में 'धर्ममङ्गल' महाफल देने वाले होते हैं। इनमें दासों और भृतकों के प्रति समुचित व्यवहार,

---

१. 'पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽह्नि सरस्वत्याभवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।'

२. चतुर्दश शिलालेख---पाँचवाँ लेख।

३. 'इयं च लिपि तिस नलवतेन सोतविया अंतला पि च तिसेन खनसि खनसि एकेन पि सोतविय हेवं च कलंतं तुफे चघथ संपटिपादयितविये।'

४. देहली--टोपरा स्तम्भ लेख---पाँचवाँ लेख।

गुरुजनों का आदर, प्राणियों की अहिंसा और श्रमण-ब्राह्मणों को दान किया जाता है। ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य धर्ममंगल कहाते हैं। इसलिये पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित एवं पड़ोसी को भी यह कहना चाहिये कि यह (मङ्गलाचार) अच्छा है। इस मंगलाचार को तब तक करना चाहिये, जब तक कार्य सिद्धि न हो जाए, क्योंकि इसके अतिरिक्त जो अन्य मंगल हैं वे संदिग्ध हैं। उनसे कार्यसिद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, और वह (कार्यसिद्धि) भी ऐहलौकिक ही। किन्तु धर्ममंगल जो हैं, वे काल से परिच्छिन्न नहीं हैं। यदि इहलोक में उनसे अभीष्ट सिद्धि न भी हो, तब भी (उनसे) परलोक में अनन्त पुण्य होता है। यदि इहलोक में अभीष्ट सिद्धि हो गई, तो दोनों लाभ हुए, यहाँ (इहलोक में) अभीष्ट सिद्धि हुई, और धर्ममंगल से अनन्त पुण्य भी प्राप्त हुआ।[१]

मंगलाचार के सम्बन्ध में अशोक के विचार चाहे कैसे भी क्यों न हों, पर यह असंदिग्ध है, कि अशोक के शासनकाल में भारत की सर्वसाधारण जनता अनेकविध मंगलाचारों का सम्पादन किया करती थी, और शुभ-अशुभ में विश्वास रखती थी।

अशोक ने अपने उत्कीर्ण लेखों में ब्राह्मणों और श्रमणों का एक साथ उल्लेख किया है, और दोनों के प्रति दान तथा सम्मान के सम्बन्ध में समभाव प्रदर्शित किया है। साथ ही, उसने विविध सम्प्रदायों तथा पाषण्डों के 'सार' की वृद्धि पर बल दिया है। सम्भवतः, इसका कारण यह था, कि मौर्य युग में ब्राह्मणों और श्रमणों में पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था, और अशोक को यह अभीष्ट नहीं था। पाणिनि के सूत्र "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" की टीका में प्राचीन वैयाकरण परम्परा की अनुसरण कर अहि (सांप) और नकुल (नेवले) के शाश्वत विरोध का निदर्शन जैसे 'अहिनकुलम्' द्वारा सूचित किया गया है, वैसे ही 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण देकर श्रमणों और ब्राह्मणों के शाश्वत विरोध को भी प्रदर्शित किया गया है। अशोक इस विरोध को भी दूर करना चाहता था।

---

१. चतुर्दश शिलालेख—नवाँ लेख।

इक्कीसवाँ अध्याय

अशोक के उत्कीर्ण लेख

(१) चतुर्दश शिलालेख

पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्न से राजा अशोक के बहुत-से उत्कीर्ण लेख प्रकाश में आये हैं। मौर्य युग के इतिहास को तैयार करने के लिये ये बहुत उपयोगी हैं, और हमने स्थान-स्थान पर इस ग्रन्थ में इनका उल्लेख किया है। ये लेख शिलाओं, प्रस्तर-स्तम्भों और गुहाओं की भित्तियों पर उत्कीर्ण हुए मिले हैं। इनका संक्षिप्त रूप से परिचय देना बहुत आवश्यक है। अशोक के उत्कीर्ण लेखों में सर्वप्रधान 'चतुर्दश शिलालेख' हैं, जो निम्नलिखित स्थानों पर विद्यमान हैं—

(१) **कालसी**—यमुना नदी हिमालय की दुर्गम पर्वत-शृंखलाओं को छोड़ कर जहाँ मैदान में उतरती है, उसके समीप ही कालसी नामक बस्ती से कोई एक मील की दूरी पर वह स्थान है, जहाँ अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति एक विशाल शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण की गई है। उत्तरप्रदेश के देहरादून नगर से जो सड़क चूहड़पुर होती हुई चकरौता जाती है, कालसी उसी पर स्थित है। प्राचीन समय में धार्मिक और राजनीतिक—दोनों दृष्टियों से इस स्थान का बहुत महत्त्व था। तौंस नदी इसी स्थान पर यमुना से आकर मिलती है, जिनके संगम-स्थल को धार्मिक दृष्टि से महत्त्व का माना जाता था। इसके समीप ही ईंटों द्वारा निर्मित एक वेदी गत वर्षों में प्रकाश में आयी है, जिस पर संस्कृत के अनेक श्लोक उत्कीर्ण हैं। इन श्लोकों द्वारा ज्ञात होता है, कि राजा शीलवर्मन् ने यहाँ चौथी बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था, और इसी प्रयोजन से इस वेदी का निर्माण कराया गया था। राजा शीलवर्मन् का काल तीसरी सदी ईस्वी में माना जाता है। कालसी के क्षेत्र में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन काल में राजनीतिक दृष्टि से भी यह स्थान विशेष महत्त्व रखता था।

कालसी की जिस शिला पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख उत्कीर्ण हैं, वह १० फीट लम्बी तथा १० फीट ऊँची है। उसकी मोटाई ८ फीट के लगभग है। इन लेखों की लिपि ब्राह्मी है।

(२) **शाहबाज गढ़ी**—पेशावर (पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में) के यूसुफजई ताल्लुके में शाहबाजगढ़ी नाम का एक गाँव है, जो पेशावर नगर से चालीस मील उत्तर-पूर्व में मकाम नदी के तट पर स्थित है। उससे आधे मील की दूरी पर चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति विद्यमान है, जो खरोष्ठी लिपि में है। जिस शिला पर ये लेख उत्कीर्ण

हैं, वह २४ फीट लम्बी, १० फीट ऊँची और १० फीट ही मोटी है। बारहवें लेख के अतिरिक्त अन्य सब लेख इस शिला पर उत्कीर्ण हैं। बारहवाँ लेख पचास गज की दूरी पर एक अन्य शिला पर उत्कीर्ण किया गया है। शाहबाजगढ़ी गाँव पुराना नहीं है, परन्तु प्राचीन काल में इस क्षेत्र में एक विशाल नगर विद्यमान था। कनिंघम के अनुसार ह्युएन्-त्सांग द्वारा वर्णित पो-लु-शा नाम का नगर इसी स्थान पर स्थित था, जो बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ था। ह्युएन् त्सांग ने लिखा है कि इस पो-लु-शा के पूर्वी द्वार के बाहर एक विशाल स्तूप था, जिसे राजा अशोक ने बनवाया था। पो-लु-शा से २० ली की दूरी पर दन्तालोक पर्वत की सत्ता थी, जहाँ पर भी अशोक द्वारा एक स्तूप का निर्माण किया गया था। ह्युएन्-त्सांग के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि पो-लु-शा और उसके समीपवर्ती प्रदेश में अशोक द्वारा अनेक स्तूप बनवाये गये थे। शाहबाजगढ़ी और उसके समीप के क्षेत्र की खुदाई अभी नहीं हुई है। इसी कारण वहाँ अभी किन्हीं प्राचीन स्तूपों या संघारामों आदि के अवशेष भी नहीं मिले हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन समय में यहाँ एक विशाल व समृद्ध नगरी की स्थिति थी। यह नगरी मागध साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा के समीप थी, अतः राजनीतिक तथा सैनिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व था। अशोक ने, सम्भवतः, इसी लिये अपने चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति इस स्थान पर उत्कीर्ण करायी थी।

(३) **मानसेहरा**—यह स्थान भी पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में है। इसकी स्थिति एबटाबाद से १५ मील दूर हजारा जिले में है। सम्भवतः, मानसेहरा के समीप से ही प्राचीन समय में वह राजमार्ग जाता था, जो पाटलिपुत्र को भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के साथ मिलाता था। देवी भट्टारिका (दुर्गा) के दर्शनार्थी यात्री भी इसी मार्ग से होकर देवी के दर्शन के लिये जाया करते थे।

मानसेहरा में अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की जो प्रतिलिपि उत्कीर्ण है, वह भी खरोष्ठी लिपि में है। भारत के इस उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश में प्राचीन समय में भी एक ऐसी लिपि प्रयुक्त की जाती थी, जिसे दायीं ओर से बाईं ओर को लिखा जाता था।

मानसेहरा के लेख तीन पृथक् शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं। पहली शिला पर प्रथम से अष्टम संख्या तक के आठ लेख हैं, दूसरी शिला पर नवम से बारहवें तक के लेख हैं, और शेष दो लेख तीसरी शिला पर हैं।

(४) **गिरनार**—सौराष्ट्र (काठियावाड़) में जूनागढ़ नामक नगर के पूर्व में लगभग एक मील दूर गिरनार या गिरिनगर नामक पर्वत की स्थिति है, जो धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैनों का यह प्रसिद्ध तीर्थस्थान है, और कभी शैव लोग भी इसे धार्मिक दृष्टि से पवित्र मानते थे। पुराणों में इसकी महिमा वर्णित है। गिरनार की पहाड़ी पर जिस शिलाखण्ड पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख उत्कीर्ण हैं, उसका क्षेत्रफल १०० वर्ग फीट के लगभग है। इस विशाल शिला पर अशोक के चतुर्दश लेखों के अतिरिक्त दो अन्य लेख भी उत्कीर्ण हैं, जो अत्यन्त महत्त्व के हैं। एक लेख उज्जैनी के महाक्षत्रप

मृण्मूर्ति का शीर्ष भाग (पाटलिपुत्र)

जैन मूर्ति का खण्डित अधोभाग (पाटलिपुत्र)

रुद्रदामन् का है, और दूसरा गुप्तवंशी सम्राट् स्कन्दगुप्त का। रुद्रदामन् ने अपने लेख में यह सूचित किया है, कि गिरनार के समीप में स्थित जिस सुदर्शन झील का निर्माण चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त द्वारा किया गया था, और अशोक के शासन काल में उसकी ओर से नियुक्त प्रान्तीय शासक यवन तुसास्प ने जिससे अनेक नहरें निकलवायी थीं, वह सुदर्शन झील अतिवृष्टि के कारण भग्न हो गई थी, और रुद्रदामन् द्वारा अब उसका जीर्णोद्धार कराया गया।[1] स्कन्दगुप्त के लेख में भी इसी सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार का उल्लेख है।[2] इसमें सन्देह नहीं, कि गिरनार या गिरिनगर प्राचीन समय में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है, कि अशोक ने वहाँ भी अपने चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति उत्कीर्ण करायी थी। गिरनार के ये लेख ब्राह्मी लिपि में हैं।

(५) सोपारा—यह बम्बई के उत्तर में थाना जिले में समुद्र के तट पर है। प्राचीन समय में यहाँ एक समृद्ध नगर था, जिसे महाभारत में 'शूर्पारक' कहा गया है। पैरिप्लस के लेखक ने इसे 'सुप्पारा' और टाल्मी ने 'पारा' लिखा है। पुराणों में भी इसका नाम 'शूर्पारक' आया है। यहाँ एक बन्दरगाह की स्थिति थी, और सामुद्रिक व्यापार का यह एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इसके व्यापारिक महत्त्व के कारण ही अशोक ने यहाँ भी अपने चतुर्दश लेख उत्कीर्ण कराये थे। पर दुर्भाग्यवश सोपारा के शिलालेख का केवल एक खण्ड ही इस समय तक उपलब्ध हो सका है, जिस पर आठवें लेख का लगभग एक तिहाई अंश उत्कीर्ण है। यह लेख भी ब्राह्मी लिपि में है।

(६) एर्रगुडि—आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल जिले में एर्रगुडि नामक एक ग्राम है, जो दक्षिण रेलवे की मद्रास-रायचूर शाखा लाइन पर गूती नामक स्टेशन से आठ मील की दूरी पर स्थित है। इस ग्राम के समीप एक पहाड़ी है, जो 'येनकोण्डा' (हस्ति-पर्वत) कहाती है। यहाँ भी शिलाखण्डों पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख उत्कीर्ण हैं।

---

१. "**राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्तनाम्नो रुद्रदाम्नो वर्षे द्विसप्ततितमे मार्गशीर्ष-बहुलप्रतिपदि. . .सृष्टवृष्टिना पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां गिरे-रूर्जयतः सुवर्ण सिकता पलाशिनी प्रभृतीनां नदीनां अतिमात्रोद्वृत्तैर्वेगैः . . . . .आनदी-तलादित्युद्घाटितमासीत्।" जूनागढ़ शिलालेख** (Sircar : Select Inscriptions pp. 176-177)

२. "**अथ क्रमेणाम्बुदकाल आगते निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः।**
ववर्ष तोयं बहु संततं चिरं सुदर्शनं येन विभेद चात्वरात् ॥२६
बबन्ध यत्नान्महता नृदेवानभ्यर्च्य सम्यग्घटितोपलेन।
अ-जाति-दुष्टम्प्रथितं तटाकं सुदर्शनं शाश्वतकल्पकालम् ॥३७
स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख (Sircar : Select Inscriptions, pp 133-134)

(७) जौगढ़—यह स्थान आन्ध्र प्रदेश के गंजाम जिले के बरहमपुर नामक ताल्लुका में है, और गंजाम से लगभग १८ मील उत्तर-पश्चिम में ऋषिकुल्या नदी के तटपर स्थित है। प्राचीन समय में यहाँ एक विशाल नगर विद्यमान था, जो एक दुर्ग के रूप में था। इसके खण्डहर अब तक भी विद्यमान हैं, जो इसके विलुप्त गौरव के परिचायक हैं। सम्भवतः, इस नगर का नाम 'समापा' था, जिसके महामात्रों को सम्बोधन कर अशोक ने यहाँ दो विशेष लेख उत्कीर्ण कराये थे।

जौगढ़ में अशोक के जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं, वे तीन पृथक् खण्डों पर उत्कीर्ण हैं। प्रथम खण्ड पर पहले से पाँचवें लेख तक उत्कीर्ण किये गये हैं, यद्यपि वे अविकल रूप में प्राप्त नहीं होते। दुर्भाग्यवश उनका आधे के लगभग भाग इस समय अप्राप्य है। द्वितीय शिला-खण्ड पर छठे से दसवें लेख तक उत्कीर्ण हैं। तीसरे शिलाखण्ड पर दो पृथक् विशिष्ट लेख हैं, जिन्हें अशोक ने विशेष रूप से कलिङ्ग के लिये उत्कीर्ण कराया था।

(८) धौली—उड़ीसा के पुरी जिले की खुर्दा तहसील में धौली नाम का एक गाँव है, जो भुवनेश्वर से लगभग सात मील दक्षिण में स्थित है। यहीं पर प्राचीन काल में 'तोसली' नामक नगर की स्थिति थी, जो कलिङ्ग राज्य की राजधानी था। धौली के समीप तीन पहाड़ियों की एक छोटी-सी श्रृंखला है, जहाँ 'अश्वस्तम' नामक शिला पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। जौगढ़ के समान यहाँ भी ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें लेख नहीं पाये जाते, और उनके स्थान पर दो ऐसे विशिष्ट लेख हैं, जिन्हें अशोक ने कलिङ्ग के लिये विशेष रूप से उत्कीर्ण कराया था। धौली के ये विशिष्ट लेख तोसली के महामात्यों को सम्बोधित किये गये हैं।

(९) कन्धार में अशोक के दो अन्य शिलालेख मिले हैं, जो पालि में न होकर ग्रीक तथा अरेमइक (अरमाई) भाषाओं में हैं। इनपर हम पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

हमने यहाँ जिन स्थानों का उल्लेख किया है, उन सब में राजा अशोक ने वे लेख शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये थे, जो 'चतुर्दश शिलालेख' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, धौली और जौगढ़ में ११ वें, १२ वें और १३ वें लेखों के स्थान पर दो विशिष्ट लेख उत्कीर्ण कराये गये थे, जो कि कलिङ्ग के लिये थे। राजा अशोक ने कलिङ्ग को जीत कर मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित किया था। कलिङ्ग की विजय करते हुए जो नरसंहार हुआ था, उससे अशोक के हृदय में युद्धों के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न हो गया था। इन विशिष्ट लेखों में उन्होंने अपने इसी मनोभाव को व्यक्त किया है। इन विविध स्थानों पर ये 'चतुर्दश शिलालेख' जिस रूप में उत्कीर्ण हैं, उसमें केवल लिपि का ही भेद नहीं है, अपितु भाषा का भेद भी पाया जाता है। शब्दों और व्याकरण के इस भेद का कारण सम्भवतः यह था, कि अशोक ने स्थानीय भाषा को दृष्टि में रख कर ही अपने ये लेख उत्कीर्ण कराये थे।

(२) लघु शिलालेख

चतुर्दश शिलालेखों के समान अशोक के लघु शिलालेख भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। जिन स्थानों पर ये लेख प्राप्त हुए हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) रूपनाथ—मध्यप्रदेश के जवलपुर जिले में कैमूर पर्वतमाला की उपत्यका में रूपनाथ नामक एक तीर्थस्थान है, जो जवलपुर से कटनी जानेवाली रेलवे लाइन पर स्लीमनावाद स्टेशन से १४ मील के लगभग पश्चिम में है। यहाँ तीन छोटे-छोटे झरने हैं, जिन्हें पवित्र माना जाता है। ये राम, लक्ष्मण और सीता के नाम पर हैं, और इनके समीप ही रूपनाथ शिव का मन्दिर है, जहाँ हजारों यात्री प्रति वर्ष भगवान् शिव की उपासना के किये एकत्र होते हैं। सम्भवतः, मौर्य युग में भी इस स्थान का धार्मिक दृष्टि से महत्त्व था। प्रयाग से भृगुकच्छपुर (भड़ौंच) जाने वाला राजमार्ग भी इस स्थान के समीप से जाता था, जिससे व्यापारियों और यात्रियों का आना-जाना यहाँ सदा बना रहता था। रूपनाथ में अशोक का एक लघु शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो ४॥ फीट लम्बा और १ फुट चौड़ा है। इसमें कुल छः पंक्तियाँ हैं, जो पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में हैं।

(२) सहसराम—विहार राज्य के शाहाबाद जिले में सहसराम नाम का एक कसवा है। इसके पूर्व में दो मील की दूरी पर चन्दनपीर नामक पहाड़ी है, जिसकी एक गुफा में अशोक का एक लघु शिला लेख उत्कीर्ण है। आजकल यह गुफा 'चिरागदान' या पीर का चिराग कहाती है, क्योंकि वहाँ एक मुसलिम फकीर की दरगाह है। ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में सहसराम एक समृद्ध नगर था, जो पाटलिपुत्र से प्रयाग होकर भृगुकच्छपुर जाने वाले राजमार्ग पर पड़ता था। इस स्थान के इसी महत्त्व को दृष्टि में रख कर अशोक ने यहाँ भी अपने लेख उत्कीण कराये थे।

(३) बैराट—यह स्थान राजस्थान में जयपुर से ४२ मील उत्तर-पूर्व की ओर है। बैराट के दक्षिण-पश्चिम में लगभग एक मील की दूरी पर दो बौद्ध विहारों के खण्डहर विद्यमान हैं, और उनके समीप ही एक प्राचीन स्तूप के चिन्ह भी मिले हैं। निस्सन्देह, मौर्य युग में यह स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था, और बौद्ध धर्म का भी इस क्षेत्र में प्रचार प्रारम्भ हो चुका था। मत्स्य जनपद की प्राचीन राजधानी विराट नगरी भी सम्भवतः यहीं पर स्थित थी। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव लोग वनवास के अन्त में इसी स्थान पर आकर रहे थे। बैराट में जिस शिलाखण्ड पर अशोक के ये लघु शिलालेख उत्कीर्ण हैं, वह आकार में २४० वर्ग फीट के लगभग है।

(४) गुजर्रा—मध्य प्रदेश के दतिया जिले में गुजर्रा नाम का एक ग्राम है, जो जंगलों और पहाड़ियों के बीच में स्थित है। दतिया और झाँसी दोनों से यह ११ मील के लगभग दूर पड़ता है। जिस शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है, वह पहाड़ी की उपत्यका में एक ऐसे स्थान पर पायी गई है, जो 'सिद्धों की टोटिया' (सिद्धों की पहाड़ी) के नाम से प्रसिद्ध है।

गुजर्रा के शिलालेख की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है, कि इसका प्रारम्भ 'देवानां प्रियस अशोक राजस' (देवानां प्रियस्य अशोक राजस्य) शब्दों से हुआ है। अशोक के अन्य उत्कीर्ण लेखों में 'देवानां प्रिय' और 'प्रियदर्शी' शब्द तो आये हैं, पर अशोक शब्द नहीं आया। इससे ऐतिहासिकों को यह सन्देह रहा, कि जिस 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा' ने ये लेख उत्कीर्ण कराये थे, वह मौर्य वंशी राजा अशोक ही था या कोई अन्य राजा। सबसे पूर्व मास्की के शिलालेख में 'देवानं पियसा अशोकस' ये शब्द प्राप्त हुए, जिनसे इस तथ्य की पुष्टि हो गई, कि वे लेख मौर्यवंशी राजा अशोक के ही हैं। गुर्जरा में प्राप्त लेख ऐसा दूसरा उत्कीर्ण लेख है, जिसमें 'देवानं प्रिय' के साथ अशोक शब्द भी आया है।

(५) मास्की—आन्ध्र प्रदेश के रायचूर जिले के लिङ्गसुगुर ताल्लुका में मास्की नाम का एक गाँव है, जहाँ अशोक के लघु शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है। प्राचीन समय में यह स्थान भी अपना विशेष महत्त्व रखता था। सम्भवतः, यही वह स्थान था जहाँ चोल वंश के प्रतापी सम्राट् राजेंद्र चोल ने चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय को परास्त किया था। तामिल उत्कीर्ण लेखों में इसे 'मुशङ्गी' नाम से कहा गया है, और चालुक्य राजाओं के उत्कीर्ण लेखों में 'मोसंगी' नाम से। ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में भी इस स्थान का राजनीतिक महत्त्व था, जिसके कारण अशोक ने अपने सन्देश को यहाँ भी उत्कीर्ण कराया था।

(६) ब्रह्मगिरि—माइसूर राज्य के चितलद्रुग जिले में जनगी-हल्ल या चिन्न-हग्गरी नामक नदी है, जिसके साथ-साथ एक पहाड़ी चली गई है, जो 'ब्रह्मगिरि' कहाती है। इसी पहाड़ी पर एक विशाल शिलाखण्ड है, जिसकी लम्बाई १५½ फीट और चौड़ाई ११½ फीट है। स्थानीय लोग इसे अक्षरगुण्डु (अक्षरशिला) कहते हैं। इस पर अशोक के लघु शिलालेख उत्कीर्ण हैं।

(७) सिद्धपुर—ब्रह्मगिरि के पश्चिम में एक मील की दूरी पर एक अन्य पहाड़ी है, जो 'यनमन तिम्मयन गुण्डलु' (महिष समूह शिला) कहाती है। यहाँ पर भी एक शिला पर अशोक के लघु शिलालेख उत्कीर्ण हैं।

(८) जटिङ्ग रामेश्वर—ब्रह्मगिरि के पश्चिम-उत्तर में लगभग तीन मील की दूरी पर एक अन्य पहाड़ी है, जिसकी चोटी पर जटिङ्ग-रामेश्वर का मन्दिर है। इस मन्दिर में जाने की सीढ़ियाँ जहाँ से प्रारम्भ होती हैं, वहीं एक शिला पर अशोक के लघु शिलालेखों की एक प्रति उत्कीर्ण है, जो इस समय अत्यधिक घिसी हुई दशा में है।

ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर और जटिङ्ग रामेश्वर के शिलालेख एक दूसरे के बहुत समीप हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन काल में यहाँ एक विशाल व समृद्ध नगरी की सत्ता थी, और धार्मिक दृष्टि से भी इस स्थान का विशेष महत्त्व था। किसी प्राचीन नगर के बहुत-से खण्डहर भी इस क्षेत्र में विद्यमान हैं। ये स्थान मौर्य साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के समीप स्थित थे, इसी कारण राजा अशोक ने यहाँ अपने अनेक शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे।

(९) गोविमठ—यह स्थान भी माइसूर राज्य में है, और सिद्धपुर से सात मील दूर है। इसकी स्थिति दक्षिण रेलवे के हासपेट और गडग जंकशन-स्टेशनों के बीच में है। यहाँ पर भी अशोक के लघु शिलालेखों भी एक प्रति उपलब्ध हुई है, जो पूर्णतया सुरक्षित दशा में है।

(१०) पालकिगुण्डु—यह स्थान भी माइसूर राज्य में है, और गोविमठ से चार मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ अशोक के लघु शिलालेखों की जो प्रति उपलब्ध हुई है, वह अत्यन्त खण्डित और अपूर्ण दशा में है।

(११) एर्रगुडि—चतुर्दश शिलालेखों के प्राप्ति-स्थानों का विवरण देते हुए एर्रगुडि का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ चतुर्दश शिलालेखों के अतिरिक्त लघु शिलालेखों की भी एक प्रति उपलब्ध हुई है, जिसका पूर्वार्ध (१२वीं पंक्ति के मध्य तक) ब्रह्मगिरि की प्रति से मिलता-जुलता है। इसके पश्चात् एर्रगुडि के शिलालेख में बहुत-सी ऐसी सामग्री है, जो ब्रह्मगिरि या अन्य लघु शिलालेखों में नहीं पायी जाती। यद्यपि इस लेख की लिपि ब्राह्मी ही है, पर इसकी आठ पंक्तियाँ (२, ४, ६, ९, ११, १३, १४ और २३) दायीं ओर से बायीं ओर उत्कीर्ण की गई है। ब्राह्मी लिपि की यह शैली अशोक के अन्य किसी लेख में नहीं पायी जाती।

(१२) राजुल मंडगिरि—आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल जिले के पटिकौड ताल्लुका में चिन्नतुलति नाम का एक गाँव है, जिसके समीप राजुल मंडगिरि नामक एक टीला है। यह स्थान एर्रगुडि से बीस मील की दूरी पर है। यहाँ भी अशोक के लघु शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है, जो अपूर्ण और खण्डित दशा में है।

(१३) अहरौरा—उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में अहरौरा नाम का एक कस्बा है, जो वाराणसी से २३ मील के लगभग दक्षिण में है। अहरौरा के समीप ही एक पहाड़ी है, जिसकी एक चट्टान पर अशोक के लघु शिलालेख उत्कीर्ण हैं। इसके पास ही भण्डारी देवी का मन्दिर है, जहाँ देवी के दर्शन और पूजन के लिये श्रद्धालु लोग प्रायः एकत्र होते रहते हैं। जिस शिला पर अशोक का यह लेख उत्कीर्ण है, वह भण्डारी देवी के मन्दिर से सौ गज की दूरी पर है। इस लेख में कुल ११ पंक्तियाँ हैं, जिनमें पिछली पाँच पंक्तियाँ पूर्णतया सुरक्षित हैं। पहली छः पंक्तियों के बहुत-से अक्षर नष्ट हो गये हैं।

(१४) दिल्ली—नई दिल्ली के दक्षिण में बहापुर नामक ग्राम के समीप लघु शिलालेखों की एक अन्य प्रति उपलब्ध हुई है, जिसके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से पृथक् रूप से लिखा जायगा।

(१५) भाब्रु—बैराट (राजस्थान के जयपुर जिले में) के समीप ही एक अन्य स्थान है, जिसे भाब्रु कहते हैं। यहाँ भी अशोक का एक उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुआ है, जो अन्य लघु शिलालेखों से सर्वथा भिन्न है। इस शिलालेख द्वारा अशोक ने उन बौद्ध पुस्तकों के नाम विज्ञापित किये हैं, जो उसकी दृष्टि में विशेष रूप से अनुशीलन व अध्ययन के योग्य थीं।

अशोक ने यह इच्छा प्रगट की है, कि भिक्षु और भिक्षुणियाँ इन ग्रन्थों का प्रतिक्षण श्रवण व मनन किया करें। अशोक के समय में भाब्रु में एक बौद्ध विहार की सत्ता थी, जहाँ बहुत-से भिक्षु निवास करते थे। उन्हीं के लिये यह शिलालेख उत्कीर्ण करवाया गया था। सम्भवतः, इसी प्रकार के लेख अन्यत्र भी उत्कीर्ण कराये गये होंगे, पर वे अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। भाब्रु का शिलालेख अपने ढंग का अकेला ही लेख है। यद्यपि लघु शिलालेखों के साथ उसका उल्लेख संगत नहीं है, पर सुविधा की दृष्टि से इसी प्रकरण में उसका निर्देश कर दिया गया है।

(३) स्तम्भ लेख

प्रस्तर-खण्डों या शिलाओं के समान प्रस्तर-स्तम्भों पर भी अशोक ने अपने लेख उत्कीर्ण कराये थे। ये लेख संख्या में सात हैं। जिस प्रकार अशोक के प्रधान शिलालेख संख्या में १४ हैं, और उनकी विभिन्न प्रतियाँ आठ पृथक्-पृथक् स्थानों पर उपलब्ध हुई हैं, वैसे ही सात स्तम्भ-लेख छः विभिन्न स्तम्भों पर उत्कीर्ण हुए मिले हैं। ये स्तम्भ निम्नलिखित स्थानों पर विद्यमान हैं—

(१) दिल्ली का टोपरा स्तम्भ—वर्तमान समय में यह स्तम्भ दिल्ली के दिल्ली दरवाजे के दक्षिण में फीरोजशाह कोटला में विद्यमान है। पर पहले यह स्तम्भ अम्वाला (हरियाणा) जिले के टोपरा नामक ग्राम में था। टोपरा की स्थिति सढौरा कस्बे से १६ मील दक्षिण में है। तुगलक वंश के सुलतान फीरोजशाह को पुरातत्त्व में बहुत रुचि थी। उस द्वारा ही यह स्तम्भ टोपरा से दिल्ली लाया गया। फीरोजशाह के समकालीन लेखक शम्सि-सिराज ने इस स्तम्भ के दिल्ली लाये जाने का विशद रूप से वर्णन किया है। उसने लिखा है, कि ४२ पहियों वाली गाड़ी पर यह स्तम्भ पहले टोपरा से यमुना के तट पर पहुँचाया गया, और वहाँ से नौकाओं द्वारा इसे दिल्ली लाया गया। दिल्ली में फीरोजशाह तुगलक ने अपने नाम से एक नया नगर वसाया था, जिसके भग्नावेष इस समय 'फीरोजशाह का कोटला' के रूप में विद्यमान हैं। यहीं पर इस सुलतान ने अशोक के उस स्तम्भ को पुनः स्थापित किया, जिसे वह टोपरा से लाया था। टोपरा शिवालक पर्वतमाला की उपत्यका से अधिक दूर नहीं है। प्राचीन काल में पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाला एक राजमार्ग हिमालय और शिवालक की तराई के साथ-साथ होकर जाता था, जिसके कारण नदियों को पार करने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। कालसी की स्थिति भी इसी मार्ग पर थी, और टोपरा भी इसी मार्ग पर पड़ता था। तराई के इस मार्ग को प्रयुक्त करने वाले व्यापारियों और यात्रियों के लाभ के लिये ही अशोक ने इन स्थानों पर अपने लेख उत्कीर्ण कराये थे।

टोपरा-स्तम्भ का जो भाग जमीन के ऊपर है, उसकी ऊँचाई ४२ फीट ७ इंच है। यह सारा स्तम्भ एक ही प्रस्तर-खण्ड से निर्मित है, जो रंग में हलका गुलाबी है। स्तम्भ

के उपरले भाग पर चमकीली पालिश की गई है, जो दो हजार साल से अधिक बीत जाने पर भी अब तक पूर्णतया सुरक्षित है। पालिश किया हुआ यह भाग ऊँचाई में ३५ फीट है। निचले भाग पर पालिश नहीं है, वह खुरदरा है। फीरोजशाह कोटला में विद्यमान इस दिल्ली-टोपरा स्तम्भ पर अशोक के सातों स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण हैं, और वे भी सुपाठ्य तथा सुरक्षित दशा में। अन्य स्तम्भों पर सातवाँ लेख नहीं पाया जाता। अशोक के लेखों के अतिरिक्त इस स्तम्भ पर अन्य भी अनेक लेख उत्कीर्ण हैं, जिनमें अजमेर के चाहुमान राजा बीसलदेव (तिथि ११६४ ई०) के लेख उल्लेखनीय हैं।

(२) **दिल्ली-मेरठ स्तम्भ**––दिल्ली में ही अशोक का एक अन्य स्तम्भ भी विद्यमान है, जो काश्मीरी दरवाजे के पश्चिम-उत्तर में फैली हुई पहाड़ी पर स्थापित है। यह स्तम्भ पहले मेरठ में था, और टोपरा-स्तम्भ के समान फीरोजशाह तुगलक द्वारा ही दिल्ली लाया गया था। कहा जाता है कि फर्रुखसियर (१७१३-१९) के शासनकाल में बारूद-खाने के फट जाने के कारण इस स्तम्भ को बहुत क्षति पहुँची। वह गिर गया और अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया। बाद में सन् १८६७ में इसे पुनः पूर्ववत् खड़ा किया गया। इस स्तम्भ पर केवल छः लेख उत्कीर्ण कराये गये थे। ये भी इस समय पूर्ण और सुरक्षित दशा में नहीं हैं।

(३) **प्रयाग स्तम्भ**––वर्तमान समय में यह स्तम्भ प्रयाग के किले में विद्यमान है। इस पर अशोक के स्तम्भ-लेखों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक लेख उत्कीर्ण हैं, जिनमें गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख निम्नलिखित हैं––(१) दिल्ली-टोपरा स्तम्भ पर उत्कीर्ण सात लेखों में से पहले छः लेख। (२) अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराया गया एक अन्य लेख जो कौशाम्बी के महामात्र के नाम आदेश के रूप में है। इसमें संघ (भिक्षुसंघ) को भंग करने वालों के लिये दण्ड की व्यवस्था की गई है। (३) अशोक द्वारा उत्कीर्ण एक अन्य लेख जिसमें तीवर की माता द्वितीय देवी कालुवाकी (कारुवाकी या चारुवाकी) के दान-पुण्य का उल्लेख है। (४) समुद्रगुप्त की प्रशस्ति। (५) जहाँगीर का एक लेख।

टोपरा-स्तम्भ के समान प्रयाग-स्तम्भ भी एक ही प्रस्तर-खण्ड द्वारा निर्मित है। इसकी कुल लम्बाई ४२ फीट ७ इंच है, और यह भी हलके गुलाबी रंग का तथा पालिश किया हुआ है। अशोक के अन्य स्तम्भों के समान प्रयाग-स्तम्भ का शीर्ष भी पहले कमल-घण्टिकाकार था, और उसके ऊपर सिंह की मूर्ति थी। पर इस समय ये उपलब्ध नहीं हैं।

कतिपय विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि पहले यह स्तम्भ कौशाम्बी में था, जहाँ से टोपरा और मेरठ स्तम्भों के समान इसे लाकर अन्यत्र स्थापित किया गया। कौशाम्बी नगरी प्राचीन वत्स जनपद की राजधानी थी। आजकल का कोसम गाँव प्राचीन कौशाम्बी को सूचित करता है। कोसम यमुना के बाएँ तट पर स्थित है, और इलाहाबाद से २८ मील की दूरी पर है। कौशाम्बी के महामात्र को सम्बोधन कर एक लेख अशोक ने इस

स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराया था, जिससे यह परिणाम निकाला गया है कि यह स्तम्भ पहले कौशाम्बी में ही रहा होगा।

(४) **लौरिया-अरराज स्तम्भ**—उत्तरी विहार के चम्पारन जिले में यह स्तम्भ विद्यमान है, जो ऊँचाई में ३६ फीट ६ इंच के लगभग है। यह भी एक ही प्रस्तर-खण्ड द्वारा निर्मित है। राधिया नामक ग्राम के पूर्व-दक्षिण में २॥ मील की दूरी पर अरराज-महादेव का मन्दिर है। वहाँ से मील भर दूर लौरिया नामक स्थान पर यह स्तम्भ स्थित है। इस पर टोपरा-स्तम्भ वाले पहले छः स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण हैं।

(५) **लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ**—यह भी विहार के चम्पारन जिले में ही है। लौरिया से उत्तर-पश्चिम में नेपाल राज्य की ओर जाते हुए लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ दिखायी देता है। इसके समीप वहुत-से अन्य प्राचीन अवशेष भी विद्यमान हैं, जिन्हें कतिपय ऐतिहासिक बौद्ध युग से भी पूर्व का मानते हैं। बौद्ध युग में उत्तरी विहार में अनेक गणराज्यों की सत्ता थी, जिनमें वज्जि या वृजिक गण सबसे अधिक महत्त्व का था। नन्दनगढ़ के ये अवशेष किसी प्राचीन गणराज्य के ही हैं। पिछले दिनों यहाँ जो खुदाई हुई है, उससे वहुत-से सिक्के, मुद्राएं तथा मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो इस स्थान की प्राचीनता की परिचायक हैं। लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ ऊँचाई में ३२ फीट ९॥ इंच है। इसका शीर्ष कमलाकार है, जिस पर एक सिंह उत्तर की ओर मुख किये हुए खड़ा है और शीर्ष से नीचे उपकण्ठ पर राजहंसों की पंक्तियाँ मोती चुगती हुई दिखायी गई हैं। इस स्तम्भ पर भी टोपरा-स्तम्भ वाले पहले छः लेख उत्कीर्ण हैं।

(६) **रामपुरवा स्तम्भ**—विहार के चम्पारन जिले में वेतिया से ३२ मील उत्तर की ओर रामपुरवा की स्थिति है, जहाँ अशोक द्वारा स्थापित एक अन्य स्तम्भ विद्यमान है। यह ऊँचाई में ४४ फीट ९॥ इंच है। पहले इसके शीर्ष पर भी सिंह की सत्ता थी, जो अब उपलब्ध नहीं है। पर शीर्ष के नीचे का वर्तुलाकार उपकण्ठ अब भी सुरक्षित है, और उसके राजहंसों की पंक्तियाँ तथा कमल ठीक दशा में हैं। यह स्तम्भ आजकल खड़ा न होकर आड़ा पड़ा हुआ है। इस पर भी सात स्तम्भ-लेखों में से पहले छः ही उत्कीर्ण किये गये हैं।

ऐतिहासिक विन्सेन्ट ए० स्मिथ के अनुसार चम्पारन जिले के ये तीनों (लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़ और रामपुरवा) स्तम्भ उस प्राचीन राजमार्ग के साथ-साथ स्थापित किये गये थे, जो कि पाटलिपुत्र से गङ्गा के उत्तर में नेपाल की तराई की ओर जाता था। इस राजमार्ग से आने-जाने वाले यात्रियों और व्यापारियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही अशोक ने इन स्तम्भों पर 'धम्म' के संदेश को उत्कीर्ण कराया था।

(४) लघु स्तम्भ-लेख

सप्त स्तम्भ-लेखों के अतिरिक्त कतिपय अन्य लेख भी हैं, जिन्हें अशोक ने प्रस्तर-स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया था। ये लेख निम्नलिखित स्थानों के स्तम्भों पर विद्यमान हैं—

(१) **सारनाथ**—वाराणसी नगरी के उत्तर में तीन मील की दूरी पर सारनाथ नामक प्राचीन स्थान है, जिसका बौद्ध धर्म के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। भगवान् बुद्ध ने इसी स्थान पर अपने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया था। यहाँ बहुत-से पुराने खँडहर और भग्नावशेष विद्यमान हैं, जिनसे इस स्थान के प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इन्हीं भग्नावशेषों में एक प्रस्तर-स्तम्भ भी है, जिस पर अशोक का लघु-स्तम्भ लेख उत्कीर्ण है। इसमें बौद्ध संघ में फूट डालने वालों या किसी अन्य प्रकार से उसे क्षति पहुँचाने वाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिये दण्ड की व्यवस्था की गई है। अशोक ने इस लेख द्वारा यह विज्ञापित किया है कि पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में महामात्रों द्वारा ऐसा किया जाना चाहिये, जिससे किसी के लिये भी संघ का भेदन कर सकना सम्भव न हो। सारनाथ का यह स्तम्भ लेख पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित किया गया है, क्योंकि शासन की दृष्टि से सारनाथ का प्रदेश मौर्य युग में पाटलिपुत्र के 'चक्र' के अन्तर्गत था। चीनी यात्री ह्यु एन्-त्सांग भारत की यात्रा करता हुआ जब सारनाथ गया था, तो उसने वहाँ एक स्तम्भ देखा था, जिसकी ऊँचाई ७० फीट थी। ह्यु एन्-त्सांग के अनुसार यह स्तम्भ अशोक द्वारा बनवाया गया था। वर्तमान समय में सारनाथ से अशोक का जो स्तम्भ उपलब्ध हुआ है, उसकी ऊँचाई ३७ फीट के लगभग है। सम्भवतः ह्यु एन्-त्सांग ने स्तम्भ की ऊँचाई के विषय में सही अनुमान न किया हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि सारनाथ का यह अशोक-स्तम्भ बहुत महत्त्व का है। मौर्य युग के अवशेषों का वर्णन करते हुए इस स्तम्भ के विषय में हम अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे।

(२) **साँची-स्तम्भ**—मध्य प्रदेश में साँची एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है, जो भीलसा (विदिशा) से ५॥ मील की दूरी पर स्थित है। मध्य रेलवे द्वारा दिल्ली से बम्बई की ओर जाते हुए यह स्थान स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। इसके समीप ही साँची नामक रेलवे स्टेशन भी है, जहाँ से इस स्थान की दूरी एक मील से भी कम रह जाती है। यहाँ एक विशाल स्तूप है, जिसके दक्षिणी द्वार के समीप एक स्तम्भ की स्थिति है। यह स्तम्भ इस समय भग्न दशा में है। इसी पर अशोक के लघु स्तम्भ-लेख की एक प्रति उत्कीर्ण है, जो सुरक्षित रूप में नहीं है। यह लेख सारनाथ के स्तम्भ लेख की ही प्रतिलिपि है।

(३) **प्रयाग-स्तम्भ**—प्रयाग के किले में विद्यमान अशोक के स्तम्भ का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इस स्तम्भ पर जहाँ अशोक के सप्त स्तम्भ-लेखों में से छः उत्कीर्ण हैं, वहाँ साथ ही लघु स्तम्भ-लेख भी उस पर विद्यमान है, जिसे कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित करके लिखवाया गया है। यह भी सारनाथ के स्तम्भ-लेख के सदृश ही है।

प्रयाग के स्तम्भ पर ही अशोक का एक अन्य लेख भी उत्कीर्ण है, जिसे 'रानी लेख' कहा जाता है, क्योंकि इसमें तीवर की माता रानी चारुवाकी के दान का उल्लेख किया गया है।

(५) अन्य उत्कीर्ण लेख

अन्य स्तम्भ-लेख—सप्त (या षष्ट्) स्तम्भ-लेखों और लघु स्तम्भ-लेखों के अतिरिक्त कतिपय अन्य लेख भी हैं, जिन्हें राजा अशोक ने स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया था। इनमें रानी के लेख का उल्लेख अभी ऊपर किया गया है, जो कि प्रयाग के स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। जिन अन्य स्तम्भों पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं, वे निम्नलिखित हैं—(१) रुम्मिनदेई स्तम्भ—नेपाल राज्य की भगवानपुर तहसील में पड़रिया नामक ग्राम है, जिससे एक मील उत्तर में रुम्मिनदेई का मन्दिर है। यह स्थान नेपाल और भारत की सीमा के समीप है, यद्यपि वर्तमान समय में यह नेपाल राज्य के अन्तर्गत है। यहाँ एक प्रस्तर-स्तम्भ विद्यमान है, जो ऊँचाई में केवल २१ फीट है। इस पर अशोक का जो लेख उत्कीर्ण है, वह भी छोटा ही है। पर उसका महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि उसी से निश्चित रूप से महात्मा बुद्ध के जन्म स्थान का पता लग सका है। इस लेख द्वारा अशोक ने यह सूचित किया है कि अपने राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में उसने स्वयं आकर इस स्थान को गौरव प्रदान किया, क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध ने जन्म लिया था। यहाँ अशोक ने पत्थर की एक दृढ़ दीवार भी बनवायी थी और एक शिला-स्तम्भ भी खड़ा कराया था। क्योंकि यह स्थान बौद्धों के लिये अत्यन्त पवित्र था, अतः लुम्बिनी ग्राम को करसे मुक्त भी कर दिया गया था। ह्यु एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में अशोक द्वारा स्थापित इस स्तम्भ का भी उल्लेख किया है। भारत की यात्रा करते हुए यह चीनी यात्री बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनीवन भी गया था, और वहाँ उसने इस अशोक-स्तम्भ को अपनी आँखों से देखा था। उसने लिखा है, कि इस स्तम्भ के शीर्ष पर घोड़े की मूर्ति बनायी गई थी, जो बाद में टूट कर अलग गिर गई थी। साथ ही, स्तम्भ के भी दो टुकड़े हो गये थे। सम्भवतः, रुम्मिनदेई में जो स्तम्भ इस समय विद्यमान है, वह मूल स्तम्भ का एक भाग मात्र है। इसी कारण उसकी ऊँचाई केवल २१ फीट है। ह्यु एन्-त्सांग ने यह भी लिखा है, कि इस स्तम्भ के समीप ही एक नदी बहती है, जिसे 'तेल की नदी' कहते हैं। यह नदी अब भी विद्यमान है, और 'तिलार' कहाती है। बुद्ध का जन्म स्थान लुम्बिनीवन यही था, और रुम्मिनदेई सम्भवतः लुम्बिनी का ही अपभ्रंश है। (२) निगली सागर स्तम्भ—रुम्मिनदेई स्तम्भ के उत्तर-पश्चिम में तेरह मील की दूरी पर अशोक का एक अन्य स्तम्भ विद्यमान है, जिसे निगली सागर-स्तम्भ कहते हैं। यह भी नेपाल राज्य की तराई के प्रदेश में स्थित है, और भारत की सीमा से सात मील के लगभग दूर पड़ता है। यह निग्लीव नामक गाँव के समीप निगली सागर के पश्चिमी तट पर स्थापित है। वर्तमान समय में यह सुरक्षित दशा में नहीं है। इसके जो टुकड़े उपलब्ध हैं, उनमें ऊपरी भाग की ऊँचाई १४ फीट ९॥ इंच है, और निचला भाग १० फीट ऊँचा है। इसी निचले भाग पर अशोक का एक लेख उत्कीर्ण है, जिसमें चार पंक्तियाँ हैं। इस लेख द्वारा अशोक ने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को दुगना बढ़ाने का उल्लेख किया है, और

साथ ही यह लिखा है कि अपने राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में अशोक ने स्वयं यहाँ आकर इस स्थान की गौरव-वृद्धि की थी। बौद्ध ग्रन्थों में राजा अशोक की तीर्थयात्रा का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इस यात्रा में अशोक ने उन स्थानों का दर्शन किया था, जिनका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन के साथ था। रुम्मिनदेई स्तम्भ और निगली सागर स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेखों द्वारा इस बात की पुष्टि हो जाती है, कि अशोक ने बौद्ध तीर्थों की यात्रा की थी, और उसी के उपलक्ष में अनेक प्रस्तर-स्तम्भों की भी स्थापना करायी थी। चीनी यात्री ह्य एन्-त्सांग ने भी निगली सागर के इस स्तम्भ का उल्लेख किया है। उसके अनुसार इस स्तम्भ के शीर्ष भाग पर सिंह की मूर्ति बनी हुई थी।

गुहा लेख––शिलाओं और प्रस्तर-स्तम्भों के अतिरिक्त गुहाओं में भी अशोक के कतिपय लेख उत्कीर्ण पाये गये हैं। ये बराबर और नागार्जुनी नामक पहाड़ियों की गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। दक्षिणी बिहार में गया नगरी से पन्द्रह मील के लगभग उत्तर में पहाड़ियों की एक श्रृंखला है, जिसे 'बराबर' कहा जाता है। 'बराबर' पर्वत-श्रृंखला में अनेक पहाड़ियाँ सम्मिलित हैं, जिनमें सबसे ऊँची पहाड़ी सिद्धेश्वर कहाती है। इन 'बराबर' पहाड़ियों को काट-काट कर कृत्रिम रूप से सात गुहाओं का निर्माण किया गया है, जिनमें से तीन में अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों द्वारा राजा अशोक ने आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिये इन गुहाओं के दान की सूचना दी है। मौर्य युग में बराबर पहाड़ियों को 'खलतिक पर्वत' कहा जाता था। अशोक के गुहालेखों में इन पहाड़ियों के लिये 'खलतिक पर्वत' ही प्रयुक्त किया गया है। इन गुहाओं के दान का प्रयोजन यह था, कि वर्षा ऋतु में आजीवक भिक्षु उनमें निवास कर सकें।

बराबर पर्वतमाला की पहाड़ियों में नागार्जुनी नाम की भी एक पहाड़ी है, जिसमें तीन ऐसी गुफाएँ विद्यमान हैं, जिनमें मौर्य राजा दशरथ द्वारा आजीवक सम्प्रदाय के लिये इन गुहाओं के दान का उल्लेख है।

तक्षशिला शिलालेख––बौद्ध युग में तक्षशिला शिक्षा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। यह नगरी पूर्वी गान्धार जनपद की राजधानी थी, और पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम की ओर जानेवाला राजमार्ग तक्षशिला होकर ही कपिशा, पश्चिमी गान्धार और वाल्हीक की ओर जाता था। यहाँ भी राजा अशोक का एक उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुआ है, जो अरेमाई भाषा में है। यह लेख भग्न दशा में है, और इसके सम्बन्ध में यह विवाद भी रहा है कि इसे अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था या उसके पूर्ववर्ती मौर्य राजा बिन्दुसार या चन्द्रगुप्त ने। पर इस लेख का उपलब्ध अन्तिम शब्द 'प्रियद्र' है, जो सम्भवतः प्रियदर्शी का ही भग्न रूप है। इसके आधार पर इस लेख को अशोक का ही माना जाता है।

कन्धार शिलालेख––दक्षिणी अफगानिस्तान में कन्धार नगर के समीप शरे-कुना नामक स्थान पर अशोक का एक शिलालेख मिला है, जो यूनानी (ग्रीक) और अरेमाई–दो भाषाओं में है। सम्भवतः, इसके समीप ही मैसिडोनियन विजेता सिकन्दर ने अपने नाम

से एक नई नगरी वसायी थी, और वहाँ ग्रीक सनिकों की एक छावनी भी स्थापित की थी। भारत से पाश्चात्य यवन (ग्रीक) राज्यों को जाने-आने के लिये स्थल मार्ग इस स्थान से होकर ही जाता था, और व्यापार की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व था। यहाँ ग्रीक (यवन या यूनानी) भाषा वोलने वाले लोग भी बड़ी संख्या में निवास करते थे। यही कारण था, जो अशोक ने यहाँ अपना लेख अरेमाई भाषा के साथ-साथ यूनानी भाषा में भी उत्कीर्ण कराया था। इस लेख द्वारा अशोक ने 'धम्म' के विषय में किये गये अपने प्रयत्नों की सफलता का उल्लेख किया है।

लमगान शिलालेख—अफगानिस्तान में काबुल नदी के उत्तरी तट पर जलालाबाद के समीप लमगान में अशोक का एक अन्य उत्कीर्ण लेख मिला है। यह लेख भी अरेमाई भाषा में है। इसी लमगान को संस्कृत साहित्य में 'लम्पाक' कहा गया है। लमगान में उपलब्ध यह शिलालेख इस समय कावुल के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस लेख में भी 'देवानां प्रिय' के धर्म (धम्म) सम्बन्धी प्रयत्नों का उल्लेख है।[१]

कन्धार से प्राप्त ग्रीक भाषा का शिलालेख—अफगानिस्तान में कन्धार की पुरानी बस्ती में विद्यमान एक मुसलिम धर्मस्थान के समीप एक शिलालेख पड़ा हुआ था, जिसकी ओर सन् १९६३ में स्ट्रासबुर्ग यूनिवर्सिटी (जर्मनी) के प्रोफेसर डा० श्लुम्बर्गर का ध्यान आकृष्ट हुआ। अनुशीलन से ज्ञात हुआ, कि यह अशोक का शिलालेख है। जिस शिला पर यह उत्कीर्ण है, वह २०¾ इन्च चौड़ी, १८ इन्च ऊँची और ५ इन्च मोटी है। लेख ग्रीक भाषा में है। अशोक के अन्य शिलालेखों के समान यह किसी विशाल चट्टान पर उत्कीर्ण न होकर एक ऐसी शिला पर उत्कीर्ण कराया गया है, जिसे काटकर तथा गढ़ कर वर्तमान रूप प्रदान किया गया था, और सम्भवतः जिसे किसी भवन की भित्ति पर लगाया गया था। लेख अपूर्ण दशा में है। अशोक के चतुर्दश शिलालेखों में से बारहवाँ (प्रारम्भिक भाग को छोड़ कर) और तेरहवाँ (केवल प्रारम्भिक भाग) लेख इस शिला पर उत्कीर्ण हैं। इससे अनुमान किया जाता है, कि चतुर्दश शिलालेख अविकल रूप से अनेक शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये गये थे, और उन्हें किसी भवन की भित्ति पर लगा दिया गया था। सम्भव है, कि ये अन्य शिलाएँ भी इस क्षेत्र से भविष्य में प्राप्त हो जाएँ। ग्रीक भाषा का यह लेख अशोक के चतुर्दश शिलालेखों का शब्दानुवाद नहीं है। पालि भाषा के अन्य लेखों को कुछ परिवर्तित कर स्वतन्त्र रूप से इसे ग्रीक भाषा में उत्कीर्ण कराया गया है। लेख की भाषा शुद्ध एवं साहित्यिक ग्रीक है, और लिपि अत्यन्त सुन्दर है।

डा. श्लुम्बर्गर ने इस लेख को सम्पादित कर एपिग्राफिआ इन्डिका के जनवरी, १९६८ के अंक में प्रकाशित कर दिया है, और इसके अध्ययन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह

---

१. A. Foucher : La Vieilhe Route de L'Inde de Bactres a Taxila

जाता कि कन्धार का प्रदेश भी अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत था, और उस समय वहाँ ग्रीक भाषा का भली भाँति प्रचलन था।

बहापुर (दिल्ली) का शिलालेख––नई दिल्ली की श्रीनिवासपुरी के दक्षिण में बहापुर नामक गाँव के समीप अरावली पर्वतमाला की पहाड़ियों को सड़क बनाने के लिये साफ करते हुए अशोक का एक अन्य लेख उपलब्ध हुआ था, जो एक चट्टान पर उत्कीर्ण है। यह अशोक के लघु शिलालेखों की ही एक प्रतिलिपि है। इसे श्री एम-सी. जोशी और श्री डी. एम. पाण्डे ने सम्पादित किया है, और रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल (१९६७, भाग ३ व ४) में यह प्रकाशित हुआ है।

गत वर्षों में अशोक के कतिपय अन्य लेख भी उपलब्ध हुए हैं, जो शिलाओं आदि पर उत्कीर्ण हैं। इनका अभी सम्पादन नहीं हुआ है, अतः इनके सम्बन्ध में परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक ने अपने साम्राज्य के बहुत-से स्थानों पर अपने धर्म संदेश को उत्कीर्ण कराया था। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है, कि अशोक के कितने ही अन्य लेख भी भविष्य में प्रकाश में आयेंगे।

बाईसवाँ अध्याय

अशोक की नीति का मूल्याङ्कन

(१) धर्मविजय की नीति

'धर्मविजय' इस एक शब्द में अशोक की नीति का पूर्ण रूप से समावेश हो जाता है। निस्सन्देह, राजनीतिक और सैनिक शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर अशोक ने उस तथ्य को अनुभव किया जिसे वर्तमान युग के शासक एवं राजनीतिक नेता भी भलीभाँति नहीं समझ सके हैं। शस्त्र शक्ति द्वारा जो विजय प्राप्त की जाती है, उसमें लाखों मनुष्यों का संहार होता है, लाखों स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं, अनगिनत बच्चे अनाथ व असहाय हो जाते हैं, और अपार सम्पत्ति का विनाश होता है। साथ ही, ऐसी विजय स्थिर भी नहीं रह पाती। ये तथ्य हैं, जिन्हें कलिङ्ग की विजय के पश्चात् अशोक ने अनुभव किया था और यह निश्चय किया था कि अपनी शक्ति का उपयोग साम्राज्य विस्तार तथा युद्धों के लिये न किया जाए। अशोक एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। बङ्ग और कलिङ्ग से लगा कर हिन्दूकुश पर्वत माला तक और हिमालयसे आन्ध्र तथा कर्णाटक तकके सब प्रदेश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे। उस युग में कोई भी ऐसा राजा नहीं था, जिसका साम्राज्य मगध के साम्राज्य की तुलना में अधिक विशाल हो। अशोक की सैन्य शक्ति भी अद्वितीय थी। मगध की जिस सेना का वृत्तान्त सुनकर सिकन्दर को वितस्ता नदी के पूर्व में अग्रसर होने का साहस नहीं हुआ था, जिस सैन्य बल ने यवन आक्रान्ता सैल्युकस को न केवल परास्त ही किया था अपितु अपने राज्य के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को मौर्य चन्द्रगुप्त को प्रदान कर देने के लिये भी विवश कर दिया था, और जिसकी सहायता से प्रायः सम्पूर्ण भारत भूमि में एक सुव्यवस्थित साम्राज्य की स्थापना हो सकी थी, वह अशोक के अधीन थी। उसका उपयोग कर अशोक न केवल सुदूर दक्षिण के पाण्डच, केरल और सातियपुत्र राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर सकता था, अपितु हिन्दूकुश के पश्चिम के विभिन्न यवन राज्यों की भी विजय कर सकता था। यवनों की शक्ति इस समय सुसंगठित नहीं थी। सिकन्दर के पश्चात् मैसिडोनिया का विशाल साम्राज्य अनेक खण्डों में विभक्त हो चुका था। उसके भग्नावशेषों पर सीरिया, ईजिप्ट और मैसिडोनिया के तीन राज्य स्थापित हो गये थे। अशोक के लिये यह सर्वथा सम्भव था, कि वह इन सब को जीत कर अपने समय के सम्पूर्ण 'सभ्य' संसार को अपनी अधीनता में ले आए। सिकन्दर का अनुसरण कर वह भी 'विश्व-विजय' के लिये प्रवृत्त हो सकता था, और इसमें उसकी सफलता सुनिश्चित थी। पर उसने यह नहीं किया, क्योंकि कलिङ्ग की विजय के पश्चात्, उसने यह

समझ लिया था कि शस्त्र शक्ति द्वारा जो विजय की जाती है, वह स्थायी तथा वास्तविक विजय नहीं होती। इसके स्थान पर उसने धर्म विजय की नीति का अपनाया, और इसी द्वारा सुदूर दक्षिण के पाण्डच, केरल तथा सातियपुत्र राज्यों और हिन्दूकुश पर्वतमाला के पश्चिम के यवन राज्यों को अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में लाने का प्रयत्न किया। धर्म विजय की नीति को अपना कर अशोक ने इन सब प्रदेशों पर जो एक नये प्रकार की विजय स्थापित की, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस विजय में उसे सफलता भी प्राप्त हुई, और वह भारत का एक ऐसा 'धर्म साम्राज्य' स्थापित कर सकने में समर्थ हुआ, जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय था।

धर्मविजय की इस नई नीति के अनुसरण के कारण ही अनेक ऐतिहासिकों ने अशोक को संसार के सबसे बड़े महापुरुषों में स्थान दिया है। एच. जी. वेल्स ने ईसा, बुद्ध, अशोक, अरिस्टोरल, वेकन और लिंकन को इतिहास के प्रमुख छः पुरुष माना है। इतिहास में सिकन्दर, सीजर, पाञ्चू, समुद्रगुप्त आदि कितने ही बड़े-बड़े विजेता और शक्तिशाली सम्राट् हुए, पर इतिहास में उनका वह स्थान नहीं है जो अशोक का है। वेल्स ने ठीक ही लिखा है,कि "अठाईस वर्ष तक अशोक ने मनुष्यों की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यत्न किया। इतिहास के पृष्ठों में जिन हजारों सम्राटों, राजाओं, शासकों और सामन्तों के नाम भरे पड़े हैं,उनमें अकेला अशोक ही ऐसा है जो एक समुज्वल नक्षत्र के समान देदीप्यमान है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसका नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत–यद्यपि भारत ने इस समय उसके धार्मिक सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है—सर्वत्र उसकी महत्ता की परम्परा अब तक भी विद्यमान है। कान्स्टेन्टाइन और शार्लमेगन के नाम तक से भी जितने लोग परिचित हैं, उनसे बहुत अधिक आज भी अशोक की स्मृति को गौरव के साथ स्मरण करते हैं।" भारत के इतिहास में ही बहुत-से ऐसे राजा और विजेता हुए, जिन्होंने दिग्विजय द्वारा विशाल साम्राज्यों की स्थापना की। मानधाता,सगर,रघु, भरत, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, राजराज आदि सम्राटों ने साम्राज्य-विस्तार के कार्य में अनुपम सफलता प्राप्त की। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने तो हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर वाल्हीक देश पर भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया। पर आज इनके वीरकृत्यों की स्मृति तक भी जनता में नहीं पायी जाती। पर अशोक के कार्य-कलाप का प्रभाव अब तक भी विद्यमान है, और उसने जिस धर्मविजय की स्थापना की थी, वह इस समय तक भी नष्ट नहीं हुई है। सिकन्दर और सीजर जैसे विजेताओं ने जिन साम्राज्यों की स्थापना की थी, वे अस्थायी थे। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य सदियों तक कायम रहा, और उसके अवशेष अब तक भी जीवित-जागृत रूप में विद्यमान हैं। भारत में ही चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्तिशाली सेनाओं ने जिस मागध साम्राज्य का निर्माण किया था, एक सदी से भी कम समय में उसमें क्षीणता के चिह्न प्रगट होने प्रारम्भ हो गये थे। पर अशोक ने धर्म विजय की नीति का अनुसरण कर जिस धर्म साम्राज्य को कायम किया

था, सदियों तक वह स्थिर रहा। भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति का विदेशों में जो प्रचार हुआ और एशिया का बड़ा भाग जो भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ सका, उसका प्रधान श्रेय अशोक की नीति को ही दिया जाना चाहिये।

धर्मविजय की नीति का क्या अभिप्राय था, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इस नीति द्वारा अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न नहीं किया था। यदि वह चाहता, तो अपनी शक्ति का प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये कर सकता था। निस्सन्देह, उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। तथागत के अष्टाङ्गिक आर्य धर्म के प्रति उसकी अगाध आस्था थी। पर राजा के रूप में उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे अपने प्रिय धर्म के प्रति पक्षपात होता हो या उसे अनुचित लाभ पहुँचता हो। सब धर्मों, सम्प्रदायों और पाषण्डोंको उसने समान दृष्टि से देखा। अपने शिला लेखों में उसने बार-बार इस बात पर जोर दिया, कि सब सम्प्रदायों के अनुयायी एक साथ निवास करें, वाक्-संयम से काम लें, एक-दूसरे का आदर करें और दूसरे सम्प्रदायों को भी आदर की दृष्टि से देखें। दान करते हुए भी उसने श्रमणों और ब्राह्मणों में भेद नहीं किया। यह सही है, कि बौद्ध धर्म के प्रचार व उत्कर्ष में भी उसने हाथ बटाया। इसी प्रयोजन से उसने आचार्य उपगुप्त (मोद्ग-लिपुत्र तिस्स) की अध्यक्षता में बौद्धों की तृतीय संगीति का आयोजन किया, जिस द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को देश देशान्तर में धर्म प्रचार के लिये भेजा गया। बौद्धों के तीर्थस्थानों की भी उसने यात्रा की, और बहुत-से स्तूपों, चैत्यों और विहारों का भी निर्माण कराया। पर इन कार्यों के लिये उसने अपनी राजशक्ति का किस अंश तक प्रयोग किया, यह संदिग्ध है। इस सम्बन्ध में दिव्यावदान की वह कथा उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार जब अशोक ने राज्यकोश से भिक्षुसंघ को दान देना चाहा, तो मन्त्रियों ने उसे ऐसा नहीं करने दिया और वह केवल आधा आंवला ही संघ को दान रूप से दे सका, जिस पर उसका व्यक्तिगत स्वत्त्व था। धर्म विजय की जिस नीति का अनुसरण करने में अशोक तत्पर था, उसका प्रयोजन बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं था। वर्तमान समय के समान मौर्य युग में भी भारत में बहुत-से सम्प्रदायों की सत्ता थी। राजा की स्थिति में अशोक ने इन सबके प्रति एक समान बरताव करने का प्रयत्न किया। इसी कारण उसने बार-बार इस बात पर जोर दिया, कि सब सम्प्र-दायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। उसने इस तथ्य को अनुभव किया, कि प्रायः सभी सम्प्रदायों व पाषण्डों के मूल तत्त्व एक सदृश हैं। इन मूल तत्त्वों या धर्म के सार की वृद्धि या उत्कर्ष तभी सम्भव है, जबकि वाक्-संयम से काम लिया जाए। लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण अन्य सम्प्रदायों की निन्दा न करें। जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति से प्रेरित होकर दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है, वस्तुतः वह अपने सम्प्रदाय को ही हानि पहुँचाता है। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर अशोक ने अपने साम्राज्य में एक ऐसी नीति को अपनाया, जिसके कारण साम्प्रदायिक सहिष्णुता में वृद्धि हुई, और विविध सम्प्रदायों के अनुयायियों के लिये परस्पर मिलकर रह सकना सम्भव हुआ।

पड़ौस के राज्यों की धर्म द्वारा विजय के लिये अशोक ने वहाँ अनेकविध लोकोपकारी कार्यों का सूत्रपात किया। उसने वहाँ के मार्गों के साथ-साथ छायादार वृक्ष लगवाए, पियाऊ बिठाए, मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के प्रयोजन से चिकित्सालय स्थापित कराए, औषधियों की व्यावस्था की, कुएँ खुदवाए और इसी प्रकार के अन्य अनेक कार्य किये। उस युग के राजाओं तथा शासकों का जनता के हित-कल्याण के प्रति विशेष ध्यान नहीं था। वे प्रायः परस्पर युद्धों में व्यापृप्त रहा करते थे। सर्वसाधारण जनता के साथ उनका विशेष सम्पर्क नहीं था। उनके राजकर्मचारी भी जनता के हित-कल्याण पर ध्यान नहीं देते थे। इस दशा में जब अशोक द्वारा नियुक्त अन्त-महामात्रों और धर्म-महामात्रों ने सर्वसाधारण जनता के हित और सुख के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह उसके प्रति आकृष्ट हो, उसे अपना सच्चा संरक्षक व हितैषी मानने लगे और उसके धर्म एवं संस्कृति को आदर की दृष्टि से देखना प्रारम्भ करे। निस्सन्देह, यह एक नये प्रकार का साम्राज्य था जिसे अशोक ने स्थापित किया था, और इस नीति द्वारा उसने विदेशों पर जो विजय प्राप्त की थी वह वस्तुतः अनुपम थी।

यह सही है, कि अशोक ने धर्म विजय की जिस नीति को अपनाया, उससे बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। उस द्वारा नियुक्त अन्त-महामात्र और धर्म-महामात्र पड़ौस के राज्यों में भारतके प्रति एक ऐसी अनुकूल भावना उत्पन्न करने में समर्थ हो गये थे, जिसका लाभ बौद्ध धर्म के प्रचारक सुगमता के साथ उठा सकते थे। आचार्य उपगुप्त के नेतृत्त्व में आयोजित बौद्ध संगीतिने सुदूर दक्षिण के भारतीय राज्यों में, लंका में, हिमालय के प्रदेशों में और पश्चिम के यवन राज्योंमें बौद्ध भिक्षुओं को धर्म प्रचारके लिये प्रेषित करने का महान् आयोजन किया था। इन प्रचारकों का कार्य बहुत कठिन नहीं था, क्योंकि इन सब प्रदेशों में भारत के अनुकूल वातावरण तैयार हो चुका था। स्वीकार करना होगा, कि धर्मविजय की नीति बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई। पर साथ ही यह भी तथ्य है, कि अशोक की इस नीति का प्रयोजन बौद्ध धर्म का प्रचार करना नहीं था। वस्तुतः यह एक नये प्रकार की विजय थी, जो शस्त्र-विजय से बहुत भिन्न थी। अपने धर्म के प्रचार व उत्कर्ष के लिये अन्य भी अनेक शक्तिशाली राजाओं ने प्रयत्न किया। इसके लिये उन्होंने अपनी राजशक्ति का भी उपयोग किया। पर अशोक की नीति उनसे भिन्न थी। धर्मविजय करते हुए उसने किसी विशेष धर्म के प्रचार का प्रयत्न नहीं किया, अपितु एक ऐसी नीति को अपनाया जिसका उद्देश्य विदेशी जनता को अपने सांस्कृतिक प्रभाव में लाना था। इसमें उसे असाधारण सफलता भी प्राप्त हुई।

इतिहास में किन्हीं ऐसे राजाओं को ढूंढ सकना सुगम नहीं है, जिनके साथ अशोक की तुलना की जा सके। कतिपय ऐतिहासिकों ने उसकी तुलना सम्राट् कान्स्टेन्टाइन के साथ की है। यह रोमन सम्राट् अत्यन्त शक्तिशाली था, और उसका साम्राज्य भी बहुत विशाल था। उसने ईसाई धर्म को स्वीकार कर उसे रोमन साम्राज्य का राजधर्म बना दिया था।

उसके प्रयत्न से ईसाई धर्म के प्रसार में बहुत सहायता मिली थी, और शीघ्र ही सम्पूर्ण साम्राज्य में उसका प्रचार हो गया था। पर कान्स्टेन्टाइन और अशोक में बहुत भेद है। कान्स्टेन्टाइन ने राजनीतिक परिस्थितियों से विवश होकर ईसाई धर्म को अपनाया था। उसके पूर्ववर्ती रोमन सम्राटों ने ईसाई धर्म के प्रचारकों पर अमानुषिक अत्याचार किये थे। पर ईसाई प्रचारकों के त्याग, सेवाभाव तथा कष्टसहन का यह परिणाम था, कि रोमन साम्राज्य में उनके धर्म का निरन्तर उत्कर्ष होता जा रहा था, और कान्स्टेन्टाइन के समय तक वह इतनी प्रबलता प्राप्त कर चुका था कि किसी भी मानवीय शक्ति के लिये उसका प्रतिरोध कर सकना सम्भव नहीं रह गया था। यही कारण था, जो कान्स्टेन्टाइन ने उसके सम्मुख सिर झुका दिया और उसकी दीक्षा ग्रहण कर ली। वह एक दूरदर्शी सम्राट् था, और राजनीतिक प्रयोजन से ही उसने ईसाई धर्म को स्वीकार किया था। इसके कारण उसके प्रभाव में वृद्धि हुई, और वह अपने साम्राज्य में अपनी स्थिति को सुरक्षित व सुदृढ़ करने में सफल भी हुआ। पर राजशक्ति का आश्रय पाकर ईसाई धर्म की आन्तरिक शक्ति में कमी आनी प्रारम्भ हो गई। उसका कलेवर बढ़ता गया, पर आत्मा निर्बल होती गई। ईसाई प्रचारकों में वह त्याग और तप नहीं रह गया, जो पहले था। पर अशोक ने किसी राजनीतिक विवशता या लाभ के कारण बौद्ध धर्म को नहीं अपनाया था। उसके समय में बौद्ध धर्म कोई ऐसी शक्ति नहीं था, जिसका साहाय्य लेकर अशोक अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने की आशा रख सकता। बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से आकृष्ट होकर ही उसने इस धर्म को स्वीकार किया था। उसने इसके प्रचार के लिये राज शक्ति का उपयोग भी नहीं किया। अशोक ने बौद्ध धर्म को मागध साम्राज्य का राजधर्म भी नहीं बनाया। वह सब सम्प्रदायों का समान रूप से आदर करता था, और सबको दान पुण्य द्वारा संतुष्ट करता था।

कतिपय ऐतिहासिकों ने अशोक की तुलना रोमन सम्राट् मार्कस ओरिलियस के साथ की है। निस्सन्देह, इस रोमन सम्राट् का जीवन उच्च एवं पवित्र था। उसके उद्देश्य भी उच्च थे, और वह विद्वान् भी था। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता की दृष्टि से उसे अशोक के समकक्ष माना जा सकता है। पर वह सब धर्मों व सम्प्रदायों को समान दृष्टि से नहीं देखता था। ईसाइयों पर उसने अत्याचार करने में संकोच नहीं किया। उसकी दृष्टि भी बहुत संकुचित थी। रोमन साम्राज्य के पड़ौस में जो विभिन्न जातियां निवास करती थी, उन्हें वह वर्बर समझता था, और उन्हें समानता की स्थिति प्रदान करने के लिये उद्यत नहीं था। पर अशोक की भावनाएँ इससे सर्वथा भिन्न थीं।

मुगल बादशाह अकबर के साथ भी अशोक की तुलना करने का प्रयत्न किया गया है। यह सही है, कि अकबर धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु था। स्वयं इस्लाम का अनुयायी होते हुए भी उसने हिन्दुओं के प्रति समानता का बरताव किया, अपने राज्य में उन्हें ऊँचे पद दिये, गोहत्या का निषेध किया और हिन्दुओं पर से जजिया कर हटा दिया। वह यह भी अनुभव

करता था, कि सब धर्मों में सत्यता की सत्ता है। इसी कारण वह ऐसी सभाएँ किया करता था, जिनमें हिन्दू, मुसलमान, जैन और ईसाई आदि विविध धर्मों के विद्वान् एकत्र होते थे। अकबर उनके प्रवचनों को ध्यानपूर्वक सुना करता था। दीने–इलाही नाम से एक नये सम्प्रदाय का भी उसने सूत्रपात किया, जिसमें सब धर्मों के तत्त्वों का समावेश किया गया था। पर अकबर के साथ अशोक की तुलना करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अकबर एक चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था और वह यह भली भाँति समझता था कि हिन्दुओं की सद्भावना व सहयोग प्राप्त किये बिना वह भारत में अपना शासन स्थापित नहीं कर सकता। वह एक विजेता के रूप में भारत में प्रविष्ट हुआ था, और अफगान राजशक्ति को युद्ध में परास्त कर उसने दिल्ली के राजसिंहासन को प्राप्त किया था। भारत में जो मुसलिम शासक सदियों से शासन कर रहे थे, उन्हें परास्त कर अपना वशवर्ती बना सकना उसके लिये तभी सम्भव था, जबकि वह उनके विरुद्ध हिन्दू राजपूतों की सहायता प्राप्त कर सके। अतः उसकी धार्मिक नीति अनेक अंशों में राजनीतिक आवश्यकताओं पर आधारित थी। दीने-इलाही के रूप में जिस नये सम्प्रदाय का उसने सूत्रपात किया था, वह भी उसकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का परिणाम था। इस सम्प्रदाय का प्रधान आचार्य व गुरु भी वह स्वयं था। उसके इस सम्प्रदाय का अन्त उसकी मृत्यु के साथ ही हो गया, और वह भारत पर अपना कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सका।

यह स्वीकार करना होगा, कि संसार के इतिहास में अशोक ही एक ऐसा राजा हुआ है, जिसने कि अपनी अनुपम शक्ति का उपयोग अन्य देशों की शस्त्र-शक्ति द्वारा विजय में में करने के बजाय सर्वसाधारण जनता के हित व कल्याण के लिये किया, और विश्व के शासकों के सम्मुख एक नये आदर्श को उपस्थित किया।

(२) भारतीय इतिहास पर अशोक की नीति का प्रभाव

राजा अशोक ने धर्म विजय की जिस नीति को अपनाया था, भारत के इतिहास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा—इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार इस नीति के कारण भारतीयों ने क्षात्र धर्म की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया, वे निःशक्त होने लग गए और उनकी राजशक्ति में क्षीणता आनी प्रारम्भ हो गई। इसी का यह परिणाम हुआ, कि अशोक के जीवन काल में ही मागध साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लग गया, और काश्मीर का प्रदेश उससे पृथक् हो गया। बाद में गान्धार, आन्ध्र आदि अन्य अनेक प्रदेश भी उसकी अधीनता से मुक्त हो गये, और मौर्य शासनतन्त्र में वह शक्ति नहीं रह गई जो उन्हें अपने साथ रख सकती। इतना ही नहीं, अशोक के केवल २५ वर्ष पश्चात् यवन सेनाओं ने भारत पर आक्रमण करने शुरू कर दिये, और वे मध्यदेश में दूर तक प्रविष्ट होकर साकेत, माध्यमिका और पाटलिपुत्र तक को आक्रान्त

करने में समर्थ हो गईं। मौर्य चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में मगध की जिस शक्तिशाली सेना का संगठन हुआ था, अशोक की नीति के कारण वह इतनी अशक्त हो गई थी, कि वह यवन आक्रान्ताओं का सामना नहीं कर सकी।

डा० भाण्डारकर ने इस मत का विशद रूप से प्रतिपादन किया है। उनका कहना है, कि प्राचीन भारत में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्त्व समुचित रूप से संतुलित थे। भारत के विचारक जहाँ आध्यात्मिक विषयों पर ध्यान देते थे, वहाँ साथ ही वे राजनीति, सैन्य-शक्ति और भौतिक सुखों की भी उपेक्षा नहीं करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र से सूचित होता है, कि मौर्ययुग के प्रारम्भ के समय भारत में राजनीतिशास्त्र के चार सम्प्रदाय और सात आचार्यों की सत्ता थी। वार्ता या सम्पत्तिशास्त्र भी उस समय भली भाँति विकसित था। इसी कारण कौटल्य ने 'विद्यासमुद्देश' प्रकरण में वार्ता (सम्पत्तिशास्त्र) और दण्ड नीति (राजनीतिशास्त्र) का पृथक् विद्याओं के रूप में उल्लेख किया है। पर कौटल्य के बाद इन विद्याओं का विकास एक दम रुक गया। वाद के काल में इन विद्याओं का न कोई नया सम्प्रदाय विकसित हुआ, और न भारत में कोई ऐसा आचार्य ही हुआ जिसने इन विद्याओं के विकास के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किया हो। कामन्दक आदि जो कतिपय आचार्य वाद के काल में हुए, उन्होंने इन विषयों के चिन्तन में कोई मौलिकता प्रदर्शित नहीं की। इसका कारण यही था, कि अशोक की नीति के परिणामस्वरूप भारतीयों में धर्म और आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति वहुत वढ़ गई थी और ऐहलौकिक विषयों व विद्याओं को उन्होंने उपेक्षा की दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था।

राजनीतिक दृष्टि से भारत को एक सूत्र में संगठित करने की जिस प्रवृत्ति का प्रारम्भ मगध के राजाओं द्वारा किया गया था, अशोक की नीति के कारण उसमें भी बाधा उपस्थित हुई। राजा विम्विसार और उसके उत्तराधिकारियों के प्रयत्न से मगध का जनपद एक विशाल साम्राज्य का रूप प्राप्त कर चुका था, और उत्तर भारत के प्रायः सव प्रदेश उसके अन्तर्गत हो गये थे। भारत की राजनीतिक दशा और उसके कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था को दृष्टि में रख कर कौटल्य ने यह प्रतिपादित किया था, कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण जो भूमि है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है। चन्द्रगुप्त मौर्य की वीरता के कारण कौटल्य का यह स्वप्न क्रिया में भी परिणत हुआ, और भारत में एक ऐसा शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित हो सका, जो विदेशी आक्रान्ताओं को परास्त कर सकने में सर्वथा समर्थ था। विन्दुसार ने अपने पिता की नीति का अनुसरण किया, और दक्षिणा-पथ के वहुत-से राज्यों को जीत कर मागध साम्राज्य में सम्मिलित किया। शुरू में अशोक ने भी अपने पूर्वजों की नीति को अपनाया, और कलिङ्ग की विजय की। पर इस विजय के पश्चात् यदि धर्म विजय की धुन उस पर सवार न हो जाती और वह अपनी सैन्यशक्ति को शिथिल न होने देता, तो निश्चय ही मगध की सैन्यशक्ति और नीतिकुशलता सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप को एकच्छत्र शासन में ले आने में समर्थ हो जाती। सुदूर दक्षिण के विभिन्न राज्य भी

तव मगध के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये जाते, और हिन्दूकुश पर्वतमाला के पार के यवन प्रदेशों को भी मगध की अधीनता में लाया जा सकता। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत पहले ही एक हो चुका था। राष्ट्रीय एकता के सब तत्त्व उसमें विद्यमान थे। यदि अशोक चन्द्रगुप्त और विन्दुसार की नीति का अनुसरण करता, तो वह सम्पूर्ण देश में राजनीतिक एकता को स्थापित कर राष्ट्रीय एकता को भी सुगमता के साथ पूर्ण कर सकता था। इससे भारत में एकीकरण और केन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को वल मिलता, और भारत पूर्ण रूप से एक राष्ट्र वन जाता। इसी वात को श्री०काशी प्रसाद जायसवाल ने इस ढंग से प्रगट किया है--"यदि वह (अशोक) अपने पूर्वजों की नीति को जारी रखता, तो वह पर्शिया की सीमा से लगा कर कुमारी अन्तरीप तक के सम्पूर्ण जम्वूद्वीप को एकच्छत्र शासन में ला सकता था। यह एक ऐसा आदर्श है, जो उस समय से अव तक पूरा नहीं हो सका है। इतिहास के एक ऐसे समय में राजसिंहासन पर एक ऐसा व्यक्ति आरूढ़ था, जो किसी धार्मिक मठ की गद्दी के लिये अधिक उपयुक्त था। इसी का यह परिणाम हुआ, कि इतिहास की घटनाएँ न केवल सदियों अपितु सहस्राव्दियों के लिये पिछड़ गईं।" इसमें सन्देह नहीं, कि भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना का जो प्रयत्न मगध के राजाओं द्वारा प्रारम्भ किया गया था, और मौर्यों को जिसमें अनुपम सफलता भी प्राप्त हुई थी, अशोक की नीति के कारण उसका अधिक उत्कर्ष नहीं हो सका। अशोक ने उस सुवर्णीय अवसर को खो दिया, जिसका उपयोग कर वह सम्पूर्ण जम्वूद्वीप में एकच्छत्र शासन स्थापित कर सकता था। यह भी सही है, कि अशोक के वाद भारत की राजशक्ति में शिथिलता आने लग गई थी, और वह यवन आक्रान्ताओं का सामना कर सकने में असमर्थ रहा था। पर प्रश्न यह है, कि क्या इसके लिये अशोक की नीति को ही पूर्णतया उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? भारत के इतिहास में केन्द्रीभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों में सदा संघर्ष रहा है। यह एक अत्यन्त विशाल देश है, और इसमें बहुत-सी जातियों का निवास है। यद्यपि सांस्कृतिक एकता के अनेक तत्त्वों की इसमें सत्ता है, पर भाषा, धर्म, जाति आदि की अनेक ऐसी भिन्नताएँ भी यहाँ विद्यमान हैं जो इस देश की राजनीतिक एवं राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं। आधुनिक युग में जवकि मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है, और वैज्ञानिक उन्नति के कारण विविध प्रदेश एक-दूसरे के अत्यन्त समीप आ गये हैं, भारत की इन विभिन्नताओं के कारण अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियां बल पकड़ती रहती हैं। अतः यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि आज से सवा दो हजार वर्ष पूर्व जब कि मनुष्य के पास घोड़े से अधिक तेज चलने वाली कोई भी सवारी नहीं थी, और जब तार, टेलीफोन आदि के साधन भी विद्यमान नहीं थे—इस देश की राजनीतिक एकता चिरकाल तक स्थिर रह सकती। मगध के प्रतापी राजाओं ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह भारत की केन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों का परिणाम था। पर जो यह साम्राज्य देर तक कायम नहीं रह सका, उसका कारण अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियाँ ही थीं। काश्मीर, कलिङ्ग, आन्ध्र आदि सुदूरवर्ती प्रदेश जो

मगध की अधीनता से पृथक् होकर स्वतन्त्र हो गये, उसके लिये केवल अशोक की नीति को ही उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी राजाओं ने भी विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया था। वे भी जो स्थायी नहीं हुए, उसका कारण भी अकेन्द्रीभाव की ये प्रवृत्तियाँ ही थीं। गुप्तवंशी राजा क्षात्र बल और सैन्यशक्ति में विश्वास रखते थे। पर वे भी अपने साम्राज्यों को स्थायी नहीं बना सके।

पर्शिया, मैसिडोन और रोम के प्रतापी राजाओं ने जिन विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया था, वे भी देर तक कायम नहीं रह सके थे। उनमें कोई अशोक नहीं हुआ, और उनके किसी राजा ने धर्मविजय की नीति को अपनाकर शस्त्रबल की उपेक्षा नहीं की। पर प्राचीन काल में विशाल साम्राज्यों का देर तक स्थिर रह सकना सम्भव ही नहीं था। ये साम्राज्य प्रायः किसी एक प्रतापी व्यक्ति की शक्ति एवं प्रतिभा पर ही आश्रित थे। सिकन्दर की मृत्यु के साथ ही उसका साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और विशाल रोमन साम्राज्य में भी शीघ्र ही क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। यही प्रक्रिया मौर्य साम्राज्य के सम्बन्ध में भी हुई।

यह स्वीकार कर सकना भी सम्भव नहीं है, कि अशोक की नीति के कारण भारत में अध्यात्म व धर्म की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गईं, और यहाँ के निवासियों ने ऐहलौकिक विद्याओं तथा भौतिक सुखों की उपेक्षा प्रारम्भ कर दी। शुङ्ग और गुप्त वंश के राजाओं के शासन-काल में भारत में राजनीति, विधान शास्त्र, काव्य, स्थापत्य, भवन निर्माण और चित्रकला आदि का असाधारण रूप से विकास हुआ, और इन क्षेत्रों में भारतीयों ने बहुत उन्नति की।

भारतीय इतिहास पर अशोक की नीति के प्रभाव का विवेचन करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय धर्म एवं संस्कृति का जो देश देशान्तर में प्रसार हुआ और मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, लंका, बरमा आदि विविध देश भारत की सभ्यता के प्रभाव में आ गये, उसका श्रेय अशोक को ही दिया जाना चाहिये। उसी की नीति के कारण उस प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ, जिसने इन सब को भारत के उपनिवेशों व प्रभाव-क्षेत्रों के रूप में परिवर्तित कर दिया। बृहत्तर भारत के विकास में अशोक की नीति ही प्रधान कारण थी। यह सही है, कि मौर्य युग से पूर्व भी भारत का विदेशों के साथ सम्बन्ध विद्यमान था। इस देश के व्यापारी समुद्र तथा स्थल के मार्गों से भारतीय पण्य को सुदूर देशों में विक्रय के लिये ले जाया करते थे, और यहाँ के चिन्तक, मुनि और साधु भी अन्य देशों में आते-जाते रहते थे। पश्चिमी एशिया में अनेक स्थानों से ऐसे ठोस प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जिनसे प्राङ्-मौर्य युग में वहाँ भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति की सत्ता सूचित होती है। पर अशोक ने धर्मविजय की नीति को अपना कर ऐसे महान् प्रक्रम का प्रारम्भ किया, जिसके कारण न केवल पश्चिमी एशिया के यवन राज्यों में ही अपितु मध्य एशिया, चीन, बरमा आदि में भी भारतीय संस्कृति का सूत्रपात हुआ और धीरे-धीरे ये सब प्रदेश भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव-क्षेत्र या साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये। धर्म विजय की नीति के कारण इन

विदेशी राज्यों में भारत के अनुकूल जिस वातावरण का प्रादुर्भाव हुआ, उसी से लाभ उठा कर बौद्ध धर्म के स्थविरों और भिक्षुओं ने वहाँ भगवान् तथागत के अष्टाङ्गिक आर्य धर्म के प्रचार में अनुपम सफलता प्राप्त की। बाद में जब सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो भागवत शैव और भागवत वैष्णव धर्मों के आचार्यों और साधुओं ने भी बौद्ध स्थविरों का अनुसरण कर विदेशों में जाना प्रारम्भ किया, और वे भी इन्डोनीसिया, विएत-नाम, लाओस, कम्बोडिया, सियाम आदि देशों में अपने धर्म का प्रचार करने में सफल हुए। यह एक यथार्थ सत्य है, कि भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष में अशोक की नीति बहुत सहायक सिद्ध हुई।

अशोक धर्म के मामले में सहिष्णु था। उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, पर उसे राजकीय धर्म नहीं बनाया था। इसीलिये उसके उत्तराधिकारी मौर्य राजा धर्म के विषय में स्वतन्त्र रहे। राजा दशरथ की आजीवक सम्प्रदाय के प्रति भक्ति थी, और राजा सम्प्रति की जैन धर्म के प्रति। सम्प्रति के शासन काल में जैन धर्म का भी अन्य देशों में प्रचार हुआ, और उसके अनेक मुनि पर्शिया आदि में वर्धमान महावीर की शिक्षाओं के प्रसार में तत्पर हुए। मौर्य युग और उसके पश्चात् के काल में भारत के धार्मिक नेताओं ने सभ्य संसार के बड़े भाग को अपने धार्मिक व सांस्कृतिक प्रभाव में ले आने में जो असाधारण सफलता प्राप्त की, उसका श्रेय अशोक की धर्म विजय की नीति को अवश्य दिया जाना चाहिये। भारत के इतिहास पर अशोक की नीति के इस प्रभाव से इन्कार कर सकना सम्भव नहीं है।

पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि अशोक ने सैन्य शक्ति की उपेक्षा कर एक ऐसी स्थिति भी उत्पन्न कर दी, जिसके कारण भारत के लिये विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकना सम्भव नहीं रह गया। अशोक ने जिन उदात्त आदर्शों को सम्मुख रखकर शस्त्र विजय के स्थान पर धर्म विजय की नीति को अपनाया था, उसके उत्तराधिकारी मौर्य राजा उन्हें कायम रख सकने में समर्थ नहीं रहे। उन्होंने सैनिकों को भी धर्म विजय के लिये प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया, और धर्म विजय को एक मजाक का रूप प्रदान कर दिया। इसी लिये गर्ग संहिता में राजा शालिशुक को 'मोहात्मा' कहा गया है, और यह मोहात्मा (मूर्ख) शालिशुक 'धार्मिक' कही जाने वाली 'विजय' के लिये प्रवृत्त है, यह बात व्यङ्ग के साथ कही गई है। यदि ये धर्मविजयी मौर्य राजा धर्म विजय के लिये प्रयत्न करते हुए सैन्यशक्ति की भी उपेक्षा न करते, तो अशोक की मृत्यु के पश्चात् ही मौर्य साम्राज्य का पतन प्रारम्भ न हो जाता। "वह ब्रह्म-शक्ति है और यह क्षत्र-शक्ति। शास्त्र और शस्त्र-दोनों के उपयोग से हम अपना उत्कर्ष करते हैं," प्राचीन भारत का यह आदर्श अत्यन्त उच्च व क्रियात्मक है। यदि अन्तियोक, तुरुमय आदि यवन राजाओं के राज्यों में धर्म विजय की स्थापना करते हुए मौर्य राजा अपने शस्त्रबल पर भी समुचित ध्यान देते, तो अशोक के अन्तिम वर्षों में ही यवनों के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ न हो जाते और राजा शालिशुक

के शासन काल में मथुरा, साकेत आदि को आक्रांत करती हुई यवन सेनाएँ पाटलिपुत्र तक न पहुँच सकतीं। मौर्य साम्राज्य की सैन्यशक्ति जो इतनी अधिक क्षीण हो गई, उसमें अशोक द्वारा सैन्यबल की उपेक्षा भी एक प्रधान कारण थी। यह सही है, कि कोई भी साम्राज्य सदा के लिये कायम नहीं रह पाता। पर मौर्यों के कर्तृत्व व प्रताप के कारण जिस विशाल साम्राज्य का विकास हुआ था और जिसके रूप में प्रायः सम्पूर्ण भारत राजनीतिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से सुसंगठित हो गया था, उसका पतन इतने स्वल्प समय में कभी न होता, यदि अशोक और उसके उत्तराधिकारी धर्म विजय की धुन में क्षात्र बल और सैन्यशक्ति की उपेक्षा करना प्रारम्भ न कर देते।

सम्भवतः, इसी कारण भारत के तत्कालीन विचारकों ने अशोक की नीति को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा। कात्यायन मुनि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखते हुए 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६, ३, २१) सूत्र पर 'देवानां प्रिय इति च' वार्तिक लिखकर यह निर्दिष्ट किया, कि 'देवानां प्रिय' संज्ञा आक्रोश के लिये प्रयुक्त होने के कारण 'देवप्रिय' नहीं बनेगी। साधारणतया, 'देवानां' और 'प्रिय' इन दो शब्दों के साथ आने पर उनमें समास हो कर 'देवप्रिय' समस्त पद बन जाना चाहिये। पर जब इन शब्दों का प्रयोग आक्रोष को सूचित करने के लिये किया जाए, तो उनमें समास न हो कर वे पृथक् पृथक् 'देवानां प्रिय' ही रहेंगे, 'देवप्रिय' नहीं। कात्यायन मुनि पाणिनि के पश्चात् और महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि से पहले हुए थे। सम्भवतः, उनका काल मौर्य वंशी राजाओं के शासन काल के अन्तिम चरण में था, जबकि यवनों ने भारत के मध्य देश को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था। अशोक अपने नाम के साथ 'देवानां प्रियः' विरुद का प्रयोग किया करते थे। कात्यायन की दृष्टि में अशोक की नीति आक्रोश के योग्य थी। यही भावना एक अन्य प्राचीन लेखक द्वारा भी प्रगट की गई है, जिसने यह लिखा है कि राजाओं का कार्य सिर मुंडा कर रहना या जटा धारण करना नहीं है, अपितु दुष्टों का निग्रह करना है।[1] सम्भवतः, यह भी अशोक के प्रति व्यङ्ग रूप से ही कहा गया है। यह कहा जा सकता है, कि कात्यायन आदि के ये वचन सनातन वैदिक धर्म के अनुयायियों के बौद्ध धर्म के प्रति विद्वेष के परिचायक हैं। पौराणिक हिन्दू बौद्ध धर्म के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सके थे, और उन्होंने इस धर्म के संरक्षक अशोक सदृश राजाओं के प्रति अपने विरोध को प्रगट करने के लिये ही इस रुख को अपनाया था। पर प्राचीन हिन्दू साहित्य में बौद्ध धर्म एवं उसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध के प्रति कुवचनों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है। अतः अशोक के प्रति जो इस प्रकार के व्यङ्ग किये गये, उनका कारण बौद्ध धर्म से विद्वेष को नहीं माना जा सकता। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व के अन्तिम चरण में यवनों द्वारा भारत को जिस ढंग

---

१. **"राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनञ्च धर्मो न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणं वा" नीतिवाक्यामृत में उद्धृत।**

से पदाक्रान्त किया जा रहा था, और मगध की राजशक्ति जो उनके सम्मुख सर्वथा असहाय हो गई थी, उसे प्रत्यक्ष रूप से देख कर यदि इस देश के कतिपय चिन्तकों ने अशोक की नीति को अनुचित माना हो और उसे ही भारत की दुर्दशा का प्रधान कारण ठहराया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मौर्य युग में भारत में अनेक सम्प्रदायों व पाषण्डों की सत्ता थी। इनमें परस्पर विरोध व विद्वेष की भावना भी विद्यमान थी। अशोक चाहता था, कि विविध सम्प्रदायों के अनुयायी समवाय (मेलजोल) से एक साथ रहे, वाक्संयम से काम लें और सबके धर्मगुरुओं का सम्मान करें। अपनी धर्मलिपियों में उसने बार-बार इस बात पर जोर भी दिया था। पर अपने इस उद्देश्य में भी वह सफल नहीं हो सका। ब्राह्मणों और श्रमणों में विरोध व विद्वेष पूर्ववत् जारी रहे। इसी कारण अष्टाध्यायी के सूत्र "एषां च विरोधः शाश्वतिकः" (२।४।१२) पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने शाश्वतिक विरोध के जो उदाहरण दिये, उनमें 'अहिनकुलम्' (सांप और नेवला) के साथ 'श्रमणब्राह्मणम्' भी उल्लिखित किया, जो पौराणिक धर्म और बौद्ध धर्म में उस शाश्वतिक विरोध का परिचायक है, जो मौर्य युग के ह्रास काल में विद्यमान था। यदि भारत के विविध सम्प्रदायों और पाषण्डों में सौमनस्य स्थापित करने के अपने उद्देश्य में अशोक सफल हुआ होता, तो उसकी मृत्यु के केवल आधी सदी पश्चात् ही पतञ्जलि मुनि ब्राह्मणों और श्रमणों के शाश्वतिक विरोध को इस ढंग से कदापि सूचित न करते। इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक एक आदर्शवादी नीति का प्रयोग करने में तत्पर था, पर उसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई, यह स्वीकार कर सकना कठिन है। यही कारण है, जो भारत में अशोक की स्मृति देर तक कायम नहीं रही। प्राचीन साहित्य और लोक कथाओं में कहीं भी उसकी स्मृति के चिह्न नहीं पाये जाते। उसकी स्मृति यदि कहीं सुरक्षित है, तो वह या तो बौद्ध साहित्य में है, और या उसके स्तूप, स्तम्भ आदि के अवशेषों में।

तेईसवाँ अध्याय

मौर्य युग के भग्नावशेष

(१) अशोक के कर्तृत्व की स्मृतियाँ

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा अशोक ने बहुत-से स्तूपों, चैत्यों, विहारों और भवनों का निर्माण कराया था। दिव्यावदान में लिखा है, कि अशोक ने चौरासी हजार स्तूप बनवाये थे।[1] यही अनुश्रुति महावंसो में भी पायी जाती है। वहाँ लिखा है कि अशोक द्वारा चौरासी हजार धर्मस्कन्ध तथा विहार बनवाये गये थे।[2] चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने भी इस अनुश्रुति को दोहराया है।[3] समय के प्रभाव से ये स्तूप व विहार अब प्रायः नष्ट हो चुके हैं। परन्तु अब से सदियों पूर्व जब चीनी यात्री भारत आये थे, तो उन्होंने इनका अवलोकन किया था। इनके लिखे विवरणों से सूचित होता है, कि अशोक विषयक ये अनुश्रुतियाँ सर्वथा निराधार नहीं हैं। यद्यपि इनमें अतिशयोक्ति से काम लिया गया है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक ने बहुत-से स्तूपों तथा विहारों का निर्माण कराया था।

पाँचवीं सदी के पूर्वार्धमें जब फाइयान भारत-यात्रा के लिये आया था, तो उसने अशोक की अनेक कृतियों को देखा था। यद्यपि उस समय अशोक को अपनी जीवन लीला समाप्त किये सात सदियों के लगभग समय बीत चुका था, पर तब भी ये कृतियाँ अच्छे रूप में विद्यमान थीं। फाइयान ने लिखा है––"पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) अशोक राजा की राजधानी था। नगर में अशोक का प्रासाद और सभा भवन है। सब असुरों के बनाये हैं। पत्थर चुन कर भीत और द्वार बनाये गये हैं। सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अब तक वैसे ही हैं।[4]"

ह्यएन्त्सांग ने अशोक की कृतियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसके अनुसार कपिशा (गान्धार) में पीलुसार स्तूप की सत्ता थी, जो ऊँचाई में १०० फीट था। उसके तीन ली पूर्व में नगरहार नामक स्थान पर ३०० फीट ऊँचा एक अन्य स्तूप था, जिसे भी अशोक ने बनवाया था। पुष्कलावती (गान्धार) में एक संघाराम की सत्ता थी, जिसके समीप कई सौ फीट ऊँचा एक स्तूप भी था। तक्षशिला में १०० फीट ऊँचा एक स्तूप विद्यमान था,

---

१. Cowell and Neil : Divyavadan p 429

२. महावंसो ५।८० और ५।१७४-७५

३. Beal : Buddhist Records of the Western World, Book VIII, p. 94

४. जगमोहन वर्मा––फाइयान पृ० ५८

जो दो पहाड़ियों के दर्रे के वीच में निर्मित था। तक्षशिला में जहाँ कुमार कुनाल को अन्धा किया गया था, वहाँ भी एक स्तूप की सत्ता थी। इसी प्रकार काश्मीर, स्थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, कौशाम्वी, विशाखा, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली, पाटलिपुत्र, वोधगया, ताम्रलिप्ति आदि नगरों में अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों, संघारामों व विहारों का का ह्युएन्त्सांग ने उल्लेख किया है, जिन्हें उसने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। अशोक की ये कृतियाँ सातवीं सदी में भी विद्यमान थीं, और ह्युएन्त्सांग ने धर्म-स्थानों के रूप में इनका दर्शन किया था।

कल्हण ने काश्मीर की राजधानी श्रीनगर की स्थापना का श्रेय भी अशोक को प्रदान किया है। राजतरङ्गिणी के अनुसार वितस्ता नदी के तट पर अशोक द्वारा जिस श्री-नगरी का निर्माण कराया गया था, उसमें ९६ लाख घर थे जो सब लक्ष्मी से समुज्वलित थे। निस्सन्देह, यहाँ कल्हण ने अतिशयोक्ति से काम लिया है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि काश्मीर में भी अशोक ने वहुत-से धर्मारण्य, विहार, चैत्य और स्तूप बनवाये थे जिनका उल्लेख राजतरङ्गिणी में पाया जाता है।[1] ह्युएन्त्सांग के अनुसार अशोक ने काश्मीर में ५०० संघराम बनवाये थे, जिन्हें उसने भिक्षुओं को दान कर दिया था।

अशोक द्वारा निर्मित अनेक स्तम्भ इस समय भी पाये जाते हैं, साथ ही वे शिलाखण्ड भी जिन पर उसने अपनी धर्मलिपियाँ उत्कीर्ण करायी थीं। दुर्भाग्यवश, अब न उस द्वारा निर्मित वह प्रासाद ही विद्यमान है और न सभाभवन ही, जिनका फाइयान ने अवलोकन किया था और जिन्हें देखकर वह चमत्कृत रह गया था। पर उसके वनवाये हुए अनेक स्तूप अव भी जीर्ण दशा में पाये जाते हैं, यद्यपि बाद के राजाओं ने उनमें वृद्धि भी की थी।

(२) पाटलिपुत्र

मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र नगरी थी। मैगस्थनीज के अनुसार इसका निर्माण एक समानान्तर चतुर्भुज के रूप में किया गया था, जिसकी लम्वाई ९½ मील थी, और चौड़ाई १ मील और १२७० गज। नगरी के चारों ओर लकड़ी की एक दीवार बनी हुई थी, जिसके वीच में तीर चलाने के लिये बहुत-से छेद बने हुए थे। दीवार के चारों ओर एक खाई थी, जो ६० फीट गहरी और ६०० फीट चौड़ी थी। नगरी में आने-जाने के लिये ६४ द्वार थे। दीवार पर बहुत-से बुर्ज भी बने हुए थे, जिनकी संख्या ५७० थी। निस्सन्देह, मौर्य युग का पाटलिपुत्र एक विशाल नगर था, जिसका क्षेत्रफल २२॥ वर्गमील के लगभग था। यह नगर गंगा और सोण नदियों के संगम पर स्थित था, यद्यपि इसका विस्तार गंगा की अपेक्षा सोण नदी के तट के साथ-साथ अधिक था। महाभाष्य से यह बात सूचित होती है,

---

१. राजतरङ्गिणी—१।१०२-१०४

कि प्राचीन पाटलिपुत्र सोण के तट पर बसा हुआ था।[1] फाइयान को गंगा तट से पाटलिपुत्र पहुँचने के लिये पाँच मील की यात्रा करनी पड़ी थी। इससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

मैगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के चारों ओर की खाई (परिखा) ६०० फीट चौड़ी थी, जो दुर्ग रूपी नगर की रक्षा के लिये काम आने के साथ-साथ शहर के गन्दे पानी को बहाने के लिये भी प्रयुक्त की जाती थी। ६०० फीट चौड़ी परिखा की सत्ता असंगत नहीं है। कौटलीय अर्थशास्त्र में यह विधान किया गया है कि दुर्ग के चारों ओर तीन परिखाएँ होनी चाहिये, जिनकी चौड़ाई क्रमशः ८४, ७२ और ६० फीट हो, और प्रत्येक परिखा के बीच में ६ फीट का अन्तर रहे।[2] इस प्रकार तीनों परिखाओं की चौड़ाई २१८ फीट हो जाती है। यदि साधारण दुर्गों के लिये परिखा का इतना चौड़ा होना कौटल्य को अभिप्रेत था, तो साम्राज्य की राजधानी की परिखा यदि ६०० फीट चौड़ी रखी गई हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वर्तमान पटना में रेलवे लाइन के साथ-साथ अनेक स्थानों पर जो नीची जमीन है, वह सम्भवतः इस प्राचीन परिखा की ही परिचायक है। मौर्य युग में इसी स्थान पर पाटलिपुत्र की परिखा विद्यमान थी। उदय जातक में लिखा है, कि दुर्ग के चारों ओर की तीन परिखाओं में से एक जल से परिपूर्ण हो, एक कर्दम (कीचड़) से भरी हो, और एक सूखी हो। सम्भवतः, पाटलिपुत्र की एक परिखा भी कर्दम से परिपूर्ण थी। इसी लिये गार्गी संहिता में कर्दम से भरी हुई पाटलिपुत्र की परिखा का संकेत विद्यमान है।[3] परिखा के भीतर पाटलिपुत्र में जो प्राचीर (दीवार) थी, मैगस्थनीज़ के अनुसार वह काष्ठ द्वारा बनी हुई थी। यद्यपि कौटल्य ने लिखा है, कि दुर्ग की प्राचीर मिट्टी की बनी हुई होनी चाहिये, पर पाटलिपुत्र की प्राचीर लकड़ी की ही थी। पटना में जो खुदाई गत वर्षों में हुई है, उस द्वारा काष्ठ निर्मित इस दीवार के अनेक भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। ये अवशेष लोहनीपुरा, बुलन्दीबाग, बहादुरपुर, कुमराहार, महाराज खण्ड, सेवई टैंक और गांधी टैंक नामक स्थानों से मिले हैं। १९२६-२७ में बुलन्दीबाग में जो खुदाई की गई थी, उसमें इस प्राचीर का एक अंश उपलब्ध हुआ, जो लम्बाई में २५० फीट है। यहाँ लकड़ी के खम्बों की दो पंक्तियाँ पायी गईं, जिनके बीच में १४॥ फीट का अन्तर है। खम्बों की ऊँचाई जमीन की सतह से १२ फीट ऊपर है, और ५ फीट नीचे। इन्हें सीधा खड़ा करने के लिये नीचे जमीन को कंकरों द्वारा पक्का किया गया था, और उस पर लकड़ी के मोटे तख्तों का प्लेटफार्म बनाया गया था। खम्बे इस प्लेटफार्म पर मजबूती के साथ खड़े किये गये थे। खम्बों की पंक्तियों के बीच में जो अन्तर है, उसे लकड़ी के सलीपरों से ढका गया था। इस

१. "अनुगंगं हस्तिनापुरम्। अनुगंगं वाराणसी। अनुसोणं पाटलिपुत्रम्।" महाभाष्य, सूत्र २।१।१६

२. कौटलीय अर्थशास्त्र ३।२

३. "ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।" गार्गी संहिता (युगपुराण) ९७

प्रकार प्राचीर के बीच में १४।। फीट चौड़ा एक मार्ग बन गया था, जिससे आना-जाना हो सकता था। खम्बों के ऊपर भी शहतीर जड़े हुए थे। ऐसा एक शहतीर बुलन्दीबाग के अवशेषों में उपलब्ध भी हुआ है। इन शहतीरों के कारण प्राचीर के ऊपर एक चौड़ा मार्ग भी बन गया था, जिस द्वारा सारे प्राचीर पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकना सम्भव था। सम्भवतः, इसी को कौटलीय अर्थशास्त्र में 'देवपथ' कहा गया है। पाटलिपुत्र का यह प्राचीर अत्यन्त प्रसिद्ध व दर्शनीय था। पतञ्जलि मुनि के महाभाष्य में भी इस प्राकार या प्राचीर का उल्लेख मिलता है।

मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के प्राचीर में ५७० बुर्जों की सत्ता का उल्लेख किया है। क्योंकि इस नगरी की परिधि २२।। मील के लगभग थी, अतः दो बुर्जों के बीच में २२० फीट का अन्तर था। इन बुर्जों से धनुर्धर सैनिक शत्रुसेना पर बाणों की वर्षा कर सकते थे, और इस प्रकार नगर की रक्षा के लिये उनका बहुत उपयोग था। प्राचीर में बहुत-से छेद भी इस प्रयोजन से बनाये गये थे, ताकि उन द्वारा बाण फेंके जा सकें। मैगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र में आने-जाने के लिये ६४ तोरणों या द्वारों की सत्ता थी। ऐसे एक तोरण के अवशेष बुलन्दीबाग की खुदाई में उपलब्ध भी हुए हैं। इसके जो अवशेष मिले हैं, उनकी ऊँचाई १३ फीट है,और उनसे यह भी अनुमान किया जाता है कि ये तोरण १४ फीट चौड़े थे।

पाटलिपुत्र की खुदाई द्वारा चन्द्रगुप्त या अशोक के राजप्रासाद के कोई अवशेष अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के प्रासाद का सुगाङ्ग नाम से उल्लेख मिलता है। यह नाम उसे सम्भवतः इस कारण दिया गया था, क्योंकि वह गङ्गा के तट पर स्थित था। कुछ विद्वानों का मत है, कि यह प्रासाद ख्वाजा कलाम घाट के सामने सदर गली के समीप विद्यमान था। इस कल्पना का कारण यह है, कि इस स्थान से कतिपय मौर्यकालीन स्तम्भ उपलब्ध हुए हैं।

यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र में दुर्गरूपी नगर के बीच के राजमार्गों व अन्य सड़कों का विशद रूप से वर्णन किया गया है, पर पाटलिपुत्र की खुदाई से मौर्य युग के किन्हीं मार्गों के चिह्न या अवशेष अभी नहीं मिले हैं। पर बुलन्द बाग में जो खुदाई गत वर्षों में हुई है, उसमें जल को निकालने वाली नालियों (Drainage) की सत्ता के प्रमाण अवश्य प्राप्त हो गये हैं। ऐसी एक नाली वहाँ मिल गई है, जो ४० फीट लम्बी है। यह भी लकड़ी से बनायी गई है, और प्राचीर के धरातल से १० फीट नीचे इसका निर्माण किया गया है। इससे सूचित होता है, कि मौर्य युग में जमीन के नीचे ऐसी नालियाँ बनायी जाती थीं, जिनके द्वारा गन्दा पानी शहर से बाहर ले जाया जाता था। बुलन्दी बाग में जो नाली मिली है, वह चौड़ाई में ३।। फीट और ऊँचाई में ६¾ फीट है। इसका निर्माण करने के लिये काष्ठ-

---

१. "अवयवशो हि आख्यानं व्याख्यानम्। पाटलिपुत्रं चावयवशो व्याचष्टे ईदृशा अस्य प्राकारा इति।" ४।३।१६

स्तम्भों की दो पंक्तियाँ बनायी गई हैं, जिनका प्रत्येक स्तम्भ ऊँचाई में १० फीट है। इन स्तम्भों को लकड़ी के भारी सलीपरों से जोड़ा गया है। सलीपरों के बीच में जो दराज आ जाती है, उसे बन्द करने के लिये लकड़ी के भारी तख्ते जड़े गये हैं। इसी प्रकार स्तम्भों और सलीपरों के बीच की दराजों को बन्द करने के लिये भी भारी तख्तों का उपयोग किया गया है। तख्ते तथा स्तम्भ अपने स्थान पर रहें, इसके लिये सुदृढ़ काष्ठफलक लगाये गये हैं, जिन्हें मजबूत व भारी लोहे की कीलों से जोड़ा गया है। जहाँ कहीं स्तम्भों, सलीपरों और काष्ठफलकों में जोड़ हों, उनमें से पानी न बह सके, इस प्रयोजन से उन पर लोहे की पतरियाँ जड़ दी गई हैं, जो चौड़ाई में तीन इञ्च के लगभग हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग के पाटलिपुत्र में जमीन के नीचे ऐसी नालियों का जाल-सा बिछा हुआ था, जिनसे होकर शहर का गन्दा पानी बाहर परिखा में डाला जा सकता था।

कुमराहार की खुदाई में एक विशाल भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसमें ८० स्तम्भ थे। कुमराहार की स्थिति वर्तमान पटना के दक्षिण में बड़ी सड़क के समीप है। १९१२-१४ में यहाँ डी०बी० स्पूनर द्वारा खुदाई करायी गई थी,और १९५१ में यहाँ काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा पुनः खुदाई करायी गई। इस प्राचीन भवन के ७२ स्तम्भ स्पूनर द्वारा ही प्राप्त कर लिये गये थे। १९५१ की खुदाई में शेष ८ स्तम्भ भी उपलब्ध हो गये। ये स्तम्भ भग्न दशा में हैं, अतः इनकी ऊँचाई के सम्बन्ध में मतभेद है। स्पूनर का अनुमान था, कि ये स्तम्भ अपनी मूल दशा में २० फीट ऊँचे थे। पर डा० अल्तेकर का मत है,कि इनकी ऊँचाई ३२.५ फीट थी। आधार पर इनकी परिधि ७.६२ फीट है, जो धीरे-धीरे क्रमशः कम होती गई है। इन्हें सीधा खड़ा करने के लिये लकड़ी के आधार बनाये गये थे, जो ४॥ वर्ग फीट थे। इन काष्ठ-आधारों के नीचे ६ इन्च मोटी नीली मिट्टी उसी ढंग से प्रयुक्त की गई है, जैसे कि वर्तमान समय में सीमेन्ट-कंक्रीट की जाती है। इस विशाल भवन का फर्श और छत लकड़ी के थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्यों के पश्चात् के किसी काल में इस भवन में आग लग गई, और लकड़ी से बने ये फर्श और छत भस्मसात् हो गये। यही कारण है, जो इस भवन का सम्पूर्ण क्षेत्र राख से परिपूर्ण है जिसकी सतह छः इन्च मोटी हो गई है। बीच-बीच में जली हुई लकड़ियों के टुकड़े और कोयले भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा, कि जब यवन या कुशाण सेनाओं द्वारा पाटलिपुत्र आक्रान्त हुआ, तभी मौर्यों का विशाल भवन भी जो कि सम्भवतः सभा-भवन के रूप में प्रयुक्त किया जाता था, भस्म कर दिया गया। इस भवन की लम्बाई १४० फीट थी, और चौड़ाई १२० फीट। स्पूनर द्वारा पाटलिपुत्र की खुदाई में जिन स्तम्भों को प्राप्त किया गया था, उनमें से एक स्तम्भ का नीचे का भाग प्रायः अविकल दशा में है। अशोक के अन्य स्तम्भों के समान वह भी बलुए पत्थर का बना है, और वैसा ही चिकना है। उस पर भी सुन्दर चमकदार ओप विद्यमान है। अन्य स्तम्भ अत्यन्त भग्न दशा

में हैं। स्तम्भों की दूरी को दृष्टि में रखकर यह अनुमान किया गया है, कि मौर्य युग का यह भवन लम्बाई में १४० फीट और चौड़ाई में १२० फीट था। यह विशाल भवन प्रायः उसी प्रकार का था, जैसा कि प्राचीन पर्शिया की राजधानी का शत-स्तम्भ मण्डप था, जिसके अवशेष पर्सिपोलिस में अब भी विद्यमान हैं। पर्सिपोलिस नगरी पर्शिया के हखामनी सम्राटों की राजधानी थी।

मौर्य युग का कोई राजप्रासाद या उनके अवशेष पाटलिपुत्र की खुदाई में अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। पर अभी बहुत खुदाई शेष है। सम्भवतः, भविष्य में इनके अवशेष भी प्राप्त हो जाएँ। फाइयान जब भारत की यात्रा करते हुए पाटलिपुत्र आया था, तो उसने अशोक के राजप्रासाद को अपनी आँखों से देखा था। यह प्रासाद पत्थरों द्वारा निर्मित था, अतः अग्नि द्वारा भस्म नहीं हुआ होगा।

जिस विशाल भवन का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके उत्तर-पूर्व में लकड़ी द्वारा निर्मित बड़े-बड़े प्लेटफार्मों के अवशेष भी मिले हैं। ये प्लेटफार्म भवन के साथ-साथ तक ही हैं, आगे नहीं। सम्भवतः, इनका निर्माण एक विशाल जीने (सीढ़ी) के आधार के रूप में किया गया था। जीने की प्रत्येक पौढ़ी २४ फीट लम्बी और ६ इन्च ऊँची थी। भवन के साथ एक ओर एक नहर भी बहती थी, जो सोण नदी से निकाली गई थी। लकड़ी के ये प्लेटफार्म इस नहर पर ही बनाये गये थे। सम्भवतः, इनका प्रयोजन यह था, कि नहर से नौकाओं द्वारा सभा-भवन में आने वाले नागरिक इनसे होकर जीने पर पहुँच सकें और वहाँ से सभा-भवन में।

पाटलिपुत्र की खुदाई में बहुत-से सिक्के, गहने, खिलौने, मिट्टी की मूर्तियाँ और प्रस्तर-स्तम्भों के अवशेष भी मिले हैं, जो दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग के माने जाते हैं।

(३) साञ्ची

मौर्य युग की कृतियों में साञ्ची के स्तूप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी स्थिति मध्य-प्रदेश में विदिशा के समीप है। साञ्ची का प्राचीन नाम सम्भवतः काकनद था। महावंसो में जिस चैत्यगिरि का उल्लेख है और जिसके साथ अशोक के जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध था, वह सम्भवतः साञ्ची ही था। इस स्थान पर जो स्तूप वर्तमान समय में विद्यमान है, वह अत्यन्त विशाल है। आधार के समीप इसका व्यास १०० फीट है। पूर्णावस्था में इसकी ऊँचाई ७७ फीट के लगभग थी। जिस रूप में यह स्तूप आजकल विद्यमान है, उसमें इसका ऊपर का भाग कुछ टूट गया प्रतीत होता है। स्तूप लाल रंग के लाल पत्थर से बना है। यह अर्धमण्डलाकार (अंड) रूप से बना हुआ है, और इसके चारों ओर एक ऊँची मेधि है जो प्राचीन समय में प्रदक्षिणा-पथ का काम देती थी। इस प्रदक्षिणापथ तक पहुँचने के लिये स्तूप के दक्षिणी भाग में एक दोहरी सोपान है। सम्पूर्ण स्तूप के चारों ओर भूमि के समतल के साथ-साथ एक अन्य प्रदक्षिणा-पथ है जो पत्थर से बनी हुई पाषाणवेष्टनियों से

परिवेष्टित है। यह वेष्टनी बहुत ही सादे ढंग की है, और किसी प्रकार की पच्चीकारी आदि से खचित या चित्रित नहीं है। यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त है जिन्हें चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से पृथक् करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं। इनसे बौद्धधर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है।

पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल और ऐतिहासिक स्मिथ का मत है, कि साञ्ची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है। इसका निर्माण अशोक के एक सदी के लगभग बाद में हुआ था। अशोक के समय यहाँ ईंटों से बना एक सादा स्तूप था, जिसे बढ़ा कर बाद में वर्तमान रूप प्रदान किया गया। साञ्ची का प्रदेश शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र के साम्राज्य के अन्तर्गत था, जो द्वितीय शताब्दी ई. पू. के प्रथम चरण में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। पुष्यमित्र बौद्ध धर्म का विरोधी और वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक था। अतः यह स्वीकार कर सकना कठिन है, कि साञ्ची के वर्तमान स्तूप का निर्माण पुष्यमित्र शुङ्ग या उसके पश्चात् के काल में हुआ। सम्भवतः, मौर्य वंश के अन्तिम राजाओं के शासन काल में ही इस स्तूप ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर लिया था।

साञ्ची के भग्नावशेषों में एक अन्य कृति उपलब्ध हुई है जिसे सुनिश्चित रूप से अशोक के समय का माना जाता है। स्तूप के दक्षिण द्वार पर एक प्रस्तर-स्तम्भ के अवशेष मिले हैं, जो इस समय भग्न दशा में हैं। समझा जाता है कि शुरू में यह स्तम्भ ४२ फीट ऊँचा था। इसके शीर्ष भाग पर भी उसी ढंग की सिंह मूर्तियाँ हैं, जैसी कि सारनाथ के स्तम्भ पर हैं। अब ये मूर्तियाँ भग्न हो गई हैं, पर भग्नावस्था में भी ये अशोक युग की कला की उत्कृष्टता का स्मरण दिलाती हैं। सम्भवतः, साञ्ची का यह स्तम्भ भी अपने असली रूप में सारनाथ-स्तम्भ के सदृश ही था। साञ्ची-स्तूप के चैत्यमण्डप के अधोभाग को भी निश्चित रूप से मौर्य काल का माना जाता है।

(४) सारनाथ, तक्षशिला और भरहुत

वाराणसी के समीप सारनाथ नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ तथागत बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्राचीन अवशेष वहाँ उपलब्ध हुए हैं, जिनमें सबसे पुराने अशोक के समय के हैं। इनमें प्रस्तर-स्तम्भ सबसे अधिक महत्त्व का है। इसकी कला की उत्कृष्टता पर अगले प्रकरण में विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा। सारनाथ में अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाण-वेष्ठनी भी उपलब्ध हुई है, जो वहाँ के बौद्ध विहार के प्रधान चैत्य के दक्षिण वाले गृह में ईंटों के एक छोटे स्तूप के चारों ओर लगायी हुई निकली है। यह सम्पूर्ण पाषाणवेष्टनी एक ही प्रस्तर खण्ड से बनायी गई है, और इसमें कहीं भी जोड़ नहीं है। पाषाणवेष्टनी बहुत ही सुन्दर,

चिकनी तथा चमकदार है। इसे बनाने का खर्च सवहिका नाम के किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया था, जिसका नाम पाषाणवेष्टनी पर उत्कीर्ण है। सारनाथ में कतिपय ऐसी प्रस्तर मूर्तियों के खण्ड भी प्राप्त हुए हैं, चमकदार ओप होने के कारण जिन्हें मौर्य युग का स्वीकार किया जाता है।

तक्षशिला गान्धार जनपद की राजधानी थी, और बौद्ध युग में एक शिक्षा केन्द्र के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध थी। कुमारावस्था में अशोक यहाँ का शासक भी रह चुका था। इस नगरी के प्राचीन स्थान पर जो खुदाई की गई है उसमें बहुत-से प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से दो निश्चित रूप से मौर्य युग के हैं। ये अवशेष आभूषणों के रूप में हैं, जो भिड़ नामक स्थान से मिले हैं। साथ में सिकन्दर सदृश ग्रीक राजाओं के कुछ सिक्के तथा कतिपय प्राचीन मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं। मौर्यकाल के ये आभूषण कला की उत्कृष्टता के अनुपम उदाहरण हैं। सुवर्ण द्वारा निर्मित ये आभूषण प्रशस्त रत्नों द्वारा जटित हैं, और मार्शल ने इन्हें अत्यन्त उच्च कोटि का माना है। चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग ने तक्षशिला की यात्रा करते हुए उस कुनाल स्तूप का अवलोकन किया था, जो उस स्थान पर बनाया गया था जहाँ तिष्यरक्षिता के षड्यन्त्र द्वारा कुनाल को अन्धा किया गया था। तक्षशिला की खुदाई में इस स्तूप के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। पर मार्शल आदि पुरातत्त्व वेत्ताओं की सम्मति में यह स्तूप मौर्य काल के पश्चात् निर्मित हुआ था। सम्भवतः, मौर्य युग के प्राचीन स्तूप को ही परिवर्धित कर बाद के समय में एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया गया था, जिसे ह्युएन्त्सांग ने देखा था और जिसके अवशेष अब भी विद्यमान हैं।

प्रयाग से ९५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर बुन्देलखण्ड में भरहुत नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ से अशोक के समय के अनेक प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं। सर एलेक्जण्डर कनिंघम ने १८७३ ईस्वी में पहले पहल इनका पता लगाया था। उस समय भरहुत में एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो ईंटों का बना हुआ था और जिसका व्यास ६८ फीट था। स्तूप के चारों ओर एक सुन्दर पाषाणवेष्टनी थी, जिस पर अनेक बौद्ध गाथाएँ चित्रों के रूप में खचित की गई थीं। पाषाणवेष्टनी ७ फीट से कुछ अधिक ऊँची थी। साञ्ची स्तूप की पाषाणवेष्टनी के समान यह भी चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त थी और प्रकोष्ठों के बीच में सुन्दर तोरणों से युक्त द्वार थे। पाषाणवेष्टनी पर खचित चित्रों द्वारा बौद्ध जातकों की कथाओं को प्रदर्शित किया गया था। भरहुत स्तूप में सैकड़ों की संख्या में छोटे-छोटे आले बने हुए थे, जिनमें उत्सवों के अवसर पर दीपक जलाये जाते थे। वर्तमान समय में यह स्तूप प्रायः नष्ट हो चुका है, और इसकी पाषाणवेष्टनी के बहुत-से भाग कलकत्ता म्यूयिजम की शोभा बढ़ा रहे हैं। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भरहुत के सब अवशेष मौर्य युग के नहीं हैं। साञ्ची के स्तूप के समान इन्हें भी शुङ्ग काल या उसके लगभग का माना जाता है। सम्भवतः, इनका निर्माण भी मौर्य युग की समाप्ति के वर्षों में ही प्रारम्भ हुआ था।

जिस ढंग की पाषाणवेष्टनियाँ सारनाथ, साञ्ची और भरहुत के प्राचीन अवशेषों में उपलब्ध हुई हैं, प्रायः वैसी ही अन्य भी अनेक स्थानों से मिली हैं। बोधगया में प्राप्त एक पाषाणवेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का माना जाता है। वहां चार भित्ति-स्तम्भों पर स्थित जो बोधिमण्डप है, उसे भी मौर्य काल ही माना जाता है। साञ्ची के समीप बेसनगर नामक स्थान पर भी एक एक पाषाणवेष्टनी प्राप्त हुई है, जो नानाविध चित्रों द्वारा विभूषित है। पाटलिपुत्र (पटना) की खुदाई में भी कम-से-कम तीन ऐसी पाषाण वेष्टनियों के अवशेष मिले हैं, जिन्हें मौर्य काल का माना जाता है। ये सब पाषाण-वेष्टनियाँ कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, और प्रायः एक ही प्रस्तरखण्ड से निर्मित हैं।

(५) मौर्य युग की मूर्ति कला

राजा अशोक ने जिन अनेक स्तम्भों पर अपने लेख उत्कीर्ण कराये थे, कला की दृष्टि से वे भी उतने ही महत्त्व के हैं जितने के उन पर उत्कीर्ण लेख हैं। ये स्तम्भ दिल्ली, कौशाम्बी, प्रयाग, सारनाथ, बखीरा (मुजफ्फरपुर), लौरिया-नन्दनगढ़, रमपुरवा, रढ़िया, रुम्मिन-देई, निगलीव तथा साञ्ची में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त संकिसा (प्राचीन संकाश्य या सङ्किशा), बोधगया और पटना में भी ऐसे स्तम्भ मिले हैं जो मौर्य युग के हैं, यद्यपि उन पर अशोक के लेख उत्कीर्ण नहीं हैं। अब तक मौर्य युग के कुल १७ स्तम्भ प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें से १३ पर अशोक के लेख विद्यमान हैं। सम्भवतः, अभी अन्य भी इसी प्रकार के स्तम्भ या उनके अवशेष प्राप्त होने से शेष हैं। ये सब स्तम्भ चुनार के बलुए पत्थर से बने हैं, और उनके केवल दो भाग हैं। स्तम्भ की सम्पूर्ण लाट एक पत्थर की है, और उसके ऊपर का परगहा (शीर्ष भाग) भी एक ही पत्थर द्वारा निर्मित है। प्रस्तर से बने इन स्तम्भों तथा उनके शीर्ष भागों पर ऐसा ओप किया हुआ है, जो अत्यन्त सुन्दर, चमकदार तथा चिकना है। यह चमक किसी वज्रलेप द्वारा उत्पन्न की गई है या पत्थर की घुटाई करके, यह कह सकना कठिन है। प्रस्तर-स्तम्भों पर हुए ओप के कारण इनका सौन्दर्य वस्तुतः अनुपम है। मौर्यों के काल में इस कला का जो विकास हुआ था, वह सम्प्रति के समय तक ही कायम रहा। बाद में कोई भी ऐसा स्तम्भ या प्रस्तर निर्मित कोई कृति प्राप्त नहीं होती, जिस पर इस ढंग के ओप या वज्रलेप की सत्ता हो। अशोक के समय के स्तम्भों के लाट गोल और नीचे से उपर तक चढ़ाव-उतारदार हैं। इनकी ऊँचाई तीस से चालीस फीट तक है, और इनका वजन १००० से १२०० मन तक है। लौरिया-नन्दनगढ़ के स्तम्भ का व्यास नीचे ३५॥ इन्च है, और ऊपर २२॥ इन्च। अन्य स्तम्भ भी प्रायः इसी आकार के हैं। स्तम्भों के ये लाठ जिन पत्थरों द्वारा गढ़ कर बनाये गये, उन्हें खानों से किस प्रकार निकाला गया, कैसे गढ़ कर उन्हें वर्तमान रूप प्राप्त कराया गया, कैसे उन्हें निर्धारित स्थानों पर पहुँचाया गया, कैसे उन्हें खड़ा किया गया, और कैसे उन पर शीर्ष भागों (परगहों) को ठीक-ठीक जोड़ा गया—ये सब बातें अत्यन्त आश्चर्य की हैं। लाठों पर जो शीर्ष भाग

पृथक् रूप से बना कर उनके साथ संयुक्त किये गये हैं, वे मौर्य युग की मूर्ति कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्रत्येक शीर्ष भाग के पाँच अंश हैं—(१) इकहरी या दोहरी पतली मेखला जो लाठ के ठीक ऊपर आती है। (२) मेखला के ऊपर लौटी हुई कमल पंखड़ियों की आलंकारिक आकृति वाली बैठकी, जो घंटे की आकृति की है। (३) उस पर एक कंठा होता है, जो प्रायः मोटी डोरी या सादे गोले के ढंग से निर्मित रहता है। (४) सबसे ऊपर गोल या चौखूंटी चौकी रहती है, जिसके सिरों पर (५) एक या अधिक पशु बनाये गये होते हैं। विभिन्न स्तम्भों के शीर्ष भागों पर ये पशु या प्राणी भी विभिन्न प्रकार के हैं, जिनमें हंस, सिंह, हाथी, बैल तथा अश्व प्रमुख हैं। अशोक के स्तम्भों में सारनाथ का स्तम्भ सर्वश्रेष्ठ है। इसकी चौकी पर के चार पहिये या चक्र धर्मचक्र के प्रतीक हैं। उनके बीच में हाथी, बैल, अश्व और सिंह अंकित हैं। इन चक्रों और प्राणियों को चलती हुई अवस्था में बनाया गया है। चौकी के सिरे पर चार सजीव सिंह पीठ से पीठ मिलाये चारों दिशाओं की ओर मुंह किये दृढ़ता के साथ बैठे हैं। इनकी आकृतियाँ भव्य, दर्शनीय तथा गौरवपूर्ण हैं, जिनमें कल्पना, यथार्थता तथा सौन्दर्य का अद्भुत संमिश्रण है। सिंह मूर्तियों का प्रत्येक अंग अत्यन्त सजीव तथा कलात्मक है। उनके बाल तक अत्यन्त बारीकी के साथ बनाये गये हैं। पहले इन सिंह मूर्तियों की आँखें मणियुक्त थीं। यद्यपि अब ये मणियुक्त नहीं हैं, पर इनके मणियुक्त होने के चिह्न अब तक भी विद्यमान हैं।

जिस ढंग के विशाल, सुन्दर, चमकदार तथा चिकने स्तम्भ मौर्य युग में बने, वैसे न उसके बाद भारत में कभी बने और न किसी अन्य देश में। मौर्य युग में भी किसी अन्य देश में ऐसे स्तम्भों का निर्माण नहीं हुआ। अनेक विदेशी यात्रियों को इन्हें देख कर यह भ्रम होता रहा, कि ये धातु द्वारा निर्मित हैं। पत्थर को काट कर तथा घिस कर सुन्दर स्तम्भ तथा मूर्तियाँ बनाने की जैसी उत्कृष्ट कला का विकास मौर्य काल में हुआ था, वह विश्व के इतिहास में वस्तुतः अनुपम है।

मौर्य युग के गुहा भवन भी प्रस्तर को काट कर अत्यन्त सुन्दर रूप से निर्मित किये गये हैं। गया जिले की बराबर पहाड़ियों में राजा अशोक द्वारा आजीवक सम्प्रदाय के साधुओं के लिये गुहाभवनों का निर्माण कराया गया था। ये तीनों गुहाभवन बहुत ही कड़े तेलिया पत्थर को काट कर बनाये गये हैं। इसी प्रकार के गुहाभवन अशोक के पौत्र राजा दशरथ ने भी बनवाये थे। ये भी गया जिले की बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में हैं, और विशाल चट्टानों को काट कर बनाये गये हैं। इनमें से एक लोमस ऋषि की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके द्वार के महराब में हाथियों की एक सुन्दर पंक्ति पत्थर काट कर बनायी गई है। सबसे बड़ा गुहाभवन ४६ फीट ५ इन्च लम्बा, १९ फीट २ इन्च चौड़ा और १०॥ फीट ऊंचा है। अन्य गुहाभवन भी विशाल तथा सुन्दर हैं। गुहाभवनों की भित्तियों पर चमकदार ओप भी की गई है, जो कांच के समान चमकती है। अत्यन्त कड़ी शिलाओं को धैर्य तथा परिश्रम से काट कर रहने के लिये सुन्दर भवन बनाने की जिस कला का चरम विकास

अजन्ता और एल्लोरा की गुफाओं में दिखायी देता है, उसका सूत्रपात मौर्य युग में ही हो गया था। बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में अशोक और दशरथ द्वारा निर्मित गुहाभवनों में यद्यपि चित्रों और काट कर बनायी गई मूर्तियों का प्रायः अभाव है, पर उनकी भित्तियों पर किये गये ओप के कारण उनका महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

धौली की जिस शिला पर अशोक के चतुर्दश शिलालेखों में से कतिपय लेख उत्कीर्ण हैं, उसे भी तरास कर सामने से एक हाथी का आकार प्रदान किया गया है। यह भी मौर्य युग की मूर्ति कला और प्रस्तर को तरासने के शिल्प का उत्तम उदाहरण है।

पाटलिपुत्र आदि की खुदाई से मौर्य युग की अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। ये सब बलुए पत्थर से बनी हैं और इन पर चमकदार ओप किया गया है। ओप की कला मौर्य युग की विशेषता थी, और इसी आधार पर इन्हें इस काल का माना जाता है। इनमें सब से प्रसिद्ध चामरग्राहिणी यक्षी की मूर्ति है, जो ६ फीट ९ इन्च ऊँची है। यह दीदारगंज, पटना से मिली है। मौर्य युग की कला का यह अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है। यक्षी का मुख मण्डल अत्यन्त सुन्दर है, अंग प्रत्यंग में समुचित भराव है, और उसकी मुद्रा दर्शनीय है। सम्भवतः, इसका प्रयोग मौर्य राजप्रासाद में सज्जा के लिये किया गया था। पाटलिपुत्र के भग्नावशेषों में जैन तीर्थङ्करों की अनेक खड़ी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिन पर ओप है। इनमें से एक मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में है, जिसका ओप पूर्णतया सुरक्षित दशा में है। यह लोहानीपुर (पटना) से उपलब्ध हुई है। दुर्भाग्यवश ये मूर्तियाँ खण्डित दशा में हैं, और इनके केवल धड़ भाग ही उपलब्ध हो सके हैं। कुमराहार की खुदाई में एक मूर्ति का सिर मिला है, जिस पर पगड़ी बनी हुई है और जिसके कानों से कर्णाभूषण लटकाये हुए बनाये गये हैं। इसी प्रकार की अनेक अन्य मूर्तियों के खण्ड पटना की खुदाई में मिले हैं, जिन पर हार, मेखला आदि आभूषण खचित हैं। सारनाथ से दो पुरुष-मूर्तियों के मस्तक, एक सिर के कतिपय खण्ड और एक पक्षी मूर्ति भी खण्डित रूप में प्राप्त हुई हैं, चमकदार ओप होने के कारण जिन्हें मौर्य युग का माना जाता है।

पत्थर को तरास कर मूर्तियां बनाने की कला मौर्य युग में अत्यन्त विकसित थी। ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार "मौर्य युग में पत्थर तरासने की कला पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी, और उस द्वारा ऐसी-ऐसी कृतियाँ सम्पन्न हुई थी, जो सम्भवतः इस बीसवीं शताब्दी की शक्ति से भी बाहर हैं।"

मौर्य युग की बहुत-सी मृण्मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। ये पटना, अहिच्छत्र, मथुरा कौशाम्बी, मसोन (गाजीपुर) आदि के भग्नावशेषों में बहुत बड़ी संख्या में पायी गई हैं। ये जहाँ कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं, वहाँ उस युग की वेशभूषा तथा सभ्यता की जानकारी के लिये भी इनका उपयोग है। बुलन्दी बाग (पटना) से एक मृण्मूर्ति मिली है, जिसकी ऊँचाई १०$\frac{३}{४}$ इन्च है। यह मूर्ति एक नर्तकी की है, जो नृत्य मुद्रा में खड़ी है। दायां हाथ उसने ऊपर उठाया हुआ है। सिर पर पगड़ी के ढंग का जो परिधान है, वह दोनों

ओर से ऊँचा उठा हुआ है। टाँगों पर एक लहंगा है, जिसे भी ऊँचा उठा कर प्रदर्शित किया गया है। नर्तकी की कमर पतली है, और छाती पर कपड़े की एक पट्टी बनायी गई है। प्रायः इसी ढंग की अन्य भी बहुत-सी मृण्मूर्तियाँ पटना के भग्नावशेषों में मिली हैं, जिन द्वारा मौर्य युग के परिधान, वेशभूषा तथा आभूषणों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

बुलन्दीबाग (पटना) में मौर्य युग के एक रथ का एक पहिया भी मिला है, जिसमें २४ आरियाँ हैं। इस पहिये का व्यास चार फीट है। पहिये पर लोहे के बैन्ड भी हैं। मौर्य काल में रथों के आकार तथा स्वरूप का इससे अनुमान किया जा सकता है।

बुलन्दी बाग में ही एक मूर्ति का ऐसा शीर्ष भाग मिला है, जो हाथी दाँत का बना है। यह आकार में बहुत छोटा है। इसकी ऊँचाई एक इन्च और चौड़ाई तीन चौथाई इन्च है। पर इससे यह भली भाँति सूचित हो जाता है, कि इस युग में हाथी दाँत का उपयोग कला-कृतियों के निर्माण के लिये भी किया जाता था।

प्राचीन पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अन्य स्थानों से मौर्य युग की जो प्रस्तर-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें सबसे प्रसिद्ध वह हैं जो आगरा और मथुरा के मध्यवर्ती परखम नामक स्थान से मिली है। यह मूर्ति ऊँचाई में सात फीट है, और भूरे बलुए पत्थर की बनी हुई है। इसके ऊपर भी अत्यन्त चमकदार ओप किया गया है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुंह टूट गया है, और भुजाएँ भी भग्न हो गई हैं। मूर्ति के व्यक्ति को जो पोशाक पहनायी गई है, उससे मौर्य काल के पहरावे का अन्दाज किया जा सकता है। इस समय यह मूर्ति मथुरा के म्यूजियम में सुरक्षित है।

मौर्य युग की एक अन्य मूर्ति बेसनगर से मिली है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इसकी भी भुजाएँ टूटी हुई हैं, और मुख बिगड़ा हुआ है। उँचाई में यह ६ फीट ७ इन्च है। मौर्य काल की अन्य मूर्तियों के समान इस पर भी ओप की सत्ता है।

मौर्य काल में स्थापत्य और मूर्तिकला का जो यह असाधारण विकास हुआ, वह किस अंश तक विदेशी (यवन और ईरानी) सम्पर्क का परिणाम था, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। ऐतिहासिक स्मिथ ने प्रतिपादित किया है कि ईरान तथा यवन राज्यों के सम्पर्क से मौर्यों की यह कला बहुत प्रभावित हुई। सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत-से विदेशी सैनिक और शिल्पी भारत में आ गये थे। यद्यपि यवन भारत में शासन नहीं कर सके, पर सिकन्दर के भारत से चले जाने पर भी बहुत-से विदेशी शिल्पी इस देश में रह गये और उन्हीं द्वारा अशोक के स्तम्भों तथा उनके शीर्ष भागों का निर्माण कराया गया। सैल्यु-कस के समय में यवनों और भारतीयों का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य का विवाह भी एक यवन कुमारी के साथ हुआ था। यवन राज्यों के राजदूत भी इस समय से पाटलिपुत्र के राजदरबार में रहने लग गये थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि बहुत-से यवन और ईरानी शिल्पी भी भारत में आने लगे हों, और उनकी कला तथा शिल्प

ने इस देश की मूर्तिकला को प्रभावित किया हो। मौर्यों से पूर्व भारत में प्रासादों, भवनों, मन्दिरों और चैत्यों के निर्माण के लिये प्रायः काष्ठ का ही प्रयोग किया जाता था। ग्रीक (यवन) और रोमन लेखकों ने पाटलिपुत्र के प्रासाद तथा प्राचीर का वर्णन किया है, और यह लिखा है कि ये काष्ठ द्वारा ही निर्मित थे। पाटलिपुत्र की खुदाई द्वारा भी इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है। इस काल में प्रस्तर का प्रयोग बहुत कम होता था। सम्भवतः, प्रस्तर का प्रयोग पहले पहल अशोक द्वारा ही प्रारम्भ किया गया, और इसके लिये उसने विदेशी शिल्पियों की सहायता प्राप्त की। पर यह स्थापना सर्वथा निर्विवाद नहीं है। अशोक से पूर्व ही चाणक्य ने अर्थशास्त्र में प्राचीर आदि के निर्माण के लिये काष्ठ के प्रयोग को अनुचित माना था, और दुर्गों के लिये प्रस्तर के उपयोग को उत्तम प्रतिपादित किया था। पत्थर के स्तम्भों का निर्माण भी अशोक से पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। सहसराम के लेख में भी अशोक ने स्पष्ट रूप से यह लिखा है, कि उसने अपने लेख ऐसे स्तम्भों पर भी उत्कीर्ण कराये, जो पहले से विद्यमान थे। प्रोफेसर पर्सी गार्डनर के इस कथन में बहुत सचाई है, कि "इसमें सन्देह नहीं, कि भारतीय कला का पूर्ववर्ती इतिहास भी है। अशोक की कला एक परिपक्व कला है। कतिपय अंशों में यह उस समय की ग्रीक कला की तुलना में भी अधिक परिपक्व है।" यह तो सर्वथा स्पष्ट है, कि अशोक के समय में स्थापत्य और मूर्ति कला का असाधारण रूप से विकास हुआ। यह भी सही है, कि इस युग में ईरान और यवन राज्य इस कला में अच्छी उन्नति कर चुके थे, और भारत का इन देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी विद्यमान था। अतः यह सर्वथा सम्भव है, कि इन्होंने अशोक की कला को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया हो, पर इसे पूर्णतया विदेशी सम्पर्क का परिणाम भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। चिर काल से भारत में जिस कला का निरन्तर विकास हो रहा था, वही अशोक के समय में अत्यधिक परिपक्व रूप में आ गई, और यहाँ के शिल्पियों ने काष्ठ के स्थान पर प्रस्तर का अधिकाधिक उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया, यही मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

(६) मौर्य युग के सिक्के

कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा मौर्य युग की मुद्रापद्धति तथा सिक्कों के विषय में जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज द्वारा बहुत-से ऐसे सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें मौर्य युग का माना जाता है। ये सिक्के तक्षशिला, अमरावती, अहिच्छत्रा, बैराट, झूसी, हस्तिनापुर, रोपड़, राजगृह, साञ्ची, सारनाथ, त्रिपुरी, कौशाम्बी, मथुरा आदि स्थानों से मिले हैं, और इनकी संख्या हजारों में है। इन्हें पञ्चमार्क (आहत) सिक्के कहा जाता है। पाणिनि और उससे भी पहले के समय से इन सिक्कों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। पाणिनि के अनुसार आहत तथा प्रशंसा के अर्थ में रूप शब्द के साथ 'यप्' प्रत्यय का विधान किया गया है (रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्, ५-२-१२०)।

रूप के साथ यप् प्रत्यय लगने पर ही 'रूप्य' शब्द का निर्माण होता है, जिसका प्रयोग इसी संज्ञा के सिक्के के लिये भी किया जाता है। कौटलीय अर्थ शास्त्र में 'रूप्य' का उल्लेख एक सिक्के के रूप में किया गया है, जिसे चांदी द्वारा वनाया जाता था। ये रूप्य 'आहति' द्वारा ही वनाये जाते थे, और इन पर अनेकविध 'लक्षण' अंकित कर दिये जाते थे। तक्षशिला आदि विभिन्न स्थानों से जो वहुत-से आहत या पञ्च मार्क सिक्के मिले हैं, उनमें बहुत-से मौर्य यग के भी हैं। इन पर जो 'लक्षण' अंकित हैं, उनमें प्रधान 'चन्द्रमेरु' और 'मयूर' हैं। चन्द्रमेरु से अंकित सिक्के वहुत वड़ी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। सम्भवतः, यह मौर्य राजाओं का 'राजाङ्क' था, क्योंकि यही लक्षण साहगौर के ताम्रपत्र तथा वुलन्दी बाग (पटना) में मौर्य युग की सतह से प्राप्त मिट्टी की एक तस्तरी पर भी अंकित है। ये सिक्के आकार में गोल हैं, और इनका वजन ३२ रत्ती है। रासायनिक परीक्षा द्वारा यह पाया गया है, कि इनमें ७९ प्रतिशत चाँदी है, और २१ प्रतिशत सीसा या लोहा। चाँदी और मिलावट का यह अनुपात ठीक वही है, जिसका प्रतिपादन कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है। चन्द्रमेरु के लक्षण से अंकित ये सिक्के पेशावर से गोदावरी तक वहुत-से स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। ये सब स्थान मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और इन सिक्कों का चलन चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में ही प्रारम्भ हो गया था। 'चन्द्र' न केवल चन्द्रगुप्त के नाम का अंश है, अपितु उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाओं का भी चन्द्र के साथ सम्बन्ध है। मयूर के लक्षण से अंकित सिक्के भी मौर्य काल के हैं। मौर्यों के पूर्वज मयूर नगर के निवासी थे, और अपने पुराने अभिजन के चिह्न को यदि उन्होंने अपने सिक्कों के 'लक्षण' के रूप में अपना लिया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। मौर्य युग के अवशेषों में बहुत-से ऐसे सिक्के भी मिले हैं, जिन पर किसी वृक्ष, पशु आदि के लक्षण अंकित है। सम्भवतः, ये मौर्यों के काल से पहले के हैं, यद्यपि उनका चलन मौर्य युग में भी जारी था। बहुसंख्यक सिक्के चाँदी के हैं, पर ताम्बे के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में ताम्र द्वारा निर्मित पणों का उल्लेख है, और साथ ही काकणी तथा अर्धकाकणी का भी। ये विभिन्न प्रकार के सिक्के उस काल में विनिमय के लिये प्रयुक्त ही हुआ ही करते थे।

चौबीसवाँ अध्याय

मौर्य साम्राज्य का ह्रास और पतन

(१) अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा

राजा अशोक के बाद मौर्य वंश के जो राजा मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, उनके क्या नाम थे और उन्होंने किस क्रम से तथा कितने-कितने वर्षों तक शासन किया, इस विषय पर न केवल पौराणिक और बौद्ध अनुश्रुतियों में भेद है, अपितु पौराणिक इतिवृत्त में भी मतैक्य का अभाव है। विविध पुराण चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार (या भद्रसार) और अशोक के शासनकालों के सम्बन्ध में एकमत हैं, सबने उनका शासन काल क्रमशः २४, २५ और ३६ वर्ष प्रतिपादित किया है।[1] पुराणों की कतिपय पाण्डुलिपियों में चन्द्रगुप्त का शासन काल २४ वर्ष के स्थान पर ३४ वर्ष अवश्य उल्लिखित है, पर वह लिपिकार की भूल का परिणाम हो सकता है। इस बात पर भी सब पुराण सहमत हैं, कि मौर्य वंश का कुल शासनकाल १३७ वर्ष था।[2] चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक ने कुल मिला कर ८५ वर्ष तक राज्य किया। यदि मौर्यों का कुल शासन काल १३७ वर्ष था, जैसा कि पौराणिक अनुश्रुति द्वारा सूचित होता है, तो अशोक के उत्तराधिकारियों के लिये केवल ५२ वर्ष शेष रह जाते हैं। इन ५२ वर्षों में कितने मौर्य वंशी राजा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, इस सम्बन्ध में भी पौराणिक अनुश्रुति में मतभेद है। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार इन राजाओं (अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजाओं) की संख्या छः थी, और मत्स्य पुराण के अनुसार सात। वायु पुराण में भी इनकी संख्या छः ही प्रतिपादित है, यद्यपि नाम नौ के दे दिये गये हैं। यथार्थ बात यह है, कि अशोक के उत्तराधिकारियों के विषय में पौराणिक अनुश्रुति अत्यन्त अस्पष्ट है, और पुराणों की जो पाण्डुलिपियां प्राप्त हैं उनमें लिपि-सम्बन्धी भी अनेक अशुद्धियाँ पायी जाती हैं।

---

१. 'चतुर्विंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति
भविता भद्रसारस्तु पञ्चविंशत् समा नृपः।
षट्त्रिंशत् तु समा राजा अशोको भविता नृषु॥' ब्रह्माण्ड ७४।१४४-४५ एवं वायु ९९।३३१-३२

२. 'इत्येते नव मौर्यास्तु ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यो शुंगो भविष्यति॥' वायु ९९।३३६, मत्स्य २७२।२६ एवं ब्रह्माण्ड ७४।१४९

वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मौर्य राजाओं के नामों और उनके शासन-कालों का निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया गया है––चन्द्रगुप्त २४ वर्ष, भद्रसार २५ वर्ष, अशोक ३६ वर्ष, कुनाल (अशोक का पुत्र) ८ वर्ष बन्धुपालित (कुनाल का पुत्र) ८ वर्ष, इन्द्रपालित (बन्धुपालित का दामाद या उत्तराधिकारी) १० वर्ष, देववर्मा ७ वर्ष, शत-धनुष (देव वर्मा का पुत्र) ८ वर्ष तथा बृहद्रथ ७ वर्ष। मौर्य राजाओं की यह वंशावलि देकर इन पुराणों में यह कहा गया है कि ये नौ मौर्य राजा १३७ वर्षों तक पृथिवी का भोग करेंगे।[1] यद्यपि इन पुराणों में मौर्यवंश का कुल समय १३७ वर्ष लिखा गया है, पर विभिन्न राजाओं के जो शासन-काल दिये गये हैं, उनका सर्वयोग १३३ वर्ष आता है। पर इसका समाधान कर सकना सम्भव है। हो सकता है, कि जिस राजा ने २५ वर्ष ४ मास शासन किया हो, पुराणों में उसका शासन-काल २५ वर्ष लिख दिया गया हो। ९ राजाओं के शासन-कालों में इस प्रकार कुछ-कुछ महीनों का अन्तर होने की दशा में उनके शासन-वर्षों का सर्वयोग १३७ वर्ष अवश्य हो सकता है।

वायु पुराण की एक अन्य प्रतिलिपि में मौर्य राजाओं का विवरण एक भिन्न प्रकार से दिया गया है––चन्द्रगुप्त २४ वर्ष, नन्दस्तर २५ वर्ष, अशोक ३६ वर्ष, कुलाल (अशोक का पुत्र) ८ वर्ष, बन्धुपालित (कुलाल का पुत्र) ८ वर्ष, दशोन (उनका नप्ता) ७ वर्ष, दशरथ (उसका पुत्र) ८ वर्ष, सम्प्रति (दशरथ का पुत्र) ९ वर्ष, शालिशुक १३ वर्ष, देववर्मा ७ वर्ष, शतधनु (देववर्मा का पुत्र) ८ वर्ष और बृहद्रथ ८७ वर्ष। इस वंशावलि को देकर वायु पुराण में यह कहा गया है, कि ये नौ मौर्य राजा १३७ वर्षों तक वसुन्धरा का भोग करेंगे।[2] पर इस वंशावाली में राजाओं के जो नाम दिये गये हैं, उनकी संख्या ९ न होकर

---

१. 'चन्द्रगुप्तं नृपं राज्ये कौटिल्यः स्थापयिष्यति ।
चतुर्विंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति ॥
भविता भद्रसारस्तु पञ्चविंशत् समा नृपः ।
षट्त्रिंशत् तु समा राजा अशोको भविता नृषु ॥
तस्य पुत्रः कुनालस्तु वर्षाण्यष्टौ भविष्यति ।
कुनालसूनुरष्टौ च भोक्ता वै बन्धुपालितः ॥
बन्धुपालितदायादो दश भावीन्द्रपालितः ।
भविता सप्तवर्षाणि देववर्मा नृपाधिपः ॥
राजा शतधनुश्चाष्टौ तस्य पुत्रो भविष्यति
बृहद्रथश्च वर्षाणि सप्त वै भविता नृपः ॥
इत्येते नव मौर्या वै भोक्ष्यन्ति च वसुन्धराम् ।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यो शुंगो भविष्यति ॥' ब्रह्माण्ड ७४।१४४-१४९

२. वायुपुराण ९९।३३१-३३६

१२ है, और उनके शासन-वर्षों का सर्वयोग १३७ के स्थान पर २४० है। इस विवरण में स्पष्ट ही कहीं भूल हुई है। वृहद्रथ का ८७ वर्ष तक शासन करना सम्भव प्रतीत नहीं होता, यद्यपि कलियुग राज वृत्तान्त से सूचित होता है कि इस राजा की पुष्यमित्र द्वारा जब हत्या की गई थी, तो यह अत्यन्त वृद्ध हो चुका था। वायु पुराण के इस पाठ में जो असंगति है उसका समाधान एक ही प्रकार से सम्भव है। अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो गये थे। इस दशा में यह सर्वथा सम्भव है, कि मौर्य वंश के किसी कुमार ने साम्राज्य के किसी दूरस्थ प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया हो, और वायु पुराण के विवरण में ऐसे राजा एवं उसके उत्तराधिकारियों को भी परिगणित कर दिया गया हो। मौर्य वंश के राजाओं की संख्या स्पष्टतया ९ लिखकर फिर १२ राजाओं का परिगणन करना यद्यपि सर्वथा असंगत है, पर इसकी केवल यही व्याख्या सम्भव हो सकती है।

मत्स्य पुराण के अनुसार मौर्यवंश के राजाओं की संख्या १० थी, और उनका शासन-काल १३७ वर्ष था। पर उसमें केवल ७ राजाओं के नाम दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—चन्द्रगुप्त, अशोक ३६ वर्ष, अशोक का नप्ता १७ वर्ष, दशरथ (उसका पुत्र) ८ वर्ष, सम्प्रति (दशरथ का पुत्र) ९ वर्ष, शतधन्वा (सम्प्रति का पुत्र) ६ वर्ष, और बृहद्रथ ७ वर्ष।[1] मत्स्य पुराण ने भद्रसार या बिन्दुसार का नाम छोड़ दिया है, जो स्पष्टतया प्रमाद या भूल का परिणाम है। शालिशुक और देववर्मा—ये दो अन्य नाम भी इस पुराण में नहीं दिये गये। 'नप्ता' से कौन अभिप्रेत है, यह भी स्पष्ट नहीं है। वह कुनाल ही हो सकता है, क्योंकि अशोक के बाद वही मौर्य साम्राज्य का स्वामी बना था। पर कुनाल अशोक का नप्ता न होकर पुत्र था, और उसका शासन-काल भी ८ वर्ष था।

विष्णु पुराण में मौर्य वंश के राजाओं के नाम इस क्रम से दिये गये हैं—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, सुयश, दशरथ, संगत, शालिशुक, सोमवर्मा, शतधन्वा और बृहद्रथ।[2] इन राजाओं की संख्या १० है। अन्य पुराणों में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम कुनाल दिया गया है, पर विष्णु पुराण में उसे सुयश कहा गया है। सम्भवतः, सुयश कुनाल का ही विरुद था। इसी प्रकार विष्णु पुराण का संगत और अन्य पुराणों का 'सम्प्रति' एक ही राजा के परिचायक हैं।

कलियुगराज वृत्तान्त में मौर्य राजाओं की संख्या ११ दी गई है, और उनके नाम निम्नलिखित हैं—चन्द्रगुप्त ३४ वर्ष, बिन्दुसार २८ वर्ष, अशोक ३६ वर्ष, सुपार्श्व ८ वर्ष, बन्धुपालित ८ वर्ष, इन्द्रपालित ७० वर्ष, सङ्गत ९ वर्ष, शालिशक १३ वर्ष, देववर्मा ७ वर्ष,

---

१. मत्स्यपुराण २७२।२२-२६
२. विष्णुपुराण, अध्याय २४

शतधनु ८ वर्ष और बृहद्रथ ८८ वर्ष ।[1] इन ११ राजाओं का कुल शासन काल ३०९ वर्ष होता है, जो पौराणिक अनुश्रुति के अनुरूप नहीं है। इन्द्रपालित का शासनकाल ब्रह्माण्ड पुराण में १० वर्ष लिखा गया है, और बृहद्रथ का ७ वर्ष। कलियुग राजवृत्तान्त में चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के शासनकाल भी क्रमशः १० और ४ वर्ष अधिक लिखे गये हैं। इन शासन-वर्षों की संख्या की प्रामाणिकता को स्वीकृत कर सकना सम्भव नहीं है। पर जहाँ तक कलियुग राजवृत्तान्त में दिये गये राजाओं के नामों का सम्बन्ध है, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सुपार्श्व अशोक के उसी उत्तराधिकारी को लिखा गया है, जिसका नाम अन्यत्र सुयश और कुनाल पाया जाता है। सङ्गत और सम्प्रति भी एक ही हैं।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक के उत्तराधिकारियों का परिचय दिव्यावदान से जाना जा सकता है। वहाँ अशोक के बाद के निम्नलिखित मौर्य राजाओं के नाम दिये गये हैं—सम्पदि (सम्प्रति), बृहस्पति, वृषसेन और पुण्यधर्मा।[2] इनमें केवल सम्प्रति ही एक ऐसा नाम है, जो पौराणिक अनुश्रुति में भी पाया जाता है। अन्य सब नाम नये हैं। ये या तो पुराणों की वंशावलियों में दिये गये राजाओं के विरुद हो सकते हैं, और या इन नामों के मौर्य राजाओं ने मागध साम्राज्य के किसी प्रदेश पर पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप से शासन किया था।

जैन अनुश्रुति में राजा सम्प्रति का विशद रूप से वर्णन किया गया है, क्योंकि यह राजा जैन धर्म का संरक्षक था, और जैन धर्म के इतिहास में इसका वही महत्त्व है, जो कि बौद्ध इतिहास में अशोक का है।

तिब्बत की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक के वाद जो राजा हुए, उनके नाम विगताशोक और वीरसेन थे।[3] पर तिब्बती ऐतिहासिक तारनाथ ने वीरसेन को गान्धार का राजा कहा है। यह सर्वथा सम्भव है, कि मौर्य साम्राज्य के ह्रास-काल में वीरसेन नामक किसी मौर्य कुमार ने गान्धार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया हो। राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं का वृत्तान्त लिखते हुए अशोक के उत्तराधिकारी का नाम जालौक दिया गया है, जो कि अशोक का पुत्र था।[4] ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके अन्यतम पुत्र जालौक ने काश्मीर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था।

अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजाओं के सम्बन्ध में जो निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं, उनके आधार पर इन राजाओं के क्रमबद्ध इतिहास को लिख सकना बहुत कठिन है। अशोक के समान इन राजाओं के कोई महत्त्वपूर्ण उत्कीर्ण लेख उपलब्ध नहीं हैं।

---

१. Narayan Shastri–The Kings of Magadha. p. 57

२. **दिव्यावदान (कावेल और नील) पृ. ४३०**

३. Rockhill : Life of Buddha

४. **राजतरङ्गिणी १।१०७-१०८**

केवल राजा दशरथ के तीन गुहा-लेख प्राप्त हुए हैं, जो आजीवकों को दान में दी गई गुहाओं के सम्बन्ध में हैं। चन्द्रगुप्त और अशोक के सम्बन्ध में जैसी कथाएँ पौराणिक और बौद्ध साहित्य में पायी जाती है, वैसी कथाएँ भी इन राजाओं के विषय में उपलब्ध नहीं हैं। केवल राजा सम्प्रति के सम्बन्ध में कतिपय विवरण जैन साहित्य में विद्यमान हैं, जो निस्सन्देह महत्त्व के हैं। ऐतिहासिक सामग्री की अत्यन्त कमी होते हुए भी अशोक के बाद के मौर्य इतिहास को उल्लिखित करने का प्रयत्न विद्वानों द्वारा किया गया है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि यह इतिहास पूर्णतया प्रामाणिक नहीं है, और इसके आधार कतिपय ऐसे निर्देश ही हैं, जो कि प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं विद्यमान हैं।

(२) राजा सुयश कुनाल (२३८ ई० पू० से २३१ ई० पू० तक)

२३८ ई. पू. में राजा अशोक की मृत्यु हुई। अशोक के अनेक पुत्र थे। उत्कीर्ण लेखों में उसके केवल एक पुत्र का उल्लेख है, जिसका नाम तीवर था। उसकी माता देवी कारुवाकी के दान का वर्णन अशोक ने अपने एक लेख में किया है। प्राचीन साहित्य में तीवर का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि अशोक के कतिपय अन्य पुत्रों का विवरण वहाँ विद्यमान है। दिव्यावदान और पुराणों में कुनाल का उल्लेख अशोक के पुत्र के रूप में किया गया है, और पुराणों के अनुसार अशोक के पश्चात् वही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। महेन्द्र अशोक का एक अन्य पुत्र था, लंका की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार जिसने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु व्रत स्वीकार कर लिया था, और जिसने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। तिब्बती अनुश्रुति में अशोक के एक अन्य पुत्र का उल्लेख है, जिसका नाम कुस्तन था। खोतान में भारतीय उपनिवेश बसाने और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने का श्रेय इसी कुस्तन को दिया गया है। विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रसार का विवरण देते हुए महेन्द्र और कुस्तन के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में पहले विशद रूप से लिखा जा चुका है।

वायु पुराण के अनुसार अशोक के बाद उसका पुत्र कुनाल मागध साम्राज्य का स्वामी बना था। विष्णु पुराण में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम सुयश लिखा गया है। सम्भवतः, सुयश कुनाल का ही विरुद था। कुनाल अशोक का ज्येष्ठ पुत्र था, और सम्भवतः अपने पिता के शासनकाल में युवराज के पद पर भी रहा था। दिव्यावदान में उसके सम्बन्ध में अनेक कथाएँ उल्लिखित है, जिन्हें अशोक के समय की शासन व्यवस्था का निरूपण करते हुए पिछले एक अध्याय में निर्दिष्ट किया जा चुका है। तक्षशिला के एक विद्रोह को शान्त करने के लिये अशोक द्वारा कुनाल को भेजा गया था। यद्यपि उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हुए ७५ साल के लगभग समय हो चुका था, पर अभी वहाँ पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं हुई थी। वहाँ के महामात्यों को शासन के लिये अधिक कठोर उपायों का अवलम्बन करना पड़ता था, और इसीलिये वहाँ विद्रोह भी बहुधा होते रहते थे। राजा बिन्दुसार के शासन काल में ऐसे ही विद्रोहों को शान्त करने के लिये कुमार अशोक को भेजा

गया था, और राजा अशोक के शासन-काल में कुमार कुनाल को। विद्रोह को शान्त करने में कुनाल को सफलता भी प्राप्त हुई थी। विद्रोह को शान्त कर चुकने पर कुनाल तक्षशिला में ही 'कुमार' या प्रान्तीय शासक के रूप में कार्य करता रहा। वहाँ वह बहुत लोकप्रिय था।

कुनाल अशोक का ज्येष्ठ पुत्र था। उसकी आँखें हिमालय के कुनाल पक्षी के समान सुन्दर थीं, इसीलिये उसका नाम भी कुनाल रखा गया था। वह देखने में अत्यन्त सुन्दर और प्रकृति से अत्यन्त कोमल था। उसका विवाह काञ्चनमाला नाम की परम सुन्दरी युवती के साथ हुआ था। कुनाल और काञ्चनमाला का गृहस्थ जीवन बहुत प्रेममय तथा सुखी था। वृद्धावस्था में अशोक का परिचय तिष्यरक्षिता नाम की एक युवती से हुआ, जो उज्जैनी के एक सम्पन्न श्रेष्ठी की कन्या थी, और परम रूपवती थी। अशोक ने उसके साथ विवाह कर लिया, पर तिष्यरक्षिता को बूढ़े अशोक से संतोष नहीं हुआ। वह युवक कुनाल पर मोहित हो गई। उसके सुन्दर रूप तथा आकर्षक आँखों ने युवती तिष्यरक्षिता को पागल कर दिया। एक वार एकान्त में उसने कुनाल के सम्मुख अपने प्रेम को प्रगट किया। पर अपनी विमाता के प्रेम की कुनाल ने कोई परवाह नहीं की। वह उसे माता समझता था, और माता के सदृश ही उसके प्रति व्यवहार करता था। धीरे-धीरे तिष्यरक्षिता का निराश प्रेम भयंकर विद्वेष के रूप में परिवर्तित हो गया, और उसने कुनाल से बदला लेने का निश्चय किया। कुनाल ने तिष्यरक्षिता के प्रेम को अस्वीकार कर उसका जो घोर अपमान किया था, अव वह उसका प्रतिशोध करने के लिये कटिबद्ध हो गई थी।

एक वार अशोक बीमार पड़ा। यद्यपि तिष्यरक्षिता को अशोक से जरा भी प्रेम नहीं था, पर इस वार उसने राजा की वहुत सेवा की। उसकी सेवा से राजा स्वस्थ हो गया। वीमारी के समय अशोक की चिकित्सा और परिचर्या की देखभाल का सब कार्य तिष्यरक्षिता के ही हाथों में था। राजा उसकी सेवा से बहुत संतुष्ट हुआ। प्रसन्न होकर उसने एक सप्ताह के लिये मागध साम्राज्य का शासन तिष्यरक्षिता का सौंप दिया, और साथ ही राजकीय मुद्रा भी। तिष्यरक्षिता इसी अवसर की प्रतीक्षा में थी। उसने एक कपट-लेख तैयार कराया और उस पर अशोक की मुद्रा (जिसे दन्त-मुद्रा कहते थे) लगा दी। यह कपट-लेख तक्षशिला के महामात्यों के नाम था, और इसमें उन्हें यह आज्ञा दी गई थी कि कुनाल की आँखें निकाल दी जाएँ। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुँचा, तो वहाँ के अमात्यों को बहुत आश्चर्य हुआ। वे कुनाल के गुणों और सद्व्यवहार के कारण उससे वहुत प्रसन्न थे। इस राजकीय आदेश की सूचना कुमार को देने का उन्हें साहस नहीं हुआ। पर तिष्यरक्षिता द्वारा भिजवाया हुआ कपट-लेख अशोक की दन्तमुद्रा से मुद्रित था। यह मुद्रा उन राजकीय आज्ञाओं पर लगायी जाती थी, जिनका तुरन्त पालन किया जाना हो। अतः यह आज्ञा भी कुनाल के सम्मुख प्रस्तुत की गई। कुनाल ने स्वयं वधिकों को बुलवाया और यह कहकर कि राजकीय आज्ञा का पालन होना ही चाहिये, अपनी आँखें बाहर निकलवा दीं। दन्तमुद्रा से मुद्रित राजाज्ञा में यह भी आदेश था, कि कुनाल को तक्षशिला के शासक-

पद से च्युत कर दिया जाए। कुनाल ने इस आज्ञा का भी पालन किया, और कुमार पद का परित्याग कर अपनी पत्नी काञ्चनमाला को साथ लेकर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा।

जब राजा अशोक को ये सब घटनाएँ विदित हुई, तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने तिष्यरक्षिता और उसके साथी षड्यन्त्रकारियों को कठोर दण्ड दिये। एक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि तिष्यरक्षिता को जीते जी आग में जलवा दिया गया। जिस स्थान पर कुनाल ने अपनी आँखें निकलवायी थीं, अशोक ने वहाँ एक विशाल स्तूप स्थापित कराया। अशोक की मृत्यु के नौ सदी बाद तक भी यह स्तूप विद्यमान था, और चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग ने इसे अपनी आँखों से देखा था। उसने लिखा है, कि यह स्तूप १०० फीट ऊँचा है और तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में स्थित है।[1] कुनाल के अन्धा किये जाने की कथा की पुष्टि जैन अनुश्रुति द्वारा भी होती है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार अशोक की एक आज्ञा के सही अभिप्राय को न समझ तक्षशिला के अमात्यों ने कुमार कुनाल को अन्धा कर दिया था।[2] कुनाल के अन्धे कर दिये जाने की जो कथा हमने यहाँ लिखी है, वह दिव्यावदान के आधार पर है। परिशिष्ट पर्व की कथा इससे कुछ भिन्न है। उसके अनुसार कुमार कुनाल जब उज्जयिनी में था, तो अशोक ने अपने हाथ से लिख कर इस आशय का एक आदेश वहाँ के अमात्यों के नाम भेजा कि कुमार को अच्छी तरह पढ़ाया जाए। पर कुनाल की विमाता ने 'अधीयउ' को 'अंधीयउ' कर दिया, और राजा की आज्ञा का पालन करने के लिये कुमार ने स्वयं अपने को अन्धा करा दिया।[3]

पर बौद्ध और जैन-दोनों अनुश्रुतियाँ इस बात पर एकमत हैं कि कुनाल को युवावस्था में ही अन्धा कर दिया गया था, और इसी कारण सम्भवतः वह राज्य-कार्य के लिये अयोग्य हो गया था। दिव्यावदान के अनुसार अशोक के शासन-काल में भी कुनाल का पुत्र सम्प्रति युवराज-पद पर नियुक्त था। जैसा कि पिछले एक अध्याय में लिखा जा चुका है, जब राजा अशोक ने राजकीय कोश से भिक्षु-संघ को धन दान देने का विचार किया, तो अमात्यों ने युवराज सम्प्रति को कहा कि अशोक अधिक समय तक जीवित नहीं रहेगा, और राजकीय धन कुर्कुटाराम में भेजा जा रहा है। उसे ऐसा करने से रोक दिया जाए। अमात्यों की बात स्वीकार कर सम्प्रति ने भाण्डागारिक को राजकीय कोश से धन कुर्कुटाराम भेजने का प्रतिषेध कर दिया। दिव्यावदान के इस विवरण से सूचित होता है, कि अशोक के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में युवराज के पद पर सम्प्रति कार्य कर रहा था। सामान्यतया, राजा का

१. Beal : Western Records of the Western World.

२. परिशिष्ट पर्व ९।१८-२४

३. 'लोप्स्यामि राज्ञो दद्याज्ञामहमेवाग्रतः स्थितः ।
तदामरकृत एवाध्वान्येषामपि भविष्यति ॥
ततश्च साहस निधिमौर्यवंशाब्धिचन्द्रमाः ।
अनवितस्म स्वयमपि नेत्रं तप्तशलाकया ॥" परिशिष्ट पर्व ९।२८-२९

ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज के पद पर नियुक्त होता है। पर सम्भवतः कुनाल के अन्धा होने के कारण सम्प्रति को युवराज का पद प्रदान कर दिया गया था। सम्प्रति अशोक का पौत्र था। अशोक का शासन-काल ३६ वर्ष था, और राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के समय वह अवश्य ही युवावस्था में रहा होगा (क्योंकि उसने अपने भाइयों को युद्ध में परास्त कर राज्य प्राप्त किया था)। इस कारण सम्प्रति भी इस समय (अशोक के शासनकाल के अन्तिम भाग) तक वयस्क एवं युवा हो चुका होगा। अतः अशोक के समय में भी सम्प्रति का युवराज होना सर्वथा संगत है। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक की मृत्यु के अनन्तर मागध साम्राज्य के राजा के पद पर तो कुनाल अभिषिक्त हुआ, पर यथार्थ रूप में शासन का सञ्चालन सम्प्रति के ही हाथों में रहा। यही कारण है, कि कतिपय ग्रन्थों में अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को ही लिखा गया है, कुनाल को नहीं। यद्यपि दिव्यावदान में कुनाल की कथा विशद रूप से वर्णित है, पर उसमें अशोक के उत्तराधिकारी के रूप में सम्प्रति का ही उल्लेख है। पौराणिक अनुश्रुति में भी मत्स्य पुराण ने कुनाल के नाम को छोड़ दिया है।

कुनाल के शासन-काल में ही विशाल मागध साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया था। काश्मीर पाटलिपुत्र की अधीनता से मुक्त हो गया था, और अशोक के एक अन्य पुत्र ने वहाँ अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया था। अशोक के इस पुत्र का नाम जालौक था। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक के शासन के अन्तिम दिनों में ही यवनों ने मागध साम्राज्य को फिर से आक्रान्त करना शुरू कर दिया था, और इनका सामना करने के लिये अशोक ने कुमार जालौक की नियुक्ति की थी। जालौक यवनों को परास्त करने में तो समर्थ हुआ, पर जिस शक्तिशाली सेना से उसने यवनों को परास्त किया, उसी की सहायता से साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में उसने अपना पृथक् राज्य कायम कर लिया। यह बात राजतरंगिणी के निम्नलिखित वर्णन से भली भाँति स्पष्ट हो जाती है—"क्योंकि म्लेच्छ लोग देश पर छा गये थे, अतः उनके विनाश के लिये नृप (अशोक) ने तप द्वारा भूतेश को प्रसन्न कर एक पुत्ररत्न को प्राप्त किया। यही जालौक नाम का राजा हुआ, जो कि भूलोक और सुरलोक दोनों का स्वामी था, और जिसने अपने यश द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मण्डल को शुद्ध कर दिया।. . .म्लेच्छों से जब वसुधा रुद्ध हो रही थी, तो अखण्ड पराक्रमी जालौक ने उन्हें बाहर निकाला, और विजय-यात्राओं द्वारा समुद्र रूपी मेखला वाली पृथिवी की विजय की।[1]" कल्हण का यह वृत्तान्त स्पष्ट रूप से सूचित करता है, कि अशोक के समय में ही

---

१. "**म्लेच्छैः संछादिते देशे स तदुच्छित्तये नृपः ।**
तपः संतोषिताल्लेभे भूतेशात् सुकृती सुतम् ॥१०७॥
सोऽथो भूभृज्जालौकोऽभूत् भूलोकसुरनायकः ।
यो यशः सुधया शुद्धं व्यदधाद् ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥१०८॥
स रुद्धवसुधान् म्लेच्छान् निर्वास्याखर्वविक्रमः ।
जिगाय जैत्रयात्राभिर्महीमर्णवमेखलाम् ॥११५॥ राजतरङ्गिणी—प्रथम तरङ्ग ।

म्लेच्छों या यवनों (ग्रीकों) के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे; और उन्हें परास्त करने के लिये जालौक की नियुक्ति की गई थी। बाद में वह काश्मीर तथा समीपवर्ती प्रदेशों पर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर में अशोक के बाद जालौक ही राजा बना था। कल्हण ने जालौक के शासन की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है, कि जालौक ने अपने देश (राज्य) में चारों वर्णों के लोगों को धर्मानुकूल व्यवहार में नियोजित किया[१], और अष्टादश धर्म्य कर्मस्थान बनाये। उसका शासन युधिष्ठिर के समय का स्मरण कराता था।[२] जिसे कल्हण ने अष्टादश कर्मस्थान लिखा है, वे सम्भवतः कौटलीय अर्थशास्त्र के अष्टादश तीर्थ ही हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि जालौक एक सुयोग्य एवं प्रतापी राजा था। राजतरंगिणी के अनुसार उसने दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ की थीं, और कान्यकुब्ज (कन्नौज) तक के प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था।[३] जालौक ने ये आक्रमण किस समय किये, और उसने कितने वर्ष तक शासन किया, इस सम्बन्ध में कोई भी निर्देश राजतरङ्गिणी में नहीं पाये जाते। सम्भवतः, उस का शासन-काल पर्याप्त सुदीर्घ था, और उसने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में ही कान्यकुब्ज सदृश सुदूरवर्ती नगर पर आक्रमण किया होगा। कुनाल के बाद राजा दशरथ और सम्प्रति के काल तक मौर्य साम्राज्य अधिक क्षीण नहीं हुआ था। पर सम्प्रति के पश्चात् शालिशुक के समय में मौर्यों की शक्ति का अत्यधिक ह्रास हो गया था। सम्भव है, कि जालौक के मध्यदेश पर ये आक्रमण उसी समय में हुए हों, क्योंकि अशोक की मृत्यु और शालिशुक के राजसिंहासनारोहण में केवल २५ वर्षों का अन्तर है। काश्मीर में जालौक का शासन इतने समय तक अवश्य रह सकता है।

काश्मीर के समान आन्ध्र भी सम्भवतः कुनाल के शासन-कालमें ही मौर्य साम्राज्य से पृथक् होकर एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया था। आन्ध्र के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक सिमुक था, जिसने कि पुराणों के अनुसार कण्व वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को मार कर राजशक्ति प्राप्त की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि आन्ध्र के सातवाहन वंश के अन्यतम राजा ने कण्व वंश का अन्त कर मगध को अपनी अधीनता में कर लिया था। पर यह राजा सिमुक ही था, यह सुनिश्चित नहीं है। पुराणों में आन्ध्र राजाओं की भी वंशावलि विद्यमान है। मत्स्य पुराण के अनुसार आन्ध्र राजाओं ने कुल मिलाकर ४६० वर्ष राज्य किया, और ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ४५६ वर्ष। वायु पुराण में आन्ध्र राजाओं

---

१. राजतरङ्गिणी १।११७-११८

२. 'कर्मस्थानानि धर्म्याणि तेनाष्टादश कुर्वता।
ततः प्रभृति भूपेन कृता यौधिष्ठिरी स्थितिः॥ राजतरङ्गिणी १।१२०

३. 'जित्वोर्वी' कान्यकुब्जाद्यां तत्रन्यं सन्यवेशयत्।
चातुर्वर्ण्यं निजे देशे धर्म्यांश्च व्यवहारिणः॥' राजतरङ्गिणी १।११७

का शासन केवल ४११ वर्ष दिया गया है, और विष्णु पुराण में केवल ३०० वर्ष। इस भेद के अनेक कारण हो सकते हैं। सम्भवतः, आन्ध्र वंश की अनेक शाखाएँ थीं, और उन्होंने एक ही समय में पृथक्-पृथक् प्रदेशों पर राज्य किया था। जिन पुराणों में आन्ध्र राजाओं का शासन-काल ४६० या ४५६ वर्ष उल्लिखित है, उनमें इन विविध शाखाओं के राजाओं के शासन-वर्षों को जोड़ दिया गया है। प्राचीन भारत के अन्य अनेक राजवंशों के समान आन्ध्र-वंश के तिथिक्रम, शासन-काल आदि के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। श्री. रायचौधरी ने यह प्रतिपादित किया है, कि इस वंश के शासन का प्रारम्भ पहली सदी ई. पू. में हुआ था, जबकि इसके प्रथम राजा सिमुक ने कण्व वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को मार कर मगध पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।[१] यह घटना २८ ई. पू. के लगभग हुई थी। पर बहुसंख्यक ऐतिहासिक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आन्ध्र वंश के स्वतंत्र शासन का प्रारम्भ तीसरी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में हो गया था। अशोक की मृत्यु के पश्चात् जब मौर्य साम्राज्य के विघटन का प्रारम्भ हुआ, तभी सिमुक ने दक्षिणापथ में अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था। सिमुक ने किस वर्ष में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, इस विषय में भी अनेक मत हैं। कतिपय ऐतिहासिकों के अनुसार यह वर्ष २३५ ई. पू. था, और कतिपय के अनुसार २२० या २११ ई. पू.। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों ने जो विचार-विमर्ष किया है, उसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर सकना भी यहाँ सम्भव नहीं है। इतना निर्दिष्ट कर देना ही पर्याप्त है, कि बहुसंख्यक ऐतिहासिकों को यही मत अभिप्रेत है, कि राजा सुयश कुनाल के शासन-काल में ही दक्षिणापथ के अनेक प्रदेश मौर्यों की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे, और सिमुक द्वारा वहाँ एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी गई थी। यही राज्य इतिहास में सातवाहन-राज्य के नाम से प्रसिद्ध है, और इसी के अन्यतम राजा (सम्भवतः, राजा वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि) ने कण्व वंश के शासन का अन्त कर मगध को भी अपने शासन में ले लिया था। आन्ध्र के सातवाहन राजाओं की शक्ति के प्रारम्भ एवं तिथिक्रम के विषय में चाहे कितने ही मतभेद क्यों न हों, पर यह असंदिग्ध है कि कुनाल के शासन काल में मौर्य साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया था, और दक्षिण के अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे।

बौद्ध और जैन दोनों अनुश्रुतियाँ इस सम्बन्ध में एकमत हैं, कि कुनाल अन्धा था, और अशोक के जीवन-काल में भी वह शासन-कार्य में किसी भी प्रकार से हाथ बटाने में समर्थ नहीं रह गया था। दिव्यावदान के अनुसार अशोक के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में सम्प्रति या सम्पदि युवराज के पद पर नियुक्त हो गया था, और जब अशोक ने राज्य कोश से कुक्कुटाराम को धन देना चाहा था, तो अमात्यों ने युवराज सम्प्रति से कह कर भाण्डागारिक को यह आदेश दिला दिया था कि राज्यकोश से कोई धन बौद्ध संघ को न दिया जाए।

---

१. Ray Chaudhuri H. Political History of India pp. 403-408

कुनाल किस प्रकार अन्धा हुआ, इस विषय में जो कथा बौद्ध अनुश्रुति में विद्यमान है, उसका उल्लेख इसी कारण में ऊपर किया जा चुका है । पर जैन अनुश्रुति की कथा इससे भिन्न है ।[1] परिशिष्ट पर्व के अतिरिक्त वृहत्कल्पसूत्र और उसकी टीका में भी कुनाल के अन्धा किये जाने की कथा विस्तार के साथ दी गई है, जो दिव्यावदान की कथा से भिन्न है । इनमें से चाहे कोई भी कथा सत्य हो, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् भी राज्य-कार्य का सञ्चालन सम्प्रति के ही हाथों में रहा । अन्धा हो जाने के कारण कुनाल शासन के अयोग्य हो गया था । यद्यपि नाम को राजा का पद कुनाल को प्राप्त हो गया, पर यथार्थ में शासन का सञ्चालन सम्प्रति द्वारा किया जाता रहा । सम्भवतः, इसी कारण दिव्यावदान सदृश ग्रन्थों में अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को कहा गया है, कुनाल को नहीं ।

दिव्यावदान में कुनाल की माता का नाम पद्मावती लिखा गया है, और उसका जन्म उसी दिन हुआ बताया गया है, जब कि अशोक ने ८४ हजार धर्मराजिकाओं (स्तूपों आदि) के निर्माण का निश्चय किया था । कुनाल को धर्मवर्धन भी कहते थे ।[2]

(३) राजा दशरथ (बन्धुपालित)

कुनाल आठ वर्ष तक मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ रहा । २३१ ई०पू० में उसकी मृत्यु हुई, और उसका पुत्र दशरथ राजा बना । पौराणिक अनुश्रुति में कुनाल के उत्तराधिकारी को दशरथ भी लिखा गया है, और बन्धुपालित भी । मत्स्य तथा विष्णु पुराणों में उसके लिये दशरथ संज्ञा प्रयुक्त हुई है, और वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में बन्धुपालित । सम्भवतः, 'बन्धुपालित' दशरथ का ही विशेषण है । ऐसा प्रतीत होता है, कि राजा दशरथ के शासन-काल में भी राज्य का सञ्चालन सम्प्रति द्वारा ही किया जाता रहा । प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में दशरथ और सम्प्रति दोनों को कुनाल का पुत्र कहा गया है । अतः यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि वे दोनों भाई थे । सम्प्रति

---

१. 'पाडलऽसोग कुणाले उज्जेणी लेहलिहण सयमेव
अहिय सवत्ती मत्ताहिएण सयमेव वायणय ।।
मुरियाण अघडिहया, अ ाणा सयमंत्रणं निवेणाणं ।
गायग सुयस्स जम्मं गंधव्वाऽऽ उट्टणा कोई ।।' बृहत्कल्प सूत्र, गाथा २९२, २९३

२. "यस्मिन्नेव दिवसे राज्ञा अशोकेन चतुरशीति धर्मराजिका सहस्रं प्रतिष्ठापितम्, तस्मिन्नेव दिवसे राज्ञोऽशोकस्य पद्मावती नाम्नी देवी प्रसूता । पुत्रो जातोऽभिरूपो दर्शनीयः प्रासादिकः नयनानि चास्य परमशोभनानि । तस्य धर्मवर्धन इति नाम कृतम् ।" (दिव्यावदान, पृ० ४०५)

अशोक और कुनाल के समयों में युवराज की स्थिति में शासन का सञ्चालन करता रहा था। सम्भवतः, दशरथ के शासन-काल में भी शासन-सूत्र इसी अनुभवी एवं सुयोग्य शासक के हाथों में रहा। शायद इसी कारण दशरथ सो 'बन्धुपालित' विशेषण दिया गया था।

राजा दशरथ की सत्ता केवल प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति द्वारा ही सूचित नहीं होती। उसके तीन लेख भी प्राप्त हुए हैं, जो विहार राज्य की नागार्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। ये गुहा-मन्दिर राजा दशरथ द्वारा आजीवक सम्प्रदाय के साधुओं को दान दिये गये थे, और इन गुहालेखों में उसका यह दान ही उत्कीर्ण किया गया है। अशोक के समान दशरथ ने भी इन उत्कीर्ण लेखों में अपने नाम के साथ 'देवानांप्रिय' विशेषण प्रयुक्त किया है। नागार्जुनी पहाड़ी के इन लेखों की भाषा और लिपि प्रायः वही हैं, जो कि अशोक के लेखों की हैं।

दशरथ के समय में भी मौर्य साम्राज्य का पतन जारी रहा। सम्भवतः, कलिङ्ग ने इसी काल में मगध की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त की। उड़ीसा राज्य के पुरी जिले में भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर उदयगिरि पर्वत में हाथीगुम्फा नाम की एक गुफा है, जिसमें राजा खारवेल का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख उत्कीर्ण है। कलिङ्गराज खारवेल अत्यन्त प्रतापी राजा था, और उसने दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ की थीं। हाथीगुम्फा के लेख में जहाँ इन विजय-यात्राओं का वर्णन है, वहाँ साथ ही खारवेल के पूर्ववर्ती राजाओं का भी उल्लेख है। इस लेख से सूचित होता है, कि खारवेल ऐर (ऐल) वंश के महाराज महामेघवाहन का वंशज था, और इस महामेघवाहन द्वारा कलिङ्ग में एक स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना की गई थी। खारवेल से पूर्व कलिङ्ग के कम-से-कम दो स्वतन्त्र राजा हो चुके थे। खारवेल के काल के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल और स्टेन कोनो ने उसका समय दूसरी सदी ई०पू० के पूर्वार्ध में निर्धारित किया था। पर श्री रायचौधरी आदि अनेक विद्वानों ने इससे असहमति प्रगट की, और यह प्रतिपादित किया कि खारवेल का काल पहली सदी ई०पू० के अन्तिम चरण के लगभग में ही रखा जा सकता है। पर वर्तमान समय में ऐतिहासिकों की यही प्रवृत्ति है, कि खारवेल के समय को शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र (१८४-१४९ ई०पू०) से पूर्ववर्ती काल में रखा जाए। इसका प्रधान कारण खारवेल के लेख में उल्लिखित यह बात है, कि यवन आक्रान्ता उसकी सेनाओं के राजगृह की ओर प्रस्थान करने के समाचार को सुन कर मथुरा की ओर भाग गया।[1] प्राचीन भारतीय इतिहास में केवल एक ऐसा अवसर था, जबकि यवन सेनाएँ भारत के

---

१. "अठमे च वसे महता सेना. . .गोरधगिरिं घातापयिता राजगहं उपपीडपयति। एतिना च कंपपदान सनादेन. . सेनवाहने विपमुवितुं मधुरं अपयातो यवनराज (डिमित)... यछति. ..पलव" (हाथीगुम्फा लेख)

मध्य देश को आक्रान्त करती हुईं माध्यमिका और साकेत तक आ गई थीं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में यवनों के इस आक्रमण का निर्देश किया है।[1] पतञ्जलि शुङ्ग राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे, अतः यवनों का यह आक्रमण पुष्यमित्र के समय से पूर्ववर्ती काल में ही हुआ था। अशोक के बाद के मौर्य वंशी राजा बहुत निर्बल थे, और उनके शासन-काल में मागध साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया था। इसी परिस्थिति से लाभ उठा कर डेमिट्रियस (दिमित्र) जैसा शक्तिशाली यवन राजा भारत के मध्यदेश में साकेत व उससे भी आगे तक बढ़ आने में सफल हो सका था। खारवेल का काल इसी के लगभग रखा जा सकता है। क्योंकि डेमिट्रियस का आक्रमण दूसरी सदी ई० पू० के प्रारम्भिक भाग में हुआ था, अतः खारवेल का काल भी दूसरी सदी ई० पू० के प्रारम्भ में ही कभी होना चाहिये। क्योंकि खारवेल से पूर्व कलिङ्ग के दो अन्य स्वतन्त्र राजा हो चुके थे, अतः ऐलवंशी महामेघवाहन द्वारा कलिङ्ग में अपने स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना का काल तीसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में ही रखा जा सकता है। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मागध साम्राज्य के विघटन और क्षय की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसी के परिणामस्वरूप दक्षिणापथ में आन्ध्र-वंशी सिमुक द्वारा अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई, और उसी के कारण कलिङ्ग में ऐलवंशी महामेघवाहन ने एक स्वतन्त्र राज्य कायम किया। मगध के उत्कर्ष से पूर्व कलिङ्ग एक शक्तिशाली राज्य था। राजा अशोक द्वारा उसकी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता का अन्त किया गया, और उसे मागध साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया गया। पर कलिङ्ग देर तक मौर्यों के अधीन नहीं रहा। ऐलवंशी महामेघवाहन द्वारा उसकी स्वतन्त्रता की पुनःस्थापना की गई। यह घटना राजा दशरथ के शासन-काल में हुई थी, यह मानने का आधार केवल यह बात है, कि कलिङ्गराज खारवेल के आठवें शासन-वर्ष में यवनों का वह आक्रमण हुआ था, जबकि वे मध्यदेश को आक्रान्त करते हुए साकेत नगरी तक चले आये थे। क्योंकि खारवेल से पूर्व कलिङ्ग के दो अन्य स्वतन्त्र राजा हो चुके थे, और अनुमान द्वारा यह माना जा सकता है कि इन दो राजाओं का कुल शासन-काल ३५ या ३० वर्ष रहा होगा, अतः कलिङ्ग की स्वतन्त्रता दशरथ के शासन-काल में ही होनी चाहिये। पर यह भी सम्भव है, कि खारवेल के पूर्ववर्ती राजाओं ने २५ व ३० वर्षों से अधिक समय तक शासन किया हो। उस दशा में कलिङ्ग के स्वातन्त्र्य-काल को भी राजा कुनाल के समय में मानना होगा।

(४) राजा सम्प्रति (२२३-२१५ ई० पू०)

पौराणिक अनुश्रुति में दशरथ या बन्धुपालित का शासन-काल आठ वर्ष दिया गया है। उसकी मृत्यु के पश्चात् सम्प्रति मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सम्प्रति का

१. 'अरुणत् यवनः साकेतम्। अरुणत् यवनः माध्यमिकाम्।'

दशरथ के साथ क्या सम्बन्ध था, इस विषय में प्राचीन अनुश्रुति में ऐकमत्य नहीं है। पुराणों में उसे दशरथ का पुत्र कहा गया है[1], और जैन[2] तथा बौद्ध[3] अनुश्रुतियों में कुनाल का पुत्र। पर क्योंकि अशोक के समय में भी सम्प्रति ने युवराज के पद पर कार्य किया था, अतः उसे दशरथ का पुत्र मानना युक्तियुक्त नहीं होगा। वस्तुतः, सम्प्रति कुनाल का ही पुत्र था, और चिरकाल से मौर्य शासन का सञ्चालन कर रहा था। कुनाल के समय में वही साम्राज्य का वास्तविक शासक था, और दशरथ के समय में भी। सम्भवतः,इसी कारण दशरथ को 'बन्धुपालित' भी कहा गया है, यह ऊपर लिख चुके हैं। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में सम्प्रति को अशोक का उत्तराधिकारी लिखा गया है, और कुनाल तथा दशरथ का मौर्य साम्राज्य के राजा के रूप में उल्लेख नहीं किया गया। जैन ग्रन्थों से भी यह सूचित होता है, कि अशोक के बाद सम्प्रति ही मागध साम्राज्य का सूत्रधार बना था। पौराणिक और अन्य अनुश्रुतियों में जो यह भेद है, उसका कारण यही प्रतीत होता है कि कुनाल और दशरथ नाममात्र के ही राजा थे। उनके समय में भी शासन-सूत्र का वास्तविक सञ्चालन सम्प्रति के ही हाथों में था। २२३ ई० पू० में अपने बड़े भाई दशरथ के पश्चात् वह स्वयं मौर्य साम्राज्य का अधिपति बना। कतिपय पुराणों में बन्धुपालित (दशरथ) का उत्तराधिकारी इन्द्रपालित लिखा गया है।[4] सम्भवतः, इन्द्रपालित सम्प्रति का ही विरुद था। जिन पुराणों में इन्द्रपालित का उल्लेख है, उनमें सम्प्रति का नाम नहीं आता।

जैन अनुश्रुति में सम्प्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध अनुश्रुति में अशोक का है। जैन साहित्य के अनुसार सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था, और उसने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये बहुत उद्योग किया था। जैन ग्रन्थों में यह भी प्रतिपादित किया गया है, कि राजा सम्प्रति 'त्रिखण्डभरताधिप' था। उसके शासन-काल में मौर्य वंश अपने उत्कर्ष की

---

१. 'राजादशरथोऽष्टौ तु तस्य पुत्रो भविष्यति।
भविता नववर्षाणि तस्य पुत्रश्च सम्प्रतिः ।। मत्स्य पुराण २७२।२५। वायु ९९।३३४

२. "इत्थ कुणालेन गीयं—'चन्द्रगुत्तपुत्तोय बिंदुसारस्स णत्तुओ, असोकसिरिणो पुत्तो अंधो जायति कागिणिं' इत्यादि गाथा। ताहे रन्ना पुच्छियं—को एस तुमं। तेण कहियं—तुब्भं पुत्तो। जणणियं अवसारेउं कंठे घेत्तुं अंसुपाओ कओ। भणियं च णेण—किं कागिणीए बि नारिहसि जं कागिणिं जायसि ?। अमच्चेहि भणियं—रायपुत्ताणं रज्जं कागिणी। रन्ना भणियं—किं काहिसि अंधणो रज्जेणं ?। कुणालो भणइ—मम पुत्तो अत्थि। कया जाओ ?। संपइ भूओ। आणीओ। संपइ त्ति से नामं कयं। रज्जं दिन्नं।" बृहत्कल्पसूत्रम् (टीका) गाथा—२९२-२९४।

३. 'तस्मिश्च समये कुनालस्य सम्पदिनामपुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते।' दिव्यावदान पृ. ४२९

४. 'कुनालसूनुरष्टौ च भोक्ता वै बन्धुपालितः।
बन्धुपालितदायादो दश भावीन्द्रपालितः ।।' ब्रह्माण्ड पुराण ७४।१४७।

चरम सीमा को पहुँच गया था। प्राचीन जैन अनुश्रुति में मौर्य वंश की तुलना यव (जौ) के दाने के साथ की गई है। जैसे यव का मध्य भाग मोटा होता है, और उसके दोनों सिरे पतले होते हैं, वैसे ही मौर्य वंश प्रारम्भ और अन्त में शक्तिहीन था, और मध्य के काल में वहुत अधिक शक्तिशाली था। जैन ग्रन्थों के अनुसार मौर्य वंश का पहला राजा चन्द्रगुप्त वल (सेना), वाहन (हस्ति, अश्व आदि) और विभूति (सम्पत्ति) में हीन था, विन्दुसार उससे अधिक शक्तिशाली एवं वैभवसम्पन्न था, अशोक बिन्दुसार से भी अधिक था, और सम्प्रति मौर्य राजाओं में सबसे अधिक उत्कृष्ट था। उसके पश्चात् मौर्य वंश की शक्ति क्षीण होने लगी। इस प्रकार यव के दाने में जो स्थिति मध्य भाग की होती है, वही मौर्य वंश के राजाओं में सम्प्रति की थी।[1] यदि जैन अनुश्रुति की इस वात को सत्य माना जाए, तो यह भी स्वीकार करना होगा, कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य के विघटन का प्रारम्भ नहीं हो गया था। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सम्प्रति को जैन ग्रन्थों में जो 'सर्वोत्कृष्ट' तथा 'यवमध्यकल्प' कहा गया है, उसका कारण सम्भवतः उसके साम्राज्य की विशालता न होकर उसका जैनधर्म का प्रवल समर्थक एवं संरक्षक होना था। जहाँ जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को 'सर्वोत्कृष्ट' कहा गया है, वहाँ अशोक के लिये 'बृहत्तम' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है, कि यद्यपि सम्प्रति मौर्य राजाओं में सर्वश्रेष्ठ था, पर साम्राज्य की दृष्टि से अशोक का शासन बृहत्तम क्षेत्र में विस्तृत था।

जैन धर्म के प्रचार के लिये जो कार्य राजा सम्प्रति द्वारा किये गये, प्राचीन जैन ग्रन्थों में उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख विद्यमान है। सम्प्रति ने आचार्य सुहस्ती से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। परिशिष्ट पर्व और बृहत्कल्पसूत्र जैसे जैन ग्रन्थों के अनुसार एक समय उज्जयिनी नगरी में जीवन्त स्वामी की प्रतिमा की रथयात्रा निकल रही थी, और आचार्य सुहस्ती उसके साथ रथयात्रा में जा रहे थे। जब यह रथयात्रा राजप्रासाद के सम्मुख आई, तो राजा सम्प्रति की दृष्टि सुहस्ती पर पड़ी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, कि सुहस्ती से वह भली भाँति परिचित हैं। पर यह परिचय कव और कहाँ हुआ, इसका उन्हें स्मरण नहीं आया। सोचते-सोचते राजा सम्प्रति मूर्च्छित हो गया। जब उसकी मूर्च्छा भंग हुई, तो उसे स्मरण आया कि सुहस्ती से उसकी भेंट पिछले जन्म में हुई थी। सुहस्ती भी राजा

---

१. "जवमज्झ मुरियवंसे, दाणे वणि-विवणि।
तस जीवपडिक्कमओ पभावओ समण संघस्स॥' बृहत्कल्पसूत्रम्, गाथा ३२७८
यथा यवो मध्यभागे पृथुल आदावन्ते च हीनः एवं मौर्यवंशोऽपि। तथाह—चन्द्रगुप्तस्तावत् बलवाहनविभूत्या हीन आसीत्, ततो बिन्दुसारो बृहत्तरः, ततोऽप्यशोकश्री बृहत्तमः, ततः सम्प्रतिः सर्वोत्कृष्टः, ततो भयोऽपि तथैव हानिरवसातव्या, एवं यवमध्यकल्पः सम्प्रतिनृपतिरासीत्।" (टीका)

को देखकर पहचान गया, और उसने यह बताया कि पिछले जन्म में सम्प्रति कौशाम्बी में भीख माँग कर अपना निर्वाह किया करता था। सुहस्ती की प्रेरणा से उसने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था, और मृत्यु के पश्चात् अब उस रंक ने कुनाल के घर में जन्म लिया है। कौशाम्बी का वह रंक ही अब सम्प्रति के रूप में उज्जयिनी के राजसिंहासन पर आरूढ़ है। सुहस्ती के बताने से सम्प्रति को भी अपने पूर्व जन्म की सब बातें याद आ गईं, और उसने इस बात को स्वीकार किया कि इस जन्म में उसे जो भी सुख समृद्धि एवं राजसुख प्राप्त है, वे सब आचार्य सुहस्ती की कृपा और जैन धर्म की महिमा के कारण हैं। उसने हाथ जोड़ कर सुहस्ती से प्रार्थना की—पिछले जन्म के समान इस जन्म में भी आप मेरे गुरु बनना स्वीकार करें, और मुझे अपना धर्मपुत्र समझ कर कर्तव्य की शिक्षा दें। इस पर सुहस्ती ने सम्प्रति को जैन धर्म की दीक्षा दी, और अणुव्रत, गुणव्रत आदि उन व्रतों का उपदेश दिया, जिनका पालन उसे श्रावक के रूप में करना चाहिये[१]।

जैन धर्म की दीक्षा लेकर सम्प्रति ने अपने धर्म के प्रचार के लिये जो प्रयत्न किये, उनका भी परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार एक बार रात्रि के समय सम्प्रति के मन में यह बात आई, कि अनार्य देशों में भी जैन धर्म का प्रचार किया जाना चाहिये, ताकि (जैन) साधु वहाँ भी स्वतन्त्र रूप से विचरण कर सकें। यह सोच कर उसने ऐसे अनार्य देशों को, जो कि उसे कर प्रदान करते थे और उसके अधीन थे, यह आदेश दिया कि मेरे द्वारा भेजे हुए पुरुष (राजपुरुष) जैसे-जैसे मार्ग प्रदर्शित करें, वैसे-वैसे किया जाए। यह आदेश प्रदान कर राजा सम्प्रति ने अपने राजपुरुषों को साधुओं के वेश में अनार्य देशों में भेजा। इन राजपुरुषों ने राजा सम्प्रति के प्रभाव से शीघ्र ही अनार्य देशों के निवासियों को जैन धर्म का अनुयायी बना लिया। इन लोगों को सम्प्रति के कोप का भय था, और वे उसे संतुष्ट रखने के लिये पूर्णतया उद्यत थे। अतः उन्होंने वही सब कुछ किया, जिसका आदेश उन्हें राजपुरुषों द्वारा प्रदान किया गया था।[२] वे अनार्य देश कौन-

---

१. परिशिष्ट पर्व ११।२३-६४

२. 'सम्प्रतिश्चिन्तयामास् निशीथसमयेऽन्यदा ।
अनार्येष्वपि साधनां विहारं वर्तयाम्यहम् ॥८९॥
इत्यनार्यानादिदेश राजा दद्ध्वं करं मम ।
तथा तथास्मत्पुरुषा मार्गयन्ति यथा यथा ॥९०॥
ततः प्रैषीदनार्येषु साधुवेशधरान्नरान्
ते सम्प्रत्याज्ञयानार्यानिवमन्वशिषन्भृशम् ॥९१॥
भविता सम्प्रतिस्वामी कोपयिष्यत्यन्यथा पुनः ॥९३॥
ततः सम्प्रतिराजस्य परितोषार्थमुद्यताः ।
ते तु तत्पुरुषादिष्टमन्वतिष्ठन् दिने दिने ॥९४॥
परिशिष्ट पर्व, एकादश सर्ग ।

से थे, जहाँ कि सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार का उद्योग किया था, इसकी सूचना भी परिशिष्ट पर्व में विद्यमान है। उसके अनुसार आन्ध्र और द्रमिल (द्रविड़) आदि देशों में सम्प्रति द्वारा धर्म-प्रचारक भेजे गये थे।[1] दक्षिणी भारत में जैन धर्म का जो प्रसार हुआ, उसका प्रधान श्रेय राजा सम्प्रति को ही दिया जाता है।

जैन धर्म के प्रचार के लिये राजा सम्प्रति ने अन्य भी अनेक कार्य किये। उज्जयिनी नगरी के चारों मुख्य द्वारों पर उसकी ओर से महासत्रों की स्थापना की गई। कौन अपना है और कौन पराया, इसका कोई भी भेदभाव वहाँ नहीं किया जाता था, और जो कोई भी चाहे इन महासत्रों से भोजन प्राप्त कर सकता था।[2] सम्प्रति ने व्यापारियों को यह भी आदेश दिया, कि साधु लोग तेल, अन्न, दधि, वस्त्र आदि जो कुछ भी ग्रहण करना चाहें, उन्हें मुफ्त दे दिया जाए और उसका मूल्य राज्यकोश से प्राप्त कर लिया जाए।[3]

जैन धर्म के उत्कर्ष और प्रचार के लिये जो कार्य राजा सम्प्रति द्वारा किये गये, उनका उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी पाया जाता है। विविधतीर्थकल्प ग्रन्थ के अन्तर्गत पाटलिपुत्र-नगर-कल्प में राजा सम्प्रति के लिये निम्नलिखित विशेषणों का प्रयोग किया गया है—'त्रिखण्डभरताधिप' या भारत के तीनों खण्डों का स्वामी, परम अर्हत, 'अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहार; या जिसने कि अनार्य देशों में भी श्रमणों (जैन साधुओं) के विचरण को प्रवृत्त किया, और महाराज।[4] निस्सन्देह, ये विशेषण जैन धर्म के इतिहास में सम्प्रति के स्थान को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं।

बृहत्कल्पसूत्र और उसकी टीका में भी सम्प्रति के उन कार्यों का उल्लेख है, जिन्हें कि उसने जैन धर्म के प्रचार के लिये किया था। ये कार्य निम्नलिखित थे—(१) नगर के

---

१. 'एवं राज्ञोऽतिनिर्बन्धादाचार्यैः केऽपि साधवः।
विहर्तुमादिदिशिरे ततोऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥परिशिष्ट पर्व ११।९९

२. 'राज्ञा प्राग्जन्मरङ्कत्वं वीभत्सं स्मरता निजम्।
अकार्यन्त महासत्राः पूर्द्वारेषु चतुर्ष्वपि ॥
अयं निजः परो वायमित्यपेक्षाविवर्जितम्।
तत्रानिवारितं प्रापुर्भोजनं भोजनेच्छवः॥' परिशिष्ट पर्व ११।१०३-१०४

३. 'श्रमणोपासको राजा कान्दविकानथादिशत्।
तैलाज्यदधिविक्रेतृन्वस्त्रविक्रायकानपि ॥
यत्किञ्चिदुपकुरुते साधूनां देयमेव तत्।
तन्मूल्यं व प्रदास्यामि मा स्म शङ्कध्वमन्यथा॥ परिशिष्ट पर्व ११।११०-१११

४. "तत्रैव च चाणक्यः सचिवो नन्दं समूलमुन्मूल्य मौर्यवंश्यं श्रीचन्द्रगुप्तं न्यवीविशद्विशांपतित्वे। तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीः कुणालस्तत्सूनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्त्तितश्रमणविहारः सम्प्रतिमहाराजश्चाभवत्।"

चारों द्वारों पर दान की व्यवस्था। (२) वणिजों और विवणिजों द्वारा साधुओं को वस्त्रादि वस्तुएँ मूल्य के विना देने का प्रवन्ध। जो दूकान पर वैठ कर माल वेचते हैं, उनके लिये 'वणिज' शव्द प्रयुक्त किया गया है, और जो दूकान न होने पर किसी ऊँचे स्थान पर वैठकर माल वेचें, उन्हें 'विवणिज' कहा गया है। (३) प्रत्यन्त या सीमान्त देशों के शासक राजाओं को वुलाकर उन्हें विस्तार के साथ 'धर्म' वताया गया, और उनसे यह अनुरोध किया गया कि स्वदेश को लौटने के अनन्तर भी वे श्रमणों के प्रति भक्तिभाव रखें। राजा सम्प्रति से ऐसी शिक्षा प्राप्त कर सीमान्त देशों के राजा अपने-अपने राज्यों में वापस लौट गये। वहाँ जाकर उन्होंने चैत्यगृहों का निर्माण कराया, और धर्म की घोषणा की। सीमान्त देश भी ऐसे हो गये, जिनमें कि साधु लोग सुखपूर्वक विचरण कर सकते थे। यह कैसे हुआ? सम्प्रति ने साधुओं से कहा——आप सीमान्त देशों में जाइये, और धर्मकथा का प्रवचन करते हुए वहाँ परिभ्रमण कीजिये। इस पर साधुओं ने कहा——राजन्! इन देशों के निवासी यह नहीं जानते कि कौन-से वस्त्र, भोजन और पात्र आदि साधुओं के योग्य हैं और कौन-से नहीं। इस दशा में हम इन देशों में कैसे विचरण कर सकते हैं? यह सुनकर सम्प्रति ने अपने भटों (सैनिकों) को साधुओं के वेश में प्रत्यन्त देशों में प्रेषित किया। उन्हें यह समझा दिया गया, कि वहाँ जाकर उन्हें क्या करना है। फिर क्या हुआ? श्रमणों का वेश धारण किये हुए उन सैनिकों ने प्रत्यन्त देशों में जाकर शुद्ध आहार आदि ग्रहण करना प्रारम्भ किया और वहाँ के निवासियों को साधुओं की विधि एवं मर्यादाओं का भली भाँति बोध कराया। इसके परिणामस्वरूप ये सब राज्य साधुओं के विचरण के योग्य हो गये। राजा सम्प्रति के काल से ही ये सब प्रत्यन्त-देश 'भद्रक' (जिनमें भद्र आहार-व्यवहार प्रचलित हों) हो गये हैं।[1]

---

१. "एवं यवमध्यकल्पः सम्प्रतिनृपतिरासीत्। तेन च राज्ञा द्वारसंलोके चतुर्ष्वपि नगर-द्वारेषु दानं प्रवर्त्तितम्। 'वणि-विवाणि' त्ति इह ये बृहत्तरा आपणास्ते पणय इत्युच्यन्ते। ये तु दरिद्रापणास्ते विपणयः। यद्वा ये आपणस्थिता व्यवहरन्ति ते वणिजः। ये पुनरापणेन बिनाऽप्यूर्ध्वस्थिता वाणिज्यं कुर्वन्ति ते विवणिजः। एषु तेन राज्ञा साधूनां वस्त्रादिकं दापितम्। स च राजा वक्ष्यमाणनीत्या त्रस-जीवप्रतिक्रामकः प्रभावकश्च श्रमणसंघस्याऽऽसीत्।
सो रायाऽवंतिपती समणाणं सावतो सुविहिताणं।
पच्चंतियरायाणो सव्वे सदाविया तेणं।।३२८३।।
स सम्प्रतिनामा राजावन्तीपतिः श्रमणानां श्रावकः उपासकः पञ्चाणु व्रतधारी अभवदिति शेषः। ततस्तेन राज्ञा ये केचित् प्रात्यन्तिकाः प्रत्यन्तदेशाधिपतयो राजानस्ते सर्वेऽपि शब्दापिताः आकारिताः।।
कहिओ य तेसि धम्मो तित्थरतो गाहिता य सम्मत्तं।
अप्पाहिता य बहुसो समणाणं भद्धणा होह।।३२८४।।

परिशिष्ट पर्व में केवल आन्ध्र और द्राविड़ देशों का ही ऐसे प्रत्यन्त राज्यों के रूप में उल्लेख है, जिन्हें कि राजा सम्प्रति ने साधुओं के विहार-योग्य किया था। पर बृहत्कल्प-सूत्र की टीका में आन्ध्र और द्रविड़ के अतिरिक्त महाराष्ट्र और कुडुक्क को भी इन प्रत्यन्त देशों में परिगणित किया है। पहले ये प्रत्यन्त देश 'घोर' एवं 'प्रत्यपायवहुल' (जिनमें अनेकविध विपत्तियों का प्राचुर्य हो) थे, पर राजा सम्प्रति के प्रयत्न से ये सब 'साधुसुखप्रचार' हो गये थे।[1]

राजशक्ति का प्रयोग कर राजा सम्प्रति ने जो साधुओं को इतनी अधिक सुविधाएँ दे दी थीं, जिनके कारण वे सम्प्रति के राज्य में प्रत्येक वस्तु स्वेच्छानुसार व्यापारियों से

कथितश्च तेषां प्रात्यन्तिकराजानो तेन विस्तरतो धर्मः। ग्राहिताश्च ते सम्यक्त्वम्। ततः स्वदेशगता अपि ते बहुशस्तेन राजा संदिष्टाः, यथा– श्रमणानां 'भद्रकाः' भक्तिमन्तो भवत।

वीसज्जिय य तेणं गमणं घोसावणं सरज्जेसु।
साहूण सुहविहारा जाता पच्चंतिया देसा ॥३२८७

एवं तेन राज्ञा शिक्षां दत्त्वा विसर्जिताः। ततस्तेषां स्वराज्येषु गमनम्। तत्र च तैः स्वदेशेषु सर्वत्राप्यमताघातघोषणं कारितम्। चैत्यगृहाणि च कारितानि। तथा प्रात्यन्तिकाः देशाः साधूनां सुखविहाराः सञ्जाताः। कथम्? इति चेदुच्यते– सम्प्रतिना साधवो भणिताः–भगवन्तः! एतान् प्रत्यन्तदेशान् गत्वा धर्मकथया प्रतिबोध्य पर्यटत। साधुभिरुक्तम्–राजन्! एते साधूनामाहारवस्त्रपात्रादेः कल्प्याऽकल्प्यविभागं न जानन्ति कथं वयमेतेषु विहरामः?। ततः सम्प्रतिना साधुवेषेण स्वभटाः शिक्षां दत्त्वा तेषु प्रत्यन्तदेशेषु विसर्जिताः।

समणभडभाविएसुं तेसू रज्जेसु एसणादीसु।
साहू सुहं विहरिया तेणं चिय भद्दणा ते उ ॥२२८८

श्रमणवेषधारिभिर्भटैरेषणादिभिःशुद्धमाहारादिग्रहणं कुर्वाणैः साधुविधिना भावितेषु तेषु राज्येषु साधवः सुखं विहृताः। तत एव च सम्प्रतिनृपतिकालात् ते प्रत्यन्तदेशाः भद्रकाः सञ्जाताः॥ बृहत्कल्पसूत्रम्।

१. "उद्दिण्ण जोहाउल सिद्धसेणो, स पत्थिवो णिज्जिय सत्तुसेणो।
समंततो साहुसुहप्पयारे, अकासि अंधे दमिले य घोरे ॥३२८९

उदीर्णाः प्रबला ये योधास्तैराकुलाः सङ्कीर्णा सिद्धा प्रतिष्ठिता सर्वत्राप्यप्रतिहता सेना यस्य स तथा, अत एव च 'निर्जितशत्रुसेनः' स्ववशीकृतविपक्षनृपति-सैन्यः, एवंविधः स सम्प्रतिनामा पार्थिवः अन्ध्रान् द्रविडान् च शब्दात् महाराष्ट्र-कुडुक्कादीन् प्रत्यन्तदेशान् 'घोरान्' प्रत्यपायबहुलान् समन्ततः 'साधुसुखप्रचारान्' साधूनां सुखविहरणात् अकर्षीत् कृतवान्। बृहत्कल्पसूत्रम्।

प्राप्त कर सकते थे, और प्रत्यन्त देशों में भी उनके लिये साधु वेश में रहते हुए सैनिकों द्वारा नानाविध सुख-सुविधाएँ जुटा दी गई थीं, इसे अनेक जैन आचार्यों ने पसन्द नहीं किया। सुहस्ती का एक साथी महागिरि था। जब साधुओं को सब पदार्थ सुखपूर्वक प्राप्त होने लगे, तो महागिरि ने सुहस्ती से उसका कारण पूछा। यह जानते हुए भी कि इस ढंग से अन्न-वस्त्र ग्रहण करना साधु के लिये अनुचित है, सम्प्रति के कारण सुहस्ती ने उसका समर्थन किया। इस पर महागिरि ने सुहस्ती से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।[1]

राजा अशोक ने जिस प्रकार का प्रयत्न बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये किया था, वैसा ही सम्प्रति द्वारा जैन धर्म के प्रचार के लिये किया गया था। अशोक ने भी अपने प्रत्यन्त-देशों में अन्त-महामात्रों की नियुक्ति धर्म-विजय के प्रयोजन से की थी। अशोक के ये प्रत्यन्त-देश सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सातिय-पुत्र और केरलपुत्र थे, और पश्चिम में यवनराज अन्तियोक द्वारा शासित प्रदेश तथा उसके परवर्ती यवन राज्य। पर जैन ग्रन्थों में सम्प्रति के जिन प्रत्यन्त-राज्यों का उल्लेख है, वे महाराष्ट्र, कुडुक्क, आन्ध्र और द्रविड़ हैं। कुडुक्क से कौन-सा देश अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, इसकी स्थिति महाराष्ट्र के समीप में ही कहीं थी। विष्णु पुराण में कुटुक नाम के एक प्रदेश का उल्लेख मिलता है, जिसे कोङ्क (कोंकण ?) और कर्णाटक के साथ लिखा गया है।[2] कुटुक और कुडुक्क एक ही प्रदेश के सूचक हो सकते हैं। अशोक के समय में आन्ध्र और महाराष्ट्र मौर्य 'विजित' (साम्राज्य) के अन्तर्गत थे, पर सम्प्रति के समय में वे 'प्रत्यन्त' हो गये थे।

अशोक के समान सम्प्रति ने भी अपने राज्य एवं प्रत्यन्त देशों में बहुत-से चैत्यों, मन्दिरों तथा मठों का निर्माण कराया था। परिशिष्ट पर्व के अनुसार राजा सम्प्रति ने त्रिखण्ड भरतक्षेत्र (भारत) को जिनायतनों (जैन मन्दिरों) से मण्डित कर दिया था।[3] पाटलिपुत्र-नगरकल्प में सम्प्रति का एक विशेषण 'प्रवर्तितश्रमणविहारः' दिया गया है, जिससे सूचित होता है कि उस द्वारा श्रमणों के निवास के लिये बहुत-से विहारों का निर्माण कराया गया था। कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका के अनुसार राजा सम्प्रति ने सवा करोड़

---

१. 'सुहस्तिनमितश्चार्यं महागिरिरभाषत ।
अनेषणीयं राजान्नं किमादत्से विदन्नपि ॥११४॥
सुहस्त्युवाच भगवन्यथा राजा तथा प्रजाः ।
राजानुवर्तनपराः पौरा विश्राणयन्त्यतः ॥११५॥
मायेयमिति कुपितो जगदार्यमहागिरिः ।
शान्तं पापं विसम्भोगः खल्वतः परमावयोः ॥११६॥ परिशिष्ट पर्व, एकादश सर्ग ।

२. Wilson : Vishnu Purana p. 63

३. "आवैताढ्यं प्रतापाढयः स चकाराविकारधीः ।
त्रिखण्डं भरतक्षेत्रं जिनायतनमण्डितम् ॥" परिशिष्ट पर्व ११।६५

जिनालयों (जैन मन्दिरों) का निर्माण कराया था।[1] इस कथन में अतिशयोक्ति अवश्य है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि सम्प्रति द्वारा बहुत-से जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया गया था। यही कारण है, कि आज भी अनेक ऐसे मन्दिर विद्यमान हैं, जिनके निर्माण का श्रेय राजा सम्प्रति को दिया जाता है। स्मिथ ने लिखा है, कि जिन किन्हीं भी प्राचीन जैन मन्दिरों एवं अन्य कृतियों की उत्पत्ति एवं निर्माण अज्ञात हो, उन्हें लोग सम्प्रति द्वारा निर्मित प्रतिपादित कर देते हैं।[2] टाड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजस्थान का इतिहास में उल्लेख किया है, कि राजस्थान और सौराष्ट्र (काठियावाड़) में जितने भी प्राचीन जैन मन्दिर हैं, उन सबके विषय में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि उनका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के वंशज राजा सम्प्रति द्वारा कराया गया था[3]। इसमें सचाई चाहे हो या न हो, पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि सम्प्रति जैन धर्म का प्रबल समर्थक तथा संरक्षक था, और उसने बहुत-से जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था।

कतिपय जैन ग्रन्थों में अशोक के पौत्र और कुनाल के पुत्र का नाम चन्द्रगुप्त लिखा गया है। पुण्याश्रव कथा के अनुसार कुनाल का पुत्र चन्द्रगुप्त था, जो कुनाल के बाद राजा बना। परिशिष्ट पर्व में अशोक, कुनाल और सम्प्रति की कथाएँ जिस प्रकार तथा जिस क्रम से लिखी गई हैं, पुण्याश्रव कथा कोश में उसी क्रम से अशोक, कुनाल और चन्द्रगुप्त की कथाएँ उल्लिखित हैं[4]। सम्भवतः, सम्प्रति का एक नाम चन्द्रगुप्त भी था, और उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय भी कहा जा सकता है। पुण्याश्रव कथा में इस चन्द्रगुप्त (कुनाल के पुत्र) के विषय में ही यह अनुश्रुति भी वर्णित है, कि उस ने दक्षिण में जाकर अनशन द्वारा प्राणत्याग किया था। पर सम्भवतः, पुण्याश्रव कथा का यह उल्लेख भ्रम पर आधारित है। इस सम्बन्ध में हम पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विवेचन कर चुके हैं।

जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को कहीं पाटलिपुत्र का राजा कहा गया है[5], और कहीं अवन्ति देश[6] या उज्जयिनी[7] का। इससे सहज में यह अनुमान किया जा सकता है, कि ये दोनों ही नगर उसके राज्य के अन्तर्गत थे, और उसकी राजधानी के रूप में प्रयुक्त हुआ करते थे। ऐतिहासिक स्मिथ ने यह कल्पना की है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य दो

---

१. "सम्प्रति...पितामहदत्तराज्यो रथयात्राप्रवृत्त श्रीआर्यसुहस्तिदर्शनाज्जात-जातिस्मृतिः...जिनालयसपादकोटि...अकरोत्।' कल्पसूत्र, सुबोधिनी टीका, सूत्र ६
२. Smith V. A. Early History of India p. 202
३. टाड—राजस्थान, प्रथम भाग, पृ. ७२१–२३
४. पुण्याश्रव कथा—नाथूराम प्रेमी द्वारा अनूदित।
५. पाटलिपुत्र नगरकल्प (विविध तीर्थ कल्प)
६. सः सम्प्रतिनामा राजावन्तीपतिः' बृहत्कल्प सूत्र टीका (गाथा–३२८३)
७. परिशिष्ट पर्व ११।२३

भागों में विभक्त हो गया था। पूर्वी भाग की राजधानी पाटलिपुत्र नगरी थी, और पश्चिमी भाग की उज्जयिनी नगरी। दशरथ और सम्प्रति समकालीन राजा थे। दशरथ पूर्वी मौर्य साम्राज्य का राजा था, और सम्प्रति पश्चिमी मौर्य साम्राज्य का[१]। यद्यपि रोमन साम्राज्य के पतन-काल से (जब कि वह साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था) तुलना करने पर यह कल्पना अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होती है, पर यह निराधार है। जैसा कि हम अभी ऊपर लिख चुके हैं, जैन ग्रन्थों में राजा सम्प्रति को पाटलिपुत्र का भी स्वामी कहा गया है, और उज्जयिनी का भी।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सम्प्रति का शासन-काल नौ वर्ष था।[२] वह २२३ ई० पू० में मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, और नौ वर्ष तक मौर्य साम्राज्य का शासन कर २१५ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई। उसके समय की कोई राजनीतिक घटना हमें ज्ञात नहीं है। सम्भवतः, इस काल में भी मौर्य साम्राज्य का पतन जारी रहा। इसी समय के लगभग भारत पर यवनों के आक्रमण पुनः प्रारम्भ हो गये, और मौर्य राजा उनका प्रतिरोध करने में असमर्थ रहे।

(५) यवन आक्रमणों का प्रारम्भ

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके अन्यतम सेनापति सैल्युकस ने सिकन्दर के एशियन प्रदेशों में किस प्रकार अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी, इसका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। सैल्युकस ने भारत पर भी आक्रमण किया था, और चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा उसे मुँह की खानी पड़ी थी। २९१ ई०पू० में सैल्युकस की मृत्यु हुई, और उसका पुत्र एण्टियोकस प्रथम सीरियन साम्राज्य का स्वामी बना। वह राजा बिन्दुसार का समकालीन था, और मौर्य राजा के साथ उसके कूटनयिक सम्बन्ध भी विद्यमान थे। २६१ ई० पू० में एण्टिओकस प्रथम की मृत्यु हुई, और उसका पुत्र एण्टियोकस द्वितीय थिओस (२६१-२४६ ई० पू०) सीरियन सम्राट् के पद पर अभिषिक्त हुआ। अशोक ने अपने उत्कीर्ण लेखों में अन्तियोक नामक जिस यवनराजा का उल्लेख किया है, वह यह एण्टियोकस थिओस ही था। जिस प्रकार राजा अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई थी, वैसे ही एण्टियोकस थिओस के बाद सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य भी क्षीण होने लगा था, और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने लग गये थे। बैक्ट्रिया (बाख्त्री या वाह्लीक) ने सबसे पूर्व सीरिया के आधिपत्य से मुक्ति प्राप्त की थी। वर्तमान समय के अफगानिस्तान राज्य के उत्तर के प्रदेश प्राचीन बाख्त्री के अन्तर्गत थे। उसके दक्षिण तथा पूर्व में हिन्दू कुश पर्वतमाला की स्थिति थी,

---

१. Smith V.A. Ashoka p. 70

२. वायु पुराण ९९।३३४

उत्तर में आक्सस (वंक्षु) नदी की, और दक्षिण-पश्चिम में एरिया के प्रदेश की। प्राचीन समय के एरिया को आज कल का हीरात सूचित करता है। सैल्युकस और चन्द्रगुप्त में जो सन्धि हुई थी, उनके परिणामस्वरूप एरिया, आर्कोशिया, गड्रोसिया और पैरोपनिसदी के प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे। अशोक के शासन-काल तक ये प्रदेश मौर्यों की ही अधीनता में रहे। पर बैक्ट्रिया सीरियन सामाज्य के अन्तर्गत था, और तीसरी सदी ई० पू० के मध्य तक वह इसी स्थिति में रहा। बैक्ट्रिया सीरियन साम्राज्य का एक प्रान्त था और उसका शासन करने के लिए सीरियन सम्राट् की ओर से एक क्षत्रप की नियुक्ति की जाती थी। एण्टियोकस द्वितीय थिओस के समय में बैक्ट्रिया के क्षत्रप के पद पर डायोडोटस (दियोदोत) नियुक्त था। सीरियन साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर वह स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र ग्रीक (यवन) राज्य की स्थापना हुई। बैक्ट्रिया कब स्वतन्त्र हुआ, इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में मतभेद है। पर प्रायः यह माना जाता है, कि बैक्ट्रिया ने २५० ई० पू० में सीरियन सम्राट् की अधीनता से मुक्ति पायी थी। बैक्ट्रिया की आबादी में ग्रीक (यवन) लोगों का महत्त्वपूर्ण स्थान था, यद्यपि वहाँ के मूल निवासी जाति से यवन नहीं थे। राजा और शासक-वर्ग के यवन होने के कारण ही बैक्ट्रिया को भी यवन-राज्य कहा जाता है। वस्तुतः, सीरियन साम्राज्य की भी यही दशा थी, क्योंकि उसके अन्तर्गत विविध प्रदेशों की बहुसंख्यक जनता भी यवन जाति की नहीं थी।

बैक्ट्रिया के पश्चिम और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में पार्थिया का प्रदेश था, जिसके निवासी ग्रीक (यवन) लोगों से सर्वथा भिन्न थे। सीरियन साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठा कर उन्होंने विद्रोह कर दिया, और २४८ ई० पू० के लगभग स्वतन्त्र पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। पार्थियन विद्रोह के नेता अरसक और तिरिदात नामक दो भाई थे। उन्होंने धीरे-धीरे पार्थियन राज्य की शक्ति को बहुत बढ़ा लिया और शीघ्र ही सम्पूर्ण ईरान उनकी अधीनता में आ गया।

बैक्ट्रिया और पार्थिया की स्वतन्त्रता के कारण सीरियन साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। २२३ ई० पू० में सीरिया के राजसिंहासन पर एण्टियोकस तृतीय (सैल्युकस तृतीय का उत्तराधिकारी) आरूढ़ हुआ, और उसने अपने वंश के लुप्त गौरव के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। पार्थिया पर आक्रमण कर उसने उसे जीतने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हो सका। पार्थियन राजा अरसक तृतीय को परास्त करने में असफल हो कर एण्टियोकस तृतीय ने उसके साथ सन्धि कर ली, और पार्थिया की ओर से निश्चिन्त होकर उसने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया (२१२ ई० पू० के लगभग)। इस समय बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर युथिडिमास विराजमान था, जो बड़ा वीर एवं शक्तिशाली राजा था। दो वर्ष तक वह निरन्तर एण्टियोकस से युद्ध करता रहा, और

सीरियन सम्राट् उसे परास्त कर सकने में असमर्थ रहा। अन्त में विवश होकर एण्टि-योकस ने युथिडिमास के साथ सन्धि कर ली, और इस सन्धि को स्थिर करने के लिये अपनी पुत्री का विवाह बैक्ट्रियन राजा के पुत्र डेमेट्रियस (दिमित्र) के साथ कर दिया।

पार्थिया और बैक्ट्रिया के साथ सन्धि कर एण्टियोकस तृतीय ने भारत की ओर प्रस्थान किया। वह सिकन्दर द्वारा जीते गये भारतीय प्रदेशों को फिर से अपनी अधीनता में ले आने के लिये उत्सुक था। भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर स्थित जो प्रदेश सैल्युकस द्वारा चन्द्रगुप्त को प्रदान कर दिये गये थे, एण्टियोक्स की दृष्टि में वे सीरियन साम्राज्य के अंग थे। अतः स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा थी, कि उन्हें जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर ले। इसी उद्देश्य से उसने २०६ ई०पू० के लगभग भारत पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणों से सूचित होता है, कि एण्टियोकस तृतीय हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर काबुल की घाटीमें प्रविष्ट हो गया, और वहाँका भारतीय राजा उसका मुकाबला नहीं कर सका। पोलिविअस ने इस राजा का नाम सोफागसेनस (Saphagasenus) या सुभागसेन लिखा है, और उसके सम्बन्ध में ग्रीक लेखक के निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करने के योग्य हैं—"काकेशस को पार कर उस (एण्टियोकस तृतीय) ने भारत में प्रवेश किया,और भारतीयोंके राजा सोफागसेनस के साथ अपनी मैत्री फिर से स्थापित की। उसने सुफागसेनस से और हाथी प्राप्त किये, जिनके कारण उसके हाथियों की संख्या १५० हो गई। यहाँ उसने अपनी सेना के लिये सब आवश्यक सामग्री भी प्राप्त की, और काइजिकस के एन्ड्रोस्थनीज़ को यह कार्य सौंपा कि राजा सुफागसेनस से सब प्रतिज्ञात धन-सम्पत्ति प्राप्त कर उसे अपने देश पहुँचा दे।" ऐसा प्रतीत होता है, कि सुभागसेन ने एण्टियोकस तृतीय के सम्मुखअपने को असहाय अनुभव किया था, और यवन आक्रान्ता को धन-संपत्ति एवं युद्धके साधन प्रदान कर उसके साथ मैत्री स्थापित रखने में ही अपना कल्याण समझा था। पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है, कि यह सुफागसेनस या सुभागसेन था कौन ? इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। स्मिथ ने यह प्रतिपादित किया है, कि यह कोई स्थानीय शासक था, जो कि मौर्य साम्राज्यकी निर्बलता से लाभ उठा कर स्वतन्त्र हो गया था, और जिसने काबुल की घाटीमें अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। पर अन्य ऐतिहासिकों को यह मत स्वीकार्य प्रतीत नहीं हुआ। एक मत यह प्रतिपादित किया गया है, कि सुभागसेन राजा शालिशुक का ही विरुद था। सम्प्रति के उत्तराधिकारी मौर्य राजा का नाम पुराणों में शालिशुक लिखा गया है। २०६ ई० पू० के लगभग वही पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर विराजमान था। ग्रीक लेखक पोलिविअस ने सोफागसेनस को 'भारतीयों का राजा' कहा है। यह विशेषण किसी स्थानीय शासक या राजा के लिये प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था। ग्रीक लेखकों द्वारा कोई ऐसा राजा ही 'भारतीयों का राजा' कहा जा सकता था, जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समान भारत के बड़े भाग का आधिपति हो।[1] पर

१. Bhandarkar D. R. : A. Comprehensive History of India. II pp45-46

शालिशुक और सुभागसेन को एक मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। हमें ज्ञात है, कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् ही मौर्य साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया था। काश्मीर में अशोक के एक पुत्र जालौक ने अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। तिब्वती लेखक तारनाथ के अनुसार अशोक के बाद विगताशोक राजा बना, जो कि अशोक के पुत्र कुनाल का पुत्र था, और विगताशोक के बाद उसका पुत्र वीरसेन राजा बना। तारनाथ ने वीरसेन को गान्धार का राजा भी लिखा है। सम्भव है, कि विगताशोक दशरथ या सम्प्रति का ही विरुद हो, जो कि कुनाल के पुत्र थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि दशरथ या सम्प्रति के शासन काल में मौर्य वंशके कुमार वीरसेन ने गान्धार में अपना स्वतन्त्र राज्य उसी प्रकार से स्थापित कर लिया था,जैसा कि कुछ समय पूर्व जालौक ने काश्मीर में किया था। दिव्यावदान में भी अशोक के वंशजों में वृषसेन का उल्लेख किया है। यह असम्भव नहीं, कि ये वीरसेन और वृषसेन एक ही व्यक्ति हों, और सुभागसेन इन्हीं का उत्तराधिकारी हो। इन राजाओं के नाम के अन्त में 'सेन' शब्द आना इनके पारस्परिक सम्बन्ध का सूचक हो सकता है। पर सुभागसेन तथा वीरसेन के विषय में ये सब मत केवल कल्पना पर ही आधारित हैं। इनका कोई तर्कसंगत या प्रामाणिक आधार नहीं है। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि यवनराज एण्टियोकस तृतीय ने २०६ ई० पू० के लगभग जब हिन्दूकुश को पार कर भारत में प्रवेश किया था, तो सिन्धु नदी के पश्चिम के प्रदेश सुभागसेन नामक एक राजा के शासन में थे। यह सुभागसेन एक शक्तिशाली राजा था, और एण्टियोकस ने इसे जीतकर अपने अधीन कर लेने के वजाय यही उचित समझा था, कि इससे मैत्री सम्बन्ध को पुनःस्थापित कर लिया जाए। यह स्पष्ट है, कि सैल्युकस प्रथम के समान एण्टियोकस तृतीय को भी भारत के आक्रमण में कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी।

सम्भवतः, यही समय था जब कि काश्मीर के राजा जालौक ने भी यवनों के भारतीय आक्रमण को विफल वनाने में सहयोग किया था।अशोक की मृत्यु २३८ ई० पू०में हुई थी, और तभी जालौक ने काश्मीर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। सम्भव है, कि जालौक का शासनकाल पर्याप्त रूप से सुदीर्घ रहा हो। सैल्युकस प्रथम और एण्टियोकस तृतीय के बीच के काल में किसी ग्रीक राजा ने भारत पर आक्रमण किया हो, इसका कोई निर्देश ग्रीक विवरणों में नहीं मिलता। राजतरङ्गिणी में जालौक द्वारा म्लेच्छों के परास्त किये जाने का जो उल्लेख है, वह एण्टियोकस तृतीय की सेनाओं के लिये हो सकता है, उसके पूर्ववर्ती किसी अन्य ग्रीक राजा के लिये नहीं। क्योंकि जालौक और सुभागसेन दोनों मौर्य वंश के थे, अतः यह सर्वथा सम्भव है कि उन्होंने परस्पर मिलकर एण्टियोकस तृतीय का सामना किया हो और यवनराज को इस बात के लिये विवश कर दिया हो कि वह इन भारतीय राजाओं से पुनः मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करे।

बैक्ट्रिया को जीत कर अपने अधीन करने में एण्टियोकस तृतीय को सफलता प्राप्त नहीं हुई थी, यह इसी प्रकरण में ऊपर लिखा जा चुका है। बैक्ट्रिया का राजा युथिडिमास बहुत शक्तिशाली था, और उसके शासन-काल में भारत के पड़ोसी इस यवन राज्य ने बहुत उन्नति की। युथिडिमास का पुत्र डेमेट्रियस (दिमित्र) अपने पिता की अपेक्षा भी अधिक प्रतापी एवं शक्तिशाली था। उसने अपने राज्य के उत्कर्ष के लिये बहुत प्रयत्न किया, और इसीलिये भारत पर भी आक्रमण किया। उत्तर-पश्चिमी भारत के बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में उसने सफलता प्राप्त की। यवनराज डेमेट्रियस जो भारत के एक भाग में अपना शासन स्थापित कर सका, उसका कारण यही था कि सम्प्रति के बाद के मौर्य राजा और भी अधिक निर्बल थे। बैक्ट्रिया के यवन राजाओं का वृत्तान्त हमें प्रधानतया उनके सिक्कों द्वारा ही ज्ञात होता है। इसी कारण उनके काल एवं शासन-क्षेत्र के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कब युथिडिमास की मृत्यु हुई, और कब डेमेट्रियस बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, यह भी अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है। सामान्यतया, यह माना जाता है, कि तीसरी सदी ई० पू० का अन्त होने से पूर्व ही डेमेट्रियस ने बैक्ट्रिया का राज्य प्राप्त कर लिया था, यद्यपि ऐसे भी ऐतिहासिक हैं, जो इस यवन राजा का काल पहली सदी ई०पू० में प्रतिपादित करते हैं। पर यह निर्विवाद है, कि बैक्ट्रिया के उत्कर्ष का प्रधान श्रेय डेमेट्रियम को ही प्राप्त है। उसके राजगद्दी पर बैठने से पूर्व ही युथिडिमास ने हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर उस राज्य को आक्रान्त कर लिया था, जहाँ सुभागसेन का शासन था। हीरात, कन्धार, सीस्तान आदि में उसके सिक्के अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि ये सब प्रदेश युथिडिमास के शासन में आ गये थे। पर डेमेट्रियस ही वह यवन राजा था, जिसने कि सिन्ध नदी को पार कर न केवल पंजाब पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, अपितु भारत के मध्य देश में दूर तक प्रवेश कर माध्यमिका और साकेत को भी आक्रान्त किया। सम्भवतः, यही डेमेट्रियस भारत पर आक्रमण करता हुआ पाटलिपुत्र तक आ पहुँचा था, और कलिङ्गराज खारवेल के कारण ही वह मागध साम्राज्य की राजधानी को जीत नहीं सका था। सिकन्दर के पश्चात् डेमेट्रियस पहला यवन राजा था, जिसने कि सिन्धु नदी को पार कर वाहीक (पंजाब) देश को आक्रान्त किया। पर सिकन्दर व्यास (विपाशा) नदी से आगे नहीं बढ़ सका था। डेमेट्रियस पूर्व में बहुत दूर तक बढ़ता चला गया, और साकेत तथा पाटलिपुत्र तक को आक्रान्त करने में समर्थ हुआ। डेमेट्रियस की इस असाधारण सफलता का प्रधान कारण यह था, कि इस समय मगध की सैन्य-शक्ति क्षीण हो चुकी थी,और उसके मौर्य राजा अत्यन्त निर्बल थे। अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, और तीसरी सदी ई० पू० का अन्त होने के समय मौर्यवंशी जो राजा (सम्प्रति के उत्तराधिकारी) पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ थे, वे सर्वथा शक्तिहीन थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय में मगध नन्द राजाओं के अधीन था, जिन्हें 'सर्वक्षत्रान्तकृत्' और 'महासैन्य' कहा गया है। पर इस

युग के मागध राजा 'अधार्मिक' और 'धर्मवादी' कर के प्रसिद्ध थे। साथ ही, इस काल में पञ्जाब के कठ, मालव, क्षुद्रक सदृश गणराज्यों का अन्त हो चुका था। सिकन्दर जो भारत में अधिक आगे नहीं बढ़ सका था, उसका एक प्रधान कारण ये गणराज्य ही थे, जिन्हें अपनी स्वतन्त्रता बहुत प्रिय थी और जिन्हें परास्त कर सकना सिकन्दर के लिये सुगम नहीं था। डेमेट्रियस का आक्रमण किस मौर्य राजा के शासन-काल में हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न तो बैक्ट्रिया के यवन राजाओं का तिथिक्रम सही ढंग से निर्धारित हो सका है और न अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजाओं का। केवल इतना ही भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि यह यवन आक्रमण सम्प्रति के किसी उत्तराधिकारी के शासन-काल में हुआ था।

सिकन्दर के समान डेमेट्रियस ने भी भारत में अनेक नगरियों की स्थापना की थी, जहाँ भारत के जीते हुए प्रदेशों को अधीन रखने के प्रयोजन से यवन सेनाओं को रखा गया था। ऐसी एक नगरी का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में भी आया है, जिसे वहाँ 'दत्तामित्रि' लिखा गया है, और टीकाकार के अनुसार जो यवनराज दत्तामित्र द्वारा सौवीर देश में स्थापित एक नगरी थी। दत्तामित्र डेमेट्रियस का ही संस्कृत रूपान्तर है, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है। ग्रीक लेखकों ने डेमेट्रियस को 'भारत का राजा' लिखा है, और इसमें सन्देह नहीं, कि वह भारत के उत्तर-पश्चिमी एवं पश्चिमी प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हुआ था। पाश्चात्य संसार में डेमेट्रियस के भारत-विजय की स्मृति इतने सुदीर्घ काल तक कायम रही, कि मध्यकालीन अंग्रेज कवि चॉसर ने 'इन्द के राजा' (भारत के राजा) एमेट्रियस का वर्णन किया, जो निस्सन्देह बैक्ट्रियन राजा डेमेट्रियस ही था। भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुतिमें सिकन्दर और सैल्युकस का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पर डेमेट्रियस का (दत्तामित्र के रूप में) उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य के अतिरिक्त महाभारत में भी विद्यमान है।[1] इस बैक्ट्रियन राजा के बहुत-से सिक्के उत्तर-पश्चिमी भारत के विविध प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। ये प्रायः चाँदी और ताँबे के हैं। डेमेट्रियस के कुछ सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिनके एक ओर 'महराजस अपरिजितस देमेत्रियस' शब्द खरोष्ट्रीभाषा में उत्कीर्ण हैं। इन सिक्कों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि डेमेट्रियस भारत के एक भाग को अपने शासन में ले आने में सफल हुआ था। गार्ग्य संहिता के युगपुराण में 'धर्ममीत' नामक यवन राजा का उल्लेख मिलता है[2], जिसे जायसवालजी ने डेमेट्रियस या दिमित्र का रूपान्तर प्रतिपादित किया है यद्यपि सब विद्वान् उनके मत को स्वीकार नहीं करते। पर धर्ममीत डेमेट्रियस का रूपान्तर हो, यह सर्वथा सम्भव है।

---

१. महाभारत १।१३९।२३

२. धर्ममीततमा वृद्धा जनं मोक्ष्यन्ति निर्भयाः।
यवना ज्ञापयिष्यन्ति (नश्येरन्) च पार्थिवाः॥ युगपुराण (गार्ग्य संहिता)

किस यवन राजा ने सिन्ध नदी को पार कर भारत के मध्य देश तक आक्रमण किये थे, इस सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक एकमत नहीं हैं। प्राचीन ग्रीक लेखकों के विवरणों में भी इस विषय पर ऐकमत्य नहीं पाया जाता। स्ट्रैबो के विवरणों से सूचित होता है, कि ग्रीक आक्रान्ताओं द्वारा भारत में की गई विजयों का लाभ कुछ मिनान्डर नेप्राप्त किया था, और कुछ युथिडिमास के पुत्र डेमेट्रियस ने। पर ट्रोगस पोम्पिअस ने भारत-विजय का श्रेय अपोल्लोडोटस और मिनान्डर को प्रदान किया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि डेमेट्रियस के भारत पर आक्रमण में मिनान्डर और अपोल्लोडोटस उसके सहयोगी थे। सम्भवतः, इनकी स्थिति डेमेट्रियस के सेनापतियों की थी। इस मत के प्रधान प्रतिपादक टार्न हैं। उनके अनुसार मिनान्डर ने पंजाब और दिल्ली होते हुए भारत के मध्यदेश में प्रवेश किया था, और वह साकेत आदि को जीतता हुआ पाटलिपुत्र तक चला गया था। अपोल्लोडोटस ने दक्षिण की ओर प्रस्थान कर सिन्धु नदी के मुहाने तक के प्रदेशों की विजय की थी। पर ये दोनों डेमेट्रियस की अधीनता में ही कार्य कर रहे थे, यद्यपि बाद में इन्होंने स्वतन्त्र राजाओं की स्थिति प्राप्त कर ली थी। मिनान्डर और अपोल्लोडोटस के भी बहुत-से सिक्के उत्तर-पश्चिमी और पश्चिम-दक्षिणी प्रदेशों में प्राप्त हुए हैं। मिनान्डर की राजधानी शाकल (सियालकोट) नगरी थी। भारत के इस प्रदेश में शासन करते हुए वह बौद्ध-श्रमणों के सम्पर्क में आया, और स्थविर नागसेन से उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा भी ग्रहण कर ली। बौद्ध ग्रन्थों में उसे 'मिलिन्द' लिखा गया है, और 'मिलिन्दपञ्हो' नामक ग्रन्थ में उन प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, जिन्हें राजा मिनान्डर या मिलिन्द ने अपने गुरु से पूछा था। मिनान्डर के अनेक सिक्कों पर बौद्ध धर्म के धर्मचक्र-प्रवर्तन का चिह्न 'धर्मचक्र' अंकित है, और उसके नाम के साथ 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण दिया गया है। कतिपय अन्य सिक्कों पर उसके नाम (जिसका रूप इन सिक्कों पर 'मिनेन्द्र' है) के साथ महाराज और त्राता लिखा गया है। 'महाराजस त्रातरस मेनन्द्रस' से अंकित मिनान्डर के सिक्के उसके एक भारतीय राजा होने के पुष्ट प्रमाण हैं। बौद्ध धर्म के इतिहास में मिनान्डर का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके विषय में भी बौद्ध ग्रन्थों में यह लिखा गया है, कि उसकी मृत्यु के अनन्तर उसकी अस्थियों को सुरक्षित रखा गया था, और उसके राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों ने उन्हें परस्पर बाँट लिया था। अपोल्लोडोटस के सिक्कों पर भी 'महाराजस अपलदतस त्रातरस' शब्द अंकित हैं, और उसके सिक्के प्रायः कान्धार के दक्षिण से लगा कर सिन्ध नदी के मुहाने और भड़ौंच तक उपलब्ध होते हैं। ऐतिहासिकों का यह भी मत है, कि मिनान्डर और अपोल्लोडोटोस—दोनों का सम्बन्ध डेमेट्रियस के राजकुल के साथ था, और उन दोनों ने डेमेट्रियस के अधीनस्थ सेनापतियों की स्थिति में भारत के आक्रमण में हाथ बटाया था। पर बाद में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिनके कारण इन्होंने भारत में अपने स्वतन्त्र एवं पृथक् राज्य स्थापित कर लिये।

यह परिस्थिति बैक्ट्रिया में डेमेट्रियस के शासन के विरुद्ध क्रान्ति के रूप में थी। जिस समय डेमेट्रियस भारत-आक्रमण में व्यापृत था, उसके युक्रेटीदस नामक एक सेनापति ने

बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कतिपय ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि युक्रेटीडस सीरिया के राजकुल के साथ सम्बद्ध था, और अपने कुल के उत्कर्ष की दृष्टि से ही उसने बैक्ट्रिया पर अपना शासन स्थापित किया था। जब डेमेट्रियस को बैक्ट्रिया की क्रान्ति का समाचार मिला, तो उसने तुरन्त भारत से प्रस्थान कर दिया और युक्रेटीडस को अपदस्थ करने का प्रयत्न किया। पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई, और बैक्ट्रिया युक्रेटीडस के ही हाथों में रहा। जिस समय डेमेट्रियस और युक्रेटीडस बैक्ट्रिया के राजसिंहासन के लिये युद्ध में व्यापृत थे, भारत में मिनान्डर और अपोल्लोडोटस ने स्वतन्त्र राजाओं की स्थिति प्राप्त कर ली थी।

सिकन्दर और सैल्युकस भारत की विजय के सम्बन्ध में जो कार्य नहीं कर सके थे, डेमेट्रियस और उसके सहयोगी उसे सम्पन्न करने में समर्थ हुए। डेमेट्रियस के आक्रमण का यह परिणाम हुआ, कि पश्चिम-दक्षिणी और उत्तर-पश्चिमी भारत यवनों के आधिपत्य में चला गया। भारत के इन यवन राजाओं का वृत्तान्त हमें प्रधानतया उनके सिक्कों द्वारा ही ज्ञात होता है। इसी कारण उनके काल तथा शासन-क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। प्राचीन भारतीय इतिहास की कोई भी दो पुस्तकें ऐसी नहीं मिल सकतीं, जिनमें इन राजाओं का वृत्तान्त एक ही ढंग से लिखा गया हो। हमने इन यवन राजाओं का उल्लेख इस कारण किया है, क्योंकि ये मौर्य वंश के अन्तिम राजाओं के समकालीन थे, यद्यपि सब ऐतिहासिक इस बात पर भी सहमत नहीं हैं। हमने यहाँ डेमेट्रियस, मिनान्डर, अपोल्लो-डोटस और युक्रेटीडस का उल्लेख जिस ढंग से किया है, आजकल के अनेक ऐतिहासिकों ने उनके विषय में इसी वृत्तान्त को प्रामाणिक माना है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'दत्तामित्र' नाम से राजा डेमेट्रियस का और मिलिन्द नाम से मिनान्डर का उल्लेख है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। कुछ विद्वानों ने यह कल्पना की है, कि अपोल्लोडोटस की स्मृति भी महाभारत में उल्लिखित यवनराज 'भगदत्त' के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रही। ग्रीक भाषा में अपोलो सूर्य देवता को कहते हैं, और संस्कृत में 'भग' आदित्य का ही अन्यतम नाम है। इस प्रकार भगदत्त अपोल्लोडोटस का संस्कृत अनुवाद है। महाभारत अब जिस रूप में प्राप्त है, वह ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व की कृति है। इस दशा में यदि उसमें दत्तामित्र और भगदत्त के रूप में इन यवन राजाओं की स्मृति सुरक्षित हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

यवनों के भारतीय आक्रमण के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश प्राचीन भारतीय साहित्य में विद्यमान हैं। महाभाष्य में आचार्य पतञ्जलि ने 'अरुणत् यवनः साकेतम्, अरुणत् यवनः माध्यमिकाम्' लिख कर लङ लकार के प्रयोग 'अरुणत्' (आक्रांत किया) के अभिप्राय को स्पष्ट किया है। लङ लकार का प्रयोग उस दशा में किया जाता है, जबकि भूतकाल की घटना प्रयोक्ता के अपने जीवन काल में हुई हो। रामचन्द्र राजा हुए थे, इस अर्थ में लङ का प्रयोग (अभवत्) नहीं किया जायगा, इसके लिये 'बभूव' प्रयुक्त होगा, क्योंकि राजा रामचन्द्र

हमारे जीवन-काल में न होकर बहुत प्राचीन समय में हुए थे। पर चीन का भारत पर आक्रमण (१९६२ ई०) हमारे जीवन-काल में हुआ, इसके लिये लङ् लकार के भूतकाल का प्रयोग किया जायगा। यवन राजा ने साकेत और माध्यमिका को पतञ्जलि के जीवन-काल में आक्रान्त किया था—अतः इसके लिये उन्होंने लङ् लकार (अरुणत्) का प्रयोग किया है। पतञ्जलि शुंगवंशी राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे, अतः यवनराज का यह आक्रमण मौर्य वंश के अन्तिम राजाओं के ही शासन-काल में हुआ था, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

पौराणिक अनुश्रुति में भारत के इन यवन राजाओं का वर्णन करते हुए यह कहा गया है, कि ये यवन राजा मूर्धाभिषिक्त (जिनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक हुआ हो) नहीं होंगे। युग (समय) के दोष के कारण ये दुराचार (बुरे आचार वाले) होंगे, और न केवल स्त्रियों तथा बालकों का वध करने वाले होंगे, अपितु साथ ही परस्पर भी एक दूसरे का वध करेंगे[1]। निस्सन्देह, पौराणिक अनुश्रुति में जिन यवन राजाओं का उल्लेख है, वे बैक्ट्रिया के राजकुल से सम्बन्ध रखनेवाला वही राजा थे, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

गार्गी संहिता के अन्तर्गत युगपुराण में यवनों के इन आक्रमणों का अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है, कि 'दुष्टविक्रान्त' (दुष्ट एवं पराक्रमी) यवन पाञ्चाल और साकेत को आक्रान्त करते हुए कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) पहुँच जायेंगे। उन यवनों) के पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच जाने पर सर्वत्र (रक्त) कर्दम (खून का कीचड़) फैल जायगा, और सब विषय (प्रान्त) असंदिग्ध रूप से आकुल (अव्यवस्थित दशा में) हो जायेंगे।[2] युगपुराण के इन श्लोकों में यवनों के एक ऐसे आक्रमण की स्मृति सुरक्षित है, जिसमें कि ये विदेशी आक्रान्ता भारत के मध्यदेश में बहुत दूर तक आगे बढ़ आये थे, और मथुरा, पाञ्चाल तथा साकेत को आक्रान्त करते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गये थे। यह स्पष्ट है, कि युगपुराण का यह वर्णन सिकन्दर अथवा सैल्युकस के आक्रमणों के सम्बन्ध में नहीं है। यह डेमेट्रियस के आक्रमण का ही निर्देश करता है। इसी यवन राजा को

---

१. 'भविष्यन्तीह यवना धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
नैव मूर्धाभिषिक्तास्ते भविष्यन्ति नराधिपाः ।।
युगदोषदुराचारा भविष्यन्ति नृपास्तु ते ।
स्त्रीणां बालवधेनैव हत्वा चैव परस्परम् ।।'

२. 'ततः साकेतमाक्रम्य पञ्चालान् मथुरां तथा ।
यवनाः दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम् ।।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते ।
अकुलाः विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ।। युगपुराण

ग्रीक लेखकों ने 'भारत का राजा' कहा है, और इसी के भारत आक्रमण में मिनान्डर और अपोल्लोडोटस भी उसके सहयोगी थे।

पर ये यवन देर तक भारत के मध्यदेश में नहीं टिक सके। युग पुराण के अनुसार 'युद्ध दुर्मद' (भयंकर रूप से मदमस्त होकर युद्ध करनेवाले) यवन मध्य देश में ठहरेंगे नहीं। इसमें संशय नहीं, कि उनमें परस्पर के युद्ध प्रारम्भ हो जायेंगे, और अपने अन्दर से उठा हुआ यह युद्ध अत्यन्त घोर तथा दुःखप्रद होगा।[1] हमें ज्ञात है, कि बैक्ट्रिया में युक्रेटीडस नामक सेनापति द्वारा अपने को स्वतन्त्र घोषित कर देने के परिणामस्वरूप डेमेट्रियस को भारत से वापस लौट जाने के लिये विवश होना पड़ा था, और इसी कारण यवन लोग भारत के मध्य देश में देर तक नहीं टिक सके थे। बाद में विविध यवन राजाओं तथा सेनापतियों में घोर युद्ध होते रहे, यह भी ऐतिहासिक तथ्य है। गार्गी संहिता के युगपुराण में बैक्ट्रियन ग्रीकों के इतिहास के साथ सम्बन्ध रखने वाली इन्हीं घटनाओं की ओर निर्देश किया गया है, यह स्पष्ट है।

यवनों के आक्रमण के कारण भारत की राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति बहुत निर्बल हो गई थी, और इसके परिणाम-स्वरूप इस देश में कोई शक्तिशाली केन्द्रीय शासन नहीं रह गया था। युगपुराण में लिखा है, कि जब काल के वश से यवनों की शक्ति क्षीण हो गई, तो यहाँ सात राजा राज्य करने लगे।[2] ये सात राजा कौन-से थे, और इनका शासन कहाँ-कहाँ था, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं कि डेमेट्रियस के आक्रमण के पश्चात् चाहे यवन लोग भारत के मध्य देश में न टिक सके हों, और उनकी शक्ति क्षीण भी क्यों न हो गई हो, पर भारत की राजनीतिक एकता भी अब कायम नहीं रह सकी थी।

तीसरी सदी ई० पू० के अन्तिम और दूसरी सदी ई० पू० के प्रारम्भिक वर्षों में भारत पर यवनों के जो आक्रमण हुए, उनके सम्बन्ध में यही निर्देश हमें विविध साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं। मौर्य वंश के पतन काल के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(६) कलिङ्गराज खारवेल

बैक्ट्रिया के यवन राजा डेमेट्रियस के समान कलिङ्ग के राजा खारवेल का भी मौर्य साम्राज्य के पतन के काल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजा अशोक के पश्चात् जब मौर्यों की शक्ति क्षीण होने लगी, और मागध साम्राज्य के सुदूरवर्ती प्रदेश मौर्यों की

---

१. 'मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः ।
तेषामन्योन्यसंभावाः (संग्रामाः) भविष्यन्ति न संशयः ।।
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम् ।'

२. 'ततो युगवशात्तेषां यवनानां परिक्षये ।
संकेते (?) सप्त राजानो भविष्यन्ति न संशयः ।।'

अधीनता से मुक्त होने लगे, तो कलिङ्ग ने भी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। कलिङ्ग की स्वतन्त्रता का परिचय हमें हाथीगुम्फा के शिला-लेख से मिलता है, जिसे राजा खारवेल ने उत्कीर्ण कराया था। इस लेख में जहाँ राजा खारवेल के वीर कृत्यों का वर्णन है, वहाँ साथ ही उसके पूर्ववर्ती कलिङ्ग राजाओं का भी उल्लेख है। प्राचीन भारतीय इतिहास के परिज्ञान के लिये इस लेख का बहुत महत्त्व है, पर कठिनाई यह है कि इस लेख के अनेक पाठों के सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ताओं में गम्भीर मतभेद विद्यमान हैं। इसी कारण खारवेल के काल के विषय में भी ऐतिहासिकों में ऐकमत्य नहीं हो सका है। अनेक विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है, कि खारवेल शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र का समकालीन था। पुष्यमित्र ने मौर्यवंश के राजा बृहद्रथ को मारकर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, और उसका काल १८४-१४० ई० पू० माना जाता है। खारवेल को पुष्यमित्र का समकालीन मानने का मुख्य कारण यह था, कि हाथीगुम्फा लेख में उस द्वारा की गई विजयों का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि उस (खारवेल) ने अपने शासन के बारहवें वर्ष में मगध के राजा बहसति-मित्र (बृहस्पतिमित्र) को अपने पैरों पर गिरने के लिये विवश किया, और राजा नन्द कलिङ्ग से महावीर स्वामी की जो जिनमूर्ति पाटलिपुत्र ले गया था, उसे फिर कलिङ्ग वापस ले आया। हाथीगुम्फा लेख के बहसतिमित्र को जायसवाल जी ने पुष्यमित्र के साथ मिलाया, और यह प्रतिपादित किया, कि क्योंकि बृहस्पति (बहसति) पुष्य नक्षत्र का नक्षत्राधिप माना जाता है, अतः बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) को पुष्यमित्र का पर्यायवाची समझा जा सकता है। खारवेल ने मगध के जिस राजा बृहस्पतिमित्र को परास्त करने का उल्लेख किया है, वह शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र ही था।

हाथीगुम्फा लेख में ही 'राज मुरिय काल' का भी उल्लेख आया है, और इस मौर्य काल या मौर्य संवत् के १६५ वें वर्ष में किये गये कार्यों का विवरण है।[1] पुराणों के अनुसार मौर्य वंश ने १३७ वर्ष तक शासन किया था। यदि चन्द्रगुप्त की राज्यप्राप्ति से मौर्य संवत् का प्रारम्भ माना जाए, तो पुष्यमित्र शुङ्ग १३८ मौर्य संवत् में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, और क्योंकि पुराणों में उसका शासनकाल ३६ वर्ष लिखा गया है, अतः उसने १७४ मौर्य संवत् तक राज्य किया। खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में १६५ मुरियकाल (मौर्य संवत्) का उल्लिखित होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि शुङ्गवंशी पुष्यमित्र और कलिङ्गराज खारवेल समकालीन थे।

श्री जायसवाल और स्टेन कोनो द्वारा यही मत प्रतिपादित किया गया है। वे खारवेल का काल दूसरी सदी ई० पू० के पूर्वार्ध में मानते हैं। पर श्री राय चौधरी का मत है, कि

---

१. 'मुरियकालं वोछिनं चोयठि अगस निकंतरियं उपादायाति।' इसी का अन्य पाठ यह स्वीकृत किया गया है—'मुरिय काल वो छिनं च चोयठि अंगं सतिकं तुरियं उपादयति।'

खारवेल पहली सदी ई० पू० के अन्तिम चरण में हुआ था। अनेक अन्य विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनकी सम्मति में न तो बृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र की एकता स्थापित करना युक्तिसंगत है, और न हाथीगुम्फा लेख में बहसतिमित्र पाठ ही निर्विवाद है। इसी प्रकार 'राजा मुरियकाल' पाठ भी सर्वसम्मत नहीं है। मौर्य वंश द्वारा किसी नये संवत् का प्रारम्भ हुआ था, यह स्वीकार कर सकना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अशोक ने अपने उत्कीर्ण लेखों में मौर्य संवत् का उपयोग नहीं किया। उसने जो भी वर्ष सूचित किये हैं, वे अपने राज्याभिषेक के समय से हैं। यदि मौर्य संवत् की सत्ता होती, तो राजा अशोक अवश्य ही उसका अपने लेखों में उपयोग करता। यदि हाथीगुम्फा लेख में मोरिय-काल का उल्लिखित होना मान भी लिया जाए, तो भी १६५ वें मोरिय संवत् की बात तो सर्वथा अनिश्चित है। जिस वाक्य 'पानन्तरीय सठिसतेराजमुरियकाले' का अर्थ १६५ वें मौर्य-संवत् में किया गया है, उसके न केवल अर्थ में मतभेद है, अपितु पाठ के सम्बन्ध में भी सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। इस दशा में खारवेल को पुष्यमित्र का समकालीन मानने का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं रह जाता।

श्री रायचौधरी ने राजा खारवेल का काल जो २५ ई० पू० के लगभग में प्रतिपादित किया है, उसका कारण हाथीगुम्फा लेख में नन्दराज के पश्चात् की एक कालावधि का उल्लेख है। हाथीगुम्फा लेख के अनुसार खारवेल ने अपने शासन के पाँचवें वर्ष में तनसुलि से नहर के पानी को अपनी नगरी में प्रविष्ट कराया।[1] यह नहर नन्दराज के समय से 'तिवस-सत' कालावधि तक प्रयुक्त नहीं हुई थी। 'तिवससत' का क्या अभिप्राय है, इस सम्बन्ध में भी पुरातत्त्ववेत्ताओं में मतभेद है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं, १०३ या ३००। श्री राय-चौधरी ने ३०० को स्वीकार्य माना है। उनका कथन है, कि यदि 'तिवससत' का अर्थ १०३ माना जाए, तो खारवेल का राज्यारोहण काल नन्द के ९८ वर्ष बाद स्वीकार करना होगा, क्योंकि तनसुलि की नहर को अपनी राजधानी से मिलाने की घटना खारवेल के राज्य प्राप्त करने के पाँच वर्ष बाद हुई थी। नन्द का विनाश कर जब चन्द्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की, उसके ८५ वें वर्ष में राजा अशोक की मृत्यु हुई थी, क्योंकि चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज्य किया, बिन्दुसार ने २५ वर्ष और अशोक ने ३६ वर्ष। खारवेल से पहले कलिङ्ग के दो स्वतन्त्र राजा हो चुके थे, अतः अशोक की मृत्यु और खारवेल के राज्यारोहण के बीच में केवल १३ या १४ वर्षों की अवधि कभी स्वीकार्य नहीं मानी जा सकती। कलिङ्ग को अशोक ने जीत कर अपने अधीन किया था। उसके शासन काल में वह अवश्य ही मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रहा था। इस दशा में कलिङ्ग की स्वतन्त्रता प्राप्ति का समय यदि अशोक की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् भी मान लिया जाए, तो भी १३

---

१. **'पञ्चमे च दानी वसे नन्दराज तिवससत ओघाटितं तनसुलिय वाटापनादीम् नगरं पवेसयति।'**

वर्ष के स्वल्प काल में दो राजाओं की कालावधि स्वीकृत नहीं की जा सकती। अतः उचित यही है, कि 'तिवससत' का अर्थ ३०० लिया जाए, और खारवेल का समय राजा नन्द के ३०० वर्ष के लगभग बाद माना जाए।

पर हाथीगुम्फा लेख में जिस नन्दराज का उल्लेख है, वह पाटलिपुत्र का (चन्द्रगुप्त मौर्य का पूर्ववर्ती) राजा नन्द है, या कलिङ्ग का कोई प्राचीन स्थानीय राजा---यह बात भी विवादग्रस्त है। साथ ही, 'तिवससत' का अभिप्राय १०३ होना ही अधिक संगत एवं युक्तियुक्त है। यदि हाथीगुम्फा लेख का नन्दराज पाटलिपुत्र का नन्द ही हो, तो भी उसके १०३ वर्ष पश्चात् खारवेल की सत्ता स्वीकार करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। अशोक की मृत्यु नन्द के ८५ वर्ष पश्चात् हुई थी। इसी समय से मौर्य साम्राज्य का ह्रास एवं पतन प्रारम्भ हो गया था। अशोक की मृत्यु के तत्काल बाद ही कलिङ्ग सदृश नया जीता हुआ राज्य स्वतन्त्र हो गया था, यह सर्वथा स्पष्ट है। यह भी सम्भव है, कि अशोक के शासन काल के अन्तिम वर्षों में ही ऐर (ऐल) वंशी चैत्रराज की आधीनता में कलिङ्ग ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली हो। खारवेल चैत्रराज की तीसरी पीढ़ी में हुआ था। यदि कलिङ्ग की स्वतन्त्रता के समय चैत्रराज वृद्ध हो, तो उसके १३ या १४ वर्ष पश्चात् खारवेल का कलिङ्ग के राजसिंहासन पर आरूढ़ होना सर्वथा सम्भव हो सकता है। यदि 'तिवससत' का अर्थ १०३ स्वीकार किया जाए, तो खारवेल उस समय कलिङ्ग का अधिपति बना था, जबकि कुनाल के पश्चात् राजा बन्धुपालित मगध के राजसिंहासन पर विराजमान था, और उसके शासनकाल की भी समाप्ति होने वाली थी। अशोक के बाद कुनाल ने ८ वर्ष, बन्धुपालित ने ८ वर्ष और फिर सम्प्रति ने ९ वर्ष तक राज्य किया था। इस प्रकार अशोक की मृत्यु और सम्प्रति की मृत्यु के बीच में केवल २४ या २५ वर्ष का अन्तर था। अब यदि खारवेल का राजसिंहासनारूढ़ होने का समय नन्द से १०३−४=९९ वर्ष पश्चात् माना जाए, तो खारवेल अशोक के १४ वर्ष बाद राजा बना। उसने अपने शासन के बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण किया था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, कि मगध पर यह आक्रमण अशोक की मृत्यु के १४+१२=२६ वर्ष पश्चात् हुआ था, जबकि राजा सम्प्रति की मृत्यु हो चुकी थी, और उसका पुत्र शालिशुक पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। गार्गी संहिता के युग पुराण द्वारा ज्ञात होता है, कि यह शालिशुक दुष्टात्मा, धर्मवादी और अधार्मिक था, और देश का मर्दन करने वाला था। शालिशुक के इतिहास पर हम इसी अध्याय के अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। राजा सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी एवं संरक्षक था, और कलिङ्गराज खारवेल भी जैन था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सम्प्रति का पुत्र शालिशुक धर्म के प्रति जरा भी आस्था नहीं रखता था, पर धर्म का ढोंग अवश्य करता था। ऐसे व्यक्ति के मगध का राजा बनने पर यदि खारवेल ने उस पर आक्रमण कर अपने सम्मुख सिर नवाने को उसे विवश किया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

हाथीगुम्फा शिलालेख में राजा खारवेल द्वारा यवनराज दिमित (डेमेट्रियमस) के आक्रमण का भी उल्लेख है। वहाँ लिखा है, कि खारवेल ने गोरक्षगिरि को तोड़ कर राजगृह को

घेर दबाया। इन कर्मों के अपदान (अवदान या वीरकथा) के संनाद से यवनराज दिमित घबरायी सेना और वाहनों को कठिनता से बचाकर मथुरा को भाग गया[१]। हाथीगुम्फा लेख के अनुसार खारवेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष में गोरखगिरि पर आक्रमण किया था, और राजगृह को भी आक्रान्त कर किया था। यदि खारवेल का राजगृह पर आक्रमण उसके शासन के आठवें वर्ष में हुआ हो, तो इसी प्रकरण में ऊपर निर्दिष्ट तिथिक्रम के अनुसार यह आक्रमण राजा सम्प्रति के समय में होना चाहिये। पर इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि मौर्य वंश के राजाओं का न शासन-काल सुनिश्चित रूप से निर्धारित हो सका है, और न उनका पूर्वापर क्रम। अनेक ऐतिहासिक अशोक की मृत्यु का समय २२८ ई० पू० में न मान कर २३२ ई०पू० में प्रतिपादित करते हैं, और कितने ही विद्वान् अशोक का उत्तराधिकारी कुनाल को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार अशोक की मृत्यु के पश्चात् दशरथ (बन्धुपालित) ही मौर्य साम्राज्य का अधिपति बना था। इस दशा में सम्प्रति की मृत्यु का काल कुछ वर्ष पहले चला जाता है, और खारवेल द्वारा मगध पर आक्रमण किये जाने का समय वह बन जाता है, जबकि सम्प्रति के बाद शालिशुक मौर्य साम्राज्य का स्वामी बन गया था। पिछले प्रकरण में हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं, कि बैक्ट्रिया के यवनराज डेमेट्रियस ने भारत के मध्य देश पर उस समय आक्रमण किया था, जब कि मौर्य वंश की शक्ति क्षीण हो गई थी। यदि खारवेल के इस दावे को सत्य माना जाए, कि यवन-राज दिमित या डेमेट्रियस कलिङ्गराज के वीर कृत्यों की गाथा को सुनकर घबरा गया था और इसी कारण अपनी सेना को साथ लेकर मध्य देश से मथुरा की ओर चला गया था, तो यह भी स्वीकार करना होगा, कि डेमेट्रियस जो मगध अथवा मध्यदेश में नहीं टिक सका, उसका प्रधान कारण कलिङ्गराज खारवेल की सैन्य शक्ति ही थी। मगध के निर्बल मौर्यवंशी राजा तो यवन आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे थे, पर कलिङ्गराज खारवेल की शक्ति के सम्मुख डेमेट्रियस ने अपने को असहाय अनुभव किया था, और वह पश्चिम की ओर चले जाने को विवश हुआ था।

खारवेल के काल का निर्धारण करते हुए कतिपय अन्य बातों को भी दृष्टि में रखा जाता है। उसके हाथीगुम्फा शिलालेख में उत्तर भारत पर किये गये तीन आक्रमणों का उल्लेख है। एक आक्रमण में खारवेल ने गोरथगिरि (बराबर पहाड़ी) को आक्रान्त कर राजगृह को घेर लिया था। एक अन्य आक्रमण में उसने यवनराज दिमित्र को पश्चिम की ओर धकेल दिया था, और तीसरे आक्रमण में उसने मगधराज को अपने पैरों पर सिर रखने के लिये विवश किया था। ये घटनाएँ शुङ्गवंशी पुष्यमित्र के समय में हुईं, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। पुष्यमित्र के समय में मगध में नवजीवन और नई शक्ति का

---

१. **"घातापयिता राजगहं उपपीडापयति एतिना च कम्मापदान संनादेन संबइतसेन वाहनो विपमंचितुं मधुरां अपयातो यवनराजदिमित यच्छति।"**

सञ्चार हो गया था, और इस शुङ्गवंशी राजा ने दो बार अश्वमेध यज्ञ का भी अनुष्ठान किया था। इस स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है, कि खारवेल ने पुष्यमित्र को अपने सम्मुख सिर झुकाने के लिये विवश किया हो। क्योंकि हाथीगुम्फा शिलालेख में यवनराज दिमित का उल्लेख है, और मध्यदेश पर यवनों के आक्रमण पुष्यमित्र से कुछ समय पूर्व हो चुके थे, अतः खारवेल का समय भी पुष्यमित्र द्वारा मागध राज्य की प्राप्ति और मौर्य वंश के अन्त से कुछ वर्ष पहले ही निर्धारित करना होगा। हाथीगुम्फा शिलालेख की लिपि और भाषा आदि के आधार पर भी यह कहा जा सकता है, कि यह लेख अशोक के समय से अधिक पीछे का नहीं है।

(७) राजा सम्प्रति के उत्तराधिकारी

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार राजा सम्प्रति के पश्चात् मौर्य वंश के चार राजा हुए, जिनके नाम क्रमशः शालिशुक, देववर्मा, शतधनुष् (शतधन्वा) और बृहद्रथ थे। पुराणों में इनके शासन के वर्ष क्रमशः १३, ७, ८ और ७ लिखे गये हैं। चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक के जो शासन वर्ष प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, उनका सर्वयोग ८५ वर्ष है। इसी प्रकार अशोक के उत्तराधिकारी कुनाल, दशरथ (बन्धुपालित) और सम्प्रति के शासन-कालों का जोड़ २५ वर्ष होता है। अब यदि सम्प्रति के चारों उत्तराधिकारियों ने कुल मिलाकर ३५ वर्ष राज्य किया, तो मौर्य वंश का कुल शासन-काल ८५+२५+३५=१४५ वर्ष हो जाता है, जबकि सब पुराण इस बात पर सहमत हैं, कि मौर्यवंश का शासन १३७ वर्षों तक रहा। इस प्रकार ८ वर्षों का अन्तर पड़ जाता है, जिसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। यदि किसी राजा ने ७ वर्ष ३ मास तक राज्य किया हो, तो सुविधा के लिये उसका शासन-काल ८ वर्ष लिख दिया जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार मौर्य वंश के दस राजाओं के शासन-वर्षों का उल्लेख करते हुए ५ या ६ वर्षों का अन्तर पड़ जाना असम्भव नहीं है। पुराणों में कहीं-कहीं राजाओं के शासन-वर्षों में भेद भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण की एक प्रति में राजा शतधन्वा का शासन-काल ६ वर्ष लिखा गया है,[1] ८ वर्ष नहीं। इस प्रकार ८ वर्षों का जो अन्तर ऊपर निर्दिष्ट है, उसका समाधान कर सकना कठिन नहीं है। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यद्यपि सब पुराणों में मौर्य वंश के शासन का काल १३७ वर्ष लिखा गया है, पर इस वंश में कुल कितने राजा हुए, इस प्रश्न पर पौराणिक अनुश्रुति में भेद पाया जाता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में मौर्य वंश के राजाओं की संख्या ९ दी गई हैं, और मत्स्य-पुराण में १०। हमने यहाँ इस वंश के दस राजाओं के नाम दिये हैं—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुनाल, दशरथ (बन्धुपालित), सम्प्रति, शालिशुक, देववर्मा, शतधनुष और

---

१. 'भविता शतधन्वा च तस्य पुत्रस्तु षट् समाः।'

बृहद्रथ। ब्रह्माण्ड पुराण में जो ९ मौर्य राजा गिनाये गये हैं, उनमें शालिशुक का नाम नहीं है। पर इस राजा की सत्ता गार्गी संहिता से भी सूचित होती है। सम्भवतः, यही मत युक्तिसंगत है, कि मौर्य वंश के कुल राजाओं की संख्या १० थी, और उनके व्यक्तिगत शासन-वर्षों का जोड़ जो १३७ वर्षों से कुछ अधिक बनता है, उसका कारण खण्डित वर्ष को पूर्ण वर्ष गिन कर उल्लिखित कर देना ही है।

राजा सम्प्रति के पश्चात् उसका पुत्र शालिशुक पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। मौर्य वंश के इतिहास में इस राजा का शासन-काल अत्यन्त महत्त्व का है। पिछले दो प्रकरणों में जो विवेचन हमने किया है, उसके अनुसार यवनराज दिमित्र का आक्रमण इसी के समय में हुआ था, और कलिङ्गराज खारवेल ने भी इसी के समय में तीन बार मगध एवं उत्तरापथ को आक्रान्त किया था। यह भी सम्भव है, कि इसी के शासन-काल की राजनीतिक अव्यवस्था से लाभ उठा कर काश्मीर का मौर्य वंशी राजा जालौक भी मध्य-देश को आक्रान्त करता हुआ कान्यकुब्ज तक बढ़ आया हो। राजतरङ्गिणी में जालौक की विजयों का जो उल्लेख है, उसको हम इसी अध्याय में ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं।

शालिशुक के समय में मौर्य साम्राज्य में जो घोर अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसके कतिपय निर्देश प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। युगपुराण के अनुसार शालिशुक ने अपने बड़े भाई को मार कर राजसिंहासन प्राप्त किया था। इस बड़े भाई का नाम क्या था, यह युगपुराण ने सूचित नहीं किया, पर इसके लिये 'साधु' और 'गुणैः प्रथित' (जिसके गुणों की ख्याति सर्वत्र विस्तृत हो) विशेषणों का प्रयोग किया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है, कि राजा सम्प्रति का शालिशुक के अतिरिक्त कोई अन्य भी पुत्र था, जो अपने पिता के समान ही साधु स्वभाव का एवं गुणी था। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राजा के पद पर उसी का अधिकार था। पर शालिशुक ने उसका घात कर मागध राज्य को हस्तगत कर लिया। शालिशुक और उसके बड़े भाई में राजसिंहासन के लिये जो गृह-कलह हुई होगी, और उसके कारण मौर्य शासनतन्त्र की जो दुर्दशा हो गई होगी, उसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। यद्यपि गृह-कलह में शालिशुक को सफलता प्राप्त हो गई थी, पर सम्भवतः उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं थी। इसी कारण उसने अत्याचारों और प्रजापीड़न का आश्रय लिया, और अनेक प्रकार से अपने राज्य का मर्दन किया। युग पुराण में उसे 'दुष्टात्मा' (दुष्ट प्रकृति का) और 'प्रिय विग्रह' (जिसे युद्ध प्रिय हो) कहा गया है, और साथ ही 'धर्मवादी' (धर्म का ढोंग करने वाला) तथा 'अधार्मिक' भी।[2] इन विशेषणों से राजा शालिशुक का

---

१. 'स ज्येष्ठ भ्रातरं साधुं केतेति (? हत्वा वि ?) प्रथितं गुणैः।'

२. 'ऋतुक्षा कर्म सुतः शालिशूको भविष्यत्ति ।
स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रहः ।
स्वराष्ट्रमर्दवे घोरं धर्मवादी ह्यधार्मिकः ॥'

स्वरूप स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। युग पुराण ने यह भी सूचित किया है कि इस 'मोहात्मा' (मूर्ख या मूढ़) ने धर्म की विजय को स्थापित किया।[1] 'विजयं नाम धार्मिकम्' शब्द व्यङ्ग के साथ लिखे गये हैं। राजा अशोक ने धर्म विजय की जिस नीति का सूत्रपात किया था, उसका दुरुपयोग भी किया जा सकता था। कोई दुष्टात्मा, अधार्मिक, धर्मवादी एवं मोहात्मा राजा धर्मविजय की नीति की आड़ में मनमानी भी कर सकता था, और उससे जनता का हित व कल्याण सम्पादित न होकर उसका अनर्थ हो सकता था, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। शालिशुक ऐसा ही राजा था। यही कारण है, कि उसके शासन-काल में मौर्य साम्राज्य का बहुत अहित हुआ। वैसे तो अशोक के बाद ही मौर्यों की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई थी, और कलिङ्ग तथा आन्ध्र सदृश प्रदेश उनकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये थे, पर शालिशुक के समय में मागध साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया और भी अधिक तीव्र हो गई। यही समय था, जबकि यवनराज डेमेट्रियस और उसके सेनापतियों (मिनान्डर तथा अपोल्लोडोटस) ने भारत पर आक्रमण किये, और वे पंजाब, व्रज, माध्यमिका, मथुरा, पाञ्चाल और साकेत को आक्रान्त करते हुए पाटलिपुत्र तक आ पहुँचे। यदि कलिङ्गराज खारवेल उनका प्रतिरोध करने के लिये उत्तरापथ की ओर अग्रसर न होता, और बैक्ट्रिया में युथिडिमास डेमेट्रियस के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा न खड़ा कर देता, तो भारत के मध्यदेश की इन यवन आक्रान्ताओं द्वारा कैसी दुर्दशा की जाती, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। यद्यपि यवन लोग मध्यदेश में देर तक नहीं टिक सके, पर इसका श्रेय शालिशुक को किसी भी दशा में दे सकना सम्भव नहीं है। यवनों के प्रतिरोध में अपने को असमर्थ पाकर, सम्भवतः, इस 'मोहात्मा' एवं 'अधार्मिक' राजा ने धर्मविजय का ढोंग करके अपनी निर्बलता पर परदा डालने का प्रयत्न किया था। इसी पर युगपुराण के लेखक ने इस राजा को 'धर्मवादी' और धर्म विजय को स्थापित करने वाला कह कर व्यङ्ग किया है। इसमें सन्देह नहीं, कि शालिशुक के समय में मौर्य साम्राज्य की बहुत दुर्दशा हो गई थी। एक ओर यवनराज डेमेट्रियस उस पर आक्रमण करने के लिये तत्पर था, और दूसरी ओर कलिङ्गराज खारवेल बार-बार मगध एवं उत्तरापथ को आक्रान्त कर उसे आघात पहुँचा रहा था। संभवतः, इसी समय में काश्मीर के मौर्यवंशी राजा जालौक ने अपने कुल की मान-मर्यादा की रक्षा करने के प्रयोजन से न केवल म्लेच्छ यवनों से लोहा लिया था, अपितु भारत में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिये वह पूर्व में कान्यकुब्ज तक भी चला आया था।

हाथीगुम्फा शिलालेख में मगध के जिस राजा का खारवेल द्वारा परास्त किया जाने का उल्लेख है, उसका नाम 'बहसतिमित्र' पढ़ा गया है। यह बहसतिमित्र या बृहस्पतिमित्र पुष्यमित्र नहीं हो सकता, यह पिछले प्रकरण में निरूपित किया जा चुका है।

---

१. **'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम् ।' (युग पुराण)**

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में सम्प्रति के उत्तराधिकारी का नाम 'बृहस्पति' लिखा गया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सम्प्रति के बाद शालिशुक मगध का स्वामी बना था, और बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बृहस्पति। इस दशा में यह कल्पना असंगत नहीं कही जा सकती, कि शालिशुक और बृहस्पति एक ही व्यक्ति के दो नाम थे।

शालिशुक के सम्बन्ध में अनेक अद्भुत उट्टंकनाएँ की गई हैं। एक उट्टङ्कना यह है, कि इस राजा का शालिशुक नाम यवनराज सैल्युकस के नाम पर रखा गया था। सीरियन सम्राट् एण्टियोकस तृतीय के पिता का नाम भी सैल्युकस था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही सीरिया के यवन राजाओं और मगध के मौर्य सम्राटों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता था। चन्द्रगुप्त की साम्राज्ञी यवन कुमारी थी, अतः उसके वंशज मौर्य राजाओं में यवन रक्त की भी सत्ता थी। मौर्यों के अन्तःपुर में यवन दासियाँ व परिचारिकाएँ भी रहा करती होंगी, यह भी स्वीकार किया ही जाना चाहिये। इस दशा में यदि मौर्य राजा सम्प्रति ने अपने पुत्र का नाम सैल्युकस का संस्कृत रूपान्तर रख दिया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। कतिपय विद्वानों ने जालौक और शालिशुक को भी एक ही माना है। उनका कथन है, कि दोनों शब्दों में ध्वनि का साम्य है, और कल्हण ने राजतरङ्गिणी में शालिशुक को ही जालौक लिख दिया है।[1] शालिशुक के शासन-काल में यवनों का जो आक्रमण हुआ था, उसे विफल बनाने में इस राजा को सफलता प्राप्त हुई थी। इसी की स्मृति राजतरङ्गिणी में सुरक्षित है। पर ये दोनों उट्टङ्कनाएँ किसी ठोस ऐतिहासिक आधार पर आश्रित नहीं हैं। शालिशुक और सैल्युकस में साम्य अवश्य है, पर शालिशुक एक विशुद्ध संस्कृत शब्द भी है। जालौक और शालिशुक को एक समझ सकना तो इस कारण भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कल्हण ने जालौक को 'बौद्धवादिसमूहजित्' (अपने को बौद्ध कहने वालों के समूह या संघ की विजय करने वाले) सिद्ध अवधूत से ज्ञान और उपदेश प्राप्त करनेवाला कहा है।[2] जालौक नन्दीश या शिव का पूजक था,[3] और शालिशुक धर्म-विजय की नीति का अनुसरण करने वाला। इस दशा में केवल ध्वनि साम्य के आधार पर इनकी एकता प्रतिपादित करना युक्तिसंगत नहीं है।

शालिशुक के पश्चात् देववर्मा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुराणों में उसका शासन-काल सात वर्ष लिखा गया है। देववर्मा का उत्तराधिकारी शतधन्वा या

१. Bhandarkar D. R. A Comprehensive History of India, Vol. II. pp. 45-46.

२. 'तत्काल प्रबलप्रेक्ष बौद्धवादिसमूहजित् ।
अवधूतोऽभवत् सिद्धस्तस्य ज्ञानोपदेशकृत् ॥' राजतरङ्गिणी १।११२

३. 'विजयेश्वर नन्दीशक्षेत्रज्येष्ठेशपूजने ।
तस्य सत्यगिरां राज्ञः प्रतिज्ञा सर्वदाऽभवत् ॥' राजतरङ्गिणी १।११३

शतधनुष् था। इसने छः या आठ साल राज्य किया। मौर्य वंश के शासन-काल को १३७ वर्षों में सीमित करने की दृष्टि से यही मानना उपयुक्त होगा कि शतधन्वा का शासन-काल छः साल था। देववर्मा और शतधन्वा के समय की कोई भी राजनीतिक घटना हमें ज्ञात नहीं है। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनके शासन-काल में भी मौर्य साम्राज्य का पतन जारी रहा, अनेक प्रदेश मगध की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हुए, और उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राजा अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर रहे।

जो प्रदेश इस समय (देववर्मा और शतधन्वा के शासन के १३ वर्षों में) स्वतन्त्र हुए, सम्भवतः विदर्भ उनमें से एक था। कालिदास विरचित मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र शुङ्ग से पूर्व विदर्भ में यज्ञसेन नामक राजा का स्वतन्त्र शासन था। यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा, कि मौर्य वंश के इसी ह्रास-काल में उसने अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। बहुत-से प्राचीन गणराज्य भी इस काल में फिर से स्वतंत्र हो गये थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाव एवं पश्चिमी भारत में अनेक गण-राज्यों की सत्ता थी। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इन्हें मौर्य साम्राज्य के अधीन किया, पर इनकी अन्तःस्वतन्त्रता और पृथक् अनुभूति नष्ट नहीं होने पाई। कौटलीय अर्थशास्त्र में उस नीति का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है, जिसे गणों व संघ-राज्यों के प्रति प्रयुक्त किया जाना चाहिये। इस नीति पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इस नीति का सार यही है, कि 'अभिसंहत' संघों के प्रति मैत्री एवं सहिष्णुता का बरताव किया जाए, और 'विगुणों' को नष्ट कर दिया जाए। इस नीति के कारण पश्चिमी भारत के गण-राज्य मौर्य युग में भी अधीनस्थ रूप से विद्यमान रहे, और मौर्य राजाओं की शक्ति के क्षीण होते ही उनमें से बहुत-से पुनः स्वतन्त्र हो गये। इन स्वतन्त्र गण-राज्यों के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें दूसरी सदी ई० पू० व उसके लगभग का माना जाता है। ये सिक्के यौधेय, राजन्य, औदुम्बर, आर्जुनायन, आग्रेय, शिवि, मालव, कुनिन्द और महाराज आदि गणों के हैं। शुङ्ग वंश की शक्ति के क्षीण होने पर जब भारत में कोई शक्तिशाली केन्द्रीय शासन नहीं रह गया था, तब इन गण-राज्यों को अपने उत्कर्ष का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया था। पर इनकी स्वतन्त्रता तथा पृथक् सत्ता का सूत्रपात तभी हो गया था, जब कि शालिशुक जैसे 'अधार्मिक, धर्मवादी, दुष्टात्मा और मोहात्मा' राजा के शासन के कारण मागध साम्राज्य में सर्वत्र अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। इन गणराज्यों के जो भी सिक्के व मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, वे सब प्रायः शुङ्ग-काल व उसके पश्चात् की हैं। पर मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत कलिङ्ग, आन्ध्र, गान्धार और विदर्भ के समान पंजाब तथा राजपूताना के गणराज्यों की स्वतन्त्रता का श्रीगणेश भी मौर्यों की शक्ति के क्षीण पड़ने पर प्रारम्भ हो गया था, यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है।

डेमेट्रियस के आक्रमण के पश्चात् भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी प्रदेशों पर यवनों का शासन स्थापित हो गया था, यह पिछले एक प्रकरण में लिखा जा चुका है। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भारत में यवनों का कोई एक राज्य नहीं था। उनके अनेक राज्य उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी भारत में स्थापित हो गये थे, और उनके राजा प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यापृत रहा करते थे। इन यवन राज्यों और उनके राजाओं के विषय में जो भी जानकारी हमें प्राप्त है, उसका मुख्य आधार इन राजाओं के सिक्के ही हैं। इन यवन राज्यों का इतिहास यहाँ लिख सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। तीसरी सदी ई० पू० के अन्त में जब डेमेट्रियस ने भारत पर आक्रमण किया था, तब से यवनों द्वारा विजित ये प्रदेश मौर्यों के शासन से पृथक् हो गये थे, और मौर्य साम्राज्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। मौर्य वंश के अन्तिम राजा इस स्थिति में थे ही नहीं, कि वे अपने साम्राज्य के खोये हुए प्रदेशों पर कुछ भी ध्यान दे सकें। इसी का यह परिणाम हुआ, कि भारत के पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश अब भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से पृथक् पड़ गये, और पुष्यमित्र शुङ्ग जैसा प्रतापी मागध राजा भी उन्हें अपनी अधीनता में नहीं ला सका।

मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। वह शतधनुष या शतधन्वा का पुत्र न होकर सम्भवतः भाई था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसने सात साल तक शासन किया। उसके शासन काल में भी मौर्य साम्राज्य का पतन जारी रहा। बृहद्रथ के समय की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। पर प्राचीन ग्रन्थों द्वारा यह सूचित होता है, कि इस राजा के शासन-काल में एक बार फिर मगध में राज्यक्रान्ति हुई। बृहद्रथ का सेनानी (प्रधान सेनापति) पुष्यमित्र था। शक्तिशाली मागध सेना इसी के अधीन थी। इस सेना की सहायता से पुष्यमित्र ने बृहद्रथ के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और मौर्य राजा का घात कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। मगध के लिये यह घटना नई नहीं थी। बार्हद्रथ वंश के अन्तिम राजा रिपुंजय की हत्या उसके अमात्य पुलिक द्वारा की गई थी, जिसने कि अपने पुत्र बालक को पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ कराया था। राजा बालक के विरुद्ध श्रेणिय (श्रेणिबल के सेनानी) भट्टिय ने विद्रोह कर मगध से उसके शासन का अन्त किया था, और अपने पुत्र बिम्बिसार को वहाँ का राज्य प्रदान किया था। बिम्बिसार के वंशज मागध राजा नागदासक के विरुद्ध उसके अमात्य शिशुनाग ने विद्रोह किया, और वह स्वयं मगध का राजा बन गया। शिशुनाग के पुत्र काकवर्ण महानन्दी के शासन का अन्त भी एक षड्यन्त्र द्वारा हुआ। मगध की यही प्राचीन परम्परा थी। पुष्यमित्र ने भी इसी का अनुसरण किया, और अपने स्वामी बृहद्रथ की हत्या कर राजगद्दी पर अधिकार स्थापित कर लिया। पौराणिक अनुश्रुति में मगध की इस नई राज्यक्रान्ति का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। वहाँ पुष्यमित्र को 'सेनानी' और 'महाबलपराक्रमः' कहा गया है, और उस द्वारा बृहद्रथ को उखाड़ फेंकने तथा स्वयं राज्य प्राप्त कर लेने का

उल्लेख किया गया है।[1] पर महाकवि वाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरितम्' में इस घटना पर अधिक प्रकाश डाला है। वहाँ लिखा है कि अनार्य सेनानी पुष्यमित्र ने सेना का प्रदर्शन करने के वहाने से अपनी सम्पूर्ण सेना को एकत्र कर अपने स्वामी प्रतिज्ञादुर्वल वृहद्रथ मौर्य को पीस डाला।[2] इस वाक्य में वाणभट्ट ने उस षड्यन्त्र को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है, जो कि सेनानी पुष्यमित्र द्वारा राजा वृहद्रथ के विरुद्ध किया गया था। पुष्यमित्र मागध साम्राज्य का सेनानी (प्रधान सेनापति) था, और साम्राज्य की सम्पूर्ण सैन्यशक्ति का प्रदर्शन करने के निमित्त उसने सारी सेना को पाटलिपुत्र में एकत्र कर लिया था। क्योंकि यह सेना पुष्यमित्र के प्रति अनुरक्त थी, अतः वह बृहद्रथ का अन्त कर स्वयं राज्य को प्राप्त कर सकने में समर्थ हुआ। हर्षचरितम् में पुष्यमित्र को 'अनार्य' कहा गया है, और बृहद्रथ को 'प्रतिज्ञादुर्बल'। प्राचीन आर्य मर्यादा के अनुसार राजसिंहासन पर आरूढ़ होते समय राजा को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी, जिसका स्वरूप निम्नलिखित होता था—जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उनके बीच में (सम्पूर्ण जीवन-काल में) जो भी इष्टापूर्त (शुभ कर्म) मैंने किये हों वे सब नष्ट हो जाएँ, और मैं अपने सब सुकृतों, आयु और प्रजा से वञ्चित हो जाऊँ यदि मैं किसी भी प्रकार से आप (प्रजा) के विरुद्ध द्रोह करूँ।[3]" प्रजा का पालन तथा उसके प्रति निष्ठा—यही इस प्रतिज्ञा के तत्त्व थे। जो इस प्रतिज्ञा का समुचित रूप से पालन न करे, उसे 'प्रतिज्ञादुर्वल' कहा जाता था। बृहद्रथ इसी प्रकार का 'प्रतिज्ञादुर्बल' राजा था। पुष्यमित्र को बाण ने 'अनार्य' कहा है। इसका कारण यह नहीं है, कि वह आर्य जाति का न होकर किसी आर्य-भिन्न कुल में उत्पन्न हुआ था। पुष्यमित्र जाति से ब्राह्मण था। राजा हर्षवर्धन के आश्रय में रहनेवाला बाण राजा के विरुद्ध विद्रोह कर उसकी हत्या कर देने वाले व्यक्ति को यदि 'अनार्य' कहे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

वृहद्रथ की हत्या के साथ मौर्य वंश का अन्त हो गया। मगध की यह नई क्रान्ति १८४ ई० पू० में हुई थी। ३२२ ई० पू० में मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़

---

१. "पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथम्।
कारयिष्यति वै राज्यं·····(वायुपुराण)
"पुष्यमित्रस्तु सेनानीर्महाबलपराक्रमः।
अतीव वृद्धं राजानं समुद्धृत्य बृहद्रथम्॥' कलियुग राजवृत्तान्त
Narayan Shastri : The Kings of Magadha. (p. 77)

२. 'प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्।" हर्षचरितम्

३. "याञ्च रात्रीमजायेहं याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथाः यदि ते द्रुह्येमेति।" ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५

हुआ था, और १३७ वर्ष पश्चात् १८४ ई० पू० में मौर्यों के शासन का अन्त हुआ। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि बृहद्रथ के साथ मगध की शक्ति का भी अन्त हो गया। मागध साम्राज्य कायम रहा, यद्यपि उसका शासनसूत्र अब मौर्यों के हाथों में न रह कर शुङ्गवंशी राजाओं के हाथों में आ गया। पुष्यमित्र शुङ्ग के नेतृत्व में एक बार फिर मगध की शक्ति का विकास हुआ।

बृहद्रथ के साथ मगध के प्रतापी मौर्य वंश की शक्ति का अन्त हो गया, पर इस वंश की कतिपय शाखाएँ बाद में भी स्थानीय राजाओं के रूप में शासन करती रहीं। ऐसे एक राजा का उल्लेख कनस्वा से प्राप्त एक शिलालेख में विद्यमान है। कोटा (राजस्थान) से कुछ मील पूर्व में महादेव का एक प्राचीन मन्दिर है, जिसके एक प्रस्तर-खण्ड पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसमें 'मौर्यान्वय' (मौर्यवंश) के एक राजा धवल का विवरण दिया गया है।[1] यह लेख ७९५ मालव (विक्रम) संवत् में लिखवाया गया था, जो ७३८ ईस्वी के बराबर है। इस शिलालेख द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि आठवीं सदी तक भी मौर्य वंश का एक राज्य विद्यमान था, जिसकी स्थिति राजपूताना के क्षेत्र में थी। मौर्य वंश का यह राजा धवल बहुत यशस्वी एवं शक्तिशाली था, और इसका शासन राजपूताना के अनेक प्रदेशों में विस्तृत था। उदयपुर से आठ मील की दूरी पर डबोक नामक स्थान से एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जिसमें 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीधवलप्पदेव' का उल्लेख है।[2] इस शिलालेख का काल भी आठवीं सदी ईस्वी में माना जाता है। श्री भाण्डारकर ने प्रतिपादित किया है, कि डबोक शिलालेख का धवलप्पदेव और कनस्वा का धवल एक ही राजा को सूचित करते हैं। यदि यह सत्य है, तो यह स्वीकार करना होगा, कि 'मौर्यान्वय' धवल या धवलप्पदेव का शासन राजपूताना के बड़े भाग में विद्यमान था।

खानदेश में चालीस गाँव से छः मील दूर उत्तर-पूर्व में वघली नाम का एक गाँव है, जिसके एक प्राचीन जीर्ण-शीर्ण मन्दिर की एक प्रस्तर शिला पर एक लेख उत्कीर्ण है, जिसमें

---

१. "चूडाचारुमणीन्दुमण्डितभुवः सद्भोगिनामाश्रयः
पक्षच्छेद भयार्त्तिसंकटवतां रक्षाक्षये भूभृताम् ।
दुर्भाग्यागतवाहिनी परिकरो रत्नप्रकारोज्वलः
श्रीमानित्यमुदारसागरसमो मौर्यान्वयो दृश्यते ॥
धवलात्मा नृपस्तत्र यशसा धवलोऽभवत् ॥
Indian Antiquary XIX pp. 55-58

२. 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीधवलप्पदेवप्रवर्धमान राज्ये ।'
Epigraphia Indica XII p. 11

'मौर्यकुल प्रसूत' (मौर्यवंश में उत्पन्न) श्री कोकट का उल्लेख है।[1] इस मौर्य कुल की पुरानी राजधानी वलभि (सौराष्ट्र में) थी, और वहाँ से मौर्य कुल के लोग खानदेश में जा बसे थे। यह लेख ग्यारहवीं सदी ईस्वी का है, क्योंकि इसमें ९९१ शक संवत् दिया हुआ है।

चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय के एक उत्कीर्ण लेख में पुलकेशी द्वारा विजित मौर्यों का उल्लेख है। मौर्यों का यह राज्य कोंकण के प्रदेश में विद्यमान था, और इसे चालुक्य विजेता ने जीत कर अपने अधीन कर लिया था। पुलकेशी द्वितीय कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। अतः यह स्वीकार करना होगा कि सातवीं सदी ईस्वी में भी मौर्यों का एक पृथक् राज्य कोंकण में विद्यमान था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब मगध के मुख्य मौर्य वंश की शक्ति क्षीण हो गई, तो राजस्थान, सौराष्ट्र, कोंकण आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों में शासन के लिये नियुक्त मौर्य कुल के कुमारों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था, और उनके वंशज ही सुदीर्घ काल तक स्थानीय राजाओं के समान वहाँ राज्य करते रहे थे।

(८) मौर्यों के पतन के कारण

राजा अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य में शिथिलता के चिह्न प्रगट होने प्रारम्भ हो गये थे, और शालिशुक के समय में वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया था। इसके क्या कारण थे? पहला कारण अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति है। भारत के इतिहास में केन्द्रीभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों में सदा संघर्ष होता रहा है। एक ओर जहाँ जरासन्ध अजातशत्रु, महापद्म नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे शक्तिशाली, महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी राजा सारे भारत को एक शासन में ले आने के लिये उद्योग करते रहे, वहाँ दूसरी ओर पुराने जनपदों तथा गणराज्यों में अपनी स्वतन्त्रता एवं पृथक् सत्ता को कायम रखने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रही। भारत बहुत विशाल देश है। इसमें बहुत-से 'जनों' तथा जातियों का निवास सदा से रहा है। जनों के एक स्थान पर स्थायी रूप में बस जाने के कारण जिन जनपदों की प्राचीन भारत में स्थापना हुई थी, इनकी संख्या सैकड़ों में थी। इन जनपदों के धर्म, व्यवहार तथा चरित्र पृथक्-पृथक् थे। जातीय दृष्टि से प्रत्येक जन अपने आप में एक इकाई था, और अपने व्यवहार, चरित्र, प्रथा, परम्परा आदि के प्रति

---

१. 'तस्मिन्देशेस्तिरम्या विबुधसुरवराकीर्ण देवालयाढ्या
मौर्याणां राजधानी वलभिरिति· · ·म (ण्डनं) मण्डलानाम् ।
यस्या निःशेषविद्या सुनिशितम (त) मो ब्राह्मणा ब्रह्म तुल्याः
पौरा धर्मार्थकामत्रितयफलभुजः सन्ति मौर्यप्रसादात् ॥
खड्गप्रहार दृढ़पाटि (त) (कुंभिकुंभमु) क्ता (फ) लप्रकरतारकितां दिनार्द्धे
रात्रिं चकार रुचि (रां) रुचिरप्रतापः श्रीकोकटः प्रवरमौर्यकुलप्रसूतः ॥
Epigraphia Indica II p. 221

इन जनों में अगाध निष्ठा थी। इसी कारण विविध जनपदों में भी अपने पृथक्त्व की अनुभूति प्रबल रूप से विद्यमान थी। इसी का यह परिणाम था, कि ये जनपद केन्द्रीभूत साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित कर लेने के लिये सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। केन्द्रीय राजा या सम्राट् की शक्ति के निर्बल होते ही अकेन्द्रीभाव की ये प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती थीं। विदेशी आक्रमण, दुर्भिक्ष या इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से भी केन्द्रीय राजा के लिये यह सम्भव नहीं रह जाता था, कि वह अपने साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा सके।

सभ्यता, धर्म, संस्कृति और परम्परा आदि की दृष्टि से भारत एक देश है। प्रकृति ने भारत को एक स्वाभाविक और सुन्दर सीमा भी प्रदान की है। भौगोलिक एकता यहाँ के निवासियों में एक विशिष्ट प्रकार की एकानुभूति उत्पन्न करती यही है। भारत के निवासी सदा से अपने देश के प्रति ममता अनुभव करते रहे हैं। उन्होंने सदा यह माना है, कि यह उनकी मातृभूमि और धर्मभूमि है। इसी कारण भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक उन्होंने तीर्थों और देवस्थानों की स्थापना की थी। भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस देश में जो एकता है, उसी के परिणामस्वरूप यह विचार भी अत्यन्त प्राचीन काल में विकसित हो गया था, कि राजनीतिक रूप से भी इसे एक ही होना चाहिये। आचार्य चाणक्य ने प्रतिपादित किया था, कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण जो भूमि है, वह एक चक्रवर्ती शासन का क्षेत्र है। निस्सन्देह, बहुत पुराने समय से भारत के वीर तथा महत्त्वाकांक्षी राजा इस आर्य भूमि को एक शासन की अधीनता में ले आने का प्रयत्न करते रहे हैं। मान्धाता, भरत आदि कितने ही राजा वैदिक और उत्तर वैदिक काल में भी ऐसे हुए, जिनका प्रयत्न सम्पूर्ण भारत भूमि में एक शासन स्थापित करने का था, और जो राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान कर चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट् पदों को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। मगध के राजा तो भारत में 'एकराट्' बनने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे, और महापद्म नन्द, चन्द्रगुप्त आदि मागध राजाओं को अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई। सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता उन प्रयत्नों के मूल में थी, जो सम्पूर्ण भारत को एक शासन में ले आने के लिये निरन्तर जारी रहे, और जिनके कारण केन्द्रीभाव की प्रवृत्ति इस देश में निरन्तर अधिकाधिक बलवती होती गई।

केन्द्रीभाव की इस प्रवृत्ति के कारण ही भारत के इतिहास में अनेक ऐसे राजा हुए, जिन्हें 'आसमुद्रक्षितीश' कहा जा सकता है। महापद्म नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, अलाउद्दीन खिलजी और औरङ्गजेब आदि इसी प्रकार के राजा थे। ब्रिटिश युग में केन्द्रीभाव की इस प्रवृत्ति को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, और काश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण यह सम्पूर्ण भारत भूमि एक शासन में आ गयी। पर अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों ने भारत की इस राजनीतिक एकता को चिरकाल तक स्थिर नहीं रहने दिया। ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित राजनीतिक एकता भी देर तक कायम नहीं रही, और पाकि-

स्तान के रूप में भारत का एक बड़ा भाग इससे पृथक् हो गया। यही प्रक्रिया भारतीय इतिहास में पहले भी होती रही है। अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति उन विभिन्नताओं का परिणाम है, जो इस देश की भौगोलिक परिस्थितियों और यहाँ के निवासियों की जाति, भाषा, धर्म आदि में विद्यमान हैं। इन्हीं के कारण प्राचीन समय में भारत बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों या राज्यों में विभक्त था, और धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि की दृष्टि से इन जनपदों की अपनी पृथक् विशेषताएँ या विभिन्नताएँ हुआ करती थीं। जरासन्ध और महापद्म नन्द जैसे प्रतापी एवं महत्त्वाकांक्षी राजा इन जनपदों को जीत कर अपनी अधीनता में ले आने में सफल अवश्य हो जाते थे, पर वे स्थिर रूप से इन्हें अपने अधीन नहीं रख पाते थे। साम्राज्य के राजसिंहासन पर किसी निर्बल राजा के बैठते ही ये जनपद फिर से स्वतन्त्र हो जाते थे। मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व ही महापद्म नन्द जैसा शक्तिशाली मागध राजा कलिङ्ग और कर्णाटक सदृश सुदूरवर्ती प्रदेशों को जीत कर मागध साम्राज्य के अन्तर्गत कर चुका था। पर चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में नन्दवंश के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ, और उसके कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उस से लाभ उठाकर ये प्रदेश स्वतन्त्र हो गये। चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक के शासन-काल में मौर्य वंश की शक्ति का निरन्तर उत्कर्ष होता रहा। सुदूर दक्षिण के कतिपय प्रदेशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। पर अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति धीरे-धीरे अपना कार्य करती रही। अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा अधिक प्रतापी नहीं थे। अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों का दमन कर सकने में वे असमर्थ रहे। परिणाम यह हुआ, कि काश्मीर, कलिङ्ग, आन्ध्र आदि सुदूरवर्ती प्रदेश एक-एक करके पाटलिपुत्र की अधीनता से स्वतन्त्र होते गये, और मौर्य साम्राज्य में निरन्तर क्षीणता आती गई।

मौर्य सम्राटों ने उन जनपदों या गण-राज्यों के अपने-अपने धर्म, चरित्र, व्यवहार एवं कानून को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया, जो कि मागध साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कौटल्य जैसे नीतिकारों ने यही प्रतिपादित किया था, कि राजा इनके व्यवहार, चरित्र आदि को न केवल नष्ट न करे, पर उन्हें उन (जनपद, गण-राज्य आदि) में स्थापित भी रखे और अपने कानून का भी इस ढंग से निर्माण करे कि इनके कानून से उसका विरोध न होने पाए। कौटलीय अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है, कि जाति धर्म, जानपद धर्म, श्रेणी-धर्म और कुल धर्म को दृष्टि में रख कर ही राजा द्वारा अपने धर्म (कानून) का निर्माण किया जाए। निस्सन्देह, मौर्यों के शासन में इसी सिद्धान्त को क्रियान्वित किया गया था। इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि विविध जनपदों और गण-राज्यों में न केवल अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति कायम रही, अपितु अपने परम्परागत धर्म (कानून) का भी वे पालन करते रहे। संघ-राज्यों के सम्बन्ध में जिस नीति का प्रतिपादन कौटल्य ने किया है, उस पर इस ग्रन्थ में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस नीति का सार भी यही था, कि 'अभिसंहत' संघ-राज्यों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया जाए। उन्हें पूर्णतया नष्ट

कर देने का प्रयत्न न करके उनके प्रति ऐसी नीति अपनायी जाए, जिससे कि वे अधीनवर्ती मित्र-राज्यों की स्थिति में अपनी पृथक् सत्ता को कायम रखते रहें। कौटलीय अर्थशास्त्र में काम्भोज, सुराष्ट्र आदि जिन 'वार्ताशास्त्रोपजीवि' संघों और लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल, मद्र, कुरु, पाञ्चाल आदि 'राजशब्दोपजीवि' संघों का उल्लेख किया गया है, निस्सन्देह वे ऐसे ही संघराज्य थे, जो कि मागध राजा की अधीनता स्वीकार करते हुए भी अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। चाणक्य की राजनीति और चन्द्रगुप्त की सैन्य शक्ति ने इन्हें मौर्यों के सम्मुख सिर झुका देने को विवश अवश्य कर दिया था, पर अपने विगत गौरव को इन्होंने भुला नहीं दिया था। मौर्यों के अधीन रहते हुए भी ये अपने परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार का अनुसरण करते थे, और अपनी स्वशासन संस्थाएँ भी इनमें सुरक्षित थीं। इसी का यह परिणाम हुआ, कि मौर्यों की शक्ति के शिथिल होते ही ये राज्य स्वतन्त्र होने प्रारम्भ हो गये। जैसा कि हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं, उत्तर-पश्चिमी भारत के कितने ही गण राज्य दूसरी सदी ई. पू. में अपनी स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने में समर्थ हो गये थे। उनके जो सिक्के वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, वे इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देते कि मौर्यों की शक्ति के क्षीण होते ही पुराने समय के अनेक जनपदों ने स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर ली थी।

यवनों (ग्रीक लोगों) के आक्रमण भी मौर्य साम्राज्य के पतन में सहायक हुए। ये आक्रमण अशोक के शासन-काल में ही प्रारम्भ हो गये थे। इन्हीं का प्रतिरोध करने के लिये अशोक ने अपने अन्यतम पुत्र जालौक को उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में नियुक्त किया था। जालौक यवनों की गति को अवरुद्ध कर सकने में तो समर्थ हो गया, पर उसने काश्मीर में अपना पृथक् राज्य भी स्थापित कर लिया। मागध साम्राज्य की शक्ति इससे दो भागों में विभक्त हो गई। मौर्य वंश के एक अन्य कुमार सुभागसेन ने भी जालौक का अनुसरण किया, और वह गान्धार में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगा। मौर्यों की शक्ति का इस प्रकार विभक्त हो जाना यवनों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। एण्टियोकस, डेमेट्रियस और मिनान्डर आदि यवन आक्रान्तों के आक्रमणों का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। इन आक्रमणों से भारत की अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को बहुत बल मिला, और मौर्य राजाओं के लिये इन प्रवृत्तियों का दमन कर सकना सम्भव नहीं रह गया। गान्धार साकल, सिन्ध आदि में यवनों ने अपने पृथक् राज्य स्थापित कर लिये, और वाहीक (पंजाब) देश तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों के पुराने गण-राज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये।

मौर्य राजाओं की धर्म विजय की नीति ने भी उनकी राजनीतिक एवं सैन्य शक्ति के क्षीण होने में सहायता पहुँचाई। अशोक द्वारा अपनायी गई धर्म विजय की नीति की विवेचना पिछले एक अध्याय में की जा चुकी है। भारत के प्राचीन विचारकों की दृष्टि में 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' दोनों शक्तियों का समान रूप से महत्त्व था। पर क्षत्र शक्ति की उपेक्षा उन्हें किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं थी। अशोक ने धर्म द्वारा विश्व-विजय का जो प्रयत्न

किया था, वह आदर्श की दृष्टि से चाहे कितना ही उदात्त क्यों न हो, पर एक राजा के लिये उसे कदापि समुचित नहीं माना जा सकता। पर अशोक ने जिस विचार-सरणी से धर्म विजय की नीति का प्रतिपादन एवं अनुसरण किया था,उसके उत्तराधिकारी उसका भी अविकल रूप से प्रयोग नहीं कर सके। राजा सम्प्रति ने सैनिकों को भी साधुओं के वस्त्र पहनाकर उनसे प्रत्यन्त राज्यों को साधुओं के विचरण योग्य बनाने का प्रयत्न किया। राजा शालिशुक ने तो धर्म विजय के आवरण में अधार्मिक कृत्य करने में भी संकोच नहीं किया। सैन्य शक्ति की उसने उपेक्षा की, जिसके कारण यवन आक्रान्ता भारत में आगे बढ़ते हुए माध्यमिका, साकेत और पाटलिपुत्र तक चले आये, और उन्होंने मध्यदेश का बुरी तरह से मर्दन किया। शालिशुक और उसके निर्बल उत्तराधिकारी यवनों के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे।

मागध साम्राज्य की सत्ता उसकी सैन्य शक्ति पर ही आश्रित थी। काम्बोज से बंग तक और काश्मीर से आन्ध्र तथा कर्णाटक तक विस्तीर्ण मौर्य साम्राज्य को एक शासन की अधीनता में रहने के लिये विवश करने वाली प्रधान शक्ति उसकी सेना ही थी। पर जब मौर्य राजाओं ने सैन्यशक्ति को उपेक्षा कर धर्म विजय को महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया, और अपने सैनिकों को साधुओं के वस्त्र पहना कर उनसे धर्म प्रचार का कार्य लेना शुरू कर दिया, तो अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों का दमन कर सकना और विदेशियों के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा कर सकना सम्भव ही कैसे हो सकता था। अशोक की धर्म विजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में सर्वथा असफल हो गई। इस नीति से भारत के धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विदेशों में प्रसारित होने में चाहे कितनी ही सहायता क्यों न मिली हो, पर मगध की सैन्य शक्ति उसके कारण अवश्य निर्बल हो गई। यही कारण है, कि भविष्य के विचारकों ने अशोक, शालिशुक आदि धम विजयी राजाओं का उपहास करते हुए 'देवानांप्रिय' का अर्थ ही मूर्ख कर डाला। उन्होंने यह भी लिखा, कि राजाओं का कार्य सिर मुंडा कर धर्म चिन्तन करना नहीं है, अपितु दण्ड (प्रचण्ड राज्यशक्ति) का धारण कर शत्रु का सामना करना है। भारत में यह कहावत-सी हो गई कि जो ब्राह्मण असंतुष्ट हो वह नष्ट हो जाता है, और जो राजा संतुष्ट रहे वह नष्ट हो जाता है। मगध के मौर्य राजा जिस प्रकार अपने राज्य एवं राजशक्ति से संतुष्ट हो पहले श्रावक और बाद में श्रमण बन कर बौद्ध संघ के लिये अपना सर्वस्व तथा राजकोश तक भी निछावर करने के लिये तैयार हो गये थे, वह भारत की प्राचीन राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था, और इसीलिये उनके इस रुख ने उनकी शक्ति के क्षीण होने में अवश्य सहायता पहुँचायी थी।

अकेन्द्रीभाव की बलवती प्रवृत्तियाँ, जनपदों एवं गण-राज्यों में अपनी पृथक् सत्ता तथा स्वतन्त्रता की अनुभूति, यवनों के आक्रमण और धर्म विजय की नीति का दुरुपयोग—ये चार प्रधान कारण थे, जिनसे शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ।

मौर्य वंश-वृक्ष

चन्द्रगुप्त
(३२३–२९९ ई. पू.)
|
बिन्दुसार
(२९९–२७४ ई. पू.)
|
अशोकवर्धन
(२७४–२३८ ई. पू.
|
कुनाल (सुयश)
(२३८–२३१ ई. पू.)

दशरथ (बन्धुपालित)
(२३१–२२३ ई. पू.)

सम्प्रति (इन्द्रपालित)
(२२३–२१५ ई. पू.)
|
शालिशुक
(२१५–२०३ ई. पू.)
|
देववर्मा
(२०३–१९६ ई. पू.)

शतधनुष
(१९६–१९० ई. पू.)

बृहद्रथ
(१९०–१८४ ई. पू.)

परिशिष्ट
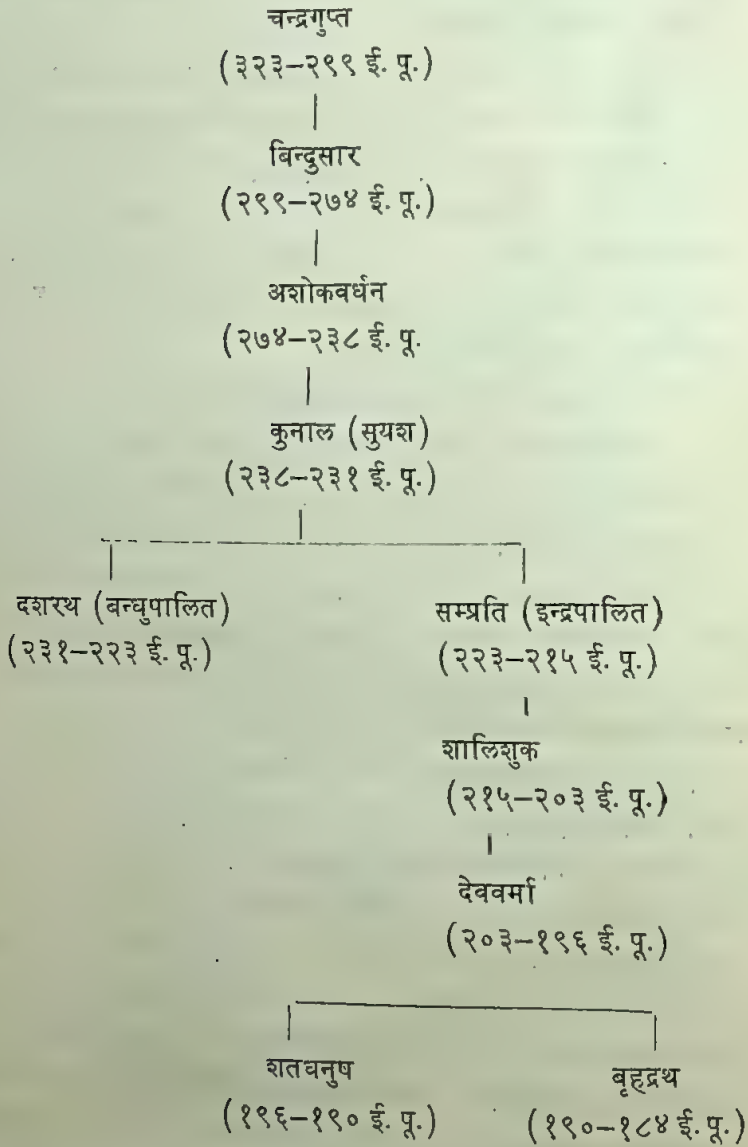
आचार्य चाणक्य का जीवन-वृत्त

पौराणिक अनुश्रुति में आचार्य चाणक्य के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कोई भी सूचना उपलब्ध नहीं है। वे कहाँ उत्पन्न हुए, उनका सम्बन्ध किस कुल के साथ था और उनका पारिवारिक जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ, इस विषय में प्राचीन संस्कृत साहित्य सर्वथा मौन है। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक में उनके कृतित्त्व का विशद रूप से उल्लेख किया है। मुद्राराक्षस का जो उपोद्घात ढुण्ढिराज ने लिखा था, उसमें चाणक्य की कथा भी विशद रूप से दी गई है। नन्दवंश का विनाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजसिंहासन दिलाने के विषय में संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी अनेक निर्देश विद्यमान हैं, पर उनके जीवन वृत्तान्त पर इनसे कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

पर बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। वंशत्थप्प-कासिनी के अनुसार चाणक्य का जन्म तक्षशिला में हुआ था।[१] इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि चाणक्य के जीवन का अच्छा बड़ा भाग तक्षशिला में व्यतीत हुआ था, जहाँ वे दण्ड-नीति के अध्यापन का कार्य करते थे। चन्द्रगुप्त उनका शिष्य था, और सिकन्दरके भारत-आक्रमण के समय वे सम्भवतः तक्षशिला में ही थे। पर बौद्ध अनुश्रुति द्वारा भी उनके जीवन वृत्तान्त का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता।

जैन अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य का जन्म 'गोल्ल' नामक विषय या जनपद में हुआ था। वहाँ चणय नाम का एक ग्राम था, जहाँ चणक नाम के एक ब्राह्मण का निवास था। चणक की पत्नी चणेश्वरी थी। चण और चणेश्वरी दोनों की ही जैन मुनियों के प्रति अगाध श्रद्धा थी, और उनकी स्थिति जैन धर्म में श्रावकों की थी। बहुत-से जैन मुनि उनके घर में निवास करते थे। चणेश्वरी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम चाणक्य रखा गया। जन्म के समय ही इस बालक के मुख में एक दाँत विद्यमान था। इसे देख कर जैन मुनियों ने यह भविष्यवाणी की, कि बड़ा होकर यह बालक राजा बनेगा। यह जान कर चणक या चण बहुत चिन्तित हुआ। वह अपने पुत्र को जैन मुनि बनाना चाहता था। अतः उसने चाणक्य का जन्म का दाँत तुड़वा दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि चाणक्य स्वयं तो राजा नहीं बना, पर वह 'राजा का निर्माता' अवश्य हो गया। प्रत्यक्ष रूप से राजा न होकर भी वह 'विंबंतरिय' (बिम्बान्तरित) रूप से राज्य का संचालन करनेवाला हुआ।[२] एक

---

१. वंसत्थप्पकासिनी (सिंहली संस्करण) पृ. ११९

२. "चाणक्को। गोल्लविसए चणयो गामो। तत्थ चणओ माहणो। सो य सावओ। तस्स घरे साहू ठिया। पुत्तो से जणो सह दाढाहिं। साहूणं पाएसु पाडिओ। कहियं च राय

अन्य जैन ग्रन्थ में चाणक्य के पिता का नाम कपिल दिया गया है, और उनका जन्म स्थान पाटलिपुत्र बताया गया है।[१] गोल्ल विषय का उल्लेख भरहुत के एक उत्कीर्ण लेखमें भी आया है,[२] यद्यपि उसकी भौगोलिक स्थिति वहाँ भी स्पष्ट नहीं है।

जैन श्रावक होकर चाणक्य ने भी सब विद्याओं का अध्ययन किया, और वह सब ज्ञान में पारंगत हो गया। वयस्क होने पर उसने एक कुलीन ब्राह्मण कन्या से विवाह किया, जिसका नाम बृहत् कथा कोष में यशोमती दिया गया है।[३] इस विवाह से चाणक्य के कोई सन्तान हुई या नहीं, इस विषय में जैन अनुश्रुति से भी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। चाणक्य ने नन्दवंश का विनाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाया, इस बात का समर्थन प्राचीन जैन ग्रन्थों से भी होता है।[४] अपने जीवन के अन्तिम भाग में चाणक्य जैन मुनि हो गये, और उनकी मृत्यु अग्नि में भस्म होकर हुई। यह अग्नि उनके प्रतिद्वन्द्वी अमात्य सुबन्धु द्वारा लगवायी गई थी।[५]

चाणक्य जैन धर्म के अनुयायी थे, जैन अनुश्रुति में इसका स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है। पर आश्चर्य यह है कि कौटलीय अर्थशास्त्र में कहीं भी जैन धर्म का उल्लेख नहीं है, और वहाँ 'त्रयी' धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म पर बहुत जोर दिया गया है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि चाणक्य के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ जैन अनुश्रुति में विद्यमान हैं, वे अत्यन्त महत्त्व की हैं।

भविस्सइत्ति। मो दोग्गइं जाइस्सइ त्ति दंता घट्ठा। पुणोति आयरियाणं कहियं किं किज्जउ। एताहे वि बिंबंतरिओ राया भविस्सइत्ति। (उत्तराध्यायन सूत्र टीका ३।१)
इतश्च गोल्लविषये ग्रामे चणकनामनि। ब्राह्मणोभूच्चणी नाम तद्भार्या च चणेश्वरी॥
बभूव जन्मप्रभृति श्रावकत्व चणश्चणी। ज्ञानिनो जैनमुनयः पर्यवात्सुश्च तद्गृहे॥
अन्यदा तूग्तैर्दन्तैश्चणेश्वर्या सुतोऽजनि। जातं च तेभ्यः साधुभ्यस्तं नमोऽकारयच्चणी।
ज्ञानिनो मुनयोऽप्याख्यायन्भावी राजैष बालकः।
भाव्येष बिम्बान्तरितो राजा रदनघर्षणात्॥
चणी चाणक्य इत्याख्यां ददौ तस्याङ्गजन्मनः।
कुलीन ब्राह्मणस्यैकामेव कन्यामुपायत॥ परिशिष्ट पर्व ८।१९४-२०१

१. बृहत्कथाकोष cxliii,3
२. Cunningham : Stup of Bharhut p. 140
३. बृहत्कथाकोष cxliii,5
४. "सकोश भृत्यं ससुहृत्पुत्रं सबलवाहनम्।
नन्दमुन्मूलयिष्यामि महावायुरिव द्रुमम्॥ परिशिष्ट पर्व ८।२२५
५. परिशिष्ट पर्व ८।४४७-४६९

सहायक ग्रन्थों की सूची

(क) आधार ग्रन्थ

कौटलीय अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री द्वारा सम्पादित)
कौटलीय अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा सम्पादित)
मुद्राराक्षस (विशाखदत्त-कृत एवं ढुण्ढिराज कृत उपोद्घात सहित)
दिव्यावदान (कावेल और नील द्वारा सम्पादित)
महावंसो (मूल पालिग्रन्थ तथा टर्नर एवं विजेसिंह द्वारा अनूदित)
दीपवंसो (ओल्डनवर्ग द्वारा सम्पादित तथा अनूदित)
जातक (कावेल द्वारा सम्पादित तथा अनूदित)
जातक (फासवाल द्वारा सम्पादित)
अष्टाध्यायी (पाणिनि)
महाभाष्य (पतञ्जलि)
वृहत्कथाकोश (हरिषेणकृत एवं उपाध्ये द्वारा सम्पादित)
वृहत्कथामजरी (क्षेमेन्द्रकृत)
परिशिष्ट पर्व, स्थविरावलिचरित (हेमचन्द्र कृत)
निशीथसूत्र (सभाष्यचूर्णिक)
वृहत्कल्पसूत्र (श्रीभद्रबाहुस्वामिविनिर्मित एवं संघदासगणिकृत लघुभाष्यभूषित)
पाटलिपुत्रनगरकल्प (जिनसूरिविरचित)
युगपुराण (मांकड द्वारा सम्पादित)
भगवती आराधना (शिवार्य) तथा उसकी टीकाएँ
आराधनासत्कथा प्रबन्ध (प्रभाचन्द्र)
पुण्याश्रवकथाकोष (रामचन्द्र मुमुक्षु)
कथाकोष (श्रीचन्द्र)
उत्तराध्ययनसूत्र टीका
आवश्यक सूत्र (निर्युक्तियों तथा चूर्णियों सहित)
आवश्यकवृत्ति (हरिभद्र)
सुखवोध (देवेन्द्रगणी)
भद्रबाहुचरित (रत्ननन्दी)
राजावलिकथा (देवचन्द्र)
ऐतरेय ब्राह्मण

कथासरित्सागर (सोमदेवकृत)
मालविकाग्निमित्र (कालिदास)
छान्दोग्योपनिषद्
त्रिलोकप्रज्ञप्ति (वृषभाचार्य)
सारठप्पकासिनी (वुडवार्ड द्वारा सम्पादित)
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आर्यमञ्जूश्रीमूलकल्प
पुराण (मत्स्य, वायु, विष्णु, पद्म, भागवत आदि)
मुनिवंशाभ्युदय (चिदानन्द कवि)
दशकुमार चरित (दण्डी)
नीतिवाक्यामृत (सोमदेव सूरि)
नीतिसार (कामन्दक)
हर्षचरितम् (भास)
वंसत्थप्पकासिनी
राजतरङ्गिणी (कल्हण)
फाहियान का यात्रा विवरण (जगमोहन वर्मा द्वारा अनूदित)
ह्युएन्त्सांग का यात्रा विवरण (बील द्वारा सम्पादित)
मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन
मनुस्मृति
नारदस्मृति
मेक्क्रिन्डल—इन्वेज़न आफ इण्डिया बाइ अलेग्जेण्डर द ग्रेट एज डिस्क्राइब्ड बाइ कर्टियस, डायोडोरस, प्लुटार्क एण्ड जस्टिन
मेक्क्रिन्डल—एन्सिएन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मैगस्थनीज़ एण्ड एरियन
मेक्क्रिन्डल—एन्सिएन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर
मेक्क्रिन्डल—एन्सिएन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ क्टेसियस द क्निडियन
अशोक के लेख (ज्ञानमण्डल काशी, हुल्श और सेनार्ट)
महाभारत
बृहत्संहिता (वर्न द्वारा सम्पादित)

(ख) आधुनिक सहायक-ग्रन्थ

Aiyanger, Krishnaswami : Ancient India.
Banerjee, G.N. : Hellenism in Ancient India.
Banerjee, P.N. : Public Administration in Ancient India.
Barnett, L.D. : Antiquities of India.

Bhandarkar, D.R. : Ashoka.

Bhankarkar, D.R. : Maurya Brahmi Inscriptions of Mahasthana.

Bhandarkar, D.R. : Lectures on Ancinet Indian Numismatics.

Bhandarkar, D.R. : Carmichael Lectures, 1918.

Bhandarkar R.G. : Vaishnavism, S'aivism and Minor Religious systems.

Das, S.K. : Economic History of Ancient India.

Dey, N.L. : Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India.

Edkins : Chinese Buddhism.

Fleet : Epigraphy (Imperial Gazetteer Vol. II)

Havell, E.B. : History of Aryan Rule in India.

Hoernle : Studies in the Medicine of Ancient India.

Hoernle : Ajivaka in Encyclopaedia of Religion and Ethics.

Jayaswal K.P. : Hindu Polity.

Law B.C. : Ancient Mid-Indian Kshatriya Tribes.

Law B.C. : Historical Gleanings.

Law B.C. : Some Kshatriya Tribes of Ancient India.

Law N.N. : Studies in Ancient Indian Polity.

Macdonell : History of Sanskrit Literature.

Macphail : Ashoka.

Maisey : Sanchi and its Remains.

Marshall : A Guide to Sanchi.

Marshall : A Guide to Taxila.

Max Muller : The History of Sanskrit Literature.

Mazumdar R.C. : The Corporate Life in Ancient India.

Mazumdar R.C. : Outline of Ancient Indian History and Civilization.

Cambridge History of India Vol. I.

Barnett : Antiquities of India.

Raychaudhri : Political History of Ancient India.

Rapson : Ancient India from the earliest times.

Valle'-Poussin : L'Inde aux Temps des Mauryas.

Torn : Greeks in Bactria and India.

Waddel : Excavations of Pataliputra.

Oldfield : Sketches from Nepal.

Mukerjee R.K. : Local Governments in Ancient India.
Mukerjee R.K. : A History of Indian Shipping and Maritime Activity from the Earliest Times.
Mukerjee R.K. : Ashoka.
Smith V.A. : Early History of India.
Smith V.A. : Ashoka.
Monahan F.J. : Early History of Bengal.
Pargiter : Dynastics of the Kali Age.
Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.
Gopal M.H. : Mauryan Public Finance.
Shastri N.K. : A Comprehensive History of India Vol. II
,, ,, : Age of the Nandas and Mauryas.
Dikshitar : The Mauryan Polity.
Rockhill : Life of the Buddha.
Sinha S.N. : History of Tirhut.
Sarkar B.K. : Positive Backgrounds of Hindu Sociology.
,, ,, : Political Theories and Institutions of Ancient Hindus.
Samaddar : Glories of Magadha.
Robertson : Historical Disquisition of Ancient India.
Rice : Mysore and Coorg Inscriptions.
Ryhs Davids : Buddhism.
Ryhs Davids : Buddhist India.
Narayan Shastri : The Age of Shankara.
Oldenberg : Preface to the Vinaya Texts.
Mukhopadhyaya : Surgical Instruments in Ancient India.
Rapson : A Catalogue of Indian Coins in the British Museum.
Ghoshal : Contribution to the History of the Hindu Revenue System.
Gupta P.L. : The Coins.
Agrawal B.S. : India in Panini.
Puri B.N. : India in Patanjali.
The Age of Imperial Unity (Bharatiya Vidya Bhawan).
Gupta P.L. : Patna Museum Catalogue of Antiquities.
Kumrahar (Excavations).

Schlumberger : A New Greek Inscription of Ashoka at Kandhar (Epigraphia Indica XXVIII Part V).

Joshi and Pande : A Newly dicovered Inscription of Ashoka (Journal of the Royal Asiatic Society Parts 3 &4).

Foucher : La Vieille Route de L'Inde de Bactres a Taxila.

Buhler : Sohgaura Copper Plate (Indian Antiquary 6 ct. 1896).

Kielhorn : Baghli Inscription (Epigraphia Indica Vol. II).

Jyotiprasad : History of Jain Literature.

Sircar D.C. Select Inscriptions.

Narayan Shastri : History of Maagadha.

Shah T.L. : Ancient India Vol. II

राहुल सांकृत्यायन : बुद्धचर्या

जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा

सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र